३'६
॥ ओ३म् ॥
यजुर्वेदभाष्यम्
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का जीवन परिचय

श्री हरिशरण जी का जन्म 2 जनवरी 1901 को कमालिया नगर (अब पाकिस्तान में) के एक सम्पन्न गृहस्थ मास्टर लक्ष्मणदास के यहां हुआ। पिता की आठ सन्तानों –शान्तिस्वरूप, हरिशरण, हरिप्रेम, वेदकुमारी, राजकुमारी, हरिश्चन्द्र, हरिप्रकाश व हरिमोहन–में से वह दूसरे थे। उनकी माता सहांबाई अत्यन्त धर्मपरायणा व कुशल गृहणी थीं। श्री लक्ष्मणदास ने कुछ समय जालन्धर में अध्यापक के रूप में कार्य किया। बाद में उन्होंने कोयले के व्यापार में हाथ डाला और उसमें खूब सफलता प्राप्त की। वहीं पर आप स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व महात्मा मुंशीराम) के सम्पर्क में आए और महर्षि दयानन्द की वैदिक विचारधारा से प्रभावित हुए।

श्री लक्ष्मणदास अत्यन्त दृढ़व्रती, तपस्वी एवं स्वाध्यायप्रेमी धार्मिक व्यक्ति थे। बालक हरिशरण को भी ये गुण विरासत में अपने पिता से प्राप्त हुए। उनकी आरम्भिक शिक्षा दीक्षा गुरुकुल मुलतान में हुई। वहां दसवीं कक्षा तक की पढ़ाई पूरी करके आगे विद्याध्ययन के लिए वह गुरुकुल कांगडी आए। यहां उन्होंने तीन वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन किया परन्तु स्नातक परीक्षा वेद विषय में उत्तीर्ण की।

हरिशरण जी अत्यन्त परिश्रमी व मेधावी छात्र थे। पहली कक्षा से स्नातक बनने तक सदैव अपनी कक्षा में प्रथम स्थान पाते रहे। संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्ति दर्शन व साहित्य पर भी उनका पूरा अधिकार था। आंग्ल भाषा गणित, भूगोल व विज्ञान में भी उन्होंने विशेष योग्यता अर्जित की थी।

स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी होशंगाबाद (म०प्र०)
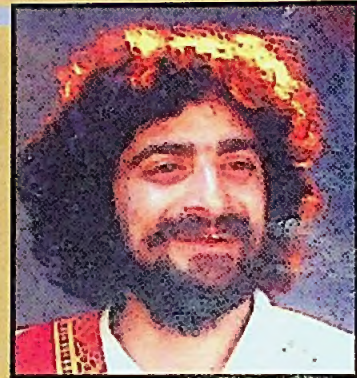
श्री मित्रावसु मॉडल टाउन, दिल्ली

श्री कृष्ण चोपड़ा सोलिहुल (यू०के०)

श्रीमती सावित्री देवी–डॉ० बलवन्त सिंह आर्य बीकानेर (राज०)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन) वैस्ट मिडलेण्ड्स, बरमिंघम (यू०के०)

राव श्री हरिश्चन्द्रजी आर्य नागपुर (महा०)

सुश्री उमाजी भल्ला अम्बाला छावनी (हरि०)

प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

श्री [illegible] साहित्यानी
[illegible], (गुजरात)

प्रिय गीतेश, आपकी स्मृति में–
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

श्रीमती रक्षा चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)

श्री राधेश्याम, दिल्ली
(श्री मनोहर विद्यालंकार)
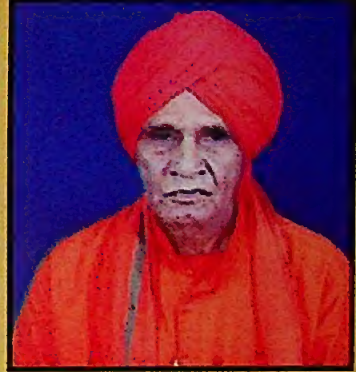
स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती
अलीगढ़ (उ०प्र०)

श्रीमती कंचनलतादेवी–श्री सरस्वतीप्रसादजी गोयल
सवाई माधोपुर (राज०)

श्रीमती सुवीराजी अम्बेसंगे
उद्गीर, जिला लातूर, महाराष्ट्र

डॉ० रामावतार सिंघल
मेरठ (उ०प्र०)

श्री अशोकजी-गजेन्द्रजी गौतम
जीन्द (हरि०)

श्रीमती प्रशान्दी देवी–श्री रामेश्वरदयालजी गुप्ता
नई दिल्ली
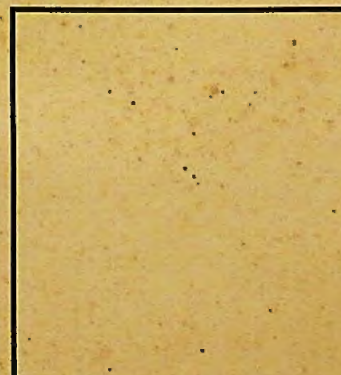
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

सादर समर्पित

द्वारा

राजकुमार टीबड़ेवाल

रांची (झारखंड)

ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

(द्वितीयो भागः)

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
हिण्डौन सिटी (राज०) ३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८, ०७४६९-२३४६२४,
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : सन् २०१२ ई०

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **हरिकिशन ओम्प्रकाश**, ३९९, गली मन्दिरवाली,
नया बाँस, दिल्ली-६, दूरभाष : ०११-२३९५८८६४
२. **गणेशदास-गरिमा गोयल**, २७०४, प्रेम-मणि निवास,
नया बाजार, दिल्ली-६, दूरभाष : ०११-५५३७९०७०

मुद्रक : **राधा प्रेस**, कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१

अष्टादशोऽध्यायः

ऋषिः—देवाः। देवता—अग्निः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

वाजः—स्वः

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का देवता 'यज्ञपुरुष'—यज्ञशील पुरुष था। यह प्रस्तुत मन्त्रों में यज्ञ के द्वारा पदार्थ की सम्पन्नता के लिए प्रार्थना करता है और कहता है कि **वाजश्च मे**=शक्ति मुझे यज्ञ के द्वारा प्राप्त हो। शक्ति के साथ **प्रसवश्च मे**=(सु=ऐश्वर्य) ऐश्वर्य भी मुझे प्राप्त हो। केवल ऐश्वर्य कुबेर के पास है और शक्ति 'यमराज' के पास है। मैं अपने में शक्ति व ऐश्वर्य का समन्वय कर पाऊँ। २. (क) इस ऐश्वर्य को कमाने के लिए **प्रयतिश्च मे**=मुझमें प्रकृष्ट पुरुषार्थ हो, यह पुरुषार्थ मुझे शक्ति-सम्पन्न करेगा। मैं पुरुषार्थ से ही धन कमाऊँ, जुए की ओर मेरा झुकाव न हो। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**='पासों से न खेल, खेती कर'। 'प्रबन्ध' सातत्यवाला हो, यह वेद का उपदेश मुझे स्मरण रहे। **प्रसितिश्च मे**=(षिञ् बन्धने) मेरा यह प्रयत्न निरन्तर चलता जाए। मैं प्रयत्न में शैथिल्य न आने दूँ। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ यह भी कर सकते हैं कि ऐश्वर्य व शक्ति होने पर मैं कहीं विलास व आराम के मार्ग पर न चला जाऊँ। मेरा जीवन **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमवाला हो और उस संयम में **प्रसितिः**=मैं अपने को उत्तम व्रतों के बन्धनों में बाँधकर चलूँ। ३. इन्हीं नियमों में न फँस जाने के उद्देश्य से ही **धीतिश्च मे**=मुझमें प्रभु-सम्पर्क द्वारा (यज्ञ द्वारा) ध्यान की वृद्धि हो तथा **क्रतुश्च मे**=मुझमें ज्ञान की वृद्धि हो। मेरा जीवन ध्यानमय और ज्ञानमय हो। ४. ध्यान व ज्ञान के द्वारा **स्वरश्च मे**=(स्वयं राजते इति स्वरः, स्व+राज्+ड) मुझमें स्वयं राजमानता हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीवन न बिताऊँ, और **श्लोकश्च मे**=मुझे यश-ही-यश प्राप्त हो, इन्द्रियों का दास बनकर ही मैं अपयश का भागी होता हूँ। ५. **श्रवश्च मे**=मुझमें श्रवण का सामर्थ्य हो और उस श्रवण-सामर्थ्य से ज्ञान को बढ़ाते हुए **श्रुतिश्च मे**=मैं वेद को अपना बना पाऊँ। यह ज्ञान ही तो मेरे 'स्वर' बनने में व स्वर बनकर यशस्वी बनाने में सहायक होगा। ६. इस वेदज्ञान को अपनाने से **ज्योतिश्च मे**=मुझे प्रकाश प्राप्त होगा और उस प्रकाश में मार्ग-भ्रष्ट न होने से **स्वश्च मे**=मुझे सुख प्राप्त हो अथवा मैं उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को पानेवाला बनूँगा।

भावार्थ—यज्ञेन=प्रभु-सम्पर्क द्वारा यज्ञ **मे**=मेरे लिए **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—अतिजगती। स्वरः—निषादः॥

प्राणः—बलम्

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मऽआधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्वः'=सुख पर हुई है। उस सुख के लिए सब इन्द्रियों व शरीर का ठीक होना आवश्यक है। सुख का अर्थ ही सु+ख=इन्द्रियों का उत्तम होना है, अतः इन्द्रियों की उत्तमता व स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **प्राणश्च मे**=मेरी प्राणशक्ति **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **अपानःच मे**=मेरी अपानशक्ति भी यज्ञ द्वारा सामर्थ्ययुक्त हो। प्राण मुझे सबल बनाएगा तो अपान मेरे दोषों को दूर करेगा। २. **व्यानश्च मे**=मेरा सर्वशरीरचारी व्यानवायु यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और मुझे सारे नाड़ी-संस्थान का स्वास्थ्य देनेवाला हो। **असुःच मे**=मेरे 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय' आदि विविध प्रवृत्तियों के कारणभूत मरुत् भी शक्तिसम्पन्न हों। इनके ठीक होने से मेरी सब चेष्टाएँ मपी-तुली हों। ३. **चित्तं च मे**=मेरा मानससंकल्प यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और उसके ठीक होने से **आधीतं च मे**=मेरा बाह्यविषयज्ञान भी ठीक हो, अर्थात् असु के ठीक होने से मेरी अन्तर व बाह्य सभी क्रियाएँ ठीक होंगी। ४. **वाक् च मे**=मेरी वाणी की शक्ति ठीक हो और **मनश्च मे**=मेरी मानसशक्ति बिलकुल ठीक हो। वाणी यहाँ सभी कर्मेन्द्रियों की प्रतीक है। मेरी सारी कर्मेन्द्रियाँ ठीक से कार्य करें। ५. कर्मेन्द्रियों के साथ **चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे**=मेरी देखने तथा सुनने की शक्ति ठीक हो। मेरी सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम करें। मैं इस जीवन में 'बहुद्रष्ट व बहुश्रुत' बन पाऊँ। ६. इस दर्शन व श्रवण से **दक्षश्च मे**=मुझे कार्य करने में दक्षता व चतुरता प्राप्त हो। मैं सब कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनूँ **बलम् च मे**=मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। यह दक्षता व बल मुझे विजयी बनाएँ। ७. मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्ययुक्त हों।

भावार्थ—मैं प्राण से लेकर बल तक सब वस्तुओं को यज्ञ से सम्पन्न करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—स्वराडतिशक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

ओजः—जरा

ओज॑श्च मे॒ सह॑श्च मऽआ॒त्मा च॑ मे त॒नूश्च॑ मे॒ शर्म॑ च मे॒ वर्म॑ च॒ मेऽङ्गा॑नि च॒ मेऽस्थी॑नि च मे॒ परू॑ꣳषि च मे॒ शरी॑राणि च म॒ऽआयु॑श्च मे ज॒रा च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥३॥

१. पिछला मन्त्र 'बल' पर समाप्त किया था। उसी बल का विस्तार प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। **ओजः च मे**=मेरा ओज=(ओज to increase) सब प्रकार की वृद्धि की कारणभूत शक्ति यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **सहश्च मे**=मुझमें सहनशक्ति हो। प्रकृति का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं ओजस्वी बनूँ। ओजस्वी बनकर भौतिक व्याधियों को जीत पाऊँ तथा जीवों के साथ बर्ताव के लिए मुझमें सहनशक्ति हो। २. **आत्मा च मे तनूः च मे**=मैं आत्मा की शक्ति का वर्धन करूँ तथा शरीर की शक्ति का भी विकास करूँ। ऐहिक व आमुष्मिक सुख के लिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। ३. **शर्म च मे वर्म च मे**=ज्ञान के द्वारा प्राप्त होनेवाला तथा वासनाओं की क्षीणता से प्राप्त होनेवाला सुख मुझे प्राप्त हो, जिससे मैं रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से बच पाऊँ। शर्मा बनूँ—वर्मा बनूँ= ब्राह्मशक्ति का विस्तार करूँ और क्षात्रशक्ति को बढ़ानेवाला बनूँ। इन शक्तियों के बढ़ाने पर **अङ्गानि च मे, अस्थीनि च मे**=मेरे हाथ आदि अवयव तथा सब अस्थियाँ यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न बनें। ५. **परूँषि च मे**=मेरी अंगुलियाँ आदि सब पर्व यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा **शरीराणि च मे**=मेरे स्थूल, सूक्ष्म व कारण—सभी शरीर ठीक हों, ६. **आयुः च मे**= मेरा सारा जीवन यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने और **जरा च मे**=मेरी वृद्धावस्था भी यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने,

अर्थात् वृद्धावस्था में भी मैं युवक की भाँति शक्तिसम्पन्न होकर कार्य करता रहूँ।

भावार्थ—मैं ओजस्वी बनूँ वृद्धावस्था तक युवक के समान शक्तिसम्पन्न बना रहूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

ज्यैष्ठ्य+वृद्धि

ज्यैष्ठ्यं च मऽआधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को सशक्त बनाकर **ज्यैष्ठयं च मे**=मैं ज्येष्ठत्व का सम्पादन करनेवाला बनूँ और इसी ज्येष्ठता-सम्पादन के लिए **आधिपत्यं च मे**=मेरा आधिपत्य सम्पन्न हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि का अधिपति बनूँ। २. इस आधिपत्य से **मन्युः च मे**=मेरा ज्ञान सशक्त हो तथा **भामः च मे**=तेजस्विता (Brightness, Lustre, Splendour) मुझे प्राप्त हो। ३. **अमः च मे**=मेरी प्राणशक्ति बल-सम्पन्न हो और **अम्भः च मे**=(तुष्टिः) मुझमें आत्मसन्तोष विकसित हो, अथवा सफलता (Fruitfulness) मेरी संगिनी बने। ४. **जेमा च मे**=मैं सदा विजयी बनूँ, जय-सामर्थ्य-सम्पन्न बनूँ और **महिमा च मे**=महत्त्व को प्राप्त करूँ। ५. **वरिमा च मे**=(उरोर्भावः)=प्रजादि से मैं विशाल बनूँ। **प्रथिमा च मे**=(पृथोर्भावः) मेरे गृह-क्षेत्रादि का भी विस्तार हो। ६. **वर्षिमा च मे**=(वृद्धस्य भावः) मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और **द्राघिमा च मे**=(दीर्घस्य भावः) मैं अविच्छिन्न वंशवाला, प्रजाओं से दीर्घकाल तक चलनेवाला होऊँ। ७. **वृद्धं च मे**=मुझे प्रभूत अन्न-धनादि प्राप्त हो और **वृद्धिः च मे कल्पन्ताम्**=विद्यादि गुणों से मेरा उत्कर्ष **यज्ञेन**=यज्ञ से, प्रभु के साथ मेल करने से सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं जीवन में ज्येष्ठता का सम्पादन करूँ। ज्ञानी व तेजस्वी बनूँ। प्राणशक्ति-सम्पन्न व आत्मसन्तोषवाला होऊँ। विजय व महत्त्व को प्राप्त करूँ, परिवार व सम्पत्ति से बढ़ूँ, दीर्घ जीवन व वंश-विस्तारवाला होऊँ। धन, विद्यादि गुणों से उत्कृष्ट बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—स्वराट्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

सत्य+सुकृत

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥५॥

१. गतमन्त्र की ज्येष्ठता के लिए आवश्यक है कि **सत्यं च मे**=मुझमें यथार्थ भाषण हो, **श्रद्धा च मे**=मेरा परलोक व प्रभु में विश्वास हो। २. इनके साथ भौतिक ज्येष्ठता के लिए **जगत् च मे**=जंगम गवादि धन मुझे प्राप्त हो, **धनं च मे**=और सुवर्णादि धातुएँ मुझे प्राप्त हों। ३. **विश्वं च मे**=वह सबमें प्रविष्ट प्रभु मेरा हो और **महः च मे**=प्रभु-सम्पर्क से प्राप्त होनेवाली तेजस्विता (महः=दीप्ति) मेरी हो। ४. महस्वाला बनकर मैं **क्रीडा च मे**=संसार के सब घटनाचक्र को क्रीडा के रूप में देखनेवाला बनूँ। **मोदः च मे**=और क्रीडा-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को सदा प्राप्त करूँ। ५. **जातं च मे**=मेरा भूतकाल में भी विकास हुआ हो और **जनिष्यमाणं च मे**=भविष्यत् में भी मेरा विकास हो। ६. **सूक्तं च मे**=मेरे मुख से सदा **सु-उक्त**=मधुर शब्द उच्चरित हों और **सुकृतं च मे**=मेरा पुण्य **यज्ञेन**=

प्रभु के संग से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं सत्य व श्रद्धादि से अपने को परिपूर्ण करूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

ऋत+सुदिन

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'सुकृतम्' पर थी। 'सुकृतम्' की ही व्याख्या प्रस्तुत मन्त्र में 'ऋत' शब्द से हुई है। **ऋतं च मे**=मेरे जीवन में 'ऋत' हो। ऋत वही है जो ठीक=right है। ठीक वही है जो ठीक स्थान व समय के अनुकूल है। इस ऋत के पालन से ही **अमृतं च मे**=मुझे अमृत की प्राप्ति हो। स्वाभाविक मृत्यु को छोड़कर जो रोगरूप मृत्यु हैं, उनसे मैं बचा रहूँ। मैं केवल 'जरा मृत्युवाला होऊँ। पूर्ण आयुष्य में होनेवाली जीर्णता से ही मेरा यह शरीर जाए। २. **अयक्ष्मं च मे**=ऋत के पालन से मुझमें धातुक्षयजनित रोग उत्पन्न न हों। **अनामयत् च मे**=सामान्य व्याधियों से राहित्य भी मुझे प्राप्त हो। ३. **जीवातुः च मे**=(येन जीवयति) जिससे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है वह पथ्य भोजन मुझे प्राप्त हो। **दीर्घायुत्वं च मे**=उस पथ्य भोजन के सेवन से मैं दीर्घ जीवन को प्राप्त करूँ। ४. इस दीर्घ जीवन के लिए ही **अनमित्रं च मे**=मेरी किसी से शत्रुता न हो और **अभयं च मे**=मैं अभय को प्राप्त होऊँ। मन में होनेवाली शत्रुता व भय की भावना शरीर पर भी घातक प्रभाव उत्पन्न करती है। ५. **सुखं च मे**=मैं शत्रुओं से भयरहित होकर सुखी जीवनवाला होऊँ। **शयनं च मे**=मैं सुख की नींद सो सकूँ। ६. रात्रि में सुखपूर्वक सोने के बाद मैं प्रातः तरोताज़ा होकर उठूँ और **सूषाः च मे**=मेरा प्रातःकाल बड़ा उत्तम हो। मैं अपने प्रातःकृत्यों को उत्तमता से सम्पादित कर सकूँ, तथा **सुदिनं च मे**=मेरा सारा दिन यज्ञदानाध्ययनादि युक्त होकर सुन्दरता से बीते। ऋत से प्रारम्भ होकर सुदिन तक मेरा सब-कुछ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं ऋत के द्वारा अमृतत्व-अयक्ष्मत्व व अनामयत्व को सिद्ध करूँ। मेरा जीवन पथ्य-सेवन से दीर्घायु तक चले। शत्रुता व भय से रहित होकर मैं सुखी बनूँ एवं सुख की नींद सो सकूँ। मेरा प्रातःकाल उत्तम हो तथा सारा दिन सुन्दरता से व्यतीत हो।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः॥

यन्ता—लयः

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥७॥

१. पिछले मन्त्र में 'सुदिन' पर समाप्ति हुई थी कि मेरा सारा दिन उत्तमता से बीते। यह उत्तमता से बीत तभी सकता है यदि मैं इन इन्द्रियाश्वों को आत्मवश्य करके विचरण करूँ, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **यन्ता च मे**=(यन्ता=यन्तृत्व) मेरा आत्मा इस शरीर-रथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला हो और **धर्ता च मे**=इनको धारण करनेवाला बने। इन वाणी आदि इन्द्रियों को मन में धारण करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में धारण करने का अभ्यास करे। २. इस धारण से **क्षेमश्च मे**=मेरा कल्याण हो अथवा विद्यमान धन की रक्षणशक्ति मुझमें

हो। **धृतिः च मे**=आपत्तियों में भी मैं धीर व स्थिर चित्तवाला बनूँ। ३. **विश्वं च मे**=धैर्य के द्वारा मैं सम्पूर्ण संसार में प्रविष्ट परमात्मा को भी प्राप्त करूँ और **महः च मे**=मुझमें प्रभुपूजा की प्रवृत्ति हो। ४. **संवित् च मे**=प्रभु-पूजा से वेदशास्त्र-ज्ञान हमारा हो और, **ज्ञात्रं च मे**=मेरा विज्ञान-सामर्थ्य यज्ञ के द्वारा चमके। ५. **सूः च मे**=मुझमें प्रेरणाशक्ति हो। मैं अपने पुत्रादि को उत्तम प्रेरणा दे सकूँ और **प्रसूः च मे**=मुझमें उत्पादन-सामर्थ्य हो। ६. धनादि के उत्पादन के लिए **सीरं च मे**=हल मेरा हो। हल से भूमि को जोतकर मैं उत्तम धान्यों को प्राप्त करूँ और अन्त में **लयः च मे**=कृषि आदि के प्रतिबन्धों को विलीन कर कृषि को उन्नत करूँ। हमारी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा सम्पन्न हों।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों का नियमन करके उनको मन में धारण करें, जिससे अपने क्षेम का साधन कर सकें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

शम्+यशः

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥८॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार कृषि करते हुए तथा कृषि में आनेवाले प्रतिबन्धों को निवृत्त करते हुए **शं च मे**=मुझे ऐहिक सुख प्राप्त हो और साथ ही **मयः च मे**=आमुष्मिक सुख भी मैं प्राप्त कर सकूँ। कृषि से मेरा जीवन इस प्रकार पुरुषार्थ का हो कि मैं व्यसनों से ऊपर उठा रहूँ। २. **प्रियं च मे**=मुझे सब प्रीत्युत्पादक वस्तुएँ प्राप्त हों। **अनुकामः च मे**=सब धर्मानुकूल काम मुझे प्राप्त हों। ३. **कामः च मे**=संसार के उचित आनन्द मुझे मिलें और **सौमनसः च मे**=मेरा मन सदा प्रसन्न रहे। ४. **भगः च मे**=मुझे सदा सौभाग्य प्राप्त हो। **द्रविणं च मे**=और कार्य-सञ्चालन के लिए आवश्यक धन भी मुझे प्राप्त हो। ५. **भद्रं च मे**=मुझे कल्याण व सुख प्राप्त हो तथा **श्रेयः च मे**=मैं मोक्ष को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **वसीयः च मे**=मुझे (अतिशयेन वस्तृ) निवास के योग्य वसुमान् गृह प्राप्त हो तथा **यशः च मे**=मुझे उत्तम कर्मों से होनेवाली कीर्ति प्राप्त हो। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=यज्ञ से सम्पन्न हों।

भावार्थ—मुझे इस लोक व परलोक का कल्याण प्राप्त हो। मुझे आवश्यक धन की कमी न हो और मुझे प्रसन्न मन व यश का लाभ हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्क् औद्भिद्यम्

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मऽऔद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥९॥

१. **ऊर्क् च मे**=मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो तथा **सूनृता च मे**=(सु ऊन् ऋत) मेरी वाणी उत्तम, दुःख के परिहाणवाली तथा सत्य हो। २. इस शक्ति व मधुरवाणी की प्राप्ति के लिए **पयः च मे**=मैं दूध का प्रयोग करूँ और **रसः च मे**=फलों के रस का सेवन करूँ। ३. इसी उद्देश्य से **घृतं च मे**=मैं घृत का प्रयोग करूँ और **मधु च मे**=मैं शहद का सेवन करूँ। ४. इन वस्तुओं को मैं अकेला न खा लूँ, अपितु **सग्धिः च मे**=मेरा औरों के साथ मिलकर भोजन हो तथा **सपीतिश्च मे**=बन्धुओं के साथ मिलकर पीना हो। ५. इन

भोज्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए **कृषिः च मे**=मैं कृषि को अपनाऊँ तथा **वृष्टिः च मे**=कृषि की सफलता के लिए मुझे इष्ट वृष्टि प्राप्त हो। ६. **जैत्रं च मे**=(जेतुर्भावः) इस वृष्टिजनित कृषि से उत्पन्न पदार्थों का सेवन मुझे विजय-सामर्थ्यवाला बनाये और **औद्भिद्यं च मे**=इस विजय-सामर्थ्य के लिए आम्रादि वृक्षों की उत्पत्ति मुझे प्राप्त हो। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य-सम्पन्न बनाएँ।

भावार्थ—मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होऊँ और सूनृतवाणी का प्रयोग करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

रयि—अक्षुत्

रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मेऽक्षितं च मेऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१०॥

१. गतमन्त्र का प्रारम्भ 'ऊर्क्'=प्राणशक्ति की प्रार्थना से हुआ था, प्रस्तुत मन्त्र 'रयि' की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। **'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा'** प्रश्नोपनिषद् के इस वाक्य में प्राण और रयि का सम्बन्ध सुव्यक्त है। इन देवों के मेल से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। **'रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु'** इस वाक्य से रयि का सोम से सम्बन्ध है। मुझमें जहाँ ऊर्क्=प्राण हो वहाँ **रयिः**=सोमशक्ति भी हो। इस रयि के साथ **रायश्च मे**=मुझे वे धन भी प्राप्त हों, जिन्हें मैं उदारतापूर्वक दान कर सकूँ (राति दानकर्मणः)। २. **पुष्टं च मे**=मुझे धन का पोषण प्राप्त हो। जहाँ मैं आर्थिक दृष्टि से निर्बल न होऊँ वहाँ **पुष्टिश्च मे**=मुझे शरीर का पोषण भी प्राप्त हो। धन विलास द्वारा मेरी शारीरिक निर्बलता का कारण न बन जाए। ३. धन व शारीरिक बल प्राप्त करके **विभु च मे**=मुझे व्याप्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो। मेरा हृदय विशाल हो और साथ ही **प्रभु च मे**=मुझे प्रभावशक्ति भी प्राप्त हो। मैं प्रभुत्व करने में समर्थ होऊँ। ४. **पूर्णं च मे**=इस प्रकार मैं धन व पुत्रादि की पूर्णतावाला होऊँ और **पूर्णतरं च मे**=गवादि पशुओं की पूर्णता भी मुझे प्राप्त हो। ५. **कुयवं च मे**=यह (कु) पृथिवी-सम्बन्धी **यव**=जौ मेरे हों तथा **अक्षितं च मे**=जिनसे नाश नहीं होता ऐसे धान्य मुझे प्राप्त हों। ६. **अन्नं च मे**=मुझे सब आवश्यक अन्न प्राप्त हों तथा **अक्षुत् च मे**=मैं भूखा न रह जाऊँ, मैं अन्न से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—मुझमें रयिशक्ति हो तथा दान देने योग्य धन हो, मुझे धन व शरीर का पोषण प्राप्त हो। मैं अन्न का सेवन करूँ और भूखा न रह जाऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**श्रीमदात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वित्त+सुमति

वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च मऽऋद्धं च मऽऋद्धिश्च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥११॥

१. **वित्तं च मे**=ज्ञात वस्तु मेरी हो, अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान मैंने प्राप्त किया है मेरा वह वस्तु-ज्ञान नष्ट न हो और **वेद्यं च मे**=जो जानने योग्य है उसे भी मैं जानने के लिए यत्नशील होऊँ। २. **भूतं च मे**=उस पूर्व ज्ञान द्वारा सिद्ध वस्तु तो मेरी हो ही **भविष्यत् च मे**=मैं आगे भी अन्य सफलताओं को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. ज्ञान के ही कारण **सुगं च मे**=मैं शोभन गमनवाला होऊँ और **सुपथ्यम् च मे**=शोभन हितकर भोजन ही खानेवाला

बनूँ। मेरा आहार–विहार दोनों उत्तम हों। ४. इस उत्तम आहार–विहार से **ऋद्धं च मे**=(ऋद्ध वृद्धौ) मैं सदा वर्धनवाला होऊँ **ऋद्धिश्च मे**=और धन की समृद्धिवाला बनूँ। ५. इस निरन्तर वर्धन व समृद्धि के द्वारा **क्लृप्तं च मे**=मुझमें उस–उस कार्य के लिए सामर्थ्य हो तथा **क्लृप्तिश्च मे**=कार्यक्षम साधन मुझे प्राप्त हों। अपने कार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक साधनों को मैं जुटा पाऊँ। ६. **मतिश्च मे**=इस सबके लिए मेरी मति ठीक हो—मैं पदार्थमात्र का ठीक निश्चय कर सकूँ। **सुमतिः च मे**=दुर्घट कार्यों में भी निश्चय कर सकने की मेरी शक्ति हो—मैं सब उलझनों को सुलझा सकूँ। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरा प्राप्त ज्ञान सुरक्षित हो और ज्ञातव्य को मैं जाननेवाला बनूँ। मैं इस जीवन में मति व सुमति का सम्पादन कर सकूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**धान्यदात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

व्रीहि—मसूर

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'मति व सुमति' पर हुई थी। उस 'मति व सुमति' का सम्पादन करने के लिए मैं व्रीहि और यव आदि उत्तम ओषधियों का ही सेवन करूँ। मेरा भोजन वानस्पतिक ही हो। वनस्पति का अर्थ ही 'वन' ज्ञानरश्मियों का 'पति' रक्षा करनेवाला है। मांसाहार मनुष्य–स्वभाव को कुछ क्रूर बनानेवाला है। यह मनुष्य को स्वार्थी–सा बना देता है, अतः कहते हैं कि—

व्रीहयः च मे=मेरा भोजन चावल हों। **यवाः च मे**=मेरा भोजन जौ हों। २. **माषाः च मे**=मैं माषों=उड़द का प्रयोग करूँ और **तिलाः च मे**=तिलों को अपनाऊँ। ३. **मुद्गाः च मे**=मूँग मेरे भोजन का अङ्ग हों और **खल्वाः च मे**=चणों को मैं भोजन बनाऊँ। ४. **प्रियङ्गवः च मे**=कङ्गु मेरा भोजन हो और **अणवश्च मे**=चीनक मेरा भोजनाङ्ग बने। ५. **श्यामाकाः च मे**=ग्राम्य तृणधानों (कोदों) को मैं अपनाऊँ, **नीवाराश्च मे**=मैं आरण्य तृणधानों का सेवन करूँ। ६. **गोधूमाः च मे**=मैं गेहूँ को अपनाऊँ तथा **मसूराः च मे**=मसूर का सेवन करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु–सम्पर्क से मेरे ये सब वानस्पतिक भोजन **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य–सम्पन्न बनानेवाले हों। मैं सदा शाकाहारी बना रहकर सशक्त बनूँ। अपनी ज्ञानरश्मियों को बढ़ाऊँ तथा प्रभु के समीप पहुँचनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा भोजन वनस्पति ही हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रत्नवान्धनवानात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अश्मा+त्रपु

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहञ्च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१३॥

१. गतमन्त्र में विविध सेवनीय वनस्पतियों का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन वनस्पतियों की उत्पत्ति-भूमियों का उल्लेख करते हुए विविध उपयोगी धातुओं का वर्णन करते हैं। **अश्मा च मे**=पथरीली भूमि मेरे **कल्पन्ताम्**=कार्यसिद्धि के लिए हो तथा **मृत्तिका च मे**=मैदानों की मिट्टी मेरे लिए उत्तम अन्नों को उत्पन्न करनेवाली हो। २. **गिरयः च मे**=क्षुद्र पर्वत मेरे लिए हों तथा **पर्वताः च मे**=महान् पर्वत भी मेरे लिए विविध सेवनीय द्रव्यों के देनेवाले हों। ३. **सिकताः च मे**=शर्करा व बालुकामय प्रदेश मेरे हों तथा इन सब स्थानों में उत्पन्न होनेवाली **वनस्पतयः च मे**=वनस्पतियाँ मेरी हों। ४. इन वनस्पतियों के अतिरिक्त **हिरण्यं च मे**=इस भूगर्भ से प्राप्त होनेवाला सोना मेरा हो **अयश्च मे**=लोहा मुझे प्राप्त हो। ५. **श्यामं च मे**=ताम्रलोह (steel) मुझे प्राप्त हो तथा **लोहं च मे**=कालायस (ढलवाँ लोहा) मुझे उस-उस कार्य में सम्पन्न करे। ६. **सीसं च मे, त्रपु च मे**=मैं सीसे व रांगे को प्राप्त करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=ये सब वस्तुएँ मेरे कार्यों को सिद्ध करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना मुझे 'सब भूमियों, वनस्पतियों व धातुओं' का सदुपयोग करनेवाला बनाये।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्न्यादियुक्तात्मा**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-भूति

अ॒ग्निश्च॑ म॒ऽआप॑श्च मे वी॒रुध॑श्च म॒ऽओष॑धयश्च मे कृष्टप॒च्याश्च॑ मेऽकृष्टप॒च्याश्च॑ मे ग्रा॒म्याश्च॑ मे प॒शव॑ऽआर॒ण्याश्च॑ मे वि॒त्तञ्च॑ मे॒ वित्ति॑श्च मे भू॒तञ्च॑ मे॒ भूति॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥१४॥

१. गतमन्त्र में विविध भूप्रदेशों व धातुओं का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि आदि अन्य जीवनोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **अग्निः च मे**=अग्नितत्त्व मेरे लिए हो और **आपश्च मे**=मैं जलतत्त्व को अपनानेवाला बनूँ। ये दोनों तत्त्व मेरे विविध कार्यों को सिद्ध करें। मेरे स्वभाव में भी 'अग्नि व जल' का समन्वय हो, मुझमें उत्साह व शान्ति हो। मैं शक्ति व शान्ति का मेल करनेवाला बनूँ। २. **वीरुधः च मे, ओषधयः च मे**=मैं वीरुधः=फैलनेवाली बेलों पर होनेवाली वस्तुओं का प्रयोग करूँ तथा फलपाकान्त व्रीहि-यवादि ओषधियों को अपनाऊँ। ३. **कृष्टपच्याः च मे**=भूमि-कर्षण तथा बीज-वपन (हल चलाना, बीज बोना) आदि कर्मों से निष्पन्न ओषधियाँ मेरी हों, तथा **अकृष्टपच्याः च मे**=स्वयमेव उत्पद्यमान नीवार आदि वनस्पतियों को मैं उपजाऊँ। ४. इनके अतिरिक्त **ग्राम्याः च मे**=गौ, घोड़ा भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट आदि ग्राम्य पशु मेरे कार्य-साधक हों तथा **आरण्याः च मे**=अरण्य (वन) में होनेवाले हाथी, मृग, गव्य, बन्दर आदि भी मेरे उस-उस कार्य को सिद्ध करनेवाले हों। ५. इन सबके द्वारा **वित्तं च मे वित्तिः च मे**=प्राप्त धन मेरा हो तथा प्राप्तव्य धन को मैं प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **भूतं च मे भूतिः च मे**=माता-पितादि से प्राप्त धन मेरा हो तथा स्वार्जित भूति (ऐश्वर्य) का मैं मालिक होऊँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ।

भावार्थ—इस पृथिवी पर होनेवाले अग्नि, जलादि तत्त्व, बेलें, ओषधियाँ, ग्राम्य व आरण्यभोजन तथा सब पशु व धन मेरे लिए उपयोगी व सहायक हों।

ऋषिः—देवाः। देवता—धनादियुक्तात्मा। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

वसु+गति

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च मऽएमश्च मऽइत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१५॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर माता-पिता से प्राप्त धन व अपने कमाये हुए धन का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी धन के ठीक विनियोग के द्वारा उत्तम गृह व उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**वसु च मे**=निवास के लिए गौ इत्यादि सब आवश्यक वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों। **वसतिः च मे**=मेरा सुन्दर निवास स्थान हो। 'यहाँ वसति शब्द छोटी-सी कुटिया' की भावना को लिये हुए है, अतः स्पष्ट है कि वेद बहुत बड़ी-बड़ी कोठियों के पक्ष में नहीं है। २. उस घर में रहता हुआ मैं **कर्म च मे**=अग्निहोत्रादि कर्मों को करनेवाला बनूँ। **शक्तिः च मे**=इन कर्मों में लगे रहने से मेरी शक्ति बनी रहे, अथवा कर्मों को करने की मेरी शक्ति स्थिर रहे। **अर्थः च मे**=मेरा प्रयोजन हो, अर्थात् मैं प्रत्येक कर्म को किसी प्रयोजन को सामने रखकर करूँ, मेरी कोई चेष्टा व्यर्थ न हो। **एमः च मे**=(ईयते=जाना जाता है) मेरे जीवन का एक उद्देश्य (Aim) हो। निरुद्देश्य जीवन में मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता। ४. **इत्या च मे**=उस उद्देश्य की ओर मेरा निरन्तर चलना हो। **गतिः च मे**=(गति=to get) और निरन्तर चलते हुए मुझे उद्देश्य की प्राप्ति हो। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझे वसु व वसति की प्राप्ति हो। कर्मों द्वारा मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। मेरे कार्य निष्प्रयोजन न हों—जीवन निरुद्देश्य न हो। मैं उद्देश्य की ओर चलूँ और उसे प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—अग्न्यन्नादिविद्याविदात्मा। छन्दः—निचृदतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि+इन्द्र लक्ष्य (संख्या-१)

अग्निश्च मऽइन्द्रश्च मे सोमश्च मऽइन्द्रश्च मे सविता च मऽइन्द्रश्च मे सरस्वती च मऽइन्द्रश्च मे पूषा च मऽइन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च मऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर लक्ष्य की ओर चलने व लक्ष्य को प्राप्त करने का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्रों में लक्ष्य का वर्णन करते हैं—**अग्निः च मे**=मुझमें अग्नितत्त्व हो। अपने को आगे और आगे बढ़ाने की वृत्ति हो। २. **सोमः च मे**=मैं सौम्य बनूँ। जितना-जितना आगे बढ़ता जाऊँ उतना-उतना विनीत होता चलूँ। वस्तुतः इस विनीतता से ही तो मैं आगे बढ़ूँगा। ३. **सविता च मे**=मैं प्रशस्त ऐश्वर्यवाला बनूँ। निर्माण (Production) के कार्यों के द्वारा मैं धन का सम्पादन करनेवाला बनूँ और साथ ही ४. **सरस्वती च मे**=प्रशस्त बोध व शिक्षायुक्त वाणीवाला मैं होऊँ। ५. **पूषा च मे**=शरीर का मैं सभी दृष्टिकोणों से पोषण करूँ और ६. **बृहस्पतिः च मे**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी, ज्ञानियों का भी ज्ञानी—मैं देवगुरु बन सकूँ। ७. उल्लिखित प्रार्थनाओं में प्रत्येक प्रार्थना के साथ 'इन्द्रश्च मे' ये शब्द जोड़े गये हैं। उसका अभिप्राय स्पष्ट है कि मैं 'इन्द्र' जितेन्द्रिय बनूँ। जितेन्द्रियता से ही जीवन का मन्त्र-वर्णित लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। जितेन्द्रिय बनकर ही मैं 'अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा व बृहस्पति' बन सकूँगा। जितेन्द्रियता वह केन्द्र

है जिसके चारों ओर सभी सद्गुण परिधि के रूप में होते हैं। ये सब गुण **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे समर्थ बनाएँ।

भावार्थ—मेरा जीवन-लक्ष्य 'आगे बढ़ना, सौम्य बनना, उत्पादनात्मक कार्यों से ऐश्वर्य प्राप्त करना, प्रशस्त बोधवाला होना, शरीर का ठीक पोषण करना व ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनना हो।'

ऋषिः—देवाः। देवता—मित्रैश्वर्यसहितात्मा। छन्दः—स्वराद्शक्वरीः। स्वरः—धैवतः॥

मित्र+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-२)

मित्रश्च मऽइन्द्रश्च मे वरुणश्च मऽइन्द्रश्च मे धाता च मऽइन्द्रश्च मे त्वष्टा च मऽइन्द्रश्च मे मरुतश्च मऽइन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवाऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१७॥

१. **मित्रः च मे**=मुझमें स्नेह की भावना हो। प्रेम के मैं पास होऊँ। २. **वरुणः च मे**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँ। द्वेष से सदा दूर रहूँ। ३. **धाता च मे**=मैं सदा धारण करनेवाला बनूँ। मेरे कर्म धारणात्मक हों। ४. **त्वष्टा च मे**=मैं देवशिल्पी बनूँ। निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहकर मैं अपने अन्दर दिव्य गुणों का निर्माण करूँ। ५. इन दिव्य गुणों के निर्माण के लिए **मरुतः च मे**=ये मरुत् मेरे हों। मरुतः प्राणाः=प्राणों की साधना करनेवाला मैं बनूँ। ६. इस प्राण-साधना से **विश्वे च देवाः मे**=सब देव मेरे हों। प्राण-साधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर दिव्यता का सञ्चार होता है। मेरी ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरे जीवन का लक्ष्य 'स्नेह, द्वेष-निवारण, धारण, निर्माण तथा प्राण-साधना द्वारा दैवी सम्पत्ति का अर्जन' हो, परन्तु यह सब होगा तो तभी जब कि **इन्द्रः च मे**=मुझ में इन्द्रत्व होगा, अर्थात् मैं जितेन्द्रिय बनूँगा।

ऋषिः—देवाः। देवता—राजैश्वर्यादियुक्तात्मा। छन्दः—भुरिक्शक्वरीः। स्वरः—धैवतः॥

पृथिवी+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-३)

पृथिवी च मऽइन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च मऽइन्द्रश्च मे द्यौश्च मऽइन्द्रश्च मे समाश्च मऽइन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च मऽइन्द्रश्च मे दिशश्च मऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१८॥

१. **पृथिवी च मे**=पृथिवी मेरी हो। (प्रथ विस्तारे) मेरा शरीर विस्तृत शक्तियोंवाला हो (पृथिवी शरीरम्) २. इसके लिए **अन्तरिक्षं च मे**=अन्तरिक्ष मेरा हो, मैं सदा मध्यमार्ग में चलूँ। (अन्तरा क्षि) अति को छोड़कर मैं शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनानेवाला बनूँ। ३. मध्यमार्ग में चलने की वृत्ति के विकास के लिए **द्यौः च मे**=यह द्युलोक मेरा हो। मेरा मस्तिष्करूप गगन विज्ञान के नक्षत्रों से व ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो। यह ज्ञान ही मेरी भावनाओं को पवित्र करेगा। ४. **समाः च मे**=(संयान्ति=सह भवन्ति ऋतवो अमासु) मेरा जीवन 'समाः' को अपनाये। **समाः**=वर्ष में जिस प्रकार सब ऋतुओं का निवास है उसी प्रकार मेरे जीवन में ऋतुओं की भाँति नियमित गति का निवास हो और छह ऋतुओं की भाँति मेरा जीवन 'शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधान' इस षट्कसम्पत्तिवाला हो। वर्ष में छह ऋतुएँ, मुझमें ये छह सम्पत्तियाँ। ५. **नक्षत्राणि च मे**=ये सब नक्षत्र मेरे हों। ये (नक्ष गतौ) निरन्तर गतिशील हैं, मेरा जीवन भी सदा गतिशील हो। (न क्षीयन्ते) गतिशीलता ही मेरी अक्षीणता का कारण बने और अन्त में ६. **दिशः च मे**=ये सब दिशाएँ

मेरी हों। मैं इनसे क्रमशः आगे बढ़ने (प्राची–प्र अञ्च), दाक्षिण्य प्राप्त करने (दक्षिणा), अथवा नम्र बने रहने (अवाची अव् अञ्च), प्रत्याहार (प्रतीची प्रति अञ्च) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने तथा ऊर्ध्वगतिवाला होने (उदीची उद् अञ्च) का उपदेश ग्रहण करूँ। मेरी ये सब भावनाएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों और मैं इन सब बातों को पूर्ण रूप देने के लिए 'इन्द्रः च मे' मैं जितेन्द्रिय बना रहूँ।

भावार्थ—मैं शरीर की शक्तियों का विस्तार करूँ, मध्यमार्ग में चलूँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करूँ, षट्क-सम्पत्ति को प्राप्त करूँ, निरन्तर क्रियाशील होऊँ और दिशाओं के उपदेश को ग्रहण कर 'आगे बढ़ूँ, नम्र बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पदार्थविदात्मा**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशु-मन्थी (सोम ग्रहविशेषाः)

अ॒ꣳशुश्च॑ मे र॒श्मिश्च॒ मेऽदा॑भ्यश्च॒ मेऽधि॑पतिश्च मऽ उपा॒ꣳशुश्च॑ मेऽन्तर्या॒मश्च॑ मऽऐन्द्रवाय॒वश्च॑ मे मैत्रावरु॒णश्च॑ मऽआश्वि॒नश्च॑ मे प्रतिप्र॒स्थान॑श्च मे शु॒क्रश्च॑ मे म॒न्थी च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१९॥

१. **अंशुः च मे**=मेरा जीवन चन्द्र-किरणोंवाला हो। चन्द्रमा के समान शीतल स्वभाव-वाला मैं बनूँ। **रश्मिः च मे**=मेरे जीवन में सूर्यरश्मियों का स्थान हो। मेरा मस्तिष्करूपी द्युलोक ज्ञान के सूर्य से जगमगाता हो। वहाँ विज्ञान के नक्षत्रों की किरणें अन्धकार का विनाश करनेवाली हों। २. **अदाभ्यः च मे**=मेरा जीवन उपक्षयरहित हो। मैं अपने जीवन में दबकर कार्य करनेवाला न होऊँ और **अधिपतिः च मे**=वह सबका अधिपति प्रभु मेरा हो। अथवा 'अधिपतित्व' मुझे प्राप्त हो, अर्थात् मैं अपनी सब इन्द्रियों का अधिपति होऊँ। ३. **उपांशुः च मे**=उस प्रभु की उपासना द्वारा प्राप्त होनेवाली ज्ञान की किरणें मेरी हों तथा **अन्तर्यामः च मे**=सब इन्द्रियों का अन्तर मन में नियमन करनेवाला मैं बनूँ। ४. **ऐन्द्रवायवश्च मे**=इन्द्र तथा वायु सम्बन्धी विकास मुझे प्राप्त हो। मैं इन्द्रशक्ति का विकास करूँ तथा इन्द्रशक्ति के विकास के लिए प्राणों का विकास करनेवाला बनूँ। इस प्राणशक्ति के विकास के द्वारा सब मलों का नाश होकर **मैत्रावरुणश्च मे**=मुझे मित्र व वरुणशक्ति प्राप्त हो, अर्थात् मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ और द्वेष का निवारण करनेवाला होऊँ। ५. इस मित्र व वरुणशक्ति से **आश्विनश्च मे**=मेरी अदीर्घसूत्रता हो, **'न श्वः श्वमुपासीत'** इस याज्ञवल्क्य के निर्देश के अनुसार मैं कल-कल की उपासना न करूँ। **प्रतिप्रस्थानः च मे**=मेरा मन प्रत्येक प्राप्त कर्त्तव्य के प्रति प्रस्थानवाला हो, अर्थात् मैं सदा अपने कर्त्तव्य को करने के लिए उद्यत होऊँ। ६. **शुक्रः च मे**=मुझमें (शुक् गतौ) गतिशीलता हो, परन्तु साथ ही **मन्थी च मे**=मेरी वृत्ति मन्थन करने की हो—मैं प्रत्येक कार्य को विचारपूर्वक करनेवाला बनूँ। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मैं अपने जीवन में सूर्य व चन्द्रतत्त्व का समन्वय करनेवाल बनूँ। दबूँ नहीं, अधिपति बनूँ। प्रभु की उपासना से ज्ञानवाला बनूँ और मन में इन्द्रियों का नियमन करूँ। इन्द्र व प्राणशक्ति का विकास करके प्रेम के पास व द्वेष से दूर होने का प्रयत्न करूँ। साथ ही कार्यों को कल-कल पर न टालता हुआ प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए सदा उद्यत रहूँ। गतिशीलता के साथ विचारशील बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—यज्ञानुष्ठानात्मा। छन्दः—स्वराडतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

आग्रयण-हारियोजन (यज्ञविशेषाः)

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च मऽऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्कैवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२०॥

१. **आग्रयणः च मे**=(अग्रे अयनं येन) मेरे अन्दर आगे चलने की वृत्ति हो और इसी वृत्ति के परिणामरूप **वैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन सब दिव्य गुणोंवाला हो। २. **ध्रुवः च मे**=मुझमें ध्रुवता—न्यायमार्ग से विचलित न होने की भावना हो तथा **वैश्वानरः च मे**=मेरा जीवन विश्वनरहित की भावना से ओत-प्रोत हो। मैं सब लोगों का भला करनेवाला बनूँ। ३. **ऐन्द्राग्नः च मे**=मेरा जीवन-यज्ञ इन्द्र व अग्नि देवतावाला हो। मैं जितेन्द्रिय बनूँ और आगे बढ़ूँ। जितेन्द्रिय बनने व आगे बढ़ने के परिणामस्वरूप **महावैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन महनीय विश्वदेवोंवाला हो, अथवा महनीय विश्वदेवों के पुञ्ज प्रभुवाला हो। ४. **मरुत्वतीयाः च मे**=उस प्रभुवाला बनने के लिए मरुत्वतीय यज्ञ मुझमें चलें। मरुत् अर्थात् मैं नियमितरूप से प्राणायाम-यज्ञ को करनेवाला बनूँ। इस प्राणायाम यज्ञ के द्वारा इन्द्रियों के दोषों का दहन करके **निष्केवल्यः च मे**=(नितरां केवलं सुखं यस्मिन् तस्मिन् भवः—द०) नितरां सुखमय स्थिति में होनेवाला ब्रह्मलोक मुझे प्राप्त हो। ५. **सावित्रः च मे सारस्वतः च मे**=इस संसार में जीवन्मुक्त बनने पर मेरा जीवन सविता के यज्ञवाला तथा सरस्वती के यज्ञवाला हो, अर्थात् मैं सदा निर्माण व उत्पत्ति के यज्ञ में प्रवृत्त रहूँ तथा सरस्वती का उपासक, अर्थात् ज्ञान—साधना करनेवाला होऊँ। इस प्रकार मेरा निजू जीवन हो। इसके अतिरिक्त मैं अपने गृहस्थ जीवन में **पात्नीवतः च मे**=प्रशस्तता से पत्नी के प्रति धर्म का पालन करनेवाला बनूँ और **हारियोजनः च मे**=मेरा हारियोजनयज्ञ चले, अर्थात् मैं अपने इन्द्रियरूप अश्वों को उत्तमता से शरीररूप रथ में जोतनेवाला बनूँ, (हरीणां अश्वानां योजयिता) और इस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ चलूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन मन्त्रवर्णित आग्रयण आदि यज्ञोंवाला हो। मैं आगे बढ़ूँ। आगे बढ़ने के लिए ही इन्द्रियाश्वों को सदा शरीर-रथ में जोते रक्खूँ, अर्थात् निरन्तर क्रियाशील बना रहूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—यज्ञाङ्गवानात्मा। छन्दः—विराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

स्रुचः+स्वगाकारः (यज्ञपात्र)

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२१॥

१. **मे**=मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ करने के हेतु निम्न सब साधन **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों, अर्थात् प्राप्त हों।

(क) **स्रुचः च मे**=जुहू आदि स्रुक् पात्र। (ख) **चमसाः च मे**=चमस् आदि पात्र। (ग) **वायव्यानि च मे**=पवन में उत्तम साधनभूत पदार्थ। (घ) **द्रोणकलशः च मे**=सोमरस का आधारभूत कलश। (ङ) **ग्रावाणः च मे**=सिल-बट्टा आदि यज्ञिय पदार्थ। (च) **अधिषवणे च मे**=सोमवल्ली कूटने-पीसने के साधनभूत काष्ठफलक। (छ) **पूतभृत् च**

मे=पवित्रताकारक/सूप/छलनी आदि पात्र। (ज) **आधवनीयः च मे**=अच्छी प्रकार धोने आदि का पात्र। (झ) **वेदिः च मे**=होम करने की वेदि। (ञ) **बर्हिः च मे**=कुशासमूह। (ट) **अवभृथः च मे**=यज्ञ-समाप्ति समय का स्नान। (ठ) **स्वगाकारः च मे**=स्वस्तिवाचन।

भावार्थ : मेरे ये सब पदार्थ होम की क्रिया करने से समर्थ हों। यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में इन पदार्थों की नियुक्ति से मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए समर्थ बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—यज्ञवानात्मा। छन्दः—भुरिक्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

अग्निः-दिशः

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेऽदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२२॥

१. **अग्निः च मे**=मेरे जीवन के अन्दर अग्नि हो, **घर्मः च मे**=मैं शक्ति की उष्णता-(गरमी)-वाला होऊँ। मैं निरन्तर गतिशील और अग्रगतिशील बनूँ। इस गतिशीलता से मेरी शक्ति बनी रहे। २. इस क्रिया और उससे होनेवाली शक्ति के साथ **अर्कः च मे**=मुझमें उपासना हो और **सूर्यः च मे**=इस उपासना से मेरे अन्दर ज्ञान के सूर्य का उदय हो। ३. इस ज्ञान-सूर्य के उदय के साथ प्रभु-उपासन से **प्राणश्च मे**=मुझे प्राणशक्ति प्राप्त हो। **अश्वमेधः च मे**=(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) मैं अपने प्राणों से राष्ट्र की सेवा करनेवाला बनूँ। ४. राष्ट्र की सेवा के लिए **पृथिवी च मे**=(प्रथ विस्तारे) मुझे विस्तृतशक्तियोंवाला शरीर प्राप्त हो। **अदितिः च मे**=मेरे इस शरीर में अखण्डन हो, मेरे स्वास्थ्य की किसी प्रकार से हानि न हो। ५. **दितिः च मे**=मुझमें वासना-विनाश के लिए खण्डनशक्ति हो और **द्यौः च मे**=वासना-विनाश से मेरे जीवन में प्रकाश की ज्योति हो (दिव्=प्रकाश) ६. इस प्रकार की ज्योति से मेरी **अङ्गुलयः**=(अगि गतौ) कर्मों में सदा व्याप्त रहनेवाली अंगुलियाँ सचमुच **शक्वरयः**=शक्तिशाली हों। मेरी इन अंगुलियों के कर्मों का निर्देश करनेवाली **दिशः च मे**=दिशाएँ मेरी हों, अर्थात् इन प्राच्यादि दिशाओं से बोध लेनेवाला मैं बनूँ। 'प्राची' दिशा मुझे यह बोध दे कि मैं भी 'आगे बढूँ' (प्र अञ्च्)। 'अवाची' दिशा का मुझे यह बोध हो कि मैं आगे बढ़कर भी विनीत बना रहूँ (अव अञ्च)। 'प्रतीची' दिशा मुझे प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने का पाठ पढ़ाए और अन्त में 'उदीची' से मैं उन्नत होने का पाठ पढूँ (उद् अञ्च्)। इन दिशाओं के निर्देशों के अनुसार ही मेरी अंगुलियाँ निरन्तर कार्यों को करनेवाली बनें। ये सबकी सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझमें आगे बढ़ने का उत्साह हो, उससे मैं शक्तिसम्पन्न बना रहूँ। मुझमें प्रभु-उपासन हो, उससे मुझमें ज्ञान के सूर्य का उदय हो। मुझमें प्राणशक्ति हो और वह राष्ट्र-सेवा में लगे। मेरे शरीर की शक्तियों का विस्तार हो और वहाँ रोगजनित खण्डन न हों। वासनाओं का खण्डन करके मैं ज्ञान के प्रकाशवाला बनूँ। उस ज्ञान के अनुसार क्रिया में व्यापृत होऊँ। मेरी अंगुलियाँ शक्तिशाली बनें और वे अपने कार्यों का निर्देश प्राची आदि दिशाओं से लें।

ऋषिः—देवाः। देवता—कालविद्याविदात्मा। छन्दः—पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

व्रत+रथन्तर

व्रतं च मऽऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रेऽऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२३॥

१. **व्रतं च मे**=मेरा जीवन व्रतवाला हो। वस्तुतः अव्रती जीवन तो कोई जीवन ही नहीं है। **ऋतवः च मे**=मेरे जीवन में वसन्त आदि ऋतुएँ हों। उन ऋतुओं की भाँति मेरे जीवन में सब कार्य ठीक समय पर होनेवाले हों। २. सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाला बनने के लिए ही **तपः च मे**=मेरे जीवन में तप हो। मैं आराम-पसन्दगी में न चला जाऊँ। इस तपस्या के द्वारा **संवत्सरः च मे**=संवत्सर मेरा हो। (संवसन्ति यस्मिन्), अर्थात् मेरा सम्पूर्ण वर्ष उत्तम क्रियाओं में ही निवासवाला हो। ३. **अहोरात्रे**=मेरे दिन और रात **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न हों। मेरा 'अहः (दिन)' सचमुच 'अ+हन्' हो, मेरा नाश करनेवाला न हो तथा रात्रि मेरे लिए सचमुच 'रमयित्री' हो। ४. **ऊर्वष्ठीवे**=(ऊरू च अष्ठीवन्तौ च) मेरे ऊरू और ऊरूपर्व अर्थात् अष्ठीवन्तौ (घुटने) प्रभु-सम्पर्क से शक्तिशाली बनें। (अर्यते आभ्याम् अह गतौ) मेरे ऊरू सदा गतिवाले हों। 'ऊर्वोरोजः' इस वैदिक प्रार्थना के अनुसार मेरे ऊरुओं में ओज हो और उस ओज के कारण मेरे ऊरू मुझे शक्तिशाली व क्रियाशील बनाये रक्खें। साथ ही मेरे घुटने 'अष्ठीवन्तौ'= **अतिशयितामस्थि यस्य**=उत्तम अस्थिवाले हों। उनमें सार हो। वे कार्य-बोझ को उठा सकनेवाले हों। ५. इस प्रकार के ऊरू व अष्ठीवन्तों के द्वारा **बृहद्रथन्तरे च मे**=मेरे जीवन में निरन्तर (बृहि वृद्धौ) वृद्धि हो तथा मैं **रथन्तरे**=शरीररूप रथ से इस जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं व्रती, ऋतुओं के अनुसार नियमित जीवनवाला, तपस्वी, सम्पूर्ण वर्ष उत्तम निवासवाला, उत्तम दिन-रात्रिवाला, उत्तम जंघाओं व घुटनोंवाला, वृद्धिशील तथा शरीर-रथ से जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—विषमाङ्कगणितविद्याविदात्मा। छन्दः—संकृतिः[क], विराट्संकृतिः[र]। स्वरः—गान्धारः॥

तेतीस देवता

[क]एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽ[र]एकविꣳशतिश्च मऽएकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳ शतिश्च मे नवविꣳ शतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मऽएकत्रिꣳ शच्च मऽएकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२४॥

१. **एका च मे तिस्रः च मे**=एक देवता को मैं अपनानेवाला बनूँ और एक देवता को अपनाने के द्वारा तीनों देवताओं को मैं अपनानेवाला बनूँ। वस्तुतः गुणों का यह स्वभाव है कि एक गुण को अपने अन्दर धारण करने से अन्य गुणों को मैं अपने में धारण करनेवाला

बनता हूँ। गुणों की एक शृंखला है। उस शृंखला की एक कड़ी को पकड़कर अपनी ओर आकृष्ट करेंगे तो शृंखला-की-शृंखला हमारी ओर खिंची चली आएगी। २. **तिस्रः च मे पञ्च च मे**=तीन देवताओं को मैं धारण करता हूँ और इससे पाँच देवताओं का धारण करनेवाला बनता हूँ। ३. **पञ्च च मे सप्त च मे**=पाँच दिव्य गुणों को धारण करता हुआ मैं सात दिव्य गुणों को अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **सप्त च मे नव च मे**=सात के धारण से नौ का धारण होता है। ५. **नव च म एकादश च मे**=नौ मेरे होते हैं, और इससे ग्यारह-के-ग्यारह पृथिवीस्थ देव मेरे हो जाते हैं। अध्यात्म में पृथिवी यह शरीर है। इस शरीर के 'पुरमेकादश द्वारम्' इन उपनिषत् शब्दों में वर्णित सभी ग्यारह द्वारों के अधिष्ठातृ देव मुझमें अपना-अपना स्थान ठीक रूप में ग्रहण करते हैं।

६. **एकादश च मे त्रयोदश च मे**=मेरे शरीर के ग्यारह देवों के ठीक स्थान ग्रहण करने पर हृदयान्तरिक्ष के बारहवें व तेरहवें देव भी मेरे होते हैं। ७. **त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे**=तेरह देव मेरे होते हैं और पन्द्रह देवों को मैं ग्रहण करता हूँ। ८. **पञ्चदश च मे सप्तदश च मे**=पन्द्रह मेरे होते हैं और उससे मैं सतरह को अपनाता हूँ। ९. **सप्तदश च मे नवदश च मे**=सतरह देवों को मैं अपनाता हूँ और उससे उन्नीस देव मेरे होते हैं। १०. **नवदश च मे एकविंशतिः च मे**=उन्नीस देव मेरे होते हैं, और उससे इक्कीस देवों को मैं अपनानेवाला होता हूँ। ११. **एकविंशतिः च मे त्रयोविंशतिः च मे**=इक्कीस देव मेरे होते हैं और उससे तेईस देवों को मैं अपनाता हूँ। १२. हृदयान्तरिक्ष के देवों के साथ मस्तिष्करूप द्युलोक के देव भी मेरे होते हैं **त्रयोविंशतिः च मे पञ्चविंशतिः च मे**=तेईस को अपनाकर पच्चीस को मैं अपनाता हूँ। १३. **पञ्चविंशतिः च मे सप्तविंशः च मे**=पच्चीस तो मेरे होते ही हैं मैं अपने में सताईस का धारण करता हूँ। १४. **सप्तविंशतिः च मे नव विंशतिः च मे**=सताईस मेरे होते हैं और उनसे उन्तीस भी मेरे हो जाते हैं। १५. **नवविंशतिः च मे एकत्रिंशत् च मे**=उन्तीस मेरे होते हैं और इकतीस को मैं अपना लेता हूँ और अन्त में १६. **एकत्रिंशत् च मे त्रयस्त्रिंशत् च मे**=इकतीस देव तो मेरे होते ही हैं, मैं तेंतीस-के-तेंतीस देवों को अपनानेवाला बनता हूँ। ये सब देव **यज्ञेन**=प्रभु के उपासन से **कल्पन्ताम्**=मुझे प्राप्त हों। अथवा प्रभु से सम्पर्क के निमित्त मुझे समर्थ करें।

भावार्थ—तेतीस देवों का अपनाना ही मेरा प्रभु-स्तवन होता है। ये ही मेरे स्तोम हो जाते हैं और शतपथ ९।३।३।२ के **'एतद्यजमाना सर्वान् कामानाप्त्वा युग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति'** इन शब्दों के अनुसार मैं इन 'एक, तीन, पाँच व सात' आदि के क्रम से विषम संख्याओं में चलनेवाले स्तोमों से इस लोक में सब वाञ्छनीय पदार्थों को प्राप्त करके स्वर्ग को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—समाङ्कगणितविद्याविदात्मा। छन्दः—पंक्तिः[क], आकृतिः[ग]। स्वरः—पञ्चमः॥

आदित्य ब्रह्मचारी (अड़तालीस वर्ष)

[क]चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे [ग]चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार तेतीस-के-तेतीस देवों को अपनाकर मैं **अदितिः**=अदीना देवमाता का सच्चा पुत्र 'आदित्य' बनूँ। इस आदित्य ब्रह्मचारी की प्रार्थना है कि **चतस्रः च मे अष्टौ च मे**=मेरे चार वर्ष व चार के साथ आठ वर्ष **यज्ञेन**=देवपूजा के हेतु से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों। ये मुझमें अधिकाधिक दिव्यता व शक्ति भरनेवाले हों। २. **अष्टौ च मे द्वादश च मे**=मेरे आठ वर्ष सुन्दर हों और बारह वर्ष भी देवगुणों के निर्माण से सुन्दर बनें। ३. **द्वादश च मे षोडश च मे**=मेरे बारह वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और सोलह वर्ष भी यज्ञों से सम्पन्न हों। ४. इसी प्रकार **षोडश च मे विंशतिः च मे**=मेरे सोलह वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बीस वर्ष भी इसी प्रकार उत्तम हों। ५. **विंशतिः च मे चतुर्विंशतिः च मे**=मेरे बीस वर्ष तो गुणों का आदान करनेवाले हों ही, २४ वर्ष भी गुणों का ग्रहण करते हुए मुझे **वसु**=उत्तम वसुओंवाला बनाएँ। ६. **चतुर्विंशतिः च मे अष्टाविंशतिः च मे**=मेरे चौबीस वर्ष तो यज्ञ से सम्पन्न हों ही, अट्ठाईस वर्ष भी यज्ञ से शक्तिशाली बनें ७. **अष्टाविंशतिः च मे द्वात्रिंशत् च मे**=मेरे अट्ठाईस वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बत्तीस वर्ष भी शक्तिसम्पन्न हों। ८. **द्वात्रिंशत् च मे षट्त्रिंशत् च मे**=मेरे बत्तीस वर्ष यज्ञ के द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा छत्तीस वर्ष भी यज्ञ से सामर्थ्य-सम्पन्न बनें। ९. **षट्त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे**=जहाँ मेरे छत्तीस वर्ष यज्ञ से समर्थ बनें और मैं रुद्र ब्रह्मचारी बन पाऊँ, वहाँ मेरे चालीस वर्ष भी यज्ञ से मुझे सम्पन्न करें। १०. **चत्वारिंशत् च मे चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चालीस वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और चवालीस वर्षों को मैं यज्ञों से शक्तिसम्पन्न कर पाऊँ और ११. अन्त में **चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चवालीस वर्ष बड़े उत्तम हों तथा **अष्टाचत्वारिंशत् च मे**=मेरे अड़तालीस वर्ष **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=प्रभु के सामर्थ्य से सम्पन्न हों और इस प्रकार मैं आदित्य ब्रह्मचारी बनूँ।

भावार्थ—२४ वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं 'वसु' बनूँ। छत्तीस वर्षों को यज्ञ से क्लृप्त करके मैं 'रुद्र' बनूँ और अड़तालीस वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं आदित्य बन जाऊँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—पशुविद्याविदात्मा। छन्दः—ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

त्र्यवि+तुर्यौही (गौ)

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२६॥

१. मन्त्र संख्या २४ तथा २५ में ३३ देवों के धारण व अड़तालीस वर्षों तक गुणों व शक्ति का आदान करते हुए 'आदित्य' बनने का उल्लेख था। यह सब तभी सम्भव है जब हमारी वृत्ति सात्त्विक बने। सात्त्विक वृत्ति बनने का सम्भव 'आहार की शुद्धि' पर है और यह सर्वोत्तम सात्त्विक व पूर्ण भोजन 'गोदुग्ध' ही है, अतः उस गोदुग्ध का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**त्र्यविः च मे**=(अविः=षण्मासात्मकः कालः, त्रयोऽवयो यस्य) डेढ़ साल का वृष—बैल मेरा हो **त्र्यवी च मे**=डेढ़ साल की गौ मुझे प्राप्त हो। २. **दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे**=द्विसंवत्सर (दो साल का) बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार दो साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाएँ। ३. **पञ्चाविः च मे पञ्चावी च मे**=ढाई साल का बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार ढाई साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु से समर्थ करे। ४. **त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे**=(वत्सः=वत्सरः) तीन साल का बैल मेरा हो और तीन साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ५. **तुर्यवाट् च मे**

तुर्यौही च मे=(तुर्यं वर्षं वहति इति) साढ़े तीन साल का बैल मुझे प्राप्त हो और साढ़े तीन साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित्त **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—हमारे पास डेढ़ साल की उमर से साढ़े तीन साल तक की उमर के बैल व गाएँ हों।

ऋषिः—देवाः। देवता—पशुपालनविद्याविदात्मा। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

पष्ठवाट्-धेनु

पृष्ठवाट् च मे पष्ठौही च मऽउक्षा च मे वशा च मऽऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२७॥

१. (पष्ठं=वर्षचतुष्कं वहति इति) **पष्ठवाट् च मे**=चार साल का बैल मेरा हो **पष्ठौही च मे**=और इसी प्रकार चार साला गौ मुझे प्राप्त हो। २. **उक्षा च मे**=वीर्य-सेचन में समर्थ बैल मुझे प्राप्त हो **वशा च म**=वन्ध्या गौ भी मेरे पास रहे। ३. **ऋषभः च मे**=अति युवा वृषभ मेरे पास हो और **वेहत् च मे**=गर्भधारिनी गौ भी मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ४. **अनड्वान् च मे**=शकट—वहनक्षम बैल मुझे प्राप्त हो और **धेनुः च मे**=नवप्रसूता गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न बनाये। ५. वस्तुतः गौ के सम्पर्क के बिना मनुष्य अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। ऋषियों के आश्रम गौवों पर आधारित थे। कन्यादान से पहले गोदान का होना इस बात का संकेत करता है कि घर के उत्तम निर्माण का सम्भव गौ पर ही स्थित है। इन गौओं के साथ बैलों का होना आवश्यक है। गौ के बिना बैल नहीं, बैल के बिना गौ नहीं। सब प्रकार के गौ-बैलों का सम्भव कृषिप्रधान जीवन में ही सम्भव है, अतः वेद में कृषि को उत्तम स्थान दिया गया है—'**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व**'=कृषि-अतिरिक्त कार्यों को जुआ ही कहा गया है। इस कृषि में ही गाएँ हैं 'तत्र गावः'। यहीं उत्तम घर का निर्माण होता है। मैं इन गौ-बैलोंवाला होऊँ और उन गौवें के द्वारा यज्ञनामक प्रभु का वर्णन करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—गोरक्षा द्वारा गोदुग्ध को अपना मुख्य भोजन बनाकर मैं सात्त्विक बनूँ, दिव्य गुणोंवाला बनूँ। आदित्य बनकर जीवन-यात्रा को पूर्ण करूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—संग्रामादिविदात्मा। छन्दः—भुरिगाकृतिः[क], आर्चीबृहती[र]।
स्वरः—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

नामग्राह होम

[क]वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनशिनाय स्वाहा विनशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा। [र]इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमनऽऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय॥२८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में वाजादि शब्दों से चैत्रादि मासों का उल्लेख करके कहते हैं कि उस-उस मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं—(क) **वाजाय**=चैत्र मास के लिए (वाजः अन्नम्) अन्न के प्राचुर्य के कारण चैत्र मास अन्नरूप है, उसके लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ख) **प्रसवाय**=प्रकृष्ट 'सव' अर्थात् स्नानवाले इस वैशाख मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं, अर्थात् इस मास को यज्ञों में बिताते हैं। (ग) **अपिजाय**=(अप्सु जायते जलक्रीडारतत्वात् ज्येष्ठः) जो मास जल-क्रीड़ादि में ही बीतता है उस ज्येष्ठ मास

के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (घ) **क्रतवे स्वाहा**=चातुर्मास्यादि यागों के प्राचुर्य के कारण आषाढ़ मास 'क्रतु' है, उस क्रतु के लिए हम उत्तम आहुति देते हैं। (ङ) चातुर्मास्य में यात्रादि निषेद्य के कारण श्रावण 'वसु' है, घर में ही निवास करानेवाला है। इस **वसवे स्वाहा**=श्रावण मास के लिए हम आहुति देते हैं। (च) (तापकरत्वाद् भाद्रपदस्य अहर्पतित्वम्) **अहर्पतयेऽस्वाहा**=मैं भाद्रपद मास के लिए आहुति देता हूँ। (छ) (तुषारादिना मोहरूपत्वं आश्विनः) **अह्ने मुग्धाय स्वाहा**=ओस आदि के कारण जिसमें स्पष्ट नहीं दीखता उस मुग्ध दिनोंवाले आश्विन मास के लिए मैं आहुति देता हूँ। (ज) **अमुग्धाय**=जिसमें अब ओस आदि न गिरने के कारण दिङ्मोह नहीं होता ऐसे **वैनंशिनाय**=थोड़ी घड़ियाँ होने से विनाशशील दिनोंवाले कार्तिक मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं (झ) **अविनंशिने**=विनाश न होने देनेवाले **आन्त्यायनाय**=उस प्रभु के समीप पहुँचानेवाले (अन्तेभवः आन्त्यः च अयनं च) जो सबके अन्त में रहनेवाले तथा सबके अयन हैं, उस मार्गशीर्ष मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं। **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'** इस वाक्य में मार्गशीर्ष मास को प्रभु की विभूति माना गया है। (ञ) **आन्त्याय**=जिसमें छोटे दिनों का अन्त आ जाता है उस **भौवनाय**=जाठराग्नि की वृद्धि से प्राणियों के हितकर पौष मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ट) **भुवनस्य पतये स्वाहा**=प्राणियों के पालक माघ मास के लिए आहुति देता हूँ। (ठ) अन्त में **अधिपतये स्वाहा**=आधिक्येन रक्षक इस फाल्गुन मास के लिए आहुति देता हूँ और इस प्रकार **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापतिरूप इस संवत्सर के लिए आहुति देता हूँ, अर्थात् मेरा वर्ष यज्ञमय बीतता है। २. इस प्रकार जहाँ सारा वर्ष यज्ञ चलता है वहाँ **इयं ते राट्**=यह तेरा ही राज्य है। प्रभु के साम्राज्य में यज्ञ चलते हैं अथवा जहाँ यज्ञ हैं, वहाँ प्रभु का राज्य है। ३. **मित्राय यन्तासि**=मुझ यज्ञशील अपने मित्र के लिए तू इस शरीर-रूप रथ का सारथि है। मेरे जीवन-रथ को चलानेवाला है। ४. **यमनः**=तू अन्तर्यामिरूपेण सबका नियमन करनेवाला है। ५. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **ऊर्जे**= बल और प्राणशक्ति की प्राप्ति के लिए उपासित करता हूँ। **वृष्टयै त्वा**=मैं इसलिए आपकी उपासना करता हूँ कि आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ। **त्वा**=आपका उपासक इसलिए बनता हूँ कि **प्रजानां आधिपत्याय**=प्रजाओं का मैं आधिक्येन रक्षण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा सम्पूर्ण वर्ष यज्ञमय बीते। मैं प्रभु का उपासक बनकर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करूँ, आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ तथा प्रजाओं का अधिपति बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—यज्ञानुष्ठानात्मा। छन्दः—स्वाराड्विकृतिः[क] ब्राह्म्युष्णिक्[र]।
स्वरः—मध्यमः[क], ऋषभः[र]॥

यज्ञेन कल्पताम्

[क]आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। [र]स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा॥२९॥

१. गतमन्त्र में संवत्सर के बारह-के-बारह मासों को यज्ञमय बनाने का वर्णन था उसी बात को इस रूप में कहते हैं कि **आयुः**=मेरा सारा जीवन **यज्ञेन**=(यज्ञनिमित्तेन) यज्ञ के

हेतु **कल्पताम्**=सिद्ध हो। (कल्पताम् साध्यताम् प्राप्यताम्—म०)। इसी प्रकार २. **प्राणः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी प्राणशक्ति यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो। मैं अपनी सम्पूर्ण प्राणशक्ति का प्रयोग यज्ञ के लिए करूँ। ३. जीवन और प्राण को यज्ञ के लिए सिद्ध करनेवाला मैं यही चाहता हूँ कि **चक्षुः श्रोत्रं वाग्यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी आँख, मेरे कान तथा मेरी वाणी—ये सब यज्ञ के लिए सिद्ध हों। सवितादेव की कृपा से मेरी ये सब इन्द्रियाँ यज्ञात्मक शुभ कर्मों में लगी रहें। ४. **मनो यज्ञेन कल्पताम्**=सब इन्द्रियाश्वों के लिए लगामरूप यह मन भी यज्ञ के लिए अर्पित हो। मन की कृपा से **आत्मा यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह देही (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः) यज्ञिय बन जाए। ५. **ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्**=चारों वेदों का ज्ञाता 'ब्रह्मा' मैं अपने को यज्ञ के निमित्त सिद्ध करूँ। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनकर भी मैं यज्ञ-निवृत्त न हो जाऊँ। अपितु ज्ञानी बनकर मैं और अधिक लोकहितात्मक कर्मों में प्रवृत्त होऊँ। **ज्योतिः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह अन्तःप्रकाश यज्ञों के लिए सिद्ध हो। मैं अपने अन्दर उस प्रभु के प्रकाश को देखकर पूर्णरूप से ही 'यज्ञ' बन जाऊँ, इस यज्ञ से ही मैं उस यज्ञ (प्रभु) को उपासित करूँगा। ६. **स्वर्यज्ञेन कल्पताम्**=(स्वरिति व्यानः, व्यानः सर्वशरीरगः) मेरा सर्वशरीर व्यापी व्यानवायु यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो, अर्थात् मेरी एक-एक चेष्टा यज्ञ के लिए हो। ७. **पृष्ठं** (पृष्ठं स्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा 'दिवो नाकस्य पृष्ठात्) मेरा सारा प्रभु-स्तवन या सुखमय स्थिति यज्ञ के लिए हो। यज्ञ को ही मैं प्रभु-स्तवन समझूँ और यज्ञ को ही स्वर्ग जानूँ—यज्ञ में आनन्द लूँ। ८. लोकहित के लिए स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर किये गये कर्म 'यज्ञ' हैं। **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्**=मेरे यज्ञ भी यज्ञ के लिए सिद्ध हों। यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए मुझे किसी प्रकार की फलेच्छा न हो। ९. **स्तोमश्च**=(स्तुवन्ति यस्मिन् सोऽथर्ववेदः—द०) **यजुः च**=(यजति येन स यजुर्वेदः—द०) **ऋक् च साम च**=मेरे ये अथर्व, यजुः, ऋक् व साम नामक सब वेद यज्ञ के निमित्त सिद्ध हों। इस प्रकार **बृहत् च**=मेरा वर्धन-ही-वर्धन हो। **रथन्तरं च**=मैं इस शरीररूप रथ से इस भव-सागर को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ११. हे **देवाः**=सब देवो! आपकी कृपा से, वस्तुतः आपको अपने अन्दर धारण करने से **स्वः अगन्म**=हम उस 'स्वयं राजमान' (स्व-र) ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें। **अमृताः अभूम**=मृत्युरूप रोगों से कभी आक्रान्त न हों। १२. इस प्रकार **प्रजापतेः प्रजाः अभूम**=प्रभु की प्रजा बनें। प्रभु की प्रजा बनकर **वेट्** (सत् क्रियया—द०) सत् क्रिया के द्वारा **स्वाहा**=हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। वस्तुतः अपने सत्कर्मों से ही हम प्रभु का अर्चन करनेवाले होगें।

भावार्थ—यहाँ २९वें मन्त्र पर ११५ कर्म (वाज मेरा हो? प्रसव मेरा हो आदि) समाप्त होते हैं। जिस वाज से इन वाक्यों का प्रारम्भ हुआ था उसी वाज का उपयोग अगले मन्त्र में कहते हैं—

ऋषिः—**देवाः**। देवता—राज्यवानात्मा। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

शक्ति के ऐश्वर्य में

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे।

यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्मं॑ साविषत्॥३०॥

१: **वाजस्य नु प्रसवे**=शक्ति के ऐश्वर्य में, अर्थात् शक्तिसम्पन्न ऐश्वर्य के द्वारा शक्ति व ऐश्वर्य का सम्पादन करते हुए **मातरं महीम्**=इस अपनी भूमिमाता को **वचसा**=वचन के द्वारा, अर्थात् प्रतिज्ञा करके **अदितिम्**=अखण्डित, शत्रुओं से अपराभूत **नाम**=सार्थक

नामवाला **करामहे**=करते हैं। वस्तुतः वैदिक संस्कृति में अब भी विवाह-संस्कार के समय युवक व युवति व्रत लेते हैं कि हम अपने राष्ट्र को हारने नहीं देगें। व्रत का नाम ही 'जयाहोम' है। हम राष्ट्र की विजय के लिए आहुति देते हैं। २. यह हमारी मातृभूमि वह है **यस्याम्**=जिसमें **इदं विश्वं भुवनम्**=ये सब लोक **आविवेश**=समन्तात् प्रवेश करता है, यहाँ किसी का आना निषिद्ध नहीं। जो भी यहाँ आकर रहना चाहे सभी के लिए यहाँ स्थान है। ३. हमारी तो यही इच्छा है कि **तस्याम्**=उस मातृभूमि में **सविता देवः**=सबका उत्पादक देव **नः**=हममें **धर्म**=धर्म को **साविषत्**=उत्पन्न करे। हमारी मनोवृत्ति अधर्म की ओर न झुके। हमारे हृदयक्षेत्र में सद् गुणों के बीज का प्रभुकृपा से वपन हो।

भावार्थ—१. हम शक्तिसम्पन्न बनें, उचित ऐश्वर्य को कमानेवाले बनें। शक्ति के द्वारा यदि हम मातृभूमि को राजनैतिक दासता से मुक्त करें तो ऐश्वर्यवृद्धि द्वारा इसे आर्थिक पराधीनता से भी मुक्त करें। हम मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए वचनबद्ध हों। २. हमारी मातृभूमि सभी का स्वागत करनेवाली हो। ३. इसमें रहते हुए प्रभुकृपा से हम धर्म की प्रवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्रविणं-वाजः

विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः।
विश्वे नो देवाऽअवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजोऽअस्मे॥३१॥

१. पिछले मन्त्र के व्रत को पूरा करने के लिए प्रार्थना करते हैं कि **अद्य**=आज **विश्वे**=सब **मरुतः**=प्राण **अवसागमन्तु**=हमें प्राप्त हों। प्राण-साधना के द्वारा हम अपनी शक्ति व ऐश्वर्य-प्राप्ति-क्षमता की साधना करें। २. **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=रक्षण के हेतु **आगमन्तु**=हमें प्राप्त हों। ३. हमारे जीवन में **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः भवन्तु**=दीप्त हों। हमारे शरीर में जाठराग्नि के द्वारा शक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो, हमारे हृदय में स्नेह की अग्नि का तथा हमारे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव हो। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **आगमन्तु**=प्राप्त हों और ५. उन देवों की कृपा से **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन तथा **वाजः**=शक्ति **अस्मे**=हमारे लिए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—देवों की कृपा व रक्षण से हमें शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्त हो। इस शक्ति व ऐश्वर्य के द्वारा हम अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता का साधन करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नवान् विद्वान्**। छन्दः—**निचृदार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वाजः

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु॥३२॥

१. **नः**=हमारा **वाजः**=बल **सप्त प्रदिशः**=सात प्रकृष्ट दिशाओं को 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व भूः-भुवः-स्वः' इन सात लोकों में रहनेवाले प्राणियों को **वा**=तथा **चतस्रः**=चार **परावतः**=दूरस्थ लोकों 'महः, जनः, तपः व सत्यम्' नामवाले लोकों में रहने वालों को **अवतु**=रक्षित करनेवाला हो। मेरी शक्ति सदा सभी की रक्षा में विनियुक्त हो। २. 'वाजः' का अर्थ 'अन्न' भी होता है। मेरा अन्न केवल मेरा ही पोषण करनेवाला न हो। मैं 'केवलादी' 'बनकर' 'केवलाघ' न हो जाऊँ। अग्निहोत्र द्वारा मैं इस आहुति को सूर्य तक पहुँचाकर सभी लोकों में रहनेवाले प्राणियों को उसमें भागी करूँ। ३. **नः**=हमारी **वाजः**=यह

शक्ति व अन्न **विश्वैः देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **धनसातौ**=धन की प्राप्ति होने पर **इह**=इस मानव—जीवन में **अवतु**=सभी को प्रीणित करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी शक्ति व धन 'सातों लोकों व चारों दिशाओं को तृप्तकरनेवाले हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दान-दिव्यता-वीरता-विजय

वाजो नोऽअद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ२॥ऽऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयम्॥३३॥

१. **वाजः**=शक्ति **नः**=हममें **अद्य**=आज **दानम्**=दान को **प्रसुवाति**=(प्रेरयेत्) प्रेरित करे। शक्तिशाली व्यक्ति कृपणता को कायरता समझता है, इसलिए वह देता है, लेने से वह मरना अच्छा समझता है। २. **वाजः**=यह शक्ति **ऋतुभिः**=नियमित—व्यवस्थित गति द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **कल्पयाति**=सिद्ध करती है। शक्ति के कारण हममें दिव्य गुणों का विकास होता है। वर्च (Virtue) वीरत्व ही तो है और अवीरता ही ईवल (evil) है। ३. **वाजः**=यह शक्ति **हि**=निश्चय से **मा**=मुझे **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर—ही—वीर बनाती हैं। मैं दान देने में वीर बनता हूँ, इन्द्रियों के संयम में वीर बनता हूँ, माता—पिता, आचार्य की सेवा में वीर बनता हूँ तथा स्वाध्याय में भी शूर बनता हूँ। ४. **वाजपतिः**=इस शक्ति का पति बनकर **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **जयेयम्**=मैं जीतनेवाला बनूँ। मैं कहीं पराजित न होऊँ। 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है' इन आचार्य दयानन्द के शब्दों के अनुसार इस वाज के द्वारा मैं सर्वत्र विजयी बनूँ।

भावार्थ—वाज के द्वारा शक्ति के परिणामस्वरूप मुझमें दान की वृत्ति हो, सब दिव्य गुणों का मुझमें विकास हो। मैं वीर बनूँ और विजयी होऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सर्व-दिग्विजय

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्द्धयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वाऽआशा वाजपतिर्भवेयम्॥३४॥

१. **वाजः**=यह शक्ति **नः पुरस्तात्**=हमें आगे ले-चलनेवाली हो। शक्ति के कारण मैं निरन्तर उन्नति करता चलूँ। **उत**=और यह शक्ति **नः**=हमें **मध्यतः**=मध्य मार्ग से ले—चलनेवाली हो। अशक्त पुरुष ही अति में चलता है। क्षीण व्यक्ति शीघ्र क्रुद्ध हो उठता है। २. **वाजः**=शक्ति **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति के द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **वर्द्धयाति**=बढ़ाती है। सारे आसुर दुर्गुण अयज्ञिय भावना व लोभ के ही परिणाम हैं। यज्ञशेष खाने से मुझमें लोभ की वृत्ति समाप्त होकर अच्छे गुणों का निरन्तर विकास होगा। ३. **वाजः**=यह शक्ति **मा**=मुझे **हि**=निश्चय से **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर—ही—वीर **चकार**=कर देती है। मुझमें कायरता का किसी भी रूप में निवास नहीं होता। ४. **वाजपतिः**=शक्ति का पति बनकर मैं **सर्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **भवेयम्**=प्राप्त करूँ (भू प्राप्तौ)—वशीभूत करूँ। मेरी सर्वत्र विजय—ही—विजय हो।

भावार्थ—मैं शक्ति से आगे बढ़ूँ, मध्य मार्ग में चलूँ। मुझमें त्याग के कारण सब दिव्य गुणों का विकास हो। मैं वीर बन जाऊँ और सर्वदिग्विजय करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—देवाः। देवता—रसविद्याविद्विद्वान्। छन्दः—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अप् ओषधि

सं मा सृजामि पर्यसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।
सोऽहं वाजंꣳसनेयमग्ने ॥३५॥

१. मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के—पृथिवीरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के **पयसा**=आप्यायन (ओप्यायी वृद्धौ) से अथवा (पयः=रस) रस से **मा**=मुझे **सं सृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, युक्त करता हूँ। मैं अपने सब अङ्गों को शक्तिशाली बनाता हूँ। २. इसी उद्देश्य से मैं **मा**=मुझे, अर्थात् अपने को **अद्भिः**=जलों से तथा **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सं सृजामि**=संयुक्त करता हूँ, अर्थात् जलों व ओषधियों का प्रयोग करता हूँ। जल और ओषधियों के प्रयोग से सात्त्विक सोमशक्ति को प्राप्त करता हुआ मैं अपने सब अङ्गों का आप्यापन करनेवाला बनता हूँ। ३. **सः अहम्**=वह मैं **अग्ने**=उन्नति-साधक प्रभो! **वाजम्**=शक्ति को **सनेयम्**=प्राप्त करूँ। मैं शक्ति से सना हुआ हो जाऊँ। मेरे सब अङ्गों में शक्ति का सञ्चार हो जाए।

भावार्थ—हम सम्पूर्ण शरीर का आप्यायन करें। जलों व ओषधियों का प्रयोग करें और एक-एक अङ्ग को शक्ति से युक्त बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—देवाः। देवता—रसविद्याविद्विद्वान्। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

आप्यायन

पर्यः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पर्यस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥३६॥

१. मेरे लिए **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **पयः**=आप्यायन हो। **ओषधीषु**=पृथिवी से उत्पन्न इन ओषधियों में आप्यायनकारी रस हो। २. **पयः दिवि**=इस द्युलोक में भी सूर्यरश्मियों के द्वारा मेरे लिए आप्यायन व वर्धन हो। ३. हे प्रभो! आप कृपा करके **अन्तरिक्षे**=मेघों के आधारभूत अन्तरिक्ष में भी **पयः धाः**=आप्यायन का धारण कीजिए। यह अन्तरिक्षलोक भी मेरे लिए आप्यायन करनेवाला हो। वृष्टि के द्वारा यह उत्तम ओषधियों को प्राप्त कराके मेरे सब अङ्गों में रस का सञ्चार करे। ४. इस प्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **प्रदिशः**=ये प्रकृष्ट दिशाएँ **पयस्वतीः सन्तु**=आप्यायनवाली हों। मेरा सारा वातावरण ही आप्यायन से परिपूर्ण हो। यह सब विश्व मेरे साथ शान्ति में हो और इस प्रकार मेरे वर्धन का कारण बने।

भावार्थ—पृथिवी, ओषधियाँ, द्युलोक, अन्तरिक्ष व सब प्रकृष्ट दिशाएँ मेरा आप्यायन करनेवाली हों। अब इस आप्यायन ही आप्यायनवाले व्यक्ति का राज्याभिषेक करते हैं—

ऋषिः—देवाः। देवता—सम्राड् राजा। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

साम्राज्याभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥३७॥

१. **देवस्य सवितुः**=सब-कुछ देनेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के इस **प्रसवे**=उत्पन्न जगत् में अथवा प्रभु की प्रेरणा में **त्वा**=तुझे **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। तेरा राज्याभिषेक करता हूँ, अथवा गतमन्त्र में वर्णित आप्यायनकारी रस से तुझे सिक्त करता हूँ और निम्न बातों से तुझे युक्त करता हूँ—२. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से तू

सदा प्रयत्नशील होता है, तेरे प्राणापान तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाते हैं, अथवा **अश्विनोः**=सूर्य-चन्द्रमा के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति तू सदा क्रियाशील होता है। **स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**=वेद का यही तो उपदेश है कि हम सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से कल्याण के मार्ग का आक्रमण करें। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से। 'पूषा' पोषण की देवता है, हाथों का काम ग्रहण करना है। तू सदा पोषण के लिए ही उस-उस वस्तु का ग्रहण करता है। तेरे आहार का मापक 'पोषण' होता है न कि 'स्वाद'। ४. **सरस्वत्यै (सरस्वत्याः) वाचः**=सरस्वती की वाणी से, तेरी वाणी 'विद्या की अधिदेवता' की वाणी होती है। तू वाणी से विद्या का ग्रहण करनेवाला व ज्ञान का प्रसार करनेवाला बनता है। ५. **यन्तुः यन्त्रेणा**=नियन्ता के नियन्त्रण से। तू बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला बनता है। ६. और अन्त में **अग्नेः साम्राज्येन**=अग्नि के साम्राज्य से। आगे बढ़नेवाले, उन्नति करनेवाले पुरुष के साम्राज्य से—पूर्ण इन्द्रिय-विजय से, तू जितेन्द्रिय बनता है। वस्तुतः इस जितेन्द्रियता में ही सारी उन्नतियों का रहस्य निहित है। इसी से तू आगे बढ़ता है और अपना सम्राट् बनकर प्रजाओं का भी सम्राट् बन पाता है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**, जितेन्द्रिय पुरुष ही सब प्रजाओं को वश में स्थापित करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु-प्रेरणा में चलें (प्रसवे), प्राणापान के प्रयत्न से आवश्यक सामग्री का अर्जन करें, पोषण के लिए ही वस्तुओं का ग्रहण करें। हमारी वाणी विद्या के लिए हो। इन्द्रियादि के हम नियन्ता बनें और यह नियन्त्रित्व, जितेन्द्रियता, आधिपत्य, साम्राज्य हमें अग्नि बनाये, हमारी उन्नति का कारण हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**ऋतुविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**विराडार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऋताषाट् ऋतधामा

ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥३८॥

१. गतमन्त्र में 'अभिषिक्त करने' का उल्लेख है। यह अभिषिक्त—सिंहासनारूढ़ हुआ व्यक्ति **ऋताषाट्**=(ऋतं सत्यं सहते, असत्ये कुपितो भवतीत्यर्थः) अपने राष्ट्र में सत्य व्यवहार को ही सहन करता है, असत्य को नहीं। राष्ट्र में से असत्य के उन्मूलन के लिए ही उसका राज्याभिषेक हुआ है। २. इस असत्य के उन्मूलन के लिए यह पहले अपने जीवन में से असत्य का उन्मूलन करता है। असत्य का उन्मूलन करके यह **ऋतधामा**=स्वयं ऋत का धाम बनता है। अपने जीवन में से अनृत को दूर करता है तभी ३. **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रेणी बन पाता है। स्वयं अवनत राजा प्रजा को उन्नत नहीं कर सकता। स्वयं ऋत का धाम बनकर अग्नि की भाँति यह राष्ट्र के सब मलों को भस्म करनेवाला होता है। ४. और **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है अथवा (गां भूमिम्) राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस 'ऋताषाड्' के **अप्सरसः**=(अप्सु सरन्ति) प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग **ओषधयः**=(उष दाहे) प्रजाओं में से दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। दोषों का दहन करके ही वे **मुदः नाम**=मुद् नामवाले होते हैं (मोदन्ते जना याभिः) सारी प्रजा का अनुरञ्जन—मोद करनेवाले होते हैं। ६. **सः**=ऐसा—इस प्रकार के अप्सरोंवाला यह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व शक्ति को **पातु**=रक्षित करे। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य यही है कि वह प्रजा को मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला बनाए तथा

शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ व सबल बनाए। आदर्श मनुष्य वे ही हैं जिनके मस्तिष्क व शरीर दोनों उन्नत हैं। ७. इस राजा के लिए **स्वाहा**=(स्व+हा) हम धन का त्याग करते हैं, अर्थात् उचित कर आदि देते हैं, परन्तु उस कर-प्राप्त धन को यह राजा **वाट्** (वहति प्रजां प्रापयति)=प्रजाओं के लिए ही फिर से प्राप्त करानेवाला होता है। ८. **ताभ्यः स्वाहा**=उन प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्षों के लिए भी हम (स्वाहा=स्व-हा) अपने सुख आदि का त्याग करते हैं, अर्थात् जब वे राष्ट्रीय कार्य से हमारे बीच में उपस्थित होते हैं तब हम उन्हें अधिक-से-अधिक सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—राजा 'ऋताषाट्, ऋतधामा, अग्नि व गन्धर्व' हो। उसके अध्यक्ष 'ओषधि व मुद्' हों। ये प्रजा के ब्रह्म व क्षत्र की रक्षा करें। प्रजाएँ राजा को कर दें। राजा उस कर का प्रजाहित में ही विनियोग करे। प्रजाएँ अप्सरों को कार्य में सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिगार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

संहितः विश्वसामा

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥३९॥

१. **संहितः**=(सन्दधाति) यह सम्राट् अपनी प्रजाओं में अधिक-से-अधिक मेल पैदा करता है। इसके राष्ट्र में वर्ण, जाति व धर्म के नाम पर लोग परस्पर लड़ते नहीं रहते। २. **विश्वसामा**=(विश्वानि सर्वाणि सामानि यस्य) यह सम्राट् सम्पूर्ण सामोंवाला होता है, प्रजा-सान्त्वन के उपायोंवाला होता है। ३. **सूर्यः**=इसी उद्देश्य से निरन्तर गतिवाला (सरति) तथा सूर्य के समान अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला होता है। प्रजाओं के अन्धकार को दूर करके ही यह उनमें मेल व शान्ति की स्थापना करता है। ४. इस प्रकाश के फैलाने के लिए यह 'गन्धर्वः' वेदवाणी का धारण करनेवाला होता है और वेदवाणी के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष (अप्सर) भी **मरीचयः**=सूर्य-किरणों के समान ही (म्रियते तमो यैः) अन्धकार को दूर करनेवाले होते हैं, प्रजा में शिक्षा का विस्तार करते हैं और इस प्रकार **आयुवः नाम**='आयुवः' नामवाले होते हैं (आसमन्तात् युवन्ति) सारी प्रजाओं में गुणों का सम्पर्क व अवगुणों का पार्थक्य करनेवाले होते हैं ६. **सः**=ऐसा वह राजा **नः**=हमारे **ब्रह्म क्षत्रम्**=ज्ञान व बल की **पातु**=रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=उस कर को वह प्रजाहित के लिए ही प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=हम उन अध्यक्षों के लिए भी अपने सुख को छोड़कर उन्हें कार्य में सुविधा प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—राजा प्रजा में मेल पैदा करे। सम्पूर्ण शान्ति के साधनों का प्रयोग करे। सूर्य की भाँति गतिशील व अन्धकार-विनाशक हो। राष्ट्र का धारण करे। इसके अध्यक्ष भी तेज के ही त्रसरेणु हों—प्रजा में से अवगुणों को दूर करके गुणों का स्थापन करनेवाले हों। यह राजा हमारे ज्ञान व बल की रक्षा करे। इसे हम कर दें। यह कर का विनियोग प्रजाहित के लिए करे। हम अध्यक्षों के लिए अपने आराम को छोड़नेवाले होकर उन्हें सहायता दें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**चन्द्रमाः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

सुषुम्णः सूर्यरश्मिः

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४०॥

१. यह सम्राट् **सुषुम्णः**=(शोभनं सुम्णं यस्य) उत्तम स्तोमोंवाला तथा प्रजा को उत्तम सुख पहुँचानेवाला होता है। वस्तुतः प्रजारञ्जनात्मक स्वधर्म से ही यह प्रभु का स्तवन करता है २. **सूर्यरश्मिः**=प्रभु के उपासन से यह सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है ३. **चन्द्रमाः**=(चदि आह्लादे, चन्दति चन्दयति वा) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता है और सारी प्रजा को आनन्दित करने का प्रयत्न करता है ५. **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है और उस वेद के अनुसार राष्ट्र का भी धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग (अप्सु सरन्ति) **नक्षत्राणि**=(नक्षन्ते त्रायन्ते) सदा गतिशील होते हैं और प्रजा का रक्षण करते हैं। इस प्रजा के रक्षणात्मक कार्य के लिए ही **भेकुरयः नाम**=(भाकुरयः) प्रजा के अन्दर प्रकाश फैलानेवाले होते हैं, अतः इनका नाम ही 'भेकुरि' हो जाता है। सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाले होकर ये प्रजा के अज्ञानान्धकार को क्यों न दूर करेंगे? ६. **सः**=वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदम्**=इस **ब्रह्म**=ज्ञान को तथा **क्षत्रम्**=बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=कररूप धन **हा**=देनेवाले हों। ८. **वाट्**=राजा उस कर को प्रजाहित में विनियुक्त करता हुआ उसे फिर से प्रजा को प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उस राजा के अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम का त्याग करते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा को उत्तम राज्य-व्यवस्था के द्वारा आनन्दित करता हुआ सच्चा प्रभु-स्तवन करता है। सूर्य के समान ज्ञानरश्मियों को चारों ओर फैलाता है। स्वयं आनन्दमय मनोवृत्तिवाला होता हुआ प्रजा को आनन्दित करता है। वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करता है। उसके अध्यक्ष लोग भी गतिशील, प्रजा-रक्षक व प्रकाश को चारों ओर फैलानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**वातः**। छन्दः—**स्वराड्विकृतिः**[क], **ब्राह्म्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

इषिरो विश्वव्यचाः

इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽअप्सरसऽऊर्जो नाम।

स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४१॥

१. यह सम्राट् **इषिरः**=(क्षिप्रः इष गतौ) शीघ्रता से गतिवाला होता है। अपने सब कार्यों को निरालस्यता से करनेवाला होता है। २. **विश्वव्यचा**=(विश्वस्मिन् व्यचो गमनं यस्य) सारे राष्ट्र में निरीक्षण के लिए जानेवाला होता है। ३. **वातः**=वायु के समान निरन्तर गतिवाला होता है। गति के द्वारा सारी बुराइयों का उच्छेदन करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=इस गतिशीलता से वेदज्ञान का धारण करनेवाला बनता है और उस वेदज्ञान के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग भी **आपः**=(आप् व्याप्तौ) जलों की भाँति व्यापक व शान्त गतिवाले होते हैं **ऊर्जः नाम**=ये प्रजा के बल व प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ६. **सः**= वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=ज्ञान व बल को बढ़ाए। ७. **तस्मै स्वाहा**=उसके लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=राजा उस कर को फिर से प्रजाओं का पालन करने के लिए प्राप्त कराता है। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक बनें।

भावार्थ—राजा गतिशील, क्रियाशील हो। अध्यक्ष क्रियाशील हों। प्रजा को भी क्रियाशील बनाकर बल व प्राणशक्ति सम्पन्न करें।

ऋषिः—देवाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

भुज्युः सुपर्णः

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअप्सरसं स्तावा नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४२॥

१. सम्राट् का पहला कर्त्तव्य **भुज्युः** शब्द से सूचित हो रहा है। 'भोजयते' यह सबके भोजन की व्यवस्था करनेवाला होता है। आपस्तम्ब के शब्दों में **'नास्य विषये क्षुधाया अवसीदेत्'** इसके राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूख से अवसन्न न हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में कभी अकाल की स्थिति न हो। २. यह **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला है। यह सम्राट् राष्ट्र का रक्षण करता है और न्यूनताओं को दूर करता है। ३. **यज्ञः**=(यज् संगतिकरण) यह प्रजाओं के साथ मेल करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=यह राजा वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करनेवाला हो। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष **दक्षिणा**=अपने कार्यों में बड़े चतुर (Dexterous) होते हैं। प्रजा की मनोवृत्ति को समझते हुए बड़ी कुशलता से, प्रजा-कार्यों के साधक होते हैं, अतएव **स्तावा नाम** (स्तूयन्ते)=प्रजाओं से प्रशंसित होकर 'स्तावा' नामवाले होते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=इस ज्ञान व बल की रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। ८. वह राजा **वाट्**=प्रजाहित के लिए ही इस धन का विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने स्वार्थ को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में कोई भूखा न मरे। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि प्रजा के जीवन में न्यूनताएँ उत्पन्न न हों। अध्यक्ष कुशलता से कार्य करें। इतनी कुशलता से कि वे प्रजा में प्रशंसित हों।

ऋषिः—देवाः। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—विराडार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

प्रजापतिः विश्वकर्मा

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्यऽऋक्सामान्यप्सरसऽएष्टयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४३॥

१. सम्राट् का कर्त्तव्य एक शब्द में यह है कि वह **प्रजापतिः**=प्रजा का पालक हो। प्रजा-रक्षा के उद्देश्य से ही राजा ने उस-उस कार्य को करना है। २. **विश्वकर्मा**=यह राजा सब कार्यों को करनेवाला हो। यह किसी कार्य को छोटा न समझे। ३. **मनः**=यह राजा अत्यन्त मननशील हो और सदा विचारपूर्वक ही कार्यों को करनेवाला हो। विशेषकर 'कानून बनाना व दण्ड देना' ये दो कार्य तो अत्यधिक विचार की अपेक्षा रखते हैं। ४. यह विचारशील राजा **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और उसके अनुसार इस राष्ट्रभूमि का धारण करे। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग **ऋक्सामानि**=विज्ञान (ऋक्) व उपासना-(साम)-वाले हों। 'ऋक्' शब्द उनके ज्ञान व क्रिया का संकेत करता है और 'साम' श्रद्धा का सूचक है। इस विद्या व श्रद्धा के द्वारा **एष्टयः नाम**=(आ समन्तात् इष्टयो येषाम्) ये सदा यज्ञोंवाले होते हैं, उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। दूसरे शब्दों में इन अध्यक्ष लोगों के जीवन में ज्ञान, श्रद्धा व कर्म का सुन्दर समन्वय होता है। ये मस्तिष्क, हृदय व हाथों—सबकी शक्ति का विकास करते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के

लिए हम **स्वः**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। वह राजा **वाट्**=इस धन को फिर प्रजा को ही प्राप्त करानेवाला हो, प्रजाहित के लिए ही उसका विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए हम स्वार्थ का त्याग करते हैं, अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राजा अपना मूल कर्म 'प्रजा-रक्षण' समझे। वह स्वयं सब कर्मों को करता हुआ प्रजा में श्रम के आदर को बढ़ाए।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

भुवनपति-प्रजापति

स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य तऽउपरि गृहा यस्य वेह।

अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा॥४४॥

१. **भुवनस्य पते**=घरों के स्वामिन् तथा **प्रजापते**=उन घरों में रहनेवाली प्रजाओं के रक्षक! (क) यहाँ 'भुवनस्य पते' यह सम्बोधन स्पष्ट संकेत कर रहा है कि सब घरों का स्वामी सम्राट् ही है। राजा ने सारी प्रजा को रहने के लिए उचित घर प्राप्त कराना है। राजा इस बात का ध्यान करे कि किसी को भी सड़क के किनारे न सोना पड़े। (ख) राजा घर देता है, घर में रहनेवालों की चोर आदि से रक्षा करता है। राष्ट्र में चोर-डाकुओं के भय से प्रजा की नींद नष्ट नहीं हो जाती है। २. **सः**=वह तू **यस्य ते**=जिस तेरे **उपरि गृहाः**=ऊपर भी घर हैं और **यस्य वा इह**=जिसके यहाँ भी घर हैं, अर्थात् जिस तूने पर्वतों पर भी घरों का निर्माण किया है और यहाँ मैदानों में भी घरों का निर्माण किया है, ऐसा तू **नः**=हमारे लिए **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा **अस्मै क्षत्राय**=इस बल के संवर्धन के लिए **महि**=महनीय, प्रशंसनीय **शर्म**=घर (शर्म=House) **यच्छ**=दे। राजा प्रजा को इस प्रकार के घर प्राप्त कराए, जो घर स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर होकर बल की वृद्धि का कारण बनें। उन घरों के अन्दर स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर हम ज्ञान की वृद्धि करनेवाले हों। जिन घरों में सूर्य-किरणों का पर्याप्त प्रवेश नहीं होता वे न स्वास्थ्य के लिए उत्तम होते हैं, न ही ज्ञानवर्धक कार्यों के लिए अनुकूल होते हैं। ३. हे राजन्! ऐसे तेरे लिए **स्वाहा**=हम सब प्रजाएँ कर देनेवाली हों और तू भी **स्वाहा**=प्रजाओं के हित के लिए अपने सब स्वार्थों व सुखों की आहुति दे देनेवाला हो।

भावार्थ—राजा प्रत्येक प्रजावर्ग को स्वास्थ्य व वृद्धि के दृष्टिकोण से उत्तम घर प्राप्त करानेवाला हो।

सूचना—**'यस्य ते उपरि गृहा वेह'** इस मन्त्रभाग की यह भी भावना है कि जिस तेरा परलोक व इहलोक दोनों ही स्थानों में घर है। प्रजा का हित करनेवाला राजा इहलोक में भी प्रशंसित होता है और परलोक में भी स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला होता है। ऐसे राजा के राज्य में रहते हुए लोग 'सुख का निर्माण' करते हैं, अतः 'शुनःशेप' नामवाले होते हैं। इनके विषय में ही अगले नौ मन्त्रों में (४५ से ५३) हम अध्ययन करेंगे—

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु की ओर

समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा मारुतोऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहावस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा॥४५॥

१. गतमन्त्रों की भावना के अनुसार अपने ज्ञान व बल का वर्धन करनेवाला व्यक्ति अपने जीवन को कैसा बनाता है? प्रभु प्रेरणा करते हैं कि **समुद्रः असि**=(स-मुद्) तू सदा प्रसन्नता के साथ रहता है। तेरा जीवन आनन्दमय होता है। सांसारिक सुख-दुःखों में, ज्ञान के कारण समवृत्तिवाला होकर तू अपने मनःप्रसाद को नष्ट नहीं होने देता। २. **नभस्वान्**=(क) (नभस्वान्=Both the worlds, Heaven and Earth) इस मानस प्रसाद व शारीरिक स्वास्थ्य के कारण ही जीवन को सुन्दर बनाकर तू उभय लोककल्याण को सिद्ध करता है। इस लोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयसवाला होता है। (ख) नभस्वान् (नभ्=to kill) तू नभस्वाला होता है, अर्थात् तू बुराई को मूल में ही समाप्त करनेवाला होता है (Nip the evil in the bud) ३. इस प्रकार बुराइयों को समाप्त करके तू अपने जीवन में अच्छाइयों को पनपानेवाला **आर्द्रदानुः**=(आर्द्रं ददाति इति) सदा औरों के प्रति दयार्द्र हृदय को प्राप्त करानेवाला होता हैं। तेरे जीवन में 'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा' रूप अत्यन्त कोमल गुणों का विकास व प्रकाश हो उठता है। अब तू ४. **शम्भूः**=ऐहिक सुख की भावना करनेवाला (शम्भू ऐहिकं सुखं भावयति प्रापयति) होता है तथा साथ ही **मयोभूः**=(पारलौकिकं सुखं भावयति) परलोक के सुख का भी साधन करता है। ५. ऐसा तू **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ। इसके लिए **स्वाहा**=तुझे स्व का त्याग करना होगा, अर्थात् प्रभु को वही प्राप्त करता है जो (क) प्रसन्न मनवाला (ख) अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला तथा बुराइयों को समाप्त करके (ग) मैत्री, करुणा, मुदिता, व उपेक्षा आदि आर्द्र (प्रीतिपूर्ण) गुणों को समाज में प्राप्त करानेवाला होता है तथा जो (घ) शान्ति व कल्याण के भावन के लिए प्रयत्नशील होता है। ६. **मारुतः असि**=(मरुतः=मनुष्याः) तू सदा मनुष्यों का हित करनेवाला है, तेरा कोई भी कार्य प्रजा-पीड़न के लिए नहीं होता और **मरुतां गणः**=(मरुतः=प्राणाः) प्राणों का तू गण=पुञ्ज बनता है। प्राणपुञ्ज बनकर ही तो लोकहित-साधन सम्भव होता है। प्राणपुञ्ज बनकर तू ७. **शम्भूः मयोभूः**=ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण को सिद्ध करता है, ऐसा तू **मा अभि वाहि**=मेरी ओर आ। **स्वाहा**=स्वार्थ को समाप्त कर और मुझे पा। प्रभु को वही पाता है जो मानवहित के लिए अपने को खपा देता है। इस हित के लिए ही प्राण-साधना करके सशक्त बना रहता है। ८. **अवस्यूः असि**=(अवः सीव्यति इति अवस्यूः) तू अपने जीवन में रक्षण-तन्तु का सन्तान करनेवाला है। तू कभी अपने को वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। ९. **दुवस्वान्**=वासनाओं से रक्षण के लिए ही तू (दुवः=परिचरण) प्रभु की परिचर्यावाला होता है। प्रभु का उत्तमता से उपासन करता हुआ तू वासनाओं से अभिभूत नहीं होता। १०. ऐसा तू **शम्भूः मयोभूः**=शान्ति व कल्याण को उत्पन्न करता हुआ **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ और इसके लिए **स्वाहा**=स्व को समाप्त कर दे। अपने को मेरे प्रति अर्पण कर दे।

भावार्थ—सुख प्रभु-प्राप्ति में है। प्रभु-प्राप्ति 'समुद्र-नभस्वान्-आर्द्रदान्-मारुत-मरुतां गण-अवस्यू-दुवस्वान् व शम्भू तथा मयोभू को ही होती है।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

रुचे जनाय

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥४६॥

१. शुनःशेप प्रभु की गतमन्त्र की प्रेरणा को सुनकर प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हम

सबको उन्नत करनेवाले प्रभो! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, जो दीप्तियाँ **दिवमातन्वन्ति**=प्रकाश को चारों ओर विस्तृत करती हैं, **ताभिः सर्वाभीः रश्मिभिः**=उन सब प्रकाश की किरणों से **नः**=हमें **रुचे**=दीप्ति व प्रीति के लिए तथा **जनाय**=(जनी प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव व विकास के लिए **कृधि**=कीजिए। २. (क) हमारा ज्ञान सूर्य की दीप्तियों के समान हो। (ख) यह ज्ञान हममें परस्पर प्रीति पैदा करनेवाला हो। वेद के शब्दों में ज्ञान तो है ही वह जो परस्पर संज्ञान व ऐकमत्य को पैदा करता है तथा हमारी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। जिसको प्राप्त करके हम परस्पर लड़ने लगते हैं, वह ज्ञान न होकर 'अज्ञान' है।

भावार्थ—(क) सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्त हो। (ख) हम इस ज्ञान से परस्पर प्रीतिवाले हों और (ग) यह ज्ञान हमारी शक्तियों के विकास का कारण बने।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्राग्नी+बृहस्पति

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः।

इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते॥४७॥

१. हे **देवाः**=दिव्य गुणों से द्योतमान देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**= दीप्तियाँ हैं, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **बृहस्पते**=(ब्रह्मणस्पते) हे सम्पूर्ण ज्ञान के अधिपति प्रभो! आपकी कृपा से ये सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे जीवन में इस प्रकार समन्वित हों कि हम दीप्त ज्ञानवाले बनें। सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्तिवाला हो। २. हे **देवाः**=देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **गोषु**=गौवों में व ज्ञानेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **अग्ने**=हे अग्नि के समान प्रकाशमान प्रभो! सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से सब देव हमें इन गौओं के सात्त्विक दुग्ध से सात्त्विक ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनाइए। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाली हों। ३. हे **देवाः**=हे देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **अश्वेषु**=घोड़ों में—कर्मेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ है, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण कीजिए। हे **इन्द्र**=बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो ! आपकी कृपा से मैं अश्वादि वाहनों का भ्रमण में यथोचित प्रयोग करता हुआ अपने में इस प्रकार शक्ति का वर्धन करूँ कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ सदा दीप्तिमय कर्मों को करनेवाली हों। निरन्तर क्रियाशीलता से मेरी कर्मेन्द्रियाँ दीप्त रहें।

भावार्थ—(क) बृहस्पति मुझे सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त करे। (ख) अग्नि की कृपा से मैं उत्तम गौवों के सात्त्विक दुग्ध-प्रयोग से ज्ञान-ग्रहण-पटु ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। (ग) इन्द्र के अनुग्रह से मैं अश्वों द्वारा उचित व्यायाम करता हुआ अपनी कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाऊँ। मेरे सब कार्य शक्तिशाली हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ब्रह्म+क्षत्रिय+विट्+शूद्र

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳराजसु नस्कृधि।

रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के 'देवा:' पद को ही यहाँ अनुवृत्त करके प्रार्थना इस रूप में है कि हे **देवा:**=सब देवो ! आप **नः**=हमारे राष्ट्र के **ब्राह्मणेषु**=ब्रह्मज्ञान के देनेवाले सब विद्वानों में **रुचम्**=ज्ञान की दीप्ति को **धेहि**=धारण कीजिए। एक-एक देव हमारे ब्राह्मणों को ज्ञान से दीप्त करनेवाला हो। २. **नः**=हमारे **राजसु**=रक्षणात्मक कर्मों से प्रजा का रञ्जन करनेवाले क्षत्रियों में **रुचम्**=बल की दीप्ति को **कृधि**=कीजिए। आपकी कृपा से हमारे क्षत्रिय दीप्त बलवाले होकर प्रजा रक्षणात्मक कार्यों से प्रजा का अनुरञ्जन करते हुए सचमुच 'राजा' इस अन्वर्थक नामवाले हों। ३. हे सब देवो! आप **विश्येषु**=हमारे सब वैश्यों में **रुचम्**=धन की दीप्ति को धारण कीजिए। ये सदा सुपथ से 'स्व' (धन) का संचय करते हुए स्वराष्ट्र को सम्पन्न व सुखी बनानेवाले हों। ४. हे देवो! आप **शूद्रेषु**=(शू द्रवति) शीघ्रता से कार्यों में द्रुत होनेवाले हमारे इन शूद्रों में **रुचम्**=श्रमजनित दीप्ति को धारण कीजिए। आपकी कृपा से ये सदा अनसूया (प्रसन्नता) से श्रम करनेवाले हों। अपने श्रम से ये ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के कार्यों की पूर्ति में सहायक हों। ५. हे प्रभो! आप कृपया **मयि**=मुझमें **रुचा**=इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों की 'ज्ञान, बल, धन व श्रम' की दीप्तियों से **रुचम्**=दीप्ति **धेहि**=स्थापित कीजिए।

भावार्थ—हममें ब्राह्मणों की ज्ञान दीप्ति हो। हम क्षत्रियों के बल को धारण करें, वैश्यों की सुसम्पत्तिवाले हों। शूद्रों के श्रम को हम मान देनेवाले हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आयु का अप्रमोषण

तत्त्वा॑ यामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मान॒स्तदाशा॑स्ते॒ यज॑मानो ह॒विर्भिः॑।

अहे॑डमानो वरुणे॒ह बो॒ध्युरु॑शꣳस॒ मा न॒ऽआयुः॒ प्रमो॑षीः॥४९॥

१. शुनःशेप प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ब्रह्मणा वन्दमानः**=ज्ञान से स्तुति करता हुआ **त्वा**=आपसे **तत् यामि**=यह प्रार्थना करता हूँ कि **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=नष्ट होने दीजिए। २. **यजमानः**=यज्ञ के स्वभाववाला—स्वभावतः यज्ञ करनेवाला **हविर्भिः**=आहुतियों के द्वारा सदा दानपूर्वक अदन करते हुए—यज्ञशेष का सेवन करते हुए **तत् आशास्ते**=यही चाहता है कि हे **वरुण**=हमारी सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! हमें श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **(वारयति इति वरुणः, वरुणः=श्रेष्ठ) उरुशंस**=महान् स्तुतिवाले प्रभो ! **अहेडमानः**=हमपर क्रोध न करते हुए **इह**=इस मानव-जीवन में **बोधि**=हमें (बुध्यस्व) बोधयुक्त कीजिए। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो और आप **नः आयुः मा प्रमोषीः**=हमारे आयुष्य को व्यर्थ न होने दीजिए। ३. वस्तुतः आयुष्य की सार्थकता इसी में है कि हम (क) ज्ञान प्राप्त करें (ब्राह्मण) (ख) प्रभु का वन्दन करनेवाले हों तथा (ग) यज्ञशील बनें (यजमानः) 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का समन्वय ही जीवन को सुन्दर बनाता है। 'मस्तिष्क, हाथ व हृदय' तीनों का विकास जीवन को अव्यर्थ करता है।

भावार्थ—जो अपने में ज्ञान, उपासना व कर्म का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता वह अपने जीवन को व्यर्थ में ही नष्ट करता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—सूर्यः। छन्दः—भुरिगार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

जीवन की सार्थकता

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा॥५०॥

१. गतमन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई थी कि हे प्रभो! हमारे जीवन को व्यर्थ नष्ट मत होने दीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु जीव से जीवन को सार्थक बनाने के लिए पाँच बातें कहते हैं— **स्वः न घर्मः**=सूर्य की भाँति तू गरमीवाला हो (स्वः=स्वयं राजमानज्योति, अर्थात् सूर्य) तुझमें प्राणों की उष्णता हो। प्राणशक्ति की वृद्धि से तेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। **स्वाहा**=इस शक्ति की उष्णता प्राप्त करने के लिए तू 'स्व' का **हा**=त्याग करनेवाला बन। सुख व आराम को छोड़कर तप की अग्नि में अपने को आहुत कर। २. **स्वः न**=सूर्य की भाँति। जैसे सूर्य निरन्तर अपने कार्य में लगा हुआ है उसी प्रकार तू भी अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ-हुआ **अर्कः**=(अर्च पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवाला बन। तेरे इस प्राणमयकोश में सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य सुन्दरता से करती हुई उस प्रभु की पूजा करनेवाली हों। **स्वाहा**=तू अपने इन इन्द्रियों को **स्व**=अपने-अपने कार्य में **हा**=आहुत करनेवाला बन। ये अपने-अपने कार्य में लगी रहें, आराम न करने लग जाएँ। ३. **स्वः न**=सूर्य की भाँति ही **शुक्रः**=(शुच दीप्तौ) तू अपने मनोमयकोष में अत्यन्त निर्मल बन। सब मैलों को दूर भगाकर पवित्र हो जा। **स्वाहा**=तू अपने सब मलों को भस्म कर दे। ४. अब अपने विज्ञानमयकोष में **स्वः न**=इस चमकते हुए सूर्य की भाँति **ज्योतिः**=तू ज्योतिर्मय हो। ज्ञान को बढ़ाकर सूर्य की भाँति चमकनेवाला बन। **स्वाहा**=इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सब सुखों को त्यागनेवाला हो। सुखों को त्यागकर ही तू ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। ५. अन्त में **स्वः न**=इस देदीप्यमान सूर्य की भाँति **सूर्यः**=तू भी सूर्य बन। 'सू प्रसवैश्वर्ययोः' सूर्य उत्पादन व ऐश्वर्य की देवता है। तू भी उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य का वर्धन करता हुआ आनन्द को प्राप्त कर। आनन्द का रहस्य निर्माण द्वारा ऐश्वर्य-वृद्धि में ही है। जीवन की सफलता की यही चरमसीमा है।

भावार्थ—(१) प्राणशक्ति की सफलता, (२) इन्द्रियों की रचनाकार्यवृत्ति, (३) मन की शुचिता, (४) मस्तिष्क की ज्योति तथा (५) उत्पादन द्वारा ऐश्वर्य वृद्धि—जीवन की सार्थकता इन्हीं पाँच बातों में है।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'ब्रध्न विष्टपगमन'

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳसुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम्॥५१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ शुनःशेप निश्चय करता है कि मैं **अग्निम्**=सारे ब्रह्माण्ड के अग्रेणी प्रभु को **युनज्मि**=अपने साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु की उपासना करनेवाला बनता हूँ। २. प्रभु की उपासना मैं **शवसा**=गति के द्वारा (शवतिः गतिकर्मा) उत्पन्न बल से (शवः=बलम्) करता हूँ। मैं क्रियाशील बनता हूँ, क्रियाशीलता से मुझमें शक्ति उत्पन्न होती है और इस शक्ति से मैं प्रभु की पूजा कर पाता हूँ। ३. **घृतेन**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) सब प्रकार के मलों के क्षरण से उत्पन्न हुई-हुई दीप्ति से

मैं उस प्रभु को अपने साथ जोड़ता हूँ। वस्तुतः प्रभु-प्राप्ति के मूलसाधन यही हैं कि हम (क) तेजस्वी बनें तथा (ख) निर्मल व दीप्त मनवाले हों। ४. इस नैर्मल्य व दीप्ति से मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो **दिव्यम्**=(दिवि भवः) सदा प्रकाश में स्थित हैं। (द्युषु शुद्धेषु भवः) शुद्ध अन्तःकरणवालों में ही जिनका प्रकाश दीखता है। ५. जो प्रभु **सुपर्णम्**=बड़ी उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु ने हमारे पालन की कितनी सुन्दर व्यवस्था की है! वे प्रभु सदा उत्तम प्रेरणा देते हुए हमारी न्यूनताओं को दूर कर रहे हैं। ६. **वयसा**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) इस जगत्-तन्तु के विस्तार से **बृहन्तम्**=बढ़े हुए हैं, अर्थात् इस अनन्त-से प्रतीयमान संसार का विस्तार करके वे प्रभु अपनी महिमा को बढ़ानेवाले हैं। ७. **तेन**=इस प्रभु के उपासन से **वयम्**=हम **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=महान् सूर्य के (विगतः तापो यत्र) तापशून्य सुखमय लोक को, स्वर्गलोक को **गमेम**=प्राप्त हों। ८. अब **स्वः रुहाणा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म की ओर आरोहण करते हुए **उत्तमम्**=सर्वोत्तम जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं उस **नाकम्**=(न अकं यत्र) दुःख के लवलेश से भी शून्य, आनन्दमय ज्योति, ब्रह्म को **अधिगमेम**=प्राप्त हों, अर्थात् उस ब्रह्म में विचरते हुए मोक्ष के आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—१. हम क्रियाशीलता से शक्तिसम्पन्न बनें और ईर्ष्यादि मलों को त्यागकर मन को दीप्त करें। २. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त करें और ३. (अधि) उससे भी ऊपर उठकर मोक्षसुख का अनुभव करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अजर—पक्ष

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याꣳरक्षाꣳस्यपहꣳस्यग्ने।

ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५२॥

१. प्रभु शुनःशेप से कहते हैं कि **इमौ**=गतमन्त्र में वर्णित ज्ञान की दीप्ति और बल (घृत+शवस्), ब्रह्म और क्षत्र **ते**=तेरे **अजरौ**=कभी जीर्ण न होनेवाले **पक्षौ**=पंख है, अथवा (पक्ष परिग्रहे) ये दो तेरे अविनश्वर परिग्रह हैं। २. **पतत्रिणौ**=ये तेरे उत्पतन=ऊर्ध्वगमन, उत्थान व उन्नति के कारणभूत हैं। ३. वस्तुतः हे **अग्ने**=उन्नति व अग्रगति के साधक जीव! ये तेरे वे पंख हैं, परिग्रह हैं **याभ्याम्**=जिनसे **रक्षांसि**=सब राक्षसी वृत्तियों को **अपहंसि**=तू दूर विनष्ट कर देता है। ज्ञान और बल के साथ बुराइयों का निवास नहीं है। सब मल अन्धकार व अज्ञान में पनपते हैं और सब विकार निर्बल को ही सतानेवाले हैं। ४. **ताभ्याम्**=इन ज्ञान और बल से हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशालियों के **लोकम्**=लोक को **पतेम**=जाएँ। ५. उन लोकों में जाएँ **यत्र**=जहाँ **जग्मुः**=जाते हैं, कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, जिनके मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हैं। (ख) **प्रथमजाः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत प्रादुर्भाववाले। जिनके हृदय अत्यन्त विस्तार व विकासयुक्त हैं। तंगदिली ने जिनकी सब उन्नतियों को समाप्त नहीं कर दिया है। (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) जो शरीर में बहुत पहले से होते हुए भी, अर्थात् बड़े दीर्घायुष्य को प्राप्त हुए भी, ९० व १०० साल में पहुँचकर भी नवीन से ही प्रतीत होते हैं, जिनमें बुढ़ापे के निशान प्रकट नहीं होते, इस प्रकार के सनत्कुमार लोग ही पुण्यशालियों के लोकों को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में बल को धारण करके राक्षसीवृत्तियों से दूर

होते हुए ऊपर उठते हुए उन लोकों को प्राप्त करें, जिनको पुण्यशील, तत्त्वज्ञानी ऋषि, विशाल-हृदय मुनि तथा पूर्ण स्वस्थ दीर्घजीवी पुण्यात्मा प्राप्त किया करते हैं।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—इन्दुः। छन्दः—आर्षीपंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सोने के पंखवाला पक्षी='हिरण्यपक्ष शकुन'

इन्दुर्दक्षः श्येनऽऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।
महान्त्सधस्थे ध्रुवऽआ निषत्तो नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसीः॥५३॥

१. छियालीसवें मन्त्र से प्रारम्भ करके प्रस्तुत मन्त्र में शुनःशेप के जीवन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह शुनःशेप **इन्दुः**=(इदि परमैश्वर्ये) परमैश्वर्यवाला होता है। पिछले मन्त्र के अनुसार ज्ञान और बल—ये इसके अक्षयकोष होते हैं और इन्हीं कोषों से वस्तुतः ये **इन्दुः**=चन्द्रमा की भाँति सभी को आह्लादित करनेवाला होता है। **२. दक्षः**=अपने जीवन में सदा उत्साहवाला—दक्षता से कार्यों को करनेवाला होता है। ३. **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) श्येन की भाँति यह अत्यन्त प्रशंसनीय गतिवाला होता है। ४. क्रियाशीलता के द्वारा ही यह **ऋतावा**=अपने जीवन में ऋत का अवन=रक्षण करता है। अनृत इसके जीवन में नहीं पनप पाता है। ५. **हिरण्यपक्षः**=हितरमणीय ज्योति का यह परिग्रह करनेवाला होता है। (पक्ष परिग्रहम्) अथवा ज्ञान ही इसके पंख होते हैं उनसे यह आकाश में ऊपर उठता है, उन्नति करनेवाला होता है। ६. **शकुनः**=(शक्नोति) यह शक्तिशाली होता है। ज्ञान के साथ शक्ति की साधना करता है। ७. अपनी इस शक्ति से यह **भुरण्युः**=(बिभर्ति) सबका भरण करता है। शक्ति की साधना करता है। शक्ति का विनियोग कभी भी उत्पीड़न में नहीं करता। ८. **महान्**= हृदय में यह विशाल होता है। ९. विशाल हृदय बनकर **सधस्थे**=परमेश्वर के साथ एक स्थान में स्थित होने के स्थान हृदय में **ध्रुवः**=स्थिर होकर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध करके **आ निषत्तः**=सर्वथा स्थित होता है। १०. **नमस्ते अस्तु**=मेरे हृदय में स्थित तेरे लिए नमस्कार हो **मा मा हिंसीः**=हे प्रभो! आप मुझे हिंसित मत होने दीजिए। आपकी कृपा से मेरा जीवन अहिंसित हो। व्यर्थ जीवनवाला न होकर मैं अपने जीवन में उन्नति करता हुआ आप तक पहुँचनेवाला बनूँ और इस प्रकार सुखमय लोक का निर्माण करूँ।

भावार्थ—मैं 'इन्दु, दक्ष, श्येन, ऋतावा, हिरण्यपक्षः, शकुन, भुरण्युः व महान्' बनकर चित्तवृत्ति को ध्रुव करता हुआ हृदय में प्रभु के साथ स्थित होऊँ। प्रभु का दर्शन करता हुआ प्रभु के प्रति नतमस्तक होऊँ और इस प्रकार अपने जीवन को चरितार्थ करूँ। अव्यर्थ जीवनवाला मैं वास्तविक सुख का निर्माण करूँ।

सूचना—प्रभु के साथ स्थित होनेवाला यह शुनःशेप निरन्तर प्रभु की ओर चलता है। प्रभु की ओर चलने से यह 'गच्छति इति गाः', 'गाः' कहलाता है। निरन्तर प्रभु की ओर चलता हुआ यह प्रभु का ही छोटा रूप बनता है, अतः 'लवः' होता है। इस प्रकार यह 'गालव' बनता है। गालव का जीवन निम्न मन्त्र में वर्णित हुआ है—

ऋषिः—गालवः। देवता—इन्दुः। छन्दः—भुरिगार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

'गालव' का जीवन

दिवो मूर्द्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम्।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे॥५४॥

१. हे प्रभु की ओर चलनेवाले और प्रभु का ही छोटा रूप बननेवाले 'गालव'! तू

दिवः मूर्द्धा असि=प्रकाश का शिखर है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे स्थान में पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. **पृथिव्याः नाभिः**=तू इस शरीर का (पृथिवी शरीरम्) बाँधनेवाला है (नह बन्धने), अर्थात् शरीर को पूर्णरूप से नियन्त्रित करता है। शरीर को वशीभूत रखता हुआ ही तो तू स्वस्थ बनता है और ज्ञान-प्राप्ति की अनुकूलता को प्राप्त करता है। ३. **अपाम्**=जलों के तथा **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **ऊर्क्**=बल व प्राणशक्तिवाला तू होता है। जलों व ओषधियों के प्रयोग से तू अपने अन्दर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **विश्वायुः**=तू पूर्ण जीवनवाला होता है। १०० वर्ष के दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है तथा 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करके पूर्ण जीवनवाला होता है। ५. जीवन को पूर्ण बनाकर **शर्म**=तू शरण बनता है। दुःखी पुरुषों के दुःख का हरण करने के कारण उस दुःखी नरसमूह (नार) का अयन=शरण बनता हुआ तू (नारायण) हो जाता है। ६. **सप्रथाः**=तू सदा विस्तार के साथ होता है। अपने मन को कभी तंग नहीं होने देता। ७. इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू औरों के जीवन के लिए मार्गदर्शक बनता है। **पथे**=इस मार्ग बने हुए तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो, तुझे आदर प्राप्त हो। अथवा इस प्रकार मार्ग बने हुए तेरे लिए नम्रता हो। कहीं लोगों से प्राप्त आदर के कारण तुझमें 'गर्व' न आ जाए।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाला व्यक्ति १. ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. शरीर को व्रतों के बन्धन में बाँधता है। ३. जलों व ओषधियों के प्रयोग से शक्तिशाली बनता है। ४. पूर्ण जीवनवाला बनता है। ५. दुःखी पुरुषों का शरण होता है। ६. हृदय को विशाल बनाता है। ७. लोगों के लिए आदर्श बनकर विनीत बना रहता है।

ऋषिः—गालवः। देवता—इन्दुः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

प्रभु का प्रीणन

विश्वस्य मूर्द्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव॥५५॥

१. **विश्वस्य**=सबके **मूर्द्धन्**=मूर्धास्थान में, अर्थात् सबसे आगे **अधितिष्ठसि**=तू स्थित होता है, अर्थात् गुणों को ग्रहण करते हुए व्यक्तियों में तू सबसे आगे बढ़ जाता है। '**मूर्द्धनि वा सर्वलोकस्य**=सब लोकों के मस्तक पर' यही तेरे जीवन का आदर्श वाक्य होता है। २. **श्रितः**=(श्रित् सेवायाम्, श्रितमस्य अस्तीति श्रितः) तू प्रभु की उपासना को अपनानेवाला होता है। इस प्रभु-उपासन से ही तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। ३. **ते हृदयम् समुद्रे**=तेरा हृदय सदा आनन्दमय प्रभु में होता है, अर्थात् तू जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए संसार के सब कार्यों को करता हुआ भी अपने हृदय को प्रभु में ही रखता है। ४. इस प्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ **आयुः**=अपने जीवन को **अप्सु**=कर्मों में स्थापित करता है। ५. कर्मों को करता हुआ तू **अपः दत्त**=(ददासि—द०) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को प्राणशक्ति देता है (आपः=रेतः=प्राणाः) इन कर्मों से तेरे अङ्ग शक्तिशाली बनते हैं और इस प्रकार तू उन अङ्गों को प्राणशक्ति दे रहा होता है। ६. एक-एक अङ्ग को सप्राण करता हुआ तू **उदधिं भिन्त**=(भिनत्सि—द०) ज्ञान-समुद्र का विदारण करता है। विश्लेषणात्मक (analytic) विधि से अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। ७. **ततः**=अब ज्ञान को बढ़ाने के बाद (क) **दिवः**=अपने इस प्रकाशमय मस्तिष्क से (ख) **पर्जन्यात् अन्तरिक्षात्**=(परां तृप्तिं जनयति) सद्भावना व सद् व्यवहार से दूसरों की प्रकृष्ट तृप्ति को पैदा करनेवाले हृदयान्तरिक्ष से, तथा (ग) **पृथिव्याः**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृतशक्तिवाले शरीर से **वृष्ट्याव**=लोगों

पर सुखों की वर्षा के द्वारा **नः**=हमें प्रीणित कर। प्रभु गालव से कहते हैं कि तू ज्ञान-सद्भावना व सत्कर्मों से लोकों के कष्टों के निवारण के द्वारा उनके जीवन को सुखी करेगा तो अपने इस व्यवहार से मुझे प्रसन्न कर रहा होगा।

भावार्थ—हम संसार में गुणों की दृष्टि से अपना स्थान प्रमुख बनाएँ। प्रभु का उपासन करें। हमारा हृदय प्रभु में हो, जीवन कर्मों में। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को हम शक्ति प्राप्त कराएँ। ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करें। दीप्त मस्तिष्क, तृप्तिप्रद हृदय व सशक्त शरीर से सभी को सुखी करते हुए हम प्रभु को आराधित करें।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

आशीर्दा यज्ञः

इ॒ष्टो य॒ज्ञो भृग॑ुभिराशी॒र्दा वसु॑भिः। तस्य॑ न॒ऽइ॒ष्टस्य॑ प्री॒तस्य॒ द्रवि॑णे॒हाग॑मेः॥५६॥

१. **भृगुभिः**=(भ्रस्ज पाके) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करके जो व्यक्ति अपने ज्ञान को परिपक्व करते हैं, उन ज्ञान-विदग्ध भृगुओं के द्वारा तथा **वसुभिः**=ज्ञान के द्वारा ही अपना उत्तम निवास बनानेवाले वसुओं के द्वारा **अशीर्दा**=हमारे सब मनोरथों को देनेवाला **यज्ञः इष्टः**=यज्ञ किया जाता है। २. मस्तिष्क के दृष्टिकोण से जो व्यक्ति 'भृगु' है, वही शरीर के दृष्टिकोण से 'वसु' है। यह 'भृगु-वसु' इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि इस मानव-जीवन को उत्तम बनाने का सर्वप्रमुख साधन 'यज्ञ' है। यही इस लोक व परलोक में कल्याण करनेवाला है। यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। वेद ने इसे 'आशीः-दा' शब्द से कहा है—इच्छा को देनेवाला। ३. हमारा धन इन यज्ञों में ही विनियुक्त हो। इस बुद्धि से 'गालव' प्रार्थना करता है कि हे **द्रविण**=धन! तू **तस्य**=उस **प्रीतस्य**=कमनीय, चाहने योग्य **इष्टस्य**=यज्ञ का होकर **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **नः**=हमें **आगमेः**=प्राप्त हो, अर्थात् हम धन प्राप्त करें और इस धन का विनियोग उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में करें। यह यज्ञ हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी व स्वस्थ बनकर सदा यज्ञों को करनेवाले बनें। हमारा धन यज्ञात्मक कर्मों में ही विनियुक्त हो। ऐसा करने पर ही हम प्रभु को पाएँगे।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

हम यज्ञशील बनें

इ॒ष्टोऽअ॒ग्निराहु॑तः पिपर्त्तु न॒ऽइ॒ष्टꣳ ह॒विः। स्व॒गेदं दे॒वेभ्यो॒ नमः॑॥५७॥

१. गालव प्रार्थना कहता है कि हमसे **अग्निः इष्टः**=यह अग्नि सदा किया जाए (यज्=संगतिकरण)। हम अग्नि को उत्तम घृत-हवि आदि पदार्थों से प्रीणित करनेवाले हों। २. **आहुतः**=हमारे द्वारा घृत-हवि आदि को प्राप्त कराया हुआ यह अग्नि **नः**=हमारा **पिपर्त्तु**=पालन व पूरण करनेवाला हो। यह आहुत अग्नि (क) वायुमण्डल की शुद्धि का साधन बनता है। (ख) यह रोगकृमियों का संहार करता है और इस प्रकार हमारे स्वास्थ्य का पालन करता है। (ग) यह अग्नि हमें सौमनस्य को देनेवाला होता है (घ) और वृष्टि के द्वारा उत्तम अन्न देकर हमारी आवश्यकताओं का पूरण करता है, अतः ३. हमारे अन्दर यज्ञ की वृत्ति बनी ही रहे और **नः**=हमें **हविः**=(हु दानादनयोः) यज्ञों में धन का विनियोग करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति ही **इष्टम्**=प्रिय हो। हम सदा यज्ञशेष खानेवाले ही बनें।

५. इस प्रकार **इदं स्वगा**=यह हमारा जीवन **स्व**=आत्मा की ओर **गा**=जानेवाला है। हम भौतिकता की वृत्तिवाले न बन जाएँ। हम अपने जीवन में यज्ञिय वृत्ति को अपनाकर प्रभु की ओर चलें और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के धारण के लिए **नमः**=सदा नम्रता का धारण करनेवाले हों, देवों के प्रति नतमस्तक हों।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर 'स्व-गा' आत्मा की ओर चलनेवाले बनें। इस आत्मा की ओर चलते हुए हम उसी के छोटे रूप बनें। 'गा' और 'लव' बनें। गालव बनकर हम दिव्य गुणों के धारण के लिए नम्र बनें। नम्रता ही दिव्य गुणों की जननी है। इन दिव्य गुणों को पैदा करके ही हम महादेव को पाएँगे।

सूचनाः=महादेव की प्राप्ति के लिए देवों का अपने में निर्माण करता हुआ यह 'गालव' 'विश्वकर्मा' बन जाता है, 'विश्वकर्मा' देवशिल्पी है। अब इस विश्वकर्मा ऋषि के मन्त्र आते हैं—

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

आकूत-हृत्-मनस्-चक्षु

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५८॥

यत्=जो **आकूतात्**=(मनः प्रवर्तक आत्मनो धर्म आकूतम्) मनः प्रवर्तक आत्मधर्म से—आत्मा के संकल्प से, अपने दृढ़ निश्चय से **समसुस्रोत्**=(स्रु गतौ—गति=प्राप्ति) प्राप्त होता है। **वा**=अथवा **हृदः**=हृदयस्थ श्रद्धा से **संभृतम्**=सम्यक्तया धारण किया जाता है **वा**=या **मनसः**=मनन के द्वारा पुष्ट होता है, **वा**=तथा **चक्षुषः**=प्रकृति में रचना-सौन्दर्यादि के दर्शन से संभृत होता है, अर्थात् 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, श्रद्धा-मनन व प्रकृति में प्रभु-महिमा का दर्शन'—ये सब वस्तुएँ मिलकर हमें उस प्रभु का दर्शन कराती हैं। २. **तत् अनु**=उसके अनुसार ही **प्रेत**=इस संसार में सब गति को करो, अर्थात् प्रभु की महिमा का दर्शन करते हुए ही और इस प्रकार प्रभु-स्मरण करते हुए हम सब कर्मों को करनेवाले बनें। ३. ऐसा करने पर ही, अर्थात् जब हमारी सब क्रियाएँ प्रभु-स्मरण के साथ होंगी तब हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशीलों के **लोकम्**=लोक को प्राप्त होंगे। ४. उन लोकों को **यत्र**=जिनमें **जग्मुः**=जाते हैं। कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, ज्ञानी लोग। (ख) **प्रथमजाः**=गुणों की दृष्टि से आगे बढ़ते हुए प्रथम स्थान में स्थित होनेवाले लोग, तथा (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) अत्यन्त पुराने, बड़ी उम्र के होते हुए भी जो नवीन हैं, अर्थात् जो युक्ताहार-विहारवाले तथा सब कर्मों में युक्तचेष्ट होते हुए कभी जीर्णशक्तिवाले नहीं होते। उनके मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयस्थ विशालता (प्रथमता) तथा शरीर की अजीर्णशक्तिता ही उन्हें उन उत्तम लोकों की प्राप्ति का अधिकारी बनाती हैं। हम भी उन लोकों को प्राप्त करेंगे यदि प्रभुदर्शन करते हुए सब क्रियाओं को करनेवाले होंगे। इस प्रभु-दर्शन के लिए 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, हृदय की श्रद्धा, मन द्वारा मनन व चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन' ये साधन हैं। तभी हम 'विश्वकर्मा' बनते हैं—'विश्व'=सर्वव्यापक प्रभु को देखते हुए कर्म करनेवाले।

भावार्थ—'आकूत, हृदय, मन व चक्षु' हममें प्रभु के भाव का सम्भरण करें। तदनुसार हम कर्म करें और 'प्रथमजा, पुराणा, सुकृत् ऋषियों के पुण्यलोकों को प्राप्त हों।

ऋषिः—विश्वकर्मा। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सुख का निधि 'यज्ञ'

एतꣳसधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वोऽअत्र तꣳस्म जानीत परमे व्योमन्॥५९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतम्**=इस यज्ञ को **सधस्थ**=मिलकर बैठने के स्थान में प्रातः-सायं उपस्थित होनेवाले **ते**=तेरे लिए **परि ददामि**=देता हूँ। वेद के अनुसार प्रत्येक घर में मुख्य कमरा 'हविर्धानम्'=अग्नि में हविर्द्रव्यों के डालने का, अर्थात् यज्ञ करने का होना चाहिए। इस 'अग्निहोत्र' का प्रातः-सायं घर में होना आवश्यक है। इस यज्ञवेदि में घर के सभी व्यक्तियों का उपस्थित होना आवश्यक है, अतः इस यज्ञवेदि को 'सधस्थ' कहा जाता है। इसमें आकर नियम से बैठनेवाले व्यक्तियों को भी यहाँ 'सधस्थ' शब्द से सम्बोधन किया गया है। प्रभु कहते हैं कि हे सधस्थ! इस यज्ञ को मैं तुझे देता हूँ। २. वस्तुतः यह यज्ञ क्या है? यह एक सर्वोत्तम निधि है **यम् शेवधिम्**=जिस सुख के कोश को **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु [मैं]-ने **आवहात्**=तेरे लिए प्राप्त कराया है। अपनी अल्पदृष्टि के कारण तू सम्भवतः यज्ञ के लाभ को न देख सके, परन्तु प्रभु जानते हैं कि यह तेरे लिए 'इष्टकामधुक्' है। तू इस यज्ञ के द्वारा इहलोक व परलोक दोनों में अपना कल्याण सिद्ध कर पाएगा। ३. इस यज्ञ को जीवन का अङ्ग बनाने पर तू अपने पिता प्रभु की उपासना कर रहा होता है। प्रभु-आदेश के पालन से उसका पूजन होता है। इसी बात को यहाँ मन्त्र के शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **अत्र**=यहाँ इस यज्ञशील जीवन में **यज्ञपतिः**=यज्ञों की रक्षा करनेवाला प्रभु **अन्वागन्ता**=यज्ञों के सिद्ध होने पर प्राप्त होगा। यज्ञपति प्रभु की वस्तुतः यज्ञों से ही उपासना होती है, **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. **तम्**=उस प्रभु को **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयदेश में स्थित तथा इस विस्तृत आकाश में व्याप्त हुआ-हुआ **जानीत स्म**=निश्चय से जानो। यज्ञ के द्वारा जहाँ 'वायु-शुद्धि, नीरोगता व उत्तम अन्न की प्राप्ति' होती है, वहाँ 'सौमनस्य' का भी लाभ होता है और इस उत्तम निर्मल मन में ही प्रभु का दर्शन होता है। उस निर्मल मन में प्रभु का आभास मिलने पर उसकी महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, कण-कण में प्रभु का दर्शन होने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ने जीव को सृष्टि के प्रारम्भ में ही यज्ञ को प्राप्त कराया है। यह यज्ञ जीव के लिए सुख की निधि है। इसके अपनाने पर ही वह उस प्रभु को प्राप्त कर पाता है जो प्रभु सर्वत्र होते हुए प्रसाद-युक्त मन में ही देखे जाते हैं।

ऋषिः—विश्वकर्मा। देवताः—प्रजापतिः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

देवयान-मार्गों से

एतं जानाथ परमे व्योमन्देवाः सधस्था विद रूपमस्य।
यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै॥६०॥

१. हे यज्ञशील व्यक्तियो! **एतम्**=इस प्रभु को **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयदेश में तथा इस निरवधिक आकाश में सर्वत्र व्याप्त **जानाथ**=जानो। २. हे **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले **देवाः**=यज्ञादि उत्तम व्यवहारों के करनेवाले विद्वान् पुरुषो! **अस्य**=इस सर्वत्र व्याप्त प्रभु के रूप को **विद**=जानो। यज्ञों से ही प्रभु का उपासन व दर्शन होता है। ३. **यत्**=जब मनुष्य **देवयानैः पथिभिः**=देवयान-मार्गों से **आगच्छात्**=चलता है और

इष्टापूर्त्ते=इष्ट और आपूर्त को **कृणवाथ**=करता है तब **अस्मै**=(क) देवयान-मार्ग पर चलनेवाले (ख) इष्ट और आपूर्त को करनेवाले इस व्यक्ति के लिए **आविः**=वे प्रभु प्रकट होते हैं। प्रभु का दर्शन देवयान-मार्ग पर चलनेवाले और इष्ट तथा आपूर्त को करनेवाले व्यक्ति को ही होता है। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न निर्देश हैं-(क) प्रभु का दर्शन परम व्योमन्, अर्थात् उत्कृष्ट हृदयदेश में होगा, अतः हृदय को पवित्र बनाना अत्यन्त आवश्यक है। (ख) यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव ही प्रभु को जान पाते हैं, अर्थात् यज्ञादि पवित्र कर्मों में लगे रहना प्रभु-प्राप्ति का द्वितीय उपाय है। (ग) देवयान-मार्गों से चलना, अर्थात् देवताओं के योग्य कर्म ही करना प्रभु-प्राप्ति का तीसरा साधन है और (घ) इष्ट और आपूर्त में जीवन का यापन करनेवाले के लिए प्रभु प्रकट होते हैं। हम यज्ञ करें, दान दें, लोकहित के कार्यों में धन का विनियोग करें।

भावार्थ-प्रभु-प्राप्ति के लिए हम हृदयाकाश को पवित्र बनाएँ, यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव बनें, देवयानमार्ग से चलें और हमारा जीवन इष्टापूर्तमय हो।

ऋषिः-**गालवः**। देवता-**प्रजापतिः**। छन्दः-**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**॥

सधस्थ में स्थिति

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥६१॥

१. पिछले मन्त्र के 'इष्टापूर्त' का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=अग्नि के उद्बोधन के बिना उसमें घृत व हवि का समर्पण 'भस्मनि हुतम्' इस वाक्यांश के अनुसार व्यर्थ ही है। **प्रतिजागृहि**=तू इस कुण्ड के कोने-कोने में जाग, अर्थात् अच्छी प्रकार प्रबुद्ध हो जा। यह सम्यक् उद्बुद्ध अग्नि ही अपने में डाले गये घृत और हविर्द्रव्यों को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैलाएगा। अप्रचण्ड अग्नि में छेदन-भेदन की शक्ति उतनी प्रबल नहीं हो सकती। २. अब अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर **त्वम्**=हे अग्ने! तू **अयं च**=और यह यजमान मिलकर **इष्टापूर्त्ते**=इष्ट और आपूर्त के कर्मों को **सं सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले बनो। यजमान घृत व हवि को अग्नि के साथ मिलाने (यज् संगतिकरण) के 'इष्ट' रूप कार्य को करे, अग्नि में इन पदार्थों की आहुति दे तथा अग्नि उन आहुत पदार्थों को अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त करके आदित्यमण्डल तक-सारे वायुमण्डल में **आ**=चारों ओर **पूर्त**=भर दे। 'इष्ट' यजमान का कार्य है, तो 'आपूर्त' अग्नि का। ३. घर के अन्दर जो 'हविर्धान'=अग्निहोत्र का कमरा है **अस्मिन् सधस्थे**=उस सधस्थ में-मिलकर बैठने के स्थान में **अधि उत्तरस्मिन्**=इस वेदिरूप सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब देव **यजमानश्च**=और स्वभावतः यज्ञशील घर का मुखिया सब मिलकर **सीदत**=बैठें। घर में अग्निहोत्र को एक सामूहिक कार्य का रूप दिया जाए। उसमें घर के सभी सभ्य उपस्थित हों। ४. यह यज्ञवेदि 'सधस्थ है सबके मिलकर बैठने की जगह है। (क) इस स्थान पर घर के सभी व्यक्ति एकत्र होकर परस्पर धर्मसूत्र में बद्ध होते हैं। उन सबको यह यज्ञ परस्पर स्नेह व प्रेम में बाँधनेवाला बनता है। (ख) इसलिए भी सधस्थ होना चाहिए कि प्रभु के उपासन के समय घर में केवल उपासन का ही कार्य हो, अन्य कोई कार्य न हो। ५. यह उत्तर-सर्वोत्कृष्ट स्थान है, चूँकि इस स्थान पर (क) प्रभु उपासन होता है, (ख) वायु अत्यन्त शुद्ध होती है (ग) श्वास के साथ अन्दर गये हुए सूक्ष्म औषध द्रव्य रोगों का दहन करते हुए हमें नीरोग बनाते हैं। ६. इस प्रकार यह यज्ञ हमें उन्नत करता हुआ

प्रभु की ओर ले-चलता है और क्रमशः उन्नत होते हुए हम प्रभु का ही छोटा रूप बनते हैं और मन्त्र के ऋषि 'गालव' होते हैं, प्रभु की ओर जानेवाले, उसी के छोटे रूप।

भावार्थ—उद्बुद्ध अग्नि में हम सब मिलकर यज्ञिय पदार्थों की आहुति देनेवाले हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**विश्वकर्माग्निर्वा**। छन्दः—**निचृदार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सहस्र-वहन

येन॒ वह॑सि स॒हस्र॒ं येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्। तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में यह स्पष्ट है कि यजमान 'इष्ट' को करता है, तो अग्नि 'आपूर्त' को। अपने में पड़े हुए पदार्थों को अग्नि छोटे-छोटे कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैला देता है। श्वासवायु के साथ उन कणों को सभी व्यक्ति अपने अन्दर लेते हैं और स्वास्थ्य आदि का लाभ करते हैं। दूसरे शब्दों में अग्नि हमारा ही भरण न करके हज़ारों का भरण करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! **येन**=क्योंकि **सहस्रं वहसि**=तू हज़ारों का ही धारण करता है, इतना ही नहीं, **येन**=चूँकि यज्ञ से पर्जन्य (बादल) के द्वारा वृष्टि करके तू अन्नादि की उत्पत्ति से **सर्ववेदसम्**=सब धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है, **तेन**=इसलिए **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **नः**=हमें **नय**=प्राप्त करा। २. यज्ञ के दो लाभ बड़े स्पष्ट हैं (क) एक तो यज्ञ के द्वारा उस वस्तु को अकेला न खाकर मैं सहस्रों के साथ मिलकर खाता हूँ तथा (ख) यह यज्ञ उत्तम अन्नादि की उत्पत्ति से हमारी सम्पत्ति का संवर्धन करता है। ३. इन दो लाभों के अतिरिक्त वायुशुद्धि व रोगकृमि-संहार से नीरोगता होकर हमारा जीवन बड़ा सुखी हो जाता है। मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि इन यज्ञों के द्वारा **स्वः नय**=हमें सुख व स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला हो और **देवेषु गन्तवे**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल। इस यज्ञ से हमारी स्वार्थ की वृत्ति समाप्त होती है और हम आसुरवृत्तियों से ऊपर उठकर दैवीवृत्तियों में विचरणवाले होते हैं। इन दिव्य गुणों के कारण यशस्वी बनकर हम 'देवश्रव' बनते हैं और दिव्य गुणों में गमन के कारण 'देववात' कहलाते हैं। ये ही इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—(१) अग्निहोत्र द्वारा हम अकेले न खाकर सहस्रों का भरण करते हैं। (२) इस अग्निहोत्र से अन्नादि की उत्पत्ति के द्वारा हमें सम्पूर्ण धन प्राप्त होता है। (३) वायुशुद्धि व नीरोगता से हमारा जीवन सुखी होता है, हमारा गृहस्थ स्वर्ग बन जाता है। (४) स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ के उपकरण

प्र॒स्त॒रेण॑ परि॒धिना॑ स्रु॒चा वेद्या॑ च ब॒र्हिषा॑।
ऋ॒चेमं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥६३॥

१. **इमं यज्ञं नः नय**=इस यज्ञ को हमें प्राप्त कराइए, जो यज्ञ (क) **प्रस्तरेण**=प्रस्तर से उपलक्षित है (युक्त है), स्रुक् की आधारभूत दर्भमुष्टि से युक्त है अथवा आसन से युक्त है (ख) **परिधिना**=जो परिधि से युक्त है, तीन बाहु परिमाण काष्ठों से युक्त है। सम्भवतः ये काष्ठ वेदि की बाड़ के रूप में हैं। चौथी ओर से आगमन-निर्गमनमार्ग होने से इनकी आवश्यकता नहीं है। (ग) **स्रुचा**=यह यज्ञ 'जुहू' आदि यज्ञपात्रों से युक्त है। (घ) **वेद्या**=वेदि से युक्त है। वेदि पर स्थित होकर ही इस यज्ञ का प्रणयन होता है। (ङ)

बर्हिषा=वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ के पूलकों से यह युक्त है और अन्त में (च) **ऋचा**=ऋगादि मन्त्रों से यह उपलक्षित है। मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही आहुतियाँ दी जाती हैं। २. **अग्ने**=हे प्रभो! **स्वः नय**=इस यज्ञ के द्वारा हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल, हमारी स्थिति दिव्य गुणों में हो। ४. प्रस्तरादि सब उपकरणों को जुटाकर यज्ञ करनेवाला यह व्यक्ति स्वार्थ से ऊपर उठकर सभी का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञ के सब उपकरणों को ठीक-ठाक करके यज्ञशील बनें और दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले बनकर घर को स्वर्ग बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दान व स्वर्ग

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्त्तं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६४॥

१. दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला 'विश्वकर्मा' प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। यह देवशिल्पी अपने में दिव्य गुणों का निर्माण करता है। यह प्रार्थना करता है कि **यत् दत्तम्**=जब हममें भार्या, पुत्र, माता, भगिनी व भगिनीपति आदि बन्धुओं के लिए उदारता-पूर्वक देने की वृत्ति होती है २. **यत् परादानम्**=और जब परोपकार के लिए दया से दीन, अन्धे आदि के लिए हम आवश्यक वस्तुओं को देते हैं। (३) **यत्पूर्त्तम्**=जब हम लोकहित के लिए वापी, कूप तड़ागादि का निर्माण करते हैं ४. **याश्च दक्षिणाः**=और जब हम ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए यज्ञसम्बन्धिनी दक्षिणाओं को प्राप्त कराते हैं ५. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**=विश्वकर्मा का हितकारी **अग्निः**=वह सब उन्नतियों का साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=सुख में स्थापित करे तथा हमें **देवेषु**=दिव्य गुणों में स्थापित करे, अर्थात् दान की वृत्ति के परिणामरूप हमारे जीवन स्वर्गतुल्य सुखी व दिव्य गुणोंवाले हों।

भावार्थ—हम 'दत्त, परादान, पूर्त्त व दक्षिणा' के रूप में दान देनेवाले हों और अपने जीवनों को सुखी व दिव्य गुणसम्पन्न बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ व स्वर्ग

यत्र धाराऽअनपेता मधोर्घृतस्य च याः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६५॥

१. **यत्र**=जब **मधोः**=मधुरादि गुणयुक्त सुगन्धित द्रव्यों की **घृतस्य च**=और घृत की **याः**=जो **धाराः**=धाराएँ हैं, वे **अनपेताः**=(न अप इताः) दूर नहीं होती, अर्थात् जहाँ यज्ञों में मधुर हविर्द्रव्यों व घृत की आहुतियाँ निरन्तर पड़ती रहती हैं २. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**=विश्वकर्मा—यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले देवशिल्पियों का हितकारी **अग्निः**=वह उन्नति-साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=स्वर्ग में स्थापित करे तथा **देवेषु दधत्**=दिव्य गुणों में स्थापित करे।

भावार्थ—जिस घर में निरन्तर मधुर हविर्द्रव्यों तथा घृत से यज्ञ चलते हैं, वहाँ स्वर्ग होता है, दिव्य गुणों की स्थापना होती है।

सूचना—घृत की धाराएँ अनेपत हों, अर्थात् यज्ञ निरन्तर चले। इसमें अवकाश न आ जाए। इसे जरामर्य सत्र समझा जाए। इससे तो तभी छुटकारा होगा जब हम अत्यन्त वृद्ध हो जाएँगे अथवा देह को ही त्याग देंगे।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अग्नि-हविः

अ॒ग्निर॑स्मि॒ जन्म॑ना जा॒तवे॑दा घृ॒तं मे॒ चक्षु॑र॒मृतं॑ मऽआ॒सन्।
अ॒र्कस्त्रि॒धातू॒ रज॑सो वि॒मानो॒ऽजस्रो॑ घ॒र्मो ह॒विर॑स्मि॒ नाम॑॥६६॥

१. पिछले दो मन्त्रों के अनुसार दान व यज्ञों से देवों को (दिव्य गुणों को) अपने में धारण करनेवाला यह 'देवश्रव' बनता है, दिव्य गुणों के कारण यज्ञवाला। दिव्य गुणों के प्रति जाने के कारण यह 'देववात' है। यह निश्चय करता है कि मैं **अग्निः अस्मि**=निरन्तर आगे ही बढ़नेवाला होता हूँ। २. **जन्मना जातवेदाः**=जन्म से ही उत्पन्न ज्ञानवाला बनता हूँ, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही ज्ञानरुचि होने के कारण निरन्तर अध्ययन करता हुआ ज्ञानी बनता हूँ। ३. **मे चक्षुः घृतम्**=मेरी चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'घृत' होती हैं, अर्थात् 'घृ क्षरण' मलों के क्षरण से (घृ=दीप्ति) अत्यन्त दीप्तिवाली होती हैं। ४. **मे आसन् अमृतम्**=मेरे मुख में अमृत है। मेरे मुख से अमृतमय मधुर वचन ही निकलें। ५. इस प्रकार ज्ञानी व मिष्टभाषी बनकर मैं **अर्कः**=उस प्रभु का सच्चा उपासक होता हूँ। ६. **त्रिधातू**=शरीर, मन व बुद्धि—तीनों का धारण करनेवाला बनता हूँ। मेरा शरीर 'कर्मकाण्ड' को अपनाता है तो मन 'उपासना' को तथा मस्तिष्क 'ज्ञान' को। ७. मैं **रजसः विमानः**=(रजः=कर्म) कर्म का विशिष्ट मानपूर्वक करनेवाला होता हूँ। मेरी आहार-विहार व जागरण-स्वप्न आदि सभी क्रियाएँ युक्त (मपी-तुली) होती हैं। ८. **अजस्रः घर्मः**=इस युक्तचेष्टता के कारण मैं सतत अनुपक्षीण प्राणशक्ति की उष्णतावाला होता हूँ। मुझमें संयम से शक्ति की उष्णता सदा बनी रहती है। ९. **हविः नाम अस्मि**=और अन्त में मैं हवि होता हूँ, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता हूँ, (हु दानादनयोः) यज्ञशेष को खाता हूँ, प्रभु के 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश का पालन करता हूँ। वस्तुतः यह हविः मेरी सब उन्नतियों का मूल होती है।

भावार्थ—मैं 'अग्नि' बनूँ और अग्नि बनने के लिए 'हविः' होऊँ।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ऋग्यजुःसाम

ऋचो॒ नामा॑स्मि॒ यजूँ॑षि॒ नामा॑स्मि॒ सामा॑नि॒ नामा॑स्मि। येऽअ॒ग्नयः॒ पाञ्च॑जन्याऽअ॒स्यां पृ॑थि॒व्यामधि॑। तेषा॑मसि॒ त्वमु॑त्त॒मः प्र नो॑ जी॒वात॑वे सुव॥६७॥

१. **ऋचः नाम अस्मि**=विज्ञान का अध्ययन करके 'ऋचः' नामवाला मैं हूँ। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। विज्ञान का उच्च अध्ययन करने के कारण 'ऋच' अर्थात् विज्ञान ही मेरा नाम हो गया है। २. इस विज्ञान के अनुसार विविध यज्ञात्मक कर्मों में जीवन का यापन करने से मैं **यजूंषि नाम अस्मि**='यजूंषि' नामवाला हो गया हूँ। ३. ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करके प्रभु का उपासन करनेवाला मैं **सामानि नाम अस्मि**='सामानि' नामवाला हूँ। सामवेद 'उपासनावेद' है। इन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों ने मुझे मूर्त्तिमती उपासना ही बना दिया है। ४. इस प्रकार 'ज्ञान-कर्म व उपासना' का अपने में समन्वय करके यह सचमुच **अग्नि**=जीवन में आगे बढ़नेवाला बना है। यह उन्नत जीवनवाला व्यक्ति सब मनुष्यों का हित करने से 'पाञ्चजन्य' है। इससे अन्य मनुष्य निवेदन करते हैं कि **अस्यां पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **ये**=जो भी **पाञ्चजन्याः**=मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नयः**=प्रगतिशील व कार्य करने में उत्साहवाले व्यक्ति हैं **तेषाम्**=उनमें

त्वम्=तू **उत्तमः असि**=उत्तम है—प्रमुख है। वह तू **नः**=हमें **जीवातवे**=चिरजीवन के लिए **प्रसुव**=प्रेरणा प्राप्त करा। हमें ऐसी प्रेरणा दे कि हम उसके अनुसार जीवन को 'स्वस्थ, सत्यमय व ज्ञानदीप्त' बनाकर दीर्घकाल तक चलनेवाला बना पाएँ।

भावार्थ—मेरे जीवन में 'ज्ञान-कर्म-उपासना' का समन्वय हो। मैं लोकहित करनेवालों में प्रमुख बनूँ। लोगों को उत्तम प्रेरणा देकर उनके सुन्दर व दीर्घ जीवन का कारण बनूँ।

सूचना—मनुष्य के लिए यहाँ 'पाञ्चजन्य' शब्द का प्रयोग है। पाँचों 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' इन सब कोशों का (जन) विकास करने के कारण वह 'पाञ्चजन्य' कहलाता है। जीवन को उत्तम बनाने के लिए पाँचों को क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु तथा सहस्' से सुभूषित करना है। मन्त्र का ऋषि 'देवश्रवदेववात' लोगों के भले के लिए तेजस्विता आदि के सम्पादन के साधनों का उपदेश देता है। स्वयं तेज आदि का धारण करता हुआ लोगों के लिए क्रियात्मक उदाहरण उपस्थित करता है।

ऋषिः—इन्द्रः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र का आवर्तन

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वावर्तयामसि॥६८॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार जब व्यक्ति लोकहित के लिए उत्तम प्रेरणा देता है तब उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह स्वयं अपने को पूर्ण जितेन्द्रिय बनाए। इन्द्र बनकर ही वह औरों को इन्द्र बनने के लिए कह सकता है। साथ ही इन्द्र बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह सब असुरों का संहार करनेवाले महान् इन्द्र (प्रभु) का स्मरण करे। प्रस्तुत मन्त्र में उसी प्रभु-स्मरण (प्रभुनाम-जपन) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **त्वावर्तयामसि**=हम आपका आवर्तन करते हैं, आपके नाम का जप व अर्थभावन करते हैं। आपके निजनाम 'ओम्' का जप व चिन्तन करते हुए हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाते हैं। २. **वार्त्रहत्याय**=(वृत्रं हन्यते येन) जिससे कि हम वृत्र का हनन कर सकें। हमारे ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासना ही 'वृत्र' है। आपके नाम-स्मरण से हम इस वृत्र का विनाश करनेवाले बनते हैं। ३. **शवसे**=(शव गतौ, शवस्=बल) क्रियाशीलता व क्रियाशीलता से उत्पन्न होनेवाली शक्ति के लिए हम आपका स्मरण करते हैं। प्रभु-स्मरण हमें प्रभु के समान ही स्वाभाविकी क्रिया करनेवाला बनने की प्रेरणा प्राप्त कराता है, उस क्रिया को अपनाकर हम बल का सम्पादन करते हैं, **च**=और ४. **पृतनाषाह्याय**=शत्रु-सेनाओं के पराभव के लिए हम जप करते हैं। प्रभु को हृदयस्थ करके हम हृदयक्षेत्र से वासनासमूह को दूर भगा देते हैं। इन वासनाओं के पराभव के लिए हम समर्थ होते हैं। इन आसुरी वृत्तियों का संहार करके हम सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'इन्द्र' बनते हैं।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु के नाम का आवर्तन करें। इन्द्र के आवर्तन से इन्द्र बनें, जिससे कि (क) हम वृत्र का विनाश कर सकें। (ख) क्रियाशीलता के द्वारा बल का सम्पादन करनेवाले हों तथा (ग) शत्रु-सेनाओं का पराभव कर पाएँ।

ऋषिः—इन्द्रविश्वामित्रौ। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वृत्र

सहदानुम्पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्द्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ॥६९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीव प्रभु के नाम का आवर्तन करते हुए कहता है कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों की विजय करानेवाले प्रभो! **सहदानुम्**=(दाप् लवने) बल का लवन (छेदन) करनेवाले, **क्षियन्तम्**=बल के नाश से हमारा नाश करनेवाले **कुणारुम्**=(कणयति=रोदयति) दुर्गति के द्वारा रोदन करानेवाले और अन्त में **पियारुम्**=(पियतिर्हिंसाकर्मा) सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देनेवाले **वर्द्धमानम्**=निरन्तर बढ़ते हुए **वृत्रम्**=इस ज्ञान के आवरक कामरूप वृत्र का हे **पुरुहूत**=पालन व पूरण करनेवाली पुकारवाले प्रभो! आप **अहस्तम्**=हस्तरहित करके—हननशक्तिशून्य करके **संपिणक्**=पीस डालते हैं तथा **अपादम्**=पादों व गति से शून्य करके **तवसा**=बल के द्वारा **अभिजघन्थ**=सम्यक् समाप्त कर देते हैं। २. यह वासना ज्ञान पर परदा डालनेवाली होने से 'वृत्र' है। यह हमारे बल का छेदन कर देने से 'सहदानु' है! क्षयकारिणी होने से 'क्षियन्' है। अन्त में बुरी भाँति रुलानेवाली होने से 'कुणारुम्' है। सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देने से यह 'पियारु' है। सदा बढ़ने व फैलनेवाली होने से 'वर्धमान' है। ३. प्रभु के नाम का स्मरण हममें बल उत्पन्न करता है, और उस **तवस्**=बल से इस वृत्र की हननशक्ति को समाप्त कर देता है, इस वृत्र को 'अहस्त' कर देता है। (हन् से हस्त=Hand)। प्रभु के नाम-स्मरण से यह वासना 'अपाद'—गतिशून्य हो जाती है, मानो इसके पाँव ही नहीं रहते। ४. इस प्रकार वे प्रभु सचमुच 'इन्द्र' हैं, हमारे इन कामादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। वे प्रभु 'पुरुहूत' हैं, उनको पुकारना हमारा पालन व पूरण करता है।

भावार्थ—प्रभु नाम-स्मरण से हमारी वासना हाथ-पाँव से रहित होकर विनष्ट हो जाए। वासना हमारा हनन करनेवाली न हो, हमारे हृदयक्षेत्र से उसकी चहल-पहल दूर चली जाए।

ऋषिः—शासः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

कुचलना Trampling upon

वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः॥७०॥

१. गतमन्त्र का ऋषि इन्द्र काम-क्रोधादि आसुरवृत्तियों का संहार करके सब पापों से अपने को बचानेवाला (विश्व-मित्र) विश्वामित्र बना था। यह अपने पर पूर्णरूप से शासन करनेवाला होने से 'शास' कहलाता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करके ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारी **मृधः**=(murder) हत्या करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. **पृतन्यतः**=हमारे साथ संग्राम की इच्छावाले इन शत्रुओं को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखाइए। इन्हें हमारे पाँव तले रौंद दीजिए। ३. इन वासनारूप शत्रुओं में **यः**=जो भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=इहलोक व परलोक दोनों ओर से (अभि) नष्ट करना चाहता है (दस् उपक्षये) उसे आप **अधरम् तमः**=पाताललोक के अन्धकार को **गमय**=प्राप्त कराइए। ये वासनाएँ पाताल में ही कैद-सी

रहें। इनका निवास तो असुर्यलोकों में ही ठीक है। हमारे साथ इनका क्या सम्बन्ध? इनमें फँसकर तो हम भी उन असुर्यलोकों में ही घसीटे जाएँगें, अतः हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि मैं इन वासनाओं से अभिभूत होकर नष्ट न हो जाऊँ।

भावार्थ—हम वासनाओं को नष्ट करके उन्हें पूर्णरूप से वशीभूत करके अपने 'शास' नाम को यथार्थ करें।

ऋषिः—जयः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जय

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावतऽआजगन्था परस्याः।
सृकꣳसꣳशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रूँन्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥७१॥

१. गतमन्त्र का 'शास'=अपने पर शासन करनेवाला शत्रुओं पर विजय पाता है और 'जय' नामवाला होता है। यह जय **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला होता है। इस आत्मालोचन से यह 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' में छिपकर ठहरे हुए कामादि को ढूँढकर नष्ट करने का प्रयत्न करता है। २. **न भीमः**=अपनी कमियों को जानने के कारण ही यह भयंकर नहीं होता, इसे अभिमान व क्रूरता आदि दोष आक्रान्त नहीं करते। ३. **कुचरः**=यह सदा पृथिवी पर विचरनेवाला होता है, घमण्ड के कारण आकाश में नहीं उड़ता, डींगें नहीं मारता (Does not build castles in the air)। ४. **गिरिष्ठाः**=सदा वेदवाणी में स्थित होता है—वेदोपदिष्ट मार्ग से चलता है। ५. **परावतः परस्याः**=दूर-से-दूर देश से भी **आजगन्थ**=लौट आता है। इसका जो मन सुदूर देशों में भटका होता है, उस मन को यह वहाँ से वापस ले-आता है, 'प्रत्याहार' की साधना करता है। ६. **सृकम्**=(सृ-कं) गति में आनन्द को **संशाय**=(तीक्ष्णीकृत्य) बढ़ाकर, अर्थात् गति में, क्रियाशीलता में अधिक-से-अधिक आनन्द लेता हुआ **इन्द्र**=हे जीवात्मन्! ७. **पविम्**=अपने को पवित्र बनाने की भावना को **तिग्मम्**=तीव्र व ज्ञान से दीप्त करके, अर्थात् पवित्रता व ज्ञान को मिलाकर तू **शत्रून्**=इन कामादि शत्रुओं को **विताढि**=हिंसित कर तथा **मृधः**=इन हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=अपने से सुदूर धकेल दे।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को जीतने के लिए आवश्यक है कि हम (क) आत्मालोचन करें (मृगः), (ख) कल्पनाओं में न उड़ते रहकर पृथिवी पर विचरनेवाले बनें (कुचरः), (ग) 'गिरिष्ठा' बनें—वेदवाणी के अनुकूल चलें, (घ) क्रियाशीलता में आनन्द लें (सृकम्), (ङ) पवित्रता को ज्ञानदीप्त करें (पविं तिग्मम्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वैश्वानरः, विश्वामित्रः

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्रयातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'जय'=विजेता बनकर 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **परावतः**=दूर देश से **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **आ प्रयातु**=सर्वथा समीप देश में प्राप्त हो। अज्ञानवश जब हम प्रभु से दूर होते हैं, तब हमें भय आदि प्राप्त होते हैं तथा काम-क्रोधादि शत्रुओं के हम वशीभूत हो जाते हैं। ज्ञान होने पर हम उस प्रभु

को अपने हृदय में अनुभव करते हैं, उससे हमें जहाँ अभय प्राप्त होता है, वहाँ हम काम-क्रोधादि के शिकार नहीं होते। २. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों का साधक वह प्रभु **सुष्टुतीरुप**=हमसे की गई शोभन स्तुतियों के द्वारा (सुष्टुतिभिः) **नः**=हमारे **उप**=समीप उपस्थित हों। वे प्रभु हमारे रक्षक हों। यदि थोड़ा-सा विचार किया जाए तो इससे बढ़कर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है कि प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हों, परन्तु यह होगा तभी जब (क) हम भी उस प्रभु की भाँति ही 'वैश्वानर' बनें। सभी का हित करनेवाले हों इस भावना को अपनाकर ही हम मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' होंगे। प्रभु की रक्षा का पात्र बनने का (ख) दूसरा साधन 'अग्नि' बनना है। हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना हो। (ग) इस आगे बढ़ने के उद्देश्य से हम प्रभु की उत्तम स्तुति करनेवाले बनें (सुष्टुती)। इन स्तुतियों से हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होगी। यह लक्ष्य आँख से ओझल न होगा तो हम निरन्तर आगे बढ़ते चलेंगे।

भावार्थ—(क) हम सब प्राणियों के हित की भावना से कार्यों में प्रवृत्त हों। (ख) हममें आगे बढ़ने की प्रवृत्ति हो। (ग) प्रभु के उत्तम स्तवन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जिज्ञासु भक्त

पृष्टो दि॒वि पृ॒ष्टोऽअ॒ग्निः पृ॑थि॒व्यां पृ॒ष्टो विश्वा॒ऽओष॑धी॒रावि॑वेश।
वै॒श्वा॒न॒रः सह॑सा पृ॒ष्टोऽअ॒ग्निः स नो॒ दिवा॒ स रि॒षस्पा॑तु॒ नक्त॑म्॥७३॥

१. गतमन्त्र में कहा गया था कि 'प्रभु हमें रक्षा के लिए समीपता से प्राप्त हों'। प्रस्तुत मन्त्र में उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में तथा **सः**=वे प्रभु **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः**=हिंसा से **पातु**=बचाएँ। वे प्रभु दिन-रात हमारी रक्षा करें। २. ये प्रभु वे हैं जो **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर (प्रच्छ जिज्ञासायां) **दिवि**=द्युलोक में, दीप्त होनेवाले सूर्य में दिखते हैं। ३. वे **अग्निः**=सारे संसार के अग्रेणी प्रभु **पृष्टः**= जिज्ञासित होने पर **पृथिव्याम्**=(प्रथ विस्तारे) अन्तरिक्षलोक में अन्तरिक्षस्थ चन्द्र व मेघ आदि में दृष्टिगोचर होते हैं। ४. **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर वे प्रभु **विश्वा ओषधीः आविवेश**=सब ओषधियों में प्रविष्ट दिखते हैं। इन विविध ओषधियों में उस सवितादेव की महिमा प्रकट होती है। ५. वे **वैश्वानरः अग्निः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक (विश्वान् नरान् नयति) प्रभु **सहसा**=सहस् के द्वारा, बल के द्वारा **पृष्टः**=जिज्ञासित होते हैं। प्रभु का दर्शन निर्बलों को नहीं होता **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। ६. इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के जिज्ञासु भक्त का वर्णन है। सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करनेवाला यह व्यक्ति विलास से बचकर शक्ति का सञ्चय कर पाता है, इसमें सहनशीलता होती है। अपने इस 'सहस्' से ही यह प्रभु का प्रिय होता है। 'तेज' से 'शरीर की शोभा' प्राप्त होती है, 'वीर्य' से 'नीरोगता व दीर्घजीवन' का लाभ होता है, 'बल व ओज' से सफलता प्राप्त होती है, ज्ञान (मन्यु) से पवित्रता तथा प्रभु की ओर चलने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और अन्त में 'सहस्' से 'प्रभु की प्राप्ति' होती है। इसकी रक्षा में हम सब बुराइयों का संहार करनेवाले 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) बनते हैं, इस मन्त्र के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के जिज्ञासु भक्त बनेंगे तो धीमे-धीमे सर्वत्र हमें उस प्रभु की महिमा दिखेगी।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु–रक्षण के चार लाभ

अश्याम तं काममग्ने तवोतीऽअश्याम रयिꣳरयिवः सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते ॥७४॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि वे प्रभु दिन–रात हमारी रक्षा करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि उस रक्षण से क्या होता है? सबसे प्रथम बात तो यह है कि हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **तव ऊती**=आपके रक्षण से हम अपनी **तं कामम्**=उस–उस कामना को **अश्याम**=प्राप्त करें, जिस कामनावाले कि हम आपसे प्रार्थना करें **'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु'**। एवं, प्रभु–रक्षण का प्रथम लाभ यह है कि हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। २. हे **रयिवः**=सब धनों के स्वामिन्! हम **सुवीरम् रयिम्**=उत्तम वीरता को प्राप्त करानेवाले धन को **अश्याम**=प्राप्त करें। प्रभु के स्तवन से अलग होकर प्राप्त किया गया धन हमें विलास की ओर ले–जाकर वीरता से रहित करता है। प्रभु–स्मरण के साथ धन हमारी शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। ३. हे प्रभो! आपके रक्षण में **वाजयन्तः**=(संग्रामयन्तः) कामादि वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए हम **वाजम्**=शक्ति को **अभि अश्याम**=समन्तात् प्राप्त करें। वासनाओं को जीतने से शरीर में बल आएगा तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि भी दीप्त होगी। इस प्रकार **अभि**=दोनों क्षेत्रों में—शरीर व आत्मा के क्षेत्र में हम बलवान् होंगे। प्रभु की रक्षा में ही हम इस वासना–संग्राम में विजयी बन पाएँगे। ४. हे **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! हम **ते**=आपकी **अजरम्**=कभी भी जीर्ण न होनेवाली **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योति को **अश्याम**=प्राप्त करें, **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**। ५. इस प्रकार मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि प्रभु रक्षण से सब इच्छाओं की पूर्ति तथा धन–प्राप्ति के साथ मनुष्य वीर बनता है। वासनाओं को जीतकर वह शरीर को ही सबल नहीं बनाता अपितु अपने मस्तिष्क को भी सशक्त करके प्रभु की अजर ज्ञान–ज्योति को प्राप्त करता है। 'वाज' शब्द बल व ज्ञान' दोनों अर्थ रखता है, अतः यह अपने में बल व ज्ञान को भरनेवाला 'भरद्वाज' कहलाता है। यह 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण से हम १. अपनी इष्ट कामनाओं को सिद्ध करनेवाले बनें। २. वीरतायुक्त धन के स्वामी हों, ३. वासनाओं के साथ संग्राम करके उनके विजय से शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान को भरनेवाले हों, ४. हम उस अजर प्रभु की ज्ञान–ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—उत्कीलः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अपनी इच्छा को प्रभु–इच्छा में

वयं तेऽअद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रोऽअग्ने॥७५॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि प्रभु–रक्षण से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभुभक्त अपनी कामना को प्रभु की कामना में मग्न (merge) कर देता है, उसकी वही इच्छा होती है जो प्रभु की इच्छा हो। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा को समाप्त कर देता है। आज यह अपने को उस उत्=उत्कृष्ट प्रभु के साथ कील=बाँधनेवाला बनकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उत्कील' बनता है और कहता है कि **वयम्**=कर्मतन्तु का सन्तान

करनेवाले हम (वञ्=तन्तुसन्ताते) **अद्य**=आज **कामम्**=अपनी इच्छा को **ते ररिमा**=तेरे प्रति दे डालते हैं, हमारी इच्छा आज से वही है जो आपकी। २. आपके प्रति अपना अर्पण करके हम उद्यम को नहीं छोड़ देते, **उत्तानहस्ता**=हम कर्मों में उत्कृष्टता से हाथों का विस्तार करनेवाले होते हैं (उत्+तन्), अर्थात् हमारे हाथ सदा उत्कृष्ट कर्मों में व्याप्त रहते हैं ३. इन कर्मों को हम **नमसा उपसद्य**=नम्रता से आपकी उपासना करते हुए करते हैं। हम कर्म करते हैं, परन्तु इस बात को भूलते नहीं कि यह सब आपकी ही शक्ति है और हम उस शक्ति से होनेवाले कार्यों के माध्यममात्र हैं, अतः हम कर्मों को करते हैं, परन्तु उन कर्मों का गर्व नहीं करते। ४. उल्लिखित संकल्पवाले 'उत्कील' को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **यजिष्ठेन मनसा**=अधिक-से-अधिक देवपूजा की वृत्तिवाले, सबके साथ स्नेह व मेल की भावनावाले तथा दान की वृत्तिवाले **यज्**=(क) देवपूजा (ख) संगतिकरण (ग) दानवाले मन से **देवान्**=दिव्य गुणों को **यक्षि**=अपने साथ सङ्गत कर। यजिष्ठ मन से हममें दिव्य गुणों का वर्धन होता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील उत्कील! तू **अस्रेधता**=(इतस्ततो गमनरहितेन स्थिरेण—द०) सुपथगामी **मन्मना**=मनन से **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बन। प्रभु के अनन्य चिन्तन से मनुष्य का जीवन शुद्ध व शक्तिशाली बनता है। हमारी सब कमियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—(क) हम अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा में मिला दें। (ख) नम्रता से प्रभु का उपासन करते हुए उत्कृष्ट कर्मों में हाथों को व्यापृत रक्खें। (ग) यजिष्ठ मन से अपने जीवन को देवों से सङ्गत करें, दिव्य गुणों से पूर्ण करें। (घ) प्रभु का अनन्य चिन्तन करते हुए अपनी सब न्यूनताओं को दूर करके अपना उत्तम पूरण करें।

ऋषिः—**उत्कीलः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तेजस्विता का रक्षण

धा॒म॒च्छद॒ग्निरिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा दे॒वो बृह॒स्पतिः॑।

सचे॑तसो॒ विश्वे॑ दे॒वा य॒ज्ञं प्राव॑न्तु नः शु॒भे॥७६॥

१. गतमन्त्र का 'उत्कील' ऋषि ही प्रार्थना करता है कि **अग्निः**=दोषदहन व प्रकाश की देवता अग्नि, **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला प्रभु, **ब्रह्मा**=सारे ब्रह्माण्ड का निर्माण व वर्धन करनेवाला प्रभु, **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु तथा **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति वह प्रभु **धामच्छत्**=हमारे तेज का छादन व रक्षण करनेवाला हो। प्रभु की कृपा से मेरा जीवन हीनाकर्षण से दूर होकर उत्कृष्ट बन्धनवाला हो। मैं विलास से सदा बचा रहूँ और अपने तेज को विनष्ट न होने दूँ। २. इस तेजस्विता की रक्षा के लिए मैं 'अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, देव व बृहस्पति' का उपासक बनूँ। अग्नि का उपासक बनकर (अगि गतौ) क्रियाशील बनूँ और अपने दोषों का दहन करूँ। 'इन्द्र' का उपासक बनकर जितेन्द्रिय बनूँ और असुरों का संहार करनेवाला होऊँ। 'ब्रह्मा' का उपासक बनकर हृदय को (बृहि वृद्धौ) विशाल बनाऊँ और निर्माणात्मक कार्यों में लगाये रक्खूँ। 'देव' का उपासक बनकर मैं दान की वृत्तिवाला बनूँ, ज्ञान से चमकूँ तथा औरों के लिए ज्ञान की दीप्ति देनेवाला बनूँ। 'बृहस्पति' का उपासक मैं सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति बनने का प्रयत्न करूँ। ये उपासनाएँ ही मेरे तेज की रक्षा करेंगी। मुझे निम्न मार्ग से हटाकर सचमुच 'उत्कील'=उत्कृष्ट बन्धनवाला बनाएँगी। ३. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **सचेतसः**=(चेतसा सह) उत्तम संज्ञान से युक्त अथवा (समानं चेतो येषाम्) समान ज्ञानवाले, एक ही विचारवाले

विश्वेदेवाः=सब देव **नः**=हमारे **शुभे**=शुभ के निमित्त (शुभ्+क्विप्=शुभ) जीवन में हमें शुभ-ही-शुभ प्राप्त हो, इसके लिए **यज्ञं प्रावन्तुः**=हममें यज्ञिय भावना की प्रकर्षेण रक्षा करें। हम यज्ञशील हों और यज्ञ से हम समृद्ध जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम 'अग्नि' आदि के उपासक बनकर अपनी तेजस्विता का रक्षण करें। ज्ञानियों से यज्ञ की प्रेरणा प्राप्त करके हम शुभ का साधन करें।

ऋषिः—उशनाः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

उशना की प्रार्थना

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥७७॥

१. गतमन्त्र का उत्कील 'तेजस्विता की रक्षा' व यज्ञिय वृत्ति' के द्वारा प्रभु-प्राप्ति की कामना करनेवाला होने से 'उशनाः' नामवाला होता है। यह प्रभु की आराधना करता है कि **यविष्ठ**=हमारे दुर्गुणों को अधिक-से-अधिक पृथक् करनेवाले तथा सद्गुणों का हमारे साथ सम्पर्क करानेवाले प्रभो! (यु=मिश्रण व अमिश्रण) **त्वम्**=आप **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले, अपना अर्पण करनेवाले **नॄँः**=हम लोगों को **पाहि**=रक्षित कीजिए। हमें दुर्गुणों से दूर व सद्गुणों के समीप करके हीनावस्था से बचाइए। २. **गिरः शृणुधी**=हमसे आप स्तुति-वाणियों को ही सुनिए, अर्थात् आपकी कृपा से हम ज्ञान से परिपूर्ण इन स्तुति-वाणियों को ही बोलनेवाले हों। हमारे मुख से कभी कोई अशुभ शब्द न निकले। ३. **उत**=और हे प्रभो! आप **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=आपका पुत्र जो मैं हूँ उसकी **रक्ष**=रक्षा कीजिए। मैं आपका भजन करूँ आप मेरी रक्षा करें। आपकी कृपा से ही मैं आपका सुपुत्र बन पाऊँगा और आपका रक्षणीय होऊँगा। मेरी कामना है कि मैं आपको प्राप्त कर पाऊँ। ४. आपकी प्राप्ति के लिए (क) अधिक-से-अधिक अवगुणों को दूर करके सद्गुणों को प्राप्त करूँ (यविष्ठ) (ख) आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ (दाशुषः)। (ग) मेरे मुख से ज्ञान व स्तुति की उत्तम वाणियाँ ही उच्चरित हों (गिरः) (घ) मैं आपका सुपुत्र बनूँ (तोकम्)।

भावार्थ—प्रभु यविष्ठ हैं। दाश्वान् की रक्षा करते हैं। हमें चाहिए कि ज्ञान व स्तुति वाणियों का ही उच्चारण करें और प्रभु के सुपुत्र बनें।

सूचना—इस अन्तिम मन्त्र में उशनाः (प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला) प्रभु का सुपुत्र बनना चाहता है। प्रभु का सुपुत्र वही हो पाता है जो इस मानव-जीवन में सोम की रक्षा के द्वारा अपने जीवन को ठीक परिपक्व करता है तथा सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देकर 'प्रजा-पति' बंनता है। इस 'प्रजापति' ऋषि के मन्त्र से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है—

॥ इत्यष्टादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृच्छक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

सुरा-सोम 'स्वाद्वी-तीव्रा-अमृता मधुमती'

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳसोमेन। सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व॥१॥

१. प्रभु कहते हैं कि **स्वाद्वीम्**=स्वादयुक्त वाणीवाली **त्वा**=तुझ 'सुरा' को **स्वादुना**=स्वादयुक्त वाणीवाले 'सोम' के साथ **संसृजामि**=उत्तमता से युक्त करता हूँ। **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** (तै० १।३।३।४), अर्थात् पुरुष सोम हैं, स्त्री सुरा। पुरुष ने सू=विविध वस्तुओं के उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य कमाना है और स्त्री ने (सुर to govern, to rule, to shine) घर में व्यवस्था करनी है और अपनी उत्तम व्यवस्था से उसे चमकाना है। स्वाद्वीं सुरा को मैं स्वादु सोम के साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मधुर वाणीवाली पत्नी को मधुर वाणीवाले पति से संयुक्त करता हूँ। पत्नी पति के प्रति मधुर वाणी बोले और पति पत्नी के लिए। उत्तम सन्तान के निर्माण में मधुरवाणी अत्यन्त महत्त्व रखती हैं। यह पति-पत्नी में सामञ्जस्य व सौमनस्य पैदा करके सर्वाङ्ग सुन्दर सन्तान को जन्म देती है। २. **तीव्रां तीव्रेण**=(तीव् to be strong) सशक्त शरीरवाली सबला तुझे सशक्त शरीरवाले सबल पुरुष के साथ संयुक्त करता हूँ। पति-पत्नी अशक्त होंगे तो सन्तान भी मरियल-सी ही होगी। ३. **अमृताम्**=रोगरूप मृत्युओं से रहित तुझको **अमृतेन**=नीरोग पति से संयुक्त करता हूँ। माता-पिता का रोग सन्तानों में भी जाकर राष्ट्र में रोगियों की संख्या को बढ़ाएगा। स्मृतिकारों ने इसी से विशिष्ट बीमारियों में विवाह का निषेध कर दिया है। ४. **मधुमतीम्**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त व्यवहारवाली तुझे **मधुमता**=माधुर्ययुक्त पति से संयुक्त करता हूँ। उस पति से संयुक्त करता हूँ जो **सोमेन**=शरीरबद्ध 'सोम' है (सोम=वीर्यशक्ति)। इस सोम से ही तो उत्तम सन्तान को जन्म मिलता है। ५. ये पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि **सोमः असि**=तू सोम है, तू ही हमारा जन्म देनेवाला है। तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो। तेरे ठीक परिपाक से हमारी प्राणापान की शक्ति वृद्धि को प्राप्त हो। ६. **सरस्वत्यै पच्यस्व**=तू विद्या की अधिदेवता सरस्वती के लिए परिपक्व हो। सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता है। सोम की रक्षा से, उसके शरीर में ठीक परिपाक से यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञान चमक उठता है। ७. हे सोम! तू **सुत्राम्णे**=उत्तम रक्षण करनेवाले **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो, अर्थात् शरीर में तेरे सुरक्षित होने से हम अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके बुद्धि को अतिसूक्ष्म बनाकर प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। ऐसे पति-पत्नी ही उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले होते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बनते हैं। ८. याज्ञिकों ने प्रस्तुत मन्त्र में 'सुरा' का संकेत देखा, परन्तु शराब को **'अनृतं पाप्मा तमः सुरा'** श० ५।१।२।१० झूठ, पाप व अज्ञान के रूप में देखनेवाली वैदिक संस्कृति शराब का ऐसा वर्णन नहीं मान सकती।

भावार्थ—पति-पत्नी (क) मधुरवाणीवाले (ख) शक्तिशाली (ग) नीरोग व (घ)

मधुर व्यवहारवाले हों। (ङ) सोम की रक्षा करनेवाले व उसका शरीर में ठीक परिपाक करनेवाले हों, जिससे उनकी प्राणापान शक्ति बनी रहे, वे उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले और अन्त में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा प्रभु का दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—सोमः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सोम का रक्षण

परीतो षिञ्चता सुतꣳसोमो यऽउत्तमꣳहविः।

दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का शरीर में रक्षण व परिपाक करते हुए ये पति-पत्नी 'भारद्वाज'=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाले होते हैं। यह भारद्वाज प्रभु की इस प्रेरणा को सुनता है कि **परीतः**=(परि इतः) यह सोम सर्वतः प्राप्त हो। इसका अपव्यय न होकर यह शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में ही व्याप्त हो जाए। २. **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **षिञ्चत**=शरीर में ही सिक्त करो। ३. **यः सोमः**=यह सोम **उत्तमं हविः**=सर्वोत्तम ग्रहण करने योग्य पदार्थ है। इसी ने (क) हमारे जीवन को सशक्त व दीर्घ बनाना है, (ख) बुद्धि को सूक्ष्म करना है, (ग) हमें परमात्मा-दर्शन के योग्य बनाना है। ४. **दधन्वान्**=यह हमारा धारण करता है। हमारा जीवन इसी के धारण पर निर्भर है **'जीवनं बिन्दुधारणात्'**। ५. यह सोम वह है **यः**=जो **नर्यः**=मनुष्यों का हित करनेवाला है। यह उन्हें सब आधि-व्याधियों से सुरक्षित करता है। ६. **सोमम्**=इस सोम को यह 'भारद्वाज' **अद्रिभिः**=प्रभु के पूजन (adoring) के द्वारा **अप्स्वन्तरा**=सदा कर्मों में स्थित हुआ-हुआ **सुषाव**=अभिषुत करता है। सोम का शरीर में उत्पादन व रक्षण वही व्यक्ति कर पाता है, जो प्रभु-उपासन करता है और अपने को कर्मों में व्यापृत रखता है। प्रभु-उपासन से दूर होने पर और अकर्मण्य हो जाने पर हम वासनाओं के शिकार होने लगते हैं तब सोम के रक्षण का प्रश्न ही नहीं उठता।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु का पूजन व कर्मों में व्याप्ति आवश्यश्क है। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्मरत पुरुष सोम को वासनाओं से विनष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—आभूतिः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इन्द्रस्य युज्यः सखा=सदा साथ रहनेवाला मित्र

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा।

वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **सोमः**=सोम **वायोः**=वायु के द्वारा **पूतः**=पवित्र होता है, अर्थात् प्राणापान की साधना से इस सोम में वासनाओं से उत्पन्न होनेवाली अपवित्रता नहीं आती। २. **पवित्रेण**=**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** इस वाक्य के अनुसार जीवन को पवित्र करनेवाले ज्ञान से **सोमः**=यह सोम **प्रत्यङ्**=(प्रति अञ्चति) वापस शरीर में गतिवाला होकर **अतिद्रुतः**=अतिशयेन गमनवाला होता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाले पुरुष के जीवन को यह सोम अतिशयेन गतिवाला बना देता है। सोमरक्षा के अभाव में अशक्त होकर मनुष्य निश्चेष्ट-सा बन जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में लगने पर यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, अतः शरीर में ही इसका व्यापन होता है और शरीर की न्यूनताओं का दूरीकरण होकर यह शरीर-यन्त्र नये-का-नया-सा बना रहता है, इसकी गति में कमी नहीं

आती। ३. ऐसा होने पर सोम का रक्षक यह पुरुष **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है। मानव-जीवन के उत्कर्ष की यह चरमसीमा है कि 'हम प्रभु के मित्र हों'। ४. फिर इस सारी भावना को आवृत्त करते हुए कहते हैं कि **वायोः**=यह प्राणापान से पवित्र होता है। प्राणायाम के द्वारा इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर यह शरीर के अन्दर स्थिर रहता है। **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा **सोमः**=यह सोम **प्राङ्**=(प्राञ्चति ऊर्ध्वं गच्छति–म०) ऊर्ध्वगतिवाला होता है और इस ऊर्ध्वगति के कारण इस सोम का रक्षक **अतिद्रुतः**=अतिशयेन शीघ्रता से कार्यों में व्यापनेवाला होता है। और **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र होता है। ४. उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का मित्र बनकर यह भी 'आभूति' सर्वत्र ऐश्वर्यवाला होता है। इसके अन्नमयादि पाँचों कोश 'तेज, वीर्य, बल व ओज, ज्ञान (मन्यु) व सहस्' से परिपूर्ण होते हैं। इसके पाँचों कोश उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण होते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा सोम शरीर में ही गमनवाला होकर ऊर्ध्व गमनवाला होता है। ज्ञानाग्नि के दीपन में इसका व्यय होता है। इसके रक्षण से मनुष्य खूब क्रियामय जीवनवाला होता है और सदा प्रभु का मित्र बनता है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्यदुहिता—'श्रद्धा'

पुनाति ते परिस्रुतꣳसोमꣳसूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥४॥

१. प्रभु 'आभूति' से कहते हैं कि **ते**=तेरे **परिस्रुतम्**=शरीर में सर्वतः प्राप्त इस **सोमम्**=सोम को **सूर्यस्य दुहिता**='**श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता**' ज्ञान की पुत्री के समान यह श्रद्धा **पुनाति**=पवित्र कर देती है। यह श्रद्धा हमारे सोम को पवित्र करती है। श्रद्धा वस्तुतः हममें सत्य का धारण कराती है (श्रत् सत्यं दधाति) और यह सत्य सोम को पवित्र बनानेवाला होता है। २. यह श्रद्धा **वारेण**=असत्य व वासनाओं के निवारण से सोम को पवित्र करती है। वासनाएँ ही सोम की अपवित्रता का कारण बनती हैं। ३. यह श्रद्धा **शश्वता**=(शश प्लुतगतौ) द्रुत गतिवाले जीवन से सोम को पवित्र रखती है। श्रद्धावान् पुरुष प्रभु में विश्वास करके सदा उत्तम क्रिया में लगा रहता है। बस, यही उत्तम क्रिया सोमरक्षण का साधन बनती है। ४. यह श्रद्धा **तना**=(तन् विस्तारे) शरीर की शक्तियों के विस्तार द्वारा सोम की सुरक्षा व पवित्रता करती है। शरीर की शक्तियों के विस्तार में व्याप्त हुआ-हुआ सोम पवित्र बना रहता है। ५. वस्तुतः सोमरक्षा के लिए आवश्यक है कि हम (क) वासनाओं का निवारण करें, (ख) सदा उत्तम कर्मों में स्फूर्ति से लगे रहें और (ग) शक्तियों के विस्तार की श्रद्धावाले हों, अर्थात् शक्तियों के विस्तार के लिए हममें प्रबल भावना हो।

भावार्थ—श्रद्धा सोम को पवित्र करती है, क्योंकि यह वासनाओं का निवारण करती है, हमें स्फूर्ति-सम्पन्न व कर्मठ बनाती है तथा शक्तियों के विस्तार के लिए प्रेरित करती है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ब्रह्म+क्षत्र—तेज व इन्द्रिय

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेजऽइन्द्रियꣳसुरया सोमः सुतऽआसुतो मदाय।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि॥५॥

१. **सुतः**=उत्पन्न हुआ **सोमः**=यह सोम **सुरया**=(सुरा to govern, to rule) शासन के द्वारा, अर्थात् शरीर में ही नियन्त्रित होकर **ब्रह्म**=ज्ञान को, **क्षत्रम्**=बल को, **तेजः**=तेजस्विता को **इन्द्रियम्**=मन आदि इन्द्र के साधनों को **पवते**=(जनयति) प्रादुर्भूत करता है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है, बल की वृद्धि होती है, यह हमारी तेजस्विता का कारण होता है और हमारी मानसशक्तियों का वर्धन करनेवाला होता है। २. **आसुतः**=शरीर में ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सम्पादित हुआ-हुआ यह सोम **मदाय**=जीवन में हर्ष व प्रफुल्लता के लिए होता है। ३. हे **देव**=सब सुखों के देनेवाले प्रभो! आप **शुक्रेण**=इस शुद्ध, शक्तिप्रद वीर्य से **देवताः**=दिव्य गुणों को **पिपृग्धि**=हममें पूरित कीजिए। वीर्यरक्षा से हमारा हृदय-मन्दिर दिव्य भावनाओं का निवास-स्थान बनता है, दूसरे शब्दों में यह देव-मन्दिर बन जाता है। ४. हे प्रभो! आप **यजमानाय**=यज्ञशील मेरे लिए **रसेन**=गोरस (दुग्ध), अथवा ओषधिरसों के साथ **अन्नम्**=अन्न को **धेहि**=धारण कीजिए। इस दूध व ओषधिरस और अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम सचमुच हमारे लिए 'ज्ञान, बल, तेज व इन्द्रियों के सामर्थ्य तथा हर्ष व उल्लास' को देनेवाला हो और हमारे हृदय को दिव्य भावनाओं से युक्त करके उसे देव-मन्दिर बना दे।

भावार्थ—हम रस व अन्न का सेवन करें। उससे उत्पन्न सोम हमारे ज्ञान, बल व तेज को बढ़ाएगा, हमारी इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करेगा, उल्लास का कारण बनेगा और हमें दिव्य गुणयुक्त जीवनवाला बनाएगा, अतः हम सोम को शरीर में ही नियन्त्रित करें (सुरया)।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्प्रकृतिः**। स्वरः—**धैवतः**॥

तेज—वीर्य व बल

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा ॥६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शरीर में सोम के संरक्षण के लिए सात्त्विक व सौम्य भोजन सर्वाधिक अपेक्षित है, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **कुविदङ्ग**=हे प्रचुर शक्तियुक्त, सम्पूर्ण गति देनेवाले प्रभो! **यवमन्तः** =जौ के खेतवाले **यथा**=जैसे **यवं चिद्यत्**=जौ को निश्चय से **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'आभूति' भी एक-एक कोश को अलग करके पृथक् करते चलते हैं और उससे ऊपर उठते जाते हैं। २. हे प्रभो! **ये**=जो **बर्हिषः**=वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले **नमऽउक्तिम्**=आपके प्रति नमस्कार के कथन को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं **एषाम्**=इनके **इह-इह**=उस-उस योग कीं भूमिका में स्थित हुओं के **भोजनानि**=पालनों को अथवा उत्तम सात्त्विक भोजनों को **कृणुहि**=आप कीजिए। इन जौ आदि सात्त्विक भोजनों से ही ये शक्ति को प्राप्त करेंगे और वासनाओं का उद्बर्हण कर पाएँगे। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। ४. **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की शक्ति की प्राप्ति के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। **सरस्वत्यै**=ज्ञान अधिदेवता के लिए, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानी बनने के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ। **इन्द्राय त्वा**=आत्मशक्ति के विकास के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ, **सुत्राम्णे**=जिससे मैं अपना उत्तम त्राण कर सकूँगा। ४. **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा निवास-स्थान बनता हूँ, अर्थात् अपने हृदय में आपको स्थापित करता हूँ। **तेजसे त्वा**=

तेजस्विता की प्राप्ति के लिए आपको अपने में स्थापित करता हूँ। मेरा यह अन्नमयकोश अन्तर्निहित आपके द्वारा तेजस्वी बनाया जाता है। **वीर्याय त्वा**=वीर्य-सम्पन्न होने के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। आपके द्वारा मेरा प्राणमयकोश उस वीर्यशक्तिवाला होता है जो शक्ति मुझे रोगों से आक्रान्त नहीं होने देती। **बलाय त्वा**=मानस बल की प्राप्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। प्रभु के हृदयस्थ होने पर यह प्रभुभक्त अद्भुत मानस बल का लाभ करता है और उसके द्वारा सचमुच अपने कार्यों में सफल होता हुआ प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—हम यव आदि सात्त्विक भोजनों से पवित्र विचारोंवाले होकर प्रभु का उपासन करें। वे प्रभु 'कुविदङ्ग' हैं, शक्तिशाली गति देनेवाले हैं। प्रभु के सम्पर्क से मैं भी तेज, वीर्य व बल को प्राप्त करता हूँ।

सूचना—'कुवित् इति बल नाम'। कुवित् बल वाचक है, सम्भवतः यही शब्द विकृत होकर कूअ़त बना है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पति-पत्नी का स्थान

नाना हि वां देवहितꣳसदस्कृतं मा सꣳसृक्षाथां परमे व्योमन्।
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोमऽएष मा मा हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्ती॥७॥

१. उत्तम जीवन बिताने का उपदेश देते हुए प्रभु कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों का **देवहितम्**=(देवविहितम्) मुझ प्रभु से विहित, अर्थात् निर्दिष्ट **नाना**=अलग-अलग **सदः**=स्थान **कृतम्**=किया गया है। पति ने घर के बाहर श्रम के द्वारा परिवार के पालन के लिए धन कमाना है और पत्नी ने घर में स्थित होकर (पत्नीशालं गार्हपत्यः १९।१८) गृह-सम्बन्धी सब कार्यों को सुचारु-रूपेण करना है। अर्जित धन का संग्रह व उचित व्यय पत्नी का कार्य है। २. इस प्रकार अपने-अपने कार्यों को करते हुए **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **मा सं सृक्षाथाम्**=मेरे साथ सम्यक् सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करो। इस प्रभु-सम्पर्क से ही वह शक्ति प्राप्त होनी है, जिससे वे अपने सब कार्यों को सफलता के साथ करनेवाले होंगे। ३. हे पत्नी! **त्वम्**=तू **सुरा**=(सुर to govern, to rule) इस घर का शासन करनेवाली साम्राज्ञी **असि**=है। (सुर to shine) तूने अपनी उत्तम व्यवस्था से इस घर को दीप्त करना है। **शुष्मिणी**=तू शत्रुओं के शोषक बलवाली है। ४. **एषः**=यह तेरा पति भी **सोमः**=शक्ति का पुञ्ज व अत्यन्त विनीत है। ५. तू **स्वां योनिम्**=अपने घर में जिस घर का तूने निर्माण करना है **आविशन्ती**=प्रविष्ट होती हुई **मा**=मुझे **मा हिंसीः**=मत हिंसित करना, अर्थात् प्रभु-उपासन को कभी समाप्त न कर देना। यह उपासना ही तुझे वह शक्ति देगी, जिससे तू घर का उत्तमता से सञ्चालन कर पाएगी।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने-अपने कार्यक्षेत्र का ग्रहण करके प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने कार्यों को करेंगे तो घर सचमुच 'आभूति' का घर बनेगा, जो सब दृष्टिकोणों से फूला-फला है (आ-भूति)। वहाँ स्वास्थ्य होगा, सुसन्तान होगी, सम्पत्ति होगी और इन सबसे बढ़कर वहाँ 'सत्य' होगा।

सूचना—यहाँ पत्नी के लिए तीन बातें कही हैं, पति के लिए एक। एवं, पत्नी का उत्तरदायित्व कम-से-कम तिगुना तो है ही।

ऋषिः—आभूतिः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

मोद–आनन्द–महस्

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।
एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा॥८॥

१. आभूति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना के द्वारा यम–नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। आपको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो उपासनारत होता है। २. उस उपासक को **आश्विनं तेजः**=प्राणापान–सम्बन्धी तेजस्विता प्राप्त होती है और यह तेजस्विता ही उसे उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन देनेवाली बनती है। ३. उपासना से ही **सारस्वतं वीर्यम्**=ज्ञान की अधिदेवता के साथ सम्बद्ध वीर्य इसे प्राप्त होता है। उपासक को ज्ञान की वह शक्ति प्राप्त होती है जो उसके सब कर्मों को पवित्र करनेवाली होती है। ४. **ऐन्द्रं बलम्**=उपासना से ही अध्यात्म बल प्राप्त होता है। एवं, यह उपासक शरीर से स्वस्थ, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त तथा हृदय में आत्मिक शक्तिसम्पन्न व पवित्र बनता है। ५. **एषः**=यह शरीर, बुद्धि व मन के ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला 'आभूति' नामवाला मैं **ते योनिः**=हे प्रभो! आपका निवास–स्थान बनता हूँ। आपको अपने हृदयदेश में बिठाता हूँ। **मोदाय त्वा**=इसलिए आपको हृदयदेश में बिठाता हूँ कि सांसारिक वस्तुओं का उचित उपयोग करते हुए 'मोद' व हर्ष का लाभ कर सकूँ, ये सांसारिक वस्तुएँ अत्युपयुक्त होकर मेरे जीवन को अस्वस्थ व कटु न बना दें। **आनन्दाय त्वा**=मैं आपको इसलिए हृदय–मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ कि प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर मैं वास्तविक आनन्द का लाभ करनेवाला बनूँ। इन भोग्य पदार्थों के समुचित उपयोग ने स्वस्थ बनाकर मुझे सुखी किया था। इनमें अनासक्ति मेरे निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाली होगी और **महसे त्वा**=आपके सम्पर्क से तेजस्वी बनने के लिए मैं आपका निवास बनने का प्रयत्न करता हूँ। आपके सम्पर्क से शक्तिसम्पन्न बनकर ही तो मैं सब शत्रुओं पर विजय पानेवाला बन पाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु–उपासन हमारे जीवन में 'मोद, आनन्द व महस्' को भरनेवाला होता है।

ऋषिः—आभूतिः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृच्छक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

आ–भूति

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥९॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु के उपासन से 'महस्' की प्राप्ति होती है' ऐसा कहा था। उसी का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—**तेजः असि**=हे प्रभो! आप तेज के पुञ्ज हैं, मूर्त्तिमान् तेज हैं। **मयि**=मुझमें **तेजः**=तेज का **धेहि**=आधान कीजिए। मेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। अपने इस तेज से मैं अपनी रक्षा करने में समर्थ होऊँ। २. **वीर्यम् असि**=हे प्रभो! आप वीर्य हैं। वीर्य के पुञ्ज हैं। **मयि वीर्यं धेहि**=मुझमें वीर्य का आधान करें। मेरा प्राणमयकोश वीर्यवान् होकर सम्भावित रोगों को कम्पित करके दूर करनेवाला हो। **वि**=विशेष रूप से यह **ईर्**=रोगों को कम्पित करे। शरीर में इस वीर्य के स्थापन से मैं रोगों का शिकार न होऊँ। ३. **बलम् असि**=हे प्रभो! आप बल हैं। **बलं मयि धेहि**=मुझमें बल स्थापन कीजिए। मेरा मनोमयकोश बल–सम्पन्न हो। यह बलसम्पन्न मन मुझे इन्द्रियों के दमन में समर्थ करे और मैं अपनी जीवन–यात्रा को, विघ्नों को दूर करता हुआ, पूर्ण करनेवाला बनूँ। ४. **ओजः**

असि=हे प्रभो। आप ओज हैं। **मयि ओजः धेहि**=मुझमें ओज का आधान करें। मेरा मन ओजस्वी हो और यह सब प्रकार से मेरी उन्नति का कारण बने। मेरे मन का बल सब विघ्नों व शत्रुओं को दूर करता है तथा यह मानस-ओज मेरी उन्नति व वृद्धि का कारण होता है। ५. **मन्युः असि**=(मन्=अवबोध) हे प्रभो! आप निरतिशय ज्ञान हैं, ज्ञानधन हैं। **मन्युं मयि धेहि**=मेरे विज्ञानमयकोश में भी इस ज्ञान-धन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं अपने जीवन को पवित्र करनेवाला बनूँ। और अन्त में ६. **सहः असि**=हे प्रभो! आप 'सहस्' है, सहनशक्ति के पुञ्ज हैं। हम आपकी आज्ञाओं की कितनी अवहेलना करते हैं, परन्तु आप किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए सदा हमारे कल्याण में प्रवृत्त रहते हैं। **मयि**=मुझमें भी **सहः धेहि**=सहनशक्ति का आधान कीजिए। मैं अपने आनन्दमयकोश को आनन्द से परिपूर्ण करनेवाला बनूँ और सचमुच आनन्द का लाभ कर सकूँ। ७. इस प्रकार हे प्रभो! आपकी कृपा से अपने सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करके मैं सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'आभूति' बनूँ, सर्वत्र ऐश्वर्यवाला।

भावार्थ—मेरा अन्नमयकोश तेजस्वी हो, प्राणमयकोश वीर्यवान् हो। मनोमयकोश में मैं बल व ओज को धारण करूँ। मेरा विज्ञानमयकोश मन्यु=ज्ञान से परिपूर्ण हो, और सहस् को अपनाकर मैं आनन्दमयकोशवाला बनूँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

स-बलता

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति।
श्येनं पतत्रिणꣳसिꣳहꣳसेमं पात्वꣳहसः॥१०॥

१. गत मन्त्र में एक-एक कोश की शक्ति के धारण का उल्लेख था। यह शक्ति ही आभूति को हैम=स्वर्ग के समान देदीप्यमान वर्चस्=दीप्तिवाला बनाती है और इसका नाम **'हैमवर्चिः'** हो जाता है। यह हैमवर्चि प्रार्थना करता है कि **या**=जो **विषूचिका**=(वि-सु-अञ्च) विविध उत्तम गतियों की कारणभूत शक्ति **व्याघ्रम्**=व्याघ्र **च वृकम्**=और भेड़िया **उभौ**=दोनों को **रक्षति**=सुरक्षित करती है। इन दोनों को ही क्या, **पतत्त्रिणम्**=आकाश में उड़नेवाले **श्येनम्**=बाज़ को तथा **सिंहम्**=शेर को जो शक्ति सुरक्षित करती है **सा**=वही शक्ति **इमम्**= इस हैमवर्चि को **अंहसः**=पापों से व पापजनित पीड़ाओं से **पातु**=रक्षित करे। २. इस संसार का यह एक जीवित-जागरित तथ्य है कि रक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता है। ज्ञान व भलमनसाहत का भी अपना स्थान है, परन्तु वे शक्ति का स्थान नहीं ले-सकते। रक्षा के लिए शक्ति ही काम आती है। संसार में दुर्बल बलवान् से मारा जाता है, छोटी मछली बड़ी मछली से निगली जाती है। चूहा बिल्ली से मारा जाता है, बिल्ली कुत्ते से, कुत्ता वृक से, वृक व्याघ्र से और व्याघ्र सिंह से। गौ की भलमनसाहत उसे शेर के आक्रमण से नहीं बचाती। एवं, जहाँ ज्ञान व भद्रता का सम्पादन आवश्यक है वहाँ शक्ति का सम्पादन उनसे कहीं अधिक आवश्यक है। **'वीरभोग्या वसुन्धरा'** इस उक्ति में यही तथ्य निहित है। ३. 'अंहसः पातु' इन शब्दों से यह भी व्यक्त है कि पाप से भी हमें शक्ति ही बचाती है। निर्बलता व अवीरता के साथ सब बुराइयों (evils) का निवास है। Virtue तो वीरत्व में ही है। निर्बल व्यक्ति जल्दी खिझ उठता है, सबल सहनशील होता है, इसलिए शक्ति का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है, यह शक्ति ही हमें प्रभु को भी प्राप्त करानेवाली होगी **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**।

भावार्थ—हम शक्ति-सम्पादन करके अपने को पापों व कष्टों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अनृणता

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्नेऽअनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया। सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त॥११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शक्तिशाली बनकर उत्तम जीवनवाले माता-पिता उत्तम सन्तान को ही जन्म देते हैं। उस समय वे कहते हैं कि **यदा**=जब **प्रमुदितः**=प्रकृष्ट प्रसन्नतावाला, अर्थात् स्वास्थ्य के कारण सदा हँसता हुआ **पुत्रः**=बालक **धयन्**=स्तन्यपान करता हुआ, मातृ-दुग्ध को पीता हुआ **मातरं पिपेष**=माता के वक्षःस्थल को दबाता है तो **अग्ने**=हे प्रभो! **एतत् तत्**=तब यह मैं **अनृणः भवामि**=पितृऋण से अनृण होता हूँ। चूँकि **मया**=मैंने **पितरौ**=माता-पिता को **अहतौ**=नष्ट नहीं होने दिया। अब वे सन्तान के रूप में अमर ही बने रहेंगे। **प्रजाभिः अग्ने अमृतत्वमश्याम**=प्रजाओं से हम हे प्रभो! अमृतत्व को प्राप्त करें, यही तो उनकी प्रार्थना थी। अब ये मेरे माता-पिता अपने वंश को नष्ट होता हुआ न समझेंगे। २. यह उत्तम सन्तान चाहता है कि हे पितरो! आप **संपृच स्थ**=अपने को उत्तम गुणों से संपृक्त करनेवाले हो, इस प्रकार **मा**=मुझे भी **भद्रेण**=भद्र गुणों से **संपृक्त**=सम्यक् युक्त करो। **विपृच स्थ**=आप दुरितों से अपने को पृथक् करनेवाले हो, **मा**=मुझे भी **पाप्मना पृङ्क्त**=पाप से पृथक् कीजिए। आपके गुणावगुण ही तो पैतृक सम्पत्ति के रूप में मुझे प्राप्त होने हैं। आपके गुण मुझे गुणी बनाएँगे, आपके अवगुण मुझे अवगुणी करेंगे, अतः आपके लिए अपने जीवन को गुणों से युक्त व अवगुण से वियुक्त करना अत्यन्त आवश्यक है। ३. केवल सन्तान का उत्पादन ही हमें पितृऋण से मुक्त नहीं कर देता, सन्तान का उत्तम बनाना भी आवश्यक है, उत्तम सन्तान ही तरानेवाली होती है।

भावार्थ—हम शक्तिसम्पन्न बनकर स्वस्थ, प्रमुदित सन्तान को जन्म दें। उन सन्तानों को सद्गुणों से संपृक्त करें तथा वि[illegible] से विपृक्त करके पितृऋण से अनृण हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नीरोगता-पवित्रता, आश्विनौ-सरस्वती

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः॥१२॥

१. गतमन्त्र में अपने को भद्र से संपृक्त करने व पाप से विपृक्त करने का उल्लेख है। ऐसा करनेवाले ही 'देव' कहलाते हैं। ये **देवाः**=देवपुरुष, दिव्य वृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं। २. इस प्रकार जब ये उत्तम कर्मों का विस्तार करते हैं तब **अश्विनौ**=ये प्राणापान **भिषजौ**=जो देवों के वैद्य हैं, दिव्य वृत्तिवाले लोगों को बीमार न होने देनेवाले हैं, वे **भेषजम्**=औषध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। ये प्राणापान उनकी सब व्याधियों के प्रतीकारक बनते हैं, इनके शरीर को वे पूर्णतया स्वस्थ करते हैं तथा ३. **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता भी **वाचा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **भिषक्**=इनकी मानस आधियों को दूर करनेवाली होती है। ज्ञान से इनका जीवन पवित्र हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि प्राणापान से इनका शरीर नीरोग बना था। ४. वस्तुतः ये प्राणापान (अश्विनौ) तथा ज्ञान

(सरस्वती) **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों की शक्तियों को **दधतः**=धारण करते हैं। इन्हें आधि-व्याधियों से बचाकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सबल बनाते हैं।

भावार्थ—हम सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहकर प्राणापान की शक्ति से नीरोग बनें तथा ज्ञान के द्वारा पवित्र बनें। यह नीरोगता व पवित्रता हमें सर्वाङ्ग सम्पूर्ण जीवनवाला बनाए। हमारे सब अङ्ग पुष्ट हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञात्मक जीवन

दीक्षायै रूपःशष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि।
क्रयस्य रूपःसोमस्य लाजाः सौमाꣳशवो मधु ॥१३॥

१. पिछले मन्त्र में देवों द्वारा यज्ञ-विस्तार का संकेत था। उसी यज्ञ को जीवन में लाने के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **दीक्षायै**=(दीक्षायाः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) व्रत ग्रहण का **रूपम्**=(sign, feature) निरूपक चिह्न **शष्पाणि**=नये उत्पन्न हुए-हुए व्रीहि हैं, अर्थात् एक व्यक्ति जब यज्ञ का व्रत लेता है तब वह शष्पभोजन का संकल्प करता है। २. **प्रायणीयस्य**=(प्र+अयन) प्रकृष्ट जीवन बिताने के निश्चय का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **तोक्मानि**=नव प्ररूढ़ यव हैं, नये जौ हैं। ये जौ अत्यन्त सात्त्विक भोजन होने से हमारे अन्तःकरण को सात्त्विक बनाते हैं और उससे हमारा जीवन-मार्ग उत्तम होता है। ३. **सोमस्य क्रयस्य**=सोम के क्रय का, अर्थात् उत्तम भोजनों से उत्पन्न होनेवाले शरीर में स्थिरता से रहनेवाले सोम की प्राप्ति का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **लाजाः**=धान के बने खील **सोमांशकः**=सोमलता के अंशु तथा **मधु** =शहद हैं। जब एक व्यक्ति यह निश्चय कर लेता है कि मैंने उस सोम को प्राप्त करना है, जो मेरे शरीर में स्थिर रहे तो वह आग्नेय भोजनों को छोड़कर सौम्य भोजनों का ही स्वीकार करता है। इन सौम्य भोजनों के उदाहरण रूप से यहाँ लाजा, सोमांशु व मधु का उल्लेख हुआ है। ये प्रमुख सौम्य भोजन हैं। ये भोजन हमें सब प्रकार के प्रमेहों से बचाकर शक्तिसम्पन्न जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—दीक्षित व्यक्ति शष्पभोजन का व्रत लेता है, प्रकृष्ट जीवन बितानेवाला नव प्ररूढ़ यवों के प्रयोग का निश्चय करता है और सोम के क्रय (=प्राप्ति) की इच्छावाला सोम का सौदागर बनने की कामनावाला 'लाजा, सोमांशु व मधु' का प्रयोग करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अतिथ्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अतिथि-महावीर-उपसद्

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥१४॥

१. 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'अतिथि' शब्द प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाले का वाचक है। इसी अतिथि की भाववाचक संज्ञा 'आतिथ्य' है, अर्थात् प्रभु की ओर निरन्तर चलना। उस **आतिथ्यरूपम्**=आतिथ्य का निरूपक चिह्न यह है कि **मासरम्**=(मासेषु रमन्ते—द०) ये प्रभु के उपासक प्रत्येक मास में रमण करते हैं, इन्हें वर्ष का कोई भी महीना प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता। इनका दृष्टिकोण यह होता है कि **'वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः। वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः'**। वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म भी रमणीय है और वर्षा के बाद शरद्, हेमन्त व शिशिर भी रमणीय हैं। ऋतुमात्र सुन्दर

हैं, इन ऋतुओं के बनानेवाले सभी मास रमणीय हैं। २. **महावीरस्य**=इस संसार में प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु की ओर चलनेवाले 'महान् वीर' का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यही है कि **नग्नहुः**=स्वयं नग्न रहकर भी (हु) दान देता है। अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढ़ाता, जिससे अधिक-से-अधिक दे सके। ३. अतिथि व महावीर बनने के लिए **उपसदाम्**=आचार्यों के समीप उपस्थित होनेवाले—आचार्य-चरणों में अन्ततः प्रभु के चरणों में बैठनेवाले ब्रह्मचारियों का **रूपम्**=निरूपकचिह्न **एतत्**=यही है कि **तिस्रो रात्रीः**=आचार्य के समीप तीन रात्रियों तक रहकर इन्होंने **सुरा सुता**=(सुर् to govern, to rule, to shine) आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की दीप्ति का निष्पादन किया है। यहाँ तीन रात्रियाँ—२४, ४४ व ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्यकालों का उपलक्षण हैं। आजकल की भाषा में प्रारम्भिक शिक्षणालय का काल, उच्च विद्यालय का काल तथा महाविद्यालय का काल हैं। इतने समय तक विद्यार्थी आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान को सिद्ध करने के लिए यत्नशील रहता है। आचार्य-चरणों में वास का यही चिह्न है।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाले को सभी मास सुन्दर लगते हैं। महान् वीर वह है जो स्वयं भूखा रहकर भी औरों को खिलाता है। आचार्य चरणों में रहनेवाला आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की साधना करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

परिषेचन

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत्परिषिच्यते।
अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायैन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥१५॥

१. तेरहवें मन्त्र में कहा था कि 'सोमक्रय' सोम का ख़रीदार बनने का निरूपक चिह्न यह है कि हम 'लाजा-सोमांशु व मधु' का प्रयोग करते हैं। चौदहवें मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि विद्यार्थी आचार्य के समीप रहकर आत्म-नियन्त्रण व ज्ञानदीप्ति को सिद्ध करता है। इस आत्म-नियन्त्रण ने उसे सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाया था। अब प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **क्रीतस्य सोमस्य**='सोम ठीक ख़रीदा गया', अर्थात् 'सोम की सम्यक्तया रक्षा की गई' इस बात का **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि **परिस्रुत्**=(परितः स्रवति प्राप्नोति—द०) शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाला यह सोम **परिषिच्यते**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों में रुधिर के माध्यम से सिक्त होता है। २. अङ्ग-प्रत्यङ्गों में **दुग्धम्** (दुह प्रपूरणे) प्रकृष्टतया पूरित हुआ-हुआ यह सोम **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की वृद्धि के लिए होता है। इससे शरीर में प्राणशक्ति व अपानशक्ति की वृद्धि होती है। ३. प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा **भेषजम्**=यह सब रोगों का औषध होता है। सब रोग-बीजों का दहन करके सोमक्रेता को नीरोग बनाता है। ४. **इन्द्राय**=यह इन्द्रशक्ति, आत्मशक्ति के विकास के लिए होता है और ५. अन्ततः **सरस्वत्या**=ज्ञान की देवता के द्वारा यह **ऐन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति का साधन होता है। इस 'सोम' से ही उस सोम (प्रभु) को प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ—सोम का क्रय तो उसने ही किया जिसने कि इसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिक्त करके रोगों का निवर्तक बनाया और आत्मशक्ति के विकास तथा ज्ञानवृद्धि के द्वारा परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनाया।

ऋषिः—हैमवर्चिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

भिषक्

आसन्दी रूपꣳराजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी।
अन्तरऽउत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक्॥१६॥

१. 'आसन्दी' उस मञ्चिका=कुर्सी को कहते हैं जिसपर यज्ञशील पुरुष अधिष्ठित होता है। गतमन्त्र के अनुसार सोम का क्रय करके 'यह सोमक्रेता सोम को अपनी मञ्चिका बना पाया है (उस सोम का अधिष्ठाता बना है), इसका **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि वह **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाला (राज् to regulate) तथा (राज् to shine) ज्ञान-दीप्त हुआ है। शरीर में सोम के रक्षित होने पर आधि-व्याधियाँ नहीं रहतीं, जीवन बड़ा व्यवस्थित हो जाता है और सोम द्वारा ज्ञानाग्नि का दीपन होकर मनुष्य ज्ञान से चमक उठता है। २. **आसन्द्यै**=(आसन्द्याः) आसन्दी का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यह है कि **कुम्भी**=यह व्यक्ति कुम्भवाला बना है। 'कुम्भ' का अर्थ है 'क' का जिसमें पूरण (उभ उम्भ् पूरणे)=किया जाए, (क) अर्थात् आनन्द जिसमें भरा जाए। इस 'कुम्भवाला' व्यक्ति वह है जो आनन्द से परिपूर्ण है, जिसके मुख पर सदा विकास व उल्लास के चिह्न हैं। जो व्यक्ति सोम का अधिष्ठाता बनता है वह आनन्दमय व उल्लासमय जीवनवाला होता ही है। इसका जीवन सदा आशामय होता है। यह निराशावाद की बातें नहीं करता। ३. **वेद्यै**=(वेद्याः) वेदि का ज्ञाता बनने का, प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने का निरूपकचिह्न यह है कि यह व्यक्ति **सुराधानी**=सुरा का—नियन्त्रण का अपने में आधान करनेवाला होता है, अर्थात् इसका जीवन पूर्णतया नियन्त्रित होता है। ४. **उत्तरवेद्याः**=उत्कृष्ट ज्ञानी का **रूपम्**= निरूपकचिह्न यह है कि यह **अन्तरः**=(अन्तः अस्य अस्ति इति अन्तर अच्) (क) अन्दरवाला होता है। सदा अन्दर देखनेवाला—आत्म-निरीक्षण करनेवाला बनता है, (ख) आचार्य ने 'अन्तर' शब्द 'अनिति' इस व्युत्पत्ति से बनाया है, तब अर्थ यह होगा कि यह उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, इस जीवन से सब वासनाओं को तैरनेवाला होता है। ५. **कारोतरः**=उत्कृष्ट कर्म करनेवाला, प्रभूत कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=सब रोगों का चिकित्सक बनता है। यह सब आधि-व्याधियों को दूर करके शरीर में नीरोग व मन में स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—सोम को अपनी आसन्दी बनाकर हम राजा बनें। इस सोमासन्दी से जीवन में आनन्द का सञ्चार करें। ज्ञानी बनकर नियन्त्रित जीवनवाले हों। उत्कृष्ट ज्ञानी बनकर सदा आत्मनिरीक्षण करें। कर्मों में लगे रहकर आधि-व्याधियों के वश में न हों।

ऋषिः—हैमवर्चिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सन्तान माता-पिता के अनुरूप

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्।
यूपेन यूपऽआप्यते प्रणीतोऽअग्निरग्निना॥१७॥

१. सोम के अधिष्ठाता, सोम का पूर्णरूप से नियन्त्रण करनेवाले माता-पिता यथेष्ट सन्तानों का लाभ करते हैं। **वेद्या**=(विद् ज्ञाने) ज्ञानी पुरुष से **वेदिः**=ज्ञानी सन्तान ही **समाप्यते**=प्राप्त की जाती है। माता-पिता ज्ञानप्रधान जीवनवाले हों तो सन्तानों में भी यही ज्ञान की रुचि उत्पन्न होती है। २. **बर्हिषा**=हृदयदेश से वासनाओं को उखाड़नेवाले पुरुष से

बर्हिः=वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश) करनेवाली और अतएव **इन्द्रियम्**=(इन्द्रियं वीर्यम्) वीर्यसम्पन्न सन्तान उत्पन्न की जाती है। ३. **यूपेन**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अच्छाइयों को अपने साथ जोड़नेवाले तथा बुराइयों को अपने से दूर करनेवाले पुरुष से **यूप**=सद्गुणसम्पन्न और असद्गुणरहित सन्तान होती है तथा ४. **अग्निना**=निरन्तर आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष से **अग्निः**=उन्नतिशील सन्तान ही **प्रणीतः**=बनाया जाता है।

भावार्थ—सन्तान माता-पिता के अनुरूप होते हैं। ज्ञानी का ज्ञान-सम्पन्न, निर्वासन का वासनाशून्य और शक्तिसम्पन्न, सद्गुणसम्पन्न का सद्गुणी तथा उन्नतिशील का उन्नतिशील सन्तान होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—गृहपतिः। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

घर में चार आवश्यक कार्य

ह॒वि॒र्धा॒नं यद॒श्विनाग्नी॑ध्रं॒ यत्सर॑स्वती।

इन्द्रा॑यै॒न्द्रꣳसद॑स्कृ॒तं पत्नी॒शाल॒ं गार्ह॑पत्यः॥१८॥

१.**यत्**=यदि **अश्विना**=प्राणापान अपेक्षित हैं तो आवश्यक है कि हम 'हविर्धानं' अग्निकुण्ड में हवि का आह्वान करें, अर्थात् घर में नियम से अग्निहोत्र करें। इससे वायुशुद्धि, रोग-अभिसंहार होकर प्राणापान शक्ति में वृद्धि होगी। २. **यत्**=यदि हम **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता की आराधना करना चाहते हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो **आग्नीध्रम्**=अग्नीध्र की शरण में जाएँ। यह 'अग्नीध्र' आचार्य है। यह विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि का आधान करता है। वेद में अन्यत्र यही भावना '**अग्निनाऽग्निः समिध्यते**' इन शब्दों में कही गई है। ३. **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए, अर्थात् आत्मशक्ति के विकास के लिए **ऐन्द्रं सदःकृतम्** =परमेश्वर की उपासना का गृह बनाया गया है। घर में एकान्त शान्त स्थान का निर्माण हुआ है। यहाँ बैठकर यह 'हैमवर्चिः' प्रभु का उपासन करता है और अपने अन्दर उस प्रभु की शक्ति को प्रवाहित करने का प्रयत्न करता है। प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर ही यह 'इन्द्र' बन पाता है। ४. एवं, घर में एक 'हविर्धान' अग्निहोत्र करने का स्थान है, यह हमारी प्राणापान की शक्ति के वर्धन का कारण बनता है। **अग्नीध्र**=आचार्य के समीप बैठने का स्थान है, यह हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण होता है। **ऐन्द्रम्**=प्रभु के उपासन का स्थान है, यह हमारी आत्मिक शक्ति की वृद्धि करनेवाला होता है। इन सबके अतिरिक्त **पत्नीशालम्**=एक पत्नी की शाला है। यह **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य है, जहाँ घर के सब लोगों के रक्षण के लिए अन्नपाचन आदि कार्य सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—हमारा घर हविर्धान हो, अग्नीध्र, ऐन्द्रसदस् तथा पत्नीशाल हो। उसमें अग्निहोत्र, आचार्यों से ज्ञानोपार्जन, प्रभु का उपासन तथा गृह-सम्बन्धी कार्य उत्तमता से चलते रहें।

सूचना='पत्नीशालं गार्हपत्यः' शब्द से यह बात स्पष्ट है कि पत्नी का स्थान घर में है, उसे गृहकृत्यों में निपुण बनकर घर के कार्यों को उत्तमता से करना है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—यज्ञः। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रैषों से प्रैषों को

प्रै॒षेभिः॒ प्रै॒षाना॑प्नोत्या॒प्रीभि॑रा॒प्रीर्य॒ज्ञस्य॑।

प्र॒या॒जेभि॑रनुया॒जान्व॑षट्का॒रेभि॒राहु॑तीः॥१९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार घरों को सुन्दर बनाकर उन घरों में माता-पिता **प्रैषेभिः**=प्रकृष्ट गतियों के द्वारा (प्र+इष् गतौ) **प्रैषान्**=प्रकृष्ट गतिवाले सन्तानों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। उत्कृष्ट आचरणवाले माता-पिता के सन्तान भी उत्कृष्ट आचरणवाले होते हैं। २. **यज्ञस्य**=उत्तम कर्मों के **आप्रीभिः**=(तेजो वै ब्रह्मवर्चसं आप्रियः-ऐ० २।४) तेजों से, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे रहने से उत्पन्न शक्तियों के द्वारा **आप्रीः**=तेज के पुञ्ज, अत्यन्त तेजस्वी सन्तानों को पाता है। ३. **प्रयाजेभिः**=(प्राणा वै प्रयाजाः-ऐ० १।११) प्राणशक्ति के द्वारा **प्रयाजान्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को प्राप्त करता है और ४. **अनुयाजैः**=(अपाना अनुयाजाः-कौ० ६।९) अपानशक्ति के द्वारा **अनुयाजान्**=अपानशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाते हैं, इनके शरीर में दोष दूरीकरण की शक्ति ठीक बनी रहती है। ५. **वषट्कारेभिः**=(वाग्वै वषट्कारः। -श० १।६।२।२९) वाक्शक्ति के द्वारा वषट्कारान्=वाक्शक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाता है और अन्त में ६. आहुतिभिः=दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **आहुतीः**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है।

भावार्थ—माता-पिता का उत्तम आचरण सन्तान को भी सच्चरित्र बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पशुओं से पशुओं को

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवींषि।

छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान्॥२०॥

१. **पशुभिः**=पशुओं से **पशून्**=पशुओं को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। यदि दौर्भाग्यवश माता-पिता में 'कामः पशुः क्रोधः पशुः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार काम-क्रोधादि पशुवृत्तियाँ प्रबल होंगी तो वे इन पशुवृत्तियों की प्रबलतावाले सन्तानों को ही प्राप्त करेंगे। २. **पुरोडाशैः**=(पुरः दाश्नोति=kill) परन्तु सबसे प्रथम इन काम-क्रोधादि के संहार से **पुरोडाशान्**=सबसे प्रथम काम-क्रोध का संहार करनेवाली सन्तानों को प्राप्त करता है। ३. **हविर्भिः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **हवींषि आप्नोति**=देकर खाने की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है ४. **छन्दोभिः**=(छन्दांसि छादनात्) अपने को पापों से बचाने की वृत्तियों से **छन्दांसिः**=अपने को पाप से बचानेवाले सन्तानों को प्राप्त करता है ५. **सामिधेनीभिः**=अपने में ज्ञान की समिधाओं के आधान की वृत्तियों से, अर्थात् ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **सामिधेनीः**=ज्ञानदीप्तियोंवाली सन्तानों को पाता है। ६. **याज्याभिः**=यज्ञ की क्रियाओं से **याज्ञाः**=यज्ञक्रियाओंवाली सन्तानों को और ७. **वषट्कारैः** =वाक्शक्ति के विकासों से **वषट्कारान्**=विकसित वाक्शक्तिवाली सन्तानों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—माता-पिता का पाशविक आचरण सन्तानों को पशुतुल्य बना देता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हविष्य अन्न (first grade)

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि।

सोमस्य रूपꣳहविषऽआमिक्षा वाजिनं मधु॥२१॥

१. गतमन्त्रों का विषय 'उत्तम सन्तान की प्राप्ति कैसे हो सकती है', यह था। अपनी उत्तम वृत्ति से ही हम सन्तानों को उत्तम बना पाएँगे। उस उत्तम वृत्ति के निर्माण के लिए भोजन का उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। इन भोजनों में 'वानस्पतिक भोजन' उत्तम है।

वास्तव में मांस तो भोजन कहे जाने योग्य ही नहीं। इन वनस्पतियों व ओषधियों का राजा 'सोम' है। 'कौषीतकी उपनिषद् २३।७' के अनुसार 'एतद्वै परममन्नाद्यं सोमः' सोम परम अन्नाद्य=सर्वोत्कृष्ट भोजन है। 'हविर्वै देवतानां सोमः'—श० १।३।५३।२ देवताओं का सोम ही दानपूर्वक अदन करने योग्य पदार्थ है। २. इसी **हविषः सोमस्य**'=दानपूर्वक अदन के योग्य सोम के **रूपम्**=(Kind, sort, species) स्थानापन्न तज्जातीय पदार्थ निम्न हैं—(क) **धानाः**=भुने हुए जौ, (ख) **करम्भः**=दधिमिश्रित सत्तु, (ग) **सक्तवः**=सत्तू (घ) **परीवापः**=भुने हुए चावल या घनीभूत दूध (ङ) **पयः**=दूध (च) **दधि**=दही, (छ) **आमिक्षा**=उष्ण दूध में दही डालने पर जो दूध का घनभाग होता है, वह आमिक्षा है, (ज) **वाजिनम्**=घनभाग के अतिरिक्त जो पानी-सा है यह 'वाजिनं' कहलाता है, (झ) **मधु**=शहद। ३. ये नौ पदार्थ सोम की जाति के हैं। सोम के साथ मिलकर इनकी संख्या दस हो जाती हैं। इन दस हविष्य अन्नों के प्रयोग से हम अपने अन्तःकरणों को उत्तम बनाकर उत्तम आचरणवाले होते हैं और वैसी ही सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम हविष्य पदार्थों का ही सेवन करें, जिससे शुद्धान्तकरणोंवाले हो सकें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

स्थानापन्न अन्न (Second grade)

धानानांꣳरूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः।

सक्तूनाꣳरूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य॥२२॥

१. गतमन्त्र में धान आदि हविष्य अन्नों का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उनमें से कुछ के स्थानापन्न पदार्थों का उल्लेख करते हैं—**धानानाम्**=भृष्ट=भुने हुए यवों का **रूपम्**=स्थानापन्न अन्न **कुवलम्**=उत्पल—कमलगट्टे हैं (कुवलं बदरीफले मुक्ताफलोत्पलयोश्च, इति कोशः) २. **परीवापस्य**=भुने हुए चावलों का **रूपम्**=स्थानापन्न अन्न **गोधूमाः**=गेंहू हैं। ३. **सक्तूनां रूपम्**=सत्तुओं का स्थानापन्न **बदरम्**=बेरों को सुखाकर बनाया गया चूर्ण है। तथा ४. **करम्भस्य**=दधिमिश्रित सत्तुओं का रूप **उपवाकाः**=यव (जौ) है। इक्कीसवें मन्त्र में प्रथमश्रेणी के अन्नों का उल्लेख हुआ था। बाइसवें तथा तेइसवें मन्त्र में द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रतिपादन हुआ है। प्रथम श्रेणी के अन्न न मिलने पर हम इन द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित 'कुवल-गोधूम-बदर व उपवाक' का भोजनरूप में प्रयोग करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अन्य उपादेय पदार्थ

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि।

सोमस्य रूपं वाजिनꣳसौम्यस्य रूपमामिक्षा॥२३॥

१. **यत् यवाः**=ये जो जौ हैं, वे **पयसः रूपम्**=दूध का स्थानापन्न भोजन हैं, २. **दध्नः रूपम्**=दही का स्थानापन्न भोजन **कर्कन्धूनि**=स्थूल बदरी फल हैं ३. **सोमस्य रूपम्**=सोम का स्थानापन्न **वाजिनम्**=दूध का पतला भाग (whey) है, ४. **सोमस्य**=सोम से बने हुए भोजन का स्थानापन्न **आमिक्षा**=फटे दूध का घनभाग है, जिसमें दही मिलाया गया है, (curd of milk and whey)

भावार्थ—'यव-कर्कन्धु-वाजिन तथा आमिक्षा' ये हमारे प्रिय भोजन हों।

ऋषिः—हैमवर्चिः। देवता—विद्वान्। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

गुरु-शिष्य

आ श्रा॑वयेति॑ स्तो॒त्रियाः॑ प्रत्याश्रा॒वोऽअनु॑रूपः।

यजेति॑ धाय्यारू॒पं प्र॑गा॒था ये॑ यजाम॒हाः ॥२४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार सात्त्विक अन्नों का सेवनकरने वाले 'गुरु और शिष्य किस प्रकार अध्ययनाध्यापन करें' इस बात का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हे अध्यापक! आप **आश्रावय** (समन्तात् विद्योपदेशान् कुरु—द०) सब प्रकार से विद्यार्थियों को ज्ञान का ही श्रवण कराएँ, विविध विषयों में उन्हें ज्ञानप्रवीण करें। **इति**=बस, आपका यही कार्य हो। आपका ध्यान सदा पढ़ाने में ही हो, आपकी सारी शक्ति इसी कार्य में लगे। २. आप उन विद्यार्थियों को वह ज्ञान सुनाएँ जो **स्तोत्रियाः**=(स्तोत्राण्यर्हन्ति द०) इन स्तोत्रों के योग्य हैं, अर्थात् जिनकी योग्यता इन स्तोत्रों को उन्हें समझने के योग्य बनाती है। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। इसके सभी मन्त्र पदार्थों के गुणधर्मों का निरूपण करनेवाले होने से 'स्तोत्र' कहलाते हैं। ३. उन विद्यार्थियों को तू वह ज्ञान दे जो **प्रत्याश्रावः (प्रतिश्रावयति)**=पढ़े हुए पाठ को ठीक से सुना देता है, अर्थात् पूर्ण ध्यान से आचार्य–मुख से निकले शब्दों को सुनता है और उन्हें ठीक वैसा ही सुना देता है। ४. **अनुरूपः**=जो आचार्य के अनुरूप बनने के लिए उनके अनुकूल होने का पूर्ण प्रयत्न करता है। ५. अब विद्यार्थी के लिए कहते हैं कि **यज्ञ इति**=(देवपूजा–संगतिकरण–दान=यज्) तू आचार्यों का आदर कर, सदा आचार्यों के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न कर और अपने को आचार्य के प्रति दे डाल। यह आचार्य के प्रति अर्पण तुझे सर्वथा आचार्य के अनुरूप बना देगा। ६. **धाय्या**=(धेयमर्हा) ज्ञान के आधान के योग्य विद्यार्थियों का **रूपम्**=(Sign, feature) चिह्न यह होता है कि वे **प्रगाथाः**=प्रकृष्ट गायनवाले होते हैं। सदा ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं, और **ये**=जो **यजामहाः**=(भृशं यजन्ति) खूब यज्ञशील होते हैं। आचार्यों का आदर करते हैं, उनके सम्पर्क में रहते हैं, उनके प्रति अपना अर्पण कर देते हैं तभी आचार्य उन्हें अपने अनुरूप बना पाते हैं।

भावार्थ—(क) आचार्यों का एक ही कार्य हो कि वे ज्ञान देने में लगे रहें, (ख) विद्यार्थियों का भी एक ही कार्य हो कि वे उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—हैमवर्चिः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सोम की प्राप्ति

अ॒र्ध॒ऽऋ॒चैरु॒क्थाना॑ᳫं रू॒पं प॒दैरा॑प्नोति नि॒विदः॑।

प्र॒ण॒वैः श॒स्त्राणा॑ᳫं रू॒पं पय॑सा॒ सोम॑ऽआप्यते॥२५॥

१. **अर्धऋचैः**=मन्त्रभाग से **उक्थानाम्**=प्रवचनों का **रूपम्**=सौन्दर्य **आप्नोति**=प्राप्त किया जाता है। आचार्य विद्यार्थियों को 'श्रद्धा' के विषय में समझाते हुए **'श्रद्धया सत्यमाप्यते', 'श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि', 'श्रद्धया विन्दते वसु'** आदि मन्त्रभागों से विषय को बड़ा सौन्दर्य प्राप्त करा देते हैं। २. इसी प्रकार, **पदैः**=शब्दों से **निविदः**=निश्चयात्मक बातों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। 'भोजन' इसलिए भोजन है कि (भुज् पालनाभ्यवहारयोः) यह पालन के लिए खाया जाता है, अर्थात् यह स्पष्ट है कि

हमने शरीर-रक्षा के लिए खाना है, स्वाद के लिए नहीं। 'बाहु' इसीलिए 'बाहु' हैं कि (बाहृ प्रयत्ने) इनसे मनुष्य कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, इन्हें सदा कर्मों में लगाये रखता है। 'दीधिति' अंगुलियों का नाम है, चूंकि 'धीयन्ते कर्मसु' इन्हें कर्मों में आहित करना है। एवं, 'वैदिक पद' हमें निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **प्रणवैः**=(ओंकारैः द०) निरन्तर किये जानेवाले 'ओम्' के जप से **शस्त्राणांरूपम् आप्यते**=शस्त्र का रूप प्राप्त किया जाता है, अर्थात् यह **प्रणवः**=ओंकार जप करनेवाले का शस्त्र बन जाता है। उपनिषद् में तो 'प्रणवो धनुः' कहकर प्रणव को धनुष बना ही दिया है। इस प्रणवरूप धनुष से हम काम आदि शत्रुओं का (शंसन्ति-हिंसन्ति यैः) हिंसन करनेवाले होते हैं। ४. इस प्रकार **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के द्वारा **सोमः**=वह उमा के साथ रहनेवाले महादेव, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानवाले प्रभु **आप्यते**=पाये जाते हैं। उसी प्रकार जैसे **पयसा**=दूध से **सोमः**=वीर्य **आप्यते**=प्राप्त होता है। दुग्धादि के प्रयोग से सोम की प्राप्ति होती है। इस सोम से सब शक्तियों का आप्यायन करते हुए हम प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञानवृद्धि तो आवश्यक है ही। जप से वासना को दूर करना भी आवश्यक है और सात्त्विक भोजनों से सोम का वर्धन करते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाना भी आवश्यक है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सवन-त्रयी

अश्विभ्यां प्रातः सवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम्।
वैश्वदेवꣳसरस्वत्या तृतीयमाप्तꣳसवनम्॥२६॥

१. उपनिषदों में 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायंसवन' का उल्लेख है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य ही प्रातःसवन है, इसे करनेवाला 'वसु' कहलाता है। ४४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य माध्यन्दिनसवन है। इसे करनेवाला 'रुद्र' है तथा तृतीयसवन ४८ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य है। इसे करनेवाला 'आदित्य' है। २. वसु ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणापान की शक्ति की वृद्धि करके उत्तम निवासवाला बनता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साधकों से यह प्रातःसवन किया जाता है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य इसकी प्राणापान शक्ति को खूब आप्यायित कर देता है। इस प्रातःसवन को करनेवाला व्यक्ति भी 'अश्विनौ' शब्द से कहलाने लगता है। ३. **इन्द्रेण**=इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले से **माध्यन्दिनम्**=४४ वर्ष का माध्यन्दिनसवन विस्तृत किया जाता है। यह **ऐन्द्रम्**=इन्द्रशक्ति का विकास करनेवाला होता है। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, यह भी सब आसुरवृत्तियों का संहार करता है। असुरों के लिए यह 'रुद्र'=भयंकर होता है। ४. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से **तृतीयं सवनम्**=यह ४८ वर्ष का तृतीयसवन **आप्तम्**=प्राप्त किया जाता है। यह तृतीयसवन **वैश्वदेवम्**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हितकर होता है। दिव्य गुणों व ज्ञान का आदान करने के कारण ब्रह्म का ग्रहण करनेवाला 'आदित्य' कहलाता है। यह ज्ञान का अधिकाधिक संचय करता है। (सरस्वत्या) तथा दिव्य गुणों की अपने में वृद्धि करता है (वैश्वदेवम्)।

भावार्थ—१. आचार्य-चरणों में 'उपसद्' बनने का पहला लाभ यह है कि प्राणापान शक्ति देकर हमें स्वस्थ बनाते हैं (अश्विभ्यां, वसु) २. दूसरा लाभ यह है कि हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले 'रुद्र' बनकर प्रभु बनते हैं (इन्द्रस्य इति ऐन्द्रम्) और

अन्त में ३. सरस्वती की अराधना करते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों को बढ़ाकर हम 'आदित्य' बनते हैं और सब दिव्य गुणों के स्वीकार से 'वैश्वदेवम्' होते हैं।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गति-स्थिति (गति से स्थिति तक)

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीराप्नोति ॥२७॥

वायव्यैः=वायु-सम्बन्धी गुणों के द्वारा, अर्थात् 'वा गतिगन्धयोः' गति के द्वारा बुराइयों को समाप्त करने की वृत्ति से **वायव्यानि**=वायु-गुणयुक्त शिष्यों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, विद्यार्थियों को भी वह क्रियाशीलता के द्वारा बुराइयों के ध्वंस की वृत्तिवाला बना पाता है। २. **सतेन**=(सन् संभक्तौ) संभजन व संविभाग से, अर्थात् समय-विभाग के अनुसार कार्य करने से (विभागयुक्त कर्म से—द०) अथवा दिनचर्या के ठीक परिपालन से **द्रोण-कलशम्**=(द्रोणकलशो यस्य, द्रु गतौ—कलाः शेरते अस्मिन्) गतिशील कलायुक्त शरीरवाले को प्राप्त करता है, अर्थात् ठीक समयविभाग के अनुसार, संविभागपूर्वक समक्रियाओं के करनेवाले आचार्यों के विद्यार्थी भी ठीक क्रियाशील होते हैं और अपने इस शरीर में सब कलाओं का सम्यक् आधान करनेवाले होते हैं। उपनिषद् में वर्णित 'प्राण, श्रद्धा' आदि सब कलाएँ उनके जीवन में आश्रित होती हैं। ३. **कुम्भीभ्याम्**=(क+उम्भ्=कः आनन्द व जल=देवशक्ति) आचार्य से अपने में आनन्दमयता व शक्ति के भरने से **अम्भृणौ**=महान् (अम्भृण इति महन्नाम, निघण्टौ) व वाणी के पिता **सुते**=उत्पन्न किये जाते हैं (अम्भृण Powerful, great, mighty, master of वाच्)। आचार्य अपनी आनन्दमयता व शक्तिमत्ता से विद्यार्थियों को भी शक्तिसम्पन्न व महान् बनाता है। आचार्य की आनन्दमय मनोवृत्ति विद्यार्थियों को वाणी के ज्ञान का अधिपति बना देती है। ४. **स्थालीभिः**=(स्थल प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा की वृत्तियों से, अर्थात् स्थिररूप से कार्य में लगे रहने की वृत्ति से **स्थालीः आप्नोति**=स्थिर वृत्तिवालों को प्राप्त करता है। आचार्य की स्थिरता विद्यार्थियों में भी स्थिरता को जन्म देती है।

भावार्थ—हम वायु की भाँति क्रियाशील व बुराइयों का संहार करनेवाले बनें, संविभागपूर्वक कार्यों को करते हुए हम गतिशील व षोडशकला सम्पूर्ण देहवाले हों। आनन्दमयता से हम महान् बनें, स्थिरता को अपनाएँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अव-भृथ

यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा ग्रहैः स्तोमाश्च विष्टुतीः।
छन्दोभिरुक्थाशस्त्राणि साम्नावभृथऽआप्यते ॥२८॥

१. **यजुर्भिः**=यजुर्वेद के मन्त्रों से **ग्रहाः**=(यैः सर्वं क्रियाकाण्डं ग्रह्णन्ति ते व्यवहाराः—द०) ग्रहणीय गृह व्यवहार—उपादेय कर्मकाण्ड **आप्यन्ते**=प्राप्त किये जाते हैं, अर्थात् यजुः मन्त्रों से हमें जीवन के सब कर्त्तव्यों का बोध होता है। यजुर्वेद का उपनाम ही कर्मवेद है। २. **ग्रहैः**=इन ग्रहणीय व्यवहारों व कर्त्तव्यों के ठीक पालन से ही वस्तुतः **स्तोमाः**=स्तवन तथा **विष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियाँ **आप्यन्ते**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् कर्मों के करने से ही प्रभु का अर्चन होता है और लोक में यश की प्राप्ति होती है। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**=प्रभु-अर्चन

तो स्वकर्म पालन से ही होता है तथा लोक में यशस्वी भी वही होता है जो अपने कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहता है। ३. **छन्दोभिः**=छन्दों के द्वारा ही **उक्थाशस्त्राणि**=उक्थ और शस्त्र प्राप्त होते हैं। 'छन्द' वेदमन्त्र हैं, 'उक्थ' प्रवचन हैं, शस्त्र=वासना-हिंसन के साधन हैं। एवं, अर्थ यह हुआ कि वेदमन्त्रों द्वारा उत्तम प्रवचन होते हैं तथा इन्हीं के उच्चारण से प्रेरणाओं को प्राप्त होते हुए और प्रभु-स्मरण करते हुए हम वासनाओं का **शंसन**=हिंसन कर पाते हैं। वस्तुतः हमें ये वासनाओं से बचाते हैं, इसी से तो इनका नाम 'छन्दस्' हुआ 'छादयन्ति'। ४. **साम्ना**=शान्ति से वासनाओं के सभी तूफ़ानों के शान्त हो जाने पर **अवभृथः**=यज्ञान्तस्नान **आप्यते**=प्राप्त होता है, अर्थात् जीवन-यज्ञ का पूर्ण शोधन साम से होता है। जिस दिन मैं साम व शक्ति को प्राप्त कर सका, वस्तुतः उसी दिन मेरा यह यज्ञ पूर्ण होता है।

भावार्थ—यजुर्वेद प्रतिपादित उत्तम कर्मों का हम ग्रहण करें, कर्म ही हमारे **स्तोम**=प्रभुस्तवन हों तथा हमारी उत्तम स्तुति का कारण बनें। छन्दों के द्वारा मेरी वासनाओं का हिंसन हो और इस वासना-संहार से मेरा जीवन साममय हो। यह शान्ति मेरे जीवनकाल का **अवभृथ**=यज्ञान्त स्नान हो। इस शान्ति में मेरे जीवन की पूर्ण पवित्रता हो।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इडा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

संस्था (ब्राह्मीस्थिति)

इडाभिर्भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त्समिष्टयजुषा सꣳस्थाम्॥२९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अवभृथ' (यज्ञान्त स्नान) करनेवाला व्यक्ति **इडाभिः**=पृथिवी से (इडा=पृथिवी—नि० १।१) **भक्षान्**=भक्षणीय पदार्थों को प्राप्त करता है अथवा **इडाभिः**=गौओं से (इडा=a cow) भोजन को प्राप्त करता है, अर्थात् इसका भोजन दूध व वानस्पतिक अन्न, शाक-फल ही होते हैं। २. इन सात्त्विक भोजनों का सेवन करते हुए सात्त्विक अन्तःकरणवाला बनकर **सूक्तवाकेन**=सदा मधुर, सत्य वाणियों के द्वारा यह, **आशिषः**=इच्छाओं को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने जीवन में सत्य को प्रतिष्ठित करके यह सब क्रियाओं को सफल कर पाता है, यह जैसा चाहता है, वैसा ही सोचता है। ३. इस प्रकार सात्त्विक भोजनों व सत्य का सेवन करनेवालों का जीवन शान्त होता है। इस **शंयुना**=शान्ति को अपने साथ जोड़ने से यह **पत्नीसंयाजान्**=पत्नी के साथ उत्तम यज्ञों का **आप्नोति**=व्यापन करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में अपने जीवन-सखा (पत्नी) से मिलकर उत्तमोत्तम यज्ञात्मक कर्मों का करनेवाला होता है। ४. **समिष्टयजुषा**=इन किये हुए उत्तम यज्ञों से (सम्=सम्यक् इष्ट=कृत यजुः=यज्ञ) **संस्थाम्**=उत्तम स्थिति को ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हमारा भोजन अन्न, फल, शाक व दूध हों। हम सत्य से सब इष्टकार्यों को सिद्ध करें। शान्ति से गृहस्थ में यज्ञों का सेवन करें। इन सम्यक् कृत यज्ञों के द्वारा स्थितप्रज्ञता व ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रतम्-सत्यम्

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'संस्था'=ब्राह्मीस्थिति पर थी, यही प्रस्तुत मन्त्र में 'सत्य की प्राप्ति' इन शब्दों से कही जा रही है। उस सत्य की प्राप्ति का क्रम यह है—**व्रतेन**=व्रत से **दीक्षाम्**=दीक्षा को **आप्नोति**=प्राप्त होता है। यहाँ मानव-जीवन का प्रारम्भ है। इस प्रारम्भिक ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति व्रत के द्वारा—नियम के द्वारा **दीक्षा**=(self devotion) आत्मभक्ति (ब्रह्मचर्य=प्रभु की ओर चलना) का निश्चय करता है। वस्तुतः हम अपने जीवन में क्रमशः 'माता-पिता-आचार्य-अतिथि' व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनते हैं। यही हमारे जीवन की 'पंचायतनपूजा' है। भौतिक क्षेत्र में इन पाँचों का क्रमशः पृथिवी आदि के साथ सम्बन्ध है। माता पृथिवी है, पिता सब कष्टों का निवारण करने का प्रयत्न करता हुआ **वारि**=जल के तुल्य है, आचार्य अग्नि है, अतिथि वायु की भाँति निरन्तर भ्रमण करनेवाला है और प्रभु समन्तात् दीप्त आकाश के समान हैं। हम उत्तरोत्तर इनके प्रति अपना अर्पण करते हैं, यही अर्पण 'दीक्षा' है। इस दीक्षा के लिए व्रत का ग्रहण करना होता है, अन्यथा दीक्षा सम्भव ही नहीं। २. अब गृहस्थ में **दीक्षया**=इस दीक्षा के द्वारा **दक्षिणाम्**=दक्षिणा को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। दीक्षित अनायास दान की वृत्तिवाला होता है। गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य 'दक्षिणा' है, जिस प्रकार ब्रह्मचारी का मौलिक कर्त्तव्य 'आत्मसमर्पण' था। ३. अब वानप्रस्थ में इस दक्षिणा देने की वृत्ति से **श्रद्धाम्**=(सत्=सत्यं, धा=धारण) सत्य के धारण को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, अर्थात् जितना-जितना देता है उतना-उतना सत्य का धारण चलता है। न देना ही असत्य की ओर जाना है। अपरिग्रह सत्य की ओर ले-जाता है और परिग्रह असत्य में फँसाता है। ४. अब ब्रह्माश्रम (संन्यास) में **श्रद्धया**=इस सत्यधारण की वृत्ति से अन्ततः **सत्यम्**=वह सत्य प्रभु **आप्यते**=प्राप्त किया जाता है। सत्य का धारण करते हुए धीमे-धीमे हम पूर्णसत्य को अपना पाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में व्रती बनें, दीक्षित हों, दक्षिणा=दान की वृत्तिवाले हों, इस दान की वृत्ति से उत्तरोत्तर सत्य का अपने में धारण करते हुए पूर्णसत्य को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ की पूर्णता

एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम्।
तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'व्रत-दीक्षा-दक्षिणा-श्रद्धा' के माध्यम से सत्य की प्राप्ति का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि बस, **एतावत्**=इतना ही **यज्ञस्य रूपम्**=यज्ञ का रूप है। वस्तुतः यही यज्ञ है। **यत्**=जो **देवैः**=दिव्य गुणों से युक्त मनवालों से **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक **कृतम्**=सम्पादित हुआ है। इस सत्य की प्राप्ति देवों को होती है। बिना दिव्य गुणों के अपनाये सत्य-प्राप्ति सम्भव नहीं। इस सत्य की प्राप्ति के लिए दिव्य गुणों के साथ ज्ञान भी आवश्यक है। वास्तव में ज्ञान के बिना दिव्य गुणों की प्राप्ति भी सम्भव नहीं, २. परन्तु **तत् एतत् सर्वम्**=ये सब दिव्य गुण तथा ज्ञान **आप्नोति**=मनुष्य तभी प्राप्त करता है, जब **यज्ञे सौत्रामणी सुते**=(सौत्रामणी=सौत्रमण्याम्) सौत्रामणी यज्ञ किया जाता है। सौत्रामणी यज्ञ के **सुते**=निष्पादित होने पर ही ये सब अच्छे गुण व ज्ञान प्राप्त हुआ करते हैं। यह सौत्रामणी यज्ञ=(सुत्रा) इस शरीर की उत्तमत्ता से रक्षा ही है। इसपर किसी प्रकार के रोगों का आक्रमण न हो जाए, यही सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ के लिए सुरा का सेवन होता

है। ('सुर्' to govern, to rule) **सुरा**=आत्मनियन्त्रण का साधन होता है। बिना आत्मनियन्त्रण के यह यज्ञ सिद्ध नहीं होता। इस नियन्त्रण में ही वीर्यरक्षा का आधार है। यह वीर्यरक्षा मनुष्य को पूर्ण स्वस्थ बनाती है और इस प्रकार हम सौत्रामणी यज्ञ को सिद्ध करते हैं। ३. एवं, हम शरीर में स्वस्थ बनते हैं, मन में देव बनते हैं, मस्तिष्क में ब्रह्म=ज्ञान का पूरण करते हैं। बस, यही 'जीवनयज्ञ' का पूर्ण रूप है।

भावार्थ—दिव्य गुणों के धारण, ज्ञान की प्राप्ति व शरीर की रोगों से पूर्णरक्षा के द्वारा हम जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—इन्द्रः। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का वर्धन

सुरावन्तं बर्हिषदंꣳसुवीरं यज्ञꣳहिन्वन्ति महिषा नमोभिः।
दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः ॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ के करनेवाले **महिषा**=(मह् पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले साधक **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, अपने जीवन में नम्रता-धारण के द्वारा **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **हिन्वन्ति**=अपने में बढ़ाते हैं, अर्थात् अपने हृदयों में प्रभु की भावना को उज्ज्वल करते हैं। उस प्रभु की भावना को, जो २. (क) **सुरावन्तम्** (सुर् to shine) ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, सारे ज्ञान के स्रोत हैं। वे ही आदिगुरु हैं, सभी को ज्ञान देनेवाले हैं। (ख) **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले हैं। (ग) **सुवीरम्**=(शोभना वीरा शरीरात्मबलयुक्ता यस्मात् तम्) जिस प्रभु के उपासन से उपासक शरीर व आत्मा के बल से युक्त होते हैं। ३. इस प्रभु के उपासन से वासनाशून्य होकर हम वीर्य को सुरक्षित कर पाते हैं और **सोमं दधानाः**=इस सोम का धारण करते हुए, **दिवि**= प्रकाश में तथा **देवतासु**=दिव्य गुणों में अपने को धारण करते हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश तथा मन में वासनाशून्यता के कारण एक अदभुत आनन्द का अनुभव होता है। ४. हम **इन्द्रं यजमानाः**=उस घर में ऐश्वर्यशाली प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हुए **स्वर्काः**=उत्तम उपासनवाले हों तथा उत्तम अन्नों का (अर्क=अन्न-नि०) सेवन करनेवाले हों। प्रभु के सम्पर्क के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न सहायक होते हैं। इनसे अन्तःकरण की शुद्धि होकर स्मृति ठीक बनी रहती है, वासना-ग्रन्थियों का विनाश होकर हम प्रभु-दर्शन के योग्य हो जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु-उपासन के लिए चित्तवृत्ति को ठीक रखने के उद्देश्य से सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुरया-सोम

यस्ते रसः सम्भृतऽओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्॥३३॥

१. **यः**=जो **ते**=तेरा **ओषधीषु**=ओषधियों में **रसः**=रस **सम्भृतः**=धारण किया गया है और उस रस के द्वारा **सुरया**=आत्मनियन्त्रण के साथ **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न किये गये सोम (वीर्यशक्ति) का **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल है **तेन**=उस सोम के बल से **यजमानम्**=प्रभु के साथ अपना सम्पर्क करनेवाले इस यज्ञशील पुरुष को **मदेन**=आनन्द व उल्लास से

जिन्व=प्रीणित कर। २. प्रभु ने वनस्पतियों में एक रस की स्थापना की है। यह रस उत्तम सोम का उत्पादक होता है, इस सोम को यदि आत्मनियन्त्रण के द्वारा व्यक्ति अपने में ही सुरक्षित रखता है तब यह सोम इस 'यजमान' के जीवन को आनन्दित करनेवाला होता है, वास्तव में यह सुरक्षित सोम ही उसे यजमान=प्रभु के साथ सङ्गत करनेवाला बनाता है। इस प्रभु-सम्पर्क से यजमान का जीवन आनन्द से परिपूर्ण हो उठता है। ३. यह नियन्त्रित सोम इस यजमान को (क) **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिदेवता ही बना देता है, यह बड़ा ज्ञानी बनता है। (ख) **अश्विनौ**=इस सोम के रक्षण से पुरुष प्राणापान शक्ति का पुञ्ज बनता है (ग) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों की शक्तिवाला होता है तथा (घ) **अग्निम्**=सब दोषों का ध्वंस करके आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—हम ओषधियों के सेवन से सोम को शरीर में उत्पन्न करें। आत्मनियन्त्रण के द्वारा इस सोम की रक्षा करें। यह सुरक्षित सोम हमें आनन्द से प्रीणित करे। हमें यह प्रभु के मेलवाला (यजमान), ज्ञानी (सरस्वती), दीर्घजीवी (अश्विनौ), शक्तिसम्पन्न इन्द्रियोंवाला (इन्द्र) तथा दोषदहनपूर्वक आगे बढ़नेवाला (अग्नि) बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सोम+रक्षण, सोम का अध्याहरण (अश्विनौ द्वारा)

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तꣳ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुꣳ सोमꣳ राजानमिह भक्षयामि॥३४॥

१. मैं **इह**=इस मानव-जीवन में **तम्**=उस २. (क) **शुक्रम्**=(शीघ्रं बलकरम्) शीघ्र-बलकारी=जिसके होने पर मनुष्य शीघ्रता से शक्तिपूर्वक कार्यों को करता है। (ख) **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले—जो मेरे व्यवहार को मधुर बनाता है। (ग) **इन्दुम्**=(इन्द् to be powerful) परमैश्वर्यकारक तथा (घ) **राजानं सोमम्**=मेरे जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम-वीर्य को **भक्षयामि**=अपने में धारण करता हूँ, अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। २. उस सोम को मैं अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ **यम्**=जिसको **आश्विनौ**=प्राणापान **आसुरात्**=असुरवृत्तियों के लिए हितकर, अर्थात् आसुर भावनाओं को पनपानेवाले **नमुचेः** **(न मुच्)**=पीछा न छोड़नेवाले (Last infirmity of noble minds) इस अहंकार नामक असुरराज से **अधि**=(आश्विनौ ह्येनं नमुचेरध्याहरताम्। —श० १२.८.१.३) ऊपर उठानेवाले हुए, अर्थात् प्राणापान की साधना का परिणाम यह हुआ कि इस वीर्य के कारण इसके अधिष्ठानभूत वीर पुरुष में अहंकार की भावना उत्पन्न नहीं हुई। एवं, प्राणायाम के अभ्यास के अभाव में यह वीर्य राजसरूप धारण करके मनुष्य को अहंकारी बना देता है। प्राणायाम से सात्त्विकता बनी रहती है और अहंकार की उत्पत्ति नहीं होती। यही अश्विनीदेवों का नमुचि से सोम का अध्याहरण है, अंहकार से ऊपर उठाना है। ३. अब अश्विनीदेवों द्वारा नमुचि से अध्याहरित इस सोम को **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रियाय**=इन्द्र के शरीर के लिए **असुनोत्**=सिद्ध करती है। अहंकार से ऊपर उठे हुए पुरुष का वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और उसकी शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना वीर्यरक्षा का सुन्दर साधन है। वीर्य का ज्ञानाग्नि-दीपन में विनियोग होकर उस का सुन्दर सद्व्यय हो जाता है, उससे आत्मा की शक्ति का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणायाम की साधना वीर्य की केवल रक्षा ही नहीं करती, अपितु उस वीर पुरुष को अभिमान का शिकार भी नहीं होने देती। 'ज्ञान-प्राप्ति में लगना' उस वीर्य का

सद्व्यय करके आत्मशक्ति को बढ़ानेवाला होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शची द्वारा सोमपान

यदत्र रिप्तꣳरसिनः सुतस्य यदिन्द्रोऽअपिबच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमꣳराजानमिह भक्षयामि॥३५॥

१. **यत्**=जो **रसिनः**=रसवाले जीवन को माधुर्य से भरनेवाले **सुतस्य**=अभिषुत (उत्पन्न) सोम का **रिप्तम्**=(लिप्तं प्राप्तम् द.) अंश प्राप्त हुआ है, **यत्**=जिस अंश को **इन्द्रः**=इन्द्रियों का विजेता जीवात्मा **शचीभिः**=ज्ञानों व कर्मों के द्वारा तथा प्रभुनाम जपन के द्वारा **अपिबत्**=अपने अन्दर पीता है, अर्थात् व्याप्त कर लेता है। २. स्पष्ट है कि सोम जीवन को मधुर बनानेवाला है (रसिनः), इसके अभाव में शरीर में रोग आ जाते हैं और मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि पनपने लगते हैं, इस प्रकार मनुष्य का जीवन कड़वा हो जाता है। ३. इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखने का साधन यह है कि मनुष्य यज्ञ-यागादि उत्तम कर्मों में लगा रहे और अपने अतिरिक्त समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये। (शचीभिः) उससे भी श्रान्त हो जाने पर वाणी से प्रभु का नाम जपने में प्रवृत्त हो। ४. **अहम्**=मैं भी **अस्य**=इस सोम के **तत्**=उस अंश को **शिवेन मनसा**=शिव मन के हेतु से **भक्षयामि**= अपना भाग बनाता हूँ। इस सोम की रक्षा से मेरा मन शिव वृत्तिवाला बनता है, उसमें सभी के कल्याण की भावना उत्पन्न होती है। ५. वस्तुतः सोम के इन सब लाभों का विचार करके कि (क) यह मेरे जीवन को माधुर्यवाला बनाता है, (ख) इसके रक्षण से मेरा मन शिव बनता है, मैं **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **सोमं राजानम्**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाले इस सोम को **भक्षयामि**=अपना भोजन बनाता हूँ। इसे अपने शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—१. सोमरक्षा का प्रकार यह है कि हम कर्मों में लगे रहें, ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के नाम का जप करें। २. रक्षित सोम (क) हमारे जीवन को मधुर बनाएगा, (ख) मन को शिव बनाएगा (रसिनः) तथा (ग) हमारे मस्तिष्क को ज्ञान-दीप्त करेगा (राजानम्)।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पितृश्राद्ध

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्॥३६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाले युवक व युवति रसमय व मधुर जीवनवाले बने रहते हैं। उनके मन शिव होते हैं और उनका ज्ञान दीप्त होता है। इस प्रकार उत्तम जीवनवाले वे दम्पती वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए-हुए अपने पिता, पितामह व प्रपितामह को समय-समय पर आमन्त्रित करते हैं। इन पितरों को वे 'स्वधा'=अन्न प्राप्त कराते हैं तथा 'नमः' उनका सत्कार करते हैं। इनके आमन्त्रण को स्वीकार करके वे पितर आते हैं और इसीलिए वे 'स्वधायी'=(स्वधां प्रति एतुं शीलं यस्य) कहलाते हैं। इन **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आने के स्वभाववाले **पितृभ्यः**=पिताओं कि लिए **स्वधा नमः**=अन्न तथा सत्कार हो। २. इसी प्रकार **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले

पितामहेभ्यः=पितामहों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो तथा **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले **प्रपितामहेभ्यः**=परदादों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो। ३. यहाँ मन्त्र में आमन्त्रण क्रम पिता-पितामह व प्रपितामह है, यद्यपि आयु की दृष्टि से बड़प्पन का मान करते हुए यह क्रम प्रपितामह-पितामह-पिता होना चाहिए तथापि सम्भावना का ध्यान करते हुए यह क्रम बदल दिया गया है। पिता जो ५१ व ५२ वर्ष के होंगे उनके आने का तो सम्भव है ही। पितामह भी ७४ व ७५ वर्ष की आयु होने से सम्भवतः आएँ, परन्तु इस समय तक जो १०० वर्ष से ऊपर के होंगे उनके आने का संशय ही है। पिता से सम्बन्ध का सामीप्य भी है। जो पिता से सम्बन्ध है, पितामह से उतना नहीं होता और प्रपितामह से यह सम्बन्ध और भी दूर का होता है। सन्तान पर पिता का प्रभाव अधिक पड़ता है, पितामह का इससे कम और प्रपितामह का उससे भी कम, परन्तु फिर भी युवक दम्पती इन सभी को आमन्त्रित करते हैं और उनका भोजनादि के द्वारा मान करते हैं। ४. ये युवक बड़े प्रसन्न होते हैं कि उनके आमन्त्रण को स्वीकार करके **पितरः अक्षन्**=पितरों ने भोजन किया है और **पितरः अमीमदन्त**=पितर प्रसन्न हुए हैं, और **पितरः अतीतृपन्त**=उन पितरों ने तृप्ति का अनुभव किया है। ५. अब प्रसन्न व तृप्त पितरों से ये प्रार्थना करते हैं कि हे **पितरः शुन्धध्वम्**=आप उत्तम उपदेश व प्रेरणाओं से हमारे जीवनों को शुद्ध कीजिए। वस्तुतः पितृश्राद्ध का सर्वमहान् लाभ यही है कि हम अपने उन पितरों से अपने कुलधर्मों व जातिधर्मों का उपदेश ग्रहण करके अपने जीवन में प्रेरणा प्राप्त करते हैं तथा उनके आशीर्वादों से शुभमार्ग पर चलने की शक्ति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम पिता-पितामह व प्रपितामहों को वानप्रस्थाश्रमों से समय-समय पर घर में आमन्त्रित करें। उनका अन्नादि द्वारा सत्कार करें। उनसे उपदेश व प्रेरणा लेकर अपने जीवनों को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्र शतायुष्य

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥३७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितृश्राद्ध करनेवाला प्रार्थना करता है कि **मा**=मुझे **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य—शान्त स्वभाववाले **पितरः**=ये पिता **पुनन्तु**=पवित्र करें। उनके जीवन की सौम्यता मेरे जीवन को भी सौम्य बनाए। **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः**=प्रपितामह भी **पुनन्तु**=मेरे जीवन को पापशून्य बनाएँ। मुझे ये सब **शतायुषा**=सौ वर्ष के जीवन को देनेवाले **पवित्रेण** =जीवन को पवित्र करने के साधनभूत ज्ञान से पवित्र कर दें। २. **शतायुषा पवित्रेण**=सौ वर्ष का आयुष्य देनेवाले पवित्रीकरण के साधनभूत ज्ञान से **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः पुनन्तु**=प्रपितामह पवित्र करें, जिससे **विश्वम्**=पूर्ण आयु—जीवन को **व्यश्नवै**=मैं विशेषरूप से प्राप्त करनेवाला बनूँ। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों। यह होगा तभी जब मैं पवित्र बनूँगा, अतः ये पितर मुझे अपने उपदेशों व सौम्य जीवनों की क्रियात्मक प्रेरणाओं से पवित्र कर दें। मेरा जीवन शुद्ध हो और मैं शतायु बनूँ।

भावार्थ—मैं पितरों की प्रेरणाओं से व उनके आचरण से अपने जीवन को शुद्ध बनाऊँ तथा शुद्ध जीवनवाला बनकर पूरे सौ वर्ष तक चलनेवाला बनूँ। 'पवित्रशतायुष्य' ही मेरा ध्येय हो।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दीर्घायुष्य के तीन साधन

अग्नऽआयूंᳫंषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥३८॥

१ **अग्ने**=हे परमात्मन्! **आयूँषि**=आयुष्य के पावक कर्मों को ही **पवसे**=(पावयसे चेष्टयसे) हमसे करवाइए। आपकी कृपा व प्रेरणा से हमारे सारे आहार-विहार ऐसे हों जो दीर्घजीवन का कारण बनें। २. इस दीर्घजीवन के लिए ही आप **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाले दुग्धादि पदार्थों को तथा **इषम्**=व्रीह्यादि धान्यों को **आसुव**=दीजिए। दीर्घजीवन के लिए हम 'अन्न व रस' का ही सेवन करनेवाले बनें तथा ३. साथ ही आप ऐसी कृपा कीजिए कि **दुच्छुनाम्**=(दुष्टं श्वनं) दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को **आरे**=दूर ही **बाधस्व**=नष्ट कीजिए। हमसे इन्हें दूर ही रखिए। यह दुष्टसङ्ग दीर्घजीवन के लिए बड़ा विघ्न होता है। (तैः रहितो हि पुरुषः परमायुः प्राप्नोति—द०) दुष्टसङ्ग से रहित पुरुष ही दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि १. क्रियाशील बना जाए (पवसे) २. व्रीहि व दधि आदि अन्न-रसों का ही प्रयोग किया जाए ३. दुष्ट-सङ्ग से दूर रहा जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सत्सङ्ग

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥३९॥

१. हे प्रभो! **मा**=मुझे **देवजनाः**=देवजन—दिव्य वृत्तिवाले लोग **पुनन्तु**=पवित्र करें। गत मन्त्र में कहा था कि 'आरे बाधस्व दुच्छुनाम्' दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को हमसे दूर ही नष्ट कीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में दुःसंग से विपरीत सत्सङ्ग की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं कि देव-वृत्तिवाले लोगों के सङ्ग से हमारा जीवन पवित्र बने। २. **मनसा**=विचारपूर्वक किये जानेवाले **धियः**=कर्म **पुनन्तु**=हमारे जीवनों को पवित्र करें। वस्तुतः मनुष्य तो है ही वह जो **मत्वा कर्माणि सीव्यति** विचारपूर्वक कर्म करता है। ऐसे कर्म ही हमारे जीवन को पवित्र करते हैं। अकर्मण्यता सब अपवित्रताओं का कारण है। अविचारपूर्वक किये गये कर्म भी हमारे दुःखों व मानस मालिन्य के कारण बन जाते हैं। ३. **विश्वा भूतानि**='पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक सब भूत **पुनन्तु**=हमारे जीवन को पवित्र करें। इनसे सिद्ध होनेवाली पवित्रता मेरे शारीरिक स्वास्थ्य का कारण बनेगी। ४. **जातवेदः**=हे सर्वज्ञ प्रभो! **मा पुनीहि**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। हृदयस्थ प्रभु मुझे अपने ज्ञान से दीप्त करके पवित्र कर डालते हैं।

भावार्थ—१. देवजन मुझे पवित्र करें। २. विचारपूर्वक किये गये कर्म मुझे पवित्र करें ३. पृथिवी आदि भूत मुझे पवित्र करें ४. सर्वज्ञ प्रभु मुझे पवित्र करें।

ऋषिः—वैखानसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान-शक्ति व कर्मसंकल्प

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँ२॥ऽरनु॥४०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'जातवेदः पुनीहि मा' यह प्रार्थना थी। उसी प्रार्थना को दूसरे शब्दों में करते हुए मन्त्र का आरम्भ करते हैं कि **देव**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होनेवाले तथा पवित्र अन्तःकरणों को द्योतित करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **पवित्रेण**=पवित्रता के सर्वोत्तम साधनभूत ज्ञान से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। मेरा ज्ञान उत्तम होगा तो विचारों की उत्तमता के कारण मेरे उच्चारण व आचरण भी उत्तम होंगे। विचार ही स्थूलरूप धारण करके क्रिया में परिणत हुआ करते हैं। २. हे **दीद्यत्**=तेजस्विता से दीप्त प्रभो! आप मुझे **शुक्रेण**=शीघ्रता से कार्य करने में समर्थ करनेवाली वीर्यशक्ति से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। यह सुरक्षित 'शुक्र' ही तो मेरे मानस को 'शुचि' (पवित्र) बनाएगा। ३. हे **अग्ने**=सारे संसार को गति देनेवाले प्रभो! **क्रतून् अनु**=यज्ञों का लक्ष्य करके **क्रत्वा**=संकल्प व क्रिया से मुझे पवित्र कीजिए। मेरे हृदय में सदा यज्ञात्मक कर्मों का ही संकल्प हो तथा उस संकल्प के अनुसार मैं उन यज्ञों के सम्पादन में प्रवृत्त रहूँ। ये यज्ञ ही उत्तम कर्म हैं। इनमें निरन्तर प्रवृत्त मैं अपने जीवन को अपवित्रता से बचा सकूँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे ज्ञान-शक्ति तथा उत्तम कर्मों के संकल्पों द्वारा पवित्र कीजिए।

ऋषिः—वैखानसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान की ज्वाला

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा॥४१॥

१. 'परमात्मा क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह ज्योतिरूप हैं—मानो वह ज्ञानाग्नि की प्रसृत ज्वालाएँ हैं। उस ज्योतीरूप प्रभु से 'वैखानस' प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=ज्ञानाग्निरूप प्रभो! **यत्**=जो **पवित्रं ब्रह्म**=सब पवित्रताओं का साधनभूत ज्ञान **ते**=आपके **अर्चिषि अन्तरा**=सत्कार करने योग्य शुद्ध तेजस्वरूप में (अन्तरा=मध्य में) **विततम्**=विस्तृत है, **तेन**=उस उत्तम ज्ञान से **मा पुनातु**=मुझे पवित्र कीजिए। २. जैसे सोना अग्नि में तपकर, मल के भस्म हो जाने से निखर उठता है, उसी प्रकार मैं भी आपकी इस ज्ञानाग्नि की ज्वाला में तपकर पवित्र हो जाऊँ। अग्नि में सब दोषों का दहन हो जाता है। ज्ञानाग्नि के पुञ्ज आपमें पड़कर मेरे भी सब मलों का दहन हो जाए। वस्तुतः ज्ञान वह तेज है जिसके साथ किसी अपवित्रता—पाप व मल का सम्भव ही नहीं। इस ज्ञान से दीप्त होकर मैं भी निर्मल हो जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान मेरे जीवन को उज्ज्वल कर दे।

ऋषिः—वैखानसः। देवता—पवित्रकर्त्ता। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पवित्रता

पवमानः सोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा॥४२॥

१. **सः पवमानः**=वह शोधक सोम **अद्य**=आज **नः**=हमें **पुनातु**=पवित्र करे। हमारे शरीर के रोगों को नष्ट करके हमें स्वास्थ्य की दीप्ति देनेवाला हो। २. **विचर्षणिः**=वह æ'Vk] gekjsÑ rkÑ r d ksťkuus ky k iÈkq Sins of omissions (अकृत) तथा Sins of commissions (कृत) को देखनेवाला परमात्मा **पवित्रेण**=पवित्र करनेवाले ज्ञान से **मा**=मुझे

पुनातु=पवित्र करे। मुझे वह ज्ञान प्राप्त हो जिसके प्राप्त होने पर मैं पापों से मुक्त हो जाऊँ। ३. **यः पोता**=जो हमारे हृदयों को पूर्ण पवित्र कर देनेवाले प्रभु हैं **सः**=वे वासना को नष्ट करके शुद्धता को उत्पन्न करनेवाले प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पूर्ण पवित्र कर दें। प्रभु के नाम का जप व तदर्थभावन मेरे हृदय को वासनाशून्य करनेवाला हो।

भावार्थ—सोम मुझे नीरोग करके स्वास्थ्य की दीप्ति दे। सर्वव्यापक प्रभु के सामीप्य को अनुभव करके मैं पापों से बचूँ। प्रभु नाम-स्मरण मेरी ढाल बन जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान व कर्म

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः॥४३॥

१. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा ज्ञानदीप्त प्रभो! हे **सवितः**=सत्कर्मों में सतत प्रेरित करनेवाले प्रभो! आप **पवित्रेण**=अद्भुत पवित्रता के जनक ज्ञान से तथा **सवेन**=(यज्ञः= सवः) यज्ञात्मक कर्मों से **उभाभ्याम्**=इन ज्ञान व कर्म दोनों से **मा**=मुझे **विश्वतः**=सब ओर से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी से सदा पवित्र करनेवाले हों। ये ज्ञान और कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों।

भावार्थ—ज्ञान व कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मैं पक्षी के समान हूँ तो ज्ञान व कर्म मेरे पंख हों। ये मुझे ऊपर ले-जानेवाले हों।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वैश्वदेवी-पुनती=देवी

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥४४॥

१. **वैश्वदेवी**=(विश्वेभ्यः देवेभ्यः आगता—द०) सब देवताओं के लिए प्राप्त होनेवाली अथवा सब देवों का हित करनेवाली 'तच्चक्षुर्देवहितम्'। वह वेदज्ञान जो देवों के लिए हितकर है अथवा देवों में जो निहित होता है। **पुनती**=हम सबको पवित्र करनेवाली, **देवी**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त यह वेदवाणी **आगात्**=हमें प्राप्त हो। स्पष्ट है कि यह वेदवाणी (क) देवों के लिए हितकर है, (ख) पवित्र करनेवाली है तथा (ग) ज्ञान के प्रकाश से युक्त है। २. **यस्याम्**=जिस वेदवाणी में **इमाः**=यह **बह्वीः तन्वः**= बहुत-से शरीर, अर्थात् कितने ही धीर पुरुष **वीतपृष्ठाः**=(वीतं कान्तं पृष्ठं येषां) कमनीय स्वरूपवाले हो जाते हैं। इस वेदवाणी के ज्ञानजल में धुलकर चमक उठते हैं अथवा जिस वेदवाणी में **इमाः**=ये **बह्वीः**=बहुत-सी **तन्वः**=(विस्तृतविद्याः—द०) विस्तृत विद्याएँ **वीतपृष्ठाः**=(विविधानि इतानि=विदितानि पृष्ठानि=प्रच्छनानि याभिस्ताः—द०) ज्ञात विविध प्रश्नोंवाली हैं, अर्थात् इस वेदवाणी में नाना विद्याओं का प्रश्नोत्तर रूप से प्रतिपादन हो गया है। ३. **तया**=वेदवाणी से **सधमादेषु**=(सहस्थानेषु—द० यज्ञस्थानेषु—म०) मिलकर एक जगह आनन्दपूर्वक बैठने के स्थानों में **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=पति **स्याम**=हों। हम धनों के स्वामी बने रहें, यह हमारा स्वामी न बन जाए। धन का हमारे जीवन में गौण स्थान हो।

भावार्थ—वेदवाणी 'वैश्वदेवी पुनती-देवी' है। इसमें स्नान कर शरीर का प्रक्षालन हो जाने से लोग चमक उठते हैं। इकट्ठे होने पर इसी की चर्चा करते हैं। धनों के कभी दास

नहीं बनते हैं।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यमराज्य में

ये स॒मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑।

तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम्॥४५॥

१. **ये**=जो हमारे **पितरः**=पिता-पितामह-प्रपितामह आदि **समानाः**=सुख-दुःख में समानवृत्तिवाले होते हैं, 'नित्यं च समचित्तकं, इष्टानिष्टोपपत्तिषु'=इष्ट-अनिष्ट प्राप्ति में समचित्त रहते हैं। जो शुभाशुभ को प्राप्त करके न तो हर्ष से फूलते हैं और न ही उदास हो जाते हैं। २. **समनसः**=(समानं मनो विज्ञानं येषां) और समान विज्ञानवाले होते हैं ३. **यमराज्ये**=जो यम के राज्य में निवास करते हैं, अर्थात् जो सदा नियन्त्रित जीवन बिताते हैं। ४. **तेषाम्**=उन्हें **लोकः**=उत्तम लोक व यश की प्राप्ति होती है, **स्वधा**=उन्हें आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न प्राप्त होता है, **नमः**=उनमें नमन की वृत्ति होती है। ५. उनका **यज्ञः**=सङ्ग **देवेषु**=दिव्य गुणों के उत्पादन में **कल्पताम्**=समर्थ हो। उनके सङ्ग से हममें भी दिव्य गुण उत्पन्न हों।

भावार्थ—१. 'पितर' शब्द से कहलाने योग्य व्यक्ति वे हैं जो (क) समचित्त-स्थितप्रज्ञ हैं। (ख) समान विज्ञानवाले हैं। (ग) नियन्त्रण के संसार में विचरते हैं, अर्थात् व्रती जीवनवाले हैं। २. इन पितरों को (क) उत्तम यश प्राप्त होता है। (ख) धारण के लिए आवश्यक अन्न दुर्लभ नहीं होता। (ग) इनमें नमन की वृत्ति होती है अथवा इन्हें सब नमस्कार करते हैं। ३. इनका सङ्ग हमें भी दिव्य गुणोंवाला बनाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्तम पैतृक संस्कार

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः।

तेषा॒ꣳश्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तꣳसमाः॑॥४६॥

१. **ये**=जो **समानाः**=समान वृत्तिवाले—सब सन्तानों के साथ एक-जैसा बर्तनेवाले अथवा 'समानयन्ति' खूब उत्साहित करनेवाले, **जीवाः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाले, **जीवेषु**=जीवित प्राणियों में **मामकाः** =मुझमें ममत्ववाले मेरे पिता-पितामह व प्रपितामह हैं, २. **तेषाम्**=उनकी **श्रीः**=शोभा **मयि**=मुझमें **कल्पताम्**=सिद्ध हो, अर्थात् इनकी सब उत्तमताएँ पैतृक संस्कारों के रूप में मुझे प्राप्त हों। **अस्मिन् लोके**=इस संसार में **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त, अर्थात् पूर्ण जीवन में उनकी उत्तमताओं को मैं धारण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मुझे उत्तम पैतृक संस्कार प्राप्त हों। जीवित पितरों का जीवन मेरे जीवन के लिए आदर्श बने और मैं अपने जीवन को अधिकाधिक श्रीसम्पन्न बनाऊँ।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देवयान-पितृयाण

द्वे सृ॒तीऽअ॑शृणवं पितॄ॒णाम॒हं दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।

ताभ्या॑मि॒दं विश्व॒मेज॒त्समे॑ति॒ यद॑न्त॒रा पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥४७॥

१. **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के **अहम्**=मैंने **द्वे सृती**=दो मार्ग **अशृणवम्**=सुने हैं। एक तो

पितृणाम्=पितरों का मार्ग है, यही **पितृयाण** कहलाता है। इसमें मनुष्य उस-उस कामना से युक्त होकर अमुक-अमुक यज्ञ को करता है। उपनिषद् ने इसी मार्ग को **'प्रेयमार्ग'** कहा है। इस मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब इष्ट सम्पत्तियों को प्राप्त करते हैं। उनका जीवन बड़ा प्रिय-सा हो जाता है—उन्हें लौकिक सुखों की कमी नहीं होती। २. **उत**=और दूसरा मार्ग **देवानाम्**=देवों का है—उन पुरुषों का है जो देववृत्तिवाले हैं, जो देते हैं, ज्ञान से चमकते हैं औरों को भी ज्ञान देनेवाले होते हैं। उपनिषद् में इनका मार्ग **'श्रेयमार्ग'** है। पितृयाण 'कृष्ण' मार्ग था तो यह देवयान 'शुक्ल' मार्ग है। पितृयाण मार्ग में द्रविण आदि से उस मार्ग को 'कृष्ण' नाम दिया गया है। देवयान मार्ग में बुद्धि अनेकचित्त, विभ्रान्त नहीं होती—बुद्धि समाहित रहती है, अतः यह 'शुक्ल' मार्ग है। ३. **ताभ्याम्** =उन दो मार्गों से ही **इदम्**=यह **एजत्**=गतिशील **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार **यत्**=जोकि **पितरं मातरं च अन्तरा**=('असौ वै पितेयं माता—श० १२।८।१।२१) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में विद्यमान है, वह **समेति**=सम्यक्तया गति करता है, अर्थात् वे दो ही मार्ग हैं, जिनसे यह सारा संसार चलता है।

भावार्थ—इस संसार में मनुष्यों के लिए दो ही मार्ग हैं। १. ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था में 'पितृयाण' है, जिससे आगे चलकर सकाम यज्ञों को करते हुए हम अभ्युदय का साधन करते हैं तथा २. ज्ञान के परिपक्व होने पर मनुष्य 'देवयान' मार्ग से चलता है। इसमें उन्हीं यज्ञों को वे निष्काम होकर कर्त्तव्य बुद्धि से करते हैं और निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

हविः

इदं हविः प्रजननं मेऽअस्तु दशवीरꣳसर्वगणꣳस्वस्तये।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतोऽअस्मासु धत्त ॥४८॥

१. गतमन्त्र के पितृयाण व देवयान मार्गों से चलनेवाले लोग सदा यज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाले होते हैं। यह यज्ञशेष को खाना ही 'हवि' कहलाता है। 'हु दानादनयोः' अर्थात् दानपूर्वक बचे हुए को खाना। **इदं हविः**=यह दानपूर्वक अदन **मे**=मेरे लिए **प्रजननं अस्तु**=प्रकृष्ट विकासवाला हो। हवि के द्वारा मेरी शक्तियों का उत्तम विकास हो। २. यह हवि **दशवीरम्**=(प्राणा वै दशवीराः प्राणानेवात्मन् धत्ते—श० १२।८।१।२२) मेरे सभी प्राणों का वर्धन करनेवाली हो। ३. **सर्वगणम्**=अङ्गनि वै सर्वे गणा अङ्गन्येवात्मन्धत्ते। —श० १२.८.१.१२) यह हवि मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को स्वस्थ बनानेवाली हो। ४. इस प्रकार यह हवि मेरे **स्वस्तये**=उत्तम कल्याण के लिए हो। ५. **आत्मसनि**=यह हवि मुझे आत्मशक्ति सम्पन्न करनेवाली हो। ६. **प्रजासनि**=उत्तम सन्तान देनेवाली हो। ७. **पशुसनि**=ये मेरे लिए उत्तम गवादिक पशुओं को प्राप्त करानेवाली हो। ८. **लोकसनि**=यह मेरे इस लोक को उत्तम बनाये। ९. **अभयसनि**=यह मुझे **अभयपद**=ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली हो। १०. मेरी हवि खाने की वृत्ति के कारण **अग्निः**=मेरी उन्नति का साधक प्रभु **मे प्रजाम्**=मेरी सन्तान को **बहुलां करोतु**=प्रवृद्ध व उन्नत-फूला-फला **करोतु**=करे। मेरी सन्तान में भी इस हवि की वृत्ति उत्पन्न हो। मेरी सन्तान भी अपनों में बहुतों का समावेश करनेवाली हो (बहून् लाति)।

११. इस 'हवि' के परिणामस्वरूप ही आप **अस्मासु**=हममें **अन्नं पयः**=अन्न और दूध को **धत्त**=धारण कीजिए और इस अन्न व दूध के द्वारा आप **अस्मासु**=हममें **रेतः**=शक्ति का आधान कीजिए।

भावार्थ—मैं हविवृत्ति बनूँ, देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। यह हवि मेरा विकास करे—मेरे प्राणों की शक्ति को बढ़ाए, मेरे सब अङ्गों को सबल करे, मेरे लिए कल्याणकर हो, मुझे आत्मिक शक्ति दे, उत्तम प्रजा को प्राप्त कराए, उत्तम पशु-धनवाला बनाए, मेरा लोक उत्तम हो, अर्थात् मैं यशस्वी बनूँ और अन्त में अभयपद प्राप्त करूँ। इस हवि से मेरी प्रजा भी बहुल हो। हवि के परिणामस्वरूप ही मैं अन्न, दूध व इनके द्वारा शक्ति को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञानवाला

उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं यऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥४९॥

१. गतमन्त्र का वैखानस ऋषि हवि के द्वारा सब प्राणों को उत्तम बनाकर **'शंख'**=उत्तम, शान्त इन्द्रियोंवाला बनता है। (शं-ख)। यह प्रार्थना करता है कि **अवरे**=सबसे अर्वाचीन काल में होनेवाले मेरे पिता **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा दें। **उत्**=और **परासः**=सुदूर काल में होनेवाले मेरे प्रपितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले हों। **उत्**=और **मध्यमाः**=इन दोनों के मध्य में होनेवाले मेरे पितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराएँ। २. ये सब **पितरः**=मेरा पालन करनेवाले पिता-पितामह व प्रपितामह, **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अथवा सोम का सम्पादन करनेवालों में उत्तम हैं। ये अपनी शक्ति का व्यर्थ में अपव्यय नहीं होने देते और इसलिए ३. ये वे हैं **ये**=जो **असुं ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं। सोमरक्षण से इनकी प्राणशक्ति स्थिर रहती है। इस प्राणशक्ति की स्थिरता से ये स्वस्थ व दीर्घजीवी होते हैं। ४. **अवृकाः**=(वृक आदाने) ये वे हैं जिन्हें धन के आदान का लोभ नहीं है। इस धनलोभ के न होने से ये सब वासनाओं से ऊपर उठे हुए हैं। लोभ ही तो वासनावृक्ष का मूल है। उसके अभाव में इनका जीवन व्यसनों से ऊपर उठा हुआ है। ५. **ऋतजाः**=ये ऋत के ज्ञानवाले हैं, इन्हें सब सत्य ज्ञान प्राप्त है। इनका मस्तिष्क इस सत्यज्ञान से चमक रहा है। ६. **ते पितरः**=वे पितर **नः**=हमें **हवेषु**=जब-जब हम इन्हें पुकारें—आमन्त्रित करें उस-उस पुकारने के समय पर **अवन्तु**=रक्षित करें। उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराके ये हमारे जीवनों को सन्मार्ग पर लानेवाले हों।

भावार्थ—पिता-पितामह व प्रपितामह सभी हमें समय-समय पर उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त कराके अपने क्रियात्मक उदाहरण से स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञान-परिपूर्ण बनने के लिए उत्साहित करें।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सुमति-सौभद्र मन

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयᳬसुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥५०॥

१. **नः**=हमारे **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह **अंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले

हैं। बड़े स्वस्थ हैं, पूर्व मन्त्र के शब्दों में प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं। २. **नवग्वा**=अतएव नवम दशक तक ९०-१०० साल के आयुष्य तक जानेवाले हैं, अथवा **नवा ग्वा**=नवमी व स्तोतव्य गतिवाले हैं, इनका आचरण अत्यन्त प्रशस्य है। ३. **अथर्वाणः**=(न थर्वतिः=चरतिकर्मा) स्तुतिनिन्दा, लाभालाभ व जीवन-मृत्यु के कारण नीतिमार्ग से कभी भी विचलित होनेवाले नहीं। ४. **भृगवः**=अपने ज्ञान को परिपक्व करनेवाले हैं ५. परिणामतः **सोम्याः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं। ६. **वयम्**=हम **तेषाम्**=उन **यज्ञियानाम्**=(यज्ञे हिताः) सदा उत्तम कर्मों में लगे हुए पितरों की **सुमतौ**=कल्याणी बुद्धि में **स्याम**=हों। उनकी प्रेरणाएँ व उनका जीवन हमें उत्तम प्रेरणाएँ दे, हमें सद्बुद्धि प्राप्त कराए। **अपि**=और हम सदा **भद्रे**=कल्याणकारक **सौमनसे**=शोभन मनस में, मन की उत्तम स्थिति में **स्याम**=निवास करें। हमारा मन सदा सुप्रसन्न हो। उसमें किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेषादि मलों का सम्भव न हो तथा हम सदा सभी के कल्याण की कामना करें, हमारा मन अभद्र न हो।

भावार्थ—पितरों की विशेषताएँ ये हैं—वे स्वस्थ हैं (अङ्गिरसः), सदाचारी हैं (नवग्वाः), स्थिरवृत्ति के हैं (अथर्वाणः), सद्ज्ञान से परिपक्व विचारोंवाले हैं (भृगवः) तथा सौम्य (विनीत) हैं। हम सब इन पितरों की सुमति व सौमनस में स्थित हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सात्त्विक भोजन

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।

तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥५१॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, हमसे पहले काल में होनेवाले **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह हैं जो **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाववाले हैं, और **वसिष्ठाः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाले, अधिक-से-अधिक पूर्ण **सोमपीथम्**=सोम के पान को **अनु+उहिरे**=प्रतिदिन धारण करते हैं, २. **तेभिः**=उन पितरों के साथ **संरराणः**=(संप्रियमाणः) प्रीति व आनन्द का अनुभव करता हुआ **यमः**=नियन्त्रित जीवनवाला सन्तान **हवींषि**=दानपूर्वक अदन को, यज्ञशेष को **उशन्**=चाहता हुआ **उशद्भिः**=चाहते हुए पितरों के साथ **प्रतिकामम्**=शरीर की चाहना—आवश्यकता (want) के अनुसार **अत्तु**=खाये। ३. यहाँ भोजन के विषय में निम्न बातें सुव्यक्त हैं—(क) वही भोजन खाना है जिसकी शरीर को आवश्यकता हो (प्रतिकामम्), 'यह मकान मरम्मत चाहता है' इस वाक्य में चाहना की जो भावना है, वही 'प्रतिकाम' शब्द में निहित है। शरीर को जिस भोजनांश की आवश्यकता है वही भोजनांश इसे प्राप्त कराना चाहिए। (ख) भोजन को प्रसन्नतापूर्वक खाना चाहिए (उशन्)। प्रसन्नतापूर्वक खाया गया भोजन ही रुधिरादि उत्तम धातुओं को उत्पन्न करता है, अन्यथा कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं, जो रोगों व अकालमृत्यु के कारण बनते हैं। (ग) हमारा भोजन सदा यज्ञशेष ही हो। देकर बचे हुए को ही खाना है (हवींषि)। अकेला खानेवाला पाप का ही सेवन करता है। (घ) 'यमः' यह कर्तृपद इस बात की सूचना भी देता है कि भोजन वही करना चाहिए जो संयम के अनुकूल हो। उत्तेजक भोजन हमारी वृत्ति को असंयत बनानेवाले हैं, अतः त्याज्य हैं।

भावार्थ—हम भोजन वह करें, जिसकी शरीर को आवश्यकता है। उसे सदा प्रसन्नतापूर्वक ही खाएँ। हमारा भोजन यज्ञशेष हो, हविरूप हो। उत्तेजक भोजनों से हम बचने का प्रयत्न करें। सदा सोम का पान करनेवाले, शक्ति की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

आचार्य व माता-पिता

त्वꣳसोम प्रचिकितो मनीषा त्वꣳरजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो नऽइन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥५२॥

१. हे **सोम**=सौम्यगुणयुक्त आचार्य! शान्तस्वभाव विद्वन्! **त्वम्**=आप **प्रचिकितः**=प्रकृष्ट चेतनावाले हैं, बड़े समझदार व ज्ञानी हैं। २. **त्वम्**=आप **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **रजिष्ठम्**=अत्यन्त ऋजुतम **पन्थाम्**=मार्ग को **अनुनेषि**=हमें अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं, बड़ी कुशलता से हमें छल-छिद्र से दूर सरलता के मार्ग पर ले-चलते हैं। ३. **तव प्रणीती**=आपके प्रणयन (guidence) से ही हे **इन्दो**=हे शक्ति व ज्ञान के परमैश्वर्य से सम्पन्न आचार्य! **नः**=हमें **पितरः**=पितर लोग जो **धीराः**=(धीमन्तः—उ०, ध्यानवन्तो वा—द०) बुद्धिमान् व ध्यानवाले हैं, वे **देवेषु**=विद्वानों के सम्पर्कों में **रत्नम् अभजन्त**=रमणीय बातों का भागी बनाते हैं। ३. आचार्य (क) **सोम**=शान्त है, (ख) **इन्दु**=शक्तिशाली व ज्ञान के परमैश्वर्यवाला है (ग) प्रकृष्ट चेतनावाला, बड़ा समझदार व ऊँचे नामवाला है। (घ) बुद्धिपूर्वक सरलतम मार्ग से विद्यार्थियों को उन्नति-पथ पर ले-चलता है। ४. पितर (क) धीर हैं, बुद्धिमान् हैं, ध्यानवाले व धैर्यवाले हैं—बड़े धैर्यपूर्वक सन्तानों के जीवन-निर्माणरूप कार्य में लगे रहते हैं। (ख) आचार्यों के निर्देशों का बड़ा ध्यान करते हैं। आचार्यों को संरक्षकों की सहकारिता प्राप्त होने पर ही सन्तानों का निर्माण हुआ करता है। (ग) ये अपने सन्तानों को सदा दैवीवृत्तिवाले पुरुषों के सम्पर्क में लाने का ध्यान करते हैं और (घ) इस सज्जनसङ्ग से उनमें रमणीय गुणों का आधान कराते हैं।

भावार्थ—आचार्य व पितर मिलकर युवक सन्तानों में रमणीय गुणों का आधान कराएँ।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कर्मशील-विजेता

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः।
वन्वन्नवातः परिधीँ१॥ऽरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥५३॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन्! आचार्य! नः=हमारे **पूर्वे**=हमसे पूर्व काल में होनेवाले **धीराः**=धीमान् व ध्यानवान्, धैर्यशाली **पितरः**=पितर **हि**=निश्चय से **त्वया**=तुझसे, अर्थात् आपके निर्देशों के अनुसार **कर्माणि चक्रुः**=कर्मों को करते थे। हमारे पितर अपने आचार्यों के कहने के अनुसार कर्मों को करनेवाले हुए। हमें भी उसी मार्ग को अपनाकर आचार्य-निर्देशों पर ही चलना चाहिए। २. हे **पवमान**=अपने जीवन को पूर्ण पवित्र करनेवाले आचार्य! **वन्वन्**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले (वन्=to injure) अथवा वासनाओं को पराजित करनेवाले (to conquer) आचार्य! **अवातः**=स्वयं सभी उपद्रवों से अहिंसित होता हुआ तू **परिधीन्**=हमारे चारों ओर स्थित हुए-हुए इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं को **अपोर्णु**=हमसे दूर आच्छादित कर। ये शत्रु हम तक पहुँचनेवाले न हों। इन शत्रुओं से बचाकर आप हमें भी अपनी भाँति 'पवमान'=पवित्र व 'वन्वन्' (win) विजेता बनाइए। ३. इन वासनाओं से बचाकर **वीरेभिः अश्वैः**=वीरता से युक्त—शक्तिसम्पन्न इन्द्रियरूप अश्वों से आप **नः**=हमारे लिए **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले **भव**=होओ। आपकी कृपा से हम इन शक्तिशाली इन्द्रियों के द्वारा (मघ=मख) उत्तमोत्तम यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—१. हम आचार्यों के निर्देशों के अनुसार कर्मों को करनेवाले हों। २. वासनाओं का पराजय करें ३. शक्तिसम्पन्न इन्द्रियों से यज्ञात्मक कर्मों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

शिक्षा का दृष्टिकोण

त्वꣳसोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवीऽआ ततन्थ।

तस्मै तऽइन्दो हविषा विधेम वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥५४॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन् आचार्य! **त्वम्**=आप **पितृभिः**=मेरे संरक्षकों के साथ **संविदानः**=सम्यक् ऐकमत्यवाले होते हुए—संज्ञानवाले होते हुए **द्यावापृथिवी अनु**=मस्तिष्क व शरीर का लक्ष्य करके **आततन्थ**=मेरी शक्तियों का विस्तार कीजिए। आचार्य व माता-पिता ने परस्पर विचार करके एक मतिवाला होकर विद्यार्थियों के जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना है। उनके सब प्रयत्नों व कर्मों का लक्ष्य यही हो कि इनके ज्ञान का विकास हो तथा इनके शरीर स्वस्थ बनें। जैसे यह द्युलोक बड़ा उग्र व तेजस्वी है, उसी प्रकार इनके मस्तिष्करूप द्युलोक भी ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों से देदीप्यमान हों तथा जैसे यह पृथिवी दृढ़ है, इसी प्रकार इनका यह शरीर दृढ़ हो, पत्थर के समान पक्का हो। इनको 'ज्ञान से दीप्त, शरीर से दृढ़' बनाना ही इनका लक्ष्य हो। २. हे **इन्दो**=ज्ञान के परमैश्वर्य-वाले आचार्य! **तस्मै ते**=उस तेरे लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन करते हुए हम **विधेम**=पूजा करनेवाले हों। हमारी इस हविर्वृत्ति से आपका यश चारों ओर फैले। हमारे जीवन की यह वृत्ति आपके यश को फैलानेवाली हो कि इन शिष्यों को अमुक आचार्य ने शिक्षित किया है। ३. आपके शिक्षण का हमारे जीवन में यह परिणाम हो कि **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=स्वामी न कि दास **स्याम**=हों। इस संसार में हम कभी भी धन के दास न बन जाएँ। धन के दास बने और हमारी यज्ञशेष को खाने की वृत्ति नष्ट हुई और इस प्रकार उत्पन्न हुई-हुई स्वार्थपरता हमें धर्मशून्य बना देगी। हमारी धर्मशून्यता आपके भी अपयश का कारण बनेगी।

भावार्थ—आचार्य व माता-पिता का प्रयत्न हमें ज्ञानोज्ज्वल व स्वस्थ-शरीरवाला बनाए। हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठे रहें, कभी धन के दास न बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बर्हिषद् पितरों का स्वागत

बर्हिषदः पितरऽऊत्युर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।

तऽआ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥५५॥

१. **बर्हिषदः**=पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले **पितरः**=पितरो! **ऊती**=रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**=यहाँ—हमारे समीप **आगता**=आइए। २. **वः**=आपके लिए **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों को **चकृम**=सिद्ध किया है। **जुषध्वम्**=आप उनका प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। ३. पिता-पितामह व प्रपितामह जब वानप्रस्थ को जाते हैं तब उनका मुख्य उद्देश्य हृदयों को राग-द्वेषादि मलों से रहित करने का होता है। वे हृदय को वासनाशून्य करने के लिए सतत प्रयत्न में लगे होते हैं। वे हृदय को 'बर्हि' बना रहे होते हैं, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। ये वानप्रस्थ अब 'शंख'=शान्त इन्द्रियोंवाले बने हैं। ये हमारे कल्याण व रक्षण के लिए समय-समय पर आते हैं और उत्तम प्रेरणाओं के द्वारा हमें

परस्पर कलह से नष्ट हो जाने से बचाते हैं। इनके आने पर हम इनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को तैयार करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे प्रीतिपूर्वक उन पदार्थों का सेवन करें। ४. **ते**=वे प्रायः **शन्तमेन**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले **अवसा**=रक्षणादि कर्मों के साथ **आगता**=आएँ। आपके आने से हमारे घर का वातावरण अत्यन्त शान्तिवाला बने और हम अपने धनों को वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। ५. **अथ**=अब **नः**=हममें **शंयोः**=(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्–यास्क) रोगों के शमन को तथा भयों के यावन—दूरीकरण को **दधात**=धारण कीजिए। वासनाओं से अपने को बचाकर हम नीरोग व निर्भीक हों। शरीर में व्याधि न हो तो मन में आधि न हो। शरीर में (disease) न हो, मन में बेचैनी (uneasiness) न हो। आप हममें **अरपः**=निष्पापता को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—हम समय-समय पर पितरों को आमन्त्रित करें। वे हमारे रक्षण के लिए हमारे समीप आने की कृपा करें। हम उनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। उनकी उत्तम प्रेरणाओं से हमारी व्याधियाँ व आधियाँ दूर हों और हम निष्पाप बनें।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुविदत्र पितर

आहं पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॒२॥ऽअवि॑त्सि॒ नपा॑तं च वि॒क्रम॑णं च॒ विष्णोः॑।
ब॒र्हि॒षदो॒ ये स्व॒धया॑ सु॒तस्य॒ भज॑न्त पि॒त्वस्तऽइ॒हाग॑मिष्ठाः॥५६॥

१. **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान से रक्षा करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को—ज्ञानदाता आचार्यों को **अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ, अर्थात् मुझे 'सुविदत्र' आचार्यों का सङ्ग सदा प्राप्त होता रहे। २. उन आचार्यों से मैं **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **नपातं च**=कभी भी नष्ट न होनेवाले, फिर भी **विक्रमणं च**=विविध क्रमणों को—इस वैविध्य से युक्त सृष्टि के क्रम को **आ अवित्सि**=सब प्रकार से समझने का प्रयत्न करूँ। किस प्रकार यह 'सृष्टि-प्रलय' का क्रम अनादिकाल से कभी नष्ट न होता हुआ चलता है। ३. **बर्हिषदः**=वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाले, अर्थात् जिनका मुख्य लक्ष्य हृदय को वासनाशून्य बनाना है, ये जो **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले, उत्तम सात्त्विक अन्न के साथ **सुतस्य**=अभिषुत—उत्पन्न किये हुए **पित्वः**=(सुगन्धिपानस्य—द०) सुगन्धियुक्त पेय-रस का **भजन्ते**=सेवन करते हैं, अर्थात् जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है, **ते**=वे पितर **इह**=यहाँ हमारे घरों पर **आगमिष्ठाः**=आएँ, हमें उनका सम्पर्क प्राप्त हो।

भावार्थ—हमें उन पितरों का, ज्ञानप्रद आचार्यों का सम्पर्क सदा प्राप्त हो जो हमें इस अविनाशी सृष्टि-प्रलय-चक्र का ज्ञान देनेवाले हों और जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है। उत्तम ज्ञान देकर ये हमारा त्राण करते हैं।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सोम्य पितर

उप॑हूताः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॒षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑।
तऽआ ग॑मन्तु तऽइ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु ते॒ऽव॒न्त्व॒स्मान्॥५७॥

१. **बर्हिष्येषु**=(बर्हिषु उत्तमेषु—द०) हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम **प्रियेषु**=तृप्ति व कान्ति देनेवाले **निधिषु**=ज्ञानकोशों के होने पर **सोम्यासः**=जो अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अर्थात् जिन्हें उत्तम ज्ञान ने अत्यन्त विनीत बनाया है, **वे पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्य

उपहूताः=हमसे आमन्त्रित किये गये हैं। २. हमारे 'पिता, पितामह, प्रपितामह' स्वस्थ होकर **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** सदा स्वाध्याय में लगे रहे और उन्होंने उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त किया जो ज्ञान उन्हें हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम सहायक सिद्ध हुआ। यही ज्ञान उनका प्रियनिधि बना। इस ज्ञान ने उन्हें सौम्य मनोवृत्ति प्रदान की। इन ज्ञानप्रद पितरों को हम समय-समय पर आमन्त्रित करते हैं। ३. आमन्त्रित किये हुए **ते**=वे पितर **आगमन्तु**= आएँ, **ते**=वे **इह**=यहाँ—हमारे घरों पर आकर **श्रुवन्तु**=हमारी समस्याओं को सुनें और **ते**=वे **अधिब्रुवन्तु**=उन समस्याओं को सुलझाने के लिए आधिक्येन उपदेश दें और इस प्रकार **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम भी उनसे 'बर्हिष्य प्रियनिधि' को प्राप्त करनेवाले बनें और इस संसार में न उलझते हुए जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—उत्तम सात्त्विक ज्ञान से हृदयों को निर्वासन बनानेवाले सौम्य पितर हमसे आमन्त्रित होकर यहाँ आएँ और हमें अपने सदुपदेशों से प्रीणित करें।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्निष्वात् पितर

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।

अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५८॥

१. **अग्निष्वात्ताः**=(गृहीताग्निविद्याः—द०) जिन्होंने अग्निविद्या का ग्रहण किया है। यहाँ अग्नि शब्द 'पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों के मध्य में स्थित हुआ पाँचों भूतों की विद्या का संकेत कर रहा है। एवं, अग्निष्वात्त पितर वे हैं जिन्होंने सब भूतों के विज्ञान का सम्यक् अध्ययन किया है, जीवन को सुन्दर व स्वस्थ बनाने के लिए सब भूतों का विज्ञान आवश्यक ही है। **सोम्यासः**=जो पितर अत्यन्त सौम्य व शान्त स्वभाव के हैं। **पथिभिः देवयानैः**=और अब देवयान मार्गों से जीवन के कार्यक्रम को चला रहे हैं। वे **पितरः**=पितर **नः आयन्तु**=हमारे समीप आमन्त्रित होकर आएँ। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस यज्ञरूप जीवन में **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले सात्त्विक ज्ञान से **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **अधिब्रुवन्तु**=हमें खूब उपदेश दें और अपने इन ज्ञानपूर्ण उपदेशों से **अस्मान् अवन्तु**=हमें सुरक्षित करें। उन उपदेशों से हमें ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि हम अपने जीवनों को वासना से बचानेवाले बनें। वासनाओं से ऊपर उठकर अपने जीवन को नाश से बचा पाएँ।

भावार्थ—पदार्थविज्ञान में निपुण, देवयान-मार्ग से चलनेवाले ज्ञानी आचार्य हमें वह ज्ञान दें जो ज्ञान हमें इस जीवन में वासनाओं से सुरक्षित करे।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

सुप्रणीतयः—उत्तम प्रणयन करनेवाले

अग्निष्वात्ताः पितरऽएह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।

अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳसर्ववीरं दधातन॥५९॥

१. हे **अग्निष्वात्ताः**=अग्नि आदि पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण करनेवाले **पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्यो! **इह आगच्छत**=आप यहाँ—हमारे घरों पर आइए। २. **सदः सदः**= प्रत्येक सभा में **सुप्रणीतयः**=उत्तम, प्रकृष्ट नीतिवाले आप **सदत**=अपना स्थान ग्रहण कीजिए। जब-जब हमारी कोई भी सभा हो तब-तब उसमें ये ज्ञानी आचार्य सभापति पद

का आसन ग्रहण करके हमारी उस सभा का सुप्रणयन (सञ्चालन) करें। ३. हमसे **प्रयतानि**=प्रयत्नपूर्वक सिद्ध की हुई अथवा पवित्र **हवींषि**=हव्य—सात्त्विक पदार्थों को **अत्त**=आप खाइए, अर्थात् हम इन आमन्त्रित ज्ञानी आचार्यों के लिए पवित्र सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करानेवाले हों। वे इन अन्नों को स्वीकार करें। ४. **अथ**=और अब **बर्हिषि**=हृदय के निर्वासन होने पर **सर्ववीरम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वीरता व शक्ति का आधान करनेवाले **रयिम्**=धन को **दधातन**=हममें धारण कीजिए। ये पितर वस्तुतः इस प्रकार के नीतिमार्ग का उपदेश देते हैं कि उसपर चलते हुए हम हृदय में उत्पन्न होनेवाली वासनाओं के शिकार नहीं होते और इस प्रकार अपने अङ्गो को वीरतापूर्ण बना पाते हैं।

भावार्थ—हम विज्ञान में निपुण पितरों के सदुपदेशों से सुनीति के मार्ग पर चलते हुए वासनाओं को जीतें और अपने प्राणों को सबल बनाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रकृतिवित् व ब्रह्मवित् (Physics and Mataphysics) का पण्डित

येऽअ॒ग्निष्वा॒त्ता येऽअन॑ग्निष्वात्ता॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
तेभ्यः॑ स्व॒राडसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयाति॥६०॥

१. **ये**=जो पितर **अग्निष्वात्ताः**=(सम्यग्गृहीताग्निविद्याः) अग्नि आदि भौतिक पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण कर चुके हैं तथा **ये**=जो **अनग्निष्वात्ता**=अग्न्यादि से भिन्न—इन अग्न्यादि के भी प्रकाशक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् अग्निष्वात्त भौतिकी के पण्डित हैं, तो अनग्निष्वात्त सब भूतों से पर ब्रह्मविद्या के वेत्ता हैं, २. जो विद्वान् पिता **दिवः मध्ये**=सदा प्रकाश में विचरण करते हैं और **स्वधया**=आत्मज्ञान के धारण करानेवाले, सात्त्विक अन्न से **मादयन्ते**=हर्ष का अनुभव करते हैं और जिन्हें शुद्ध, सात्त्विक आहार रुचिकर होता है, ३. **तेभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान प्रभु **एताम्**=इस **असुनीतिम्**=प्राणों की नीति को, प्राणशक्ति के वर्धन की योग्यता को **कल्पयाति**=सिद्ध करता है और इस असुनीति के द्वारा **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयाति**=समर्थ करता है, अर्थात् इन्हें वह इस योग्य बनाता है कि ये जितनी देर चाहें, शरीर को धारण कर सकें। एवं, इन्हें यह असुनीति 'मृत्युञ्जय' बना देती है।

भावार्थ—प्रकृतिविज्ञान व ब्रह्मज्ञान में निपुण ज्ञानी लोग प्रभु से प्राप्त असुनीति=प्राणविद्या को हमें भी प्राप्त कराएँ, जिससे हम अपने जीवनों को तदनुसार चलाते हुए दीर्घ बना पाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

नाराशंस में सोमपान

अ॒ग्निष्वा॒त्तानृ॑तु॒मतो॑ हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं यऽआ॒शुः।
ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्॥६१॥

१. **अग्निष्वात्तान्**=ग्रहण की है अग्नि आदि पदार्थों की विद्या जिन्होंने उन **ऋतुमतः**=प्रशस्त ऋतुओंवाले, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार दिनचर्यावाले पितरों को हम **नाराशंसे**=नरसमूह के लिए आशंसनीय =प्रशस्त धर्मों को करने के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। २. हम उन पितरों को पुकारते हैं **ये**=जो **सोमपीथम्** =सोम के पान को **आशुः**=(अश्नन्ति) खाते हैं। सोमपान करनेवाले पितर ही स्वस्थ रहकर नरों के लिए हितकर कार्यों के करनेवाले होते हैं। ३. **ते विप्रासः**=विशेषरूप से अपना पूर्ण करनेवाले पितर **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से

आमन्त्रित करने योग्य **भवन्तु**=हों और इनके उपदेशों को सुनकर तथा इनसे प्रेरणा प्राप्त करके **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=सदा पति ही बने रहें, हम कभी धन के दास न बन जाएँ। धन को साधन के रूप में देखते हुए हम भी (क) अग्निष्वात्त बनने का प्रयत्न करें—उत्कृष्ट ज्ञानी बनें, पदार्थविद्या का खूब अध्ययन करें। (ख) ऋतुमान बनें, ऋतुओं के अनुकूल हमारी दिनचर्या हो। (ग) नरहित के लिए प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। (घ) सोमपान से शक्ति की रक्षा का पूरा ध्यान करें।

भावार्थ—हम अग्नि आदि सब पदार्थों के विज्ञान में कुशल बनकर ऋतु के अनुसार भोजनादि क्रियाओं को करते हुए नरहित के प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। इस नाराशंस के निमित्त सोमपान करें, अर्थात् शरीर में सोम की रक्षा करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञोपदेश

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिꣳसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्वऽआगः पुरुषता कराम॥६२॥

१. **आच्याजानु**=घुटनों को परस्पर मिलाकर और **दक्षिणतः निषद्य**=दाहिनी ओर बैठकर **विश्वे**=हे पितरो! आप सब **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का **अभिगृणीत**=उपदेश दो। २. इन उपदेशों को सुननेवाले युवक सन्तान निवेदन करते हैं कि **पुरुषता**=मनुष्य होने के नाते, अर्थात् अल्पज्ञता के कारण स्खलनशील होने से (To err is human) **वः**=आपके विषय में **यत् आगः**=जो अपराध **कराम**=कर बैठें, उस ऐसे **केनचित्**=किसी अपराध से हे **पितरः**=पितरो! आप **नः**=हमें **मा हिंसिष्ट**=हिंसित मत कीजिए। आपके प्रति व्यवहार में जो कमी-बेशी (अतिरिक्तता व न्यूनता) रह गई हो उसके लिए आप हमें क्षमा करना।

भावार्थ—उपहूत पितर हमसे समादृत होकर हमें उत्तम कर्मों का उपदेश दें और हमारे व्यवहार में अज्ञानवश रह गई कमी को क्षमा करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रातःकाल का स्वाध्याय

आसीनासोऽअरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत तऽइहोर्जं दधात॥६३॥

१. (क) **अरुणीनाम्**=प्रातःकाल की अरुण किरणों की **उपस्थे**=गोद में **आसीनासः**=बैठे हुए, अर्थात् प्रातः सूर्योदय की प्रथम किरणों को अपने शरीर पर लेते हुए आप **दाशुषे मर्त्याय**=आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के प्रति **रयिं धत्त**=ज्ञानधन का धारण कीजिए। (ख) **अरुणीनाम्**-(गवाम्-वेदवाचः)-शब्द का अर्थ गौवें व वेदवाणियाँ भी है, अतः अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि ज्ञान की वाणियों में स्थित हुए-हुए आप मुझ शरण में आये हुए के लिए ज्ञानधन दीजिए। २. हे **पितरः**=ज्ञान द्वारा रक्षण करनेवाले पितरो! **पुत्रेभ्यः**=हम पुत्रों के लिए **तस्य वस्वः**=इस निवास को उत्तम बनाने के लिए उपयोगी ज्ञानधन का **प्रयच्छत**=दान कीजिए। **ते**=और वे आप **इह**=इस जीवन में हमारे लिए **ऊर्जं दधात**=बल व प्राणशक्ति को धारण करिए। आपसे निवास के लिए उपयोगी ज्ञानधन को प्राप्त करके, तदनुसार अपना आहार-विहार करते हुए हम अपने अन्दर ऊर्जा धारण करनेवाले बनें। आपकी भाँति हम भी ज्ञान की किरणों में निवास करनेवाले हों और

ज्ञानवृद्धि के द्वारा जीवन को उत्तम व संयत बनाकर अपने बल को क्षीण न होने दें।

भावार्थ—ज्ञान की किरणों में ही निवास करनेवाले ज्ञानी पितरों से ज्ञान प्राप्त करके हम बल व प्राणशक्ति का धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देव-विषयक ज्ञान

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥६४॥

१. 'कविषु भवं कव्यम्' क्रन्तदर्शी पुरुषों में होनेवाले ज्ञान को यहाँ 'कव्य' कहा गया है। 'कौति सर्वा विद्याः' जो ज्ञान सब विद्याओं का उपदेश देता है वह, वेदज्ञान ही 'कव्य' है। हे **अग्ने**=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य! **कव्यवाहन**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान को धारण करनेवाले आचार्य! **त्वम्**=आप **यम् चित् रयिम्**=जिस भी ज्ञानधन को **मन्यसे**=उत्तम समझते हैं, **तत्**=उस **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **श्रवाय्यम्**=सुननेयोग्य **देवत्रा**=सब देवों के विषय में दिये गये, अर्थात् जिस ज्ञान में प्रकृत्ति से बने तेतीस देवों का तथा चौंतिसवें महादेव का ज्ञान दिया गया है, उस **युजम्**=अन्त में मुझे उससे युक्त करनेवाले ज्ञान को **पनया**=(देहि) दीजिए। २. आचार्य मुझे वह ज्ञान दें जिस ज्ञान को वे मेरे लिए ठीक समझते हैं। मुझे आचार्य कृपा से वह ज्ञान प्राप्त हो, जो वेदवाणियों में प्रभु की ओर से दिया गया है, जो ज्ञान सब देवों का प्रतिपादन करता है और जिस ज्ञान से मैं अपना सम्बन्ध उस प्रभु से बना पाता हूँ।

भावार्थ—आचार्यों से प्रकृति के सब देवों का ज्ञान प्राप्त करके, इनमें उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ मैं उस प्रभु से अपना सम्बन्ध बना पाऊँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

कव्य+हव्य

योऽअग्निः कव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्यऽआ॥६५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी भी ज्ञानी बना है। **'अग्निनाग्निः समिध्यते'**=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य से विद्यार्थी में भी ज्ञानाग्नि समिद्ध की जाती है, आचार्य अग्नि से विद्यार्थी भी अग्नि बना है। आचार्य 'कव्यवाहन' था, विद्यार्थी भी कव्यवाहन बना है। **यः**=जो भी **अग्निः**=ज्ञानाग्नि से दीप्त हुआ **कव्यवाहनः**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान का धारण करनेवाला ज्ञानी सन्तान है, वह **ऋतावृधः**=सत्यज्ञान से वृद्ध अथवा सत्य व उससे बढ़े हुए **पितॄन्**=ज्ञान द्वारा रक्षक इन पितरों का **यक्षत्**=(यज् पूजा) सत्कार करता है, इनके साथ अपना सम्पर्क बनाता है (यज् सङ्गतिकरण), इनके प्रति अपना अर्पण करता है (यज् दान)। २. **इत् उ**=और अब इन **देवेभ्यः**=ज्ञान को देनेवाले अथवा ज्ञान से देदीप्यमान **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के प्रति **आ**=आकर (आगत्य) **हव्यानि**=ग्रहण करने योग्य विज्ञानों को **प्रवोचति**=अच्छी प्रकार कहता है, अर्थात् सारा प्राप्त किया ज्ञान उन्हें सुनाता है। मन्त्र २४ में कहा था कि 'प्रत्याश्रवोऽनुरूपः' पढ़े पाठ को फिर से सुना देनेवाला आचार्य के अनुरूप ही बन जाता है। यहाँ वही भावना 'प्रेदु हव्यानि वोचति' से कही है। धारण किया हुआ ज्ञान 'कव्य' था। उसी ज्ञान को सुनाने का प्रसंग आया तो वही ज्ञान 'हव्य' हो गया। आचार्य विद्यार्थी के प्रति 'कव्य' का वहन करता

है। विद्यार्थी 'कव्यवाहन' बनकर इसी ज्ञान का जब आचार्यों के प्रति प्रत्याश्रावण करता है तब 'हव्य' का प्रबन्धन कर रहा होता है।

भावार्थ—हम आचार्यों से **कव्य**=सब सत्यविद्याओं के प्रतिपादक ज्ञान को ग्रहण करें। इसे आचार्यों को सुनाकर सबं प्रजाओं में उस ज्ञान को देनेवाले बनें। हमारा 'कव्य' 'हव्य' हो जाए, प्रजाओं में आहुति के योग्य हो जाए।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उतना ही जितना आवश्यक

त्वम॑ग्नऽईडि॒तः क॑व्यवाह॒नावा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सु॒र॒भीणि॑ कृ॒त्वी।

प्रादा॑ः पि॒तृभ्य॑ः स्व॒धया॒ तेऽअ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वीꣳषि॑ ॥६६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब शिष्य आचार्य से सुने हुए पाठ को फिर से सुना देता है तब वह आचार्य के समान ही कव्य का वहन करनेवाला हो जाता है। यह 'कव्यवाहन' कहलाता है, क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान को धारण करनेवाला। मन्त्र में इसके लिए कहते हैं, कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील व ज्ञान से अग्नि के समान चमकनेवाले! **कव्यवाहन**=क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान का वहन करनेवाले! **त्वम्**=तू **ईडितः**=(ईडितं अस्य अस्ति इति) उपासनावाला बनता है। तू उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु का उपासक बनता है। २. **हव्यानि**=इन ग्रहण योग्य विज्ञानों को **सुरभीणि कृत्वी**=बड़ा सुगन्धित करके **अवाट्**=तू प्रजाओं में इनका प्राप्त करानेवाला बनता है। इन ज्ञानों का प्रचार तू इस मधुरता से करता है कि चारों ओर सुगन्ध-ही-सुगन्ध फैलती है। ३. तू **पितृभ्यः**=उन ज्ञानप्रद पितरों के लिए **हव्यानि**=उत्तम सेवनीय पदार्थों को **प्रादाः**=देता है, **ते**=वे इन पदार्थों को **स्वधया**=आत्मधारण के दृष्टिकोण से **अक्षन्**=खाते हैं। वे उतना ही भोजन करते हैं, जितना कि शरीरधारण के लिए पर्याप्त हो। ४. हे **देव**=ज्ञान की दीप्तवाले विद्वन्! **त्वम्**=तू भी **प्रयता**=शुद्ध **हवींषि**=हव्य पदार्थों का ही **अद्धि**=सेवन कर। तू भी सात्त्विक भोजनों को ही कर। 'प्रयता' का अर्थ आचार्य दयानन्द ने 'प्रयत्नेन साधिताभिः' प्रयत्न से प्राप्त पदार्थ किया है, श्रम से कमाये हुए भोजन को ग्रहण करने से ही सात्त्विकता बनी रहती है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करें। २. उसे बड़े मिठास के साथ लोगों तक पहुँचाएँ ३. आचार्यों को, पितरों को सात्त्विक अन्न देनेवाले हों। स्वयं भी पवित्र, प्रयत्नार्जित हव्य पदार्थों को ही खाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्वदेश व विदेश के विद्वान्

ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२॥ऽउ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म।

त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञꣳसुकृ॑तं जुषस्व॥६७॥

१. **ये**=जो **च**=भी **इह**=यहाँ, इसी स्थान में **पितरः**=ज्ञानप्रद पितर हैं, **ये च इह न**=और जो यहाँ—इस स्थान में रहनेवाले नहीं हैं। उदाहरणार्थ—हम भारत के हैं, तो हमारे दृष्टिकोण से मन्त्रार्थ होगा, 'जो यहाँ भारत में रहनेवाले विद्वान् हैं, और जो यहाँ से बाहर के विद्वान् हैं, अर्थात् विदेश के विद्वान् हैं। २. **यान् च विद्म**=जिनको हम जानते हैं **यान् उ च न प्रविद्म**=और जिनको हम नहीं जानते हैं। ३. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले विद्वन्! **ते**=वे **यति**=(यतीन् शुचीन्) पवित्र जीवनवाले हैं ऐसा **त्वम्**=तू **वेत्थ**=जानता है, अर्थात् 'इस देश

के हैं या विदेश के हैं' इस बात का कोई महत्त्व नहीं। वे हमारे परिचित हैं या अपरिचित यह बात भी अविचारणीय है। आवश्यक बात तो इतनी ही है कि 'वे पवित्र ज़ीवनवाले हैं या नहीं'। यदि वे पवित्र जीवनवाले हैं तो ज्ञानी विद्वन्! तू **स्वधाभिः**=आत्मधारण के लिए योग्य अन्नों से **सुकृतं यज्ञम्**=सुसम्पादित सत्कार व्यवहार को (देवपूजात्मक यज्ञ को) **जुषस्व**=सेवन कर, अर्थात् उत्तम अन्नादि से तू उनकी सेवा कर।

भावार्थ—हमें विद्वानों का आदर करना चाहिए चाहे वे स्वदेश के हों चाहे विदेश के। चाहे वे हमारे परिचित हों चाहे अपरिचित। इतना जानना पर्याप्त है कि उनका जीवन पवित्र है या नहीं। यदि वे 'यति'—संयत जीवनवाले हैं, तो वे हमारे लिए आदरणीय ही हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्कृष्ट पितर

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽउपरासऽईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳसुवृजनासु विक्षु॥६८॥

१. **अद्य**=आज **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के लिए **इदं नमः अस्तु**=यह सत्कार व अन्न हो। हम सत्कारपूर्वक उनके लिए सात्त्विक हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। २. **ये**=जो पितर **पूर्वासः**=हमसे विद्या व अवस्था में वृद्ध हैं, गुणों के दृष्टिकोण से पूर्वस्थान में स्थित हैं। **उ**=और **ये**=जो **उपरासः**=(उपरमन्ते इति, विषयेभ्य उपरताः) जो सांसारिक विषयों से उपरत हुए हैं। जो (कृतकृत्याः परं ब्रह्म ईयुः—उ०) गृहस्थ के सब कार्यभारों को पूर्ण करके अब ब्रह्मज्ञान में ही मुख्यरूप से **ईयुः**=गति कर रहे हैं। ३. **ये**=जो पितर **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में, पृथिवीलोक के मुख्य देवता अग्नि में **आनिषत्ताः**=समन्तात् निषण्ण हैं, सब प्रकार से यज्ञ-यागादि करने में प्रवृत्त हैं। **ये वा**=या जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=(शोभनं वृजनं बलं यासाम्) उत्तम धर्म-(पापवर्जन)-रूप बलवाली **विक्षु**=प्रजाओं में गिने जाते हैं, उन सब पितरों के लिए हम सत्कारपूर्वक अन्न प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम 'पूर्व' अर्थात् विद्यावयोवृद्ध 'उपर'=विषयों से उपरत 'पार्थिवे रजसि आनिषत्ता'=अग्नि में यज्ञ-यागादि करनेवाले तथा उत्तम धर्मरूप बलवाले पितरों का अन्नादि से सत्कार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पर प्राण पितर

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासोऽअग्नऽऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तोऽअरुणीरप व्रन्॥६९॥

१. **अध**=अब **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **पितरः**=पितर **परासः**=जो उत्कृष्ट हैं—विद्या आदि गुणों से उत्कर्ष को प्राप्त हैं, **प्रत्नासः**=आयुष्य में भी बड़े हैं, **ऋतम् आशुषाणाः**=(यज्ञं व्याप्नुवन्तः) यज्ञादि उत्तमकर्मों में व्याप्त हुए-हुए हैं। **शुचि दीधितिं इत् अयन्**=पवित्र ज्ञान की किरणों को जिन्होंने प्राप्त किया है और **उक्थशासः**=(उक्थानि शंसन्ति) कहने के योग्य ज्ञान-वचनों का शंसन करते हैं। २. **क्षामा भिन्दन्तः**=पार्थिव भोगों का विद्रावण करते हुए (क्षामा=पृथिवी, पार्थिव भोग) **अरुणीः**=अविद्या के अन्धकार की नाशक ज्ञानकिरणों को **अपव्रन्**=आच्छादन व आवरणरहित करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप ऐसा ही करें। आपकी कृपा से ऐसा ही हो।

भावार्थ—हम उन ज्ञानी पितरों का सम्पर्क प्राप्त करें जो गुणों से उत्कृष्ट हैं, वयोवृद्ध हैं, यज्ञादि कर्मों में व्याप्त जीवनवाले हैं, पवित्र ज्ञान-किरणों को प्राप्त हैं, उक्थों का शंसन करनेवाले, पार्थिव भोगों से ऊपर उठे हुए तथा ज्ञान की किरणों को अनावृत करनेवाले हैं।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

हवि का अदन

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशतऽआ वह पितॄन्हविषेऽअत्तवे ॥७०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अग्नि' से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **उशन्तः**=कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **निधीमहि**=अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करते हैं। जब हमें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना होती है, तभी हम अपने हृदयों में प्रभु का स्थापन कर पाते हैं। २. **उशन्तः**=आपकी प्राप्ति की प्रबल कामना करते हुए ही हम **समिधीमहि**=अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के लिए यज्ञ करते हैं। ज्ञानाग्नि के प्रकाश में ही तो आपका दर्शन हो पाएगा। ३. **उशतः**=आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए हमें **उशन्**=चाहते हुए आप हमें **पितॄन् आवह**=उन ज्ञानी पितरों को प्राप्त कराइए, जिनके सम्पर्क से हमारे जीवन में सदा **हविषे अत्तवे**=हवि खाने की भावना उत्पन्न हो। हम हवि का ही सेवन करें, सदा दानपूर्वक खानेवाले बनें। वस्तुतः इस हवि से ही प्रभु का भी पूजन होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। प्रभु को हृदयों में धारण करें, इसी उद्देश्य से ज्ञान को समिद्ध करें। ज्ञानप्रद पितरों के सम्पर्क को प्राप्त करके हवि के खाने का पाठ पढ़ें। यह हवि ही हमारा प्रभुपूजन बन जाएगी।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

नमुचि-शिरश्छेदन

अपां फेनेन नमुचेः शिरऽइन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥७१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितरों के सम्पर्क में रहकर पुरुष अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है। मन्त्र ६९ के अनुसार पितर 'ऋतमाशुषाणाः' सदा यज्ञों में व्याप्त रहनेवाले थे। उनके सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति भी सदा यज्ञात्मक कर्मों में लगता है। यह कर्मरत होने से ही विषयों में लिप्त नहीं होता। इन्द्रियों को जीतकर यह जितेन्द्रिय बनता है, अतः कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **अपाम**=कर्मों के **फेनेन**=(वर्धनेन—द०) वर्धन से, अपने जीवन को सदा कर्मों में लगाये रखने से **नमुचेः**=नमुचि के, अन्त तक पीछा न छोड़ने वाली (न+मुच) अभिमानवृत्ति के **शिरः उदवर्तयः**=सिर को तूने काट डाला है। कार्यरत पुरुष गर्व से ऊपर उठा रहता है। अभिमान वही करता है जो स्वयं काम न करके औरों को ही काम करने की आज्ञा देता रहता है। २. तू अभिमान को तो जीतता ही है **यत्**=यह वह क्षण होता है जब तू **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अजयः** =जीत लेता है। काम, क्रोध, लोभ आदि सब स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को तू पराजित करनेवाला होता है।

भावार्थ—कर्मों में लगे रहने से मनुष्य आसुरवृत्तियों का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सोम तथा अमरता

सोमो राजामृतꣳसुतऽऋजीषेणाजहान्मृत्युम्।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार क्रियाशीलता के द्वारा वासनाओं से ऊपर उठ जाने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह **सोमः**=सोम **राजा**=(राजृ दीप्तौ) उसके जीवन को दीप्त करनेवाला होता है। २. **अमृतम्**=यह सोम अमृत है। यह अपने रक्षा करनेवाले की अमरता का कारण बनता है, उसे रोगों का शिकार नहीं होने देता। ३. **सुतः**=निष्पादित हुआ-हुआ यह सोम **ऋजीषेण**=(सरलभावेन—द०) जीवन में सरलता के मार्ग से चलने के द्वारा—सरलभाव को अपनाने के द्वारा **मृत्युम्**=मृत्यु को **अजहात्**=छोड़ता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष सरलवृत्तिवाला होता है और जीवन में व्यर्थ की चिन्ताओं से रहित होने के कारण वह कभी अकालमृत्यु का ग्रास नहीं होता। सोमरक्षा से जीवन सौम्य व शान्त होता है। शान्त व सरल पुरुष अवश्य पूर्ण आयुष्य प्राप्त करता है। २. **शुक्रं ऋतेन**=यह सोम मानव-जीवन में व्यवस्था (राजा) व नियमितता के द्वारा (ऋत) सत्य का वर्धन करनेवाला होता है, **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति का वर्धक होता है, **विपानम्**=यह उसकी विशेषरूप से रक्षा करनेवाला होता है। सत्य के वर्धन के द्वारा यह सोम मन को दीप्त करता है, इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन से इन्द्रियों को उज्ज्वल बनाता है, और शरीर की रोगों से विशेषरूप से रक्षा करके शरीर को तेजस्वी बनाता है। एवं, शरीर इन्द्रियों व मन को दीप्त करने के कारण इसका 'शुक्रं' यह नाम सार्थक ही है, (शुच दीप्तौ)। ३. **अन्धसः**=अन्न से, अध्यायनीय—अत्यन्त ध्यान देने योग्य सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=प्रत्येक अङ्ग की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। **इदम्**=यह उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्**=यह उसे रोगों द्वारा मृत्यु का शिकार नहीं होने देता। **मधु**=यह उसके जीवन को अत्यन्त मधुर बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा करनेवाला व्यक्ति सरल वृत्ति व स्वभाव का बनता है। इसके जीवन में व्यर्थ की चिन्ताएँ उत्पन्न नहीं होतीं, इसीलिए यह दीर्घजीवी बनता है। इसके जीवन में सत्य तथा माधुर्य होता है।

सूचना—'ऋतेन' का अर्थ 'यज्ञ से' भी है। यह सोम हममें यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके हमें सत्यवृत्तिवाला बनाता है, हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाता है। यज्ञ के अभाव में ही विलासमय जीवन बनकर शक्ति का ह्रास होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अङ्गिरसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

क्रुङ् (Swan) का क्षीरपान

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानःशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७३॥

१. **क्रुङ्**=क्रौञ्चपक्षी (Swan)—जैसे हंसजाति का यह क्रौञ्चपक्षी **अद्भ्यः**=जलों से **क्षीरम्**=दूध को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पी लेता है, उसी प्रकार **अंगिरसः**=अपने एक-एक अङ्ग को रसमय बनानेवाला विद्वान् **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों के द्वारा (धी=कर्म तथा प्रज्ञा) **अद्भ्यः क्षीरम्**=(आपो रेतो भूत्वा) जलों से उत्पन्न सारभूत सोम को (क्षि निवासगत्योः), शरीर में उत्तम निवास व गति, अर्थात् क्रियाशीलता के कारणभूत सोम को **व्यपिबत्**=अपने अन्दर ही पीने का प्रयत्न करता है। सोमरक्षा का सरलतम साधन प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहना ही है। अकर्मण्यता हमें ग़लत मार्ग की ओर ले-जाती है। इस अकर्मण्यता से हममें वासनाएँ जागती हैं और सोमपान सम्भव नहीं रहता। २. **ऋतेन**=यह सोम यज्ञ व नियमितता के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=हमारे सत्य को विकसित करता

है, इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ाता है और रोगों से रक्षा करता है। ३. यह **शुक्रम्**=हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=सब अङ्गों की शक्ति का वर्धक होता है। ५. **इदम्**=यह शुक्र (सोम) उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला **अमृतम्**=उसे अकाल में न मरने देनेवाला तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनानेवाला है।

भावार्थ—हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहने के द्वारा सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शुचिषत् हंस

सोममद्भ्यो व्यपिबच्छन्दसा हुꣳसः शुचिषत्।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽ इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७४॥

१. **शुचिषत्**=(पवित्रेषु विद्वत्सु सीदति— द०) पवित्र जीवनवाले विद्वानों के सम्पर्क में रहनेवाला, उन्हीं के सङ्ग में बैठने-उठनेवाला **हंसः**=(हन्ति पाप्मानम्) सत्सङ्ग द्वारा पापों को नष्ट करनेवाला यह 'शंख' (ऋषि) **अद्भ्यः**=(आपः प्राणाः) प्राणसाधना के द्वारा तथा **छन्दसा**=वेदज्ञान द्वारा, सतत अध्ययन की वृत्ति के द्वारा, जो वृत्ति उसे पापों से बचाती है (छादयति) उस स्वाध्याय की वृत्ति के द्वारा **सोमम्**=सोम को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता है। २. यह सोम **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता से **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=सत्य का वर्धन करता है, अङ्गों की शक्ति को बढ़ाता है, शरीर को विशेषरूप से रोगों से बचाता है। ३. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल व क्रियाशील (शुच् दीप्तौ, या शुक् गतौ) बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=सब अङ्गों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदं पयः**=यह आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्**=असमय में न मरने देनेवाला होता है तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सोम की रक्षा के लिए हम सत्सङ्ग के द्वारा आसुरवृत्ति को नष्ट करें। प्राणसाधना करें तथा ज्ञान की रुचिवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजापति का सोमपान

अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७५॥

१. **परिस्रुतः**=(सर्वतः स्रुतः पक्वात्—द०) सब प्रकार से परिपक्व **अन्नात्**=(यवादेः—द०) जौ आदि अन्नों से **सोमं रसम्**=उत्पन्न सारभूत इस सोमरस को—वीर्यशक्ति को **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा अथवा ब्रह्म के ध्यान के द्वारा **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पान करता है। स्वाध्याय व ब्रह्मध्यान सोमरक्षण में सहायक होते हैं। २. यह शरीर में ही पिया हुआ—व्याप्त किया हुआ सोम **क्षत्रम्**=सब क्षतों व घावों से बचानेवाला होता है, अथवा यह (क्षत्रं=बल) बल का देनेवाला होता है और **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=सत्य का वर्धन करता हैं, इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है और विशेषरूप से रोगों से रक्षा करता है।

४. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल (शुच् दीप्तौ) व क्रियाशील (शुक् गतौ) बनाता है। ५. **अन्धसः**=सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा की **इन्द्रियम्**=इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ानेवाला होता है **इदं पयः**=यह आप्यायन करता है, **अमृतम्**=यह असमय के रोगों से मरने नहीं देता और **मधु**=जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों का सेवन करता हुआ उत्पन्न सारभूत सोम का शरीर में पान करता है, तभी यह प्रजाओं को क्षतों से बचानेवाला व प्रजाओं का वर्धन करनेवाला होता है। **ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति**=ब्रह्मचर्य से ही राजा राष्ट्र की उत्तम रक्षा करता है।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

रेतः मूत्रं (प्रजापति की राष्ट्र को दो भेंटें)

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृतऽउल्बं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७६॥

१. गतमन्त्र में प्रजापति के सोमपान का उल्लेख है। यह प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह राजा इस सोमपान से शक्ति का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। यह **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति से युक्त राजा (इन्द्रियं=राजा—'जयदेव') **योनिं प्रविशत्**=अपने आश्रयभूत राष्ट्र में प्रवेश करता हुआ अथवा चुनाव द्वारा राजा को जन्म देनेवाली अतएव राजा की योनिभूत प्रजा में प्रवेश करता हुआ, उस प्रजा में **रेतः**=शक्ति को **विजहाति**=(विहायितम्=दान) भेंट के रूप में देता है—प्रजा में शक्ति का स्थापन करता है। इस शक्तिस्थापन के साथ **मूत्रम्**=(मूत्र-स्राव to go, to move) एक विशिष्ट गति को, क्रियाशीलता को प्रजा में स्थापित करता है। प्रजा राजाओं को चुनाव द्वारा जन्म देती है। एवं, प्रजा राजा की योनि हैं। चुना जाकर राजा प्रजा में प्रवेश करता है (योनि-प्रवेश) तो प्रजा को शक्ति व गति की भेंट देता है, अर्थात् राष्ट्र की व्यवस्था इस प्रकार करता है कि प्रजा की शक्ति बढ़े और प्रजा में क्रियाशीलता की भावना उत्पन्न हो। इस शक्ति व क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला राजा स्वयं शक्ति का पुञ्ज (इन्द्रिय) बनता है। २. यह राजा **गर्भः**=(गृह्णाति) प्रजा को वश करने में (ग्रहण करने में—उसपर अनुग्रह व निग्रह में) समर्थ होता है तथा प्रजा को अपने में धारण करनेवाला होता है। ३. यह राजा **जरायुणा**=(जारयति) शत्रु को क्षीण करनेवाले तथा राष्ट्र में पापों को जीर्ण करनेवाले बल से **आवृतः**=आच्छादित होता है, अर्थात् यह उस शक्ति को धारण करता है, जिसके द्वारा यह राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को समाप्त कर पाता है। ४. **जन्मना**=(जनी प्रादुर्भवे) राष्ट्र की शक्तियों के विकास के द्वारा यह **उल्वं**=(ऊर्णोतेः—नि० ६।३५) आवरणों को—प्रगति में आनेवाले बाधक विघ्नों को **जहाति**=दूर करता है (हा, Remove) अथवा **उल्बम्**=राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों (calamity) का निवारण करता है। ५. यह राजा सोम का पान करता है वह पीत सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यम् इन्द्रियम् विपानम्**=इसके अन्दर सत्य को बढ़ाता है, शक्तिवर्धक होता है और इसकी विशेषरूप से रक्षा करता है। ६. **शुक्रम्**=इसके जीवन को यह उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ७. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा का, इस राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला, **अमृतम्**=इसे रोगों से न मरने देनेवाला तथा **मधु**=इसके जीवन को मधुर बनानेवाला होता है।

भावार्थ—चुना जाने पर राष्ट्र के सिंहासन पर बैठता हुआ राजा प्रजा में शक्ति व गति का आधान करता है। प्रजा को वश में रखता हुआ यह शत्रुशोषक शक्ति से युक्त होता है। विकास के द्वारा राष्ट्र की उन्नति के आवरणों को दूर करता है। राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों से राष्ट्र को बचाता है।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—अतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

न्याय

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥७७॥

१. **प्रजापतिः**=गतमन्त्र के अनुसार राजा पहला कार्य यह करता है कि राष्ट्र को सबल व क्रियाशील बनाकर सुरक्षित करता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि राष्ट्र में विवाद करते हुए पुरुषों का वह उचित न्याय करता है। यह राजा **रूपे दृष्ट्वा**=दोनों पक्षों से निरूपण की गई बातों को सम्यक् देखकर उन बातों की प्रबलता व निर्बलता को तोलकर **सत्यानृते**=सत्य और अनृत को **व्याकरोत्**=पृथक्-पृथक् स्थापित करता है। 'यह पक्ष सत्य है' और 'यह पक्ष असत्य है' इस प्रकार दोनों का स्पष्ट विवेचन कर देता है। २. **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा प्रयत्न करता है कि वह प्रजा के अन्दर **अनृते अश्रद्धाम्**=अनृत में, झूठ में अश्रद्धा को, अनास्था व अरुचि को तथा **सत्ये श्रद्धाम्**=सत्य में श्रद्धा को **अदधात्**=स्थापित कर सके। चूँकि यह सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के विषय में अश्रद्धा ही प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा करनेवाली होती है। ३. यह राजा अपने इस सत्कार्य को इसीलिए कर पाता है कि सुरक्षित सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=इसे सत्यनिष्ठ, शक्तिशाली व रोगों से अनाक्रान्त बनाता है। **शुक्रम्**=यह सोम इसके जीवन को शुचि व (शुक् गतौ) क्रियाशील बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=राष्ट्र के शत्रुओं के विदारक राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः अमृतं मधु**=इसका आप्यायन करता है, इसे रोगों से मरने नहीं देता और इसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में सत्यासत्य का ठीक विवेचन करनेवाला होता है तथा प्रजा में सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के प्रति अश्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विधि-निषेध

वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥७८॥

१. **प्रजापतिः**=यह राजा **वेदेन**=(ईश्वरप्रकाशितेन वेदचतुष्टयेन—द०) वेद से, ईश्वर से दिये गये ज्ञान से **रूपे**=सत्य व अनृत के रूप को **व्यपिबत्**=विशेष रूप से ग्रहण करे। २. इस बात को सम्यक् समझे कि **सुतासुतौ**=(प्रेरिताप्रेरितौ—द०) किस बात की वेद में विधि व प्रेरणा है तथा किस बात का निषेध है, विधि-निषेधात्मक वेदवाक्यों से वह धर्माधर्म को सम्यक् जाने। स्वयं धर्माधर्म को जानता हुआ ही वह प्रजा में धर्म की स्थापना तथा अधर्म का नाश कर सकता है। ३. यह ज्ञान उसे तभी होता है जब शरीर में व्याप्त

किया हुआ सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति से **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=उसे सत्ययुक्त करता है, शक्तिशाली बनाता है और उसकी रोगों से रक्षा करता है। ४. **शुक्रम्**=यह सोम उसे उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः** =अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=इस ज्ञान व ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा का **इन्द्रियम्**=बल बनता है। **इदम्** =यह उसे **पयः अमृतं मधु**=आप्यायित करता है, नीरोग करता है तथा मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा सत्यासत्य के स्वरूप को ठीक समझनेवाला हो। वह वेद के विधि-निषेधात्मक वाक्यों से धर्माधर्म का ज्ञान प्राप्त करे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

परिपक्व अन्न का रस

दृष्ट्वा परिस्रुतो रसꣳशुक्रेण शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७९॥

१. गतमन्त्र में वेद से सत्यानृत के रूप को व विधि-निषेध को देखने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **प्रजापतिः**=राजा **दृष्ट्वा**=वेद के विधि-निषेध को देखकर, उसके अनुसार **परिस्रुतः**=परिपक्व अन्न से **रसम्**=रस को **व्यपिबत्**=पीता है, इसी परिपक्व अन्न के रस से उत्पन्न **शुक्रम्**=वीर्य को **शुक्रेण**=(शुच् दीप्तौ) उज्ज्वलता के हेतु से अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशीलता के उद्देश्य से **व्यपिबत्**=अपने शरीर में पीता है, अर्थात् उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। २. यह शरीर में सुरक्षित सोम **पयः**=उसका आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है तथा **सोमम्**=उसे सौम्य व शान्त बनानेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम्**=उसे सत्यवृत्तिवाला बनाता है **इन्द्रियम्**=उसकी एक-एक इन्द्रिय को शक्तिसम्पन्न करता है, **विपानम्**=उसका विशेषरूप से रक्षण करता है, उसे रोगों से बचाता है। ४. **शुक्रम्**=यह उसे दीप्त करता है, उसे क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। **इदम्**=यह **पयः**=उसका वर्धन करता है। **अमृतम्**=उसे रोगों से मरने नहीं देता, **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—परिपक्व अन्न के रसों से उत्पन्न वीर्य मनुष्य-शरीर में सुरक्षित होकर उसका आप्यायन करनेवाला होता है और उसे शान्त बनाता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कुटीर उद्योग (Cottage Industry)

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
अश्विना यज्ञꣳसविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्॥८०॥

१. गतमन्त्रों में राजा के राष्ट्र को सुरक्षित करने, उसमें न्याय-व्यवस्था को ठीक रखने का उल्लेख हो चुका है। प्रस्तुत मन्त्र में आर्थिक स्थिति का विचार करते हुए कहते हैं कि राष्ट्र में राजा 'कुटीर उद्योग' को प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। 'तन्त्रं' के यहाँ दो अर्थ अपेक्षित हैं-(क) परिवार का पालन (Supporting of a family) तथा (ख) Loom खड्डी (वस्त्र-निर्माणयन्त्र)। यहाँ खड्डी अन्य छोटे-छोटे यन्त्रों का भी प्रतीक है। २. राजा ऐसी व्यवस्था करता है कि **मनीषिणः**=विद्वान् पुरुष **मनसा**=विचारपूर्वक **सीसेन**=सीसे

आदि धातुओं से **तन्त्रम्**=छोटे-छोटे यन्त्रों को बनाते हैं, जिन यन्त्रों के द्वारा कार्य करते हुए वे मनीषी लोग इतना धन अवश्य कमा लेते हैं कि वे अपने परिवार का पालन कर सकें। ३. ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी लोग **ऊर्णासूत्रेण** =ऊन के सूत्रों से **वयन्ति**=आवश्यक वस्त्रादि बुनते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये विद्वान् स्वयं बुनते हैं, औरों से बुनवाते नहीं। इससे श्रम का महत्त्व बढ़ता है—दासप्रथा की हीनभावना उत्पन्न नहीं होती, धन की अत्यधिक विषमता भी नहीं होती। ४. इस प्रकार स्वयं अपने हाथ से कार्य करते हुए इन **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय, ज्ञानी पुरुषों के **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **अश्विना**=प्राणापान **सविता**=निर्माण की देवता तथा **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता **वयन्ति**=संहत करते है, बनाते हैं। प्राणापान इन्हें आलसी नहीं होने देते, सविता व निर्माण इन्हें आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी-अभाव का अनुभव नहीं कराता तथा सरस्वती इनके जीवन में उलझनों को नहीं आने देती। ५. **भिषज्यन्**=चिकित्सा करता हुआ **वरुणः**=वरुणदेव-द्वेषनिवारण **रूपम्**=इस इन्द्र के रूप को सुन्दर बनाता है। इसे रोगी नहीं होने देता और स्वास्थ्य व सौन्दर्य को प्राप्त कराता है। वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष की वृत्तियाँ ही रोगों को पैदा करके मनुष्य को अस्वस्थ करती हैं और उसके रूप को हर लेती हैं।

भावार्थ—१. राजा राष्ट्र में कुटीर उद्योग की इस प्रकार व्यवस्था करे कि लोगों के जीवन में आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न न हों। २. जीवनयज्ञ के उत्तम सञ्चालन के लिए प्राणापान की शक्ति का वर्धन हो, निर्माण की वृत्ति हो तथा विज्ञान की वृद्धि हो। ३. ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि के अभाव से सभी नीरोग व सुरूप हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यव, चावल, लाजा

तद॑स्य रू॒पम॒मृत॒ꣳशची॑भिस्ति॒स्रो द॑धुर्दे॒वताः॒ सꣳर॒रा॒णाः।
लोमा॑नि॒ शष्पै॒र्ब॑हु॒धा न तोक्म॑भि॒स्त्वग॑स्य मा॒ꣳसम॑भव॒न्न ला॒जाः॥८१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वरुण देवता, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष आदि का नितान्त अभाव मनुष्य को स्वास्थ्य का सौन्दर्य-उत्तम रूप प्राप्त कराता है। **अस्य**=इसका **तत् रूपम्**=वह स्वास्थ्यजनित सौन्दर्य **शचीभिः**=कर्मजनित शक्तियों व प्रज्ञानों से **अमृतम्**=न नष्ट होनेवाला होता है। ईर्ष्या से ऊपर उठकर यह प्रज्ञापूर्वक कार्यों में लगा रहता है। यह कर्मों में लगे रहना उसमें किसी प्रकार के हीनभाव उत्पन्न नहीं होने देता। २. **तिस्रः देवताः**=इसके जीवन में द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्ष का चन्द्र तथा पृथिवी की अग्नि, अध्यात्म दृष्टिकोण से मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयान्तरिक्ष का प्रसाद (प्रसन्नता) तथा शरीर की उष्णता शक्ति की गर्मी—ये तीनों देव **संरराणा**=सम्यक् रमण करते हुए **संदधुः**=उत्तम रूप की स्थापना करते हैं। ३. इसके जीवन में **शष्पैः**=घास भोजन से **लोमानि अभवन्**=शरीर में लोम उत्पन्न होते हैं। 'ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा—ऐतरेय'। ४. **न** और (अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं सर्वे नकाराश्चकारार्थाः) **बहुधा**=बहुत करके **तोक्मभिः**=(विशिष्टयवैः—म०) विशिष्ट रूप से उत्पन्न किये गये जौ से **अस्य त्वक्**=इसकी त्वचा का निर्माण होता है। जौ को उत्तम खाद्य व जल से उत्पन्न किया जाए और हमारे भोजनों में इन्हीं जौ का प्राचुर्य हो तो हमारी त्वचा ठीक रहेगी। ५. **न**=और **लाजाः**=भुने हुए चावल **अस्य मांसम् अभवन्**=इसके मांस हो गये। इसकी मांस-रचना चावलों का परिणाम है। संक्षेप में इनका भोजन शष्प, तोक्म व लाजा हैं। इनसे इसके लोम, त्वचा व मांस ठीक होते हैं, और वह स्वस्थ बना रहता है।

भावार्थ—प्रज्ञापूर्वक कर्मों से हमारे शरीर की कान्ति बनी रहती है। २. हमारे जीवन में सूर्य के समान ज्ञानज्योति हो, चन्द्र के समान मानस आह्लाद हो तथा अग्नि के समान शरीर में शक्ति की उष्णता हो। ३. शष्प, तोक्म व लाजा प्रयोग से हमारे लोम, त्वचा व मांस ठीक बने रहें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रुद्रवर्तनी अश्विनौ

तद॒श्विना॑ भि॒षजा॑ रु॒द्रव॑र्तनी॒ सर॑स्वती वयति॒ पेशो॒ऽअन्त॑रम्।
अस्थि॑ म॒ज्जानं॒ मास॑रैः कारोत॒रेण॒ दध॑तो॒ गवां॑ त्व॒चि॥८२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'शष्प, तोक्म व लाजा' इसके भोजन होते हैं, **तत्**=तब **रुद्रवर्तनी**=(रुद्रस्य वर्तनिरिव वर्तनिर्ययोः) रुद्र के समान मार्गवाले, (रोरुमयाणो द्रवति इति रुद्रः) रुद्र गर्जना करता हुआ शत्रुओं पर आक्रमण करता है, इसी प्रकार **अश्विना**=प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। ये गर्जते हुए प्रबलता से रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से इसके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **अन्तरम् पेशः**=अन्दर के सौन्दर्य (रूप) को **वयति**=सन्तत करती है। प्राणापान इसे स्वस्थ बनाकर बाह्य रूप को सुन्दर बनाते है, तो ज्ञान इसके मस्तिष्क को दीप्त करके इसके अन्तः सौन्दर्य को बढ़ाता है। ३. **मासरैः**=(मासेषु रमणैः) सब मासों में अर्थात् सदा रमण से, आनन्दमय मनोवृत्ति के धारण से **अस्थि मज्जानम्**=यह अस्थियों व मज्जा को **वयति**=सन्तत करता है, बढ़ाता है। वस्तुतः सदा ऋतु को अभिशाप देते रहने से और खिझते रहने से अस्थि व मज्जा शिथिल हो जाते हैं, और स्वास्थ्य एकदम गिर जाता है। २. **अश्विना**=प्राणापान ही **कारोतरेण**=(कारुः शिल्पिनि कारके, तरप्रत्यय) अत्यधिक कलापूर्ण ढंग से कार्यों के करने, **गवां त्वचि**=वेदवाणियों—ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में **दधतः**=इसे धारण करते हैं, अर्थात् यह प्राणापान की शक्ति के वर्धन से सूक्ष्म बुद्धि होकर सदा ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में रहना चाहता है।

भावार्थ—प्राणापान वैद्य हैं, ज्ञान से अन्तःसौन्दर्य प्राप्त होता है। सदा प्रसन्न रहने से अस्थि, मज्जा आदि ठीक रहते हैं। उत्तमता से कर्मों में लगे रहने से मनुष्य ज्ञान की रुचिवाला बनता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रसं ओषधीनाम्

सर॑स्वती॒ मन॑सा पेश॒लं वसु॒ नास॑त्याभ्यां वयति दर्शतं वपुः॑।
रसं॑ परि॒स्रुता॒ न रोहि॑तं न॒ग्नहुर्धीर॒स्तस॑रं॒ न वेम॑॥८३॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **मनसा**=मनन-संकल्प से तथा **नासत्याभ्याम्**=प्राणापानों के द्वारा **पेशलम्**=लचकीले, कोमल (Soft), सूखे काठ की भाँति न अकड़े हुए, **वसु**=निवास के योग्य, **दर्शनम्**=दर्शनीय, सुन्दर **वपुः**=शरीर को **वयति**=सन्तत करती है, बनाती है, अर्थात् 'ज्ञान, संकल्प तथा प्राणापान' शरीर को लचकीला, उत्तम व सुन्दर बनाते हैं। ज्ञान से ही हमारा आहार-विहार हितकर होगा और शरीर नीरोग रहेगा। विचारशीलता व संकल्प उत्साह को स्थिर रखते हैं और शरीर निवास के योग्य बना रहता है। प्राणापान शरीर को तेजस्वी व दर्शनीय बनाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न

से **रसम्**=रस को **वयति**=सन्तत करती है, अर्थात् ज्ञान से हम स्वास्थ्य के लिए हितकर अन्न-रसों का सेवन करनेवाले बनते हैं। यह रस **रोहितम्**=हमारी वृद्धि का कारण बनता है। ३. **न**=और **नग्नहुः**=(नग्नः अपि जुहोति) स्वयं नग्न रहता हुआ भी जो आहुति देता है, अर्थात् लोकहित के लिए यज्ञियवृत्तिवाला होता है—खूब दान देता है और **धीरः**=धैर्यशाली होता है **तसरम्**=(तस्यति उपक्षयति दुःखानि येन—द०) सब दुःखों व रोगों का क्षय करनेवाले **वेम**=(वी=प्रजनन) विकासवाले शरीर को **वयति**=सन्तत करता है, अर्थात् जो व्यक्ति यज्ञियवृत्ति के कारण भोगवाद में नहीं फँस जाता (नग्नहुः) और जीवन में शान्ति से चलता है (धीरः) वह शरीर को नीरोग (तसरं) तथा विकसित शक्तियोंवाला (वेम) बना पाता है।

भावार्थ—(क) हमें ज्ञानपूर्वक आहार-विहार करना चाहिए, (ख) विचारशील-उत्तम संकल्पवाला होना चाहिए, (ग) प्राणापान की शक्ति का वर्धन करना चाहिए, (घ) शरीर की उन्नति के लिए पक्वान्नों के रस का ग्रहण करना चाहिए तथा (ङ) त्यागवृत्तिवाला व धैर्यशील बनकर नीरोग व विकसित शरीरवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दुग्ध सेवन

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳसुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमानाऽऊवध्यं वातꣳसब्वं तदारात्॥८४॥

१. गतमन्त्र के ज्ञानी, मननशील, प्राणापान-शक्तिसम्पन्न लोग (सरस्वती, मनसा, नासात्याभ्यां) **पयसा**=दूध के द्वारा **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति को **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, जो शक्ति **अमृतम्**=उन्हें रोगों से मरने नहीं देती और **जनित्रम्**=उनके विकास का कारण बनती है। गतमन्त्र में अन्न के रस का उल्लेख था। वह 'अन्न-रस' उनकी शरीर की उन्नति का कारण (रोहित) होता है। प्रस्तुत मन्त्र में दूध का उल्लेख करते हैं। यह वीर्य को उत्पन्न करके उन्हें नीरोग व विकसित शक्तिवाला बनाता है। २. **सुरया**=(सुर to govern) आत्मनियन्त्रण के द्वारा तथा **मूत्रात्**=(मूत्र प्रस्रवणे, स्रु गतौ) गतिशीलता के द्वारा ज्ञानी लोग **रेतः**=शक्ति को **जनयन्त**=विकसित करते हैं। ३. इस प्रकार उत्तम खान-पान, आत्मनियन्त्रण व क्रियाशीलता से वे **अमतिम्**=बुद्धि के अभाव, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=औरों का घात-पात सोचनेवाली दुष्ट बुद्धि को, अर्थात् रजोगुण को अथवा तामसी व राजसी बुद्धि को **अपबाधमानाः**=अपने से दूर रखते हैं। ४. इसी उद्देश्य से जो **ऊवध्यम्**=आमाशयगत अन्न है, **वातम्**=नाड़ीगत अन्न है तथा **सब्वम्**=पक्वाशयगत अन्न है **तत्**=उसे **आरात्**=दूर और समीप करते हैं, अर्थात् उसके उपादेय अंश को शरीर में धारण करते हैं और हेयांश को शरीर से दूर करते हैं। प्राण के ठीक कार्य करने पर उपादेयांश शरीर का अङ्ग बन जाता है, और अपान के ठीक कार्य करने पर हेयांश शरीर से दूर होता रहता है।

भावार्थ—(क) दूध के प्रयोग से वीर्यशक्ति को उत्पन्न करें, (ख) आत्म-नियन्त्रण व गतिशीलता से उस शक्ति की रक्षा करें (ग) अमति व दुर्मित को अपने से दूर करें, (घ) आमाशय-नाड़ी (आन्त्र) व पक्वाशय में प्रविष्ट अन्न के उपादेयांश को अपने समीप रक्खें तथा मलरूप हेयांश को अपने से दूर करें, जिससे पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पूर्ण स्वास्थ्य (सुत्रामा इन्द्र)

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्॥८५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अन्न व दूध आदि भोज्य द्रव्यों के उपादेयांश को समीप तथा हेयांश को अपने से दूर रखनेवाला **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विदारण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **सुत्रामा**=उत्तमत्ता से अपना त्राण करता है, अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देता। २. शरीर को ही नीरोग बनाये, इतना ही नहीं, वह **हृदयेन सत्यम्**=हृदय से भी सत्य को ग्रहण करता है, अर्थात् मन में ईर्ष्यादि की अपवित्र भावनाओं को उत्पन्न नहीं होने देता। ३. हृदय को सत्य से शुद्ध व पवित्र बनाकर **पुरोडाशेन**=मस्तिष्क से (मस्तिष्को वै पुरुडाशः—तै०२।८।६) **सविता**=सदा निर्माण के कार्यों को करनेवाला **जजान**=बनता है, अर्थात् इसका मस्तिष्क कभी तोड़-फोड़ के कार्यों का विचार नहीं करता। गतमन्त्र के अनुसार अमति व दुर्मति का बाधन होने पर और सुमति का विकास होने पर मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है। ४. **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता **यकृत्**=इसके जिगर को **क्लोमानम्**=(The lungs, the bladder) फेफड़ों व मूत्राशय को तथा मसाने=गुर्दों को **भिषज्यन्**=नीरोग करता है, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष व मात्सर्य से ऊपर उठकर मनुष्य अपने जिगर आदि को ठीक रखता है। दूसरे शब्दों में, ईर्ष्या-द्वेषादि से ऐसे विष उत्पन्न होते हैं जिनसे जिगर आदि में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ४. न=और यह इन्द्र **वायव्यैः**=वायव्य पदार्थों से, वाततत्त्व-प्रधान पदार्थों के प्रयोग से **पित्तम्**=पित्त को **मिनाति**=कुछ न्यून (Diminish) करता है। पित्त के बढ़ जाने पर ही जिगर आदि के कष्टसाध्य विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं।

भावार्थ—(क) जितेन्द्रिय पुरुष शरीर को स्वस्थ्य, हृदय को सत्यमय तथा मस्तिष्क को निर्माणात्मक विचारोंवाला बनाता है, (ख) ईर्ष्यादि से ऊपर उठकर यह अपने यकृत्, क्लोम व मसानों को विकृत नहीं होने देता (ग) वायव्य पदार्थों के प्रयोग से पित्त को संयत रखता है।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—सविता। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता॥८६॥

१. गतमन्त्र के 'सुत्रामा इन्द्र' की **मधु**=मधुरगुणान्वित अन्न को **पिन्वमानाः**=सेवन करती हुई **अन्त्राणि**=(अन्नपाकाधारा नाड़ीः—द०) अन्न का परिपाक करनेवाली नाड़ियाँ **स्थालीः**=(यासु पच्यन्ते अन्नानि) उखा (पतीली) होती हैं। जैसे पतीली में अन्न का परिपाक करते हैं, इसी प्रकार इन नाड़ियों में अन्नपाचन क्रिया चलती है। २. **गुदाः**=मल को दूर करनेवाली इन्द्रियाँ ही **पात्राणि**=(पा रक्षणे) रक्षिका होती हैं। इन इन्द्रियों के ठीक कार्य करने पर ही शरीर का रक्षण निर्भर है। ३. **न**=और **धेनुः**=(गौर्नाडी धमनिः धेनुरित्यर्थान्तरम्) नाड़ियाँ व धमनियाँ **सुदुघा**=(दुह प्रपूरणे) उत्तमत्ता से प्रपूरण करनेवाली हैं। शरीर में उस-उस स्थान पर आवश्यक रुधिर को पहुँचानेवाली होती हैं। ४. **न**=और

प्लीहा=तिल्ली **श्येनस्य पत्रम्**=बाज़ के पंख के समान है। प्लीहा का आकार श्येन पंख-सा है। जैसे पंख श्येन की उड़ान का कारण होता है, उसी प्रकार प्लीहा अविकृत होने पर मनुष्य के उत्साह का कारण बनती है, विकृत होकर मनुष्य को उदासीन कर देती है। ५. **शचीभिः**=सब प्रज्ञाओं व कर्मों का अधिष्ठान होने से **नाभिः**=नाभि **आसन्दी**=राजपीठ के समान है, इसी नाभि में सब प्रज्ञान व कर्म सम्बद्ध हैं। ६. **न**=और **उदरम्**=उदर तो **माता**=सम्पूर्ण रुधिर आदि का निर्माण करनेवाला है ही।

भावार्थ–(क) जिस समय हमारी आँतें अन्न का ठीक परिपाक करेंगी, (ख) गुदा आदि इन्द्रियाँ मल के दूरीकरण से रक्षिका होंगी, (ग) धमनियाँ रुधिरादि का ठीक पूरण करेंगी (घ) प्लीहा अविकृत होकर हमारे उत्थान का कारण बनेगा, (ङ) नाभि सब शक्तियों व प्रज्ञानों का आधार बनेगी और (च) उदर रुधिरादि का निर्माण करेगा, तभी हम पूर्ण स्वस्थ बनेंगे।

ऋषिः–शङ्खः। देवता–पितरः। छन्दः–भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः–पञ्चमः॥

कुम्भ–कुम्भी

कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भोऽअन्तः।
प्लाशिर्व्यक्तः शतधारऽउत्सो दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः ॥८७॥

१. पति को कैसा बनना इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **कुम्भः**=(कं उभ्यते अस्मिन्) जल के परिणामभूत वीर्यकण (आपो रेतो भूत्वा) जिसके अन्दर पूरित होते हैं, वह 'कुम्भ' है । पति ने अपने इस शरीररूपी कलश को वीर्यादि धातुओं से परिपूर्ण बनाना है। (कलश इव वीर्यादिधातुभिः पूर्णः–द०) वीर्यादि से परिपूर्ण होने के कारण ही जो आनन्द से परिपूर्ण है, (क=आनन्द)। संक्षेप में, पति शक्तिशाली है और इसीलिए प्रसन्न मनोवृत्तिवाला है। २. **वनिष्ठुः**=(सम्भाजी–द०) यह सम विभागपूर्वक वस्तुओं का प्रयोग करता है, सारा स्वयं नहीं खा जाता। केवलादी नहीं बनता। ३. **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करने से **जनिता**=यह अपनी शक्ति का सदा प्रादुर्भाव करता है। ४. **अग्रे**=सृष्टि बनने से पूर्व यह संसार **यस्मिन्**=जिस प्रभु में था, **योन्यां गर्भः अन्तः**=उस कारणभूत ब्रह्म में यह गर्भरूप से निवास करता है। जैसे गर्भ माता में सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह सदा उस 'जगद्योनि' ब्रह्म में गर्भरूप से सुरक्षित रहता है। वहाँ रहता हुआ यह रोगों व पापों से आक्रान्त नहीं होता। ५. **प्लाशिः**=(प्रकृष्टम् अश्नाति) यह सदा उत्तम सात्त्विक भोजनों का करनेवाला होता है। **व्यक्तः**=इस सात्त्विक भोजन से ही इसका अन्तःकरण सात्त्विक बनकर इसके जीवन को उच्च बनाता है। ६. **शतधारः**=(शतशः धारा वाचो यस्य) यह अनन्त ज्ञान की वाणियोंवाला होता है। ७. **उत्सः**=(उन्दी क्लेदने) यह दया के जल से सदा क्लन्न व करुणार्द्र हृदयवाला होता है, अथवा यह ज्ञान का स्रोत बनता है जहाँ से सब लोग अपनी ज्ञान की प्यास बुझा पाते हैं। ८. अब पत्नी का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि **कुम्भी**=पत्नी भी शक्ति से परिपूर्ण शरीररूपी कलशवाली होती है और इसीलिए आनन्दमय हृदयवाली होती है। यहाँ प्रथम 'कुम्भ' शब्द के स्त्रीलिंग 'कुम्भी' शब्द के प्रयोग से अन्य गुणों का भी पत्नी में उसी प्रकार आवश्यक रूप से होने का संकेत हो गया है। ९. **न**=और इन गुणों के साथ यह 'पत्नी' **स्वधाम्**=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **पितृभ्यः**=अपने-अपने कर्त्तव्य भाग के पालन के द्वारा घर का रक्षण करनेवाले पितरों के लिए **दुहे**=पूरित करती है। घर में सभी को शरीरपोषक भोजन प्राप्त कराना, यह पत्नी का

विशिष्ट कर्त्तव्य है। इसके ठीक होने पर ही शरीर, मन व बुद्धि सबकी उन्नत्तियाँ निर्भर हैं।

भावार्थ—पति व पत्नी शक्तिशाली व प्रसन्न मनवाले हों। शरीरपोषक अन्न के सेवन से सब उन्नत्तियों को सिद्ध करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप

मुखꣳसदस्य शिरऽइत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी॥८८॥

१. **अस्य**=इस—गतमन्त्र के 'कुम्भ' का **मुखम्**=मुख **सत्**=उत्कृष्ट होता है। (सत् इति उत्तरनाम—नि० ३।२९)। २. **सतेन**=इस उत्कृष्ट मुख के साथ **इत्**=निश्चय से **शिरः**=मस्तिष्क होता है। जहाँ इसका मुख उत्कृष्ट होता है, वहाँ इसका मस्तिष्क भी ठीक होता है। ३. **जिह्वा पवित्रम्**=इसकी जिह्वा पवित्र होती है। **अश्विना पवित्रम्**=इसके प्राणापान इसे पवित्र बनानेवाले होते हैं। ४. 'मुख व मस्तिष्क की उत्कृष्टता' तथा 'जिह्वा व प्राणापान की पवित्रता' के कारण ही **आसन्** (आस्ये)=इसके मुख में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता का निवास होता है। ५. इस विद्या के कारण सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करने से **पायुः**=इसकी मलशोधक गुदा-इन्द्रिय **चप्पम्**=(चप सान्त्वने) इसको सान्त्वना व शान्ति प्राप्त करानेवाली है। मलशोधन ठीक हो जाने से शरीर व मन में शान्ति व प्रसन्नता का अनुभव होता है। ६. **अस्य**=इसके **बालः**=भिन्न-भिन्न शरीर-अङ्गों में उत्पन्न बाल **भिषक्**=इसके वैद्य होते हैं। ये उसे सर्दी-गर्मी से बचाने में सहायक होते हैं। मलों के चूसने में उपयुक्त होते हैं और इस प्रकार से रोगनिवारण करते हुए इसके वैद्य ही होते हैं। ७. **वस्तिः न शेपः**=मूत्रस्थान और मूत्रेन्द्रिय तो **हरसा**=मलहरण के द्वारा **तरस्वी**=इसको बलसम्पन्न बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—'कुम्भ' अर्थात् अपने अन्दर शक्ति व आनन्द का पूरण करनेवाले के सब अङ्ग सुन्दर होते हैं। मुख और सिर तो उत्कृष्ट होते ही हैं, इसकी जिह्वा व इसके प्राणापान पवित्र होते हैं। इसके मुख में सरस्वती का निवास होता है। इसकी मलशोधक इन्द्रियाँ भी मलशोधन के द्वारा इसे बलवान् बनाती हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रहन-सहन

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां छागेन तेजो हविषा शृतेन।
पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि पेशो न शुक्रमसितं वसाते॥८९॥

१. **ग्रहाभ्याम्**=(गृहीत इति ग्रहौ ताभ्याम्—द०) शुद्ध वायु के द्वारा शरीर में नीरोगता लानेवाले **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ इस कुम्भ (८७) के जीवन में **अमृतम् चक्षुः**=वह ज्ञान होता है, जो इसकी अमरता का कारण बनता है। यह ज्ञान ही इसे विषयों में फँसने से बचाता है, और इसे विषयासक्त हो मरने नहीं देता। २. इस नीरोगता व उत्तम ज्ञान के लिए ही **छागेन**=(छागादिदुग्धेन—द०) बकरी के दूध के सेवन से यह **तेजः**=तेजस्विता को प्राप्त करता है। (छाग का अर्थ बकरी का दूध भी है)। ३. इसी तेजस्विता को वह **शृतेन**=ठीक प्रकार से परिपक्व **हविषा**=दान देकर बचे हुए हव्य पदार्थों के सेवन से प्राप्त करता है। ४. **गोधूमैः**=गेहूँ आदि अन्नों से **पक्ष्माणि**=(पक्ष परिग्रहे) यह बलों व उत्तमताओं

का परिग्रह करता है। ५. **कुवलैः**=(सुशब्दैः—द०, कु शब्दे वल=Well=वर) उत्तम शब्दों के साथ **उतानि**=बुने गये वस्त्रों को यह धारण करता है, अर्थात् केवल सुन्दर कपड़े नहीं पहनता शब्द भी सुन्दर ही बोलता है। गोधूम आदि अन्नों को ही नहीं खाता रहता, उत्तम शक्तियों व गुणों का भी ग्रहण करता है। ६. **न**=और **शुक्रम्**=वीर्य **पेशः**=इसको रूप देनेवाला होता है, अर्थात् शक्ति के कारण यह रोगों का शिकार नहीं होता और परिणामतः इसका शरीर स्वास्थ्य के सौन्दर्य से चमकता है। ७. स्वस्थ बने रहने के लिए ही मन्त्र ८७ के कुम्भ और कुम्भी **असितम्**=(षिञ् बन्धने अबद्धम्=not very tight) न बहुत सटे हुए कपड़े **वसाते**=पहनते हैं। ये कसे हुए कपड़े न पहनकर ढीले ही कपड़े पहनते हैं। कसे हुए कपड़े रुधिराभिसरण अवरोध पैदा करके स्वास्थ्य के लिए विघातक होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि प्राणशक्ति के साथ ज्ञान का भी वर्धन करे। बकरी के दूध तथा ठीक पके हव्य पदार्थों के सेवन से तेजस्वी बनें। अन्न के ग्रहण के साथ गुणों को भी ग्रहण करे। सुन्दर वस्त्रों के साथ शब्द भी सुन्दर बोले। इसकी शक्ति इसे स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त कराये। कपड़े बहुत तंग न पहने।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

परमगति

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्थाऽअमृतो ग्रहाभ्याम्।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥९०॥

१. उत्तम रहन-सहनवाला व्यक्ति **अविः**=(योऽवति रक्षति) शरीर व मानस मलों से अपनी रक्षा करता है। अपने को उन मलों से आक्रान्त नहीं होने देता। २. **न**=और **मेषः**=(मिषति स्पर्धते) उत्तम गुणों के उपार्जन में स्पर्धावाला होता है। ३. इसके **नसि**=नासिका में **प्राणस्य पन्थाः**=प्राण का मार्ग **अमृतः**=कभी नष्ट नहीं होता, अर्थात् यह प्रयत्न करता है कि यह सदा श्वास व प्रश्वास नासिका से ही ले। यह 'नासिका से श्वास लेना' **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु व नीरोगता के ग्रहण से **वीर्याय**=इसको वीर्यसम्पन्न बनाने के लिए हो। इसके जीवन में **उपवाकैः**=आचार्य के समीप बैठकर, (उप) आचार्य से सुने ज्ञान के उच्चारणों से (वाकैः) **सरस्वती**=ज्ञान **जजान**=उत्पन्न होता है ('प्रत्याश्रावः' आचार्य से सुनाये हुए को सुनानेवाला 'अनुरूपः' आचार्य के समान ही ज्ञानी बनता है)। ५. **बदरैः**=(बद स्थैर्ये) स्थिरताओं से **व्यानम् नस्यानि बर्हिः**=व्यानवायु, प्राणापान तथा वासनाशून्य हृदय **जजान** उत्पन्न होता है। (क) इन्द्रियों की स्थिरता से 'व्यान' उत्पन्न होता है। सारे शरीर में व्याप्त होकर सम्पूर्ण नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाली यह व्यानवायु ही है, इसके लिए जितेन्द्रिय बनकर इन्द्रियों की स्थिरता का सम्पादन आवश्यक है अन्यथा नाड़ी-संस्थान के भ्रंश की आशंका बनी रहती है, (ख) मन की स्थिरता नस्यानि=प्राणापान के विकास के लिए आवश्यक है। मनोनिरोध व प्राणनिरोध अत्यन्त सम्बद्ध हैं, (ग) बुद्धि की स्थिरता से वासना-शून्य हृदय का (बर्हिः) विकास होता है एवं, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की स्थिरता में 'व्यान, नस्य व बर्हि' आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अपना रक्षण करें। उत्तमत्ता में स्पर्धावाले हों। सदा नासिका से श्वास लेते हुए शक्ति का वर्धन करें। आचार्य से उक्त का अनुवाद करते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ तथा इन्द्रियों, मन व बुद्धि की स्थिरता से नाड़ी-संस्थान को ठीक रक्खें, प्राणापान का वर्धन करें तथा हृदय को वासनाशून्य बनाएँ।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जितेन्द्रिय कौन?

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याꣳश्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम्।
यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात्॥९१॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=स्वरूप यह है कि वह **बलाय**=बल के सम्पादन व स्थिरता के लिए **ऋषभः**=(ऋष् गतौ) सदा गतिशील होता है। यह अपने छोटे-छोटे कार्यों के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता, परिणामतः सबल बना रहता है। २. **कर्णाभ्याम्**=कानों से यह सदा **श्रोत्रम्**=ज्ञान की वाणियों का श्रवण करनेवाला होता है। ३. **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु का ग्रहण करनेवाले प्राणापानों से **अमृतम्**=यह अमर बनता है, रोगों से मरियल शरीरवाला नहीं होता। ४. **न**=और **यवाः**=जौ आदि धानों का प्रयोग **बर्हिः**=इसके हृदय को वासनाशून्य बनाता है। 'जैसा अन्न वैसा मन' इस उक्ति के अनुसार सात्त्विक अन्न के प्रयोग से यह सात्त्विक मनवाला होता है। ५. **भ्रुवि**=इसकी भ्रुवों पर (Brows) **केसराणि**=(विज्ञानानि) विज्ञान झलकते हैं, इसकी त्यौरी कभी चढ़ी नहीं होती, अतः इसकी भ्रुवें क्रोध को प्रकट नहीं करतीं। इसकी भ्रुवों से इसके मन का प्रसाद प्रकट होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह **के**=आनन्द में **सर**=विचर रहा है, ज्ञानप्रधान इसका जीवन है। ६. इसके **मुखात्**=मुख से **कर्कन्धु**=(कर्क=fire अग्नि, कर्कं दधाति) अग्नि को धारण करनेवाला, अर्थात् अत्यन्त उत्साहपूर्ण, **सारघम्**=(सारं हन्ति=प्राप्नोति) सारयुक्त तथा **मधु**=अत्यन्त मधुर वचन **जज्ञे**=प्रकट होता है, वह मुख से कभी निराशा के प्रतिपादक वचनों को नहीं बोलता, इसके वचन 'मितं च सारं च' परिमित व सारभूत होते हैं। यह अत्यन्त मधुर वचनों को ही बोलता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष—(क) क्रिया के द्वारा शक्तिशाली होता है, (ख) कानों से सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता है, (ग) प्राणापान के द्वारा शुद्ध वायु के ग्रहण से नीरोग बनता है, (घ) जौ आदि सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से इसका हृदय वासनाशून्य होता है, (ङ) इसका मन इसके मनःप्रसाद को प्रकट करता है और (च) यह उत्साहमय सारभूत मधुर शब्दों को बोलता है।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—आत्मा। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

उपासक का जीवन 'अस्तेयः, अपरिग्रह-अहिंसा'

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम।
केशा न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिꣳहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि॥९२॥

१. **न**=और **आत्मन् उपस्थे**=उस आत्मा के समीप स्थित होने पर, अर्थात् परमात्मा की उपासना के सिद्ध होने पर **वृकस्य**=(वृक robbery=स्तेय) मन के अन्दर रहनेवाले स्तेय का, चोरी की भावना का, बिना परिश्रम के धन की प्राप्ति की इच्छा का **लोम**=छेदन हो जाता है, प्रभु का उपासक कभी भी स्तेय की ओर नहीं झुकता, यह 'अस्तेय' धर्म का पूर्ण पालन करने का प्रयत्न करता है। २. **न**=और इसके **मुखे**=मुख पर **श्मश्रूणि**=दाढ़ी-मूँछ के बाल प्रकट होकर इसके यौवन में कदम रखने की सूचना देते हैं, परन्तु प्रभु की उपासना से इसमें **व्याघ्रलोम**=(व्याजिघ्रति) समन्तात् विषयों को सूँघने की वृत्ति का छेदन हो जाता है। यह विषयासक्त होकर विषयों के परिग्रह में ही नहीं लगा रहता, अपितु इसके विपरीत

वह 'अपरिग्रह' धर्मवाला होता है। यौवन में भी यह विषयासक्त नहीं होता। ३. **न**=और **शीर्षन्**=मस्तिष्क में **केशाः**=ज्ञान की रश्मियाँ (a ray of light) इसके **यशसे**=यश के लिए होती हैं और **श्रियै**=इसकी श्री के लिए होती हैं। मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञानरश्मियाँ इसके जीवन को यश-सम्पन्न व श्रीसम्पन्न बनाती हैं। ४. **शिखा**=यह ज्ञानाग्नि (ray of light) की ज्वाला इसकी **सिंहस्य**=हिंसावृत्ति का **लोम**=छेदन करनेवाली होती है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण यह अधिक-से-अधिक अहिंसक होता है। ५. **त्विषिः**=इसके चेहरे पर दीप्ति होती है। उपासक स्वास्थ्य व मनःप्रसाद के कारण तेजस्वी प्रतीत होता है। ६. **इन्द्रियाणि**=इसमें प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति अत्यन्त वृद्ध होती है।

भावार्थ—उपासक अस्तेय धर्म का पालन करता है। भरपूर युवावस्था में भी विषयों का परिग्रही नहीं बनता। ज्ञान के कारण यशस्वी व श्रीसम्पन्न कार्यों को ही करता है। इसका ज्ञान इसे अहिंसक बनाता है। यह दीप्त होता है, वीर्यसम्पन्न अङ्गोंवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शतमानम् आयुः 'प्रसाद-प्रकाश-प्रभाव'

अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती।
इन्द्रस्य रूपꣳशतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः॥९३॥

१. उपासक के, जितेन्द्रिय पुरुष के, **अङ्गानि**=अङ्ग **आत्मन्**=सदा आत्मा में होते हैं, अर्थात् यह सब अङ्गों से उन-उन क्रियाओं को करता हुआ परमात्मा को भूलता नहीं। २. **तत् अश्विना**=प्राणापान **भिषजा** =इसके वैद्य होते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के कारण यह नीरोग बना रहता है। ३. **सरस्वती** =ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता, अर्थात् ज्ञानी बनकर यह **अङ्गैः**=योगाङ्गों के द्वारा **आत्मानम्**=उस परमात्मा को **समधात्**=सम्यक् धारण करता है, स्वाध्याय करता है और इस स्वाध्यायरूप क्रियायोग से यह अपने को परमात्मा से जोड़ने का प्रयत्न करता है। ४. **इन्द्रस्य**=इस प्रकार इस जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=रूप यह होता है कि यह (क) **शतमानम् आयुः**=सौ वर्ष से मपी आयु को प्राप्त करता है। (ख) **चन्द्रेण ज्योतिः**=मानस आह्लाद के साथ ज्ञान की ज्योतिवाला होता है और (ग) ये उपासक **अमृतं दधानाः**=विषयों के पीछे न मरने की वृत्ति को तथा नीरोगता व अमरता को धारण करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपने अङ्गों को आत्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करता है, प्राणापान-शक्ति की वृद्धि से नीरोग होता है, ज्ञान व योगाङ्गों से प्रभु से मेल करता है, सौ वर्ष तक जीता है, प्रसन्न रहता है, ज्योतिर्मय व विषयों के पीछे न मरनेवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

कर्मों में रस व उसका लाभ

सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति।
अपाꣳरसेन वरुणो न साम्नेन्द्रꣳश्रियै जनयन्नप्सु राजा॥९४॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान को प्राप्त विदुषी स्त्री घर के सब कार्यों को करती हुई **योन्याम्**=सृष्टि के मूलकारण परमात्मा के **अन्तः गर्भम्**=अन्दर गर्भरूप में रहती है। जैसे एक बालक माता में गर्भरूप से रहता हुआ सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह परमात्मा में निवास करती हुई वासनाओं से अपने को बचा पाती है। २. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के हेतु से, अर्थात् घर के सब सभ्यों की प्राणापानशक्ति की वृद्धि के लिए यह **पत्नी**=गृहपत्नी **सुकृतम्**=उत्तमता

से संस्कृत किये हुए अन्न का **बिभर्ति**=भरण करती है। सबको उत्तम पथ्य भोजन देकर सबके स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखती है। ३. **न**=और **अपां रसेन**=कर्मों के अन्दर रस को अनुभव करने से **वरुणः**=घर का प्रत्येक व्यक्ति दोष का निवारण करनेवाला बनता है। खाली बैठे आलसी व्यक्तियों को ही ईर्ष्या-द्वेष की बातें सूझती हैं। ४. कर्म में लगे रहने से यह ईर्ष्या-द्वेष में नहीं फँसता और **साम्ना**=शान्ति से अथवा उपासना से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **श्रियै**=अपने में 'श्री' की वृद्धि के लिए **जनयन्**=आविर्भूत करता है। प्रभु के ध्यान के द्वारा अन्तःस्थित प्रभु के दर्शन करता है, यह प्रभुदर्शन इसकी शोभा को बढ़ाता है। ५. और यह प्रभु के तेज के अंश से चमकता हुआ व्यक्ति **अप्सु राजा**=(क) अपने कर्मों में बड़ा व्यवस्थित (regular) होता है। (ख) अथवा अपने कर्मों से चमक उठता है (राज्=दीप्ति)। इसके कर्म सामान्य व्यक्तियों के कर्मों की अपेक्षया असाधारणता लिये हुए होते हैं, इसीलिए वह (ग) **अप्सु**=प्रजाओं में **राजा**=राजा बन जाता है।

भावार्थ—१. गृहिणी को चाहिए कि गृहकार्यों को करती हुई प्रभु में निवास करे। २. सब गृहसभ्यों के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न को सिद्ध करके प्राप्त कराए। ३. कर्मों में लगे रहने से ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर रहे। ४. शान्ति व उपासना से प्रभु के तेजोंऽश को अपने में धारण करे। ५. व्यवस्थित कर्मों से चमक उठे और प्रजाओं में राजा बनने के योग्य हो।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अमृत-सोम-इन्दु

तेजः पशूनाᳬहविरिन्द्रियावत् परिस्रुता पयसा सारघं मधु।
अश्विभ्यां दुग्धं भिषजा सरस्वत्या सुतासुताभ्याममृतः सोमऽइन्दुः ॥९५॥

१. **पशूनाम्**=पशुओं के **तेजः**=तेजस्विता के कारणभूत दूध को मैं ग्रहण करूँ। वेद में अन्यन्त्र 'पयः पशूनाम्' ही पाठ है, अतः यहाँ **तेजः** व **पयः** में कार्यकारणभाव होने से पयः के स्थान में तेजः का प्रयोग किया गया है। २. **हविः**=दानपूर्वक किया हुआ सात्त्विक भोजन, यज्ञशेषरूप पथ्य, **इन्द्रियावत्**=हमारे बल को (इन्द्रियं वीर्यम्) बढ़ानेवाला हो। ३. **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न के साथ तथा **पयसा**=दूध के साथ **सारघं मधु**=मैं मधुमक्षिकाओं से निर्मित शहद का ग्रहण करूँ। ४. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की शक्ति के लिए **दुग्धम्**=मैं दुग्ध (दूध) को स्वीकार करूँ। ५. इस प्राणापानरूप **भिषजा**=वैद्यों से **अमृतः**=मैं अमृत बनूँ, कभी रोगों का शिकार न होऊँ। ६. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से, अर्थात् अत्युत्तम ज्ञान से मैं **सोमः**=सौम्य बनूँ। ज्ञान का परिणाम तो है ही 'विनय'। यदि मैं विनीत न रहकर अभिमानी हो जाऊँगा तो मेरा सारा उत्थान समाप्त हो जाएगा। ७. **सुतासुताभ्याम्**=सुत व असुतों के द्वारा बड़े परिश्रम से भूमि में पैदा किये गये—उत्तम सात्त्विक अन्नों के द्वारा (परिसुता) तथा असुत, अर्थात् गौ आदि के दूध के द्वारा यह **इन्दुः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला बनता है अथवा शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—पशुओं का दूध, यज्ञशेष अन्न व शहद के प्रयोग से मैं अमर=नीरोग बनूँ। बुद्धि की तीव्रता से ज्ञानी बनकर (विनीत बनूँ)। ठीक अन्नों का प्रयोग मुझे शक्तिशाली बनाये। यह 'अमृत-सोम-इन्दु' ही राजा बनने के योग्य हैं। इस राजा के वर्णन से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है।

॥ इत्येकोनविंशोऽध्यायः॥

अथ विंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सभेशः। छन्दः—द्विपदाविराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

शक्ति का केन्द्र

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः॥१॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों में 'अमृत, सोम व इन्दु' बनने का उल्लेख था। उससे पहले ९४वें मन्त्र के अन्तिम शब्द 'अप्सु राजा' थे, प्रजाओं में यह राजा बनता है। इसी राजा का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं कि **क्षत्रस्य**=क्षतों से, घावों से त्राण करनेवाली शक्ति का तू **योनि असिः**=उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् तू अपने में उस शक्ति को उत्पन्न करता है जो शक्ति प्रजा को हानि से बचाती है। २. **क्षत्रस्य**=सम्पूर्ण बल का **नाभिः असि**=तू अपने में बन्धन करनेवाला है (नह बन्धने)। तू अपने में शक्ति का बन्धन करते हुए शक्ति का केन्द्र बनता है। ३. शक्ति का केन्द्र बनने के कारण ही **त्वा**=तुझे **मा हिंसीत्**=कोई भी रोग हिंसित करनेवाला न हो। यह वीर्य का संयम तुझे सब रोगों से बचानेवाला हो। ४. तू **मा**=मुझे **मा हिंसीः** =नष्ट मत कर। प्रभु मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' से कहते हैं कि तू मेरा भी विस्मरण न होने दे, अर्थात् प्रजापति को चाहिए कि वह 'प्रभु का ध्यान' अवश्य करे ताकि उसे शक्ति व ऐश्वर्य आदि के कारण अभिमान न हो जाए और न ही वह विषय-प्रवण बन जाए। यह अपनी रक्षा करनेवाला व्यक्ति प्रजा की ठीक प्रकार से रक्षा कर पाता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता है।

भावार्थ—हम बल के उत्पत्ति-स्थान व बल का केन्द्र बनने का प्रयत्न करें। यह बल का केन्द्र बनना हमें रोगों में फँसने से बचाए। इसी उद्देश्य से हम प्रभु का सदा स्मरण करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सभेशः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

धृत-व्रत

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि॥२॥

१. गतमन्त्र का 'क्षत्र का केन्द्र' बननेवाला व्यक्ति **निषसाद**=निश्चय से व नम्रता के साथ सिंहासन पर बैठता है। २. **धृतव्रतः**=यह व्रत का धारण करता है। 'प्रजारक्षण' ही इसका मुख्य व्रत होता है। प्रजारक्षण के लिए यह बाह्य शत्रुओं से बदला लेता है और अन्तःशत्रुओं को उचित दण्ड द्वारा सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। ३. **वरुणः**=(क) यह प्रजाओं के द्वारा चुना जाता है। प्रजा ने रक्षण के लिए ही इसे चुना है, (ख) यह अपने को अपने कार्य में समर्थ होने के लिए श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करता है। **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'**, (ग) यह प्रजाओं में द्वेषादि की वृत्तियों के निवारण का प्रयत्न करता है। **'वारयति इति वरुणः'**। ४. इसी उद्देश्य से यह **आ**=समन्तात् चारों ओर **पस्त्यासु**=प्रजाओं

में विचरण करता है। प्रजाओं में सदा भ्रमण करनेवाला राजा ही प्रजा का ठीक से रक्षण कर पाता है। ५. यह प्रजाओं में भ्रमण करनेवाला राजा ही **साम्राज्याय**=सम्यक् शासन के लिए होता है। उत्तमता से शासन के लिए राज्य में सर्वत्र भ्रमण करके स्वयं सब-कुछ देखना आवश्यक है। ६. यह राजा **सुक्रतुः**=उत्तम कर्म व प्रज्ञावाला होता है। ७. इस राजा को आदेश देते हैं कि **मृत्योः पाहि** =तू प्रजाओं को मृत्यु से बचा। सफाई के उत्तम प्रबन्ध से तथा खान-पान की वस्तुओं की ठीक व्यवस्था से तू रोगों को न फैलने दे। ८. केवल रोगों से ही नहीं **विद्योत् पाहि**=(विद्युत्पाताद्रक्ष) विद्युत्पात आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी तू राष्ट्र की रक्षा करनेवाला हो। वस्तुतः यदि वैयक्तिक पापों से आध्यात्मिक कष्ट होते हैं तो सामाजिक पापों से आधिभौतिक कष्ट आया करते हैं और राजा के अपराध अथवा राष्ट्रीय अपराध आधिदैविक आपत्तियों के कारण बनते हैं, अतः राजा ने राष्ट्र में उत्तम व्यवस्था के द्वारा राष्ट्र की आधिदैविक आपत्तियों से रक्षा करनी है।

भावार्थ—प्रजारक्षण के व्रत को लेकर राजा गद्दी पर बैठे। वह प्रज्ञापूर्वक कर्म करनेवाला हो। राष्ट्र को रोगों से होनेवाली मृत्यु से बचाए तथा विद्युत्पतन आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी बचाए।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

अभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन
वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि ॥३॥

१. **सवितुः**=सबके उत्पादक व प्रेरक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **त्वा अभिषिञ्चामि**=तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तूने वेद में दिये गये प्रभु के आदेश के अनुसार शासन करना है। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न के हेतु से मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तू अपने प्रयत्न से कमाकर खानेवाला है। तेरी यह विशेषता भी तुझे इस शासनाधिकार के योग्य बनाती है। तू कोश को प्रजा के लिए धेनु='दूध पिलानेवाली' समझता है तो अपने लिए उस कोश को तू **'वशा'**=बन्ध्या गौ के समान समझता है। तू किसी प्रकार के विषयभोगों के लिए उस कोश का विनियोग नहीं करता। यह बात भी तुझे अभिषेक के योग्य बनाती है। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से भी मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, क्योंकि तू किसी भी वस्तु का उतना ही ग्रहण करता है जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो। ४. **अभिषिञ्चामि** =मैं तेरा अभिषेक इसलिए करता हूँ कि **अश्विनोः**=प्राणापान की **भैषज्येन**=चिकित्सा के द्वारा **तेजसे**=तेरे शरीर में नीरोगता के कारण तेजस्विता का प्रादुर्भाव हुआ है तथा **ब्रह्मवर्चसाय**=तेरे स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क के कारण ज्ञानाध्ययन की सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ है। तू शरीर से तेजस्वी है तो मस्तिष्क से ब्रह्मवर्चस्वी बना है। ५. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा अभिषेक करता हूँ चूँकि **सरस्वत्यै भैषज्येन**=सरस्वती—विद्याधिदेवता' के चिकित्सन के द्वारा **वीर्याय**=तू शक्तिसम्पन्न बना है तथा **अन्नाद्याय**=तुझमें अन्न के खाने की शक्ति ठीक बनी है। तू मन्दाग्नि नहीं हो गया है। ज्ञान को विलासवृत्ति नष्ट करती है और इसके विनाश से इसकी शक्ति ठीक बनी रहती है। आहार-विहार के ठीक होने से यह मन्दाग्नि नहीं हो जाता। मन्दाग्नि पुरुष कभी

भी शासन के लिए उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह पग-पग पर खिझने की वृत्तिवाला होता है। ६. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा इसलिए अभिषेक करता हूँ कि तू **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्र की इन्द्रियों के द्वारा, अर्थात् स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा **बलाय**= बलसम्पन्नता के लिए समर्थ हुआ है, **श्रियै**=तेरा प्रत्येक कार्य शोभासम्पन्न है तथा **यशसे**=तू अपने कार्यों के साफल्य से यशःसम्पन्न बना है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**=जितेन्द्रिय राजा ही तो प्रजाओं को वश में स्थापित करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—अभिषेक के योग्य राजा वह है जो—(क) परमेश्वर की अनुज्ञा में चलता है, (ख) अपने प्राणापान के प्रयत्न से अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करता है, (ग) पोषण से अधिक वस्तु का ग्रहण नहीं करता, (घ) प्राणापान के शक्तिवर्धन से तेजस्वी व ब्रह्मवर्चस्वी बना है, (ङ) ज्ञान से अपने को पवित्र करके वीर्यसम्पन्न तथा प्रज्वलित जाठराग्निवाला हुआ है, (च) इन्द्रियों को अपने अधीन रखके तू 'बल, श्री व यशः' सम्पन्न बना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सुश्लोक-सुमंगल-सत्यराजन्

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्॥४॥

१. हे राजन्! तू **कः असि**=सुखस्वरूप है, चिड़चिड़े स्वभाव का नहीं। सदा प्रसन्न रहता है **'स्मितपूर्वाभिमाषी'** है। २. **कतमः असि**=सुखस्वरूप होने से तू प्रजा के लिए भी अतिशयेन सुखकारी है। प्रजा को अधिक-से-अधिक सुखी करने का प्रयत्न करता है। ३. **कस्मै त्वा**=इस सुखस्वरूपता के लिए ही तुझे (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूँ। ४. **काय त्वा**=प्रजा के रक्षण के द्वारा प्रजा को सुखी करने के लिए मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। ५. इन अपने स्वभाविक कार्यों के कारण तू **सुश्लोक**=उत्तम यशवाला हुआ है। सारी प्रजाएँ तेरे गुणों का कीर्तन करती हैं। ६. **सुमङ्गल**=तू प्रजाओं का उत्तम मङ्गल करनेवाला है और ७. **सत्यराजन्**=तू सत्य से सदा चमकनेवाला है तथा सत्य से ही शासन करनेवाला है।

भावार्थ—राजा स्वयं प्रसन्नता के स्वभाववाला हो, प्रजा को प्रसन्न करनेवाला हो। इसी कारण उसका अभिषेक किया गया है। वह उत्तम शासन के कारण यशस्वी बने, प्रजा का मङ्गल करे और सत्य से चमक उठे, सत्य से ही सबका शासन करे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रत-धारण

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणोऽअमृतंꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥५॥

१. अभिषिक्त राजा उपस्थित प्रजाजन को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि मैं प्रयत्न करूँगा कि **मे शिरः**=मेरा मस्तिष्क **श्रीः**=सदा 'श्रीसम्पन्न हो, उसमें सदा उत्तम विचारों को ही स्थान मिले। २. **मुखं यशः**=मेरा मुख यशस्वी हो, अर्थात् मेरे मुख से किसी प्रकार के अशुभ शब्दों का उच्चारण न हो। ३. **श्मश्रूणि**=(श्मनि श्रितम्) शरीर में आश्रित 'इन्द्रियाँ-मन व बुद्धि' ये सब **त्विषिः**=दीप्ति के पुञ्ज हों **च**=और **केशाः**=ज्ञान की रश्मियों से युक्त हों। ये सब अपने-अपने कार्य को करने में समर्थ होकर चमकें। ये सब

ज्ञान की किरणों से दीप्त हों। ४. **मे प्राणः**=मेरी प्राणशक्ति **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाली हो (राजृ दीप्तौ) तथा यह मेरे जीवन को बड़ा व्यवस्थित बनाए। साथ ही यह प्राणशक्ति **अमृतम्**=मुझे रोगों से मरने न दे। मुझे नीरोग बनाकर पूर्ण शतमान आयुवाला बनाए। ५. **चक्षुः**=मेरी आँख **सम्राट्**=सम्यक् प्रकाशमान हो। मानस स्वास्थ्य के कारण मेरी आँख में नैर्मल्य की चमक हो। ६. **श्रोत्रम्**=मेरा कान, वेदज्ञान को श्रवण करने के कारण, **विराट्**=विशिष्ट रूप से शोभायमान हो। आचार्य दयानन्द के शब्दों में यह विविध शास्त्र श्रवणयुक्त हो और इसीलिए यह **विराट्**=चमकनेवाला हो।

भावार्थ—राजा के व्रत हैं—(क) मैं मस्तिष्क में पवित्र विचारों को धारण करूँगा, (ख) मेरा मुख यशस्वी शब्दोंवाला हो, (ग) मेरी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब-के-सब दीप्त व ज्ञान की रश्मियोंवाले हों, (घ) प्राण मेरी दीप्ति व अमरता का कारण हो, (ङ) चक्षु सम्राट् हो और (च) कान विराट् हो—ऐसा मैं प्रयत्न करूँगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

राजा की इन्द्रियाँ

जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदाऽअङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥६॥

१. **मे जिह्वा**=(जुहोतिशब्दमन्नं यया द.) शब्दों का उच्चारण करनेवाली व अन्न का सेवन करनेवाली मेरी यह जिह्वा **भद्रम्**=भद्र हो। यह कल्याण व सुख का साधन बने। भद्र बनने के लिए ही यह शुभ शब्दों का उच्चारण करे व सात्त्विक अन्नों का सेवन करे। २. **वाङ् महः**=मेरी वाणी (पूज्यवेदशास्त्रबोधयुक्ता—द०) पूजनीय हो, यह उत्तम वेदज्ञान से युक्त हो। ३. **मनः**=हमारा मन **मन्युः**=अवबोधवाला हो, मननशील हो। ४. **भामः**=मेरा तेज **स्वराट्**=स्वयं चमकनेवाला हो, मुझे तेजस्विता के लिए आभूषणों व विलेपनों की आवश्यकता न हो। इन आभूषणों व विलेपनों के बिना भी मैं तेजस्वी प्रतीत होऊँ। ५. मेरी **अंगुलीः**=अंगुलियाँ (अगि गतौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाली, सदा कर्मों में स्थापित की जानेवाली ये दीधितियाँ **मोदाः** =मेरी प्रसन्नता का कारण बनें। इसी प्रकार, **अङ्गानि**=(अगि गतौ) सदा क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाले मेरे अङ्ग **प्रमोदाः**=मेरे प्रकृष्ट आनन्द का कारण बनें और ६. **सहः**=सहनशक्ति **मे मित्रम्**=मेरी मित्र हो, यह मुझे पापों से बचानेवाली हो।

भावार्थ—१. मेरी जिह्वा भद्र होगी। २. वाणी महनीय होगी। ३. मन विचारशील। ४. मेरा तेज निमित्तान्तर निरपेक्ष होगा। ५. अंगुलियाँ और अङ्ग क्रियाओं में व्याप्त रहकर आनन्द का अनुभव करेंगे। ६. सहनशक्ति मेरी मित्र होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

बाहू+हस्तौ+उरः

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥७॥

१. **बलम्**=शरीर का बल तथा **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति ही **मे बाहू**=मेरी भुजाएँ हों, अर्थात् मैं बल और इन्द्रियों को भुजा के रूप में देखूँ। २. **कर्म**=निरन्तर क्रियाशीलता और **वीर्यम्**=क्रियाशीलता से उत्पन्न वीर्य **मे हस्तौ**=मेरे हाथ हों। ३. **मम**=मेरा **आत्मा**=आत्मिक बल तथा **क्षत्रम्**=क्षतों से बचानेवाला क्षात्रबल ही **उरः**=मेरी छाती व वक्षःस्थल हो।

भावार्थ—राजा व्रत लेता है कि मैं (क) बल व इन्द्रिय-शक्ति को ही अपनी भुजाएँ समझूँगा। (ख) कर्म व कर्मजनित शक्ति को हाथ समझूँगा तथा (ग) आत्मिक बल व क्षात्रबल को ही उरःस्थनीय मानूँगा।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सभापतिः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रजारूपी अङ्ग

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥८॥

१. गतमन्त्र के व्रतों के अनुसार अपने जीवन का सुन्दर परिपाक करके राष्ट्र के प्रति राष्ट्र-रक्षणयज्ञ में अपनी आहुति देता हुआ राजा कहता है कि **राष्ट्रम्**=राष्ट्र ही **मे पृष्ठी**=मेरा पृष्ठदेश—पश्चाद्भाग है। जैसे शरीर की मूल आधारभूत यह रीढ़ की हड्डी है, उसी प्रकार मैं अपने जीवन में राष्ट्र को ही रीढ़ की हड्डी समझता हूँ। उसके स्वास्थ्य पर ही मेरा स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. **विशः**=ये प्रजाएँ **सर्वतः**=जो चारों ओर सब भागों से एकत्र हुई हैं, वे **मे**=मेरे **अङ्गानि**=अङ्गों के तुल्य हैं। **उदरम्**=वैश्यवर्ग उदर के समान है। **अंसौ**=सैनिकवर्ग मेरे कन्धों के समान है। **ग्रीवाः**=ब्राह्मण लोग गर्दन व कण्ठ के समान हैं। **श्रोणी**=रक्षकवर्ग कटिदेशों के तुल्य हैं। **ऊरू**=श्रमिकवर्ग जंघाओं के समान हैं। **अरत्नी**=शासन में भाग लेनेवाला सारा सैक्रेटेरियेट भुज=मध्यप्रदेशों के समान है तथा **जानुनी**=मन्त्रिमण्डल का अधीनस्थ कर्मचारीवर्ग घुटनों के तुल्य है। इन सब लोगों को मैं अपने अङ्गों के समान ही समझता हूँ। जिस प्रकार मुझे अपने अङ्ग प्रिय हैं, उसी प्रकार ये सारा प्रजावर्ग मुझे प्रिय है। इसकी पुष्टि में ही मैं अपनी पुष्टि समझता हूँ।

भावार्थ—प्रजा राष्ट्र-शरीर के विविध अङ्ग हैं। राष्ट्र स्वयं इस शरीर की रीढ़ की हड्डी है। राजा प्रजा को अपने शरीर के अङ्गों के समान समझता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सभेशः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

प्रजा में प्रतिष्ठित

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥९॥

१. राजा ही कहता है कि **चित्तम्**=स्मृति—प्रभु का स्मरण, अपने कर्त्तव्य का स्मरण तथा **विज्ञानम्**=कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान **मे नाभिः**=मेरा केन्द्र हो 'नह बन्धने'। इस चित्त व विज्ञान का मुझमें बन्धन हो। मैं चित्त व विज्ञान से पृथक् न होऊँ। २. **अपचितिः**=पूजा—प्रभु का पूजन तथा **भसत्**=(भस दीप्तौ) ज्ञान की दीप्ति **मे पायुः**=मेरे रक्षक हों। जैसे शरीर में पायु=गुदेन्द्रिय सब मलों का निराकरण करके शरीर की रक्षा करता है, इसी प्रकार यह प्रभु-पूजन तथा ज्ञान मेरे मलों को दूर करके मेरा रक्षण करे। ३. **आनन्दनन्दौ** =आत्म-प्राप्ति का आनन्द अथवा मनःप्रसाद तथा **नन्द**=समृद्धि (नन्दति becomes prosperous) ये दोनों **मे**=मेरे **आण्डौ**=(अमति=to serve) मेरी सेवा करनेवाले हों, अर्थात् मुझे पारलौकिक कल्याण व ऐहलौकिक समृद्धि प्राप्त हो। ४. **भगः**=परमात्म-प्राप्ति का ऐश्वर्य व **सौभाग्यम्**=प्राकृतिक सम्पत्ति **मे**=मेरे **पसः**=(स्पृशतिकर्मणः) स्पर्श करनेवाले हों, अर्थात् मैं सदा इनके सम्पर्क में रहूँ। ५. **जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्**=मैं अपनी जाँघों से तथा पाँवों से **धर्मः**

अस्मि=सबका धारण करनेवाला होऊँ। **'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत'**=जांघें वैश्य हैं, पाँव 'शूद्र'। वैश्य धन का प्रतीक है तो शूद्र 'श्रम' का। मैं अपने धन व श्रम से सबका धारण करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार **राजा**=दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला बनकर मैं **विशि**=प्रजा में **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित होऊँ। प्रजा के जीवन को भी दीप्त व व्यवस्थित बनानेवाला होऊँ।

भावार्थ—राजा अपने जीवन में 'चित्त-विज्ञान-अचिति (पूजा), भसत् (प्रकाश), आनन्द-नन्द-भग तथा सौभाग्य' का समन्वय करके अपने धन व श्रम से प्रजा का धारक बने और प्रजा के जीवन को व्यवस्थित व दीप्त बनाए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वश्यविश्व

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑ तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठामि॒ गोषु॑।
प्रत्यङ्गे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु॒ प्रति॑ तिष्ठामि पु॒ष्टे प्रति॒
द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑ तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥१०॥

१. **प्रतिक्षत्रे**=प्रत्येक बल में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ। बल व राष्ट्र में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं बल व राष्ट्र को अपने वश में करनेवाला बनूँ। २. **अश्वेषु प्रतितिष्ठामि**=मैं अश्वों में प्रतिष्ठित होऊँ तथा **गोषु प्रतितिष्ठामि**=गौवों में प्रतिष्ठित होऊँ, अर्थात् मैं गौवों व घोड़ों को खूब प्राप्त करूँ। मेरे राष्ट्र में गौवों व घोड़ों की कमी न हो। ३. **प्रत्यङ्गेषु**=मैं हाथ-पाँव आदि सब अङ्गों में **प्रतितिष्ठामि**=प्रतिष्ठित होऊँ तथा **आत्मन्**=चित्त में प्रतिष्ठित होऊँ। अङ्गों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मेरे सब अङ्ग अविकल हों तथा चित्त आधियों से शून्य हो। ४. **प्रतिप्राणेषु**=प्रत्येक प्राण में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ तथा **पुष्टे**=समृद्धि में मैं प्रतिष्ठित होऊँ। प्राणों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं नीरोग बनूँ। पुष्टों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय है कि मैं खूब धनसम्पन्न होऊँ। ५. **द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि**=मस्तिष्क व शरीर दोनों में प्रतिष्ठित होऊँ (द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी शरीरम्) एवं शरीर व मन के विकास के परिणामरूप मेरी द्यावापृथिवी में उत्कृष्ट कीर्ति हो। मैं शरीर व मस्तिष्क दोनों में लब्धकीर्ति बनूँ। ६. शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर **यज्ञे प्रतितिष्ठामि**=मैं यज्ञों में प्रतिष्ठित बनूँ। मेरी यज्ञों में रुचि हो। प्रभु ने इसी से मुझे फूलने-फलने का निर्देश दिया है।

भावार्थ—मैं 'क्षत्र-राष्ट्र-अश्व-गौ-प्रत्यङ्ग-चित्त-प्राण-पुष्ट, द्यावापृथिवी व यज्ञ में प्रतिष्ठित होऊँ। मैं 'वश्यविश्व, पशुमान्, आधिव्यधिरहित-श्रीमान् व यज्ञकर्ता' बनूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**उपदेशकाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

३३ देव

त्र॒या दे॒वाऽएका॑दश त्रय॒स्त्रि॒ꣳशाः सु॒राध॑सः।
बृह॒स्पति॑पुरोहिता दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। दे॒वा दे॒वैर॑वन्तु मा ॥११॥

१. **त्रयाः**=(त्रयोऽवयवा येषां ते) तीन प्रकार के **एकादश**=ग्यारह-ग्यारह **देवाः**=देव **त्रयस्त्रिंशाः** =कुल मिलाकर तैतीस देव (जो ११ पृथिवीलोक में हैं, ११ अन्तरिक्षलोक में हैं तथा ११ द्युलोक में—ये सब) **सुराधसः**=(शोभनं राधो येषाम्) उत्तम धनोंवाले हैं। उस-उस धनवाले हैं जोकि (राध्नोति अनेन) हमें सब प्रकार की उन्नतियों में सफल बनाते हैं।

२. ये **बृहस्पतिपुरोहिताः**=(बृहस्पतिः सूर्यः पुरः पूर्वः हितो धृतो येषु—द०) सूर्यरूपी मुखियावाले **देवाः**=देव **देवस्य सवितुः**=उस दिव्य गुणोंवाले उत्पादक प्रभु की **सवे**=अनुज्ञा में वर्त्तमान हुए-हुए **देवैः**=अपनी दीप्तियों से व अपने दिव्य गुणों से **मा अवन्तु**=मेरी रक्षा करें। ३. संसार में कुल तैतीस देव हैं—ये 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में स्थिति के कारण तीन प्रकार हैं। एक-एक देव में उत्तम धन निहित है। इन तैतीस देवों में सूर्य मुख्य है। वस्तुतः सूर्य केन्द्र में है और सब देव सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और इस प्रकार एक सौरलोक बनता है। प्रभु की अनुज्ञा में वर्त्तमान ये सब देव अपने दिव्य गुणों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—तैतीस देव मेरे लिए सुराधस् हों, ये मेरी रक्षा करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्प्रकृत्तिः**। स्वरः—**धैवतः**॥

कामसमृद्धि

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूꣳषि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्काराऽ आहुतिभिराहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा॥१२॥

१. गतमन्त्र के **प्रथमाः**=प्रथम स्थान में स्थित पृथिवीस्थ ग्यारह देव **द्वितीयैः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे**=मेरे **कामान्**=इष्टों को **समर्धयन्तु**=समृद्ध करें। इन देवों की कृपा से मेरे सब मनोरथ पूर्ण हों। मुझे पृथिवीस्थ ग्यारह देवों की कृपा से स्वास्थ्य प्राप्त हो तो अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों की कृपा से मैं निर्मल हृदयवाला बनूँ। २. **द्वितीयाः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव **तृतीयैः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को समृद्ध करें। मैं हृदय-नैर्मल्य के साथ ज्ञानदीप्ति को भी प्राप्त करूँ। ३. **तृतीयाः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देव **सत्येन**=उस सत्यस्वरूप परमात्मा के साथ मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। मैं ज्ञानी बनूँ तथा सत्य को अपनानेवाला होऊँ। ४. **सत्यम्**=वह सत्यस्वरूप प्रभु **यज्ञेन**=यज्ञ के साथ मेरे इष्टों को समृद्ध करे। मैं सत्य बोलूँ—यज्ञशील बनूँ। ५. **यज्ञः**=यज्ञ **यजुर्भिः**=देवपूजा, संगतिकरण व दान के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करे। मैं यज्ञशील बनूँ, देवों का आदर करूँ, बराबरवालों से प्रेम से मिलूँ तथा आवश्यकतावालों को दान अवश्य दूँ। ६. **यजुर्भिः**=ये पूजा, प्रेम व दान **सामभिः**=उपासनाओं के साथ व शान्त जीवन के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। मैं प्रभु का उपासक बनूँ और शान्त जीवनवाला होऊँ। ७. **सामानि**=ये उपासनाएँ **ऋग्भिः**=विज्ञानों व सूक्तों (मधुर भाषणों) के साथ मुझे समृद्ध काम करें। ८. **ऋचः**=ये विज्ञान **पुरोनुवाक्याभिः**=(पुरा अनु वच्) पूर्वाश्रम में आचार्य के उच्चारण के पीछे उच्चारण के द्वारा मेरे इष्टों को पूर्ण करें। पुरः का अर्थ 'सामने' भी होता है तब अर्थ होगा आचार्य के सामने बैठकर आचार्य से श्रावित ज्ञान को ठीक उसी के अनुसार उच्चारित करना। यह उच्चारण ही मुझे ज्ञानी बनाएगा। ९. **पुरःअनुवाक्याः**=प्रथमाश्रम में आचार्य के सामने बैठकर, आचार्य से उच्चरित ज्ञान को उच्चारण करने की क्रियाएँ **याज्याभिः**=(यज्=सङ्गतिकरण) उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने की क्रियाओं के साथ मुझे सफल मनोरथ करें। मैं उस ज्ञान को अपना अङ्ग बना पाऊँ। १०. **याज्याः**=यह ज्ञान को अपनाने की क्रियाएँ **वषट्कारैः**=(उत्तमकर्मभिः—द०) उत्तम कर्मों के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। ज्ञान का परिणाम मेरे जीवन में यह हो कि मैं सदा यज्ञादि उत्तम

कर्मोंवाला बनूँ। ११. **वषट्काराः**=ये उत्तम यज्ञादि कर्म **आहुतिभिः**=त्यागवृत्तियों के साथ मेरे कामों को समृद्ध करें। मेरा प्रत्येक कर्म त्याग की भावना से युक्त हो। १२. और अन्त में **आहुतयः**=यह त्याग, यज्ञों को करके यज्ञशेष खाना, **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को पूर्ण करे। ये आहुतियाँ मेरे लिए इष्टकामधुक् हों। १३. **भूः**=इस प्रकार मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ (भवति) नष्ट न हो जाऊँ और **स्वाहा**=उस **स्व**=आत्मा–प्रभु के प्रति अपना **हा**=अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन देवों की कृपा से समृद्ध–काम हो। मैं स्वस्थ बनूँ, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकोपदेशकौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रयत्न व नम्रता (प्रयतिरानतिः)

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ् म॒ऽआन॑ति॒राग॑तिः।

मा॒ꣳसं म॒ऽउप॑नति॒र्वस्व॒स्थि म॒ज्जा म॒ऽआन॑तिः॥१३॥

१. **मम लोमानि प्रयतिः**=मेरे बाल प्रकृष्ट यत्नवाले हैं। (मम लोमस्वपि प्रयत्नः) मेरे एक–एक लोम में प्रयत्न की भावना है। २. **मे त्वक्**=मेरी त्वचा **आनतिः**=नम्रता है तथा **आगतिः**=क्रियाशीलता है। **नतिः**=नम्रता **आनतिः**=सब दृष्टिकोणों से नम्रता। **आ–गतिः**= सदा क्रियाशीलता। 'त्वचा'—जैसे संवरण करती हुई शरीर को सुरक्षित रखती है, इसी प्रकार नम्रता और क्रियाशीलता मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाती हैं, एवं ये मेरी त्वचा हैं। ३. **उपनतिः**=विद्वानों के समीप नम्रता से उपस्थान ही **मे**=मेरा **मांसम्**=मांस है, मुझे बलवान् बनानेवाला है (बलवान्=मांसलः) ४. **वसु**=धन, राष्ट्रकोश ही, **अस्थि**=राष्ट्र–शरीर के ढाँचे को ठीक रखनेवाली हड्डी है। धन के बिना राष्ट्र–शरीर खड़ा नहीं रह सकता। ५. **आनतिः**=शत्रुओं को झुकाना **मे**=मेरी **मज्जा**=मज्जा (Marrow) है। शत्रुओं को नतमस्तक करना मेरे जीवन का अङ्ग बन गया है, यह मेरा स्वभाव हो गया है।

भावार्थ—मेरे जीवन में प्रयत्न (प्रयति), नम्रता (आनति), क्रियाशीलता (आगति) आचार्यों के समीप नम्रता से उपस्थान (उपनति)—ये सब बातें हैं। परिणामतः मैं वसुओं को प्राप्त कर पाया हूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि द्वारा पापमोचन

यद्दे॑वा देव॒हेड॑नं॒ देवा॑सश्चकृ॒मा व॒यम्।

अ॒ग्निर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः॥१४॥

१. **देवाः**=मन्त्र ११ में वर्णित तैंतीस देवो! **देवासः**=ज्ञानी व समझदार होते हुए **वयम्**=हम **यत्** =जो **देवहेडनम्**=देवों का निरादर व अपराध **चकृमा**=करते हैं, कर बैठते हैं। २. **विश्वात् तस्मात् एनसः**=उस सब अपराध से **अग्निः**=इन पृथिवीस्थ देवों का अग्रणी अग्नि **मा**=मुझे **मुञ्चतु**=मुक्त करे और इस पापमोचन के द्वारा **अंहसः**=उस पाप से होनेवाली पीड़ा से भी **मुञ्चतु**=मुझे मुक्त करे। ३. पृथिवीस्थ देवों के विषय में अपराध यही है कि हम उन देवों का ठीक प्रयोग व सेवन नहीं करते। मिट्टी से बचने का यत्न करते हैं। यह मिट्टी तो पृथिवी देवता का अंश है। उसे शरीर पर रमाने से शरीर के विष दूर होते हैं, परन्तु हम उससे घबराते हैं, घृणा भी करते हैं। इसी प्रकार 'जठरेण हुताशनम्'=पेट

से अग्नि का सेवन मन्दाग्नि को दूर करता है। हम हाथों को तापते रहते हैं और अग्नि का लाभ नहीं उठा पाते। ४. शरीरस्थ सब देवांशों का ठीक प्रयोग होने से मनुष्य पापों व कष्टों से बचा रहता है।

भावार्थ—मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो, यह भावना मुझे मार्गभ्रष्ट होने से बचाए और मैं पाप व कष्टों से बचा रहूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वायुः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वायु द्वारा पापमोचन (दिवा+नक्तम्)

यदि॒ दिवा॒ यदि॒ नक्त॒मेनां॑सि चकृ॒मा व॒यम्।
वा॒युर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः ॥१५॥

१. **यदि**=यदि **दिवा**=दिन में और **यदि**=अथवा **नक्तम्**=रात्रि में **वयम्**=हम **एनांसि**=पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **वायुः**=अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सम्पूर्ण **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=छुड़ाए और इस प्रकार उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्टों से भी **मुञ्चतु**=मुक्त करे। ३. दिन के विषय में सबसे बड़ा अपराध यह है कि दिन में हम अकर्मण्य हो जाएँ। 'अहन्' की भावना है—न–हन=न नष्ट करना। 'दिन के एक–एक क्षण को मूल्यवान् समझना और उन्हें नष्ट न होने देना' यही दिन का सदुपयोग है। निरन्तर उत्तम कर्मों में लगे रहकर हम दिन के विषय में सम्भव अपराधों से बचते हैं और रात्रि में गाढ़ी निद्रा में जाकर रात्रि–सम्बन्धी पापों से भी बच जाते हैं। 'रात्रि'=रमयित्री है, आराम के लिए है। 'उसमें एक–एक बजे तक जागते रहना', रात्रि के विषय में अपराध है। ४. उस अपराध से बचेंगे तो वायु हमें उन अपराधों से होनेवाले कष्टों से मुक्त करेगा। 'वायु' शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बना है। दिन में गति व रात्रि में गन्धन=मल का अल्पीभाव—ये भावनाएँ वायु शब्द में निहित हैं। 'दिनभर मैं गतिशील बना रहूँ तथा रात्रि में प्रकृति को दिनभर की टूट–फूट व मल को समाप्त करने का अवसर दूँ', यही वायु की प्रेरणा है। ऐसा होने पर मैं दिन–रात के विषय में होनेवाले पापों से, कष्टों से बचा रहूँगा।

भावार्थ—हम दिन में उत्तम कर्मों में लगे रहें तथा रात्रि में गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सूर्य द्वारा पापमोचन (जागरित+स्वप्न)

यदि॒ जाग्र॒द्यदि॒ स्वप्न॒ऽएनां॑सि चकृ॒मा व॒यम्।
सूर्यो॑ मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः॥१६॥

१. **यदि जाग्रत्**=यदि जागते हुए अथवा **यदि स्वप्ने**=यदि सोते हुए **वयम्**=हम **एनांसि**=पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **सूर्यः**=सूर्य **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सब **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करे और उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्ट से भी मुक्त करे। ३. जाग्रत् अवस्था में प्रलोभनवश हम अपने व्यवहारों में शतशः गलतियाँ कर बैठते हैं। हम समझते हैं कि यह वस्तु न खानी चाहिए, परन्तु स्वादवश खा बैठते हैं। इसी प्रकार हम समझते हैं कि हमें यह शब्द नहीं बोलना चाहिए, परन्तु बोल बैठते हैं। यदि किसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में हम अपने को वश में कर भी लें तो सो जाने पर हम उन्हीं

वस्तुओं का स्वाद लेने लगते हैं और अपशब्दों को बोलने लगते हैं। अतः ४. सूर्य हमें इन जागते व सोते समय होनेवाले पापों से बचाए और उनके परिणामभूत कष्टों से भी बचाए। 'सूर्य' शब्द की भावना है 'सरति'=चलता है। हमें भी दिनभर चलना है, थक नहीं जाना तभी तो हम इस अश्रान्त भाव से चलनेवाले सूर्य की भाँति चमकेंगे। निरन्तर क्रिया में लगे रहनेवाला व्यक्ति जाग्रत् व स्वप्न के पापों से बचा रहता है। जाग्रत् में उसे अवकाश नहीं होता, स्वप्न में उसे मोक्षरूपता-सी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यह सूर्य='सरण' की, निरन्तर चलने की प्रेरणा देकर हमें पापों से बचाता है।

भावार्थ—सूर्य से सरण व गति की प्रेरणा लेकर मैं अपने जाग्रत् व स्वप्न—दोनों को निष्पाप व कल्याणकर बनाऊँ।

सूचना—मन्त्र संख्या १४, १५ व १६ में 'अग्नि, वायु व सूर्य' से पापमोचन की प्रार्थना की गई है। 'अग्नि' शब्द 'अगि गतौ' से बनता है, तो वायु 'वा गतौ' से और सूर्य 'सृ गतौ' से बना है। एवं, तीनों में गति की भावना है। वस्तुतः जीवन का सार गति है, गति ही जीवन है। आत्मा शब्द का अर्थ भी 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'निरन्तर गति' ही है। यह गति ही हमें पाप व अपवित्रता से बचाती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अव-यजन (दूरीकरण)

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि॥१७॥

१. **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **यत्**=जो **एनः**=पाप **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठते हैं **तस्य**=उसके आप **अवयजनम् असि**=नाशक हैं (अवपूर्वो यजतिर्नाशने—उ०)। ग्राम-विषयक अपराध 'नागरिक' नियमों का न पालना है। 'सड़क पर कूड़ा फेंक देना, मार्ग पर ठीक स्थान में न चलना, लापरवाही से जलती तीली आदि को इधर-उधर डाल देना, बड़ी ऊँची तान पर रेडियो बजाना' आदि सब नागरिक अपराध हैं। २. **अरण्ये**=अरण्य—वन के विषय में हम **यत्**=जो अपराध करते हैं, आप उस पाप से हमें दूर करें। वनविषयक मुख्य अपराध लकड़ी को काटना, परन्तु नये वृक्ष व वनस्पतियों को न लगाना है। हम एक वृक्ष को काटें तो दो लगाने का ध्यान करें, अन्यथा वनों का उच्छेद होकर वृष्टि का भी अवग्रह (प्रतिबन्ध=रोक) हो जाएगा और लकड़ी भी अन्ततः समाप्त हो जाएगी। ३. **सभायाम्**=सभा के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उसे आप हमसे दूरे करनेवाले हैं। 'सभा' में शान्तभाव से न बैठना, बातें करते रहना, ध्यानभंग करनेवाली या अप्रासंगिक बात करना' ये सब सभा-विषयक पाप हैं, इनसे हम बचें। ४. **इन्द्रिये**=इन्द्रियों के विषय में **यत्**=जो पाप हम करते हैं, उसको आप हमसे दूर करनेवाले हैं। इन्द्रियों के विषय में अपराध यही है कि हम उनका दुरुपयोग करते हैं या उपयोग ही नहीं करते, अतः हम ज्ञानेन्द्रियों को सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रक्खें। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के सहायक भूत ५. **शूद्रे**=समाज में श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले शूद्रों के विषय में **यत्**=हम उनके लिए जो अपशब्द आदि का प्रयोग करते हुए, उन्हें मनुष्य न समझते हुए अपराध करते हैं, उसे हमसे दूर कीजिए। ६. **अर्ये**=वैश्यों के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उनसे उधार वस्तु लेकर समय पर रुपया नहीं देते अथवा देने से ही बचने का प्रयत्न करते हैं, उन पापों से हमें बचाइए। ७. घर में पति-पत्नी

दो मुख्य पात्र हैं। दोनों ने मिलकर घर को बनाना है। एक ने अन्दर का काम सँभाला है, दूसरे ने बाहर का। इस प्रकार सम्मिलित उत्तरदायित्व होने पर भी दोनों के अलग-अलग विशिष्ट कर्तव्य हैं। ये ही उनके 'अधिधर्म' हैं। 'एक-दूसरे के अधिधर्मों के विषय में आलोचना करते रहना' यह अधिधर्म विषयक अपराध है, अतः **यत्**=जो **एकस्य**=एक के **अधिधर्मणि**=अधिधर्म के विषय में हम अपराध करते हैं **तस्य**=उसके **अवयजनम् असि**=आप नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम ग्राम और सभा आदि के विषय में हो जानेवाले अपराधों से बचने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

'गोदुग्ध' व 'पाप-नाश'

यदापो॑ऽअघ्न्या॒ऽइति॒ वरु॒णेति॒ शपा॑महे॒ ततो॑ वरुण नो मुञ्च।
अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः।
अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयक्ष्य॒व॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पु॒रु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि॥१८॥

१. हे **वरुण**=हमें सब पापों से बचानेवाले प्रभो! आपके आदेश के अनुसार **यत्**=जो **आपः**=सब भोगों को प्राप्त करानेवाली हैं, अतएव प्राप्त करने योग्य हैं, **अघ्न्याः इति**=न हिंसा करनेवालों में उत्तम हैं **वरुण इति**=जो वरण के योग्य हैं, परन्तु आपके आदेश को न सुनकर हम जो इन्हें **शपामहे**=(शपतिर्वधकर्मा) मारते हैं **ततः**=उस पास से **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम सब भोगों को प्राप्त करानेवाली, अमृतमय दुग्ध से हमें हिंसित न होने देनेवाली, वरणीय गौवों को न मारें। इनके द्वारा दुग्ध-घृतादि पदार्थों को प्राप्त करके हम विविध यज्ञों को सिद्ध करनेवाले बनें। २. **अवभृथ**=हे प्रभो! आप यज्ञरूप (Sacrifice) हैं। आपने जीव के हित के लिए (आत्मदा) अपने को भी दे डाला है। **निचुम्पुणः**=नितरां शान्त गति से आप चल रहे हैं। 'चुप मन्दायां गतौ' शान्तभाव से आप ब्रह्माण्ड-निर्माण आदि क्रियाओं में लगे हुए हैं। इन सब क्रियाओं में कहीं व्यग्रता नहीं, कहीं शोर नहीं। **निचेरुः असि**=निश्चय से आप चरणशील हैं (**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**) आपकी क्रिया स्वाभाविक है। **निचुम्पुणः**=बिना शोर किये शान्तभाव से आप इन सब क्रियाओं को करते चल रहे हैं। ३. आप हमारे जीवनों को भी इसी प्रकार 'शान्त व क्रियामय' बनाइए और **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में हमसे हो जानेवाले अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए तथा **मर्त्यैः**=हम मर्त्यों से (स्खलनशीलो हि मनुष्यः=to err is human) स्खलनशील स्वभाव के कारण **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों के विषय में किये अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए। बड़ों के प्रति निरादर, बराबरवालों से कलह व छोटों के प्रति कठोरता ही प्रायः मर्त्यकृत पाप का स्वरूप है। आप हमें इनसे बचाइए। ४. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **पुरुराव्णः**=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=हमें बचाइए।

भावार्थ—हम गोहत्या करके गोमांस भक्षण करने के स्थान में गोरक्षण द्वारा गोदुग्धरूप अमृत का सेवन करें, जिससे हमारे जीवन शान्त, यज्ञात्मक, क्रियामय हों। हम देवों के विषय में पाप न करें, न ही मनुष्यों के विषय में।

सूचना—देवकृतं एनः=देवताओं के विषय में पाप यही है कि हम शरीरस्थ देवांशों के

स्वास्थ्य का ध्यान नहीं करते। सूर्यादि देव चक्षु आदि के रूप में हमारे शरीर में रह रहे हैं। हमें उन्हें पूर्ण स्वस्थ रखना चाहिए, परन्तु गोमांसादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के द्वारा हम उनकी हिंसा के कारण बनते हैं। देव हविर्भुक् हैं, मांसभुक् नहीं। हमें चाहिए कि हम गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन से इस देवकृत पाप को अपने से दूर करें। हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—आपः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१९॥

१. गतमन्त्र में गोमांस का निषेध करके गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन का संकेत था। उस सात्त्विक आहार के परिणामस्वरूप **समुद्रे**=(स+मुद्) सदा आनन्दमय रसरूप (रसो वै सः —तैत्तिरीय०) उस प्रभु में ही **ते**=तेरा **हृदयम्**=हृदय हो। संसार के सब कार्यों को करते हुए भी तू प्रभु का विस्मरण करनेवाला न हो। २. **अप्सु अन्तः** =तेरा एक-एक क्षण कर्मों में निहित हो। एक क्षण के लिए भी तू अकर्मण्य न बने। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** इस आदेश के अनुसार कर्मों को करते हुए ही तू जीने का प्रयत्न कर। ३. **त्वा**=तुझमें **ओषधीः उत आपः**=ओषधियों व जलों का ही **संविशन्तु**=प्रवेश हो। तू मांस को शरीर में प्रविष्ट मत करने लगना। ४. यह सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **आपः ओषधयः**=जल व ओषधियाँ **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (मिद् स्नेहने) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) **सन्तु**=हों। ५. ये ओषधियाँ व जल **तस्मै**=उनके लिए ही **दुर्मित्रियाः**=दुर्मित्रिय हों, अस्नेहकर व रोगों से न बचानेवाली हों **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब भी **द्विष्मः**=नहीं चाहते हैं। स्नेह के अभाव व द्वेष के धारण करनेवाले व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर नहीं होतीं। इस व्यक्ति के अन्दर कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और ये भोजन उसका कल्याण नहीं कर पाते।

भावार्थ—सात्त्विक वानस्पतिक भोजन हमें नीरोग बनाए। केवल शरीर में ही नहीं, मन में भी। प्रभु का हम स्मरण करें, सदा कर्मनिष्ठ हों। किसी से द्वेष न करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

कर्मों के द्वारा पवित्रता

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥२०॥

१. **इव**=जैसे **द्रुपदात्**=पादुका=खड़ाओं से **मुमुचानः**=(मुच्यमानः) छूटता हुआ पुरुष उससे उत्पन्न दोषों से मुक्त हो जाता है। २. **इव**=जैसे **स्विन्नः**=स्वेद व पसीनेवाला पुरुष **स्नातः**=स्नान किया हुआ **मलात्**=मल से पृथक् हो जाता है। ३. **इव**=जैसे **आज्यम्**=घृत **पवित्रेण**=छलनी से छाना हुआ **पूतम्** =पवित्र हो जाता है, ४. उसी प्रकार **आपः**=कर्म **मा** =मुझे **एनसः**=पाप से **शुन्धन्तु**=शुद्ध कर दें। मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तो उसके मन में अशुभ विचार उत्पन्न ही नहीं होते। अशुभ विचारों के अभाव में उसका जीवन पवित्र बना रहता है। ५. 'आपः' शब्द का अर्थ आप्त पुरुष भी है—चरित्र व ज्ञान की दृष्टि से ऊँचे पुरुषों का सङ्ग हमें निश्चितरूप से पाप से बचाता ही है। ६. 'आपः' का अर्थ

'सर्वव्यापक प्रभु' भी है। वह सर्वव्यापक प्रभु हमें पापों से बचाए। प्रभु का स्मरण पवित्रता का सर्वमहान् साधन है। ७. (क) मुझे आपः 'कर्म' इस प्रकार पाप से छुड़ा देते हैं जैसेकि पादुका को पहनना छोड़ने से मनुष्य तदुत्पन्न दोषों से छूट जाता है। आलस्य गया-दोष गये। (ख) आपः='आप्त पुरुष' मुझे इस प्रकार पापों से मुक्त कर देते हैं जैसेकि स्नान व्यक्ति को पवित्र कर देता है। आप्त पुरुषों के उपदेश की जलधाराएँ पापरूपी स्वेद को दूर कर देती हैं। (ग) **आपः**=सर्वव्यापक प्रभु पवित्र हैं, उनके ध्यान में छनकर मैं इस प्रकार पवित्र हो जाता हूँ जिस प्रकार कि घृत छलनी में से छनकर पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—कर्मशीलता, आप्त पुरुषों का सङ्ग, सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण मुझे पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्—उत्तर—उत्तम

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥२१॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार उत्तरोत्तर पवित्र होते हुए हम प्रभु को प्राप्त होते हैं' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=उत्कृष्ट **तमसः**=तमोबहुल अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **अगन्म**=चलें। इस प्रकृति से ऊपर उठें। प्राकृतिक भोगों में ही फँसे न रह जाएँ। यह प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव को इसके अन्दर आसक्त नहीं हो जाना। इससे ऊपर उठना है। २. इससे परे **उत्तर**=प्रकृति व जीव की तुलना में जीव श्रेष्ठ है, क्योंकि वह चेतन है। इस **उत्तर**=उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान चैतन्ययुक्त इस जीव को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम आगे बढ़ें। प्राकृतिक भोगों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही आत्मस्वरूप का दर्शन कर पाता है। ३. इस आत्मस्वरूप को देखते हुए हम उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त हों, जो **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव हैं। उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सब सूर्यादि देव चमक रहे हैं। इन सब देवों को दीप्ति देनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम प्रकाशमय प्रभु को हम प्राप्त करें। प्रभु उत्तम हैं, वे पूर्ण चैतन्य होने से पूर्ण आनन्दमय हैं। ४. प्रकृति 'उत्'=उत्कृष्ट है, जीव 'उत्तर' अधिक उत्कृष्ट है, प्रभु 'उत्तम' हैं, सर्वाधिक उत्कृष्ट हैं, उत्कृष्टता की सीमा हैं। हम पवित्र बनते हैं जब प्रकृति में नहीं फँसते। पवित्रतर होते हैं, जब आत्मस्वरूप को देखने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु का दर्शन हमें पवित्रतम बना देता है। शुद्ध प्रभु में जीवन भी शुद्ध हो जाता है (तादृगेव)।

भावार्थ—प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु उसमें आसक्त न होकर उसका ठीक प्रयोग करते हुए हम आत्मस्वरूप का दर्शन करें। अधिकाधिक पवित्र होते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रस से संसर्ग

अपोऽअद्यान्वचारिषꣳरसेन समसृक्ष्महि ।
पयस्वानग्नऽआगमं तं मा सꣳसृज वर्चसा प्रजया च धनेन च ॥२२॥

१. गतमन्त्र के 'प्रभु-मिलन' के लिए **अद्य**=आज ही से मैंने **आपः अनु अचारिषम्**=कर्मों का व आप्त पुरुषों का अनुसरण किया है। मैंने सब प्रकार के आलस्य की भावना को परे फेंककर कर्मशीलता को स्वीकार किया है और आप्तजनों के ही सम्पर्क में रहने व उनके

पदचिह्नों पर चलने का निश्चय किया है परिणामतः २. **रसेन**=(रसो वै सः) उस रसरूप आनन्दमय प्रभु से **समसृक्ष्महि**=संस्पृष्ट हुआ हूँ। कर्मशीलता व सत्संग मेरे प्रभु-मिलन के साधन बने हैं। ३. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **पयस्वान्**=आप्यायन व वर्धनवाला होकर **आगमम्**=मैं आपके समीप आया हूँ। उन्नति करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पाता है। ४. **तं मा**=उस मुझे आप **वर्चसा**=शक्ति से **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **च**=तथा **धनेन च**=धन से भी **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। इस जीवन की उत्तमता के लिए (क) सबसे पहली वस्तु शक्ति है। शक्ति के बिना सब व्यर्थ है। (ख) अपने स्वास्थ्य के बाद संसार को सुन्दर बनानेवाली दूसरी वस्तु उत्तम सन्तान है। सन्तान उत्तम न हो तो घर नरक बन जाता है। (ग) संसार को चलाने के लिए धन भी चाहिए। उसके बिना संसार चलना सम्भव नहीं। स्वर्गतुल्य घर तभी बनता है जब शरीर में शक्ति हो, सन्तानें उत्तम हों तथा धन का अभाव न हो।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता व आप्तपुरुषों के सङ्ग से रसरूप परमात्मा से मेल कर सकें। उन्नत होते हुए प्रभु को प्राप्त करें। वे प्रभु हमें 'शक्ति, उत्तम सन्तान व धन' दें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—समित्। छन्दः—स्वराडतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

उदार इच्छाएँ

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः। समु विश्वमिदं जगत्।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून्कामान्व्यश्नवै भूः स्वाहा॥२३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस रसमय प्रभु से अपना सम्पर्क बनानेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि **एधः असि**=आप सदा से बढ़े हुए हैं। आप प्रत्येक गुण का निरतिशय रूप हैं। **एधिषीमहि**=आपके सम्पर्क से हम भी बढ़नेवाले बनें। २. **समित् असि**=आप सम्यक् दीप्त ज्ञानाग्निरूप हैं। आपकी कृपा से मेरी ज्ञानाग्नि भी दीप्त हो। ३. **तेजः असि**=आप तेजस्विता के पुञ्ज हैं। **तेजः मयि धेहि**=आप मुझमें तेजस्विता का आधान कीजिए। ४. इस 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्विता' के लिए मैं उसी प्रकार अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक से आवर्तन करूँ जैसेकि **पृथिवी समाववर्ति**=पृथिवी सम्यक्तया आवृत्त हो रही है। **उं**=और **उषाः**=उषा **उ**=तथा **सूर्यः**=सूर्य भी **सम्**=नियमपूर्वक आवर्तन में चल रहा है। बहुत क्या? **इदं विश्वं जगत्**=यह सम्पूर्ण संसार **उ**=भी **सम्**=सम्यक् आवर्तन कर रहा है। इस संसार से प्रेरणा लेकर मैं भी सम्यक् आवर्तनवाला बनूँ। मेरी दिनचर्या बड़ी ठीक हो। ५. इस प्रकार प्राकृतिक जगत् के आवर्तन की भाँति अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक आवर्तन करता हुआ मैं **वैश्वानरज्योतिः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक प्रभु की ज्योतिवाला बनूँ, प्रभु के तेज से तेजस्वी बनूँ। ६. **विभून्**=व्यापक **कामान्**=इच्छाओं को **व्यश्नवै**=प्राप्त करूँ। मेरी कमानाएँ उदारता को लिये हुए हों। संकुचित, स्वार्थमयी इच्छाओंवाला मैं न होऊँ। ७. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला बनकर **भूः**=मैं प्राणशक्ति का पुञ्ज बनूँ और **स्वाहा**=उस आत्मा के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्वितावाला' होऊँ। सूर्य-चन्द्र आदि की भाँति व्यवस्थित क्रियाओंवाला बनूँ। प्रभु के तेजोंऽश को प्राप्त करूँ। उदारमना बनूँ। प्राणशक्तिसम्पन्न होकर समर्पण की वृत्तिवाला होऊँ।

ऋषिः—आश्वतराश्विः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

व्रत और श्रद्धा

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्॥२४॥

१. हे **अग्ने**=सारे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=व्रतों का पालन करनेवाले प्रभो! **त्वयि**=आपकी प्राप्ति के निमित्त **समिधम्**=ज्ञान की दीप्ति को **अभ्यादधामि**=मैं धारण करता हूँ, ज्ञान के अभ्यास के द्वारा तीव्र हुई-हुई बुद्धि से ही मैं आपका दर्शन कर पाऊँगा। २. आपकी बनाई हुई यह भौतिक अग्नि भी व्रतपति है। मैं उस अग्नि में समिधा रखता हूँ और इस दीप्त हुई अग्नि से **दीक्षितः**=दीक्षित हुआ-हुआ **अहम्**=मैं **व्रतं च श्रद्धाम्**=व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। प्रभु अपने नियमों व व्रतों को तोड़ते नहीं, यह अग्नि भी अपने व्रतों को तोड़ती नहीं। घृत व हव्य पदार्थों की आहुति देनेवाले के हाथ को भी यह जलाती है। मैं भी इससे दीक्षा लूँ और इस संसार में मुझे 'स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति-विपत्ति व जन्म-मृत्यु' भी अपने व्रतों से विचलित न कर सकें। ३. इस प्रकार निष्कामभाव से व्रतों का पालन करता हुआ मैं हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इन्धे**=अपने हृदयाकाश में दीप्त करनेवाला बनूँ। निष्काम होकर श्रद्धा से व्रतों का पालन ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—१. प्रभु-प्राप्ति के निमित्त मैं अपने में ज्ञानदीप्ति को धारण करूँ। २. व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला बनूँ। ३. निष्कामभाव से व्रतों का श्रद्धापूर्वक पालन मेरे हृदय को प्रभु के प्रकाश से पूर्ण करेगा।

ऋषिः—आश्वतराश्विः। देवता—अग्निः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पुण्यलोक

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥२५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला व्यक्ति जिस पुण्यलोक को प्राप्त करता है, उसका वर्णन करते हैं कि **यत्र**=जहाँ **ब्रह्म च क्षत्रम्**=ज्ञान और बल **सम्यञ्चौ**=सम्यक् प्रकट होनेवाले **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं। ज्ञान 'ब्रह्म' है। 'बृहि वृद्धौ' यह सब प्रकार की वृद्धि का कारण है। बल 'क्षत्र' है—यह सब प्रकार के क्षतों से त्राण करनेवाला है, आघातों से, चोटों से बचानेवाला है। ये **सम्यञ्च**=सम्यक् प्रकट होनेवाले हों, अर्थात् इनका उत्तम विकास हुआ हो। उत्तम लोक वही है जहाँ इस ब्रह्म व क्षत्र का साथ-साथ विकास होता है। अकेला ज्ञान जीवन को सुन्दर नहीं बनाता, अकेला बल जीवन को पाशविक-सा बना देता है। २. मैं **तं पुण्यं लोकम्**=उस पुण्यलोक को **प्रज्ञेषम्**=(ज्ञानीयाम्—द०) जानूँ, अर्थात् प्राप्त करूँ। **यत्र**=जहाँ **देवाः**=सब देव **अग्निना सह**=अग्नि के साथ होते हैं। विद्वान् मन्त्रिवर्ग देव हैं, राजा 'अग्नि' है। उत्तमलोक व राष्ट्र वही है जहाँ मन्त्री राजा के साथ होते हैं, जहाँ इनका परस्पर विरोध नहीं होता। ३. वस्तुतः इस प्रकार मन्त्रियों व राजा में अविरोध होने पर राष्ट्र-व्यवस्था बड़ी सुन्दरता से चलती है। उस व्यवस्था में वे इस बात का पूर्ण ध्यान करते हैं कि (क) राष्ट्र में कोई अनपढ़ न रहे, ज्ञान का सम्यक् विकास हो तथा राष्ट्र में कोई भी निर्बल न हो। (ख) स्वास्थ्य की व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर हो। सफ़ाई व खान-पान का सब प्रबन्ध ठीक होने से लोगों की

शक्ति बढ़े। शिक्षणालय ज्ञानवृद्धि का कारण बनें, व्यायामशालाएँ बलवृद्धि की हेतु हों।

भावार्थ—पुण्यलोक वही है जहाँ (क) ज्ञान के साथ बल का भी विकास है। (ख) जहाँ मन्त्रिवर्ग व ज्ञानीवर्ग राजा के साथ ऐकमत्यवाला होकर राष्ट्र की उन्नति में तत्पर है। वे मिलकर राष्ट्र में शिक्षणालयों की स्थापना करते हैं, व्यायामशालाओं का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र+वायु

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।

तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥२६॥

१. गतमन्त्र के पुण्यलोक का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यत्र**=जहाँ **इन्द्रः च वायुः च**=इन्द्र और वायु, अर्थात् बल की देवता तथा गति (=ज्ञान) की देवता (गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च) **सम्यञ्चौ**=सम्यक् विकासवाले होते हुए **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं, अर्थात् जहाँ सब लोग सबल तथा ज्ञानसम्पन्न हैं २. **तम्**=उस **पुण्यं लोकम्**=शुभ लोक को **प्रज्ञेषम्**=(प्रजानीयाम्) मैं जान पाऊँ, **यत्र**=जिस लोक में **सेदिः**=अन्न के न प्राप्त होने से होनेवाला विनाश न **विद्यते**=नहीं है। ३. राष्ट्र में सब मन्त्री राजा के साथ मिलकर इस प्रकार व्यवस्था करते हैं कि राष्ट्र में अन्न की कमी नहीं होती। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं मरता। राजा ने जहाँ यह व्यवस्था करनी है कि सभी सबल हों (इन्द्र), सभी ज्ञानसम्पन्न हों (वायु), वहाँ उसे सभी के लिए अन्न भी प्राप्त कराना चाहिए, आपस्तम्ब के शब्दों में **'नास्य विषये कश्चित् क्षुधयावसीदेत्'** इसके राष्ट्र में कोई भी भूख से अवसन्न (मृत) न हो।

भावार्थ—पुण्यलोक में 'इन्द्र और वायु' का स्थापन होता है, अर्थात् वहाँ के निवासी सबल व सज्ञान होते हैं। इनमें कोई निर्बल व मूर्ख नहीं होता। अन्नाभाव से कोई मरता नहीं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशुना अंशुः

अꣳशुना ते अꣳशुः पृच्यतां परुषा परुः।

गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसोऽअच्युतः॥२७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित पुण्यलोक के निवासियों के लिए ही कहते हैं कि **अंशुना**=ज्ञान की किरण के साथ **ते**=तेरी **अंशु**=ज्ञान की किरण **पृच्यताम्**=संपृक्त हो, अर्थात् तेरा ज्ञान-प्राप्ति का तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। **'हिरण्यमस्तृतम् भव'**=तू अविच्छिन्न ज्ञानवाला बन, अर्थात् तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले। २. शरीर में **परुषा**=जोड़ के साथ **परुः**=जोड़ **पृच्यताम्**=ठीक जुड़ा हो। अङ्गों का शरीर में सन्धान बिलकुल ठीक हो। जोड़ों के ढीले हो जाने पर जैसे एक गाड़ी पुराना छकड़ा-सा बन जाती है, उसी प्रकार तेरा यह शरीर-रथ जीर्णशीर्ण-सा न बन जाए। इसमें सब जोड़ ठीक से जुड़े हों। ३. 'तेरा ज्ञान अविच्छिन्न हो' तथा 'तेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक से सटे हुए हों' इन दोनों बातों के लिए **ते**=तेरा **गन्धः**=(सम्बन्धः) प्रभु के साथ सम्पर्क **सोमम्**=शरीर में सोमशक्ति को **अवतु**=सुरक्षित करे। सोम की रक्षा होने पर ही ज्ञान की अविच्छिन्नता व शरीर की दृढ़ता सम्भव है। ४. यह **अच्युतः**=न क्षरित हुआ **रसः**=जीवन को रसमय बनानेवाला अथवा ओषधियों का

सारभूत सोमरस तेरे उल्लास के लिए होता है। ओषधियों के सेवन से रसादि क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम जब प्रभु-स्मरण के द्वारा शरीर में ही सुरक्षित किया जाता है तब यह एक अद्‌भुत मस्ती का कारण होता है। जीवन में इस सोम का पान (रक्षण) करनेवाला व्यक्ति उल्लास का अनुभव करता है।

भावार्थ—हमारा ज्ञान अविच्छिन्न हो, शरीर सुदृढ़ हो। प्रभु-स्मरण के द्वारा हम अपने सोम की रक्षा करें, न क्षरित हुआ-हुआ यह सोम हमारे जीवन में उल्लास देनेवाला हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

किन्त्वः

सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च।
सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः॥२८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम की रक्षा करनेवाले व्यक्ति इस सोम को **सिञ्चन्ति**=शरीर में ही सिक्त करते हैं, **परिषिञ्चन्ति**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में इसे सिक्त करने के लिए यत्नशील होते हैं **उत्सिञ्चन्ति** =और अन्ततः इसे ऊर्ध्वगति के द्वारा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में सिक्त करते हैं। अग्नि में जैसे घृत डालते हैं, उसी प्रकार ये मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में इस सुरक्षित सोम को समिधा के रूप में रखते हैं और उसे दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। २. इस प्रकार ये व्यक्ति-ज्ञानाग्नि में सोम का सेचन करके ज्ञानवृद्धि के द्वारा **पुनन्ति च**=अपने को पवित्र करते हैं। ३. इस ज्ञान के द्वारा अपने को पवित्र करके वे **सुरायै**=(सुर् to shine) चमकने के लिए होते हैं, ज्ञान की दीप्ति से मनुष्य क्यों न चमकेगा? क्षात्रबल से ब्रह्मबल की दीप्ति कहीं अधिक है। चमकने के साथ यह **बभ्र्वै**=उत्तम भरण व पोषण के लिए होता है। मस्तिष्क में 'ब्रह्म' (ज्ञान) है तो इसके शरीर में 'क्षत्र' (बल) होता है। ज्ञान से वासनाओं के विनाश के कारण ही शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है। ४. इस प्रकार ज्ञान व शक्ति होने पर इसके जीवन में एक विशेष उल्लास होता है और **मदे**=उस उल्लास के होने पर यह अपने को ही प्रेरणा-सी देते हुए **वदति**=कहता है कि **किन्त्वः**='कस्य त्वम्' आज तू उस आनन्दमय प्रजापति परमात्मा का बना है। उस **कः**='अनिर्वचनीय परमात्मा' का बनने के कारण ही तेरा नाम **किन्त्वः**=इस प्रकार हो गया है।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करें, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्यापक रक्खें, उसकी ऊर्ध्वगति करें। इससे हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ। ज्ञान की दीप्ति व शरीर का ठीक पोषण होने पर जो एक विशेष उल्लास प्राप्त होता है, उसे प्राप्त कर लेने पर हम अपने लिए कह सकेंगे कि 'तू आज उस आनन्दमय अनिर्वचनीय महिमावाले प्रभु का हो गया है', तेरा नाम ही 'किन्त्व' प्रसिद्ध हुआ है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ध्यान-दान-शोधन-स्तवन

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥२९॥

१. गतमन्त्र का 'किन्त्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशील प्रभो! हे **प्रातः** =(प्रा पूरणे) हममें सब अच्छाइयों को भरनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **जुषस्व**=प्रेम करनेवाले होओ, अर्थात् मैं आपका प्रिय बनूँ। जैसे सदा पढ़ाई में प्रथम निकलनेवाले पुत्र से पिता प्रेम करता है, इसी प्रकार मैं भी अपनी उत्तम क्रियाओं से प्रभु का प्रिय बनूँ। २.

किस प्रकार के जीवनवाले मुझसे प्रभु प्रेम करें? **धानावन्तम्**=(धान=अवधान=ध्यान) उत्तम ध्यानवाले मुझको। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में मेरा यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि मैं माता-पिता व आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनूँ और ग्रहण करूँ। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में 'ध्यान' ही मेरा आदर्श वाक्य हो। ३. अब जीवनयात्रा की दूसरी मंजिल में **करम्भिणम्**=(करेण दीयते) हाथों से दिये जानेवाले दान की वृत्तिवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में मैं सदा कुछ-न-कुछ दान देनेवाला बनूँ। 'करम्भ' शब्द का अर्थ 'दधिसक्तु' भी होता है। दधि व सक्तु (दही-सत्तू) आदि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करनेवाला मैं आपका प्रेमपात्र बनूँ। ४. अब जीवन-यात्रा के तीसरे प्रयाण में **अपूपवन्तम्**=उत्तम इन्द्रियोंवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में थोड़े-बहुत मल से मलिन हुई-हुई इन्द्रियों को वानप्रस्थ में मैं फिर से पवित्र बनाने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ (इन्द्रियम् पूपः-ऐ० २।२४)। तीव्र तप के द्वारा इन्द्रियों को निर्मल बनानेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ। ५. शुद्धेन्द्रिय बनकर **उक्थिनम्**=जीवन के चतुर्थाश्रम में निरन्तर आपके स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। सदा आपके स्तवन से अपने जीवन को पवित्र रखनेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो—(क) ध्यानवाला होता है, (ख) दान देता है, (ग) इन्द्रियों को शुद्ध रखता है, तथा (घ) सदा प्रभु-नाम स्मरण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**नृमेधपुरुषमेधौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-स्तवन

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु-स्तवन करनेवाला' बनने से हुई थी। उसी प्रभु-स्तवन के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु के लिए **बृहत् गायत**=खूब ही गायन करो, अथवा उस गायन को करो जो गायन कि 'बृहत्' तुम्हारा वर्धन करनेवाला है तथा **वृत्रहन्तमम्**=(अतिशयेन वृत्रं हन्ति) जो गायन वृत्र का अतिशयेन विनाश करनेवाला है। प्रभु के नाम-स्मरण से वासना नष्ट हो जाती है, मन में अशुभ विचार आते ही नहीं। २. यह प्रभु के गुणों का गायन वह है **येन**=जिससे **ऋतावृधः**=अपने में **ऋत**=यज्ञ व सत्य का वर्धन करनेवाले लोग **ज्योतिः**=उस ज्योति को **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं, जो **देवम्**=दीप्यमान व हममें दिव्यता को बढ़ानेवाली है तथा **जागृवि**=जागरणशील व अविनश्वर है, जिस ज्ञान की ज्योति से हम सो नहीं जाते, सदा सावधान रहते हैं। ३. यह ज्ञान की ज्योति ही अन्त में **देवाय**=उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए होती है। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके मनुष्य प्रभु का साक्षात्कार करनेवाला बनता है। ज्ञान-ज्योतिवाला पुरुष इस जीवनयात्रा में भटकता नहीं है। यह आगे बढ़ता हुआ उस प्रभु को प्राप्त करता है, जो '**सा काष्ठा सा परागतिः**'=अन्तिम लक्ष्य-स्थान है।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें। यह गायन (क) हमारा वर्धन करेगा, (ख) वासनाओं को विनष्ट करेगा, (ग) हम ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले होंगे और (घ) हममें वह ज्ञान-ज्योति उत्पन्न होगी, जो हमें दिव्य बनाएगी, सदा जागरणशील-सावधान रक्खेगी तथा हमें प्रभुरूप लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाएगी।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

इन्द्राय-पातवे

अध्वर्योऽअद्रिभिः सुतꣳसोमं पवित्रऽआ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे ॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'अध्वर्यु' होता है, अध्वर को अपने साथ जोड़ता है। गतमन्त्र में इसे ही 'ऋतावृध्' कहा था। इस अध्वर्यु से कहते हैं कि—हे **अध्वर्यो**=अहिंसक मनोवृत्ति को अपने साथ जोड़नेवाले यज्ञशील पुरुष! **अद्रिभिः**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीरों के निर्माण के हेतु से **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **सोमम्**=इस सोम को, वीर्य को **पवित्रे**=जीवन की पवित्रता की साधनभूत ज्ञानाग्नि में **आनय**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला बन, अर्थात् इस वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हुए तू इसको अपनी ज्ञानाग्नि का ईंधन बना। यह ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर तेरे सब दोषों को भस्मसात् करती है। २. इस प्रकार समिद्ध ज्ञानाग्नि से दोषों को भस्म करता हुआ **पुनाहि**=तू अपने को पवित्र बना और अपने को पवित्र करता हुआ तू **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए हो तथा **पातवे**=अपने रक्षण के लिए हो।

भावार्थ—शरीर में सोम की उत्पत्ति इसीलिए की गई है कि (क) शरीर पाषाणतुल्य दृढ़ हो तथा (ख) मनुष्य ज्ञानदीप्त होकर पवित्र जीवनवाला बने और (ग) अन्त में यह प्रभु को प्राप्त कर सके।

ऋषिः—कौण्डिन्यः। देवता—परमात्मा। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का ग्रहण

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधि श्रिताः।
यऽईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षा द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति प्रभु-दर्शन करता है और कह उठता है कि आप **यः**=जो **भूतानाम् अधिपतिः**=सब भूतों के अधिपति हैं, **यस्मिन्**=जिस आपमें **लोकाः**=सब लोक **अधिश्रिताः**=स्थित हैं, **यः ईशे**=आप ईश हैं, सबका शासन करनेवाले हैं, आप **महतो महान्**=महान् से भी महान् हैं, **तेन**=इस हेतु से **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपको **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'प्रकृति व परमात्मा' के चुनाव में आपको चुनता हूँ। २. आपका वरण करनेवाला मैं भी (क) भूतों का अधिपति बन पाऊँगा। ऐसा बन सकने पर मेरा स्वास्थ्य कभी विकृत न होगा। (ख) सब लोक मुझमें स्थित होंगे—मैं सभी को आश्रय देनेवाला बनूँगा। (ग) अपनी इन्द्रियों का ईश—शासन करनेवाला बनूँगा, न कि दास। (घ) इस प्रकार जितेन्द्रियता व आत्मशासन के द्वारा मैं बड़े-से-बड़ा बनने का प्रयत्न करूँगा, विशाल हृदयवाला होऊँगा। इस प्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपको **मयि**=अपने में **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, आपको अपने जीवन में धारण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का अपने में धारण करने का अभिप्राय है कि (क) हम पृथिवी आदि भूतों के पूर्ण अधिपति बनते हुए स्वस्थ बनें, (ख) हम सब लोकों के शरणस्थान बनें, (ग) अपनी इन्द्रियों के ईश बनें, और (घ) विशाल-से-विशाल हृदयवाले हों।

सूचना—**'मयि गृह्णामि त्वामहम्'** का शब्दार्थ इस रूप में भी है कि मैं आपको अन्दर ग्रहण करता हूँ। प्रभु का ग्रहण जब कभी भी होगा, हृदयाकाश में ही होगा। प्रभु को बाह्य वस्तुओं में गृहीत नहीं किया जा सकता। मूर्त्ति में उसका दर्शन न होकर हृदय में होगा।

ऋषिः—काक्षीवत्सुकीर्तिः। देवता—सोमः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का ग्रहण क्यों?

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिरश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥३३॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु-ग्रहण' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि वह प्रभु-ग्रहण कैसे होगा और प्रभु-ग्रहण क्यों आवश्यक है? **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप **उप**=उपासना द्वारा **याम**=यम-नियमों के धारण करने से गृहीत होते हैं, अर्थात् आपका धारण मैं तभी कर पाऊँगा जब (क) उपासना को अपनाऊँगा और (ख) उपासना के द्वारा मेरा जीवन यम-नियमों के बन्धन में बँधा हुआ होगा। २. **त्वा**=मैं आपको (क) **अश्विभ्याम्**=प्राणपान के लिए ग्रहण करता हूँ। आपकी उपासना से मेरी प्राणापान शक्ति की वृद्धि होगी। (ख) **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए। आपके ग्रहण से मेरा ज्ञान बढ़ेगा तथा (ग) **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के लिए। आपकी उपासना व ग्रहण से मेरा आत्मिक बल बढ़ता है और अन्त में (घ) **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपने त्राण के लिए। आपके धारण से मैं केवल शारीरिक रोगों से ही नहीं बचता, मानस विकारों से भी मैं अपनी रक्षा कर पाता हूँ। आपका धारण मुझे शरीर की व्याधियों के साथ मन की आधियों से भी बचाता है। ३. इस सारी बात का ध्यान करते हुए **एषः**=यह मैं **ते योनिः** =तेरा गृह बनता हूँ। मैं घर होऊँ और आप उस घर के पति। ऐसा मैं इसीलिए चाहता हूँ कि **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान के लिए **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए तथा **इन्द्राय**=प्राणशक्ति के विकास के लिए तथा **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपना धारण करने के लिए समर्थ हो सकूँ।

भावार्थ—उपासना व यम-नियमों के पालन से हम परमात्मा का अपने में ग्रहण करें, जिससे हमारी प्राणापानशक्ति की वृद्धि हो, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो, हमारी आत्मशक्ति का विकास हो तथा हम उत्तमता से अपना त्राण कर सकें—आधि-व्याधियों से बच सकें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—लिङ्गोक्ताः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मन का विलायक

प्राणपा मेऽअपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उपासना व यम-नियमों के पालन से प्रभु का अपने में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति अनुभव करता है कि हे प्रभो! आप **मे**=मेरे **प्राणपाः**=प्राणों की रक्षा करनेवाले हो। **अपानपाः**=मेरे अपान की रक्षा करनेवाले हो। जहाँ आप मेरे बल को बढ़ाते हैं, वहाँ मेरी दोष-दूरीकरण की शक्ति को भी स्थिर रखते हैं। २. **चक्षुष्पाः**=आप मेरी आँखों की रक्षा करनेवाले हैं तथा **श्रोत्रपाः च मे**=मेरे श्रोत्रों को सुरक्षित करनेवाले हैं। इन सुरक्षित आँखों व श्रोत्रों की शक्ति से मेरा ज्ञान निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है। प्राणापान की रक्षा से शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त हुआ था तो इन चक्षुः=नेत्रों की रक्षा से मुझे दृष्टि का स्वास्थ्य मिलता है। ३. हे प्रभो! आप **मे वाचः** =मेरी वाणी के **विश्वभेषजः**=सब दोषों की औषध हैं। मेरी वाणी आपकी उपासना से पवित्र होकर अपशब्दों व अनृत का उच्चारण नहीं करती, वह आपके नामजप आदि पवित्र कार्यों में ही प्रवृत्त रहती है। और ४. हे प्रभो! आप **मनसः**=मेरे मन के **विलायकः असि**=विलायक हैं (विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्यात्मनि

स्थापयति–म०) मेरे मन को विषयों से व्यावृत्त करके अपने में स्थापित करनेवाले हैं। भौतिक वस्तुओं में थोड़ी देर तक स्थिर रहकर मन फिर भटक जाता है, क्योंकि उनका आगा-पीछा देखकर उसकी उत्सुकता समाप्त हो जाती है, परन्तु एक बार प्रभु में चलने लगा तो वह फिर ओर-छोर को न पाकर वहीं उलझा रह जाएगा। उस प्रभु की अनन्तता में ही विलीन-सा हो जाएगा, अतः मन प्रभु को पाकर ही स्थिर होगा। अन्यथा भटकता ही रहेगा।

भावार्थ–जब हम प्रभु को अपने में धारण कर पाते हैं तब (क) प्राणापान सुरक्षित होकर हमारे शरीर का बल बढ़ता है, (ख) चक्षुः-श्रोत्र की रक्षा लेकर हमारा ज्ञान बढ़ता है, (ग) हमारी वाणी प्रभुनाम-स्मरण से सब दोषों से निवृत्त हो जाती है, हम शुभ ही शब्दों को बोलते हैं, (घ) प्रभु में हमारा मन ऐसा विलीन हो जाता है कि अपने आप ही वह विषयव्यावृत्त हो जाता है, विषय उसके लिए नीरस हो जाते हैं।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः–**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः–**मध्यमः**॥

उपहूत का उपहूत

अश्विनकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रेण सुत्राम्णा कृतस्य।
उपहूतऽउपहूतस्य भक्षयामि॥३५॥

१. गतमन्त्र में प्रभु का आराधन करते हुए कहा गया था कि आप ही हमारे प्राणापान की शक्ति के व ज्ञानादि के रक्षक हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि इस शक्ति की रक्षा व ज्ञानवृद्धि के साधनभूत 'सोम' की आपने हममें स्थापना की है। हे प्रभो! मैं **ते**=आपके सोम का **भक्षयामि**=भक्षण करता हूँ–उसे अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। उस सोम का जो २. **अश्विनकृतस्य**=(आश्विनाभ्यां कृतस्य–म०) प्राणापान के हेतु से किया गया है। यहाँ तृतीया का प्रयोग उसी प्रकार है जैसेकि (अध्ययनेन वसामि=अध्ययन के हेतु से रहता हूँ)। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ते**=तेरे उस सोम का जो **सरस्वतिकृतस्य**=विद्या की अधिदेवता के हेतु से किया गया है, अर्थात् इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है। ४. उस सोम का मैं भक्षण करता हूँ जो **इन्द्रेण कृतस्य**='इन्द्र' के हेतु से उत्पन्न किया गया है। **'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'** इन्द्र के सब कर्म सबल होते हैं। सोम की रक्षा से मेरे भी सब कार्य शक्तिसम्पन्न होते हैं और मैं सब असुरों का, आसुरवृत्तियों का संहार करके सचमुच देवराट्=दिव्य गुणों से चमकनेवाला इन्द्र बनता हूँ। ५. मैं उस सोम का भक्षण करता हूँ जोकि **सुत्राम्णा कृतस्य**=उत्तम त्राण के हेतु से उत्पन्न किया गया है। इस सोम के रक्षण से मैं शरीर को व्याधियों से और मन को आधियों से बचा पाता हूँ और इस प्रकार यह सोम मेरे लिए सुत्रामन् होता है। मैं भी इसकी रक्षा के द्वारा 'सुत्रामा' बनता हूँ। ६. उस सोम का भक्षण करनेवाला मैं कौन हूँ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **उपहूतस्य**=प्रतिदिन प्रातः-सायं (कृतोपहवस्य–म०) पुकारे गये व समीप बुलाये गये उस प्रभु का **उपहूतः**=उपहूत मैं हूँ। मैं प्रभु का आह्वान करता हूँ। प्रभु मुझे अपने समीप बुलाते हैं। ७. प्रभु का उपासन सोमरक्षण का सर्वोत्तम साधन है और यह सुरक्षित सोम हमारी प्राणापान शक्ति को बढ़ाता है, हमारे ज्ञान को बढ़ाता है, हमें असुर-संहार-समर्थ देवराट् इन्द्र बनाता है और हम इसकी रक्षा से शरीर व मन को पूर्ण नीरोग बनानेवाले 'सुत्रामा' बनते हैं।

भावार्थ—उपहूत प्रभु के हम उपहूत बनें और सोमरक्षण के द्वारा प्राणापान की शक्ति, ज्ञान व इन्द्रशक्ति का वर्धन करें तथा शरीर व मन को नीरोग बना पाएँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्वारोद्घाटन

समिद्धऽइन्द्रऽउषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद्वावृधानः।

त्रिभिर्देवैस्त्रिꣳशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं वि दुरो ववार॥३६॥

१. गतमन्त्र का सोमभक्षण करनेवाला व्यक्ति अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला बनकर 'आङ्गिरस' बनता है और अग्रिम ग्यारह मन्त्रों का ऋषि यह 'आङ्गिरस' ही है। यह आङ्गिरस=सोम का पान व रक्षण करनेवाला व्यक्ति **समिद्धः**=ज्ञान से खूब दीप्त बनता है। २. **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न 'इन्द्र' बनता है। ३. यह **उषसाम् अनीके** (अनीकं मुखम्)=उषःकालों के अग्रभाग में ही **पुरोरुचा**=अग्रतो गामिनी दीप्ति से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ होता है, अर्थात् बहुत प्रातःकाल में ही स्वाध्यायादि के द्वारा उस ज्ञान को यह धारण करनेवाला होता है, जो ज्ञान इसकी निरन्तर उन्नति का कारण बनता है। ४. यह **पूर्वकृत्**=पूर्वदिशा को अपनी दिशा बनानेवाला होता है। यह दिशा 'उदय की दिशा' है—यह अपने जीवन में 'सत्य, यश व श्री' के दृष्टिकोण से उदयवाला होता है। ५. उदय के मार्ग पर चलता हुआ यह **त्रिभिः त्रिंशता देवैः**=तेतीस देवों से सम्पन्न होता है। ६. **वज्रबाहुः**=क्रियाशीलतारूप वज्र (वज् गतौ) को हाथों में लिये होता है और **वृत्रं जघान**=इस वज्र से ज्ञान की आवरणभूत 'वृत्र' नामक वासना को नष्ट कर देता है। ७. वासना को नष्ट करके यह **दुरः**=मोक्षलोक के चार द्वारों को **विववार**=खोल डालता है। मोक्ष के चार द्वार **'शमो विचारः संतोषः चतुर्थः साधुसंगमः'**=शम, विचार, सन्तोष व साधुसंगम हैं। इसके जीवन में ये चारों ही बातें होती हैं—यह शान्त होता है, विचारशील व सन्तोषी बनता है, सदा सत्सङ्ग में रुचिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक (उपहूत) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानसमिद्ध बनता है। उन्नति करता हुआ सब देवों को अपने में धारण करता है, क्रियाशील जीवन के द्वारा वासना से ऊपर उठता है और मोक्ष के चारों द्वारों को अपने लिए खोलता हुआ 'शान्त, विचारशील, सन्तोषी व सत्सङ्गी' बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**तनूनपात्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ का धाम

नराशꣳसः प्रति शूरो मिमानस्तनूनपात्प्रति यज्ञस्य धाम।

गोभिर्वपावान्मधुना समञ्जन्हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः॥३७॥

१. गतमन्त्र का आङ्गिरस चारों मोक्ष द्वारों को खोलनेवाला **नराशंसः**=(नरैः आ=समन्तात् शंस्यते) सर्वत्र मनुष्यों से प्रशंसित होता है। यह २. **प्रति-शूरः**=प्रत्येक वासना व शत्रु से मुक़ाबला करनेवाला वीर होता है। ३. **प्रतिमिमानः**=कार्य को माप-तोलकर करनेवाला होता है और ४. इसीलिए **तनू-न-पात्**=शरीर को वह गिरने नहीं देता, शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखता है। ५. **यज्ञस्य धाम**=(यज्ञो वै विष्णुः) सृष्टियज्ञ को करनेवाले सर्वव्यापक 'यज्ञ' नामक प्रभु का यह घर (निवासस्थान) बनता है। ६. जब यह अपने हृदय में प्रभु को बिठा लेता है तब **गोभिः**=उस हृदयस्थ प्रभु से उच्चारण की गई वेदवाणियों के द्वारा

यह **वपावान्**=(वप्=बोना) प्रशस्त गुणों के बीजों को बोनेवाला होता है। अपने अन्दर उत्तम गुणों का विकास करता है। ७. **मधुना समञ्जन्** =माधुर्य से अपने जीवन को अलंकृत करता है। इसका व्यवहार व वाणी अत्यन्त मधुर होते हैं। अन्दर गुण हों तो वाणी व व्यवहार में माधुर्य होना ही चाहिए। ८. **हिरण्यैः**=(हितरमणीयैः) हितरमणीय ज्ञानों के द्वारा, वीर्य के द्वारा शक्तियुक्त होने के कारण **चन्द्री**=यह सदा आह्लाद—प्रसन्नता की वृत्तिवाला होता है। ९. **यजति**=यज्ञशील होता है—(क) बड़ों का आदर करता है, (ख) बराबरवालों से मिलकर चलता है तथा (ग) देने की शक्तिवाला होता है। १०. **प्रचेताः**=यह प्रकृष्ट चेतनावाला—उत्कृष्ट ज्ञानी बनता है। जीवन को बड़ी समझदारी से उन्नति-पथ पर ले-चलता है, कभी असावधान नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में धारण करनेवाले बनें, उसकी ज्ञानवाणियों से जीवन में सद्गुणों के बीज बोएँ। माधुर्यवाले हों। सदा आह्लादमय, यज्ञशील व प्रचेता बनें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पुरन्दरः

ईडि॒तो दे॒वैर्हरि॑वाँ२॥ऽअभि॒ष्टिरा॒जुह्वा॑नो ह॒विषा॒ शर्द्ध॑मानः।

पु॒र॒न्द॒रो गो॑त्र॒भिद्वज्र॑बाहु॒राया॑तु य॒ज्ञमुप॑ नो जुषा॒णः॥३८॥

१. अपने जीवन को गतमन्त्र के अनुसार बनानेवाला व्यक्ति **देवैः ईडितः**=देवों से स्तुत होता है। विद्वान् लोग इसकी प्रशंसा करते हैं। अथवा **देवैः**=दिव्य गुणों के हेतु से (हेतु में तृतीया) यह (ईडितमस्य अस्ति इति) प्रभु की स्तुति करनेवाला होता है। प्रभु-स्तुति के द्वारा यह दिव्य गुणों को अपने में धारण करनेवाला होता है। २. **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला बनता है। ३. **अभिष्टिः**=(अभिगमनवान्—उ०) कामादि शत्रुओं पर यह आक्रमण करनेवाला होता है। ४. **आजुह्वानः**=समन्तात् यज्ञों को करनेवाला बनता है—यज्ञ इसका स्वभाव हो जाता है। ५. **हविषा** =इस यज्ञ की वृत्ति से, दानपूर्वक अदन की वृत्ति से—यह **शर्द्धमानः**=(शर्ध इति बलनाम अतिबलायमानः—म०) अत्यन्त बलवान् की भाँति आचरण करनेवाला होता है। ६. **पुरन्दरः**=इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में असुरों से बनाये गये पुरों का यह विदारण करनेवाला होता है। यह असुरों की तीनों पुरियों का विध्वंस कर डालता है। वासनाओं को नष्ट करके यह 'पुरन्दर' बनता है। ७. **गोत्रभित्**=जीवनयात्रा में पर्वत के समान आ जानेवाले वासनारूप विघ्नों को यह विदीर्ण करता है, बड़े-से-बड़े विघ्न को यह नष्ट करनेवाला होता है। ८. **वज्रबाहुः**=इसी उद्देश्य से क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेकर चलता है। ९. यह **यज्ञं जुषाणः**=यज्ञों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **नः**=हमारे **उप**=समीप **आयातु**=आये। यज्ञों का सेवन करते हुए ही हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं।

भावार्थ—उपासना से दिव्य गुणों को प्राप्त करते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले हों। इससे हमारी शक्ति बढ़ेगी और अन्ततः हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सजोषाः

जु॒षा॒णो ब॒र्हिर्हरि॑वान्न॒ऽइन्द्रः॑ प्रा॒चीन॑ꣳसीदत्प्र॒दिशा॑ पृथि॒व्याः।

उ॒रु॒प्रथा॒ः प्रथ॑मानꣳस्यो॒नमा॑दि॒त्यैर॒क्तं वसु॑भिः स॒जोषा॑ः॥३९॥

१. **जुषाणः**=गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार यज्ञों का सेवन करता हुआ २.

हरिवान् प्रशस्त इन्द्रियोंवाला २. **नः**=हमारा अर्थात् प्रभु का भक्त ४. **इन्द्रः**=असुरों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ५. **उरुप्रथाः**=खूब विस्तारवाला, उदार हृदयवाला, ६. **सजोषाः**=प्रीति से युक्त, अर्थात् सदा सन्तुष्ट व प्रसन्न (प्रीत्या सहितः सन्तुष्टः—म०) ७. **पृथिव्याः प्रदिशा**=पृथिवी के प्रकृष्ट संकेत से, अर्थात् मानो यह पृथिवी उसे अपने विस्तार का संकेत करती हुई हृदय को भी विस्तारवाला बनाने का उपदेश दे रही हो। इस प्रकार पृथिवी के उपदेश के अनुसार (क) **प्रथमानम्**=अत्यन्त विस्तृत (ख) **स्योनम्**=सुखमय, सदा प्रसन्न (ग) **आदित्यै वसुभिः**=आदित्यों व वसुओं से **अक्तम्**=अलंकृत हो उत्तम, अर्थात् गुणों के आदान की भावना तथा उत्तम निवास बनाने की भावना से सुभूषित **प्राचीनम्**=(प्रागञ्चनं) निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले व आगे बढ़नेवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **सीदत्**=स्थित होता है।

भावार्थ—मनुष्य (क) यज्ञों का सेवन करे (ख) उत्तम इन्द्रियोंवाला बने (ग) प्रभु का होकर संसार में विचरे (घ) जितेन्द्रिय बने (ङ) उदार हो (च) सदा प्रीतियुक्त हो। ऐसा बनकर यह अपने हृदय को, इस विशाल पृथिवी का स्मरण करते हुए (क) विशाल बनाये (ख) विशालता के द्वारा सुखमय बनाए (ग) गुणों का आदान व उत्तम निवास की भावना से युक्त हो (घ) 'इसमें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहे' इस बात का ध्यान करे।

सूचना—पृथिवी अत्यन्त विशाल है। मनुष्य यदि चाहे तो वह बड़ी सुन्दरता से वहाँ अपना जीवन बिता सकता है, परन्तु मनुष्य अपने को तंग नगरों की सीमा में रखने के लिए यत्न करता है, इससे उसका जीवन अधिक कृत्रिम व कष्टमय हो जाता है।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

चार दिव्य द्वार

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्ताꣳसुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः॥४०॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय **वृषाणम्**=शक्तिशाली पुरुष को **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य अथवा **कवष्यः**=(Shield) ढालरूप **धावमानाः**=जीवन को बड़ा शुद्ध बनानेवाले (धाव्=शुद्धि) **दुरः**=द्वार—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूप चार द्वार **यन्तु**=प्राप्त हों। ये चारों द्वार उसके लिए **जनयः**=प्रादुर्भाव का कारण बनें, उसकी शक्तियों का विकास करनेवाले हों और **सुपत्नीः**=उत्तमता से उसका रक्षण करनेवाले हों। मुख उत्तम सात्त्विक भोजन का ग्रहण करता है—पायु शरीर में से मलांश को पृथक् करके शरीर का रक्षण करता है। उपस्थ वशीभूत होकर उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाला होता है और वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह सचमुच प्रभु के उपस्थान का कारण बनता है। ब्रह्मरन्ध्र अन्त में आत्मा के शरीर से निकलने का मार्ग होने पर मोक्ष व ब्रह्म-प्राप्ति का कारण बनता है। २. ये **द्वारः**=चारों द्वार **देवीः**=दिव्य द्वार हैं। एक (मुख) उत्तम भोजन के द्वारा शरीर में बल व प्राण का आधान करनेवाला है तो दूसरा (पायु) मलशोधन के द्वारा अपान की शक्ति को ठीक रखकर शरीर को स्वस्थ बनाता है। एवं, ये दोनों द्वार मिलकर शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र मनुष्य की आत्मिक शक्ति के विकास का साधन बन मोक्ष प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार ये चारों द्वार दिव्य हैं। ये **अभितः**=दोनों ओर **विश्रयन्ताम्**=विवृत हों। विवृत होकर ये अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले हों,

अथवा ये शरीर में विशिष्टरूप से सेवा करनेवाले हों। (श्रिञ् सेवायाम्) अभितः शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है कि एक ओर मुख है तो दूसरी ओर पायु तथा एक ओर उपस्थ है तो दूसरी ओर ब्रह्मरन्ध्र। ३. **सुवीराः**=ये चारों द्वार उत्तमता से (सु) विशेष करके (वि) बुराइयों को दूर करनेवाले (ईर् कम्पने) हैं। ये चारों द्वार **महोभिः**=अपने-अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों से अथवा तेजस्विताओं से **वीरं प्रथमानाः**=वीर पुरुष का विस्तार करनेवाले होते हैं, अर्थात् उस पुरुष को वीर बनाते हैं। मुख और पायु मुझे शरीर के दृष्टिकोण से वीर बनाते हैं, उपस्थ और ब्रह्मरन्ध्र मुझे आत्मिक बल प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'मुख-पायु, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूपी दिव्य द्वार स्तुत्य हैं। ये हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं। इनके अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करने पर हम शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व सुन्दर बनते हैं और आत्मिक बल व वीरता को प्राप्त करते हैं।

सूचना—'कवष्यः' 'कु शब्दे' से बनकर मुख के कार्य का संकेत करता है 'धावमानाः' 'धाव् शुद्धौ' से बनकर पायु के कार्य का, 'जनयः' उपस्थ के कार्य का संकेत करता है और 'सुपत्नीः' 'पा रक्षणे' से बनकर ब्रह्मरन्ध्र के कार्य का।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**उषासानक्ता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

'देवानां देव का पूजन'

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पर्यस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'उषासानक्ता' शब्द पति-पत्नी के लिए है। 'उष दाहे' धातु से उषस् शब्द बनता है—पति अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला होता है। 'नज् to be modest' धातु से बनकर 'नक्त' शब्द स्त्री का वाचक है, जो उचित लज्जा व शालीनतावाली है। ये **उषासानक्ता**=पति-पत्नी **बृहती**=गतमन्त्र के द्वारों के कार्य के ठीक होने से वर्धनवाले हैं। **पयस्वती**=आत्मिक शक्तियों के आप्यायनवाले हैं (पयस्=ओप्यायी वृद्धौ)। २. ये पति-पत्नी उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सुदुघे**=उत्तमता से अपने अन्दर पूरण करनेवाले हैं, जो प्रभु **बृहन्तम्**=सब प्रकार के वर्धन का, कारण हैं तथा **शूरम्**=(शृ हिंसायाम्) सब प्रकार की बुराइयों को हिंसित करनेवाले हैं। प्रभु की भावना को अपने में भरने से हमारी शक्तियों का वर्धन होता है और सब आसुर-वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। ३. **ततं तन्तुम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में विस्तृत यज्ञ-तन्तु को **पेशसा**=सुन्दर रूप से **संवयन्ती**=ये सन्तत करनेवाले होते हैं, अर्थात् सृष्टि-प्रारम्भ में प्रभु ने जिस यज्ञ को प्रजाओं के साथ ही उत्पन्न किया है उस यज्ञतन्तु को ये विच्छिन्न नहीं होने देते। इनका जीवन यज्ञरूप बना रहता है। ४. इस यज्ञ से ये पति-पत्नी **देवानां देवम्**=देवाधिदेव परमात्मा को **यजतः**=उपासित करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रभु का पूजन करते हैं—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. इस प्रभु के उपासन का ही यह परिणाम होता है कि ये **सुरुक्मे**=उत्तम दीप्तिवाले होते हैं। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की दीप्ति से ये भी दीप्त हो उठते हैं।

भावार्थ—(क) हम प्रभु का अपने में पूरण करें, जिससे हमारा वर्धन हो और हमारी आसुर वृत्तियों का संहार हो, (ख) यज्ञतन्तु को विच्छिन्न न करने के द्वारा हम प्रभु का उपासन करें, (ग) प्रभु-उपासन से हम प्रभु की भाँति दीप्त हो उठें, प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो जाएँ।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—दैव्याध्यापकोपदेशकौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्राचीनं ज्योति

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा।
मूर्द्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः॥४२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि 'देवानां देव' का यजन करके ये पति-पत्नी 'सुरुक्म'=उत्तम दीप्तिवाले बनते हैं। ये **दैव्या**=(देवस्य इमौ) परमात्मा के ही हो जाते हैं। २. **मिमाना**=अपने जीवन में ये सदा 'यज्ञं निर्मिमाणौ'=श्रेष्ठ कर्मों को करनेवाले होते हैं। अथवा सब कर्मों को माप-तोलकर करनेवाले होते हैं, अर्थात् 'युक्त-चेष्ट' होते हैं। ३. **मनुषः पुरुत्रा**=ज्ञान से-ज्ञान के द्वारा ये अपना पालन व पूरण करनेवाले होते हैं (पॄ पालनपूरणयोः, त्रा=रक्षणे)। ४. **होतारौ**=ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले होते हैं। ५. **इन्द्रं प्रथमा**=दानपूर्वक अदन से उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को विस्तृत करनेवाले होते हैं। हवि के द्वारा ही वस्तुतः 'प्रभुपूजन' होता है अथवा ये अपने जीवन में प्रभु का विस्तार करनेवाले होते हैं। ६. **सुवाचा** =सदा उत्तम वाणीवाले होते हैं। ७. ये **मधुना**=अपने जीवन के माधुर्य से, माधुर्यमयी क्रियाओं से **यज्ञस्य मूर्धन्**=उत्तम कर्मों के अग्रभाग में **दधाना**=अपने को स्थापित करते हैं, अर्थात् ये उत्तम क्रियाओंवाले होते हैं और अत्यन्त माधुर्यवाले होते हैं। ८. इस प्रकार ये **प्राचीनं ज्योतिः**=(प्राग् अञ्जनम्) निरन्तर अग्रगति व उन्नति के साधक ज्ञान को **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा, **वृधातः**=बढ़ानेवाले होते हैं। स्वार्थ मनुष्य के ज्ञान को नष्ट करता है। मनुष्य जितना-जितना स्वार्थ व काम से ऊपर उठता है उतना-उतना उसका ज्ञान चमकता है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनें, सब क्रियाओं को मापकर करें, अति में न जाएँ, ज्ञान से अपना त्रण करें, होता बनें, प्रभु का अपने में विस्तार करें, उत्तम वाणीवाले हों, माधुर्य के साथ यज्ञों के अग्रभाग में स्थित हों, उस ज्ञान को प्राप्त करें, जो हमारी अग्रगति का साधन बनता है।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—तिस्रो दैव्यः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

तिस्रो देवीः (ज्ञान-श्रद्धा-वाणी)

तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमानाऽइन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः॥४३॥

१. **तिस्रः देवीः**=तीन दिव्य गुण **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से, अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति से **वर्धमानाः**=निरन्तर बढ़ने के स्वभाववाले होते हैं। २. ये तीनों दिव्य गुण **इन्द्रं जुषाणाः**=जितेन्द्रिय पुरुष का सेवन करनेवाले होते हैं। इन्द्र को ही प्राप्त होते हैं। ३. ये तीनों गुण उस इन्द्रं के लिए **जनयः पत्नीः न**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली पत्नियों के समान होते हैं। पत्नी सन्तान को जन्म देती है, ये तीनों देवियाँ इस इन्द्र में उत्तमताओं को जन्म देनेवाली होती हैं, उत्तम दिव्य गुणों को पैदा करती हैं। ४. इन तीनों देवियों में प्रथम देवी **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता है जोकि **अच्छिन्नं तन्तुं पयसा**=अच्छिन्न यज्ञतन्तु के—निरन्तर चलनेवाले यज्ञ के प्रकाश से युक्त है, अर्थात् ज्ञान पहली देवता है, इसके होने पर मनुष्य का जीवन यज्ञमय बनता है। ५. दूसरी देवता **इडा**=(श्रद्धेडा श० ११।२।७।२०) श्रद्धा है, जो **देवी**=मनुष्य में सब दिव्य गुणों को जन्म

देनेवाली है। ६. तीसरी देवता **भारती**=वाणी है। इस तीसरी देवता को अन्यत्र मन्त्रों में 'मही' भी कहा गया है। भारती व मही दोनों शब्द नि० १।११ में वाणी के वाचक हैं। यह वाणी तभी देवता है जबकि यह **विश्वतूर्त्तिः**=उस सर्वत्र प्रविष्ट (सर्वत्र विशति) सर्वव्यापक प्रभु में (विश्वस्मिन् त्वरया तूर्णं गच्छति) शीघ्रता से व्याप्त होती है। हम अपने कार्य से ज़रा खाली हुए और यह वाणी प्रभु के जप में लगी। हमारा सारा खाली समय वाणी द्वारा तज्जपः=उस प्रभु के नाम के जप में लगे। ऐसा होने पर यह देवता हो जाती है। यह भारती व मही बन जाती है। यह सचमुच हमारा भरण करती है और हमारे जीवन को महनीय बना देती है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान की अधिदेवता 'सरस्वती' यज्ञिय भावनाओं को जन्म देकर यज्ञ का विकास करे, 'श्रद्धा' (इडा) दिव्य गुणों को जन्म दे, तथा 'भारती' (वाणी) सदा उस प्रभु में त्वरा से गतिवाली हो, अर्थात् प्रभु के नाम का जप करनेवाली हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

भूरिरेताः

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्॥४४॥

१. यदि गतमन्त्र की भावना के अनुसार हमारी वाणी सर्वव्यापक प्रभु का जप करनेवाली बनती है तो हम उस प्रभु की कृपा से वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और इन्द्रियों को वश में कर सकने के कारण 'इन्द्र' व परिणामतः 'वृषभ' बनते हैं, वासना से ऊपर उठकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले बनते हैं। इस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **वृष्णे**=सुखों की वर्षा करनेवाले के लिए **त्वष्टा**=वह दिव्य गुणों का निर्माता प्रभु **शुष्मम्**=शत्रुशोषक शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है, जिससे यह सब शत्रुओं को जीत पाता है। २. वह **अपाकः**=(न विद्यते अन्यः पाकः यस्मात् सः—उ०) अत्यन्त प्रशंसनीय (अनुत्तम) **अचिष्टुः**=(अञ्चनशीलः सर्वत्र गतः—म०) सर्वव्यापक प्रभु **यशसे**=इस इन्द्र के यश के लिए **पुरूणि**=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों को इसमें आहित करता है। इन कर्मों को करता हुआ यह इन्द्र यशस्वी बनता है और ३. **वृषणम्**=सब शक्तियों का सेवन करनेवाले प्रभु की **यजन्**=पूजा व सङ्गतिकरण करता हुआ यह **वृषा**=शक्तिशाली बनता है ४. **भूरिरेताः**=भरण-पोषण करनेवाले रेतस्वाला होता है (रेतस्=वीर्य)। ५. **यज्ञस्य मूर्धन्**=सदा उत्तम कर्मों के अग्रभाग में स्थित होता है और ६. **देवान् समनक्तु**=दिव्य गुणों के साथ अपने को सङ्गत करता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से बल प्राप्त होता है। हम यशस्वी कार्यों को करनेवाले बनते हैं और हम दिव्य गुणों से अपने जीवन को समलंकृत कर पाते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**वनस्पतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वनस्पतिः

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन॥४५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित बल का धारण करनेवाला इन्द्र **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का पति बनता है (वन=a ray of light)। २. ज्ञानी बनने के कारण ही **पाशैः**=विषयों के जालों से

अवसृष्टः न=छूटा हुआ-सा होता है। विषयों के बन्धन से यह ऊपर उठता है। विषयों के बन्धन ज्ञान की तलवार से कट जाते हैं। ३. विषय-बन्धनों को काटकर वह **त्मन्या**=(आत्मना) आत्मतत्त्व से **समञ्जन्**=सङ्गत होता है। विषयों से छूटने पर ही आत्मतत्त्व से मेल होता है। ४. आत्मतत्त्व से मेल के कारण **शमिता न**=यह अत्यन्त शान्त-सा हो जाता है और ५. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला-देव बनता है। एवं, क्रम यह है 'ज्ञान, विषयबन्धन-विनाश, आत्मसंयम, शान्ति व दिव्यता'। ६. यह शान्त स्वभाववाला देव व्यक्ति **इन्द्रस्य जठरम्**=उस प्रभु के दिये हुए इस पेट को **हव्यैः**=यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों से ही **पृणानः**=(पूरयन्) पूरित करता है। पेट को प्रभु का समझता हुआ उसे मांसादि अदिव्य-अपवित्र पदार्थों से कभी नहीं भरता। सात्त्विक भोजनों के सेवन से उसकी वृत्ति भी सात्त्विक बनती है। ७. इस प्रकार यह **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **मधुना**=शहद से तथा **घृतेन**=घृत से **स्वदाति**=स्वादवाला-माधुर्यवाला बना देता है। वस्तुतः 'हव्य पदार्थ' ही हमारे भोजन होने चाहिएँ। घृत और शहद आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन हमारे जीवन को यज्ञरूप बना देगा।

भावार्थ-हमारे भोजन वानस्पतिक हव्य पदार्थ हों, हम मधु व घृत आदि का प्रयोग करें। इस प्रकार हमारा जीवन यज्ञरूप होगा, माधुर्यमय होगा।

ऋषिः-**आङ्गिरसः**। देवता-**स्वाहाकृतयः**। छन्दः-**त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**॥

इन्द्र तथा देव

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूरऽइन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट्।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवाऽअमृता मादयन्ताम्॥४६॥

१. **स्तोकानाम्**=(स्तोक=कण=बिन्दु) एक-एक कण के रूप में उत्पन्न हुए-हुए **इन्दुं प्रति**=(इन्द to be powerful) शक्तिशाली बनानेवाले सोम को लक्ष्य बनाकर चलनेवाला, अर्थात् सोम के एक-एक कण का ध्यान करनेवाला यह आङ्गिरस **शूरः**=शूरवीर बनता है। २. **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों को वश में करनेवाला और इन्द्र नामवाला राजा **वृषायमाणः**=बलवान् पुरुष की भाँति आचरण करता है। **वृषभः**=शक्तिशाली होता है, प्रजाओं पर सुखों की वर्षा करता है। ३. **तुराषाट्**=(तूर्णं सहते-उ०, तुरान् हिंसकान् सहते-द०) शीघ्रता से हिंसा करनेवाले काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का पराभव करता है। ४. वस्तुतः वीर्य के कण-कण की रक्षा करनेवाला शूरवीर, जितेन्द्रिय, शक्तिशाली की भाँति आचरण करता हुआ, प्रजाओं पर सुखों का वर्षक, शत्रुओं का पराभावयिता राजा ही प्रजा की रक्षा कर पाता है-**'ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं वि रक्षति'**। विलासी राजा प्रजारक्षण में समर्थ नहीं होता। ५. इस राज्यरूप महादेव कार्य को राजा अकेला नहीं कर सकता, वह इस कार्य के लिए सात वा आठ मन्त्रियों को अपने साथ नियत करता है। राजा 'इन्द्र' है, तो ये मन्त्री 'देव' कहलाते हैं। ये देव भी **घृतप्रुषा**=(घृ=क्षरण, दीप्ति) मलक्षरण व नैर्मल्य तथा दीप्ति से सिक्त (प्रुष् to sprinkle) **मनसा**=मन से **मोदमानाः**=हर्ष का अनुभव करते हुए **मादयन्ताम्** प्रजा को आनन्दित करें। ६. कैसे देव? (क) **स्वाहा देवाः**=(स्वाहाकृतयो देवाः स्वाहादेवाः) प्रजा के हित के लिए स्व का त्याग करनेवाले देव, तथा (ख) **अमृताः**=(नास्ति मृतं मरणं येषां-म०) जो किन्हीं भी विषयों के पीछे मर नहीं रहे, अर्थात् विषयासक्त नहीं हैं। एवं, मन्त्रियों के तीन विशेषण हैं, ये नैर्मलय व दीप्ति से सिक्त मन से मोदमान हों, प्रजाहित के लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाले हों तथा विषयों के पीछे मरनेवाले न हों। इन तीन विशेषणों से विशिष्ट देव ही प्रजारक्षणरूप कार्य में राजा के उत्तम सहायक हो सकते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' राजा है, वह ब्रह्मचारी बनता है, शक्तिशाली बनकर कामादि शत्रुओं का संहार करता है। उसके मन्त्री 'देव' हैं। ये भी निर्मल मनवाले, प्रसन्नचित्त, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए, विषयों से अछूते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अभिभूति क्षत्रम्

आयात्विन्द्रोऽवसऽउप नऽइह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात्॥४७॥

१. गतमन्त्र का प्रजारक्षक, ब्रह्मचर्य व्रत का पालक **इन्द्रः**=राजा **इह**=इस राष्ट्र में **नः उप**=हमारे समीप **अवसे**=रक्षण के लिए **आयातु**=आये। २. अपने उत्तम जीवन व कर्म के कारण **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ, 'जिसकी सब प्रशंसा करते हैं', ऐसा यह राजा **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला तथा **सधमात्**=(देवैः सार्धं मादयति) देवतुल्य अपने मन्त्रियों के साथ प्रजा को आनन्दित करनेवाला **अस्तु**=हो। यह वस्तुतः प्रजारक्षण के कार्य में ही आनन्द का अनुभव करे, प्रजाओं के साथ मिलनेवाला हो, प्रजाओं के लिए अपने आराम को तिलाञ्जलि देनेवाला हो, उनके लिए अभिगम्य हो। ३. **वावृधानः**=इस प्रकार यह राष्ट्र का निरन्तर वर्धन करनेवाला हो। ४. यह राजा वह हो **यस्य**=जिसकी **तविषीः**=सेनाएँ व बल **पूर्वीः**=प्रथम श्रेणी की हैं, अर्थात् अत्यन्त उत्तम हैं। ५. यह राजा **द्यौः न**=प्रकाश की भाँति **अभिभूति क्षत्रम्**=शत्रुओं के पराभव करनेवाले बल का **पुष्यात्**=पोषण करे। उस शक्ति से सम्पन्न हो जो शक्ति शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ हो। जहाँ इसमें ज्ञान हो, वहाँ इसमें अद्भुत बल भी हो।

भावार्थ—प्रजा का रक्षण करनेवाला यह राजा अपने उत्तम कार्यों से प्रजा से स्तुत हो, शूर हो, वृद्धिशील हो, इसकी सेनाएँ भी प्रथम श्रेणी की, अर्थात् उत्तम शिक्षित हों। जहाँ यह ज्ञान के प्रकाशवाला हो, वहाँ शत्रु पराजयक्षम बल से भी सम्पन्न हो। इस प्रकार स्वयं सुन्दर दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनकर यह प्रजाओं को भी 'वामदेव' बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है (वाम=सुन्दर, देव=दिव्य गुण)।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

युद्ध व आक्रमण

आ नऽइन्द्रो दूरादा नऽआसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून्॥४८॥

१. गतमन्त्र के राजा के लिए ही कहते हैं कि यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से और **नः**=हमें **आसात्**=समीप से भी **आयासत्**=आये 'दूर हो, समीप हो' कहीं भी हो, हमारी **अवसे**=रक्षा के लिए यह आये ही। २. यह स्वयं राष्ट्र में उस-उस स्थान पर पहुँचकर **अभिष्टिकृत्**=अभिलषित कार्यों का करनेवाला हो। यह राजा उचित प्रबन्ध के द्वारा वाञ्छनीय वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करे तथा आवश्यक प्रबन्ध के द्वारा सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाला हो। ३. शत्रु का आक्रमण होने पर **ओजिष्ठेभिः**=ओजस्वितम, अत्यन्त बलिष्ठ सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ, गतमन्त्र की 'पूर्वी तविषी'=प्रथम श्रेणी की सर्वोत्तम सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ **नृपतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा **वज्रबाहुः**=वज्रयुक्त भुजावाला होकर **सङ्गे**=शत्रु के साथ मेल होने पर, अर्थात्

युद्ध में **समत्सु**=आक्रमणों के होने पर **पृतन्यून्**=शत्रुओं को (पृतनामिच्छन्ति) **तुर्वणिः**=(तुर्वति) नष्ट करनेवाला होता है। शत्रुओं का नाश करके यह प्रजा को शत्रु के आक्रमण-भय से मुक्त करता है। भयमुक्त प्रजा ही तो विविध क्षेत्रों में उन्नति कर सकती है।

भावार्थ—राजा दूर हो या समीप हो, प्रजा के रक्षण के लिए उस-उस स्थान पर पहुँचे। प्रजा की अभिलाषाओं को सिद्ध करनेवाला हो। शत्रुओं का आक्रमण होने पर शक्तिशाली सैन्यों के साथ स्वयं अस्त्र-शस्त्र धारण करके शत्रु का संहार करे।

सूचना—'संग और समत्' निघण्टु में दोनों ही संग्राम के नाम हैं। एकवचन में होता हुआ 'संग' युद्ध (war) है और बहुवचन में वर्त्तमान समद् शब्द आक्रमणों (Battles) का वाचक है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वज्री, मघवा, विरप्शी

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ॥४९॥

१. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा मुख्य सेनाधीश के रूप में **हरिभिः**=सुशिक्षित अश्वों के साथ **नः अच्छ**=हमारी ओर **आयातु**=प्राप्त हो। २. यह राजा **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **च**=तथा **राधसे**=धनादि की सिद्धि के लिए **अर्वाचीनः**=शत्रु के सम्मुख जानेवाला हो। शत्रु पर आक्रमण करके उसे पराजित करनेवाला हो। ३. यह **वज्री**=उत्तम वज्रवाला **मघवा**=परमपूजित धन से युक्त **विरप्शी**=महान् अथवा (विविधं रपति) विविध आदेशों का देनेवाला राजा **नः इमं यज्ञं अनु**=हमारे इस राष्ट्रयज्ञ का लक्ष्य करके **वाजसातौ तिष्ठाति**=संग्राम में स्थित होता है। युद्ध में कभी कायरता से भाग नहीं खड़ा होता। संग्राम में विजय प्राप्त करके यह अन्न के संविभाग में स्थित होता है। सब प्रजाओं को जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कराने की व्यवस्था करता है।

भावार्थ—राजा के कर्तव्य हैं कि सेना के अङ्गभूत घोड़े आदि को सुशिक्षित करे। अवसर आने पर शत्रु पर आक्रमण करे। प्रजा का रक्षण करे, उसे उचित धन प्राप्त कराए। युद्ध में शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर उपस्थित हो।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

राष्ट्र-रक्षा व प्रजा-कल्याण

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवेहवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳस्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥५०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'गर्ग' है, जो (गिरति) शत्रुओं को निगल जाता है। राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को समाप्त करके राष्ट्र के **त्रातारम्**=रक्षक **इन्द्रम्**=शत्रुओं के मार भगानेवाले राजा को और अतएव **अवितारम्**=(अव प्रीणने) प्रजा का प्रीणित करनेवाले **इन्द्रम्**=राजा को २. **हवेहवे**=प्रत्येक संग्राम में **सुहवम्**=सुगमता से बुलाये जानेवाले, **शूरम्**=शत्रुओं की हिंसा करनेवाले (शृ हिंसायाम्) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठता, जितेन्द्रिय राजा को ३. जितेन्द्रियता के कारण ही **शक्रम्**=(शक्नोति इति शक्रः) राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ, **पुरुहूतम्**=बहुत-से पुकारे गये, सत्कार किये गये **इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली राजा को **ह्वयामि**=इस सिंहासन पर बैठने व बैठकर राज्य करने के लिए

पुकारता हूँ। ४. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, इन्द्रियों का अधिष्ठाता **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाला, कर आदि से प्राप्त उचित धन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्ययित करनेवाला और अतएव **मघवा**=मघवान् कहलानेवाला यह राजा **नः**=हममें **स्वस्ति**=कल्याण को **धातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा करे और प्रजा के कल्याण की साधना करे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

निर्द्वेषता व निर्भयता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२॥ऽअवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषोऽअभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥५१॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला और इस प्रकार **सुत्रामा**=बहुत उत्तमता से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला २. **स्ववान्**=आत्मतत्त्ववाला, अर्थात् आत्मप्रवण, भोगवृत्ति से दूर रहनेवाला यह राजा **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **सुमृडीकः**=(मृड सुखने) प्रजा को अत्यन्त सुखी करनेवाला **भवतु**=हो। ३. प्रजा को सुखी करने के उद्देश्य से ही यह **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण प्रजाजनों को जाननेवाला हो। राजा लोग 'चारचक्षु' होते हैं। गुप्तचरों के द्वारा और स्वयं भी छद्मवेश में प्रजा में विचरण करते हुए ये प्रजा की ठीक स्थिति को जानें। इसे जाने बिना ठीक प्रकार प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। ४. **द्वेषः बाधताम्**=राजा द्वेष को दूर करे। प्रजावर्ग में परस्पर द्वेष को उत्पन्न न होने दे। ५. परस्पर द्वेष होने पर दिलों में भय बना रहता है। द्वेष को दूर करके राजा **अभयं कृणोतु**=निर्भयता करे। वस्तुतः निर्भयता दिव्य गुणों में प्रथम है। इसके होने पर अन्य दैवी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होता है। ६. राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि हम सब प्रजावर्ग **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य के, शक्ति के **पतयः**=स्वामी व रक्षक **स्याम**=हों।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा इस बात का पूरा ध्यान करे कि प्रजा में धर्म, जाति व बिरादरी आदि किसी भी आधार को लेकर परस्पर द्वेष व लड़ाई की भावना उत्पन्न न हो। राष्ट्र में पारस्परिक द्वेष से दिलों में डर (दहशत) न बना रहे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुमति—सौमनस

तस्य वयः सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ२ऽइन्द्रोऽअस्मेऽआराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ॥५२॥

१. **वयम्**=हम **तस्य**=ऊपर के मन्त्रों में वर्णित **यज्ञियस्य**=पूजा के योग्य राजा की **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे**=कल्याणकर **सौमनसे**=सौमनस्य में, अर्थात् मन के उत्तम व्यवहार में **स्याम**=हों, अर्थात् हमारे शासन करनेवाले इस राजा की मति सदा उत्तम बनी रहे और इसके मन के भाव सदा उत्तम बने रहें। इसके मस्तिष्क में सदा उत्तम विचार हों, मन में सदा उत्तम भाव हों। इस प्रकार इस राजा का उत्तम मस्तिष्क व उत्तम मन प्रजा के जीवन को उत्तम बनाने के साधनों का सदा विचार करता रहे। २. **सः**=वही राजा **सुत्रामा**=प्रजा का उत्तमता से त्राण करता है। **स्ववान्**=प्रशस्त आत्मावाला होता है। ३. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **अस्मे**=हमसे **आरात्**=दूर **चित्**=ही **द्वेषः**=द्वेष को **सनुतः**=सदा **युयोतु**=पृथक् करे।

भावार्थ—राजा सुमति व सौमनसवाला हो। वह हमसे द्वेष को दूर करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—इन्द्रः। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

मयूररोम, मन्द्र, 'हरि'

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ२॥ऽइहि ॥५३॥

१. पिछले मन्त्र में शत्रुओं को समाप्त कर देनेवाले 'गर्ग' (निगल जानेवाले) राजा का उल्लेख था। जब यह राजा उत्तम व्यवस्था के द्वारा प्रजा में से द्वेष को दूर कर देता है और सब प्रजाएँ परस्पर प्रेमवाली व 'अभय' हो जाती हैं तब वे प्रस्तुत मन्त्र की ऋषि 'विश्वामित्र'—सबके साथ स्नेह करनेवाली बन जाती हैं। इस विश्वामित्र से प्रभु कहते हैं—हे **इन्द्र**=द्वेषादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! तू इन **हरिभिः** =शरीररूप रथ में जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़ों से **आयाहि** =हमारे समीप आ। २. कैसे घोड़ों से? **मन्द्रैः**=जो सदा प्रसन्न हैं तथा **मयूररोमभिः**=(मिनाति द्वेषादिकम्) द्वेषादि को अपने से पृथक् रखते हैं अथवा 'मय गतौ' गतिशील हैं तथा 'रु शब्दे' उस प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले हैं, अर्थात् क्रियामय हैं, प्रभु का स्मरणवाले हैं। हाथों में क्रिया, मन में प्रभु का विचार। ३. इस प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशीलता में **त्वा**=तुझे **चित्**=कोई भी विषय **मा नियमन्**=न रोके, अर्थात् संसार के विषय तुझे बाँध न लें। इन्होंने बाँधा और तेरी गति रुकी। **न**=जैसे **विम्**=पक्षी को **पाशिनः**=पाशहस्तशिकारी बाँध लेते हैं, उसी प्रकार यह प्रकृति विषयरूप जालों में कहीं तुझे बाँध न ले। यह प्रकृति इतनी चमकीली व आकर्षक है कि इसके अन्दर न बँधना अत्यन्त कठिन है। प्रभुकृपा ही मनुष्य को इस बन्धन से बचाती है। ४. तू इन विषयों को **धन्वा इव**=मरुस्थलों की भाँति **अति इहि**=लाँघ जा। मरुस्थल में मरीचिका के दृश्य मृग को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, परन्तु उसकी प्यास को बुझाते तो नहीं। इसी प्रकार ये विषय मरुस्थल हैं। इनसे तेरा कल्याण न होगा। तू इनमें फँसा रहेगा और सुख को प्राप्त न कर सकेगा। इन विषयों को पार करके ही तू मेरे समीप पहुँचेगा और यात्रा को पूरा कर सकेगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप घोड़े 'सदा प्रसन्न, गतिशील व प्रभु का स्मरण करनेवाले' हों तभी हम जीवनयात्रा में किन्हीं भी विषयों से बद्ध न होकर प्रभु को पानेवाले होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—इन्द्रः। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वीरवत् गोमत्

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासोऽअभ्यर्चन्त्यर्कैः।
स नं स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥५४॥

१. **एव इत्**=गतमन्त्रों के अनुसार निश्चय से **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **वृषणम्** =प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले शक्तिशाली **वज्रबाहुम्**=प्रजा की रक्षा के लिए हाथ में वज्र लिये हुए अथवा क्रियाशील राजा को **वसिष्ठासः**=राष्ट्र में उत्तम निवासवाले प्रजाजन **अर्कैः**=स्तोत्रों से **अभ्यर्चन्ति** =पूजते हैं, सत्कृत करते हैं। 'अर्क' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी है। अपने धान्यों में से छठा या ८वाँ भाग देकर राजा का उचित मान करते हैं। स्पष्ट है कि राजा का कर्त्तव्य जहाँ प्रजा की रक्षा करना है, वहाँ सुरक्षित प्रजाओं का भी यह कर्त्तव्य है कि राजा को अपने धान्यों का निश्चित अंश कररूप में अवश्य दे। २. इस

प्रकार प्रजा से **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ **सः**=वह राजा **नः**=हमारे लिए **वीरवत्**=उत्तम वीरोंवाले तथा **गोमत्**=प्रशस्त गौवोंवाले राष्ट्र का **धातु**=धारण करे, अर्थात् राजा राष्ट्र की ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में सब पुरुष वीर हों। रोगादि के कारण व अन्नाभाव के कारण राष्ट्र में लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। इसी दृष्टिकोण से राजा यह व्यवस्था भी करे कि राष्ट्र में गौवें खूब हों। प्रत्येक घर में गौ के लिए स्थान हो। वैदिक आदर्श के अनुसार आदर्श घर वही है जहाँ **'आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः'**=सायंकाल कूदती-फाँदती गौवें आती हैं। गौवें होंगी तो हमारी सन्तानें भी वीर होंगी। एवं, एक-एक घर 'गोमत्-वीरवत्' बनेगा और सारा राष्ट्र बड़ा सुन्दर हो जाएगा। इस सुन्दर राष्ट्र में उत्तम निवासवाले ये व्यक्ति 'वसिष्ठ' होंगे। ३. ये वसिष्ठ राजा (इन्द्र) के मन्त्री आदि कर्मचारी वर्ग (देवों) को कहते हैं कि **यूयम्**=तुम सब **स्वस्तिभिः**=उत्तम स्थितियों के द्वारा **नः**=हमारी **पात**=रक्षा करो। सब मन्त्रिवर्ग राष्ट्र का कार्य इस उत्तमता से करें कि प्रजा के सब लोगों की स्थिति उत्तम हो।

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा करे। प्रजा राजा को अन्नभाग दे। प्रशंसित राजा हमारे राष्ट्र को वीरोंवाला तथा गौवोंवाला बनाये। सब मन्त्री आदि राष्ट्र की स्थिति को उत्तम बनाने का ध्यान करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आदर्श गृह

समिद्धोऽअग्निरश्विना तप्तो घर्मो विराट् सुतः।

दुहे धेनुः सरस्वती सोमꣳशुक्रमिहेन्द्रियम् ॥५५॥

१. हे **अश्विनौ**=गुणों व कर्मों में व्याप्त होनेवाले स्त्री-पुरुषो! घर को अच्छा बनाने के लिए इस बात का ध्यान करो कि २. **अग्निः समिद्धः**=आपके घर में अग्नि में समिधा डाली गई हैं और अग्निहोत्र सम्यक्तया सम्पादित हुआ है। अग्निहोत्र घर में सब व्यक्तियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। ३. दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि **तप्तः**=(तप्तं अस्यास्तीति)=घर में सब व्यक्ति तपस्वी हों। जीवन में तप मनुष्य का पतन नहीं होने देता। ४. तप के परिणामस्वरूप **घर्मः**=सब गृहसभ्यों में प्राणों की उष्णता हो (घर्म=गर्म) तपस्या से यह प्राणों की उष्णता भी बनी रहती है। ५. **विराट्**=प्रत्येक व्यक्ति प्राणों की उष्णता को स्थिर रखता हुआ ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाला हो। ६. **सुतः**=(सुतं अस्यास्तीति) यह उत्पादनवाला—अर्थात् यह सदा निर्माण के कार्यों में लगनेवाला हो। ७. **धेनुः दुहे**=प्रत्येक गृहपति यह कह सके कि मेरे घर में गौ दुही जाती है या दूध देने से गौ सबका पूरण करती है। ८. गौ ही नहीं, **सरस्वती दुहे**=यहाँ ज्ञान की अधिदेवता भी सबका पूरण करती है, अर्थात् इस घर में सब ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और ९. इसी का परिणाम है कि **इह**=इस घर में **सोमम्**=सौम्यता—विनीतता व शान्ति है, **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति है और **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय का बल अथवा धन है।

भावार्थ—आदर्श घर में पति-पत्नी सदा कर्मव्यापृत रहते हैं, घर में अग्निहोत्र होता है, तपस्या, प्राणशक्ति, ज्ञानदीप्ति व निर्माणात्मक कार्य वहाँ विद्यमान होते हैं। गौवों और ज्ञान का दोहन होता है। अन्त में सौम्यता के साथ वहाँ वीरता होती है तथा सब इन्द्रियाँ ठीक स्थिति में होती हैं।

ऋषिः—विदर्भिः। देवता—अश्विसरस्वतीन्द्राः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अश्विना-सरस्वती

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती।
मध्वा रजांꣳसीन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान्॥५६॥

१. गतमन्त्र के 'विदर्भि' के जीवन में **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान **तनूपा**=शरीर की रक्षा करनेवाले होते हैं और **भिषजा**=वे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले होते हैं। इनके शरीर में प्रथम तो रोग उत्पन्न ही नहीं होते, उत्पन्न हो भी जाते हैं तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उत्पन्न हुए-हुए सोम को प्राणापान शरीर में व्याप्त करते हैं और इस प्रकार उस-उस अङ्ग को सबल बनाकर उसे रोगों का घर नहीं बनने देते। २. इसके जीवन में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता, अर्थात् ज्ञान **मध्वा**=माधुर्य के साथ **रजांसि**='रजःकर्मणि भारत', 'रजरुवर्थ उच्यते'=कर्मों को व अर्थों को धारण करता है। यह प्राणसाधन द्वारा सुरक्षित सोमवाला पुरुष ज्ञानाग्नि के दीप्त होने पर (क) 'बड़े माधुर्यपूर्ण व्यवहारवाला' होता है। (ख) सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। (ग) इन उत्तम कर्मों के द्वारा यह अर्थ का उपार्जन करनेवाला बनता है। ३. इस प्रकार ये प्राणापान तथा ज्ञान (क्षत्र+ब्रह्म) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पथिभिः**=उत्तम मार्गों से **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा धन को (इन्द्रियं धनम्) **वहान्**=प्राप्त कराते हैं। गो० ३।२।२। में इन धनों का उल्लेख इस रूप में है—'जायमानो ह वै ब्राह्मणः सप्तेन्द्रियाण्यभि जायते ब्रह्मवर्चसं यशश्च स्वप्नं च क्रोधं च श्लाघां च रूपं च पुण्यगन्धं सप्तमम्', अर्थात् प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि विदर्भि के जीवन में ब्रह्मवर्चस् होता है, वह यशस्वी बनता है, चिन्ता से ऊपर उठे होने से वह ठीक से सोता है, पाप के प्रति वह क्रोध कर पाता है, लोगों की दृष्टि में वह सदा श्लाघा के योग्य जीवनवाला होता है, सुन्दर रूपवाला होता है और उत्तम ज्ञानवाला होता है।

भावार्थ—एक आदर्श जीवनवाले पुरुष के शरीर में प्राणापान होते हैं और विद्याभ्यास से बढ़ा हुआ ज्ञान उसे मधुर व शक्तिसम्पन्न बनाता है। यह सुमार्ग से उत्तम धनों का अर्जन करता है।

ऋषिः—विदर्भिः। देवता—अश्विसरस्वतीन्द्राः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मधु भेषजम्

इन्द्रायेन्दुꣳसरस्वती नराशꣳसेन नग्नहुम्।
अधातामश्विना मधु भेषजं भिषजा सुते॥५७॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्दुम्**=सोम को, (इन्द् to be powerful या इन्द् परमैश्वर्य) शक्ति व ज्ञानरूप परमैश्वर्य के कारणभूत इस सोम को धारण करती है। सोम को यहाँ इन्दु कहा गया है, चूँकि यह सोम शक्ति व परमैश्वर्य का कारण बनता है। मनुष्य जब ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर चलता है तब यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. यह सरस्वती ही इस इन्द्र को **नराशंसेन**=(नरै आशंसनीयेन) मनुष्यों से चाहनेयोग्य इस यज्ञ से **नग्नहुम्**=(नग्नः सन् जुहोति) अपनी आवश्यकताओं को कम करके आहुति देनेवाला, दान देनेवाला बनाती है। ज्ञान से मनुष्य भौतिक वृत्तियों से ऊपर उठता हुआ खूब देने की वृत्तिवाला बनता है। ३.

इस इन्द्र के लिए ही **भिषजा अश्विना**=रोगों के चिकित्सक प्राणापान **सुते**=शरीर में सोम का उत्पादन होने पर **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध को **अधाताम्**=धारण करते हैं। अथवा इस **मधु**=शहदरूप औषध को धारण करते हैं, अर्थात् प्राणापान की शक्ति के साथ इस मधु का मात्रा में प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध हो जाता है। शहद की सामान्यतः मात्रा गर्मियों में १८ ग्राम व सर्दियों में ३० ग्राम हो सकती है।

भावार्थ—१. ज्ञान का उपासक पुरुष सोम की रक्षा के द्वारा शक्तिसम्पन्न बनता है। २. यज्ञियवृत्ति को धारण कर, अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ाकर, दान देता है ३. प्राणापान इसके वैद्य बनते हैं, ४. मात्रा में किया गया मधु का प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध बन जाता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इष-ऊर्ज-रयि

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम्।
इडाभिरश्विनाविषꣳसमूर्जꣳसꣳरयिं दधुः॥५८॥

१. **आजुह्वाना**=(आह्वयन्ती) प्रभु का आह्वान (पुकार) करती हुई **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियशक्तियों को अथवा ५६वें मन्त्र की व्याख्या में प्रदर्शित सात धनों को तथा **वीर्यम्**=वीर्य को धारण करती है। ज्ञान और प्रभु-उपासना के मिल जाने पर मानव जीवन में सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करके यह वीर्यवान् बनता है। २. **इडाभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अश्विना**=प्राणापान **इषं सन्दधुः**=सम्यक्तया प्रेरणा प्राप्त कराते हैं **ऊर्जम्**=उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए इसमें बल व प्राणशक्ति का आह्वान करते हैं और **रयिम्**=प्रेरणानुसार कार्य कर सकने के लिए उचित धन का **सन्दधुः**=सम्यक्तया धारण करते हैं। ३. 'इडाभिः' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा की भावनाओं से' भी होता है। प्राणापान श्रद्धा की भावनाओं के होने पर, इसे प्रेरणाशक्ति व धन' प्राप्त कराते हैं। ४. प्रस्तुत मन्त्र में सरस्वती का विशेषण 'आजुह्वाना' ज्ञान के साथ उपासना को जोड़ रहा है तथा अश्विना के साथ 'इडाभिः' यह पद बल के साथ श्रद्धा के मेल का विधान कर रहा है। बल के साथ श्रद्धा होने पर ही प्रेरणाशक्ति व धन का लाभ है। एवं, ज्ञान व बल दोनों के साथ श्रद्धा व उपासना का होना आवश्यक है।

भावार्थ—हमारी सरस्वती प्रभु को पुकारती हुई हो, ज्ञान उपासना से जुड़ा हो तथा हमारी प्राणाशक्ति के साथ श्रद्धा का मेल हो। हम उन्नत शक्तिवाले बनें, श्रद्धा से युक्त हों।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नमुचि का सोम

अश्विना नमुचेः सुतꣳसोमꣳशुक्रं परिस्रुता।
सरस्वती तमा भरद् बर्हिषेन्द्राय पातवे॥५९॥

१. **अश्विना**=ये प्राणापान **नमुचेः**=(न+मुचि) न परित्याग करनेवाले के, अर्थात् अपव्यय न करनेवाले के **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमम्**=सोम को **परिस्रुता**=शरीर में चारों ओर स्रुत व व्याप्त करनेवाले होते हैं। शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम **शुक्रम्**=उनके जीवन को (शुक् दीप्तौ) दीप्त बनानेवाला होता है और (शुक् गतौ) उन्हें क्रियाशील

बनाता है। (क) यहाँ 'नमुचि' शब्द अभिमानरूप आसुर भावना के लिए न आकर उस पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्यर्थ के भोगविलास में वीर्य का परित्याग नहीं करता। (ख) इस पुरुष के वीर्य को प्राणापान ऊर्ध्वगति देकर सारे शरीर में व्याप्त कर देते हैं। (ग) शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम उस पुरुष के जीवन को उज्ज्वल बनाता है, और उसे खूब क्रियाशील बने रहने की क्षमता प्राप्त कराता है। २. अब **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **तम्**=उस शरीर में व्याप्त किये गये सोम को **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ व इस निर्वासन हृदय के द्वारा **इन्द्राय**=इन्द्र के लिए **आभरत्**=धारण करती है **पातवे**=जिससे वह अपना रक्षण कर सके। ज्ञान में लगा हुआ पुरुष इस सोम का शरीर में बड़ा सुन्दर सद्व्यय कर पाता है। इस प्रकार शरीर में ही व्ययित हुआ-हुआ सोम उसका संरक्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से सोम का शरीर में ही व्यापन करें, वहाँ यह ज्ञानाग्नि के ईंधन के रूप में व्ययित हो और इस प्रकार यह सोम उस सोमपान करनेवाले की रोगों से रक्षा करनेवाला बने।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

विस्तृत द्वार

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशः।
इन्द्रो न रोदसीऽउभे दुहे कामान्त्सरस्वती ॥६०॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा, अर्थात् प्राणापान की साधना से **दुरः**=शरीर के 'मुख+पायुः+उपस्थ+ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वार **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) बड़े स्तुत्य हों। 'कवष्यः' शब्द का अर्थ ढाल भी है। ये द्वार मनुष्य के लिए ढाल का काम करें। उसे शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। मुख व पायु के ठीक कार्य करने पर मनुष्य रोगों से बचा रहता है, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र के ठीक कार्य करने पर मनुष्य अध्यात्म दृष्टि से उन्नत होता है और वासनाओं का शिकार नहीं होता। २. **न**=और ये द्वार (समुच्चयार्थीयो नकारः—उ०) **व्यचस्वतीः**=(व्याप्तिमत्यः—द०) व्याप्ति व विस्तारवाले हों। ये अपने-अपने कार्य को करने की विस्तृत शक्तिवाले हों। ३. **न**=और ये द्वार **दिशः**=(दिश् to direct) जीवन को बड़ा सुव्यवस्थित करनेवाले हों। ४. **न**=और इन उत्तम द्वारोंवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक का—मस्तिष्क व शरीर का **दुहे**=प्रपूरण करे। इनकी कमियों को दूर करके इनमें क्रमशः ज्ञान व शक्ति को भरे तथा ५. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **कामान् दुहे**=सब इष्ट कामनाओं को पूरण करे। ज्ञान से हमारी कामनाएँ पवित्र तो हों ही, उन कामनाओं का हम पूरण भी कर सकें।

भावार्थ—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वारा स्तुत्य व विस्तारवाले हों। ये हमारे जीवनों को बड़ा व्यवस्थित करनेवाले हों। हम शरीर व मस्तिष्क दोनों का उचित पूरण करें तथा ज्ञान द्वारा सब इष्ट कामनाओं को सिद्ध करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

शक्ति व सौन्दर्य

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रꣳसायमिन्द्रियैः।
संजानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥६१॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के विजेता पुरुष को **उषासानक्तम्**=उषःकाल में तथा रात्रि में, अर्थात् रात्रि के आरम्भ से रात्रि के अन्त तक तथा **दिवा-सायम्**=दिन के प्रारम्भ से दिन के अन्त, अर्थात् सायंकाल तक **इन्द्रियैः**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से अथवा इन्द्रियों के धनों से **समञ्जाते**=अलंकृत करते हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन्द्रियाँ सदा सशक्त बनी रहती हैं। २. ये ही प्राणापान **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से, अर्थात् ज्ञान से **संजानाने**=संज्ञान व ऐकमत्यवाले होकर **सुपेशसा**=(पेशस्=Shape आकृति) उत्तम रूप से, सौन्दर्य से, **समञ्जाते**=सुभूषित करते हैं। प्राणापान के साथ ज्ञान के मिल जाने पर सारा जीवन सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान से हमें इन्द्रियों की शक्ति व सौन्दर्य प्राप्त हो। क्षत्र व ब्रह्म दोनों सङ्गत होकर हमारे जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दैव्या होता

पातं नोऽअश्विना दिवा पाहि नक्तꣳसरस्वति।

दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रꣳसचासुते ॥६२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **दिवा**=दिन में **नः**=हमारी **पातम्**=रक्षा कीजिए, अर्थात् आपकी कृपा से दिन में हम अपने व्यवहारों को शक्तिपूर्वक करते चलें। आपके कारण हम अनथक बने रहें, थककर लेट न जाएँ। 'दिवा' शब्द 'दिव्=व्यवहारे' धातु से बनकर स्पष्ट संकेत कर रहा है कि यह सोने के लिए नहीं है, यह तो उचित व्यवहारों को निरन्तर करने के लिए है। २. हे **सरस्वति** =ज्ञानाधिदेवते! **नक्तम्**=रात्रि में **पाहि**=हमारी रक्षा कीजिए। जब कभी हमें जीवन में अन्धकार-सा दृष्टिगोचर हो तब आप हमें प्रकाश देनेवाली हों। आपकी कृपा से हम उलझें नहीं, उदास न हों। हमारे जीवन में अज्ञानान्धकार की रात्रि न आये। ३. हे **दैव्या होतारा**=(प्राणापानौ वै दैव्यौ होतारौ—ऐ० ३।४) प्राणापानो! आप दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, अतएव **देव्यौ**=उस देव को प्राप्त करानेवाले हो अथवा हमारे अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले हो। **भिषजा**=आप तो हमारे सब रोगों के चिकित्सक हो। आप तो **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **सचा**=मिलकर **पातम्**=रक्षित करते हो। प्राणापान की क्रिया जब परस्पर मिलकर ठीक प्रकार से चलती है तब ये (क) वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हैं, (ख) स्वयं न खाते हुए सब इन्द्रियों को सशक्त बनाने के लिए भोजन का पाचन करते हैं, (ग) हमारे अन्दर दिव्य गुणों का विकास करते हैं और उस देवाधिदेव परमात्मा से हमें मिलाते हैं, (घ) हमें पूर्ण नीरोग बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हंमारी दिन-रात रक्षा करते हैं। सरस्वती हमारे अन्धकार को दूर करती है। इन सबकी कृपा से हम नीरोग बन व दिव्य गुणों को प्राप्त कर देव=परमात्मा को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तीव्रम् मदम्

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।

तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥६३॥

१. **तिस्रः**=तीनों **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता, **भारती**=वाणी तथा **इडा**=श्रद्धा **त्रेधा** =जो तीन प्रकार से अवस्थित हैं, 'सरस्वती' द्युलोक में, 'इडा' (श्रद्धा) अन्तरिक्षलोक में तथा 'भारती' इस पृथिवीलोक में, इन तीन देवियों के साथ **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **परिस्रुता**=(परिता स्रवणेन) शरीर में व्यापन के द्वारा **तीव्रम्**=बुद्धि की तीव्रता के सम्पादन करनेवाले (पटुत्वकरम्—उ०) तथा **मदम्**=हृदयान्तरिक्ष में उल्लास को पैदा करनेवाले **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **सुषुवुः**=पैदा करते हैं। २. अन्न के सेवन से शरीर में रसादि के क्रम से सोम की उत्पत्ति होती है। यह सोम शरीर में ही व्याप्त रहे, शरीर का ही अङ्ग बन जाए, इसके लिए आवश्यक है कि हम (क) स्वाध्याय की वृत्ति को अपनाएँ, सरस्वती की आराधना करें, (ख) प्राणापान की साधना करें, प्राणायाम के अभ्यासी हों (अश्विना), (ग) वाणी को नियन्त्रित रक्खें। यह औरों का भरण-पोषण करनेवाली हो, उत्साहवर्धक, प्रशंसात्मक शब्द ही बोले। कभी क्रोधभरे शब्द न निकाले। ब्रह्मचारी के लिए क्रोध वर्जित है, (घ) हम श्रद्धायुक्त मनवाले हों। हमारा श्रद्धासम्पन्न हृदय सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला हो। वह वासनाओं का क्षेत्र न बने। ३. इस प्रकार 'स्वाध्याय, प्राणसाधना, क्रोधशून्य मधुर वाणी व श्रद्धा' इन साधनों से सोम के शरीर में ही व्याप्त होने पर मनुष्य (क) तीव्र बुद्धि बनता है (तीव्रम्), (ख) उसका जीवन उल्लासमय होता है (मदम्), (ग) इन दो लाभों के अतिरिक्त उसका शरीर भी बड़ा स्वस्थ बनता है। इसी स्वास्थ्य के वर्णन से अग्रिम मन्त्र का प्रारम्भ होगा।

भावार्थ—सोम मनुष्य को तीव्र बुद्धि व उल्लासमय जीवनवाला बनाता है। 'यह शरीर में ही सुरक्षित रहे', इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्यायशील हों, प्राणापान के अभ्यासी हों, वही वाणी बोलें जो क्रोधशून्य हो तथा हृदय में श्रद्धा की भावना से ओत-प्रोत हों।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यशः-श्रीः रूपम्

अ॒श्विना॑ भेष॒जं मधु॑ भेष॒जं न॑ः सर॑स्वती।

इन्द्रे॒ त्वष्टा॒ यश॒: श्रिय॑ꣳरू॒पꣳरू॑पमधुः सुते॥६४॥

१. गतमन्त्र में सोम के शरीर में परिस्रुत होने पर बुद्धि की तीव्रता व हृदय में उल्लास होने का उल्लेख किया था। प्रस्तुत मन्त्र में इस सोम की रक्षा से शरीर में सब प्रकार की नीरोगता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **अश्विना**=ये प्राणापान उस सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हैं और इस प्रकार **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध बन जाते हैं। शरीर में कोई रोग नहीं आता, आता भी है तो ये प्राणापान उसकी शीघ्र ही चिकित्सा कर देते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता भी **नः**=हमारे लिए **भेषजम्**=कितनी सुन्दर औषध बनती है। यह हमें उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त कराती है जो हमें इस संसार में होनेवाले ईर्ष्या-द्वेष व पारस्परिक कलहों में नहीं फँसने देता। ३. इस स्थिति में जबकि प्राणापान शारीरिक रोगों के लिए औषध बनते हैं तथा सरस्वती की आराधना मानस रोगों को दूर करनेवाली होती है तब इस **इन्द्रे** =सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले पुरुष में **त्वष्टा**=देवशिल्पी, हमारे जीवनों में दिव्यता का निर्माण करनेवाला प्रभु **यशः**=यश को **अधुः**=स्थापित करता है। ४. यह प्रभु, अश्विनीदेव तथा सरस्वती **श्रियम्**=श्री को, शोभा को तथा **रूपंरूपम्**=प्रत्येक अङ्ग में सौन्दर्य को **अधुः** =स्थापित करते हैं, परन्तु

यह सब होता तभी है जब **सुते**=सोम का उत्पादन होता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान हमारे रोगों के औषध होते हैं। प्रभुकृपा से हमारा जीवन यश, श्री व रूपसम्पन्न होता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्रः

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती ॥६५॥

१. 'पिछले मन्त्र के अनुसार अपने में सोम का उत्पादन करनेवाला इन्द्र कैसा बनता है', इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार करते हैं—**ऋतुथा**=वह ऋतु के अनुसार चलता है, ऋतु के अनुकूल अपना आहार-विहार रखता है। २. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता व जितेन्द्रिय बनता है। ३. **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनता है। ४. **शशमानः**=तीव्र गतिवाला होता है, किसी कर्म में आलस्य नहीं करता और ५. इसके जीवन में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ **परिस्रुता**=शरीर में सोम के परितः स्रवण=(व्यापन) के द्वारा **कीलालम्**=बन्धन को, उस परमात्मा के साथ सम्बन्ध को तथा **मधु**=माधुर्य को **दुहे**=प्रपूरित करती है। इस प्रकार इसके लिए यह सरस्वती **धेनुः**=आप्यायन करनेवाली होती है। इसकी सब शक्तियों के वर्धन का कारण बनती है। ६. इन्द्र वह है जो समयानुसार कार्य करता है, ज्ञानरश्मियोंवाला होता है तथा द्रुत गतिवाला होता है, कार्यों में कभी आलस्य नहीं करता। ७. प्राणापान की साधना तथा स्वाध्याय इसे व्रतों के बन्धन में बाँधकर प्रभु के मार्ग पर ले-चलते हैं। इसके जीवन में माधुर्य का कारण बनते हैं। सरस्वती की आराधना इसके आप्यायन का कारण बनती है। ८. ऊपर की सब बातें तभी हैं जब सोम का शरीर में ही परितः स्रवण व व्यापन हो।

भावार्थ—सोमी ऋतु के अनुसार आचरण करता है, जितेन्द्रिय बनता है, ज्ञानी व तीव्र गतिवाला होता है, प्राणापान की साधना से परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुतं-मधु

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्रुता।
समधातꣳसरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु ॥६६॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः न**=(नश्चार्थे—म०) ज्ञानेन्द्रियों के साथ अथवा ज्ञान की वाणियों के साथ **सोमम्**=सोम को **समधातम्**=धारण करते हैं। २. **परिस्रुता**=सोम के परितः-स्रवण व व्यापन के साथ **मासरेण**=(मासेषु रमणं) प्रत्येक मास में रमण के साथ सोम को धारण करते हैं, अर्थात् शरीर में सोम का व्यापन होने पर सारे महीने व सारी ऋतुएँ अच्छी-ही-अच्छी लगती हैं। ३. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **सुतम्**=सोम को तथा **मधु**=माधुर्य को धारण करती है। ४. यदि हम चाहते हैं कि (क) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक बनी रहें, हमें ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त हों (गोभिः), (ख) हमें सब मास अच्छे-ही-अच्छे लगें (मासरेण), (ग) हमारी सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए हों (मधु) तो आवश्यक है कि हम प्राणापान की साधना करें (अश्विना), स्वाध्यायशील हों (सरस्वती), हममें स्वार्थत्याग की भावना हो (स्वाहा)।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने जीवन को ज्ञानसम्पन्न, प्रसन्नता से युक्त मनवाला तथा माधुर्यमय बनाएँ।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु-मघ

अश्विना हुविरिन्द्रियं नमुचेर्धिया सरस्वती।
आ शुक्रमासुराद्वसु मघमिन्द्राय जभ्रिरे॥६७॥

१. **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नमुचेः**=(न-मुचि, धर्ममत्यजत) धर्म को, अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले प्रभु के **धिया**=ध्यान व ज्ञान के द्वारा **हविः**=त्यागपूर्वक अदन की भावना को और **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **शुक्रम्**= जीव को शुद्ध (शुच्) व सक्रिय (शुक्) बनानेवाले वीर्य को, **वसु**=उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को तथा **मघम्**=पापशून्य, सुपथ से अर्जित ऐश्वर्य को **आसुरात्**=उस प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु से **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आजभ्रिरे**=प्राप्त कराए २. मानव जीवन की साधना में सबसे महत्त्वपूर्ण पग प्राणसाधना (प्राणायाम्) व स्वाध्याय हैं। ३. इनसे मनुष्य में (क) त्यागपूर्वक अदन की भावना उत्पन्न होती है। इन्द्रियशक्ति उत्पन्न होती है। (ख) वीर्य स्थिर होता है जो उसके जीवन को शुद्ध व क्रियाशील बनाता है। (ग) उत्तम निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्व उसमें विकसित होते हैं और (घ) उसे सुपथ-अर्जित ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्राणायाम व स्वाध्याय के द्वारा अश्विनीदेवों व सरस्वती की आराधना करें, जिससे हमारा जीवन 'हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु व मघ' से सुशोभित हो।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वल व मघ का विदारण

यमश्विना सरस्वती हुविषेन्द्रमवर्द्धयन्।
स बिभेद वुलं मुघं नमुचावासुरे सचा॥६८॥

१. **यम्**=जिस **इन्द्रम्**=इन्द्र को **अश्विना**=प्राणापान व **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **हवि**= दानपूर्वक अदन के द्वारा **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं **सः**=वह इन्द्र **आसुरे**=उस प्राणशक्ति के लेनेवाले **नमुचौ**=कभी भी अपने धारणात्मक व्रत को न छोड़नेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहता हुआ, अर्थात् कभी भी उस प्रभु से अपने को अलग न करता हुआ **वलं मघम्**=शक्ति व ऐश्वर्य को **बिभेद**=विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् किसी भी शक्ति से भयभीत नहीं होता और किसी के ऐश्वर्य से प्रलुब्ध नहीं होता। अथवा यह बल व मघ के रिकार्ड को तोड़नेवाला बनता है, अर्थात् सर्वाधिक बल व ऐश्वर्य को प्राप्त होनेवाला है। २. स्पष्ट है कि प्राणायाम व स्वाध्याय से 'हवि' की वृत्ति—त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति बढ़ती है। इस वृत्ति से मनुष्य प्रभु के अधिकाधिक समीप होता है, प्रभु का उपासक बनता है। इस उपासना से उसका बल व ऐश्वर्य बढ़ता है।

भावार्थ—हमारी प्राणासाधना व स्वाध्याय अविच्छिन्न रूप से चलें, हममें हवि व यज्ञ की वृत्ति हो, हम प्रभु के उपासक बनें और बल व ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—विदर्भिः। देवता—अश्विसरस्वतीन्द्राः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पशवः—अश्विना—सरस्वती

तमिन्द्रं पुशवः सचाश्विनोभा सरस्वती।
दधाना ऽअभ्यनूषत हुविषा युज्ञ ऽइन्द्रियैः॥६९॥

१. गतमन्त्र के 'यं इन्द्रम्' शब्द का प्रस्तुत मन्त्र में 'तं इन्द्रम्' से उल्लेख करते हैं। **तम् इन्द्रम्**=उस इन्द्र को **पशवः**=काम-क्रोध आदि पशु **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता—ये सब **सचा**=मिलकर **दधानाः**=धारण करते हुए **यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से तथा **इन्द्रियैः**=(वीर्यैः) इन्द्रियशक्तियों से **अभ्यनूषत**=बढ़ाते हैं (नूषतिर्वृद्ध्यर्थम्) अथवा स्तुत करते हैं (नू स्तवने)। २. 'काम' शत्रु है, परन्तु यही नियन्त्रित हुआ-हुआ पुरुषार्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'क्रोध' शत्रु है परन्तु वही क्रोध विचारपूर्वक होने पर मन्यु होता है और वाञ्छनीय हो जाता है। ये काम व मन्यु जीवन में उन्नति के लिए सहायक होते हैं, इसीलिए मनु ने लिखा है कि **'न चैवेहास्त्यकामता'**=अकामता के लिए इस जीवन में कोई स्थान नहीं है। सब ज्ञान व यज्ञ काम से ही हुआ करते हैं। प्राणायाम इन्द्रियदोषों को दूर करता है। स्वाध्याय बुद्धि का शोधन करता है। ३. इस प्रकार ये पशु, प्राणापान व ज्ञान मनुष्य का धारण करते हुए उसका वर्धन करते हैं, उसके जीवन में हवि होती है, उसकी इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न बनती हैं।

भावार्थ—हवि व इन्द्रिय-शक्तियों से हमारा जीवन स्तुत्य बने।

ऋषिः—विदर्भिः। देवता—इन्द्रसवितृवरुणाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सविता—वरुणो—भगः

यऽइन्द्रऽइन्द्रियं दुधुः सविता वरुणो भगः।
स सुत्रामा हुविष्पतिर्यजमानाय सश्चत॥७०॥

१. **ये**=जो **सविता**=निर्माण की देवता, **वरुणः**=द्वेषनिवारण की देवता तथा **भगः**=(भज सेवायाम्) उपासना की वृत्ति **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=वीर्य को, इन्द्रियशक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं तो २. **सः**=वह इन्द्र **सुत्रामा**=(सु+त्रा) बड़ी उत्तमता से अपना त्राण करनेवाला, अर्थात् नीरोग बनता है। यह ३. **हविष्पतिः**=हवि का रक्षक होता है। इसके मन में देकर खाने की वृत्ति होती है और यह इन्द्र ४. **यजमानाय**=इस सृष्टियज्ञ को चलानेवाले के लिए **सश्चत**=(सेवताम्) सेवन करनेवाला बने। ५. सदा निर्माण की क्रिया में लगे रहने से, निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहने से यह स्वयं सविता बनता है और अपने शरीर की रक्षा कर पाता है। एवं, यह सुत्रामा होता है। ६. ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठकर यह 'वरुण' होता है और सबके साथ प्रेम होने से मिलकर खाता है। इसी को यहाँ 'हविष्पति' बनना कहा है। ७. **भगः**=उपासना से यह उस यजमान को, सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सविता, वरुण व भग की कृपा से हम 'सुत्रामा, हविष्पति व प्रभुसेवी' बनें।

ऋषिः—विदर्भिः। देवता—इन्द्रसवितृवरुणाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वसु—बलम्—इन्द्रियम्

सविता वरुणो दधुद्यजमानाय दाशुषे।
आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम्॥७१॥

१. **सविता**=निर्माण की देवता तथा **वरुणः**=द्वेषनिवारण की देवता **यजमानाय**=यज्ञशील **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, देनेवाले के लिए **दधत्**=धारण करते हैं, अर्थात् यदि हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष की भावना से ऊपर उठ जाते हैं तो हमारा जीवन यज्ञशील बनता है, हममें देने की वृत्ति बनी रहती है और इस प्रकार ये सविता व वरुण हमारा धारण करनेवाले हो जाते हैं। २. यह सविता व वरुण से धारण किया गया **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाला इन्द्र **नमुचेः**=धारणात्मक कर्म का कभी परित्याग न करनेवाले प्रभु से **वसु**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को, **बलम्**=शक्ति को तथा **इन्द्रियम्**=वीर्य को **आदत्त**=ग्रहण करता है।

भावार्थ—निर्माणात्मक कार्यों में लगना व ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठना मनुष्य को यज्ञशील व दाश्वान् (दान देनेवाला) बनाते हैं। अपना त्राण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष 'वसु, बल व इन्द्रिय' को प्रभु से प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—इन्द्रसवितृवरुणाः। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यशसा-बलम्

वरुणः क्षुत्रमिन्द्रियं भगेन सविता श्रियम्।
सुत्रामा यशसा बलं दधाना यज्ञमाशत ॥७२॥

१. **वरुणः**=द्वेष के निवारण की देवता **क्षत्रं इन्द्रियम्**=रोगरूप क्षतों (प्रहारों) से त्राण करनेवाले बल तथा इन्द्रियशक्तियों को धारण करती है। हम द्वेष से ऊपर उठते हैं तो तेजस्वी व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न बनते हैं। २. **सविता**=निर्माण की देवता **भगेन**=उपासना के साथ **श्रियम्**=श्री को धारण करती है, अर्थात् हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और प्रभु का स्मरण नहीं छोड़ते तो हमारे सब कार्य श्रीसम्पन्न होते हैं। ३. **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाले व्यक्ति **यशसा बलम्**=सदा यश के साथ बल को **दधाना** =धारण करने के हेतु से **यज्ञम् आशत**=यज्ञ को व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा यज्ञों में लगे रहते हैं। यह यज्ञों में लगे रहना ही उनके यश व बल का कारण बनता है।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठें और बल व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न हों। प्रभु-स्मरणपूर्वक निर्माण के कार्यों में लगे रहें और श्रीसम्पन्न बनें। सुत्रामा=अपने को रोगादि से बचानेवाला पुरुष यशस्वी बल के लाभ के लिए जीवन को सदा कर्मों में व्याप्त रखता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गौः-अश्व

अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्यं बलम्।
हविषेन्द्रꣳसरस्वती यजमानमवर्द्धयन् ॥७३॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अथवा वेदवाणियों के द्वारा **इन्द्रियम्**=बल को, इन्द्रियों की शक्ति को, **वर्धयन्**=बढ़ाते हैं। २. **अश्वेभिः**=कर्मेन्द्रियों के द्वारा अथवा कर्मों में व्यापन के द्वारा **वीर्यम्**=शरीर में रोगों का प्रतीकार करनेवाली शक्ति को तथा **बलम्**=बल को बढ़ाते हैं। ३. **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता **हविषा**=हवि के द्वारा **यजमानम्**=यज्ञशील, यज्ञ के स्वभाववाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को बढ़ाती है। ज्ञान से मनुष्य के अन्दर अकेले खा लेने की वृत्ति नष्ट होती है और वह हविर्मय जीवनवाला बन जाता है। ४. प्राणापान की साधना ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को निर्दोष बनाकर उनकी शक्ति को

बढ़ाती है। प्राणापान के ठीक कार्य करने पर मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त किये रखता है। इस प्रकार इस प्राणसाधना से उसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का बल बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणायाम से हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष बन बढ़ी हुई शक्तिवाली होती हैं और ज्ञान-प्राप्ति से हमारी यज्ञियवृत्ति का विकास होता है, हम हविरूप हो जाते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नासत्या

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्तनी नरा।

सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत॥७४॥

१. **ता**=पिछले मन्त्र में बारम्बार उल्लिखित अश्विनीदेव **नासत्या**=(न असत्यौ) असत्य नहीं हैं। इनके उपासक की स्थिति सत्य-ही-सत्य होती है। इनका उपासक असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करता है। २. **सुपेशसा**=ये उपासक को पूर्ण स्वस्थ बनाकर सुन्दररूप प्रदान करते हैं। ३. **हिरण्यवर्तनी**=ये उपासक के मार्ग को ज्योतिर्मय करते हैं (हिरण्यं वर्तनिर्यस्यां)। उपासक की बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर उसे ज्योति प्राप्त कराते हैं। उसका जीवन-मार्ग अन्धकारमय नहीं होता। ४. **नरा**=(नेतारौ) इस प्रकार ये अपने आराधक को उन्नतिपथ पर आगे-और-आगे ले-चलते हैं। ५. इनके लिए **सरस्वती**=ज्ञान की देवता **हविष्मती**=प्रशस्त हविवाली होती है, अर्थात् ज्ञान इनके जीवन को हविर्मय बना देता है। ६. इस प्रकार प्राणसाधना से 'सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय-उन्नतिपथ' वाले बनकर तथा ज्ञान से हविर्मय जीवनवाले बनकर हे प्रभो! हम आपसे प्रार्थना करते हैं—हे **इन्द्र**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभो! **कर्मसु**=हमारे कर्म करने पर आप **नः**=हमें **अवत**=सुरक्षित कीजिए। हम कर्म करें और आपकी कृपा के पात्र बनें।

भावार्थ—प्राण हमें सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय व उन्नत बनाएँ। ज्ञान हममें त्याग की भावना भरे। कर्मशील बनकर हम प्रभु की कृपा के पात्र बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वृत्रहा-शतक्रतुः

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती।

स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम्॥७५॥

१. **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के द्वारा, अर्थात् जब हम उत्तमता से कर्मों में व्याप्त रहते हैं तब **ता**=वे अश्विनीदेव **भिषजा**=हमारे चिकित्सक बनते हैं। कर्मशीलता से प्राणापान की शक्ति इस प्रकार बढ़ती है कि हमें रोग सताते ही नहीं, कोई रोग आता भी है तो शीघ्र नष्ट हो जाता है। २. इसी प्रकार **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के होने पर **सा सरस्वती**=वह ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=हमारा उत्तमता से पूरण करनेवाली बनती है। जब हम ज्ञान के अनुसार कर्म करते हैं तब हमारी सब बुराइयाँ दूर होकर हमारे अन्दर अच्छाइयाँ बढ़ती चलती हैं। ३. **सः**=वह उत्तम कर्मों से प्राणों व ज्ञान की साधना करनेवाला व्यक्ति **वृत्रहा**=ज्ञान पर आवरणभूत सब वासनाओं को नष्ट करनेवाला होता है। **शत-क्रतुः**=यह सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बिताता है। ४. संक्षेप में, ये अश्विनीदेव तथा सरस्वती **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के लिए **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—जब हम उत्तमता से कर्मों में लगेंगे तब प्राणापान हमारे वैद्य होंगे। हमें ये नीरोग रखेंगे तथा ज्ञान हममें उत्तमता का पूरण करेगा। हम वासना को नष्ट कर यज्ञशील बनेंगे। हमारी सब इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न होंगी।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुराम इन्द्र

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।

विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत ॥७६॥

१. **अश्विना**=हे अश्विनीदेवो! **युवम्**=तुम दोनों तथा **सरस्वति**=ज्ञानाधिदेवते! **नमुचौ** =अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले **आसुरे**=प्राणशक्ति को देनेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहनेवाले **सुरामम्**=(सुष्ठु रमते) उत्तमता से रमण व क्रीड़ा करनेवाले, संसार के सारे व्यवहारों को क्रीड़ारूप में ग्रहण करनेवाले, अतएव न खिझनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **विपिपानाः** =विशेषरूप से रक्षित करते हुए **कर्मसु**=कर्मों में **आवत**=प्रीणित करो। यह इन्द्र कर्मों में आनन्द का अनुभव करे। २. इन्द्र वह है जो (क) संसार के सब व्यवहारों को करता हुआ प्रभु में स्थित होता है। यह प्रभु ही उसका वस्तुतः धारण कर रहे हैं और उसे सम्पूर्ण प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। यह कभी खिझता नहीं। ३. इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ४. यह इन्द्र प्राणापान की साधना करता है और सरस्वती की आराधना करता है। 'प्राणायाम व स्वाध्याय' इसके नैत्यिक कर्त्तव्य हैं। ५. यह सदा कर्मों में लगा रहता है। कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के साथ रहें। किसी भी कर्म को करते हुए प्रभु को भूल न जाएँ। संसार के सब व्यवहारों को क्रीड़ारूप में लें, क्रियाशील बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

काव्य+दंसना

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः।

यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥७७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **पितरौ पुत्रम् इव**=जैसे माता-पिता पुत्र को रक्षित करते हैं उसी प्रकार **उभौ अश्विनौ**=ये दोनों अश्विनीदेव **काव्यैः**=तत्त्वज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना करने पर तेरी बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्मविषयों का दर्शन करनेवाली बनती है और तेरी मानसवृत्ति पवित्र होकर तुझे सदा उत्तम कर्मों में झुकाववाला करती है और २. **यत्**=जब **सुरामम्**=इस (सुष्ठु रम्यम्) अत्यन्त रमणीय, हितकर सोम का तू **व्यपिबः**=पान करता है तब **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक होनेवाले कर्मों से हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्** =उपसेवित करती है। ३. शरीर में सोम की रक्षा का यह लाभ होता है कि (क) मनुष्य यज्ञियवृत्तिवाला बनता है (मघवन्) (ख) उसकी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और यह सदा प्रज्ञापूर्वक पवित्र कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—१. प्राणापान हमारी इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे माता-पिता पुत्र की। प्राणसाधना करने पर मनुष्य कवियों की दृष्टि प्राप्त करता है, उत्तम कर्मों में व्यापृत होता है। २. इस प्राणसाधना से सोम (वीर्य) का रक्षण होने पर ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवन को

प्रज्ञापूर्वक कर्मों से उपसेवित करती है और हम पापशून्य ऐश्वर्यवाले बनते हैं।

ऋषिः—विदर्भिः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

अग्निहोत्र

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये॥७८॥

१. उस **अग्नये**=अग्नि के लिए **हृदा**=हृदय से, अर्थात् श्रद्धा से **चारुम्**=सुन्दर **मतिम्**=स्तोत्र को **जनय**=उत्पन्न कर, अर्थात् अग्निहोत्र करते हुए तू श्रद्धापूर्वक सुन्दर स्तवन करनेवाला बन। २. उस अग्नि के लिए **यस्मिन्**=जिसमें **अश्वासः**=(तरवी अश्वगन्धायां तुरगश्चिद्वाजिनोः) अश्वगान्धा नामक ओषधि **ऋषभासः**=(शृंगी तु, ऋषभो वृषः) काकड़ासिंगी नामक ओषधि **उक्षणः**=(One of the eight chief medicines आप्टे) सर्वोत्तम आठ ओषधियों में से एक, उक्षा नामक ओषधि **वशा**=(offering, कामिताहुतिः—द०) एक अत्यन्त वाञ्छनीय औषध **मेषाः**=(Small cardmons आप्टे) छोटी इलायची—ये **अवसृष्टासः**=(to form, create) सम्यक्तया तैयार की जाती हैं और **आहुताः** =आहुत की जाती हैं। ये सब ओषधियाँ रोगनिवारक व रोगकृमियों की संहारक हैं। इनके विशिष्ट गुणों के कारण इनकी सामग्री के साथ आहुतियाँ दी जाती हैं। २. उस **कीलालपे** =(कीलालं =रुधिरं) रुधिर की रक्षा करनेवाली अग्नि के लिए। यह अग्नि उत्तम ओषधियों के सूक्ष्म कणों से रुधिर को एकदम शुद्ध कर देती है। ३. **सोमपृष्ठाय** =सोम की आधारभूत अग्नि के लिए, अर्थात् शरीर में रुधिर आदि के शोधन के द्वारा यह अग्नि सोम (वीर्य) को सुरक्षित करती है। अथवा जिसमें सोमलता की आहुतियाँ दी जाती हैं (सोमाहुतयो यस्य पृष्ठे हूयन्ते) उस **वेधसे**=(विदधाति शुभं करोति, शुभमतिः) बुद्धि को शुद्ध बनानेवाले अग्नि के लिए स्तोत्रों को कर।

भावार्थ—अग्निहोत्र से १. रोग दूर होते हैं। २. रुधिर शुद्ध होता है। ३. सोम की रक्षा होती है। ४. बुद्धि शुद्ध होती है।

ऋषिः—विदर्भिः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

रयि-वीर्य-यश

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिꣳरयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम्॥७९॥

१. हे **अग्ने**=अग्निकुण्ड में आहुत अग्ने! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **हविः अहावि**=मुझ से घृत की आहुति दी जाती है। **स्रुचि इव घृतम्**=जैसे चम्मच में घी तथा **चम्वि इव सोमः**=यज्ञपात्र में जिस प्रकार सोम होता है। हवन की तैयारी के साथ ही 'हवि, घृत व सोम' आदि को एकत्र करता है और अग्नि से कहता है कि 'चम्मच में घृत है, यज्ञपात्र में सोम है और तेरे मुख में हवि है'। चम्मच में घृत सदा रहता है, चमू नामक यज्ञपात्र में सोम, इसी प्रकार तेरे मुख में मुझसे नित्य हवि डाली जाती है। मेरी यह होम की प्रक्रिया सतत रहती है, विच्छिन्न नहीं होती। २. हे अग्ने! इस प्रकार आहुत हुआ-हुआ तू (क) **वाजसनिम्**=अन्नादि आवश्यक सामग्री को प्राप्त करानेवाले **रयिम्**=धन को, (ख) **प्रशस्तं सुवीरम्**=प्रशंसा के योग्य उत्तम शक्ति को, जिस शक्ति से मेरी प्रशंसा-ही-प्रशंसा होती है, उस शक्ति को तथा (ग) **बृहन्तं यशसम्**=सदा बढ़ते हुए यश को **अस्मे**=हमारे लिए

धेहि=धारण कर। अग्निहोत्र से वर्षा होकर अन्नादि की समृद्धि से धन बढ़ता है, रोगकृमियों के संहार से नीरोगता द्वारा बल बढ़ता है और त्यागवृत्ति की भावना बढ़ने से जीवन यशस्वी बनता है।

भावार्थ—सतत होम के तीन लाभ हैं—१. समय पर वर्षा होने से अन्नादि के ठीक उत्पादन से धन की वृद्धि २. वायुशुद्धि व कृमिसंहार द्वारा नीरोगता से शक्ति की वृद्धि ३. तथा त्याग-भावना के वर्धन से यश की वृद्धि।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।
वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम्॥८०॥

१. इस विदर्भि ऋषि के प्रकरण को समाप्त करते हुए कहते हैं कि घरों में यज्ञादि के ठीक होने पर तथा वैयक्तिक रूप से 'प्राणसाधना-स्वाध्याय व जितेन्द्रियता के अभ्यास' के चलने पर **अश्विना**=ये प्राणापान **तेजसा चक्षुः**=तेजस्विता के साथ चक्षु-इन्द्रिय की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। प्राणापान की साधना से तेजस्विता की वृद्धि होती है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनती हैं। प्राणशक्ति की कमी होने पर आँख निर्बल हो जाती है और शरीर में अपान के कार्य के ठीक न होने पर आँख में मलिनता आ जाती है। एवं, आँख के ठीक रहने के लिए प्राणापान का कार्य ठीक रहना चाहिए। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **प्राणेन**=प्राणशक्ति के साथ अथवा 'प्र+अन्' उत्कृष्ट जीवन के साथ **वीर्यम्**=वीर्य को **इन्द्राय** =जितेन्द्रिय पुरुष के लिए धारण करती है। 'स्वाध्याय' मनुष्य के जीवन को उत्कृष्ट तो बनाता ही है, उसे वीर्यसंयम के योग्य भी बनाता है चूँकि उसका वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर शरीर में उत्तमता से उपयुक्त हो जाता है। ३. इसी स्वाध्यायशील तथा प्राणसाधना करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **वाचा**=वेदवाणी के साथ तथा **बलेन**=उस वेदज्ञान को क्रियारूप में लाने के लिए शक्ति के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति व धन को धारण करता है। ४. यहाँ 'इन्द्र=इन्द्राय', 'इन्द्र' इन्द्र के लिए धारण करता है। इस वाक्य में कर्तृपद परमात्म-वाचक और सम्प्रदानपद जीव के लिए है। एवं, जीव व ब्रह्म का द्वैत स्पष्ट है। यह प्रभु अपने सखा जीव के लिए 'वेदवाणी, शक्ति व धन' सभी वस्तुएँ प्राप्त कराता है, जिससे वह जीव उन्नत होकर उस-जैसा बनने के लिए यत्नशील हो। यह जीव अपने में अधिकाधिक दिव्य गुणों का ग्रन्थन करनेवाला हो और अपने विदर्भि नाम को चरितार्थ करे।

भावार्थ—(क) प्राणापान की साधना हमें 'तेजस्विता व चक्षु' प्रदान करेगी, (ख) सरस्वती की आराधना से हमारा जीवन उत्कृष्ट वीर्यवान् होगा तथा (ग) प्रभु का उपासन हमें 'वेदवाणी, बल व जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन' प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

गोमत्+अश्वावत्+नृपाय्य

गोमदू षु णासत्याश्वावद्यातमश्विना। वर्त्ती रुद्रा नृपाय्यम्॥८१॥

१. पिछले मन्त्रों की भावना को क्रियारूप में लाने के लिए उत्तम राष्ट्र के आयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अश्विना**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाले राजा व सेनापति (सभासेनेशौ—द०) जोकि सदा जागरित होकर राजकार्यों में लगे हुए हैं, **नासत्या**=(न

असत्यौ) जो कभी असत्य व्यवहार नहीं करते तथा **रुद्रा**=(शत्रूणां रोदयितारौ) शत्रुओं के रुलानेहारे हैं। वे **वर्त्ती**=वेदप्रदिपादित मार्ग से उस राष्ट्र को **सुयातम्**=अच्छी प्रकार प्राप्त करें जो (क) **गोमत्**=उत्तम गौवोंवाला है, जिसमें गोसंवर्धन के द्वारा उत्तम दूध की व्यवस्था से प्रजाओं की शारीरिक नीरोगता, मानस पवित्रता तथा मस्तिष्क की तीव्रता की व्यवस्था हुई है। (ख) **ऊ**=और **अश्वावत्**=जो उत्तम अश्वोंवाला है। राष्ट्र में उत्तम अश्वों के द्वारा जहाँ इधर-उधर जाने की व्यवस्था ठीक रहती है वहाँ ये उचित व्यायाम के साधन बनकर 'क्षात्रशक्ति' की वृद्धि का कारण बनते हैं। (ग) **नृपाय्यम्**=आप उस राज्य को प्राप्त कराओ जिसमें मनुष्यों का उत्तम रक्षण होता है। राष्ट्र में नियम-व्यवस्था इतनी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें चोरी-डाके व हिंसा आदि उत्पातों का किसी प्रकार का भय न हो। लोग अपने को सुरक्षित अनुभव करें।

भावार्थ—राष्ट्र गौवोंवाला हो, अश्वोंवाला हो, उसमें रक्षा का प्रबन्ध उत्तम हो, किसी प्रकार का भय न हो। राष्ट्र के अध्यक्ष कार्यव्यापृत, असत्य व्यवहार न करनेवाले व शत्रुओं कें रोदक बलवाले हों। ऐसे राष्ट्र में ही सम्भव है कि 'गृत्समद' बनें (गृणाति माद्यति) प्रभु का स्तवन करें और प्रसन्न रहें।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अनाधृष्ट

न यत्परो नान्तरऽआदुधर्षद् वृषण्वसू। दुःशꣳसो मर्त्यो रिपुः॥८२॥

१. राष्ट्र वही ठीक है **यत्**=जिसे **न परः**=न तो पराया, अर्थात् बाहर का शत्रु और **न**=न ही **आन्तरः**=अन्दर का शत्रु **आदधर्षत्**=धर्षण करनेवाला बने या अभिभूत करके अपने वश में कर लें। राष्ट्र पर जहाँ बाह्य शत्रुओं का आक्रमण न होना चाहिए, वहाँ राष्ट्र को आन्तर शत्रुओं से सुरक्षित रखना भी आवश्यक है। २. इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाले 'राष्ट्रपति व सेनापति' ही **वृषण्वसू**=राष्ट्र में उत्तम सुखों की वर्षा करनेवाले तथा प्रजा के निवास को उत्तम बनानेवाले होते हैं (वर्षतः वासयतः)। ३. इन 'वृषण्वसू' ने शत्रुओं का नाश करना है, शत्रुओं से राष्ट्र को बचाना है। बाह्य शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट ही है। आन्तर शत्रुओं का संकेत करते हुए कहते हैं कि **दुःशंसः**=असद्वृत्त का शंसन करनेवाला और **मर्त्यः**=विषयों के पीछे मरनेवाला, उनके लिए अत्यन्त लालायित होनेवाला मनुष्य **रिपुः**=शत्रु है। एक व्यक्ति जुए, शराब या व्यभिचारादि को बड़े सुन्दर रूप में चित्रित करता है, तो राष्ट्रपति उसे रोके और उस व्यक्ति को दण्डित करे।

भावार्थ—राष्ट्रपति व सेनापति का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र की आन्तर व बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें और राष्ट्र को अनाधृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

धन-श्री-ध्यान

ता नऽआ वोढमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम्। धिष्ण्या वरिवोविदम्॥८३॥

१. **ता अश्विना**=उल्लिखित प्रकार से राष्ट्र का निर्माण व रक्षण करनेवाले सभा व सेना के ईश राजाओ (शासको)! **नः**=हम सबके लिए **रयिम्**=धन व ऐश्वर्य को **आवोढम्**=सर्वत्र प्राप्त कराओ। यहाँ 'आ' शब्द प्रजा में सर्वत्र धन के उचित लाभ का उल्लेख कर रहा है। धन किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाए, इसकी

अपेक्षा यही ठीक है कि वह धन सारे राष्ट्र-शरीर में सर्वत्र समविभक्त होकर रहे। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति निर्धन न हो। सभी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कर सकें। २. 'यह धन कैसा हो?' इस प्रश्न का विवेचन करते हुए कहते हैं कि **पिशङ्गसन्दृशम्**=(पिशङ्गं पीतं सम्यक् दृश्यते, पीतवर्णं सुवर्णम् इत्यर्थः—म०) वह सुवर्णरूप हो। धन सुवर्ण के रूप में हो। अथवा जो धन हमारे जीवन को सुशोभित करनेवाला हो (पिश to adorn) तथा जिससे हमारा जीवन उत्तम दिखे। ३. यह धन **धिष्ण्या**=बुद्धि के साथ **वरिवोविदम्**=(येन परिचरणं विन्दति तम्—द०) उपासना को प्राप्त करानेवाला हो, अर्थात् यह धन हमारे अन्दर ज्ञान की रुचि को कम करनेवाला न हो जाए। इस धन का विनियोग हम ज्ञानवृद्धि में ही करें तथा इस धन से हमारे अन्दर उपासना की वृत्ति बढ़े, उसमें कमी न आये। एवं, धन 'ज्ञान व उपासना' का साधन बने। यह धन स्वयं साध्य बनकर ज्ञान व उपासना को समाप्त करनेवाला न हो जाए। धन को प्राप्त करके हम 'गृत्समद' बने रहें—उपासना में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—राजा इस बात का ध्यान करे कि प्रजा में कोई भी निर्धन न हो। साथ ही धन को ही साध्य बनाकर कोई ज्ञान व उपासना को विलुप्त भी न कर दे। ऐसा व्यक्ति राष्ट्र के लिए हानिकर होता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सरस्वती

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥८४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शासन किये गये सुव्यवस्थित राष्ट्र में **नः**=हमारे लिए **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **पावका**=पवित्र करनेवाली हो। हम सब ज्ञान की रुचिवाले हों। वेदवाणी को पढ़ें और यह वेदवाणी हमारे जीवनों को पवित्र कर दे। वस्तुतः ज्ञान के समान कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं है। २. यह ज्ञान **वाजेभिः**=शक्तियों के दृष्टिकोण से **वाजिनीवती**=प्रशस्त अन्नोंवाला हो। इस ज्ञान के द्वारा उत्तम अन्नों का उत्पादन करके और उनका ठीक प्रयोग करके हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को प्राप्त करनेवाले हों। इस ज्ञान से हमारे भोजन का मापक पौष्टिकता हो जाती है न कि स्वाद! ३. **धियावसुः**=(धिया कर्मणा वसु धनं यस्याः सा—म०) ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा धन को प्राप्त करानेवाली यह सरस्वती **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् सरस्वती की कृपा से (क) हम समझदारी से कर्मों को करते हुए (ख) धनों को कमाएँ और (ग) यज्ञादि उत्तम कर्मों में उन धनों का विनियोग करें।

भावार्थ—सरस्वती, अर्थात् ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करता है। हमें पौष्टिक अन्नों को प्राप्त कराता है। बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए हम धनों को प्राप्त करते हैं, यज्ञादि उत्तम कर्मों में उसका विनियोग करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूनृता-सुमती

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥८५॥

१. यह वेदवाणी **सूनृतानाम्**=(सु+ऊन्+ऋत) दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्य वाणियों की **चोदयित्री**=प्रेरणा देनेवाली है, अर्थात् वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला

व्यक्ति ऐसी ही वाणी बोलता है जो सत्य होने के साथ औरों के दुःख को कम करनेवाली होती है तथा बड़ी मधुरता से बोली जाती है। संक्षेप में इसके बोलने का प्रकार 'सत्' होता है, सद्भाव से ही वह वचन बोला जाता है और वचन तो 'सत्' होता ही है। २. यह वेदवाणी **सुमतीनाम्**=उत्कृष्ट मतियों को **चेतन्ती**=चेतानेवाली है। इन ज्ञानवाणियों का अध्ययन करनेवाला कभी अशुभ तो सोचता ही नहीं। अध्ययनशून्य व्यक्ति दुर्मतियों का ही उत्पत्ति स्थान बन जाता है। 'नाश कैसे करना' इसी ओर उसका मस्तिष्क चलता है। स्वाध्याय सुमति का जनक होता है। ३. इस प्रकार यह **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवनों में सुमतियों को चेताती हुई **यज्ञं दधे**=यज्ञ को धारण करती है, अर्थात् इस सरस्वती की आराधना की कृपा से हमारे सब कर्म यज्ञात्मक होते हैं। हमारे कर्मों में स्वार्थांश को प्रधानता नहीं मिलती।

भावार्थ—सरस्वती (क) हमारी वाणियों को सूनृत बनाती है, (ख) हमारे मनों व मस्तिष्कों में सुमति को जन्म देती है, (ग) हमारे जीवन को यज्ञरूप कर देती है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सरस्वान् (महो अर्णः)=महान् समुद्र

महोऽअर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥८६॥

१. यह **सरस्वती**=वेदवाणी **महो अर्णः**=एक महान् जल है। जिस प्रकार समुद्र का अन्त नहीं दिखता, इसी प्रकार यह वेदवाणी भी एक महान् ज्ञान का समुद्र है। इसका भी अन्त नहीं है—**'अनन्ता वै वेदाः'**, यह उक्ति ठीक ही है। वेदज्ञान का कोई अन्त नहीं, इसीलिए इसको जितना ही मथेंगे उतना ही अधिक ज्ञान का नवनीत प्राप्त करेंगे। ३. यह वेदवाणी **केतुना**=उत्तम ज्ञान से **प्रचेतयति**=हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बनाती है। हमारा हृदयान्तरिक्ष इससे दीप्त हो उठता है। हमारे मनों में इस प्रकाश से उत्कृष्ट संकल्प उठते हैं। ३. यह वेदवाणी **विश्वा धियः**=सब बुद्धियों को **विराजति**=(विराजयति) दीप्त करती है। यह हमें सब ज्ञानों को देती है। यह सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ है। मनुष्य के लिए आवश्यक सब ज्ञानों का यह प्रतिपादन करती है। सब उपादेय ज्ञान का वह कोश है। इसको प्राप्त करने की प्रबल कामना होनी चाहिए। यही सबसे उत्तम कामना है। इस कामना को करनेवाला ही इस मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है। वस्तुतः वेदाध्येता अमधुर इच्छा कर ही नहीं सकता।

भावार्थ—वेद ज्ञान का महान् समुद्र है। यह प्रकाश से हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बना देता है। इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुताऽइमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥८७॥

१. वेदज्ञान की प्राप्ति की कामनावाला गतमन्त्र का 'मधुच्छन्दा' प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति की कामना करता हुआ कहता है कि हे **चित्रभानो!**=चेतानेवाले (चित्+र), प्रकाशवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयाहि**=आप मुझे प्राप्त होओ। मेरा जीवन इतना उत्तम हो कि मैं आपकी प्राप्ति का अधिकारी बनूँ। २. **इमे सुताः**=मुझमें उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **त्वायवः**=आपकी ही कामना करनेवाले हैं। इनका विषय-भोग में व्यर्थ का

अपव्यय नहीं किया जा रहा। ३. ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के दृष्टिकोण से तथा **तना**=शक्तियों के विस्तार के दृष्टिकोण से **पूतासः**=पवित्र किये गये हैं, अर्थात् इन सोमकणों को मैंने वासना से अपवित्र नहीं होने दिया, चूँकि इन्हीं की रक्षा से मेरी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और बुद्धि सूक्ष्म बनती है और इन्हीं की रक्षा से मेरी सब शक्तियों का विस्तार होता है। ४. एवं, आपको वही प्राप्त करता है जो इन उत्पन्न सोमकणों की रक्षा करता है। इनकी ऊर्ध्वगति के द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इनके सारे शरीर में व्यापन के द्वारा अपनी शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छावाला वह है जो प्रभु को प्राप्त करना चाहता है। इसी उद्देश्य से यह सोमकणों की रक्षा करता है, अपनी बुद्धि को तीव्र बनाता है, शक्तियों का विस्तार करता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्राप्ति के पाँच उपाय

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥८८॥

१. प्रभु अपनी कामना करनेवाले जीवात्मा से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **धिया** =बुद्धि से **इषितः**=प्रेरित हुआ-हुआ **विप्रजूतः**=मेधावियों से अनुगत हुआ **आयाहि**=मेरे समीप आ, अर्थात् (क) यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि सदा बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले बनें। बुद्धि से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। इस बात को हम न भूलें कि मनु का यह वाक्य बिल्कुल ठीक है कि **'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'**=तर्क से अनुसन्धान करनेवाला ही धर्म को जानता है। (ख) प्रभु-प्राप्ति का दूसरा साधन यह है कि हम सदा मेधावी पुरुषों से सेवित हों। हमें मेधावियों का ही सङ्ग प्राप्त हो। २. इसके अतिरिक्त प्रभु कहते हैं कि तू **सुतावतः**=यज्ञों में सोमाभिषव करनेवाले, अर्थात् बड़े-बड़े सोमयज्ञों को करनेवाले **वाघतः**=मेधावी ऋत्विजों के **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों के **उप**=समीप रहनेवाला बन, अर्थात् यज्ञशील मेधावियों से किये जानेवाले स्तोत्रों को तू भी करनेवाला बन। तू भी यज्ञशील हो और प्रभु-स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम बुद्धिपूर्वक कर्म करें। २. सदा मेधावियों व ज्ञानियों का सङ्ग करें। उन्हीं से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। ३. यज्ञों के करनेवाले बनें। ४. मेधावी हों। ५. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपाय-त्रयी

इन्द्रा याहि तूतुजानऽउप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥८९॥

१. गतमन्त्र के ही विषय को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि **इन्द्र**=हे आलस्यादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जीव! तू **आयाहि**=हमारे समीप आ। २. क्या करता हुआ? **तूतुजानः**=(त्वरमाणः) कार्यों को शीघ्रता से करता हुआ। जीव स्वकर्म द्वारा ही प्रभु का अर्चन करता है। ३. **हरिवः**=हे प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले जीव! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा स्तोत्रों के समीप रहनेवाला हो, अर्थात् तू सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। यह प्रभु-स्तवन ही तेरी इन्द्रियों को विषयासक्त होने से बचाकर पवित्र रक्खेगा। ४. तू **सुते**=शरीर में सोम के उत्पादन के निमित्त **नः**=हमारे **चनः**=अन्न को **दधिष्व**=धारण कर।

प्रभु ने जीव के लिए जिन ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है, उनका बुद्धिपूर्वक प्रयोग करते हुए ही हम उस सोम को शरीर में उत्पन्न करनेवाले बनते हैं जो सोम सुरक्षित होकर हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करेगा और हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर अन्त में प्रभु का दर्शन कराएगा। इस सोम (वीर्य) की रक्षा से ही हम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम शीघ्रता से कार्यों में व्यापन-वाले हों। २. सदा स्तवन करते हुए प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। ३. सोम के उत्पादन के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम्यं-मधु-सेवन

अ॒श्विना॑ पिबता॒ं मधु॒ सर॑स्वत्या स॒जोष॑सा।
इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ वृ॒त्र॒हा जु॒षन्ता॑ꣳसो॒म्यं मधु॑॥९०॥

१. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **सजोषसा**=समान प्रीतिवाले **अश्विना**=अश्वीदेव अर्थात् प्राणापान **मधु**=(मधुरस्वादं सोमम्—म०) मधुर स्वादवाले सोम का **पिबताम्**=पान करें। सोम (वीर्य) सब ओषधियों का सारभूत है। रुधिरादि क्रम से उत्पन्न यह सोम सचमुच 'मधु' है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्याय की वृत्तिवाले हों और प्राणापान के अभ्यासी हों। स्वाध्याय से ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और यह सोम उसका ईंधन बनेगा। प्राणायाम से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है और यह हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता है। २. ऐसा होने पर यह जीव **इन्द्रः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करता है। ३. **सुत्रामा**=यह बहुत उत्तमता से रोगों से अपना त्राण करनेवाला बनता है। ४. **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का यह विनाश करता है। ५. इसलिए जीव को चाहिए कि वह **सोम्यं मधु**=सोममय मधु का—ओषधियों के सारभूत वीर्य का, **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् सोम की रक्षा करे। इसी रक्षा पर शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य तथा मस्तिष्क की तीव्रता निर्भर करती है। एवं, सारी उन्नतियों का मूल यह सोमरक्षण ही है। इसी से अन्ततः हमें प्रभु को प्राप्त करना है।

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति के लिए चलनेवाला स्वाध्याय व प्राणापान की साधना के लिए होनेवाला प्राणायाम हमें सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाता है।

इस प्रकार यह बीसवाँ अध्याय 'मधुच्छन्दा' के मन्त्रों पर समाप्त होता है। सबसे मधुर इच्छा यही है कि मैं स्वाध्याय व प्राणायाम के द्वारा सोम का पान करनेवाला बनूँ। इस 'सोमपान' पर ही 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' निर्भर है। यही हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है और सुखी जीवनवाला करता है। इसी सुखी जीवनवाले 'शुनःशेप' के मन्त्रों से अग्रिम अध्याय का प्रारम्भ होता है।

इति विंशोऽध्यायः॥

अथैकविंशोऽध्यायः

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—वरुणः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु की कामना

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके ॥१॥

१. 'शुनःशेप' ऋषि के ये मन्त्र हैं। सुख का (शुनं) निर्माण करनेवाला ऋषि प्रार्थना करता है कि हे **वरुण**=मेरे जीवन से सब द्वेषों का निवारण करनेवाले और मुझे श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! (वरुण=श्रेष्ठ) **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को **श्रुधि**=सुनिए **च**=और **अद्य**=आज ही **मृडय**=सुखी कीजिए। २. **अवस्युः**=अपने रक्षण की कामनावाला मैं **त्वाम्**=आपकी **आचके**=(कामये) कामना करता हूँ, आपको चाहता हूँ। वस्तुतः रक्षण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। जगज्जननी की गोद में ही यह जीव सुरक्षित रह पाता है।

भावार्थ—प्रभु वरुण हैं, मैं उन्हें पुकारता हूँ, वे मेरे जीवन को सुखी करते हैं। हम अपनी रक्षा करना चाहें तो उसका एकमात्र उपाय प्रभु-प्राप्ति की कामना है।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—वरुणः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान+यज्ञ

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।

अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा नऽआयुः प्र मोषीः ॥२॥

१. **ब्रह्मणा**=स्तोत्रों से व वेदज्ञान से **वन्दमानः**=आपका स्तवन करता हुआ **त्वा**=आपसे **तत्**=वही बात **यामि**=(याचामि) चाहता हूँ, **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **हविर्भिः**=हवियों के द्वारा, अर्थात् दानपूर्वक अदन के द्वारा **तत्**=वही **आशास्ते**=इच्छा करता है कि हे **वरुण**=द्वेष का निवारण करके हमें श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **इह**=इस मानव-जीवन में **अहेडमानः**=हमपर क्रोध न करते हुए आप हमें **बोधि**=बोधयुक्त कीजिए। हे **उरुशंस**=बहुतों से स्तुति किये गये प्रभो! आप **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा प्रमोषीः**=मत चुरने दीजिए। हमारी आयु को आप व्यर्थ न जाने दीजिए। २. ज्ञान-प्राप्ति व जीवन को सार्थक करने के दो ही उपाय हैं—(क) हम वेदज्ञान से प्रभु का स्तवन करें तथा (ख) यज्ञशील बनकर हविर्भुक् बनें, दान देकर बचे हुए को खानेवाले हों, केवलादी न बन जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान व यज्ञ ही जीवन को सार्थक बनानेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निवरुणौ। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

द्वेष-दूरीकरण

त्वं नोऽअग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽअव यासिसीष्ठाः।

यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाꣳसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥३॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाश से चमकनेवाले **वरुणस्य विद्वान्**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले, हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाले विद्वन्! प्रभु को

जाननेवाला **त्वम्**=तू **नः**=हमसे **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज, सब-कुछ देनेवाले प्रभु के **हेडः**=क्रोध को **अवयासिसीष्ठाः**=दूर नष्ट कर (दसु उपक्षये)। हमारे ज्ञान देनेवाले आचार्य (क) 'अग्नि' हों-अग्नि के समान ज्ञान से प्रकाशित हों तथा (ख) उस प्रभु के जाननेवाले हों, जिस प्रभु का ज्ञान ही हमारे जीवनों को उत्तम बनाता है। ये विद्वान् ज्ञान-प्रदान द्वारा हमारे जीवनों में इस प्रकार परिवर्तन पैदा करें कि हम कभी भी 'वरुण' प्रभु के क्रोध के पात्र न हों। २. हे विद्वन्! आप **यजिष्ठः**=अधिक-से-अधिक यज्ञ करनेवाले, देवों का आदर करनेवाले हो। **वह्नितमः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का वहन करनेवाले हो। **शोशुचानः**=इसी कारण अपने जीवन को अत्यन्त पवित्र बनानेवाले हो। ३. आप हमें उपदेश देकर **अस्मत्**=हमसे **विश्वा द्वेषांसि**=सब द्वेष की भावनाओं को **प्रमुमुग्धि**=छुड़ा दीजिए।

भावार्थ—हम पारस्परिक कलह व ईर्ष्या-द्वेष को दूर करें। परस्पर प्रेम से वर्तें तभी हम प्रभु की कृपा के पात्र होंगे।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निवरुणौ**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सत्सङ्ग

स त्वं नोऽअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणꣳरराणो वीहि मृडीकꣳसुहवो नऽएधि॥४॥

१. हे **अग्ने**=अग्निवत् प्रकाशमान विद्वन्! **सः त्वम्**=वह आप **नः**=हमारे **अवमः**=अत्यन्त रक्षक **भवः**=होओ। २. **अस्याः उषसो व्युष्टौ**=इस उषःकाल के आने पर, अन्धकार के दूर होने पर आप **ऊती**=रक्षा के दृष्टिकोण से **नेदिष्ठः**=अन्तिकतम हो। आपके सामीप्य में मैं बुराइयों से बचा रहूँगा और ३. **रराणः**=(रा दाने) उत्तम ज्ञान देते हुए आप **नः**=हमें **वरुणं अवयक्ष्व**=द्वेष-निवारण करनेवाले प्रभु के साथ सङ्गत कीजिए, अर्थात् यह विद्वानों का दिया हुआ ज्ञान हमें प्रभु के साथ सङ्गत करनेवाला हो। ४. इस प्रकार आप हमें **मृडीकम्**=सुख को **वीहि**=प्राप्त कराइए। ५. आप **नः**=हमारे लिए **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **एधि**=होओ। हम जब-जब ज्ञान-प्राप्ति के लिए आपको पुकारें तब-तब आप हमारी पुकार को सुनें।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन विद्वानों का सङ्ग प्राप्त हो। वे हमें ज्ञान के द्वारा प्रभु से सङ्गत करें और इस प्रकार हमें सुखी करें। सत्सङ्ग के द्वारा अपने में उत्तमगुणों को उत्पन्न करनेवाला यह व्यक्ति 'वामदेव' बनता है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वेदमाता

महीमू षु मातरꣳसुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳ सुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम्॥५॥

१. गतमन्त्र में भावना यह थी कि विद्वान् लोग ज्ञान देते हुए हमें प्रभु से सङ्गत करनेवाले हों। उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह वामदेव वेदमाता की आराधना करता है और कहता है कि हम **अवसे**=रक्षण के लिए व तृप्ति के अनुभव के लिए (अवनाय तर्पणाय वा) **हुवेम**=इस वेदवाणी को पुकारते हैं, इसे प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। उस वेदवाणी को जो २. **महीम्**=(महतीम्) महनीय है, हमारे जीवनों को महिमायुक्त

करनेवाली है, ऊ=और ३. **सुव्रतानाम् सुमातरम्**=उत्तम व्रतों का सुन्दरता से निर्माण करनेवाली है। यह वेदवाणी हमारे जीवनों को व्रतमय जीवनवाला बनाती है। ४. **ऋतस्य पत्नीम्**=यह ऋत का, नियमपरायणता व यज्ञ का पालन करानेवाली है। इस ज्ञान की वाणी के अध्ययन के परिणामस्वरूप हम सब कार्यों में बड़े नियमित व मर्यादित हो जाते हैं और हमारा जीवन यज्ञशील होता है। ५. **तुविक्षत्राम्**=यह ज्ञान की वाणी वासनाओं के प्रबल व बहुत अधिक (तुवि) क्षतों (चोटों) से हमें बचानेवाली है। ज्ञान वासनाओं के आक्रमण के लिए ढाल के समान है। ६. **अजरन्तीम्**=(न जीर्यति) यह ज्ञानवाणी कभी जीर्ण होनेवाली नहीं। **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**। यह अपने अध्ययन करनेवाले को जीर्णता से बचानेवाली है। ७. **उरूचीम्**=(उरु अञ्च्) यह अत्यन्त क्रियाशील है। इसका स्वाध्याय करनेवाला क्रियाशील होता है। इसी क्रिया के द्वारा ही यह **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाली है। (शोभनं शर्म यस्याः) ८. **अदितिम्**=जो हमारा नाश नहीं होने देती, प्रत्युत हमारे जीवन में दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली है। ९. **सुप्रणीतिम्**=(शोभना प्रणीतिः स्याः) इससे हमारे जीवनों का मार्ग उत्तम होता है, हमारे जीवनों का उत्तम निर्माण होता है।

भावार्थ—वेदवाणी को हम अपने जीवनों की उत्तमता के लिए आराधित करते हैं।

ऋषिः—**गयःप्लातः**। देवता—**अदितिः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दैवी नाव

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳसुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम्।
दैवीं नावꣳस्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥६॥

१. गतमन्त्र का ऋषि **अदिति**=अदीना देवमाता की उपासना करके 'वामदेव' बनता है और वामदेव बनने के कारण ही 'गयस्फान' होता है—'गयाः प्राणाः तान् प्राति-पूरयति' अपने में प्राणशक्ति का पूरण करनेवाला होता है। यह 'गयःप्लातः' अपने इस शरीर को एक 'दैवी नाव' उस देव से दी गई नाव के रूप में समझता है और इस नाव के द्वारा भवसागर को तैरकर अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील होता है। **'अत्रा जहाम अशिवा ये असन् शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्'**=सब अशिवों को छोड़कर हम परले पार पहुँचकर शिवों को प्राप्त करनेवाले बनें। २. एवं, इस शरीररूप नाव का महत्त्व स्पष्ट है। यह **सुत्रामाणम्**=उत्तमता से रक्षित की जानेवाली हो (सुष्ठु त्रायते)। इस शरीररूप नाव की जितनी भी रक्षा की जाए वह थोड़ी है। ३. **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) यह विस्तारवाली है। शरीररूप नाव ने ब्रह्माण्ड के सारे देवों का अधिष्ठान बनना है, अतः इसे विस्तृत होना ही चाहिए। ४. **द्याम्**=(दिव्=द्युति) यह प्रकाशमय हो। प्रत्येक वाहन में प्रकाश का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना उसके मार्गभ्रष्ट होने व टकरा जाने की आशंका बनी ही रहती है। ५. **अनेहसम्**=(वत्रि उ० एह च) यह अहन्तव्य है, नष्ट करने योग्य नहीं। इतनी महत्त्वपूर्ण व दुर्लभ वस्तु नष्ट करने योग्य कैसे हो सकती है? अथवा (हेड=क्रोध—उ०) क्रोधरहित यह नाव होनी चाहिए। लक्षणा से नावस्थ पुरुषों को कभी क्रोध न करना चाहिए। क्रोध में नाविक चेतना को खो बैठेगा और नाव को ठीक प्रकार से न चला पाएगा। ६. **सुशर्माणम्**=(शोभनं शर्म यया) यह उत्तम कल्याण को प्राप्त करानेवाली है अथवा यह (शर्म=गृह, आश्रय) शोभन आश्रयवाली है। ७. **अदितिम्**=अखण्डित है। शरीर का स्वस्थ होना ही इस नाव का न खण्डित होना है। ८. **सुप्रणीतिम्**=यह उत्तम

प्रणयनवाली है। बड़ी उत्तमता से आगे-आगे बढ़ रही है। ९. **स्वरित्राम्**=उत्तम चप्पूओंवाली है, मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ ही इस नाव के अरित्र (oar) हैं। १०. **अनागसम्**=यह निर्दोष है, शरीररूप नाव में किसी अङ्ग का विकृत होना ही उसका दोष है। यह दोषों से रहित है। ११. **अस्रवन्तीम्**=यह चू नहीं रही। शरीर में सोम का सुरक्षित होना ही इसका न चूना है। ११. ऐसी इस **दैवीं नावम्**=देव परमात्मा की ओर ले-जानेवाली नाव पर हम आरोहण करें। इस प्रकार निर्दोष नाव पर बैठकर ही हम संसार-समुद्र को पार कर सकेंगे।

भावार्थ—हम इस शरीररूपी दैवी नाव पर आरोहण करें। इस उत्तमता से प्रणयन की जानेवाली नाव के द्वारा संसार-समुद्र को तैरकर यात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—**गयःप्लातः**। देवता—**स्वर्ग्या नौः**। छन्दः—**यवमध्यागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

शतारित्रा नौः

सुनावमा रुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्राꣳस्वस्तये॥७॥

१. 'गयःप्लात' ही कह रहा है कि मैं **सुनावम्**=उत्तम नाव पर **आरुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। उस नाव पर जो २. **अस्रवन्तीम्**=स्रुत नहीं हो रही है। इस शरीररूप नाव में सोम का सुरक्षित न होना ही इसका चूना है। ३. **अनागसम्**=यह नाव आगस् से रहित है, दोषरहित है। ये मल ही दोष हैं, उनसे यह शून्य है। ४. **शतारित्राम्**=जिसके अरित्र सौ वर्ष तक उत्तमता से कार्य करनेवाले हैं। ऐसी इस नाव पर मैं **स्वस्तये** =उत्तम जीवन व कल्याण के लिए आरुढ़ होऊँ। ऐसी नाव पर आरोहण करके ही मैं संसाररूप 'अश्मन्वती नदी' को पार कर सकूँगा।

भावार्थ—यह शरीररूप नाव अत्यन्त निर्दोष होगी तभी यह 'सुनाव' हमें इस संस्कृतिरूप नदी से पार उतारनेवाली होगी।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

माधुर्य

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजाꣳसि सुक्रतू॥८॥

१. गतमन्त्र का 'गयःप्लात' सब प्रकार के क्रोधादि को छोड़कर 'विश्वामित्र'=सभी से स्नेह करनेवाला बनता है और प्रार्थना करता है—हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण देवो! 'मित्र-स्नेह की देवता है' वरुण' द्वेष-निवारण की। हे स्नेह व द्वेषनिवृत्ति की भावनाओ! **नः**=हमारे **गव्यूतिम्** =जीवनमार्ग को, इन्द्रियों के प्रचार-क्षेत्र को **घृतैः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण तथा ज्ञान के दीपनों से **उक्षतम्**=सर्वथा सिक्त कर दो। स्नेह व द्वेष निवृत्ति ही वस्तुतः सब मलों के ध्वंस के द्वारा हमें शरीर में नीरोग व मन में निर्मल और प्रसन्न बनाती है तथा हमारे मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करने में सहायक है। २. हे **सुक्रतू**=शोभन कर्मोंवाले मित्रावरुणो! आप **रजांसि**=(रजः कर्मणि भारत) हमारे सब कर्मों को **मध्वा**=माधुर्य से सिक्त करने की कृपा करो। मित्र व वरुण की आराधना हमारे सब कार्यों के अन्दर माधुर्य का सञ्चार करनेवाली होगी। हमारा आना-जाना, बोलना-चालना सब मधुर होगा तभी तो हमारा 'विश्वामित्र' यह नाम चरितार्थ होगा।

भावार्थ—हमारा जीवनमार्ग घृत=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति से सिक्त हो तथा हमारे सब कर्म माधुर्य को लिये हुए हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कर्मव्यापृति

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे नऽआ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।
आ मा जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा॥९॥

१. हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व द्वेषाभाव की भावनाओ! **नः**=हमारे **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **बाहवा**=हमारी बाहुओं को **प्रसिसृतम्**=(प्रसारयतम्) गतियुक्त करो, अर्थात् हम स्नेह से प्रेरित होकर, सब प्रकार के द्वेषों से ऊपर उठकर सदा कार्यों में लगे रहें। २. **नः**=हमारे **गव्यूतिम्**=प्रचार-इन्द्रिय क्षेत्र को अथवा जीवनमार्ग को **घृतेन**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति से **उक्षतम्**=सिक्त करो। हमारे शरीर व मन निर्मल होकर नीरोग तथा प्रसन्न हों, तथा हमारे मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो उठें। ३. इस प्रकार आप हमारे जीवन को ऐसा सुन्दर बनाइए कि **मा**=मुझे **जने**=लोगों में **आश्रवयतम्**=चारों ओर कीर्तियुक्त कर दीजिए। ४. **युवाना**=आप मेरे लिए गुणों का मिश्रण करनेवाले तथा अवगुणों को दूर करनेवाले (अमिश्रण) होओ। ५. हे मित्रावरुणा! आप **मे**=मेरी **इमा हवा**=इन प्रार्थनाओं को **श्रुतम्**=सुनिए और मेरे जीवन को सचमुच **'सं मा भद्रेण पृङ्क्तं वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'** भद्र से युक्त कीजिए और अभद्र से व पाप से पृथक् कीजिए, इस प्रकार आप मुझे अत्यन्त उत्तम जीवनवाला 'वसिष्ठ' बनाइए।

भावार्थ—उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है कि हम सदा कार्यों में लगे रहें। हमारा मार्ग मलशून्य व ज्ञानदीप्तिवाला हो। लोगों में हमारी कीर्ति हो, इसीलिए अभद्र से हम दूर व भद्र के समीप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—आत्रेयः। देवता—ऋत्विजः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

विद्वान् 'आत्रेय'

शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳरक्षांꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥१०॥

१. अब इस अध्याय में समाप्ति तक मन्त्रों का ऋषि 'आत्रेय' है। 'आत्रेय' वह है जो 'अत्रि'—'काम, क्रोध व लोभ' तीनों से रहित है। यह 'आत्रेय' ही वस्तुतः गतमन्त्र का वसिष्ठ है। उत्तम निवासवाला है। यह प्रार्थना करता है कि **हवेषु**=जब-जब हम पुकारें तब **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवताता**=(देवान् तन्यन्ति) दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, **मितद्रवः**= बड़ी मपी-तुली गतिवाले, प्रत्येक कर्म में युक्त चेष्टावाले, **स्वर्काः**=(अर्कम् अन्नम्) उत्तम अन्न का सेवन करनेवाले अथवा (अर्क =स्तोत्र) उत्तम स्तोत्रोंवाले, उत्तम स्तवनवाले विद्वान् लोग **नः**=हमारे लिए **शं भवन्तु**=शान्ति व सुख के देनेवाले हों। २. **अहिम्**=(आहन्तीति) हिंसा व घात-पात की वृत्ति को अथवा सर्पवत् कुटिलता को, **वृकम्**=(वृक आदाने) लोभवृत्ति को तथा **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों के क्षय की वृत्ति को **जम्भयन्तः**=नष्ट करते हुए ये **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों को **सनेमि**=शीघ्र **युयवन्**=पृथक् करें। इनके उपदेश हमारे जीवनों में हिंसा के स्थान में प्रेम को, कुटिलता के स्थान में सरलता को, लोभ के स्थान में सन्तोष को, राक्षसीवृत्तियों के स्थान में दैवीवृत्तियों को जन्म देते हुए शरीर व मानस नीरोगता प्राप्त करानेवाले हों। इनके उपदेशों से हम भी इनकी भाँति 'शक्तिशाली, दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, युक्तचेष्ट तथा उत्तमाहार-सेवी' बनें तो

अवश्य ही कुटिलता-लोभ-हिंसा आदि को छोड़कर पूर्ण आरोग्य का साधन कर पाएँगे और तब सचमुच 'आत्रेय' होंगे—त्रिविध कष्टों से ऊपर उठ जाएँगे।

भावार्थ—विद्वान् का लक्षण है कि वह 'शक्तिशाली, दिव्य वृत्तिवाला, युक्तचेष्ट, सात्त्विक आहारी व उत्तम उपासक' होता है। इनके उपदेश लोगों को अहिंसक, सन्तोषी व यशस्वी बनाते हैं और लोगों को नीरोगता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**आत्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्गोपदेश

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।

अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥११॥

१. गतमन्त्र के विद्वानों से ही प्रार्थना करते हैं कि **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी आप **नः**=हमारी **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **अवत**=रक्षा करनेवाले होओ। आपकी कृपा से हम गतमन्त्र के 'अहि, वृक व राक्षसों' के साथ संग्राम में उनका हिंसन करनेवाले हों। २. हम भी आप की भाँति **धनेषु**=धनों के विषय में **विप्राः**=(वि+प्रा) विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले हों। हम धनों को सदा सुपथ से ही सञ्चित करनेवाले हों। ३. **अमृताः**=हम विषयों के पीछे मरनेवाले न हों, विषय हमारे लिए विषय=बन्धनकारक (षिञ् बन्धने) न रह जाएँ। ४. **ऋतज्ञाः**=हम अपने जीवनों में ऋत को जाननेवाले हों—हमारे जीवनों में मर्यादा हो, यज्ञ हों (ऋत=यज्ञ), अनृत से हम ऊपर उठे हुए हों। ५. इस प्रार्थना के करने पर विद्वान् उपदेश देते हैं कि **'अस्य मध्वः पिबत'**=इस मधु का पान करो। ओषधि-वनस्पतियों के सारभूत सोम (मधु) को तुम अपने जीवन में सुरक्षित करो। सोम का रक्षण तुम्हें **सोम**=परमात्मा-जैसा बनाएगा। ६. इस सोम का पान करके **मादयध्वम्**=हर्ष का अनुभव करो। तुम्हारा जीवन आह्लादमय बने। ७. **तृप्ताः यात**=तुम इस संसार में सदा तृप्त होकर चलो। भूखा व्यक्ति ही निष्करुण व पाप-प्रवृत्त होता है। ८. तुम **देवयानैः पथिभिः**=देवताओं से जाने योग्य मार्गों से चलनेवाले होओ। देवों के तुम अनुयायी बनो। देवों की भाँति ही तुम 'दान, दीपन व द्योतन' वाले होओ। वस्तुतः यही शान्ति-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें, तृप्त व सन्तुष्ट होकर चलें। सदा प्रसन्न रहें। देवयान-मार्ग पर आक्रमण करें। देवों के ही अनुगामी हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

त्र्यविर्गौः

समिद्धोऽअग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः।

गायत्री छन्दऽइन्द्रियं त्र्यविर्गौर्वयो दधुः॥१२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' है। **सु**=उत्तम **अस्ति**=जीवनवाला **आत्रेय**=विविध कष्टों से दूर, अथवा काम-क्रोध-लोभ से रहित। कामादि से रहित होने के कारण ही वह कष्टों से भी रहित है। इस स्वस्त्यात्रेय के जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। २. कौन धारण करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **समिधा**=समिधाओं से, यज्ञिय काष्ठों से, **समिद्धः**=अग्निकुण्ड में दीप्त किया हुआ **अग्निः**=अग्नि। एक सद्गृहस्थ प्रतिदिन प्रातः-सायं घर में अग्निहोत्र करता है, **'अग्निं सपर्यतारा नाभिमिव'**=रथनाभि के चारों ओर स्थित अरों की भाँति

अग्निकुण्ड के चारों ओर स्थित होकर, पूजा की भावनावाले होकर, तुम अग्निहोत्र करो। इस अग्निहोत्र से वायुमण्डल का शोधन होता है, रोगकृमियों का संहार होता है और मनुष्य का जीवन नीरोग बनता है। इस नीरोगता से सौमनस्य प्राप्त होता है। एवं, यह समिद्ध अग्नि हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन का धारण करनेवाली है। ३. **सुसमिद्धः वरेण्यः**=वह वरणीय प्रभु सोमरक्षा द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से हृदयाकाश में दीप्त किया जाता है। उस प्रभु को हम सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देख पाते हैं। इस बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए ही हमें शरीर में सोम की रक्षा करनी है। यह सुसमिद्ध वरेण्य प्रभु हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। ४. **गायत्री छन्दः**=(गयः प्राणः, त्रा=रक्षण) 'प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा' हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल भावना से हम 'प्रेय' मार्ग का वरण न करके श्रेय का ही वरण करते हैं। ५. अन्त में **गौः**=ज्ञान की रश्मि हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। वह ज्ञान की रश्मि जोकि **त्र्यविः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का ही रक्षण करती है अथवा जो हमारे जीवन में धर्म, अर्थ व काम तीनों को लाती है। **'धर्मार्थकामः सममेव सेव्यः'** के अनुसार समानुपात में चलनेवाले धर्मार्थकाम हमारे जीवनों को बड़ा उत्कृष्ट बना देते हैं।

भावार्थ—(क) अग्निहोत्र (ख) प्रभु का वरण (ग) प्राणशक्ति-रक्षण की प्रबल कामना तथा (घ) धर्मार्थकाम तीनों का समसेवन करानेवाली ज्ञानरश्मि—ये हमारी शक्तियों को स्थिर करें तथा जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दित्यवाट् गौः

तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती।
उष्णिहा छन्दऽइन्द्रियं दित्यवाड् गौर्वयो दधुः॥१३॥

१. स्वस्त्यात्रेय के जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को, जिस जीवन में अन्त तक कर्मतन्तु का विस्तार होता है, **दधुः**=धारण करते हैं। २. 'कौन धारण करते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **तनूनपात्**=(प्राणो वै तनूनपात् स हि तन्वः पाति—ऐ० २।४) प्राण जो **शुचिव्रतः**=पवित्र व्रतोंवाला है। संक्षेप में वह जीवन जो व्रतमय है। व्रती जीवन 'शक्ति' को बढ़ाता है, वह जीवन उत्कृष्ट तो बनता ही है। ३. **च**=और **सरस्वती**=वह ज्ञानाधिदेवता जोकि **तनूपाः**=हमारे शरीरों की रक्षा करनेवाली है। अथवा शक्तियों के विस्तार (तनू) की रक्षा करनेवाली है। ४. **उष्णिहा छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की भावना भी शक्ति को बढ़ाती है तथा जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। संसार में सामान्यतः हीनाकर्षण प्रबल होता है, कोई विरल व्यक्ति ही इस स्नेह को उत्कर्ष की ओर ले-जाता है। जब हमारा स्नेह उत्कृष्ट वस्तुओं के लिए होने लगता है तब यह हमारी शक्ति का रक्षक सिद्ध होता है और हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। ५. **गौः**=ज्ञान की वह रश्मि जोकि **दित्यवाट्** है=(दितेर्भावः कर्म वा दित्यं), अर्थात् जो ज्ञान अविद्यान्धकार को नष्ट करता है, वह निश्चय से हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है।

भावार्थ—१. व्रती जीवन २. शक्तियों की रक्षक ज्ञानाधिदेवता ३. उत्कृष्ट स्नेह तथा ४. अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाली ज्ञान की किरणें हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाती हैं तथा प्रत्येक इन्द्रिय को शक्तियुक्त करती हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पञ्चाविर्गौः

इडा॑भिर॒ग्निरीड्य॒: सोमो॑ दे॒वोऽअम॑र्त्यः।

अ॒नु॒ष्टुप् छन्द॑ऽइ॒न्द्रि॒यं प॑ञ्चा॒वि॒र्गौर्वयो॑ दधुः॥१४॥

१. स्वस्त्यात्रेय के जीवन में निम्न वस्तुएँ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=अविच्छिन्न कर्मतन्तुवाले जीवन को **दधुः**=धारण करती हैं। २. सबसे प्रथम तो **इडाभिः**=सब वेदवाणियों से **ईड्यः**=स्तुति के योग्य **अग्निः**=परमात्मा स्तुत्य हैं। इनसे उनका स्तवन करने पर हमारी शक्तियों का ह्रास नहीं होता और हमारा जीवन क्रियामय बनकर उत्कृष्ट बनता है। ३. दूसरे स्थान पर **सोमः**=सोम है, वीर्यशक्ति है जो **देवः**=मन के अन्दर दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली है तथा **अमर्त्यः**=मनुष्य को रोगों से न मरने देनेवाली है। यह 'सोम' सुरक्षित होकर शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का धारण करता है। ४. तीसरे स्थान पर **अनुष्टुप् छन्दः**=(अनु स्तौति) प्रत्येक कार्य को करते हुए प्रभु का स्तवन करने की इच्छा है। प्रभु-स्मरणपूर्वक होनेवाले कार्य हमें कभी क्षीणशक्ति नहीं करते और ये कार्य हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। ५. अन्त में **पञ्चाविः गौः**=है, वह ज्ञान की रश्मि है, जो हमारे पञ्चभौतिक शरीर का पूर्ण रक्षण करती है। इससे हमारे पाँचों प्राणों का रक्षण होता है—पाँचों कर्मेन्द्रियों का मार्ग प्रशस्त बनाया जाता है और यह ज्ञानरश्मि हमें पाँचों क्लेशों से बचाती है।

भावार्थ—१. वेदवाणियों से स्तुत्य प्रभु २. दिव्य गुणों को पैदा करनेवाला व रोगों से न मरने देनेवाला सोम ३. प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करना तथा ४. पाँचों क्लेशों से बचानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हममें शक्ति का धारण करें व हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

त्रिवत्सो गौः

सु॒ब॒र्हिर॒ग्निः पू॑ष॒ण्वान्त्स्ती॒र्णब॑र्हि॒रम॑र्त्यः।

बृ॒ह॒ती छन्द॑ऽइ॒न्द्रि॒यं त्रि॒व॒त्सो गौर्वयो॑ दधुः॥१५॥

१. स्वस्त्यात्रेय के लिए **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **सुबर्हिः**=(ओषधयो बर्हिः—ऐ० ५।२८) उत्तम ओषधियों का सेवन करनेवाला, **अग्निः**=उदरस्थ वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) जो **पूषण्वान्**=हमारा उत्तम पोषण करता है। वस्तुतः शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का बहुत कुछ निर्भर इस जाठराग्नि पर ही है। यदि इस जाठराग्नि को उत्तम सात्त्विक ओषधीय भोजन ही प्राप्त होते रहें तभी शरीर का उत्तम पोषण होता है। ३. **स्तीर्णबर्हिः**=(पशवो वै बर्हिः—ऐ० २।४ कामः पशुः, क्रोधः पशुः, स्तृ=to kill) नष्ट किये हैं काम-क्रोधादि पशु जिसने, ऐसा **अमर्त्यः**=विषयों के पीछे न मरनेवाला मनुष्य अथवा **स्तीर्ण**=बिछाई है **बर्हिः**=कुशा जिसने, ऐसा यज्ञवेदि पर कुशादि को बिछानेवाला **अमर्त्यः**=रोगों से न मरनेवाला यज्ञशील पुरुष, ४. **बृहती छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) निरन्तर बढ़ने की प्रबल भावना, तथा ५. **गौः**=वह ज्ञान की रश्मि जोकि **त्रिवत्सः**=(त्रीन् वदति) 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' तीनों का ज्ञान देती है। इन तीनों को समझने पर हमारा जीवन-मार्ग निश्चय से प्रशस्त होता है और हम उत्कृष्ट जीवनवाले

बनकर अपनी शक्ति का ठीक रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—१. वानस्पतिक पौष्टिक भोजन २. वासना-विनाश व यज्ञशील जीवन ३. निरन्तर आगे बढ़ने की इच्छा, ४. प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान देनेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमारे जीवन को सशक्त व उत्कृष्ट बनाती हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तुर्यवाड् गौः

दुरो॑ दे॒वीर्दिशो॑ म॒हीर्ब्र॒ह्मा दे॒वो बृह॒स्पतिः॑।
प॒ङ्क्तिश्छन्द॑ऽइ॒हेन्द्रि॒यं तु॑र्य्य॒वाड् गौर्वयो॑ दधुः॥१६॥

१. **देवीः**=उत्तम रूप से गति करनेवाले, अपने-अपने कार्य को उत्तमता से करनेवाले **दुरः**='मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' आदि द्वार **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। 'मुख व पायु' का कार्य ठीक होने पर शरीर का स्वास्थ्य सिद्ध होता है तथा उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र का कार्य ठीक होने पर अध्यात्म-उन्नति व मानस स्वास्थ्य, अर्थात् उत्कृष्ट जीवन प्राप्त होता है। २. **मही दिशः**=ये महनीय दिशाएँ भी हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाती हैं। 'प्राची' (प्र अञ्च्) हमें आगे बढ़ने को कहती है तो प्रतीची (प्रति अञ्च्) इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहार करने का संकेत करती है, **उदीची**=ऊपर उठाती है तो **अवाची**=(अव अञ्च्) नम्रता का उपदेश दे रही है। एवं, ये भावनाएँ निश्चितरूप से हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनाती हैं। ३. **ब्रह्मा देवः**=इस संसाररूपी क्रीड़ा को करनेवाला ब्रह्मदेव हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। 'ब्रह्म ही निर्माण करनेवाले हैं' उनके अनुकरण पर हम भी निर्माण करेंगे तो जीवन में आनन्द का अनुभव करेंगे। ४. **बृहस्पतिः**=देवताओं को भी ज्ञान देनेवाले ये बृहस्पति हैं, ब्रह्मणस्पति हैं, चारों वेदों का ज्ञान वहीं सुरक्षित है। वे प्रभु ही इस वेदज्ञान के उत्तम स्रोत हैं, उस प्रभु से हमारा मेल होता है तो यह ज्ञान हममें भी प्रवाहित होता है। इस ज्ञान से हमारी वासनाएँ नष्ट होती हैं और हमारी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती तथा हमारा जीवन उत्कृष्ट होता है। ५. **पंक्तिः छन्दः**=(पंक्तिरूर्ध्वादिक्—श० ८।३।१।१२) हमारी यह प्रबल इच्छा हो कि हम 'ऊर्ध्वा दिक्' को प्राप्त करनेवाले बनें। इसके अधिपति बनकर हम स्वयं बृहस्पति बन जाएँ। सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनने की प्रबल कामना हमारी भावनाओं को हीन नहीं बनने देती और इस प्रकार हमारी शक्ति क्षीण नहीं होती। ६. **गौः**=वह ज्ञानरश्मि भी हमारी शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का कारण बनती हैं जो **तुर्यवाट्**=तुर्य अवस्था का वहन करनेवाली होती है। 'जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति' से ऊपर समाधिजन्य तुरीयावस्था 'पूर्ण एकाग्रता' की अवस्था है। ज्ञान मनुष्य को इस अवस्था के अनुकूल बनाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर शक्ति के ह्रास व जीवन की हीनता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

भावार्थ—१. दिव्य गुणोंवाले मुख आदि द्वार २. महनीय संकेत देनेवाली दिशाएँ ३. निर्माण का कर्त्ता ब्रह्मदेव ४. देवगुरु बृहस्पति ५. ऊर्ध्वादिक् का आधिपत्य प्राप्त करने की इच्छा ६. और तुरीयावस्था (पूर्ण एकाग्रता) को प्राप्त करानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हममें इन्द्रियों की शक्ति को तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पष्ठवाड् गौः

उषे यह्वी सुपेशसा विश्वेदेवाऽअमर्त्याः।
त्रिष्टुप् छन्दऽइहेन्द्रियं पष्ठवाड् गौर्वयो दधुः॥१७॥

१. **यह्वी**=(महत्यौ) महिमा से सम्पन्न **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाली **उषे**=(द्विवचनाद् दिनं रात्रिं च—म०) दोनों सन्ध्याकाल (twilights) **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें। दोनों सन्ध्याकाल हमें 'सूर्य व चन्द्र' के मेल का ध्यान कराते हैं और बोध देते हैं कि तुम्हारा मस्तिष्क सूर्य के समान हो तो तुम्हारा हृदय चन्द्रमा के समान हो। सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान तथा चन्द्र के समान आह्लादमय मन दानों ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा ये दोनों जीवन को अत्यन्त सुन्दर रूप प्राप्त कराते हैं। २. **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण जो **अमर्त्याः**=मनुष्य को मृत्यु के मार्ग से बचाते हैं, ये भी 'इन्द्रिय और वयः' के धारण करानेवाले हैं। ३. **त्रिष्टुप् छन्दः**='काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की प्रबल इच्छा हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। इनके अतिरिक्त ४. **गौः**=ज्ञानरश्मि जो **पष्ठवाट्**=(पष्ठं भारं वहति—उ०) कार्यभार को धारण करती है। ज्ञान जो क्रिया को उत्तमता से करनेवाला होता है, वह मानव-जीवन को सशक्त व उत्तम बनाता है।

भावार्थ—जीवन को सूर्य व चन्द्र के समान बनाने का उपदेश देनेवाला उषःकाल २. विषयों के पीछे न मरने देनेवाले दिव्य गुण ३. 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकने की प्रबल कामना तथा ४. कार्यभार को सुचारुरूपेण वहन करनेवाला ज्ञान हमारे जीवनों को सशक्त व उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अनड्वान् गौः

दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा।
जगती छन्दऽइन्द्रियमनड्वान् गौर्वयो दधुः॥१८॥

१. 'स्वस्त्यात्रेय' के जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. प्रथम **दैव्या होतारा**=(प्राणापानौ वै दैव्या होतारा—ऐ० २।४) प्राणापान जो **भिषजा**=सब व्याधियों के चिकित्सक हैं और वस्तुतः व्याधियों को आने ही न देनेवाले हैं। ३. दूसरे स्थान में **इन्द्रेण सयुजा**=आत्मा के साथ मिलकर कार्य करनेवाले **युजा**=(परस्परेण युक्तौ) परस्पर जुड़े-से हुए ये मन और बुद्धि हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनानेवाले हैं। इनका उत्कर्ष ही जीवन का उत्कर्ष है। ४. **जगती छन्दः**=लोकहित की प्रबल भावना भी हमें भोगमय जीवन से ऊपर उठाने में बड़ी सहायक होती है। ५. वह **गौः**=ज्ञान की रश्मि भी हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाती है जो **अनड्वान्**=इस जीवन-शकट का वहन करती है। ज्ञान की रश्मि जीवन की गाड़ी को उसी प्रकार सुन्दरता से ले-चलती है जैसे बैल भार की गाड़ी को खैंच ले-चलता है।

भावार्थ—१. प्राणापान जो दैव्य=देव की ओर ले-जानेवाले हैं तथा होतारा=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हैं, सब इन्द्रियों को शक्ति देते हुए अपना कार्य करने में लगे रहते हैं। २. जीवात्मा के सदा के साथी मन व बुद्धि ३. लोकहित की प्रबल भावना ४.

जीवन की गाड़ी को उत्तमता से वहन करनेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमें सशक्त व सुन्दर जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

धेनुगौः

तिस्रऽइडा सरस्वती भारती मरुतो विशः।

विराट् छन्दऽइहेन्द्रियं धेनुगौर्न वयो दधुः॥१९॥

१. **इडा सरस्वती भारती तिस्रः**=श्रद्धा, ज्ञानाधिदेवता तथा वाणी—ये तीन, तथा २. **मरुतो विशः**=(मितराविणः, महद् द्रवन्ति इति वा—नि० ११।१३) कम बोलनेवाले, परन्तु खूब कार्य करनेवाले, मनुष्य अपने उदाहरण से हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाएँ। ३. **विराट् छन्दः**=हमारे अन्दर भी **'मरुतो विशः'** की भाँति अपने जीवनों को विशिष्ट रूप से दीप्त बनाने की कामना हो। यह जीवनों को दीप्त बनाने की कामना हमें ऊँचा उठाती है। हम अपनी शक्ति को भोगविलास में नष्ट नहीं होने देते और इस प्रकार हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। ४. **धेनुः गौः न**=(नकारश्चार्थे—उ०) ज्ञान-दुग्ध का पान करानेवाली ज्ञान-रश्मियाँ **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को हममें **दधुः**=धारण करें। सारी अवनति का मूल अज्ञान है, ज्ञान से ही जीवन उन्नत होता है।

भावार्थ—१. श्रद्धा, ज्ञान व पवित्र वाणी २. मितभाषी पुरुष ३. विशेषरूप से चमकने की प्रबल कामना तथा ४. ज्ञानदुग्ध को पिलानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उक्षा गौः

त्वष्टा तुरीपोऽअद्भुतऽइन्द्राग्नी पुष्टिवर्धना।

द्विपदा छन्दऽइन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुः॥२०॥

१. हममें **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें। कौन? २. पहले तो **त्वष्टा**=(त्वष्टा तूर्णमश्नुते, त्विषतेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः—नि० ८।१४) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला, क्रियाशीलता के कारण चमकनेवाला तथा इसी क्रियाशीलता से बुद्धि को तीव्र (सूक्ष्म) करनेवाला, **तुरीः**=जो (तूर्णम् आप्नोति) शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, इसलिए **अद्भुतः**=आश्चर्यजनक व महान् होता है। यह व्यक्ति अपने उदाहरण से हममें भी शक्ति व उत्कृष्ट जीवन को स्थापित करे। ३. **पुष्टिवर्धना**=मेरे शरीर व आत्मा की पुष्टि के बढ़ानेवाले **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेव मुझे सशक्त व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ। 'इन्द्र' बल का प्रतीक होकर मुझे शारीरिक दृष्टिकोण से उन्नत करता है तो 'अग्नि' प्रकाश व दोषदहन का प्रतीक होकर मुझे अध्यात्म-उन्नति प्राप्त कराता है। मैं अपने जीवन में इन्द्र व अग्नि दोनों तत्त्वों को बढ़ानेवाला बनूँ। ४. **द्विपदा छन्दः**=(द्वे पद्यते ज्ञानं कर्म च) ज्ञान व कर्म दोनों को प्राप्त करने की कामना मुझे उत्कृष्ट जीवनवाला करे। हमारा जीवन यदि पक्षिरूप है तो ज्ञान और कर्म उसके दो पंख हैं। दोनों पंखों के ठीक होने पर ही हम ऊँचा उठ सकेंगे। ५. **न**=इन तीन के अतिरिक्त **उक्षा गौः**=सब सुखों का सिञ्चन करनेवाली ज्ञानरश्मियाँ (नकारश्चार्थे) हममें शक्ति व अविच्छिन्न कर्मतन्तुवाले जीवन को धारण करें।

संसार में सब कष्टों का मूल अविद्या है—विद्या ही सब सुखों का सिञ्चन करनेवाली है।

भावार्थ—१. क्रियाशीलता से दीप्त व महापुरुष २. बल व प्रकाश के तत्त्व ३. ज्ञान व कर्म दोनों के अपनाने की प्रबल कामना तथा ४. सुखों का सिञ्चक ज्ञान हमें सशक्त व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वशा वेहत्

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भर्गम्।

ककुप् छन्दऽइहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः॥२१॥

१. **वनस्पतिः**=वानस्पतिक भोजन जो **नः शमिता**=हमारे मन को शान्त करनेवाला है, अर्थात् जिस वानस्पतिक भोजन के परिणामरूप हमारे जीवन में क्रोध आदि भावनाओं का प्राबल्य नहीं होता तथा २. **भगम् प्रसुवन्**=ऐश्वर्य को जन्म देनेवाली **सविता**=निर्माण की देवता, अर्थात् प्रतिक्षण निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने की भावना ३. **ककुप् छन्दः**=(ककुप्=summit) शिखर पर पहुँचने की इच्छा ४. **वशा**=सब इन्द्रियों को वश में करने की वृत्ति अथवा **वशा** वन्ध्या गौ=इस प्रकृति को अपने लिए वशा के समान समझना, अर्जित सब धन को परार्थ में विनियुक्त करना, **वेहद्**=(गर्भोपधतिनी) सब बुराइयों को मूल में ही (गर्भ में ही) नष्ट करने की वृत्ति (Nip the evil in the bud), ये सब बातें **इह**=हमारे मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें।

भावार्थ—इन्द्रियों की शक्ति के लिए तथा उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि हम १. शान्ति देनेवाले वानस्पतिक भोजन का प्रयोग करें। २. निर्माणात्मक कार्यों में लगने के द्वारा ऐश्वर्यवृद्धि करनेवाले हों। ३. हममें शिखर तक पहुँचने की प्रबल कामना हो। ४. इन्द्रियों को वश में करें, प्राकृतिक भोगों व धनों को अपने लिए 'बन्ध्या गौ' के समान समझें, हमारे ये सब कार्य परार्थ के लिए हों। ५. बुराइयों को हम मूल में ही विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋषभो गौः

स्वाहा यज्ञं वरुणः सुक्षत्रो भेषजं करत्।

अतिच्छन्दाऽइन्द्रियं बृहदृषभो गौर्वयो दधुः॥२२॥

१. **स्वाहा यज्ञम्**=(स्व+हा) स्वार्थ त्यागवाला यह यज्ञ तथा २. **सुक्षत्रः**=उत्तम क्षत-त्राणवाला, घावों से बचानेवाला **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता **भेषजं करत्**=औषध का काम करती है, अर्थात् यज्ञ का करना और ईर्ष्या-द्वेषादि का अभाव ये मनुष्य को शारीरिक व मानस क्षतों से बचाते हैं। यज्ञ से सामान्यतः शरीर व्याधिशून्य होता है और द्वेषनिवारण से मन स्वस्थ होता है। ३. **अतिच्छन्दाः** =औरों को लांघ जाने की प्रबल भावना (अतीत्य गच्छति) तथा ४. **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि की कारणभूत **ऋषभः**=(ऋष गतौ) कर्म में प्रवृत्त करनेवाली **गौः**=ज्ञान की रश्मियाँ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों की शक्ति तथा उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि १. हममें

स्वार्थ-त्यागरूप यज्ञ की भावना और मानस आघातों से बचानेवाला द्वेषाभाव=प्रेम प्राप्त हो २. हममें औरों को आगे लाँघ जाने की भावना हो। ३. हमें वह ज्ञानरश्मि प्राप्त हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने और हमें क्रियाशील बनाए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**रुद्राः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वसवः (वयो दधुः)

वसन्तेन॑ऽऋतुना॑ दे॒वा वस॑वस्त्रि॒वृता॑ स्तु॒ताः।
र॒थ॒न्त॒रेण॒ तेज॑सा ह॒विरिन्द्रे॒ वयो॑ दधुः॥२३॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को तथा **वयः** =उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **वसवः देवाः**=वसुदेव। चौबीस वर्षपर्यन्त आचार्य के समीप निवास करके उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले जो ज्ञान उनके निवास को उत्तम बनानेवाला है। ये वसुदेव ३. **वसन्तेन ऋतुना स्तुताः**=वसन्त ऋतु से स्तुत होते हैं, जैसे वसन्त ऋतु में चारों ओर फूल खिले होते हैं और सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकार इनके जीवन में ज्ञान-विज्ञानों के पुष्प विकसित होकर इनके जीवन को सुन्दर बनाते हैं। ४. ये वसुदेव **त्रिवृता स्तुताः**=त्रिवृत से स्तुत होते हैं। (त्रिषु वर्तत्ते) 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों में समानरूप से वर्तने के कारण इनकी स्तुति होती है। ये धनप्रधान जीवनवाले होते हुए भी धर्मपूर्वक धन कमाते हैं और संसार के उचित आनन्दों को उस धन से प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस धर्मार्थकाम तीनों में वर्तन के कारण ही ये ५. **रथन्तरेण तेजसा**=(युक्ताः) उस तेज से युक्त होते हैं जिस तेज के कारण ये शरीररूप रथ से इस 'अश्मन्वती नदी' (भवसागर) को तैर जाते हैं।

भावार्थ—'वसु' देव वे हैं जिनके जीवन में वसन्तऋतु के समान ज्ञान-विज्ञान के पुष्प खिले होते हैं, जो धर्मार्थकाम का समसेवन करते हैं, जो शरीररूप रथ से इस अश्मन्वती नदी को तैर जानेवाले तेज से युक्त होते हैं। ये 'वसु' देव इन्द्र में हवि व वयः का धारण करें, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष को त्यागपूर्वक खानेवाला व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

रुद्राः

ग्री॒ष्मेण॑ऽऋतुना॑ दे॒वा रु॒द्राः प॑ञ्चद॒शे स्तु॒ताः।
बृ॒ह॒ता यश॑सा॒ बलं॑ ह॒विरिन्द्रे॒ वयो॑ दधुः॥२४॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **बलम्**=शक्ति को **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **रुद्राः देवाः**=(रुद्रदेव) जिन्होंने ४४ वर्षपर्यन्त आचार्यों के समीप रहकर उस ज्ञान को प्राप्त किया है जो ज्ञान उनको रुद्र बनाता है (रोरूयमाणो द्रवति) निरन्तर प्रभुनाम स्मरण करते हुए यह वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला बनता है। ३. ये 'रुद्र' देव **ग्रीष्मेण ऋतुना स्तुताः**=ग्रीष्मऋतु से स्तुत होते हैं। जैसे ग्रीष्मऋतु प्रचण्ड सूर्य की किरणों से युक्त है, इसी प्रकार ये रुद्र ज्ञान की तीव्र किरणों से युक्त होते हैं। इन ज्ञान की किरणों की प्रचण्डता में मानस मल भस्मसात् हो जाते हैं और ये रुद्रदेव ४. **पञ्चदशे स्तुताः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों के पन्द्रह समूह के निमित्त स्तुत होते हैं। इनकी सब इन्द्रियाँ व प्राण ये सब खूब निर्मल व सशक्त होते हैं। ५. इस प्रकार अपने इस पञ्चदशक को सुन्दर बनाकर ये

बृहता यशसा=सदा बढ़ते हुए यश से युक्त होते हैं।

भावार्थ—रुद्रदेव वे हैं जिनके जीवन में ग्रीष्मऋतु का प्रचण्ड तेज विद्यमान है। इस तेजसे इनकी इन्द्रियाँ व प्राण निर्मल बने हैं और ये बड़े यशस्वी होते हैं। ये रुद्रदेव इन्द्र में बल, हवि (त्यागपूर्वक अदन) तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आदित्याः

वर्षाभिर्ऋतुनादित्या स्तोमे सप्तदशे स्तुताः।
वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२५॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **आदित्या**=आदित्यदेव, जिन्होंने ४८ वर्षपर्यन्त आचार्यों के समीप रहकर सब आदान करने योग्य विज्ञानों व गुणों का ग्रहण किया है (आदानात् आदित्या) जैसेकि मेघ जल का आदान करते हैं। ३. अब ये आदित्य **वर्षाभिः ऋतुना** =वर्षाऋतु से **स्तुताः**=स्तुत होते हैं। वर्षाऋतु में मेघ चारों ओर जल की वृष्टि करके लोगों के सन्ताप को हरते हैं। ये आदित्यदेव भी चारों ओर ज्ञानजल की वर्षा करते हुए लोगों के कष्टों का निवारण करते हैं। ४. और **सप्तदशे स्तोमे स्तुताः**=सत्रह तत्त्वों से बने हुए समूह के निमित्त स्तुत होते हैं। ये सत्रह तत्त्वों से बना हुआ शरीर ही सूक्ष्मशरीर है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व मिलकर यह सूक्ष्मशरीर बना है। 'आदित्य' देव अपने इस सूक्ष्मशरीर के कारण निरन्तर प्रशंसित होते हैं। ५. इस सूक्ष्मशरीर को अच्छा बनाने के कारण ही ये आदित्य **वैरूपेण विशा ओजसा**=विशिष्ट रूपवाली सन्तान से और ओज से अथवा विशिष्ट रूपवाले तथा लोगों के हृदयों में प्रवेश करनेवाले, उनपर प्रभाव डालनेवाले तेज से युक्त होते हैं।

भावार्थ—आदित्यदेव वे हैं जो वर्षाऋतु के समान शान्ति देनेवाले ज्ञानजल को बरसाते हैं, सूक्ष्मशरीर को सुन्दर बनाने से स्तुत होते हैं और विशिष्ट रूपवाले प्राभाविक ओजसे युक्त हैं। ये इन्द्र में त्यागपूर्वक अदन की भावना को तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ऋभवः

शारदेनऽऋतुना देवाऽएकविंशऽऋभवं स्तुताः।
वैराजेन श्रिया श्रियꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२६॥

१. **इन्द्रे**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष में **श्रियम्**=श्री को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **ऋभवः देवाः**=वे देव जो ऋभु नामवाले हैं (मेधाविनाम—नि० ३।१५, उरु भान्ति, ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति वा—नि० ११।१६) मेधावी हैं, ज्ञान-ज्योति से खूब चमकते हैं, ऋत से देदीप्यमान होते हैं अथवा सदा ऋत के साथ रहते हैं। ये देव ३. **शारदेन ऋतुना स्तुताः**=शरद् ऋतु से स्तुत होते हैं। जैसे शरद् ऋतु में ठीक प्रकार से अन्नों का परिपाक होता है, उसी प्रकार इन देवों में भी ज्ञान का परिपाक होता है। जैसे शरद् ऋतु में जल निर्मल हो जाता है, इसी प्रकार इनका मन भी निर्मल होता है। जैसे इस ऋतु में पत्ते शीर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार ये भी वासनाओं व रोगों को शीर्ण करनेवाले होते हैं।

४. ये देव **एकविंशे स्तुताः**='वे त्रिषप्ताः' मन्त्र के अनुसार शरीर को धारण करनेवाले इन इक्कीस बलों से युक्त होते हैं। इन इक्कीस शक्तियों के कारण इनकी सर्वत्र स्तुति होती है और ५. **वैराजेन श्रिया श्रियम्**=ये विशेषरूप से चमकनेवाली श्री से युक्त होते हैं। इनकी आकृति ही विशेषरूप से प्रभाव डालनेवाली होती है।

भावार्थ—ऋभुदेव वे हैं जोकि शरद् ऋतु के समान ज्ञानरूप अन्न के परिपाकवाले होते हैं, शरीर की इक्कीस-की-इक्कीस शक्तियों का विकास कर पाते हैं और विशिष्ट दीप्तिवाली श्री से युक्त होते हैं। ये इन्द्र में 'श्री हवि व वयस्, उत्कृष्ट जीवन' का धारण करें।

ऋषिः—**आत्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मरुतः

हेमन्तेनऽऋतुना देवास्त्रिणवे मरुतं स्तुताः।
बलेन शक्वरीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२७॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों की शक्ति का उपचय करके इन्द्र बननेवाले पुरुष में **सहः**=बल को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **मरुतः देवाः**=मरुत् देव। (मरुत् इति ऋत्विङ्नाम—नि०२।१९, मितराविणः, मरुद् द्रवन्ति—नि० ११।१३) जो ऋत्विज हैं, ऋतु-ऋतु में यजन करनेवाले हैं, कम बोलनेवाले हैं और खूब क्रियाशील हैं। ३. वस्तुतः इसी कारण **हेमन्तेन ऋतुना स्तुताः**=हेमन्त ऋतु से ये स्तुत होते हैं। हेमन्त ऋतु उपचय की ऋतु होती है। कम बोलने व खूब क्रियाशील होने से इन मरुतों की शक्ति का भी उपचय होता है। ४. इस प्रकार शक्ति के उपचय के कारण ये **त्रिणवे स्तुताः**=त्रिगुणित नौ, अर्थात् सत्ताईस से स्तुत होते हैं। शरीर में नवद्वार हैं **'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'**। ये नवद्वार कर्मोपासना व ज्ञानरूप व्यवहार में तीन प्रकार से प्रवृत्त होते हैं और 'त्रिणव' कहलाते हैं। उदाहरण के लिए हम मुख से शब्द बोलनारूप कर्म करते हैं, प्रणवजप द्वारा प्रभु का उपासन करते हैं और ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से ज्ञान को बढ़ाते हैं। एवं, नवद्वार कर्मोपासना व ज्ञान में लगे होकर 'त्रिणव' हो जाते हैं। मरुत इन 'त्रिणव' के कारण प्रशंसनीय होते हैं। ५. और **बलेन शक्वरीः**=बल के साथ प्रत्येक अङ्ग को शक्तियुक्त करते हैं। वैदिक भाषा में ये 'शक्वरपृष्ठ' से युक्त होते हैं। इनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग कार्यभार को वहन करने में सशक्त होता है।

भावार्थ—मरुतदेव वे हैं जो हेमन्तऋतु की भाँति सब शक्तियों के उपचयवाले होते हैं, जिनके कर्मज्ञानोपासना में प्रवृत्त नवद्वार प्रशंसनीय होते हैं और जिनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग बल से सशक्त बनता है। ये इन्द्र में 'बल, हवि व वयस्=उत्कृष्ट जीवन' को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अमृता देवाः

शैशिरेणऽऋतुना देवास्त्रयस्त्रिꣳशेऽमृतां स्तुताः।
सत्येन रेवतीः क्षत्रꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२८॥

१. **इन्द्रे**=(इन्दवे द्रवति) परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए गति करनेवाले इन्द्र में **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट

जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **अमृताः देवाः**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले और अतएव रोगों से आक्रान्त न होनेवाले देव। जो देव ३. **शैशिरेण ऋतुना**=(शम्नातेर्वा शृणातेर्वा–नि० २।१९) सब वासनाओं को शीर्ण करके शान्ति प्राप्त करके अपने जीवन में शिशिरऋतु को ला पाये हैं। ४. इस वासना की शीर्णता व शान्ति के कारण ही **त्रयस्त्रिंशे स्तुताः**=ये तेतीस दिव्य गुणों के निमित्त स्तुत हुए हैं। इनके मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक में ग्यारह-ग्यारह करके तेतीस देवों का निवास हुआ है और इस प्रकार इनका यह शरीर सचमुच 'देवानां पूः'=देवनगरी बन गया है। ५. ये अमृतदेव इस संसार में **सत्येन रेवतीः**=सत्य से रयिधनवाले हुए हैं। ये सदा सत्यमार्ग से धन का अर्जन करते हैं–'रेवती' होते हैं, वैदिक भाषा में 'रैवतपृष्ठ' से स्तुत होते हैं। इनका आधार निर्धनतावाला नहीं होता। इस धन के साथ सत्य को जोड़ने से ही वस्तुतः ये संसार में अमृत बने हैं।

भावार्थ–अमृतदेव वे हैं जो वासनाओं को शीर्ण करके शान्ति धारण से अपने जीवन में शिशिर ऋतु को लाये हैं, तेतीस दिव्य गुणों को धारण करनेवाले बने हैं और जिन्होंने सत्य से धन का अर्जन किया है।

ऋषिः–**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता–**अग्न्यश्वीन्द्रसरस्वत्याद्या लिङ्गोक्ताः**। छन्दः–**निचृदष्टिः**।
स्वरः–**मध्यमः**॥

अग्नि-यजन

होता॑ यक्षत्स॒मिधा॒ग्निमि॒डस्प॒दे॒ऽश्विनेन्द्र॒ꣳसर॑स्वतीम॒जो धू॒म्रो न गो॒धू॒मैः कुव॑लैर्भेष॒जं मधु॒ शष्पै॒र्न तेज॑ऽइन्द्रि॒यं पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृतं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥२९॥

१. गतमन्त्रों में (२३ से २८ तक) हवि का आख्यान है। उस हवि के आख्यान से यह होता=दानपूर्वक अदन करनेवाला बना है। यह **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **इडस्पदे**=(इडा=श्रद्धा अथवा वेदवाणी) श्रद्धा अथवा वेदवाणी के मार्ग में, अर्थात् श्रद्धापूर्वक वेदमार्ग पर चलता हुआ **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। केवल प्रभु को ही नहीं, **अश्विना**=प्राणापान को, **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली आत्मतत्त्व को तथा **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिदेवता को भी अपने साथ सङ्गत करता है। दानपूर्वक अदन से और इसके साथ ज्ञान की दीप्ति व श्रद्धा को अपनाने से हम प्रभु को, प्राणापान को, इन्द्रतत्त्व–आत्मिक शक्ति को तथा ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करते हैं। ३. अब हम **गोधूमैः**=गेहूँ आदि अन्नों के प्रयोग से तथा **कुवलैः**=(कु-वल) पृथिवी पर संचरणों से, अर्थात् व्यायामों से **अजः धूम्रः न**=अज अर्थात् गतिशीलता से बुराइयों को दूर फेंकनेवाले होते हैं। (अज गतिक्षेपणयोः, न=च) और (धूञ् कम्पने) वासनाओं को अपने से कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। वस्तुतः गोधूमादि वानस्पतिक भोजन व उचित व्यायाम शारीरिक व मानस स्वस्थ के लिए आवश्यक हैं। ३. इस प्रकार वानस्पतिक भोजन व व्यायाम का उचित मिश्रण होने पर **मधु**=शहद **भेषजम्**=हमारा औषध हो जाता है। शहद का औषध के रूप में हम प्रयोग करते हैं। ४. **शष्पैर्न**=और (न=च) शष्पों से, अर्थात् इन वानस्पतिक भोजनों से हमें **तेजः इन्द्रियम्**=तेजस्विता व इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त होती है, ५. अतः हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **पयः**=दूध **सोमः**=सोमलता का रस **परिस्रुता**=निचोड़े जानेवाले फलों के रस के साथ **घृतम्**=घृत और **मधु**=शहद–ये

सब पदार्थ **व्यन्तु**=हमें विशेषरूप से प्राप्त हों। (परितः—सर्वतः स्रुता—द०) हम घृतादि पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें। ६. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू घृतादि का भक्षण तो कर, परन्तु **आज्यस्य यज**=इस घृत का तू यज्ञ भी करनेवाला हो। इन पदार्थों को खा, परन्तु हवन अधिक कर। 'सब स्वयं खा जाना' जहाँ मानस विकारों को पैदा करता है वहाँ शरीर के रोगों का भी कारण हो जाता है।

भावार्थ—होता पुरुष श्रद्धा व ज्ञान को अपनाकर 'प्रभु, प्राणापान, इन्द्रशक्ति व विद्या' को अपने साथ जोड़ता है। वानस्पतिक भोजनों व व्यायामों से सब बुराइयों को दूर भगानेवाला 'अजधूम्र' बनता है। शहद इसका औषध होता है। शष्प=वानस्पतिक भोजन इसे तेजस्वी व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न बनाते हैं। यह 'दूध—सोमरस—फलों का रस, घृत व मधु' को भोज्यद्रव्यों के रूप में प्राप्त करता है और घृतादि से हवन अवश्य करता है।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अश्व्यादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

सरस्वती यजन

होता यक्षत्तनूनपात्सरस्वतीमविर्मेषो न भेषजं पथा मधुमता भरन्नश्विनेन्द्राय वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३०॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला अतएव **तनूनपात्**=शरीर को न गिरने देनेवाला, शरीर को रोगों का शिकार न होने देनेवाला **सरस्वतीम्**=ज्ञानाधिदेवता को, ज्ञान की वाणी को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। त्यागपूर्वक अदन से बुद्धि शुद्ध होती है और ज्ञान बढ़ता है। २. यह **होता अविः**=कामादि शत्रुओं से अपनी रक्षा करनेवाला होता है, **न**=और (न=च) **मेषः**=(मिष् to evulate, to contend, to rival)। यह उत्तमता के मार्ग में स्पर्धावाला होता है। 'अति समं क्राम' के उपदेश को सदा क्रियान्वित करता हुआ बराबरवालों को लाँघ जाने के लिए यत्नशील होता है। ३. यह **मधुमता पथा**=माधुर्यमय मार्ग से **भेषजं भरत्**=औषध का भरण करनेवाला होता है। मधुर मार्ग से चलने के कारण यह ईर्ष्यादि दुर्भावनाओं से पैदा होनेवाले विकारों से बचा रहता है। ४. ऐसी स्थिति में **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **वीर्यम्**=शक्ति प्राप्त कराते हैं और **बदरैः**=बेरों से **उपवाकाभिः**=इन्द्रयवों से तथा **तोक्मभिः** =अंकुरित यवों से **भेषजम्**=औषध को प्राप्त करानेवाले होते हैं। वस्तुतः जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये बदर व यव आदि ही उत्तम औषध हो जाते हैं। ५. अब हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु (शहद) **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ६. प्रभु कहते हैं कि **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का हवन भी कर। खाना तो सही, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करना।

भावार्थ—होता शरीर का रक्षक होता है, सरस्वती को अपनाता है, वासनाओं से अपना रक्षक तथा उत्तमताओं में स्पर्धावाला होता है। माधुर्यमय मार्ग से चलना ही इसके लिए औषध हो जाता है। प्राणापान इसे वीर्यवान् बनाते हैं। बेर, इन्द्रयव व भुने चावल व जौ ही इसके लिए उत्तमौषध होते हैं। यह दूध, घृत आदि का सेवन करता है, परन्तु खाने से अधिक यज्ञ करता है।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—अतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

नरांशस-यजन

होता यक्षन्नराशंसं न नग्नहुं पतिंसुरया भेषजं मेषः सरस्वती भिषग्रथो न चन्द्र्यश्विनोर्वपाऽइन्द्रस्य वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३१॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला प्रभु को अपने साथ **यक्षत्**=सङ्गत करता है जो प्रभु **नराशंसम्**=(नरैः=आशंस्यते) समन्तात् मनुष्यों से स्तुति किये जाते हैं **'यस्य विश्व उपासते'**—सभी जिसकी उपासना करते हैं। **न**=(च) और **नग्नहुम्**=स्वयं कुछ भी धारण न करते हुए सब-कुछ देनेवाले हैं, **पतिम्**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। २. यह होता प्रभु से मेल करके प्रभु की भाँति ही 'नराशंस-नग्नहु व पति' बनने का प्रयत्न करता है। **मेषः**=उत्तमता से स्पर्धा करनेवाला बनकर **सुरया**=(सुर् to govern) आत्मनियन्त्रण से **भेषजम्**=औषध को प्राप्त कर लेता है। आत्मनियन्त्रण से सुरक्षित वीर्य ही इसके लिए औषध का काम करता है। ३. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता ही **भिषक्**=इसके लिए वैद्य बन जाती है। ज्ञानी होकर सब वस्तुओं का यह ठीक प्रयोग करता है और रोगों से बचा रहता है। ४. **न**=और सरस्वती के वैद्य होने पर **रथः**=इसका यह शरीररूप रथ **चन्द्री**=सदा प्रसन्नतावाला होता है। अथवा 'चन्द्रमिति हिरण्यनाम' चन्द्र का अभिप्राय है 'सोना'। इसका शरीररूप रथ सुवर्ण की भाँति देदीप्यमान होता है। इसमें **अश्विनोः वपा**=प्राणापान का वपन होता है, प्राणापान बोये जाते हैं, अर्थात् प्राणापान-शक्ति सुदृढ़ होती है और **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **वीर्यम्**=वीर्य इसमें होता है। ५. **बदरैः**=बेरों से **उपवाकाभिः**=इन्द्रयवों से और **तोक्मभिः** =अंकुरितयवों से **भेषजम्**=इसको औषध प्राप्त हो जाता है। इन सामान्य वस्तुओं के अन्दर भी विज्ञानपूर्वक प्रयोग से वह औषधों को पा लेता है। ६. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ७. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन करनेवाला हो। घृत का सेवन भी कर, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता सर्वस्तुत्य प्रभु का अपने से मेल करता है। आत्मनियन्त्रण से वह रोगों का प्रतीकार करनेवाला होता है। ज्ञान ही इसका वैद्य होता है। इसका शरीर-रथ सुवर्ण के समान देदीप्यमान होता है, इसमें प्राणापानशक्ति दृढ़ होती है। यह वीर्यवान् होता है। बेर, यव आदि इसके भेषज हो जाते हैं। यह दूध आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—सरस्वत्यादयः। छन्दः—विराडतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

इडा-यजन

होता यक्षदिडेडितऽआजुह्वानः सरस्वतीमिन्द्रं बलेन वर्धयन्नृषभेण गवेन्द्रियमश्विनेन्द्राय भेषजं यवैः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **ईडितः**=(ईडितम् अस्य अस्तीति) उपासनावाला होकर **इडा**=(इडाम्—म०) इडा को, श्रद्धा को व प्रशंसित ज्ञानवाणी को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है। २. श्रद्धा व ज्ञानवाणियों से यह **सरस्वतीम् आजुह्वानः**=सरस्वती को अपने में

पुकार रहा होता है और सरस्वती का आराधन करके अपने ज्ञान को बढ़ा रहा होता है। ३. यह **बलेन**=बल के धारण से **इन्द्रम्**=प्रभु को **वर्धयन्**=बढ़ाता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=बलहीन से आत्मतत्त्व अप्राप्य है, यह सबल होकर उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। ४. **ऋषभेण**=(ऋष गतौ, गन्तुं योग्येन—द०) क्रिया में परिणत होनेवाले **गवा**=(गमयन्ति अर्थम्) वेदज्ञान से यह **इन्द्रियम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को **वर्धयन्**=बढ़ाता है। गति कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है और ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों को। ५. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भेषजम्**=औषध होते हैं। ६. **यवैः**=जौ के साथ तथा **कर्कन्धुभिः**=बेरों के साथ **मधु**=शहद **न**=और **लाजैः**=लाजाओं के साथ, अक्षत धान्यों के साथ **मासरम्**=ओदन=भात। ये इन्द्र के लिए भेषज हो जाते हैं। ७. यह इन्द्र प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद ये वस्तुएँ **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ८. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=इस घृत का सेवन भी कर, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता श्रद्धा व ज्ञान की वाणी का अपने साथ मेल करता है। यह सरस्वती की आराधना करता है। बल से आत्मतत्त्व का वर्धन करता है, गति व ज्ञान-प्राप्ति से ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सशक्त करता है। प्राणापान इसके लिए वैद्य हो जाते हैं। 'बेर, यव, मधु, लाजा व मासर' आदि पदार्थ इसके लिए भेषज का काम करते हैं। यह होता घृतादि का सेवन करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

बर्हिर्यजन

होता यक्षद् बर्हिरूर्णम्रदा भिषङ् नासत्या भिषजाश्विनाश्वा शिशुमती भिषग्धेनुः सरस्वती भिषग्दुहऽइन्द्राय भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्णं=आच्छादकं=वृत्रं मृद्नाति) ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का विनाश करनेवाला बनकर, कामादि वासनाओं को नष्ट करके **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, ऐसे वासनाशून्य हृदय का **यक्षत्**=अपने साथ सङ्ग (मेल) करता है। यह ऊर्णम्रदाः **भिषज्**=स्वयं अपना वैद्य होता है। २. ऐसा होने पर **नासत्या**=ये नासिका में होनेवाले **अश्विना**=प्राणापान भी **भिषजा**=इसके वैद्य बनते हैं, अर्थात् वासनाओं का विनाश करना ही वैद्य बनना है। वासनाओं का विनाश होने पर ही प्राणापान वैद्य होते हैं। वासनामय जीवन में प्राणापान की शक्ति क्षीण हो जाती है। उन्होंने रोगों को क्या दूर करना? ३. प्राणापान के वैद्य के रूप में होने पर एक गृहिणी **अश्वा**=सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त, सबल व **शिशुमती**=उत्तम सन्तानोंवाली होती है। ४. इस गृहिणी के लिए **धेनुः**=घर में रखी हुई गौ **भिषक्**=वैद्य हो जाती है, क्योंकि गोदुग्ध शरीर को ही नहीं मन व बुद्धि को भी नीरोग करता है। ५. इसके लिए **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता भी **भिषक्**=वैद्य होती है। ज्ञानपूर्वक किया गया वस्तुओं का उपयोग रोगों को नहीं आने देता। ये वैद्यभूता सरस्वती **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भेषजं दुहे**=औषध को दुहती है, प्राप्त कराती है। अजितेन्द्रिय के लिए औषध का कोई लाभ नहीं। ६. यह जितेन्द्रिय पुरुष प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत व शहद **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ७. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन

करनेवाले! तू **आज्यस्य**=घृत का **यज**=यजन कर। खा भी, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता वृत्र को कुचलकर, पवित्र हृदय को अपने साथ सङ्गत करता है। इसके लिए प्राणापान वैद्य होते हैं। इन वैद्योंवाली माता कर्मों में व्याप्त व उत्तम सन्तानवाली होती है। इनके लिए गौ तथा ज्ञानाधिदेवता वैद्य हो जाते हैं। हम जितेन्द्रिय बनकर दूध आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करें। घृत आदि को खाएँ, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

द्वार-यजन

होता यक्षद्दुरो दिशः कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशऽइन्द्रो न रोदसी दुघे दुहे धेनुः सरस्वत्यश्विनेन्द्राय भेषजꣳशुक्रं न ज्योतिरिन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३४॥

१. यह शरीर मुखादि नौ द्वारोंवाला है (दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें, मुख, पायु, उपस्थ)। इन द्वारों में नाभि व ब्रह्मरन्ध्र को मिलाकर ११ द्वार हो जाते हैं। **दुरः**=इन सब-के-सब द्वारों को **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। ये द्वार **दिशः**=एक विशिष्ट उपदेश को लिये हुए हैं। कानों ने ज्ञान की वाणियों को सुनने का निश्चय किया तो आँखों ने प्रकृति की शोभा में प्रभु की महिमा को देखने का निश्चय किया। एवं, प्रत्येक इन्द्रियद्वार की अपनी-अपनी एक दिशा है। **कवष्यः**=(कवषः= shield) जो द्वार इस शरीर की रक्षा के लिए ढालरूप हैं, इनका ठीक प्रयोग शरीर को रोगादि के आक्रमण से बचाता है **न**=और ये द्वार **व्यचस्वतीः**=अपनी-अपनी शक्तियों के विस्तारवाले हैं। २. **न**=और **दुरः**=ये द्वार **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा **दिशः**=अपनी विशिष्ट दिशा में कार्य करनेवाले होते हैं। ३. प्रत्येक इन्द्रियद्वार का ठीक प्रयोग करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **रोदसी**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का **दुघे**=पूरण करता है। ४. **न**=और **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **धेनुः**=गौ **भेषजम्**=सब रोगों के औषध को **दुहे**=दुहती है, अर्थात् गोदुग्ध इसके रोगों का इलाज होता है **न**=और **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता इसके लिए **शुक्रं ज्योतिः**=शुद्ध व क्रियाशील बनानेवाला (शुच् दीप्तौ, शुक् गतौ) ज्ञान दुहती है तथा **अश्विना**=प्राणापान इसके लिए **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को दुहते हैं। ५. यह इन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घी और शहद मुझे **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ६. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**= दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन कर।

भावार्थ—हम होता बनकर इस नगरी के सब द्वारों को अपनी-अपनी विशिष्ट दिशा में कार्य करनेवाला बनाएँ। ये द्वार हमारे लिए ढालरूप हों, विस्तृत शक्तियोंवाले हों। हम मस्तिष्क व शरीर दोनों का पूरण करें। हमें दूध आदि पदार्थ प्राप्त हों। उन पदार्थों का हम सेवन करें, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

उषा-यजन

होता यक्षत्सुपेशसोषे नक्तं दिवाश्विना समञ्जाते सरस्वत्या त्विषिमिन्द्रे न भेषजꣳश्येनो न रजसा हृदा श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३५॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सुपेशसा**=उत्तम रूप का निर्माण करनेवाली **उषे**=उषःकालों को, प्रातः तथा सायं की सन्धिभूत उषाओं को, **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। इन उषाओं में सूर्य अस्त हो रहा होता है तो चन्द्र उदय होता है, चन्द्र अस्त हो रहा होता है तो सूर्य का उदय हो रहा होता है। एवं, इन उषःकालों में दोनों प्रकाश होते हैं, इससे इन्हें इंग्लिश में twilight यह नाम दिया गया है। ये दोनों काल मनुष्य को यह उपदेश देते हैं कि तूने मस्तिष्क में सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त बनना तथा मन में चन्द्र की भाँति आह्लादमय होना। २. इस होता को **अश्विना**=प्राणापान **नक्तं दिवा**=रात-दिन **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से **समञ्जाते**=अलंकृत करते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। ३. **न**=और बुद्धि की तीव्रता के द्वारा **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **त्विषिम्**=ज्ञानदीप्ति को ही **भेषजम्**=औषधरूप से करते हैं। ४. ये प्राणापान इस इन्द्र को **श्येनः न**=तीव्र गतिवाले श्येनपक्षी की भाँति **रजसा**=कर्म में (रजः कर्मणि) अलंकृत करते हैं। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता। वासनारूप पक्षियों का शिकार करता ही रहता है। इस शिकार के लिए निरन्तर क्रियाशीलता आवश्यक है। ५. निरन्तर क्रियाशीलता के होने पर **हृदा**=हृदय से **श्रिया न**=(न=च) शोभा के साथ **मासरम्**=प्रत्येक मास में रमण की (मासेषु रमते) वृत्ति को धारण करता है। इसका हृदय श्रीसम्पन्न व आनन्दयुक्त होता है।, इसी से इसे सब मासों व ऋतुओं में आनन्द अनुभव होता है। ६. यह हृदय से श्री को धारण करनेवाला चाहता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घी और शहद **व्यन्तु**=मुझे प्राप्त हों।' ७. प्रभु इसे उपदेश देते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक उपभोक्तः! तू **आज्यस्य**=घृत का **यज**=यजन कर। खा, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—उषःकाल होता को सूर्य के समान दीप्त व चन्द्र के समान प्रसन्न बनाते हैं। प्राणापान इसे सदा सरस्वती से अलंकृत करते हैं। ज्ञानदीप्ति इनके लिए भेषज बन जाती है। यह श्येनपक्षी की भाँति क्रियाशील होता है। हृदय में श्री को धारण करता हुआ प्रत्येक ऋतु व मास में आनन्द का अनुभव करता है। यह दूध आदि उत्तम पदार्थों का ही सेवन करता है। इन पदार्थों का सेवन करता हुआ अग्निहोत्र अधिक करता है, इसीलिए इसका 'होता' नाम सार्थक होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

दैव्य होतृ-यजन

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजाश्विनेन्द्रं न जागृवि दिवा नक्तं न भेषजैः शूषꣳसरस्वती भिषक्सीसेन दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=(अयं चाग्निरसौ च मध्यमः—नि० ७।३०) अग्नि और वायुतत्त्व को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। अग्नितत्त्व इसके मलों को भस्म करनेवाला तथा प्रकाश प्राप्त करानेवाला है, और वायुतत्त्व इसके बल का कारण बनता है। २. वह होता **अश्विना**=प्राणापान को भी अपने साथ सङ्गत करता है जो प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। ३. **न**=और यह होता **जागृवि इन्द्रम्**=जागरणशील, सदा अप्रमत्त आत्मा को अपने साथ सङ्गत करता है। ४. **न**=और वह होता **दिवा नक्तम्**=दिन-रात **भेषजैः**=रोगनिवर्तनों के द्वारा **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को अपने साथ सङ्गत करता है। रोग ही बल का क्षय करते हैं। ५. **सरस्वती भिषक्**=यह ज्ञानाधिदेवतारूप वैद्य **सीसेन**=नागभस्म द्वारा **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्तियों को **दुहे**=पूरित करती है। ६. **पयः सोमः**=दूध

व सोमलता का रस तथा **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद को **व्यन्तु**=प्राप्त हों, परन्तु हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का हवन करनेवाला बन।

भावार्थ—होता अपने साथ अग्नि तथा वायुतत्त्व को, वैद्यभूत प्राणापान को, सदा अप्रमत्त आत्मतत्त्व को, दिन-रात रोगनिवारणों के साथ बल को सङ्गत करता है और ज्ञानाधिदेवता नागभस्मादि धातु निर्मित ओषधियों से शक्ति को पूरित करती है। दूध आदि पदार्थों को यह प्राप्त करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

तिस्रो देवीर्यजन

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसो रूपमिन्द्रे हिरण्ययमश्विनेडा न भारती वाचा सरस्वती महऽइन्द्राय दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३७॥

१. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्रः देवीः**='इडा, सरस्वती, भारती'=श्रद्धा, ज्ञान व वाणी—इन तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। **न भेषजम्**=और अपने साथ औषध को सङ्गत करता है। **इडा**=श्रद्धा मन के दोषों को दूर करके मानस आरोग्य प्राप्त कराती है, सरस्वती मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करके मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है तथा भारती सब इन्द्रियों के भरण का कारण बनती है। २. **त्रयः**=तीन **त्रिधातवः**=प्राणमयकोश, मनोमयकोश तथा विज्ञानमयकोश का धारण करनेवाले **अपसः**=कर्मशील **अश्विना**=प्राणापान **इडा**=श्रद्धा **न**=और **भारती वाचा**=(ज्ञान की वाणी) **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय स्वर्ण के समान देदीप्यमान **रूपम्**=रूप को धारण करते हैं। प्राणापान 'प्राणमयकोश' को दीप्त करते हैं तो श्रद्धा 'मनोमयकोश' को पूर्ण स्वस्थ करके दीप्त करती है और ज्ञान की वाणी मस्तिष्क की नीरोगता का कारण बनती है। ३. **वाचा**=ज्ञान की वाणियों के साथ **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **महः**=तेजस्विता को तथा **इन्द्रियम्**=इन्द्रियशक्तियों को **दुहे**=पूरित करती है। ज्ञान वासनाओं को विनष्ट करता है, वासना-विनाश से जीवन भोगप्रवण नहीं होता। भोग ही वस्तुतः शक्ति को व इन्द्रियों के तेज को क्षीण करते हैं। ४. यह भोगों से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति प्रार्थना करता है कि मुझे **पयः सोमः**=दूध, सोमरस **परिस्रुता घृतं मधु**=फलों के रस के साथ घी और शहद आदि उत्तम पदार्थ ही **व्यन्तु**=प्राप्त होते हैं। ५. इस प्रार्थी को प्रभु प्रेरणा प्राप्त कराते हैं कि **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **आज्यस्य यज**=तू घृत का यजन करनेवाला बन। यह अग्नि में डाला हुआ घृत तेरा अधिक कल्याण करेगा।

भावार्थ—हम त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले बनकर 'इडा, सरस्वती, भारती' रूप तीनों देवियों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करें। ये तीनों 'मन, मस्तिष्क व शरीर' में हमारा धारण करनेवाली हैं। हमें दूध आदि उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त हों। हम यज्ञों में उनका विनियोग करते हुए यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिक्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

सुरेतसः यजन

होता यक्षत्सुरेतसमृषभं नर्यापसं त्वष्टारमिन्द्रमश्विना भिषजं न सरस्वतीमोजो न जूतिरिन्द्रियं वृको न रभसो भिषग्यशः सुरया भेषजꣳश्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३८॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=सङ्गत करता है। किसको? **सुरेतसम्**=उत्तम रेतस्वाले को, उत्तम वीर्यशक्तिवाले को और अतएव **ऋषभम्**=(ऋष गतौ) गतिशील को, **नर्यापसम्**=सदा नरहितकारी कर्म करनेवाले को, और **त्वष्टारम्**=देवशिल्पी को, अर्थात् अपने जीवन में दिव्य गुणों के निर्माण करनेवाले को, अर्थात् जो होता बनता है वह अपने जीवन में उत्तम वीर्य की रक्षा करनेवाला, गतिशील, नरहितकारी कार्यों में तत्पर तथा दिव्य गुणों का निर्माता बनता है। २. यह होता **इन्द्रम्**=इन्द्र को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, अर्थात् जितेन्द्रिय बनता है और इस जितेन्द्रियता के द्वारा बढ़ी हुई प्राणापान शक्तिवाला होता है। ३. यह होता **भिषजं न सरस्वतीम्**=उस ज्ञानाधिदेवता को भी अपने साथ सङ्गत करता है जो ज्ञानाधिदेवता उसके लिए वैद्य सिद्ध होती है। उसके सब रोगों का इलाज हो जाती है। वस्तुतः अविद्या सब क्लेशों का उत्पत्ति-क्षेत्र है तो विद्या सब क्लेशों को दूर करनेवाली है। ४. यह होता **ओजः**=ओजस्विता को **न**=(न=च) तथा **जूतिः**=क्रियाशीलता को **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है। ५. यह होता **वृकः**=(वृक आदाने) उत्तम गुणों का आदान करनेवाला **न**=और **रभसः**=शक्तिशाली (Robust) तथा **भिषक्**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाला बनकर **यशः**=यश को, **सुरया**=आत्मशासन के द्वारा **भेषजम्**=सब रोगों के ,प्रतीकार को, **न**=और **श्रिया**=श्री के साथ, शोभा के साथ **मासरम्**=सब मासों में रमण-आनन्द की भावना को अपने साथ सङ्गत करता है और ६. यही चाहता है कि **पयः सोमः**=दूध और सोमरस तथा **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु **व्यन्तु**=उसे प्राप्त हों। ७. इस प्रार्थना करनेवाले को प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य**=इस घृत का **यज**=यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—होता पुरुष उत्तम वीर्यवाला, गतिशील, नरहितकारी कर्मों में लगा हुआ होता है। यह दूध आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु इस बात का ध्यान रखता है कि इन घृत आदि भोज्य पदार्थों से वह अग्निहोत्र अवश्य करता रहे।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वनस्पति-यजन

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुं भीमं न मन्युꣳराजानं व्याघ्रं नमसाश्विना भामꣳसरस्वती भिषगिन्द्राय दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥ ३९॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **वनस्पतिम्**=ज्ञान की किरणों के पति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, अर्थात् ज्ञान की किरणों का पति बनता है। **शमितारम्**=शान्त वृत्तिवाले को अपने साथ सङ्गत करता है। **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञावाले को अथवा सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय जीवनवाले को **न**=तथा **भीमम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर को, **मन्युम्**=विचारशील को, **राजानम्**=बड़े व्यवस्थित जीवनवाले को, **व्याघ्रम्**=(वि आ जिघ्रति) विविध विज्ञानों की समन्ततः गन्ध ग्रहण करनेवाले को, अर्थात् यह होता अपने जीवन को उल्लिखित गुणों से युक्त बनाता है। २. **नमसा**=नम्रता के द्वारा तथा परमेश्वर के प्रति नमन के द्वारा **अश्विना**=यह अपने साथ प्राणापान को तथा **भामम्**=तेजस्विता को सङ्गत करता है। वस्तुतः विनीतता से

प्राणशक्ति व तेज की वृद्धि होती है। अभिमान व अक्खड़पन से प्राणशक्ति व तेजस्विता की हानि ही होती है। ३. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **भिषक्**=इस होता के लिए वैद्य होती है और **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियम् दुहे**=इन्द्रियों की शक्ति का पूरण करती है। ४. यह जितेन्द्रिय पुरुष चाहता है कि उसे **पयः सोमः**=दूध, सोमरस **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ५. इस जितेन्द्रिय पुरुष से प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन कर। घृत को खा भी, परन्तु अग्निहोत्र करना न भूल। यही बात तुझे 'होता' बनाएगी।

भावार्थ—होता पुरुष ज्ञान की किरणों का पति, शान्त, अनन्त प्रज्ञानवाला व यज्ञशील, शत्रुओं के लिए भयंकर, विचारशील, व्यवस्थित जीवनवाला व व्यापक ज्ञानवाला बनता है। यह नम्रता के द्वारा प्राणापान व तेजस्विता को धारण करता है। ज्ञानाधिदेवता इसे इन्द्रियों की शक्ति से पूर्ण करती है। इसे दूध आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। यह उनका यज्ञशेष के रूप में सेवन करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**विराडत्यष्टिः**[क], **अत्यष्टिः**[र]। स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि-यजन

[क]होता॑ यक्षद॒ग्निꣳस्वाहाज्य॑स्य स्तो॒काना॒ꣳस्वाहा॒ मेद॑सां॒ पृथ॒क् स्वाहा॒ छाग॑म॒श्विभ्या॒ꣳस्वाहा॑ मे॒षꣳसर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ऽऋष॒भमिन्द्रा॑य सि॒ꣳहाय॒ सह॑सऽइ॒न्द्रियꣳस्वाहा॒ग्निं न भे॑ष॒जꣳस्वाहा॒ सोम॑मिन्द्रि॒यꣳ [र]स्वाहेन्द्रꣳसु॒त्रामा॑णꣳसवि॒तारं॒ वरु॑णं भि॒षजा॒ं पति॒ꣳस्वाहा॒ वन॒स्पतिं॑ प्रि॒यं पाथो॒ न भे॑ष॒जꣳस्वाहा॑ दे॒वाऽआ॑ज्य॒पा जु॑षा॒णोऽअ॒ग्निर्भे॑ष॒जं पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥४०॥

१. **होता**=यज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाला व्यक्ति **अग्निं यक्षत्**=अग्नि का यजन करता है, अर्थात् अग्निहोत्र करता है। इस अग्निहोत्र के लिए वह **स्वाहा**=(स्व+हा) अपने धन व स्वार्थ का त्याग करता है, सारा स्वयं ही नहीं खा लेता। २. यह अग्निहोत्र के समय अग्नि में **आज्यस्य स्तोकानां स्वाहा**=घृत के कणों की आहुति देता है और **मेदसां पृथक् स्वाहा**=विविध ओषधियों के **मेदस्**=गूदे की अलग-अलग आहुति देता है। उदाहरणार्थ **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की वृद्धि के उद्देश्यसे होनेवाले यज्ञ में **छागं स्वाहा**=अजमोद ओषधि के मेदस् की आहुति देता है। **सरस्वत्यै** =ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषं स्वाहा**=मेढ़ासिंगी ओषधि के गूदे की आहुति देता है। **इन्द्राय**=इन्द्र की शक्ति के विकास के लिए **सिंहाय**=सिंह के समान शत्रुओं का अभिभव करनेवाला बनने के लिए तथा **सहसे**=अत्यन्त बलवान्, बलरूप बनने के लिए **भेषजं स्वाहा**=ऋषभक ओषधि के मेदस् की आहुति देता है। (मेदस् वह भाग है जिसमें medicinal=ओषध के गुण प्रचुर मात्रा में निहित होते हैं।) ३. **इन्द्रियं स्वाहा**=इस स्वाहा की क्रिया से, अर्थात् अग्निहोत्र से यह होता **इन्द्रियं यक्षत्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है। ४. **अग्निं न भेषजं स्वाहा**=(न=च) और इस अग्निहोत्र से उस अग्नि को अपने साथ सङ्गत करता है जो उसके लिए औषध के समान होता है। ५. **सोमम् इन्द्रियं स्वाहा**=इस यज्ञक्रिया से यह उस सोम को, वीर्य को, अपने साथ सङ्गत करता है जो सोम इसकी इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ानेवाला होता है। ६. **स्वाहा**=इस स्वार्थत्यागरूप यज्ञ की क्रिया से यह **इन्द्रम्**=उस

आत्मशक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है जो आत्मशक्ति **सुत्रामाणम्**=बड़ी उत्तमता से अपना त्राण करती है और इस मानव-जीवन को रोगों व वासनाओं का शिकार नहीं होने देती। **सवितारम्**=यह अपने साथ सविता=निर्माण की देवता को सङ्गत करता है जो निर्माण की देवता **वरुणम्**=वरुण है, सब प्रकार के द्वेषों का निवारण करनेवाली है और **भिषजां पतिम्**=सबसे मुख्य वैद्य है। मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में लगे हों तो जहाँ वे परस्पर द्वेष नहीं करते वहाँ नाना प्रकार के रोगों के शिकार भी नहीं होते। द्वेष व रोग आलसियों को ही अपना शिकार बनाते हैं। ७. **स्वाहा**=यज्ञक्रिया से यह होता **वनस्पतिम्**=वनस्पति को अपने साथ सङ्गत करता है जो वनस्पति **प्रियं पाथः**=बड़ा तृप्तिकारक व कमनीय अन्न होता है (पाथः=शरीररक्षक अन्न) **न**=और **भेषजम्**=औषध होता है। ८. **देवाः**=देव लोग **आज्यपाः**=घृत का पान करनेवाले होते हैं, वे घृत का सेवन करते हैं। यह घृत का विधिवत् प्रयोग उनके मलों का क्षरण करनेवाला होता है और उनके ज्ञान को दीप्त करता है। ९. **जुषाणः अग्निः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता हुआ अग्निः **भेषजम्**=औषध होता है। अग्निहोत्र सब रोगों को दूर करनेवाला होता है। १०. यह होता प्रार्थना करता है कि **पयः सोमः**=दूध व सोमरस **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद **व्यन्तु**= हमें प्राप्त हों। ११. प्रभु इस होता से कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन करनेवाला बन। खा, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता पुरुष प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, अग्नि में घृत के कणों को डालता है और साथ ही प्राणापान के लिए अजमोद आदि ओषधियों के मध्यभाग की भी आहुतियाँ देता है, ज्ञानवृद्धि के लिए मेढ़ासिंगी तथा इन्द्र शक्ति के विकास के लिए ऋषभक ओषधि की आहुतियाँ भी देता है। देव लोग घृतादि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करते हैं, परन्तु उनकी आहुतियाँ अधिक देते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

छाग-मेष-ऋषभ

होता यक्षदश्विनौ छागस्य वपाया मेदसो जुषेताᳬं हविर्होतर्यज । होता यक्षत्सरस्वतीं मेषस्य वपाया मेदसो जुषताᳬं हविर्होतर्यज । होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य वपाया मेदसो जुषताᳬं हविर्होतर्यज ॥४१॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से प्रभु उससे कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तेरे ये प्राणापान **छागस्य**=अजमोद ओषधि के **वपाया मेदसः**=(वप=मुण्डन-छेदन) रोग का छेदन करनेवाले गूदे के भाग का **जुषेताम्**=सेवन करें, तथा तू **हविः यज**=इस अजमोद ओषधि को हविरूप में अग्नि के साथ सङ्गत कर, अर्थात् इस ओषधि की अग्नि में आहुतियाँ दे। २. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से प्रभु उससे कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **मेषस्य**=मेढासिंगी ओषधि के **वपाया मेदसः**=रोगछेदक गूदे के भाग को **जुषताम्**=सेवन कर तथा **हविः यज**=हविरूप में अग्नि के साथ इसे सङ्गत कर। इस ओषधि की अग्नि में आहुतियाँ दे। ३. **होता**=यह यज्ञशेष का भोजन करनेवाला पुरुष **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को

यक्षत्=अपने साथ सङ्गत करे। इसी उद्देश्य से वह **ऋषभस्य**=ऋषभक ओषधि के **वपाया मेदसः**=रोगछेदन करनेवाले औषध-गुणयुक्त मध्यभाग का **जुषताम्**=सेवन करे। प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **हविःयज**=हविरूप में इनका यजन करनेवाला बन।

भावार्थ—इस यज्ञमय जीवन में हम अजमोद ओषधि के प्रयोग व यज्ञ से प्राणापान शक्ति का वर्धन करें। मेढ़ासिंगी ओषधि के प्रयोग से हम मस्तिष्क की शक्ति का विकास करें तथा ऋषभक ओषधि का प्रयोग हमारी आत्मशक्ति का विकास करे।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**होत्रादयः**। छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**[क], **विराडाकृतिः**[र]।
स्वरः—**ऋषभः**[क], **पञ्चमः**[र]॥

शष्प-तोक्म-लाजा

[क]**होता यक्षदश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रꣳसुत्रामाणमिमे सोमाः [र]सुरामाणश्छागैर्न मेषैर्ऋषभैः सुताः शष्पैर्न तोक्मभिर्लाजैर्महस्वन्तो मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः प्रस्थिता वो मधुश्चुतस्तानश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्ताꣳसोम्यं मधु पिबन्तु मदन्तु व्यन्तु होतर्यज ॥४२॥**

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **अश्विनौ**=प्राणापान को **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता को **सुत्रामाणम्**=अपना उत्तम रक्षण करनेवाली **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। २. इस उद्देश्य से ही **इमे**=ये **सोमाः**=सोमलता के रस **छागैः**=अजमोद ओषधि के रस के साथ **सुताः**=अभिषुत हुए-हुए प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं, **मेषैः**=मेढ़ासिंगी ओषधि के रस के साथ अभिषुत हुए-हुए इन्द्रशक्ति का विकास करते हैं और इस प्रकार ये **सुरामाणाः**=सुरमणीय हैं, जीवन में रमणीयता लानेवाले हैं। ३. ये रस क्रमशः **शष्पैः**=बालतृणों के साथ, छोटे-छोटे पालक आदि ओषधियों के पत्तों के साथ **न**=और **तोक्मभिः**=यवाङ्कुर के साथ, जौ के नवाङ्कुरों के साथ तथा **लाजैः**=अक्षतों के साथ (चावल के बने हुए) सेवन किये हुए **महस्वन्तः**=तेजस्वितावाले होते हैं, अर्थात् उन रसों के सेवन के साथ पथ्यरूप में 'शष्प-तोक्म व लाजा' का प्रयोग बड़ा गुणकारी हो जाता है। इन पथ्यों के साथ ये रस **मदाः**=(मदी हर्षे) हर्ष के जनक हो जाते हैं। ४. **मासरेण**=(मासेषु रमन्ते) और सदा सब मासों में प्रसन्न करने की मनोवृत्ति से **परिष्कृताः**=अलंकृत हुए-हुए ये रस **शुक्राः**=वीर्य को उत्पन्न करनेवाले, **पयस्वन्तः**=सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाले तथा **अमृताः**=नीरोगता को देनेवाले होते हैं। ५. ये रस **प्रस्थिताः**=(होमाभिमुखं चलिताः—म०) अग्निकुण्ड में डालने पर, सारे वायुमण्डल में फैलते हुए जब सूर्य तक जाने लगते हैं तब **वः**=तुम सब होताओं के लिए ये **मधुश्चुतः**=मधु का स्रवण करनेवाले होते हैं। जीवन में अत्यन्त माधुर्य पैदा करते हैं। ६. **तान्**=उन रसों को **अश्विना**=प्राणापान **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रः**=वह आत्मशक्ति जो **सुत्रामा**=शरीर को रोगों से सम्यक् बचाती है तथा **वृत्रहा**=हृदय की वासनाओं का विनाश करती है, ये सब **जुषन्ताम्**=सेवन करें। ७. इन **सोम्यं मधु**=सोमकणों से उत्पन्न सारभूत (मधु) सोमशक्ति का, वीर्य का **पिबन्तु**=पान करें, अपने अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें, **मदन्तु**=आनन्द का अनुभव करें, **व्यन्तु**=(राजन्ताम्—म०) अपने जीवन को कान्त व दीप्त बनाएँ। ८. प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू उल्लिखित रसों का प्रयोग अवश्य कर, परन्तु **यज**=यज्ञ करनेवाला बन। उन ओषधियों को हविरूप में अग्निकुण्ड में भी डाल।

भावार्थ—'छाग, मेष व ऋषभक' ओषधियों के पथ्य 'शष्प, तोक्म व लाजा' हैं। इनका यज्ञ करने पर ये अत्यन्त गुणकारी हो जाती हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**होत्रादयः**। छन्दः—**याजुषीपङ्क्तिः**[क], **उत्कृतिः**[र]। स्वरः—**पञ्चमः**[क], **षड्जः**[र]॥

'अजमोद' का प्रयोग व यजन

[क]होता यक्षदश्विनौ छागस्य [र]हविषऽआत्तामद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाꣳ सुमत्क्षराणाꣳ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करतऽएवाश्विना जुषेताꣳ हविर्होतर्यज॥४३॥

१. **होता**=यह यज्ञशील पुरुष **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। इस उद्देश्य से ये प्राणापान **छागस्य**=अजमोद ओषधि के **हविषः**=हवि का **आत्ताम्**=सेवन करें, अर्थात् इस ओषधि को मुख से भी ग्रहण करें और इसे अग्निकुण्ड में आहुत करके हविरूप में हुई-हुई इस औषध को श्वासवायु के साथ ग्रहण करें। २. **अद्य**=आज इस ओषधि के **मध्यतः**=मध्य से **मेदः**=इसका औषध-गुणसम्पन्न चिकना भाग, अर्थात् गूदा **उद्भृतम्**=बाहर निकाला है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=(द्विष अप्रीतौ) यह वायुमण्डल के प्रभाव से अप्रीतिजनक हो जाए, अर्थात् इसके रस का स्वाद कुछ विकृत हो जाए तथा **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=इसे कोई पुरुषों में होनेवाला रोग पकड़ ले, अर्थात् मक्खियों आदि के कारण इसमें किन्हीं रोगकृमियों का प्रवेश होने से पूर्व ही **घस्ताम्**=प्राणापान इसका भक्षण करें। सामान्यतः सेब को काटें तो कुछ देर रखने पर उसका वह चमकता हुआ सफेद रंग जाता रहता है, कुछ देर पड़े रहने पर उसके स्वाद में भी विकार आ जाता है, अतः सामान्य नियम यही ठीक है कि काटा और खाया। यहाँ भी 'ओषधि का गूदा निकाला और उसका प्रयोग किया' यही नियम रखना चाहिए। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे**=खाने पर **अज्राणाम्**=(अज गतिक्षेपणयोः) रोगों को दूर फेंकनेवाली अथवा (भोजने अग्रे प्राप्तव्यानाम्—द०) भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य (अज्राणां=अजराणां नवानां रुचिजनकानाम्—म०) भोजन में अधिकाधिक रुचि पैदा करनेवाली **यवसप्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य **सुमत् क्षराणाम्**=(सुष्ठु मदां क्षरः सञ्चलनं येषां—द०) उत्तम आनन्दों के देनेवाली **शतरुद्रियाणाम्**=सैकड़ों रोगों को रुलानेवाली, अर्थात् रोगों का विद्रावण करनेवाली अथवा (बहुमन्त्रैः सुतानाम्—म०) मन्त्रों से स्तवन की गई **अग्निष्वात्तानाम्**=(पाककाले पूर्वमग्निना सुशृतानाम्—म०) जिनका अग्नि पर ठीक परिपाक हुआ है, **पीवोपवसनानाम्**=(पवीः उपवसनं यैः) शरीर में स्थूल उपवसन का निर्माण करनेवाली, अर्थात् त्वचा के साथ-साथ सारे शरीर पर चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, तथा **पार्श्वतः**=पार्श्वों के दृष्टिकोण से (कोख-प्रदेशों के स्वास्थ्य के विचार से) **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के स्वास्थ्य के विचार से, **शितामतः**=बाहुप्रदेश के स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अथवा आमाशय के स्वास्थ्य के विचार से, **उत्सादतः**=छेदनवाले प्रदेश के ठीक करने के उद्देश्य से, जहाँ कोई कटाव हो गया है, उसको ठीक करने के लिए, **अंगात् अंगात्**=एक-एक अङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटे हुए अजमोद ओषधि के अंशों का **करतः**=ये प्राणापान

सेवन करते हैं। ४. **एव**=इस प्रकार **अश्विना**=ये प्राणापान **हविः**=उस अजमोद ओषधि का, जिसे कि अग्नि में डाला गया है और अतएव जो हविरूप हो गई है, उसका **जुषताम्**=सेवन करें। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=इस ओषधि का यजन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्राणापान के उत्कर्ष के लिए अजमोद ओषधि के मध्य से उद्धृत गूदे का ग्रहण करें। गूदे के पड़े रहने से उसके रस को विकृत न होने दें, उसपर रोगकृमियों का आक्रमण भी न होने दें। इसके प्रयोग से हमारे सब अङ्ग स्वस्थ होंगे। हम इससे हवन करें और इसे हविरूप में लेने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**याजुषीत्रिष्टुप्**[क], **स्वराड्उत्कृतिः**[र]।
स्वरः—**धैवतः**[क], **षड्जः**[र]॥

मेढ़ासिंगी का प्रयोग व यजन

[क]होता यक्षत् सरस्वतीं मेषस्य [र]हविषऽआवयदद्य मध्यतो मेदऽ उद्धृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाꣳ सुमत्क्षराणाꣳ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽ उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवꣳसरस्वती जुषताꣳहविर्होतर्यज ॥४४॥

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **सरस्वती**=ज्ञानाधिदवेता को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। इसी उद्देश्य से **मेषस्य**=मेढ़ासिंगी ओषधि का तथा **हविषः**=अग्निहोत्र में इसका हवन होने पर सूक्ष्मरूप में हुई-हुई इस ओषधि का यह सरस्वती **आवयत्**=भक्षण करे, सेवन करे। २. **अद्य**=आज **मध्यतः**=इसके मध्य से **मेदः**=इसका औषध गुणयुक्त चिकना मध्य का भाग, अर्थात् गूदा **उद्भृतम्**=निकाला गया है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=यह विकृत होकर अप्रीतिजनक हो जाए, और **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=इसे कोई ऐसे कृमि पकड़ लें जो रोगों के कारण बन जाएँ, **घसत्**=सरस्वती इसका भक्षण करे। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे अज्राणाम्**=भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य, अथवा भोजन में रुचि को अधिकाधिक पैदा करनेवाली तथा खाने पर रोगों को दूर करनेवाली, **यवसप्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य, **सुमत् क्षराणाम्**=उत्तम आनन्दों को देनेवाली, **शतरुद्रियाणाम्**=शतशः रोगों को दूर करनेवाली, **अग्निष्वात्तानाम्**=अग्नि पर ठीक पकाई गई, **पीवोपवसनानाम्**=त्वचा के साथ-साथ स्थूल चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, **पार्श्वतः**=पासों के दृष्टिकोण से, **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के दृष्टिकोण से, **शितामतः**=बाहु के दृष्टिकोण से या आमाशय के दृष्टिकोण से, **उत्सादतः**=कटाव के दृष्टिकोण से, कटे हुए अङ्ग के भराव के विचार से, **अङ्गात् अङ्गात्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटी हुई इस मेढ़ासिंगी के मेदस् का सरस्वती **करत्**=सेवन करती है। ४. **एवम्**=इस प्रकार **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **हविः**=अग्निहोत्र में डाली गई और अतएव हविरूप बची हुई इस ओषधि को **जुषताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू भी **यज**=इसका यजन कर।

भावार्थ—मस्तिष्क के उत्कर्ष के दृष्टिकोण से मेढ़ासिंगी ओषधि के मध्य से उद्धृत गूदे का ग्रहण करें। वह गूदा विकृत रसवाला न हो जाए और न ही मक्खियाँ उसपर बैठकर उसे रोगकृमियों से परिपूर्ण कर दें। इसके प्रयोग व हवन से हमारे सब अङ्ग सुन्दर व स्वस्थ होंगे।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—यजमानर्त्विजः। छन्दः—भुरिक्प्राजापत्योष्णिक्[क], भुरिगभिकृतिः[र]।
स्वरः—ऋषभः॥

'ऋषभक' का प्रयोग व यजन

[क]होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य हुविषऽ[र]आवयदद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳪं सुमत्क्षराणाᳪं शतरुद्रियाणा-मग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवमिन्द्रो जुषताᳪं हुविर्होतर्यज॥४५॥

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से वह इन्द्र **ऋषभस्य**=ऋषभ का भक्षण करता है। २. **अद्य**=आज इस ऋषभक के **मध्यतः**=मध्य से **मेदः**=औषध-गुणयुक्त चिकना गूदा **उद्भृतम्**=निकाला गया है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=यह विकृतरस होकर अप्रीतिजनक हो जाए और **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=मनुष्य को ग्रहण कर (पकड़) लेनेवाली कोई बीमारी के कृमि इसमें आ जाएँ, **घसत्**=इन्द्र इसका भक्षण करे। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे अज्राणाम्**=भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य, **यवसप्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य **सुमत्क्षराणाम्**=उत्तम आनन्दों को देनेवाली **शतरुद्रियाणाम्**=सैकड़ों रोगों को दूर करनेवाली, **अग्निष्वात्तानाम्**=आग पर पकाई गई, **पीवोपवसनानाम्**=त्वचा के साथ-साथ स्थूल चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, **पार्श्वतः**=पार्श्वों के दृष्टिकोण से **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के दृष्टिकोण से **शितामतः**=बाहुओं के दृष्टिकोण से अथवा आमाशय के दृष्टिकोण से, **उत्सादतः**=कटे हुए अङ्ग के दृष्टिकोण से **अङ्गात् अङ्गात्**=एक-एक अङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटी हुई इस ऋषभक ओषधि के गूदे का **करत्**=यह इन्द्र सेवन करे। ४. **एवम्**=इस प्रकार **इन्द्रः**=आत्मशक्ति का विकास करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **हविः**=अग्निहोत्र में हवन की गई इस ओषधि का **जुषताम्**=सेवन करे। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! **यज**=तू इस ऋषभक ओषधि का यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—आत्मशक्ति के विकास के लिए हम ऋषभक ओषधि का यज्ञ करें। हविरूप में उसका ग्रहण करें। उसका मुख से भी प्रयोग करें। यह ध्यान रक्खें कि वह पड़ी-पड़ी विकृत-रसवाली व रोगकृमियों से आक्रान्त न हो जाए। इसके प्रयोग से हमारा शरीर सर्वांग सुन्दर बनेगा।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—उत्कृतिः[क], स्वराट्संकृतिः[र]।
स्वरः—षड्जः[क], गान्धारः[र]॥

वनस्पति+रशना (वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय)

[क]होता यक्षद्वनस्पतिमभि हि पिष्टतमया रभिष्ठया रशनयाधित। यत्राश्विनोश्छागस्य हुविषः प्रिया धामानि यत्र सरस्वत्या मेषस्य हुविषः प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्यऽऋषभस्य हुविषः प्रिया धामानि यत्राग्नेः प्रिया धामानि यत्र सोमस्य प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामानि [र]यत्र सवितुः प्रिया धामानि यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथाᳪंसि यत्र देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यत्राग्नेर्होतुः प्रिया धामानि तत्रैतान् प्रस्तुत्येवोपस्तुत्येवोपावस्रक्षद्रभीयसऽइव कृत्वी करदेवं देवो

वनुस्पतिर्जुषताᳫ्हुविर्होतुर्यजं ॥४६॥

१. **होता**=त्यागशील पुरुष **वनस्पतिम्**=वनस्पति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। यह सदा वानस्पतिक भोजन ही करता है। २. इस वानस्पतिक भोजन के साथ यह **हि**=निश्चय से **रशनया**=रशना से, मेखला से, दृढ़निश्चय की प्रतीकभूत इस तगड़ी (Gridle) से अपने को **अभ्यधित**=धारण करता है, अर्थात् दृढ़ निश्चय करता है। यह मेखला कैसी है? (क) **पिष्टतमया**=(अत्यन्त पिष्ट, सुरूपा पिष्टम्—म०) यह जीवन को अत्यन्त सुरूप बनानेवाली है तथा **रभिष्ठया**=काम-क्रोधादि पशुओं का अत्यन्त नियमन करनेवाली है (रभते पशून् नियमयति—म०) और (समर्थया) अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाली है। वस्तुतः दृढ़निश्चय कर लेने पर यह अपने जीवन को अत्यन्त सुन्दर व सामर्थ्यसम्पन्न बना पाता है। ३. यह वानस्पतिक भोजन तथा मेखला वह है **यत्र**=जहाँ (क) **अश्विनोः**=प्राणापान के **छागस्य हविषः**=अजमोद ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय के साथ जब इस अजमोद ओषधि का हविरूप में प्रयोग होता है तब प्राणापान की शक्ति को खूब बढ़ानेवाली होती है। (ख) **यत्र**=जहाँ **सरस्वत्याः**=ज्ञानाधिदेवता के साथ सम्बद्ध **मेषस्य हविषः**=मेढ़ासिंगी ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं (ग) **यत्र**=जहाँ **इन्द्रस्य**=आत्मशक्ति-सम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष के साथ सम्बद्ध **ऋषभस्य हविषः**=ऋषभक ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं। (घ) **यत्र**=जहाँ **अग्नेः प्रिया धामानि**=अग्नितत्त्व के प्रिय तेज हैं, अर्थात् ये वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को अग्नि के समान तेजस्वी बनाते हैं। (ङ) **यत्र**=जहाँ **सोमस्य प्रिया धामानि**=सोम के प्रिय तेज हैं, अर्थात् यह जहाँ अग्नि के समान तेजस्वी होता है वहाँ सोम के समान शान्त होता है (सोम=चन्द्रमा)। (च) **यत्र**=जहाँ **सुत्राम्णः इन्द्रस्य**=रोगों से अपने को पूर्णरूप से रक्षित करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् इनके होने पर मनुष्य नीरोग व जितेन्द्रिय बनता है। (छ) **यत्र**=जहाँ **सवितुः**=उत्पादक के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को निर्माणात्मक कामों में लगनेवाला बनाता है। (ज) **यत्र**=जहाँ **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की देवता के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को द्वेष से ऊपर उठा देते हैं। (झ) **यत्र**=जहाँ **वनस्पतेः**=वनस्पति के **प्रिया पाथांसि**=प्रिय अन्न हैं, जो अन्न शरीर के पूर्णतया रक्षक हैं। (ञ) **यत्र**=जहाँ **आज्यपानाम्**=घृत का पान करनेवाले **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वनस्पति भोजन करनेवाला दृढ़निश्चयी पुरुष आज्य का पान करनेवाले देवों के समान बनता है। (त) **यत्र**=जहाँ **होतुः अग्नेः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले प्रगतिशील पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं। ४. **तत्र**=वहाँ अर्थात् उस वनस्पति व मेखला में, अर्थात् इनके होने पर **एतान्**=इन 'छाग-मेष व ऋषभ' को **प्रस्तुत्य इव**=अग्निकुण्ड में प्रस्तुत-सा करके, अर्थात् प्राप्त कराके **उपस्तुत्य इव**=अग्नि द्वारा सूक्ष्म कणों के रूप में अपने समीप प्राप्त कराके **रभीयसः इव कृत्वी**=बड़ा शक्तिशाली बनाकर **उपावस्त्रक्षत्**=अपने समीप, अपने शरीर में स्थापित करे (स्थापयतु—म०)। ५. यह **देवः वनस्पतिः**=दिव्य गुणोंवाला वनस्पति **एवं करत्**=ऐसा ही करे, अर्थात् हमारे जीवन को उल्लिखित तेजों से युक्त करे। ६. इसके लिए होता को चाहिए कि **हविः जुषताम्**=वह हवि का सेवन करनेवाला बने। प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—जीवन को सुन्दर व सामर्थ्यसम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक है कि वानस्पतिक भोजन का अङ्गीकार करें और दृढ़निश्चयी बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**[क], **आकृतिः**[ख]। स्वरः—**पञ्चमः**॥

इष्टकामधुक् (स्विष्टकृत्) अग्नि

[क]होता यक्षदग्निꣳस्विष्टकृतमयाडग्निरश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामान्ययाट् सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्यऽऋषभस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडग्नेः प्रिया धामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामान्ययाट् सवितुः प्रिया धामान्ययाड् वरुणस्य प्रिया धामान्ययाड् वनस्पतेः प्रिया पाथाꣳस्ययाड् देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि यक्षत् स्वं महिमानमायजतामेज्याऽ इषः कृणोतु सोऽअध्वरा जातवेदा जुषताꣳहविर्होतर्यज ॥४७॥

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **स्विष्टकृतम्**=उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाले **अग्निम्**=इस यज्ञाग्नि का **यक्षत्**=अपने साथ मेल करता है, अर्थात् यज्ञ को अपने साथ जोड़ लेता है, २. सहयज्ञ बनने पर **अग्निः**=यह यज्ञाग्नि (क) **अश्विनोः**=प्राणापान के साथ सम्बद्ध **छागस्य हविषः**=अजमोद ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है (ख) **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से सम्बद्ध **मेषस्य हविषः**=मेढ़ासिंगी ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है। (ग) **इन्द्रस्य**=आत्मशक्ति के साथ सम्बद्ध **ऋषभस्य हविषः**=ऋषभक ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (घ) **अग्नेः प्रिया धामानि अयाट्**=अग्नितत्त्व के प्रिय तेजों को हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (ङ) **सोमस्य प्रिया धामानि अयाट्**=सोम के प्रिय तेजों को हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (च) **सुत्राम्णः इन्द्रस्य प्रिया धामानि अयाट्**=अपनी पूर्णरूप से रक्षा करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (छ) **सवितुः प्रिया धामानि अयाट्**=यह निर्माण करनेवाले सविता के प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (ज) निर्माण में लगाये रखकर **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की देवता के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है (ञ) यह **वनस्पतेः**=वनस्पति के **प्रिया पाथांसि**=प्रिय अन्नों को **अयाट्** =हमारे साथ सङ्गत करता है। (त्र) **आज्यपानाम्**=घृत का पान करनेवाले **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों के **प्रिया धामानि अयाट्**=प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (ट) यह **होतुः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **अग्नेः**=प्रगतिशील पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **यक्षत्**=हमारे साथ सङ्गत करता है। ३. इस प्रकार यज्ञाग्नि के द्वारा उल्लिखित प्रिय तेजों को प्राप्त करके मन्त्र का ऋषि 'आत्रेय' **स्वं महिमानम्**=अपनी महिमा को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। ४. इस महिमा को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए **एज्याः**=आ इज्याः=समन्तात् यष्टुं योग्यं, अर्थात् सब प्रकार से अपने साथ मेल करने के योग्य **इषः**=इच्छाओं को **आयजताम्**=अपने साथ सङ्गत करे, अर्थात् सदा उत्तम इच्छाओंवाला हो। ५. **सः जातवेदाः**=यह ज्ञानी पुरुष **अध्वरा कृणोतु**=सदा हिंसारहित यज्ञों का करनेवाला हो। अहिंसा ही मूलधर्म है। इस प्रकार यज्ञिय जीवन बिताता हुआ वह **हविः जुषताम्**=त्यागपूर्वक भोजन का सेवन करे, सदा यज्ञशेष ही खाये। ६. प्रभु कहते हैं **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तूने **यज**=यजन करनेवाला होना है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि स्विष्टकृत् है। यज्ञ को अपनाकर हम सब तेजों को अपनाएँ। अपनी वास्तविक महिमा को प्राप्त करें। अहिंसा को मूलधर्म समझें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**सरस्वत्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आँखों की तेजस्विता

देवं बर्हिः सरस्वती सुदेवमिन्द्रेऽअश्विना।

तेजो न चक्षुरक्ष्योर्बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥४८॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **देवम्**=दिव्य गुणोंवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को धारण करती है, अर्थात् ज्ञान से मनुष्य का हृदय दिव्य व वासनारहित होता है। २. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **सुदेवम्**=उस सर्वोत्कृष्ट देव प्रभु को स्थापित करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से चित्तवृत्ति निर्मल होकर प्रभु-दर्शन के योग्य बन जाती है। ३. इस साधक की **अक्ष्योः**=आँखों में **तेजः**=तेजस्विता होती है **न**=और **चक्षुः**=दर्शनशक्ति होती है। इसकी आँखों से तेज टपकता है। ४. सरस्वती तथा अश्विनौ=ज्ञानाधिदेवता तथा प्राणापान इसके अन्दर **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। ५. **वसुवने**=(वसुवननाय) निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=(वसुधेयं यस्मिन्—द०) सब निवासक तत्त्वों के आधारभूत सोम=(वीर्य) का **व्यन्तु**=पान करें। वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करने से सब वसुओं की शरीर में स्थिति होती है। ६. प्रभु मन्त्र के ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' से कहते हैं कि इस सबको सिद्ध करने के लिए तू **यज**=यज्ञशील बन। देवपूजा के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर, विद्वानों के सङ्ग व दान की वृत्ति से तू अपने हृदय को वासनाशून्य बना।

भावार्थ—१. ज्ञान से मन दिव्य व वासनाशून्य बनता है। २. प्राणापान की साधना हृदय को एकाग्र करके प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। ३. इस साधक की आँखें तेजस्वी व दर्शनशक्ति-सम्पन्न होती हैं। ४. वासनाशून्य हृदय के साथ इसकी सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं। ५. वीर्यरक्षा से निवासक तत्त्वों का उपचय होता है। ६. इस सबके लिए हमें यज्ञशील बनना चाहिए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

घ्राणेन्द्रिय का बल

देवीर्द्वारोऽअश्विना भिषजेन्द्रे सरस्वती।

प्राणं न वीर्यं नसि द्वारो दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥४९॥

१. **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **भिषजा अश्विना**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाले वैद्यभूत प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **देवीः द्वारः**=दिव्य द्वारों को **दधुः**=स्थापित करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना तथा ज्ञान की आराधना करने पर 'मुख, पायु तथा उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' आदि सब द्वार ठीक से अपना-अपना कार्य करनेवाले होते हैं। २. ये **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञान **नसि**=घ्राणेन्द्रिय में **प्राणम्**=घ्राणशक्ति को तथा **वीर्यम्**=तेजस्विता को स्थापित करते हैं। ३. नासिका में घ्राणशक्ति व वीर्य की स्थापना के साथ ये प्राणापान व ज्ञान **द्वारः**=सब द्वारों को तथा **इन्द्रियम्**=उन इन्द्रियद्वारों में उस-उस शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। ४. **वसुवने**=(वसुवननाय) निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, इसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें।

५. प्रभु कहते हैं कि इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील बन, तेरी वृत्ति भोगप्रवण न हो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना तथा ज्ञान की आराधना से हमारे सब इन्द्रिय-द्वार दिव्य हों। हमारी नासिका में घ्राणेन्द्रिय शक्ति व वीर्य हो। हम निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें तथा यज्ञशील बनकर भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मुख में वाक्शक्ति

देवीऽउषासावश्विना सुत्रामेन्द्रे सरस्वती।
बलं न वाचमास्यऽउषाभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५०॥

१. **देवी**=दिव्य गुणों से युक्त व देदीप्यमान **उषासौ**=(सायं-प्रातः संधिवेले—द०) सायं व प्रातः के सन्धिकाल तथा **सुत्रामा**=उत्तमता से त्राण व रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष के **आस्ये**=मुख में **बलम्**=बल को **न**=और **वाचम्**=वाणी की शक्ति को धारण करते हैं। २. ये प्राणापान तथा ज्ञान **उषाभ्याम्**=इन सन्धिवेलाओं के साथ इसमें **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों के बल को **दधुः**=धारण करते हैं। प्रातः-सायं वाणी उद्गीथ का गायन करती है और यह गायन उसे बल प्राप्त कराता है। ३. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, अर्थात् उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। ४. इसी दृष्टिकोण से प्रभु कहते हैं कि **यज**=हे मनुष्य! तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—प्रातः-सायं उद्गीथ का गायन करनेवाली वाणी प्राणापान की साधना से तथा ज्ञान की आराधना से सबल बनती है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कानों में यशस्वी श्रोत्रशक्ति

देवी जोष्ट्री सरस्वत्यश्विनेन्द्रमवर्धयन्।
श्रोत्रं न कर्णयोर्यशो जोष्ट्रीभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५१॥

१. **देवी जोष्ट्री**=(देवी जोष्ट्री अहोरात्रे—नि० ९।४१) ये दिन और रात **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता तथा **अश्विना**=प्राणापान—ये सब **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं। वे दिन-रात यहाँ 'देवी जोष्ट्री' नाम से कहे गये हैं, जिनमें मनुष्य सम्पूर्ण दिन प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करता हुआ रात्रि में स्वप्न का आनन्द लेता है। वस्तुतः ऐसे दिन-रात ही मनुष्य की वृद्धि का कारण बनते हैं। २. ये **कर्णयोः**=कानों में **श्रोत्रम्**=सुनने की शक्ति को **न**=और **यशः**=यश को **दधुः**=स्थापित करते हैं। 'यशः' शब्द वेद में=सौन्दर्य व ज्योति (Beauty and Splendour) के लिए आता है। इस साधक के कानों में वे ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे वह इस संसार में प्रभु की ज्योति व सौन्दर्य को देखनेवाला बनता है। ३. ये प्राणापान तथा ज्ञान **जोष्ट्रीभ्याम्**=इन प्रीतिपूर्वक होनेवाले कर्मों से युक्त दिन-रात के साथ **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=स्थापित करते हैं। ४. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, इसे शरीर में व्याप्त करें। ५. इस सबके लिए प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—हमारे दिन-रात 'देवी जोष्ट्री' हों। हम उनमें प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों के करने में लगे रहें। इससे हमें कानों में यशस्वी श्रोत्रशक्ति प्राप्त हो। हमारी सब इन्द्रियाँ सबल हों। हम वीर्य की रक्षा करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अतिजगती**।
स्वरः—**निषादः**॥

स्तनों में शुक्र और ज्योति

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावतः।
शुक्रं न ज्योति स्तनयोराहुती धत्तऽइन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५२॥

१. **देवी ऊर्जाहुती**=(देवी ऊर्जाहुती द्यावापृथिव्यौ—नि० ९।४२) दिव्य गुणोंवाले बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्न देनेवाले ये द्युलोक व पृथिवीलोक **दुघे**=हमारे मनोरथों का पूरण करनेवाले हैं, वस्तुतः ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे पिता व माता के तुल्य हैं (द्यौष्पिता, पृथिवी माता)। माता-पिता सन्तान का पूरण करते हैं, ठीक इसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा पूरण करते हैं। २. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=बहुत उत्तमता से पूरण करनेवाली होती है। ज्ञान सब दोषों को दूर करके सचमुच हमारा सुन्दर पूरण करता है। ३. **अश्विना** =ये प्राणापान **भिषजा**=सब रोगों का प्रतीकार करते हैं, नासिका में दायाँ स्वर सूर्यस्वर है, यह शरीर में प्राणशक्ति को भरता है और बायाँ स्वर चन्द्रस्वर है यह अपान को ठीक रखता है, अतः शरीर में ये प्राणापान 'सूर्य और चन्द्रमा' हैं। दोनों का समन्वय होने पर किसी प्रकार का रोग नहीं होता। केवल सूर्यस्वर होता तो उष्णता व अम्लता बढ़कर शरीर समाप्त हो जाता तथा केवल चन्द्रस्वर होने पर कोढ़ के रोग बढ़कर शरीर क्षयी हो जाता। इसी दृष्टिकोण से 'अश्विना' सदा द्विवचन में आता है। ये दोनों मिलकर ही 'भिषजा' है। ये रोगों का प्रतीकार करनेवाले प्राणापान **अवतः**=रक्षा करते हैं। मनुष्य को रोगों का शिकार नहीं होने देते। ४. जब द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा उत्तम अन्नों से पूरण करनेवाले होते हैं, तब ज्ञान हमारी कमियों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करनेवाला होता है। जब ये प्राणापान भिषक् बनकर हमारी रक्षा करते हैं उस समय ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **स्तनयोः**=माता बननेवाली युवती के स्तनों में **शुक्रम्**=वीर्यसम्पन्न **न**=तथा **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त दुग्ध को **धत्त**=स्थापित करते हैं। इस माता के स्तनों का दूध सन्तान को वीर्यसम्पन्न व ज्ञानसम्पन्न बनाता है। ५. ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **इन्द्रियं धत्त**=प्रत्येक इन्द्रिय के बल का स्थापन करते हैं। ६. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें। शरीर में व्याप्त होकर यह वीर्य ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सशक्त करता है। ७. ऐसा हो सके इसके लिए प्रभु कहते हैं कि हे पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—द्यावापृथिवी दिव्य अन्नों से हमारा पूरण करते हैं। ज्ञान दोषों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करता है। प्राणापान हमारे वैद्य हैं और रोगों से हमारा रक्षण करते हैं। ऐसा होने पर माता के स्तनों में शक्ति व ज्ञानसम्पन्न दूध होता है। ये द्यावापृथिवी हमारी सब इन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं। हम वीर्य की रक्षा करें और उसके लिए यज्ञशील बन भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः॥

दीप्ति व मति से पूर्ण हृदय

देवा देवानां भिषजा होतारावन्द्रमश्विना। वषट्कारैः सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिꣳहोतृभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५३॥

१. **देवा होतारौ**=दिव्य गुणोंवाले भिषज वरुण=(होतारौ मित्रावरुणौ) स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तथा **देवानां भिषजा**=देवताओं के वैद्य ये **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **अवतः**=रक्षित करते हैं (अवतः क्रिया ऊपर के मन्त्र से अनुवृत्त हुई है।) २. **वषट्कारैः**=(श्रेष्ठैः कर्मभिः—द०) यज्ञादि उत्तम कर्मों के साथ **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **त्विषिम्**=दीप्ति को न=और **होतृभ्याम्**=मित्रावरुण के साथ अर्थात् स्नेह व द्वेषनिवारण के साथ **हृदये**=हृदय में **मतिम्**=मननशीलता को **दधुः**=स्थापित करते हैं। ३. मन्त्र में 'वषट्कारैः' शब्द श्रेष्ठ कर्मों का वाचक होकर हाथों से होनेवाले कर्मकाण्ड का प्रतीक है। 'सरस्वती' ज्ञानाधिदेवता मस्तिष्क के ज्ञानकाण्ड का संकेत करती है और 'होतारौ' व 'होतृभ्यां' शब्द मित्रावरुण के वाचक होकर हृदय में स्नेह व द्वेषाभाव का प्रतिपादन करते हुए हार्दिक पवित्रता की सूचना दे रहे हैं। यही हृदय प्रभु की सच्ची उपासना कर पाता है। एवं, ये सब कर्म, ज्ञान व उपासना द्वारा **इन्द्रियं दधुः**=इस 'आत्रेय' में अङ्ग-प्रत्यङ्ग के बल को धारण करते हैं। ४. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, शरीर में व्यापन करें। ५. प्रभु कहते हैं कि हे 'आत्रेय' तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—स्नेह व द्वेषाभाव की दिव्य वृत्तियाँ (मित्रावरुण देव), प्राणापानरूप दिव्य वैद्य (अश्विना देवानां भिषजा) यज्ञादि उत्तम कर्म तथा ज्ञान हमारे जीवन में दीप्ति को, मति को तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को धारण करें। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

केन्द्र-शक्ति

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरश्विनेडा सरस्वती।
शूषं न मध्ये नाभ्यामिन्द्राय दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५४॥

१. **देवीः तिस्रः**=तीन देवियाँ जो **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=सचमुच दिव्य गुणोंवाली हैं। उनमें प्रथम **अश्विना**=(श्रोत्रे अश्विनौ—श० १२।९।१।१३) श्रोत्र हैं, अर्थात् श्रोत्रों से सुनी जानेवाली 'भारती' है। वाणी जिसको श्रोत्रों से सुना जाता है उसे यहाँ 'अश्विनौ'=श्रोत्रशब्द से इसलिए स्मरण किया कि हम वाणी से सुनने के महत्त्व को समझें, बोलने का उतना महत्त्व नहीं है। वस्तुतः सुनी जाती हुई वाणी हमारा भरण करनेवाली सचमुच 'भारती' होती है। दूसरी '**इडा**'=श्रद्धा है, इसका स्थान हृदय में है। तीसरी **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता है, जिसका निवास मस्तिष्क में है। २. ये तीनों देवियाँ **मध्ये नाभ्याम्**=शरीर के केन्द्रभूत नाभि में **शूषम्**=सब अवाञ्छनीय तत्त्वों के शोषक बल को **दधुः**=धारण करती हैं **न**=तथा **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष के लिए **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को धारण करती हैं। ३. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य** =वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करें। ४. इस सबके लिए प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—हमारे दिन-रात 'देवी जोष्ट्री' हों। हम उनमें प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों के करने में लगे रहें। इससे हमें कानों में यशस्वी श्रोत्रशक्ति प्राप्त हो। हमारी सब इन्द्रियाँ सबल हों। हम वीर्य की रक्षा करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अतिजगती**।
स्वरः—**निषादः**॥

स्तनों में शुक्र और ज्योति

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावतः।
शुक्रं न ज्योति स्तनयोराहुती धत्तऽइन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५२॥

१. **देवी ऊर्जाहुती**=(देवी ऊर्जाहुती द्यावापृथिव्यौ—नि० ९।४२) दिव्य गुणोंवाले बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्न देनेवाले ये द्युलोक व पृथिवीलोक **दुघे**=हमारे मनोरथों का पूरण करनेवाले हैं, वस्तुतः ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे पिता व माता के तुल्य हैं (द्यौष्पिता, पृथिवी माता)। माता-पिता सन्तान का पूरण करते हैं, ठीक इसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा पूरण करते हैं। २. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=बहुत उत्तमता से पूरण करनेवाली होती है। ज्ञान सब दोषों को दूर करके सचमुच हमारा सुन्दर पूरण करता है। ३. **अश्विना** =ये प्राणापान **भिषजा**=सब रोगों का प्रतीकार करते हैं, नासिका में दायाँ स्वर सूर्यस्वर है, यह शरीर में प्राणशक्ति को भरता है और बायाँ स्वर चन्द्रस्वर है यह अपान को ठीक रखता है, अतः शरीर में ये प्राणापान 'सूर्य और चन्द्रमा' हैं। दोनों का समन्वय होने पर किसी प्रकार का रोग नहीं होता। केवल सूर्यस्वर होता तो उष्णता व अम्लता बढ़कर शरीर समाप्त हो जाता तथा केवल चन्द्रस्वर होने पर कोढ़ के रोग बढ़कर शरीर क्षयी हो जाता। इसी दृष्टिकोण से 'अश्विना' सदा द्विवचन में आता है। ये दोनों मिलकर ही 'भिषजा' है। ये रोगों का प्रतीकार करनेवाले प्राणापान **अवतः**=रक्षा करते हैं। मनुष्य को रोगों का शिकार नहीं होने देते। ४. जब द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा उत्तम अन्नों से पूरण करनेवाले होते हैं, तब ज्ञान हमारी कमियों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करनेवाला होता है। जब ये प्राणापान भिषक् बनकर हमारी रक्षा करते हैं उस समय ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **स्तनयोः**=माता बननेवाली युवती के स्तनों में **शुक्रम्**=वीर्यसम्पन्न **न**=तथा **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त दुग्ध को **धत्त**=स्थापित करते हैं। इस माता के स्तनों का दूध सन्तान को वीर्यसम्पन्न व ज्ञानसम्पन्न बनाता है। ५. ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **इन्द्रियं धत्त**=प्रत्येक इन्द्रिय के बल का स्थापन करते हैं। ६. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें। शरीर में व्याप्त होकर यह वीर्य ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सशक्त करता है। ७. ऐसा हो सके इसके लिए प्रभु कहते हैं कि हे पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—द्यावापृथिवी दिव्य अन्नों से हमारा पूरण करते हैं। ज्ञान दोषों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करता है। प्राणापान हमारे वैद्य हैं और रोगों से हमारा रक्षण करते हैं। ऐसा होने पर माता के स्तनों में शक्ति व ज्ञानसम्पन्न दूध होता है। ये द्यावापृथिवी हमारी सब इन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं। हम वीर्य की रक्षा करें और उसके लिए यज्ञशील बनें भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः॥

दीप्ति व मति से पूर्ण हृदय

देवा देवानां भिषजा होताराविन्द्रमश्विना। वषट्कारैः सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिꣳहोतृभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५३॥

१. **देवा होतारौ**=दिव्य गुणोंवाले भिषज वरुण=(होतारौ मित्रावरुणौ) स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तथा **देवानां भिषजा**=देवताओं के वैद्य ये **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **अवतः**=रक्षित करते हैं (अवतः क्रिया ऊपर के मन्त्र से अनुवृत्त हुई है।) २. **वषट्कारैः**=(श्रेष्ठैः कर्मभिः—द०) यज्ञादि उत्तम कर्मों के साथ **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **त्विषिम्**=दीप्ति को **न**=और **होतृभ्याम्**=मित्रावरुण के साथ अर्थात् स्नेह व द्वेषनिवारण के साथ **हृदये**=हृदय में **मतिम्**=मननशीलता को **दधुः**=स्थापित करते हैं। ३. मन्त्र में 'वषट्कारैः' शब्द श्रेष्ठ कर्मों का वाचक होकर हाथों से होनेवाले कर्मकाण्ड का प्रतीक है। 'सरस्वती' ज्ञानाधिदेवता मस्तिष्क के ज्ञानकाण्ड का संकेत करती है और 'होतारौ' व 'होतृभ्यां' शब्द मित्रावरुण के वाचक होकर हृदय में स्नेह व द्वेषाभाव का प्रतिपादन करते हुए हार्दिक पवित्रता की सूचना दे रहे हैं। यही हृदय प्रभु की सच्ची उपासना कर पाता है। एवं, ये सब कर्म, ज्ञान व उपासना द्वारा **इन्द्रियं दधुः**=इस 'आत्रेय' में अङ्ग-प्रत्यङ्ग के बल को धारण करते हैं। ४. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, शरीर में व्यापन करें। ५. प्रभु कहते हैं कि हे 'आत्रेय' तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—स्नेह व द्वेषाभाव की दिव्य वृत्तियाँ (मित्रावरुण देव), प्राणापानरूप दिव्य वैद्य (अश्विना देवानां भिषजा) यज्ञादि उत्तम कर्म तथा ज्ञान हमारे जीवन में दीप्ति को, मति को तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को धारण करें। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

केन्द्र-शक्ति

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरश्विनेडा सरस्वती।
शूषं न मध्ये नाभ्यामिन्द्राय दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५४॥

१. **देवीः तिस्रः**=तीन देवियाँ जो **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=सचमुच दिव्य गुणोंवाली हैं। उनमें प्रथम **अश्विना**=(श्रोत्रे अश्विनौ—श० १२।९।१।१३) श्रोत्र हैं, अर्थात् श्रोत्रों से सुनी जानेवाली 'भारती' है। वाणी जिसको श्रोत्रों से सुना जाता है उसे यहाँ 'अश्विनौ'=श्रोत्रशब्द से इसलिए स्मरण किया कि हम वाणी से सुनने के महत्त्व को समझें, बोलने का उतना महत्त्व नहीं है। वस्तुतः सुनी जाती हुई वाणी हमारा भरण करनेवाली सचमुच 'भारती' होती है। दूसरी **'इडा'**=श्रद्धा है, इसका स्थान हृदय में है। तीसरी **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता है, जिसका निवास मस्तिष्क में है। २. ये तीनों देवियाँ **मध्ये नाभ्याम्**=शरीर के केन्द्रभूत नाभि में **शूषम्**=सब अवाञ्छनीय तत्त्वों के शोषक बल को **दधुः**=धारण करती हैं **न**=तथा **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष के लिए **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को धारण करती हैं। ३. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य** =वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करें। ४. इस सबके लिए प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—'अश्विनौ'=श्रोत्रों से सुनी जानेवाली वाणी (भारती), श्रद्धा (इडा) तथा ज्ञान (सरस्वती) हमारी नाभि में उस केन्द्रशक्ति को धारण करते हैं, जिससे सब अवाञ्छनीय तत्त्वों का शोषण होता है। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य का शरीर में व्यापन करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अमृतं जनित्रम्

देवऽइन्द्रो नराशꣳसस्त्रिवरूथः सरस्वत्याश्विभ्यामीयते रथः। रेतो न रूपममृतं जनित्रमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५५॥

१. **देवः**=सारे संसार के व्यवहार को सिद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **त्रिवरूथः**=हमारे शरीर (इन्द्रियाँ), मन व बुद्धि तीनों का रक्षण करनेवाला (वरूथ=Cover=आवरण) अथवा शरीर, मन व बुद्धि की तीनों सम्पत्तियों को देनेवाला (वरूथ=Wealth) **नराशंसः**=मनुष्यों से समन्तात् शंसन किया जाता हुआ प्रभु (क) **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से तथा **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की शक्ति से **रथः ईयते**=यह शरीर-रथ गतिमय किया जाता है, अर्थात् उस प्रभु ने यह शरीररूप रथ हमें दिया है और इससे हमें परमात्मा की ओर ही पहुँचना है, अतः यह रथ परमात्मा का है (जैसे यह गाड़ी हरिद्वार की है, अर्थात् हरिद्वार जानेवाली है) उसका यह रथ ज्ञान व प्राणापान से चलता है। प्राणापान इस गाड़ी के इञ्जन के जल हैं तो ज्ञान 'अग्नि' है। इनसे यह रथ चलता है। ३. एवं, जब हम ज्ञान व प्राणापान की शक्ति से शरीररूप रथ को प्रभु की ओर ले-चलते हैं तब **त्वष्टः**=सब दिव्य गुणों का निर्माता वह प्रभु **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **रेतः**=शक्ति को **न**=और **रूपम्**=स्वास्थ्य के सौन्दर्य को, **जनित्रम्**=सब शक्तियों के विकास को, **अमृतम्**=नीरोगता को तथा **इन्द्रियाणि**= अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। ४. **वसुवने** =निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करें। ५. प्रभु कहते हैं कि इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील हो।

भावार्थ—वे प्रभु 'देव-इन्द्र-नरांशस व त्रिवरूथ' हैं। प्रभु का यह रथ ज्ञान व प्राणापान से चलता है। वे निर्माता प्रभु 'रेतस्, रूप, अमृत, जनित्र व इन्द्रियशक्तियों' का धारण करते हैं। निवासक तत्त्वों के विजय के लिए हम शरीर में वीर्य का व्यापन करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हिरण्यपर्ण वनस्पति

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णोऽअश्विभ्याꣳसरस्वत्या सुपिप्पलऽइन्द्राय पच्यते मधु। ओजो न जूतिर्ऋषभो न भामं वनस्पतिर्नो दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५६॥

१. यहाँ संसार को एक वृक्ष के रूप में कहा गया है। यह **वनस्पतिः**=संसारवृक्ष **देवः**=दिव्य गुणोंवाला है और हमारे सारे व्यवहार को सिद्ध करनेवाला है (दिव् व्यवहारे)। २. यह संसार-वृक्ष **देवैः**=सूर्यादि सब दिव्य पदार्थों से **हिरण्यपर्णः**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान पत्तोंवाला है। (हिरण्य=हितरमणीय, पर्ण=पृ पालनपूरणयोः) अथवा बड़े हित व रमणीय प्रकार से हमारा पालन व पूरण करनेवाला है। ३. यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की साधना के साथ तथा **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **सुपिप्पलः**=उत्तम फलोंवाला है, अर्थात् इस संसार-वृक्ष के फलों का प्रयोग ज्ञानपूर्वक तथा प्राणापान की साधना के साथ किया जाए तो ये फल बड़े उत्तम प्रमाणित होते हैं अथवा ज्ञान व प्राणापान इस संसार-वृक्ष

के उत्तम फल हैं। ४. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए यह **मधु**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त फलों को **पच्यते**=परिपक्व करता है। ५. यह **ऋषभः वनस्पतिः**=अत्यन्त श्रेष्ठ वनस्पति **नः**=हममें **ओजः**=ओजस्विता को **जूतिः**=स्फूर्ति को **न**=और **भामम्**=तेजस्विता को **न**=तथा **इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। ६. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य व्यन्तु**=वीर्य का शरीर में व्यापन करे। ३. प्रभु कहते हैं कि हे आत्रेय! इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील हो।

भावार्थ—यह संसार-वृक्ष सूर्यादि देवों के साथ सचमुच दिव्य गुणोंवाला है। यह प्राणापान व ज्ञानरूप उत्तम फलोंवाला है। जितेन्द्रिय पुरुष के लिए यह मधुर-ही-मधुर है। यह ओजस्विता, स्फूर्ति व तेजस्विता को देनेवाला है। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य को शरीर में व्याप्त करें, यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्योनं सदः

देवं बर्हिर्वारितीनामध्वरे स्तीर्णमश्विभ्यामूर्णम्रदाः सरस्वत्या स्योनमिन्द्र ते सदः। ईशायै मन्युꣳराजानं बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५७॥

१. 'वार' शब्द वृ वरणे धातु से बनकर यहाँ वरणीय परमात्मा का वाचक है (वारितात्मन् वरणीये परमात्मनि इतिर्गतिर्येषां) **वारितीनाम्**=परमात्मा में विचरनेवाली 'वरतराणां' अतएव श्रेष्ठ जीवनवाले प्रजाओं को **अध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **देवम्**=प्रकाशमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **स्तीर्णम्**=आच्छादित हुआ है। २. यह परमेश्वर में विचरनेवाला व्यक्ति **अश्विभ्याम्**=प्राणापान से, प्राणसाधना के द्वारा **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्ण आच्छादने) ज्ञान को ढकनेवाले वृत्र का मर्दन करनेवाला बना है। ३. प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=वृत्र का संहार करनेवाले 'आत्रेय' **ते**=तेरा **सदः**=निवासस्थान **सरस्वत्या** =ज्ञानाधिदेवता से **स्योनम्**=बड़ा सुखकर हुआ है। मनुष्य ज्ञानप्रधान जीवनवाला हो तो संसार में वह अज्ञानजनित क्लेशों से बचकर बड़े सुखी जीवनवाला होता है। ४. **ईशायै** =ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **मन्युम्** =ज्ञान को **राजानम्**=दीप्ति को अथवा आत्मनियन्त्रण व व्यवस्था को, **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=प्राणापान व सरस्वती इसमें धारण करते हैं। इनको धारण करके वह ईश का ही छोटा रूप बन जाता है। ५. **वसुवने**=वस्तुओं की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करे। ६. प्रभु कहते हैं कि इसी उद्देश्य से तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—ईश का छोटा रूप बनने के लिए हम ज्ञानी बनें, नियमित व नियन्त्रित जीवनवाले हों, हृदय को वासनाशून्य बनाएँ और सब इन्द्रियों की शक्ति को स्थिर रक्खें, क्षीण न होने दें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अत्यष्टि**[क], **निचृत्त्रिष्टुप्**[र]।
स्वरः—**गान्धारः**[क], **धैवतः**[र]॥

स्विष्टकृद् अग्निः

[क]देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवान्यक्षद्यथायथꣳहोताराविन्द्रमश्विना वाचा वाचꣳसरस्वती-मग्निꣳसोमꣳस्विष्टकृत् स्विष्टऽइन्द्रः सुत्रामा सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा देवाऽआज्यपाः [र]स्विष्टोऽअग्निरग्निना होता होत्रे स्विष्टकृद्यशो न दधदिन्द्रियमूर्जमपचितिꣳस्वधां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५८॥

१. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **अग्निः**=यह यज्ञ का अग्नि **स्विष्टकृत्**=उत्तम इष्टों को पूर्ण करनेवाला है। वस्तुतः यज्ञाग्नि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है **'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'**। २. इस यज्ञाग्नि को अपनानेवाला व्यक्ति **यथायथम्**=ठीकरूप से **देवान् यक्षत्**=देवों का यजन=अपने साथ मेल करता है। ३. **होतारौ**=मित्र और वरुण का अपने साथ मेल करता है, **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा का अपने साथ मेल करता है। वस्तुतः मित्र और वरुण के साथ मेल परमात्मा से मेल का साधन होता है। सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के अभाववाला व्यक्ति ही परमात्म-प्राप्ति का अधिकारी बनता है। ४. यह यज्ञशील पुरुष **अश्विना**=प्राणापान का अपने साथ मेल करता है। यज्ञ से प्राणापान की शक्ति बढ़ती है। ५. **वाचा** (मन्त्रेण—म०) ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वाचम्**=वाणी की शक्ति को बढ़ाता है तथा **सरस्वती**=इस मन्त्रों की वाणी से ज्ञानाधिदेवता का भी आराधन करता है। ६. इस यज्ञ से **अग्निं सोमम्**=अग्नितत्त्व तथा सोमतत्त्व का भी अपने साथ मेल करता है। अग्नितत्त्व तेजस्विता का प्रतीक है तो सोम शान्ति का। एवं, इस यज्ञशील पुरुष में 'शक्ति व शान्ति' दोनों का समन्वय होता है। ७. इस प्रकार इन देवताओं से अपना मेल करता हुआ यह यज्ञशील पुरुष **स्विष्टकृत्**=अपने उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है। इसके द्वारा **सुत्रामा**=उत्तम त्राण करनेवाला वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किया जाता है। **सविता**=निर्माण की देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता जो **भिषक्**=सब रोगों की चिकित्सक है, वह **इष्टः**=अपने साथ सङ्गत की जाती है। वस्तुतः प्रभु-स्मरणपूर्वक मनुष्य निर्माण के कामों में लगा रहे और किसी से द्वेष न करे तो वह रोगों का शिकार नहीं हो सकता। बीमार वही पड़ा करते हैं जो (क) प्रभु को भूल जाते हैं। (ख) आलसी बने रहकर उत्तम कार्यों में अपने को व्यापृत नहीं रखते तथा (ग) औरों से द्वेष करते रहते हैं, औरों की उन्नति से ईर्ष्या के कारण जलते रहते हैं। ८. इस यज्ञशील पुरुष के द्वारा **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **वनस्पतिः**=यह वानस्पतिक भोजन ही **स्विष्टः**=अपने साथ सङ्गत किया जाता है। ९. साथ ही **आज्यपाः देवाः**=घृत आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले विद्वान् पुरुष **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किये जाते हैं, अर्थात् यह यज्ञशील पुरुष उत्तम सात्त्विक भोजन करता है तथा विद्वानों के साथ अपना मेल बढ़ाता है। १०. इसी यज्ञशील पुरुष से **अग्निना**=इस यज्ञिय अग्नि के द्वारा **अग्निः**=वह परमात्मा **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किया जाता है और यह **होता**=सब पदार्थों को देनेवाला या संसारयज्ञ को चलानेवाला प्रभु **होत्रे**=इस दानपूर्वक अदन करनेवाले के लिए **स्विष्टकृत्**=सब उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है। यह सृष्टियज्ञ का होता प्रभु **यशः**=यश का **न**=और **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **अपचितिम्**=पूजा को तथा **स्वधाम्**=शरीर के धारण करनेवाले अन्न को **दधत्**=धारण करता है। ११. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=तुम शरीर में व्यापन करो और इस सबके लिए **यज**=यज्ञशील बनो।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष सब अच्छाइयों को अपने साथ सङ्गत करनेवाला बनता है।

ऋषिः—स्वस्त्यात्रेयः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—अष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

अग्नि-वरण

अ॒ग्निम॒द्य होता॑रमवृणीता॒यं यज॑मान॒: पच॒न्पक्ती॒: पच॑न्पुरो॒डाशा॑न् ब॒ध्नन्न॒श्विभ्यां॒ छाग॒ꣳ सर॑स्वत्यै मे॒षमिन्द्रा॑यऽ ऋष॒भꣳ सु॒न्वन्न॒श्विभ्या॒थ्ꣳ सर॑स्वत्या॒ऽ इन्द्रा॑य सु॒त्राम्णे॑

सुरासोमान् ॥५९॥

१. पिछले ११ मन्त्रों में अन्तिम आदेश है 'यज'=तू यज्ञ करनेवाला बन। १० इन्द्रियाँ तथा ११वें मन को तू यज्ञ में लगानेवाला बन। इस आदेश का पालन करनेवाला **अयं यजमानः**=यह यज्ञ के स्वभाववाला यज्ञशील पुरुष **अद्य**=आज **होतारं अग्निम्**=सब सुखों को देनेवाले, वायुशुद्धि व रोगकृमि-संहार के द्वारा सुखी व नीरोग करनेवाले अग्नि को **अवृणीत**=वरता है, अर्थात् नियमपूर्वक अग्निहोत्र करने का व्रत लेता है। २. उसी के लिए **पचन् पक्तीः**=नाना पाकों को पकाता है और **पुरोडाशान् पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः—कौ० १३।५) अपनी आत्मा का भी ठीक परिपाक करता है। शुद्ध आत्मभाव से सामग्री को तैयार करके अग्निहोत्र करता है। ३. यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **छागम्**=अजमोद ओषधि का **बध्नन्**=प्रबन्ध करता है, **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषम्**=मेढ़ासिंगी ओषधि का प्रबन्ध करता है और **इन्द्राय**=इन्द्रियों की शक्ति के विकास के लिए **ऋषभम्**=ऋषभक ओषधि का प्रबन्ध करता है। ४. इन ओषधियों के यज्ञों की व्यवस्था के साथ-साथ यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए तथा **सुत्राम्णे इन्द्राय**=उत्तमता से अपना त्राण करनेवाले इन्द्र के लिए **सुरासोमान्**=(सुर to govern) आत्मशासन व आत्मनियन्त्रण से युक्त वीर्यकणों का **सुन्वन्**=अभिषेक व उत्पादन करता है। वस्तुतः नियन्त्रित वीर्यशक्ति के बिना 'प्राणापान-ज्ञान व आत्मशक्ति' की प्राप्ति सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। यज्ञ के लिए आत्मभाव को पुष्ट करें। प्राणापान-ज्ञान व आत्मशक्ति के विकास के लिए जहाँ विविध औषध-द्रव्यों की आहुति दी जाए वहाँ वीर्यकणों का संयम के द्वारा शरीर में ही व्यापन किया जाए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

देवो वनस्पतिः

सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऋषभेणाक्षँस्तान् मेदस्तः प्रति पचताग्रभीषतावीवृधन्त पुरोडाशैरपु रश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् ॥६०॥

१. गतमन्त्र के अग्नि का वरण करनेवाले यजमान के लिए **अद्य**=आज **देवः**=दिव्य गुणों से युक्त, उत्तम व्यवहार को सिद्ध करनेवाला यह **वनस्पतिः**=संसार वृक्ष **सूपस्थाः**=उत्तम उपस्थानवाला होता है (सुष्ठु उपतिष्ठते=सुष्ठु सेवते), अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिए यह संसार कल्याण-ही-कल्याण करता है। २. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **छागेन**=अजमोद ओषधि से यह संसार-वृक्ष उसका उत्तम सेवन करनेवाला **अभवत्**=होता है। इसी प्रकार **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषेण**=मेढ़ासिंगी ओषधि से यह उत्तम सेवन करनेवाला होता है और **इन्द्राय** =आत्मशक्ति के विकास के लिए **ऋषभेण**=ऋषभक ओषधि से यह उत्तम सेवन करनेवाला होता है। ३. **तान्**=उन औषध-द्रव्यों को **मेदस्तः**=गूदे से **अक्षन्**=खाते हैं, उनके उस मध्यभाग का ग्रहण करते हैं जो मध्यभाग औषध-गुणों से युक्त होता है। **प्रतिपचता**=प्रत्येक अवयवों का **अगृभीषत**=ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इनके पक्व अवयवों के ग्रहण से **पुरोडाशैः**=आत्मभावों से **अवीवृधन्त**=बढ़ते हैं। इस प्रकार इन ओषधियों के समुचित प्रयोग से आत्मशक्ति का विकास होता है। ४. **अश्विना**=प्राणापान,

सरस्वती=ज्ञानाधिदेवता तथा **सुत्रामा इन्द्रः**=उत्तम त्राण करनेवाला इन्द्र ये **सुरासोमान्**=आत्मनियन्त्रण से युक्त अथवा ऐश्वर्य से युक्त सोमकणों का **अपुः** =पान करते हैं, अर्थात् ये वीर्य की रक्षा में सहायक होते हैं और वीर्यरक्षा द्वारा स्वयं वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष के लिए यह संसार-वृक्ष उत्तम औषध-द्रव्यों से उपस्थान (सेवन) करनेवाला होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिग्विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

भद्रा वाणी

त्वाम॒द्यऽऋ॑षऽआर्षेयऽऋषीणां नपादवृणीता॒यं यज॑मानो ब॒हुभ्य॒ऽआ सङ्ग॑तेभ्यऽए॒ष मे॑ दे॒वेषु॒ वसु॒ वार्याय॑क्ष्यत॒ऽइति॒ ता या दे॒वा दे॑व॒ दाना॒न्यदु॒स्तान्य॑स्मा॒ऽआ च॒ शास्स्वा च॑ गुरस्वेषि॒तश्च॑ होत॒रसि॑ भद्र॒वाच्या॑य॒ प्रेषि॑तो॒ मानु॑षः सूक्त॒वा॒काय॑ सू॒क्ता ब्रू॑हि ॥६१॥

१. संसार में मनुष्य को 'शतायु पुत्र-पौत्रों का, भूमि के महान् आयतन=विस्तृत क्षेत्र का, अन्य दुर्लभ काम्य पदार्थों का, पशु-हस्ति-हिरण्य व अश्वों का व दीर्घ जीवन' का प्रभोलन भी कभी-कभी प्राप्त हो जाता है, परन्तु यज्ञशील पुरुष इनके प्रलोभन में न पड़कर आत्मा का ही वरण करता है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **अद्य**=आज **अयं यजमानः**=यह यज्ञशील पुरुष **बहुभ्यः**=बहुत-सी **आसङ्गतेभ्यः**=चारों ओर से एकत्र हुई-हुई इन प्रेयमार्ग की वस्तुओं से ऊपर उठकर हे **ऋषे**=सर्वज्ञ, **आर्षेय**=ऋषियों को लिए हितकर, **ऋषीणां नपात्**=ऋषियों के न गिरने देनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **अवृणीत**=वरता है, क्योंकि वह समझता है कि **एषः**=यह आप ही **मे**=मुझे **देवेषु**=सब देवों में होनेवाले **वारि**=वरणीय **वसु**=निवास के लिए आवश्यक वस्तु का **आयक्ष्यते**=सर्वथा दान करेंगे। २. **इति**=अतः हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **या** =जिन **दानानि**=दानों को **देवाः अदुः**=देवलोग देते हैं **तानि**=उन दानों को **अस्मै**=इस आपका वरण करनेवाले के लिए आप **आशास्स्व**=इच्छा कीजिए **च**=और **आगुरस्व**=देने के लिए उद्योग कीजिए, हाथ ऊपर उठाइए। ३. इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **इषितः असि**=प्रेरणा दिया गया है कि **मानुषः**=मनुष्य इस संसार में **भद्रवाच्याय**=कल्याणकर, सुखात्मक वाणी के लिए **प्रेषितः**=भेजा गया है, **सूक्तवाकाय**=सुन्दर कथनवाले वाक्यों के लिए भेजा गया है, अतः तू **सूक्ता ब्रूहि**=उत्तम वचनों को ही बोलनेवाला हो। वास्तव में यह भद्रवाणी ही उसे देवों से प्राप्य उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराएगी।

भावार्थ—हम प्रेय व श्रेय में से श्रेय का वरण करते हुए परमात्मा का ही वरण करें। इस वरण से सब देवों से प्राप्य दान तो हमें प्राप्त होंगे ही और भद्रवाणी को बोलते हुए हम इस संसार को स्वर्ग बना पाएँगे।

नोट : इस अध्याय का मुख्य विषय यज्ञिय जीवनवाला बनना है। भोगप्रवण जीवन से ऊपर उठकर यह अपनी इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण नहीं होने देता और तेजस्वी बनकर अपने व्यवहार में भी बड़ा मुधर होता है, परिणामतः इसका तेज बढ़ता है, यह तेजस्वी बनता है। इसी शब्द से अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है।

इत्येकविंशोऽध्यायः॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभु की धरोहर

तेजो॑ऽसि शु॒क्रम॒मृत॑मायु॒ष्पाऽआयु॑र्मे पाहि।

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्या॒माद॑दे ॥१॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **तेजः असि**=अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर तू तेजस्वी बना है। **शुक्रम्**=वीर्यवान् हुआ है और अतएव **अमृतम्**=तू रोगरूप मृत्युओं का शिकार नहीं हुआ है। २. **आयुष्पाः**=इस प्रकार आधि-व्याधियों से अनाक्रान्त होकर तू अपने आयुष्य से धर्मरक्षा करनेवाला बना है। तू **आयुः मे पाहि** =मेरे द्वारा दिये हुए जीवन की रक्षा करना। इस जीवन को मेरी धरोहर समझना और इसे क्षीण व नष्ट न होने देना। ३. अब जीव प्रभु को उत्तर देता हुआ कहता है कि 'मैं आपके निर्देश को न भूलता हुआ इस आयुष्य के रक्षण के लिए (क) **त्वा सवितुः देवस्य प्रसवे**=तुझ प्रेरक देव की अनुज्ञा में ही प्रत्येक वस्तु का **आददे**=ग्रहण करता हूँ। **'आज्यं तौलस्य प्राशान'**=घृत को तोलकर खाओ' इस आपके निर्देश के अनुसार मैं प्रत्येक पदार्थ को मात्रा में ही स्वीकार करता हूँ। (ख) **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से **आददे**=प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ। बिना प्रयत्न के मैं किसी भी वस्तु को लेना नहीं चाहता। मुफ़्त की वस्तु मुझे भोगमार्ग की ओर ले-जाती है। (ग) **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ, अर्थात् मैं प्रत्येक वस्तु को उतना ही ग्रहण करता हूँ जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त होता है। वस्तुओं के उपभोग में मेरा मापक 'पोषण' होता है न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' तभी मैं अपने प्रकृष्ट विकास का रक्षक बनकर मन्त्र का ऋषि 'प्रजापतिः' बनता हूँ।

भावार्थ—हमें 'तेजस्वी, वीर्यवान् व दीर्घजीवी' बनना है। आयु को प्रभु की धरोहर समझना है। आयु के रक्षण के लिए (क) प्रभु के आदेश के अनुसार प्रत्येक वस्तु का माप-तोलकर प्रयोग करना है। (ख) प्रयत्न से अर्थों का उपार्जन करना है और (ग) प्रयोग में मापक 'पोषण' को रखना है न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' को।

ऋषिः—यज्ञपुरुषः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ऋत की रशना

इ॒माम॑गृभ्णन् रश॒नामृ॒तस्य॒ पूर्व॒ऽआयु॑षि वि॒दथे॑षु क॒व्या।

सा नो॑ऽअ॒स्मिन्त्सु॒तऽआ ब॑भूवऽऋ॒तस्य॒ साम॑न्त्स॒रमा॒रप॑न्ती॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'तेजस्वी, वीर्यवान् व दीर्घजीवी' बनने के लिए **कव्या**=(कवयः) समझदार लोग, वस्तुओं के तत्त्व को समझनेवाले लोग, **पूर्वे आयुषि**=पहले ही जीवन में **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों के प्रसंगों में **इमाम्**=इस **ऋतस्य रशनाम्**=ऋत की रशना को, व्यवस्थित जीवन के दृढ़निश्चय को, **अगृभ्णन्**=स्वीकार करते हैं। प्रत्येक बात का ठीक समय व

ठीक स्थान पर होना 'ऋत' कहलाता है। 'रशना' शब्द मेखला का वाचक होता हुआ दृढ़निश्चय का प्रतीक है। आचार्य लोग विद्यार्थी को मेखला देते थे, उसे ज्ञानी बनने के लिए कमर कस लेने व दृढ़निश्चयी बनने का उपदेश देते थे। यह सब 'पूर्व आयुषि' पहले जीवन में, जीवन के पहले प्रयाण में ही कर लेना ठीक है। ऐसा कर लेने पर ही यात्रा ठीक आरम्भ हो जाती है। आचार्य लोग विद्यार्थी को ज्ञान देते थे और उसे ऋत के मार्ग पर चलने की दृढ़ प्रेरणा प्राप्त करा देते थे। २. **सा**=वह 'ऋत की रशना' **नः**=हमें **अस्मिन् सुते**=इस जीवन-यज्ञ में या इस उत्पन्न हुए-हुए जगत् में **आबभूव**=सदा व्याप्त किये रक्खे, अर्थात् हम अपने इस जीवन में इस 'ऋत की रशना' को कभी उतार न दें, हमारा ऋत के मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय सदा बना रहे। ३. हमारे लिए यह मेखला **ऋतस्य सामन्**=ऋत की उपासना में (सामवेद=उपासनावेद) **सरम्**=कर्तव्यमार्ग का **आरपन्ती**=उपदेश देती है। हम सदा इस ऋत के उपासक बने रहें। 'सब कार्य ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले बनना' ही ऋत का उपासन है। ऋत का उपासक अपने कर्त्तव्यमार्ग को स्पष्ट देखता है और उसका आचरण करता है, इसका सारा जीवन ही यज्ञमय-सा हो जाता है अतः इसका नाम ही 'यज्ञपुरुष' हो जाता है। ऋत ही यज्ञ है। ऋत की रशना का ग्रहण करनेवाला यह 'यज्ञपुरुष' है।

भावार्थ—हम जीवन के प्रारम्भ में ही ऋत की रशना का धारण करें। इसे इस जीवनयज्ञ में धारण किये रक्खें। यह मेखला हमें सदा कर्त्तव्यमार्ग का उपदेश देनेवाली हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

रशना-(मेखला)-बन्धन

अभिधाऽअसि भुवनमसि यन्तासि धर्त्ता।
स त्वमग्निं वैश्वानरꣳसप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः ॥३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि यह ऋत की रशना हमें इस उत्पन्न जगत् में सदा व्याप्त किये रक्खे, अर्थात् हम इस ऋत की रशना को कभी उतार न दें। यह ऋत की रशना को सदा धारण करनेवाला 'अभिदधाति इति अभिधाः' है। तू **अभिधाः**=(to lay or put on, fasten, bind) मेखला को बाँधने के कारण 'अभिधाः' नामवाला **असि**=है। २. **भुवनम् असि**=ऋत की रशना को धारण करने के कारण तू भुवन है, सबका आश्रय है। 'भवन्ति भूतानि यस्मिन्' जिसमें सब प्राणी रहते हैं। अथवा 'भुवन' का अर्थ जल भी है, अतः तू जल की भाँति शान्त होता है। ३. **यन्ता असि**=तू अपना नियमन करनेवाला है, इस शरीररूप रथ के इन्द्रिय-अश्वों को काबू में रखनेवाला है। ४. इन्द्रियाश्वों को काबू में रखने से **धर्त्ता**=तू सबका धारण करनेवाला है। ५. **सः त्वम्**=वह तू **स्वाहाकृतः**=स्वार्थत्याग से परिष्कृत जीवनवाला हुआ-हुआ **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **सप्रथसम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तार से युक्त, अत्यन्त विशाल, सर्वव्यापक **अग्निम्**=सबकी अग्रगति के साधक प्रभु को **गच्छ**=प्रातः-सायं ध्यान द्वारा प्राप्त हो, अर्थात् प्रभु का स्मरण करनेवाला बन।

भावार्थ—हम ऋत की रशना को बाँधकर अपने जीवन को नियन्त्रित करते हुए सभी का धारण करनेवाले बनें और स्वार्थत्याग से जीवन को सुन्दर बनाते हुए प्रातः-सायं उस सर्वव्यापक, सर्वहितकारी प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

अश्व-बन्धन

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्। तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि॥४॥

१. हे **ब्रह्मन्**=(बृहि वृद्धौ) अत्यन्त बढ़े हुए (वर्धमानं स्वे दमे) **अश्वम्**=(अश्नुते) सर्वव्यापक **त्वा**=आपको **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजाओं का पति बनने के लिए **भन्त्स्यामि**=बाँधूँगा, अर्थात् ध्यान के द्वारा अपने हृदय में आपका धारण करूँगा। २. **तेन**=उस अश्व-बन्धन के द्वारा मैं **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजाओं की रक्षा के लिए **राध्यासम्**=सिद्धि को प्राप्त करूँ, समर्थ होऊँ, अर्थात् मैं प्रतिदिन हृदयदेश में प्रभु का बन्धन करता हुआ दिव्य गुणों को व प्रजापतित्व को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. **तं बधान**=सर्वव्यापक प्रभु को तू बाँधनेवाला बन और **तेन**=उससे **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजा का पति बनने के लिए **राध्नुहि**=सिद्ध हो, तू दिव्य गुणों को प्राप्त कर तथा प्रजा का रक्षक बन।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करनेवाला व्यक्ति दिव्य गुणों को प्राप्त करता है और प्रजा का रक्षक बनता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—अतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

अश्व-प्रोक्षण

प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि। योऽअर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः। परो मर्त्तः परः श्वा॥५॥

१. **प्रजापतये**=प्रजा का पति (रक्षक) बनने के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे गतमन्त्र के अश्व, अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा को **प्रोक्षामि**=मैं अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। २. **इन्द्राग्निभ्याम्**=अपने अन्दर इन्द्र व अग्नितत्त्व के विकास के लिए, अर्थात् बल व प्रकाश की वृद्धि के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं अपने अन्दर सिक्त करता हूँ। ३. **वायवे**=वायुतत्त्व के विकास के लिए, अर्थात् (वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों के हिंसन के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझको **प्रोक्षामि**=मैं अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। ४. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः** =शरीर में अंशरूपेण प्रविष्ट सब देवों के लिए, अर्थात् चक्षु आदि में प्रतिष्ठित सूर्यादि देवों से स्वास्थ्य के लिए (सूर्यः चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्) **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। ५. **सर्वेभ्यः देवेभ्यः**=इस बाह्य जगत् में स्थित सूर्यादि देवों की अनुकूलता के लिए तथा दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों की कृपादृष्टि के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझको **प्रोक्षामि**=अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ, अर्थात् हृदय में प्रभु का स्मरण होने पर सब देवों की अनुकूलता होती है। ६. इसके विपरीत **यः**=जो **अर्वन्तम्**=उस हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले इस प्रभु को (अर्वः ईरणवान्-प्रेरकः नि० २०।३१) **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, अर्थात् उसे भुलाकर संसार में आसक्त हो जाता है **तम्**=उसको **वरुणः**=वह श्रेष्ठ बनानेवाला प्रभु **अभ्यमीति**=(to pain, to attack) इस वृत्ति के लिए पीड़ित करता है। यह

मर्त्तः=(अश्वं जिघांसुः) परमेश्वर को भूलकर विषयों के पीछे मरनेवाला मनुष्य **परः**=पराभूत होता है, अधस्पद को प्राप्त कराया जाता है। यह **श्वा**=विषयास्थियों को चाटनेवाला कुत्ते-जैसा मनुष्य **परः**=पराकृत होता है, दूर किया जाता है, समाज में आदर नहीं पाता।

भावार्थ—हृदयदेश में प्रभु के स्मरण से मनुष्य प्रजापति बनता है, बल व प्रकाश को प्राप्त करता है, गतिशीलता से बुराइयों को दूर करता है, चक्षु आदि इन्द्रियों को स्वस्थ रख पाता है, सूर्यादि देव व विद्वान् इसके अनुकूल होते हैं। प्रभु को भूलनेवाला पीड़ित होता है, अन्ततः निरादृत होता है और अधोगति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

दशकं धर्मलक्षणम् (धर्मलक्षण दशक)

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहापां मोदाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा वायवे स्वाहा विष्णवे स्वाहेन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा मित्राय स्वाहा वरुणाय स्वाहा ॥६॥

१. **अग्नये स्वाहा**=मैं अग्नि के समान तेजस्वी होने के लिए स्वार्थत्याग करता हूँ अथवा **स्व**=उस आत्मा (परमात्मा) के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ। २. **सोमाय स्वाहा**=सोमतत्त्व के लिए, अर्थात् शान्त व सौम्य जीवन के लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। स्वार्थ-त्याग से जहाँ मैं तेजस्वी बनता हूँ वहाँ शान्ति को धारण करनेवाला होता हूँ। ३. **अपां मोदाय**=कर्मों के अन्दर आनन्द प्राप्ति के लिए **स्वाहा** =मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति सदा क्रियाशील होता है। प्रभु की भाँति उसकी क्रिया स्वाभाविक होती है। ४. **सवित्रे स्वाहा**=सविता व निर्माणात्मक कर्मों में लगे रहने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ में ग्रस्त होने पर हम ध्वंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। ५. **वायवे**=इस निर्माणात्मक कर्मों में लगे रहने के लिए, गतिशील बने रहने के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ६. **विष्णवे स्वाहा**=(विष्लृ व्याप्तौ) अपनी मनोवृत्ति को व्यापक व उदार बनाने के लिए मैं स्वार्थ-त्याग करता हूँ। ७. **इन्द्राय स्वाहा**=जितेन्द्रिय बनने के लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ८. **बृहस्पतये**=देवताओं के भी गुरु—ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। ९. इस ज्ञान को प्राप्त करके **मित्राय स्वाहा**=सबके साथ स्नेह करने के लिए स्वार्थत्याग करता हूँ। १०. **वरुणाय स्वाहा**=द्वेष-निवारण के लिए, अर्थात् द्वेष से दूर होने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ।

भावार्थ—जब मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठता है और प्रभु के प्रति अर्पण की वृत्तिवाला बनता है तब वह अपने अन्दर 'अग्नि, सोम, अपां मोद, सविता, वायु, विष्णु, इन्द्र, बृहस्पति, मित्र और वरुण' इन दस तत्त्वों को धारण करनेवाला बनता है। यही दशक उसका धर्म हो जाता है। वह इस दशलक्षण धर्म को धारण करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राणादयः। छन्दः—अत्यष्टिः[क], स्वराडत्यष्टिः[र]। स्वरः—गान्धारः॥

उनचास मरुत

[क]हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहा क्रन्दते स्वाहाऽवक्रन्दाय स्वाहा प्रोथते स्वाहा प्रप्रोथाय स्वाहा गन्धाय स्वाहा घ्राताय स्वाहा निविष्टाय स्वाहोपविष्टाय स्वाहा सन्दिताय स्वाहा वल्गते [र]स्वाहासीनाय स्वाहा शयानाय स्वाहा स्वपते स्वाहा जाग्रते स्वाहा कूजते स्वाहा प्रबुद्धाय स्वाहा विजृम्भमाणाय स्वाहा विचृताय स्वाहा सꣳहानाय स्वाहोपस्थिताय स्वाहाऽयनाय स्वाहा प्रायणाय स्वाहा ॥७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रयत्नवन्तो जीवादयः। छन्दः—भुरिग्धृतिः[क], भुरिगतिधृतिः[र]।
स्वरः—ऋषभः[क], षड्जः[र]॥

[क]यते स्वाहा धावते स्वाहोद्द्रावाय स्वाहोद्द्रुताय स्वाहा शूकाराय स्वाहा शूकृताय स्वाहा निषण्णाय स्वाहोत्थिताय स्वाहा जवाय स्वाहा बलाय स्वाहा विवर्त्तमानाय स्वाहा विवृत्ताय स्वाहा विधून्वानाय स्वाहा [र]विधूताय स्वाहा शुश्रूषमाणाय स्वाहा शृण्वते स्वाहेक्षमाणाय स्वाहेक्षिताय स्वाहा वीक्षिताय स्वाहा निमेषाय स्वाहा यदत्ति तस्मै स्वाहा यत्पिबति तस्मै स्वाहा यन्मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा कुर्वते स्वाहा कृताय स्वाहा ॥८॥

१. छठे मन्त्र के अनुसार स्वार्थत्याग करने पर व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने पर अग्नि आदि तत्त्वों के शरीर में विकसित होने का उल्लेख था। अब सातवें व आठवें मन्त्र में उसी प्रकार स्वार्थत्याग से व प्रभु के प्रति अर्पण से शरीर में उननचास मरुतों व प्राणभेदों के ठीक से कार्य चलने का उल्लेख करते हैं। शरीर में ये प्राणवायु भिन्न-भिन्न रूप में होकर सारे शरीर की विविध क्रियाओं को सिद्ध करती है। ये भेद उननचास हैं—अतः ये प्राण=मरुत उननचास कहलाते हैं। इन उननचास मरुतों की क्रियाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि १. **हिङ्काराय स्वाहा**=(शुक्लमेव हिङ्कारः। जै०उ० १।३४।१) अपने जीवन को शुक्ल बनाने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ ही मलिनता है। इसके त्याग से मेरा जीवन शुद्ध होता है। उठने पर सबसे पूर्व शोधन ही आवश्यक होता है, अतः इस शोध से ही मन्त्र को प्रारम्भ किया गया है। 'प्राणो वै हिङ्कारः' (श० ४।२।२।११)। प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए मैं स्वार्थभाव से ऊपर उठता हूँ। स्वार्थभाव में भोगप्रवणता बढ़ती है और प्राणशक्ति का ह्रास होता है। 'वज्रो हिङ्कारः' (कौ० ३।२)। प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा मैं अपने इस शरीर को वज्रतुल्य बनाता हूँ। २. **हिङ्कृताय स्वाहा**=जिसने अपना शोधन कर लिया है, प्राणशक्ति की वृद्धि की है तथा शरीर को वज्रतुल्य बनाया है, उसके लिए हम (सु+आह) शुभ शब्द बोलते हैं, प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. **क्रन्दते**=(क्रदि आह्वाणे) प्रभु को पुकारनेवाले का **स्वाहा**=हम आदर करते हैं। ४. **अवक्रन्दाय**=प्रभु को नीचे—अपने अन्दर बुलाने के लिए हम **स्वाहा**=स्वार्थत्याग करते हैं। प्रातः उठकर शोधन की प्रक्रिया के बाद प्रभु का स्मरण व स्तवन ही चलना चाहिए। इस प्रभु के आह्वान से हमें शुद्ध बनने में सहायता मिलती है। ५. **प्रोथते**=(प्रोथृ पर्यापणे subdue, overcome) प्रभु-स्मरण के द्वारा कामादि शत्रुओं का विजय करनेवाले के लिए हम **स्वाहा**=आदर के शब्द बोलते हैं। ६. **प्रप्रोथाय स्वाहा**=वासना-विजय के प्रकृष्ट कार्य के लिए, इन शत्रुओं को जीतने की क्षमता प्राप्त करने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। ७. अब प्रभु-स्मरण के पश्चात् स्वाध्याय का क्रम आता है। उस स्वाध्याय में मैं विज्ञान के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता हूँ अथवा विज्ञान के द्वारा प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ता हूँ। इस **गन्धाय स्वाहा**=ज्ञान की गन्ध के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ से ऊपर उठकर ही मैं अपनी बुद्धि को शुद्ध करता हूँ और अपने में ज्ञान का सम्बन्ध कर पाता हूँ। ८. **घ्राताय स्वाहा**=इस ज्ञान-गन्ध का ग्रहण करनेवाले के लिए मैं आदरभाव धारण करता हूँ। ९. स्वाध्यायानन्तर **निविष्टाय**=अपने कार्यों में लग जानेवाले पुरुष के लिए मैं **स्वाहा**=शुभ शब्द बोलता हूँ। १०. इन कार्यों को करते समय **उपविष्टाय स्वाहा**=सदा प्रभु के समीप स्थित के लिए मैं

आदर के शब्द कहता हूँ। ११. इन कार्यों को करते हुए **सन्दिताय स्वाहा**=(सम्यक् दितं खण्डनं यस्य सः) वासनाओं व आलस्य की भावना का सम्यक् खण्डन करनेवाले के लिए हम आदर करते हैं। १२. **वल्गते स्वाहा**=आलस्य को छोड़कर मधुरता से गति करते हुए का हम आदर करते हैं। १३. **आसीनाय स्वाहा**=कर्म करने के बाद अब आराम के लिए बैठे हुए के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १४. **शयानाय स्वाहा**=लेटनेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १५. **स्वपते स्वाहा**=सोनेवाले के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। १६. अब सोने के बाद **जाग्रते स्वाहा**=जागनेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १७. **कूजते स्वाहा**=जागने के बाद अव्यक्त रूप में, मानस जप के रूप में प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले का हम आदर करते हैं १८. **प्रबुद्धाय स्वाहा**=अब खूब अच्छी प्रकार जागरित हो गये के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। १९. **विजृम्भमाणाय स्वाहा**=अब गात्रों का विविध नयन करनेवाले के लिए, अर्थात् सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को फैलानेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। २०. **विचृताय**=(चृती दीप्तौ) गात्रविनाम के द्वारा दीप्त होनेवाले का हम आदर करते हैं। २१. **संहानाय**=**'अत्रा जहाम अशिवा ये असन्'** इस मन्त्रभाग की भावना के अनुसार अशिव को छोड़नेवाले का हम आदर करते हैं। २२. **उपस्थिताय स्वाहा**=अशुभ को छोड़कर प्रभु के समीप पहुँचे हुए का हम आदर करते हैं। २३. **अयनाय स्वाहा**=(अयते) प्रभु की ओर जानेवाले का हम आदर करते हैं। २४. **प्रायणाय स्वाहा**=(प्रकृष्टमयते) सदा प्रकृष्ट मार्ग से जानेवाले का हम आदर करते हैं।

२५. **यते स्वाहा**=गतिशील का हम आदर करते हैं। २६. **धावते स्वाहा**=गतिशीलता के द्वारा अपना शोधन करनेवाले का हम आदर करते हैं। २७. **उद्द्रावाय स्वाहा**=उत्कृष्ट गतिवाले का हम आदर करते हैं। २८. **उद्द्रुताय**=जो विषयों से **उत्**=ऊपर (out) उठ गया है, उसका हम आदर करते हैं। २९. **शूकाराय स्वाहा**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। ३०. **शूकृताय स्वाहा**=शीघ्रता से शिक्षित हुए का हम आदर करते हैं। ३१. **निषण्णाय**=अपने कार्यों में निश्चित रूप से स्थित का हम आदर करते हैं। ३२. **उत्थिताय स्वाहा**=उठ खड़े हुए के लिए, अर्थात् सदा कार्यों में उद्युक्त का हम आदर करते हैं। ३३. **जवाय**=वेगवान् के लिए, क्रियाओं में गतिवाले का हम आदर करते हैं। ३४. **बलाय स्वाहा**=क्रियाओं में सतत वेग के द्वारा उत्पन्न बल के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। आलस्य=आराम को छोड़कर प्रबलता से कर्मों को करनेवाला ही सबल बनता है। ३५. **विवर्त्तमानाय**=विशिष्ट रूप से क्रियाओं में चेष्टा करनेवाले का हम आदर करते हैं। ३६. **विवृत्ताय**=विशिष्ट वर्तन के कारण जो उत्कृष्ट चरित्रवाला बना है (विशिष्टं वृतं यस्य) उसके लिए हम आदर करते हैं। ३७. **विधूवानाय स्वाहा**=जो विशिष्ट वृत्तवाला बनकर बुराइयों को अपने से कम्पित करके दूर कर रहा है, उसके लिए शुभ शब्द कहते हैं। ३८. **विधूताय स्वाहा**=बुराइयों को कम्पित करते हुए जो 'विधूतपाप्मा' बन गया है, उसका हम आदर करते हैं। ३९. **शुश्रूषमाणाय स्वाहा**=विधूतपाप्मा बनने के लिए गुरुओं का उपदेश सुनने की इच्छावालों का तथा गुरुओं का उपासन करनेवाले का हम आदर करते हैं। ४०. **शृण्वते स्वाहा**=गुरुओं के उपदेश को सुननेवाले का लिए हम आदर करते हैं। ४१. **ईक्षमाणाय स्वाहा**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रकृति का सूक्ष्मता से निरीक्षण करनेवाले का हम आदर करते हैं। ४२. **ईक्षिताय स्वाहा**=प्रकृति के तत्त्वों के द्रष्टा का हम आदर करते हैं। ४३. **वीक्षिताय स्वाहा**=वीक्षित का-ठीक conecption बनानेवाले का हम आदर करते हैं। ४४. इस प्रकृति-निरीक्षण के बाद **निमिषाय स्वाहा** =आँख आदि के व्यापार को रोककर

अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को देखनेवाले का हम आदर करते हैं। ४५. **यत् अत्ति तस्मै स्वाहा**=आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से जो खाता है, सात्त्विक भोजन करता है, अन्न का सेवन करता है उसका हम आदर करते हैं। ४६. **यत् पिबति तस्मै स्वाहा**=इसी उद्देश्य से जो सात्त्विक दूध आदि का पान करता है, उसका हम आदर करते हैं। ४७. **यत् मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा**=शरीर में से मूत्र आदि के क्षार मलांश को दूर करनेवाले प्राण का हम आदर करते हैं। ४८. **कुर्वते स्वाहा**=शोधनकार्य को करते हुए का हम आदर करते हैं और ४९. **कृताय स्वाहा** =मलादि के शोधनकार्य को कर चुके प्राण के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। इस प्रकार की प्रशंसा करते हुए उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीरों में प्राण के ४९ भेद भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। उन्हीं से अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सब कार्य चलते हैं। प्राणों की क्रिया से ही स्वास्थ्य व सुबुद्धि प्राप्त होती है, अतः विविध रूपों में उल्लिखित इन सब कार्यों को करते हुए प्राणों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

भर्ग का वरण

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्॥९॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित हमारे सब प्राण ठीक कार्य करेंगे तो हम इस प्रार्थना के योग्य होंगे कि **सवितुः** =सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **तत् वरेण्यम्**=उस वरण करने योग्य **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=ध्यान करें व धारण करें। शरीर में प्राणशक्ति के ठीक से कार्य न करने पर तेजस्विता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। वस्तुतः संसार में जीव जब 'प्रभु की तेजस्विता' व 'प्रकृति के सौन्दर्य' में ग़लती से प्रकृति के सौन्दर्य का चुनाव कर बैठता है तब प्रेयमार्ग पर चलते हुए अधिकाधिक भोगों को जुटाता है और उनका आनन्द लेता हुआ अपनी शक्तियों को क्षीण कर बैठता है २. परन्तु प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनाना ऐसा है **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट प्रेरणा देता है। प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनानेवाला व्यक्ति कभी भोगमार्ग की ओर नहीं जाता और भोगमार्ग की ओर न जाने से क्षीणशक्ति नहीं होता। ३. संसार में भोगमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही स्वार्थप्रधान होकर द्वेष में फँसता है। यह प्रभु के तेज का वरण करनेवाला सभी का मित्र होता है, प्रभु के वरेण्य भर्ग का वरण करनेवाला 'विश्वामित्र' होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज का वरण करें। यह लक्ष्य हमारी बुद्धियों को शुद्ध बनाए रक्खेगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'चेत्ता-देवता-पदम्'

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ ह्वये। स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम्॥१०॥

१. गतमन्त्र का 'विश्वामित्र' बड़ी समझदारी से ठीक मार्ग पर चलने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि'=(मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला कहलाता है। यह कहता है कि मैं **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए उस प्रभु को **उपह्वये**=पुकारता हूँ जो

हिरण्यपाणिम्='हिरण्यं पाणौ यस्य' हाथ में हिरण्य=सोना लिये हुए हैं। उस हिरण्यपाणि के प्राप्त हो जाने पर मुझे धन की आवशकता ही क्या रहेगी? **सवितारम्**=वे तो सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक हैं अथवा सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले हैं। उस प्रभु को पा लेने पर ऐश्वर्य की क्या कमी रहेगी? हम प्रभु के अतिथि बनेंगे तो उस सर्वव्यापक विष्णु की पत्नी 'लक्ष्मी' ही हमारा आतिथ्य करेंगी। लक्ष्मी की हमें कमी क्यों होगी? 'हिरण्यपाणि' की भावना यह भी है कि वे प्रभु 'हितरमणीय पाणि' वाले हैं। उन प्रभु का हाथ हमारे सिरों पर होगा तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण होगा। २. **सः**=वे प्रभु **चेत्ता**=सर्वज्ञ हैं, सभी संज्ञानोंवाले हैं। इस प्रभु की उपासना मेरे ज्ञान को भी बढ़ानेवाली होगी। ३. **देवता**=वे देवता हैं। **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं, सभी को दीप्ति देकर चमकानेवाले हैं। ४. **पदम्**=**'पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः'** वे प्रभु जानने योग्य हैं, अन्तिम लक्ष्य वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के ही समीप हमें पहुँचना है। वहाँ न पहुँचने तक मनुष्य भटकता ही रहता है। **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=वे प्रभु ही यात्रा का चरम लक्ष्य हैं। वहीं शान्ति हैं, प्रभु को न पानेवालों को शान्ति कहाँ। **'तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्'** प्रभुनिष्ठ को ही शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।

भावार्थ—प्रभु 'हिरण्यपाणि, सविता-चेत्ता-देवता व पद' हैं। उस प्रभु को ही प्राप्त करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

मही सुमति

दे॒वस्य॒ चेत॑तो म॒हीं प्र स॑वि॒तुर्ह॑वामहे। सु॒म॒तिꣳस॒त्यरा॑धसम्॥११॥

१. **देवस्य**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज, देनेवाले, चमकनेवाले व चमकानेवाले **चेततः**=सर्वज्ञ **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की **महीम्**=महनीय महिमा को प्राप्त करानेवाली **सत्यराधसम्**=सत्य को सिद्ध करनेवाली (सत्यं राधयति) अथवा सत्य, अविनष्ट धनवाली (सत्यं राधो धनं यस्याः ताम्) **सुमतिम्**=शोभनबुद्धि को **प्रहवामहे**=प्रकर्षेण प्रार्थना करते हैं। २. प्रभु की यह कल्याणी मति वेद में प्रकाशित हुई है, उसे प्राप्त करके हम सचमुच अपने जीवनों को महिमावाला व सत्यधनवाला बना पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु देव हैं, चेत्ता हैं। उनकी कल्याणी मति को प्राप्त करके हम महिमाशाली व सत्यरूप धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सुमति संवर्धन

सु॒ष्टु॒तिꣳसु॑म॒ती॒वृधो॑ रा॒तिꣳस॑वि॒तुरी॑महे। प्र दे॒वाय॑ मती॒विदे॑॥१२॥

१. **सुमतीवृधः**=शोभन बुद्धि का वर्धन करनेवाले, **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को तथा **रातिम्**=दान को **ईमहे**=चाहते हैं—याचना करते हैं। वे सुमति का वर्धन करनेवाले प्रभु हमारी बुद्धियों को ऐसा बनाएँ कि हम प्राकृतिक भोगों में आसक्त होकर उसे भूल न जाएँ। सुमति को प्राप्त करके इन प्रत्येक वस्तु में सब प्राकृतिक भोग्य वस्तुओं को शरीरपोषण के दृष्टिकोण से मात्रा में उपयुक्त करते हुए प्रत्येक वस्तु में प्रभु की महिमा को देखें और उसका स्तवन करें। वे प्रभु सविता हैं, सभी वस्तुओं को जन्म देनेवाले हैं, सारा ऐश्वर्य उन्हीं का है। उनकी शरण में आकर

उस प्रभु की राति से, दान से, हम वञ्चित थोड़े ही रहेंगे। २. यह प्रभु का स्तवन **प्रदेवाय**=हमें प्रकृष्ट देव बनाने के लिए हो। उन-उन गुणों से प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करें और उस महान् देव के मार्ग पर चलते हुए देव बन जाएँ। ३. **मतीविदे**=यह प्रभु-स्तवन बुद्धि की प्राप्ति के लिए हो। यह स्तवन हमें भोगमार्ग से बचाकर उत्कृष्ट बुद्धिवाला बनाए। भोगासक्ति शरीर व बुद्धि दोनों ही को दुर्बल करती है।

भावार्थ—उस सविता का स्तवन करते हुए हम उत्कृष्ट दिव्य गुणों को प्राप्त करें और बुद्धि का वर्धन करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

देव-वीति

रा॒तिꣳस॒त्पतिं॑ म॒हे स॑वि॒तार॒मुप॑ ह्वये। आ॒स॒वं दे॒ववी॑तये॥१३॥

१. **रातिम्**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले दाता को **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्ययुक्त प्रभु को **महे**=(पूजनीय-उ०) पूजता हूँ और **उपह्वये**=पुकारता हूँ, प्रार्थना करता हूँ। प्रभु की पूजा से मैं भी प्रभु का छोटा रूप बन पाऊँगा। प्रभु 'राति' हैं, दाता हैं, मैं भी दाता बनूँगा, सारा स्वयं खा जानेवाला न होऊँगा। प्रभु 'सत्पति' हैं, मैं भी उत्तम कार्यों का रक्षक बनूँगा, सदा उत्तम कार्य करनेवाला होऊँगा। प्रभु 'सविता' हैं, मैं भी सदा निर्माण के कार्यों में लगूँगा। २. **आसवम्**=उस समन्तात् ऐश्वर्ययुक्त प्रभु को मैं पुकारता हूँ कि **देववीतये**=मेरे अन्दर दिव्य गुणों का प्रकाश हो, मैं दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु 'राति-सत्पति, सविता व आसव' हैं। हम इस प्रभु की ही पूजा करें, प्रार्थना करें, जिससे हममें दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव हो। इन दिव्य गुणों से हम भी समन्तात् ऐश्वर्ययुक्त हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

मति-आसव-भग

दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्म॒तिमा॑स॒वं वि॒श्वदे॑व्यम्। धि॒या भगं॑ मनामहे॥१४॥

१. **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्ययुक्त **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **मतिम्**=बुद्धि को **मनामहे**=(याचामहे) हम माँगते हैं। उस प्रभु की कल्याणी बुद्धि प्राप्त होने पर हम भी **सविता**=निर्माण के कार्यों के करनेवाले बनने का प्रयत्न करेंगे और उस कल्याणी मति के प्राप्त होने पर सदा उत्कृष्ट मार्ग से चलते हुए हम देव बनने के लिए यत्नशील होंगे। २. हम प्रभु के **आसवम्**=उस व्यापक ऐश्वर्य को चाहते हैं, जो ऐश्वर्य **विश्वदेव्यम्**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति में सहायक होता है। इस ऐश्वर्य के होने पर मनुष्य का बहुमूल्य जीवन जीविका-प्राप्ति में व्यर्थ व्यतीत न होकर अध्यात्म उन्नति में लगता है। 'आसवं' शब्द का अर्थ प्रेरणा भी है, हम उस प्रेरणा की याचना करते हैं जो हमें सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराती है। ३. **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **भगम्**=ऐश्वर्य को **मनामहे**=माँगते हैं। कर्मों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य ही हमारे जीवन में सद्गुणों को जन्म देनेवाला होता है। बिना श्रम के प्राप्त ऐश्वर्य मनुष्य के पतन का कारण होता है।

भावार्थ—हम सवितादेव की 'सुमति-प्रेरणा व ऐश्वर्य' को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—सुतम्भरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

स्तोम द्वारा बोधन

अ॒ग्निꣳस्तोमे॑न बोधय समिधा॒नोऽअम॑र्त्यम्। ह॒व्या दे॒वेषु॑ नो दधत्॥१५॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **स्तोमेन**=स्तुतिसमूह से **बोधय**=जागरित कर। जब हम स्तवन के द्वारा उस प्रभु की भावना को हृदय में उद्बुद्ध करते हैं तब वह प्रभु हमारी अग्रगति का कारण बनते हैं। २. वे प्रभु **अमर्त्यम्**=विषयों के पीछे न मरनेवाले इस स्तोता को **समिधानः**=दीप्त करते हैं। जब व्यक्ति प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है तब उसकी चित्तवृत्ति वैषेयिक नहीं होती। वह विषयों को विष समझता हुआ उनसे दूर ही रहता है। इसकी चित्तवृत्ति को शुद्ध करके वे प्रभु इसे ज्ञान से समिद्ध कर देते हैं तथा ३. **नः**=हमें **देवेषु**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **हव्या दधत्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। उन सात्त्विक पदार्थों का सेवन करते हुए हम मन की शुद्धि से दिव्य गुणोंवाले होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य स्तवन के द्वारा अपने हृदय में प्रभु की भावना को जागारित करे। यह प्रभु-स्मरण विषयों के पीछे मरने से बचाता है और हृदयों को प्रकाश से दीप्त करता है। प्रभु हव्य=यज्ञिय पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराके दिव्य गुणों से युक्त करते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रज्ञापूर्वक कर्मों से प्रभु-प्राप्ति

स ह॑व्य॒वाडम॑र्त्यऽउ॒शिग्दू॒तश्चनो॑हितः। अ॒ग्निर्धि॒या सम॑ृण्वति॥१६॥

१. **सः**=वह **अग्निः**=अग्रेणी=सब उन्नतियों का साधक **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों से **समृण्वति**=प्राप्त होता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए एकमात्र उपाय 'बुद्धिपूर्वक कर्म करना' है। अकर्मण्य को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, अतः मनुष्य को कर्मशील तो बनना ही है। वे कर्म उसे बुद्धिपूर्वक करने हैं। 'मनुष्य' का अर्थ **'मत्वा कर्माणि सीव्यति'** है—विचारकर कर्मों को करता है। २. वे प्रभु **हव्यवाट्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हमें उत्तम यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराके इन पदार्थों के सेवन से वे हमें शुद्ध बुद्धिवाला बनाते हैं। ३. **अमर्त्य**=वे प्रभु अमर्त्य हैं, उनके उपासन से हम भी अमर्त्य बनते हैं, ४. **उशिक्**=मेधावी हैं अथवा जीव का हित चाहनेवाले हैं। ५. **दूतः**=उसका हित करने के लिए वे उसे तपस्या की अग्नि में सन्तप्त करते हैं। तप की अग्नि में सन्तप्त होकर ही तो हम शुद्ध जीवनवाले बनेंगे। इन तपों को सामान्य लोग कष्ट समझते हैं और वे धर्मात्माओं को दुःखपतित समझ विचित्र-सी धारणाएँ बना लेते हैं। ६. वे प्रभु **चनोहितः**=(धनसा हितः) अन्न द्वारा हममें निहित होते हैं। अन्न की शुद्धि होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण के शुद्ध होने पर वहाँ प्रभु का निवास होता है।

भावार्थ—हम उस प्रभु को प्रज्ञापूर्वक कर्मों द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करें जो प्रभु हमें हव्य पदार्थ प्राप्त कराते हैं, अमर्त्य बनाते हैं, हमारे भले की ही कामना करते हैं, तप की अग्नि में हमें तपाते हैं तथा सात्त्विक अन्न के सेवन से हमारे हृदयों में निहित होते हैं।

ऋषिः—विश्वरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अग्नि का पुरःस्थापन

अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे। दे॒वाँ२॥ऽआ सा॑दयादि॒ह॥१७॥

१. इस संसार-यात्रा में कार्य करते हुए हम **दूतम्**=तपोऽग्नि में सन्तप्त करनेवाले

अग्निम्=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **पुरः दधे**=सामने रखते हैं, अर्थात् प्रभु के अविस्मरणपूर्वक ही हमारे सब कार्य होते हैं। इसी कारण उन कार्यों में अपवित्रता नहीं होती। २. **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों की प्राप्ति करानेवाले परमात्मा की मैं **उपब्रुवे**=प्रार्थना करता हूँ। प्रातः-सायं उसके समीप उपस्थित होकर यही याचना करता हूँ कि 'हे सब अन्नों के पति प्रभो! हमें रोगरहित व बलकारक अन्न दीजिए'। उन सात्त्विक पदार्थों को प्राप्त कराइए जिनके सेवन से हमारे अन्तःकरण शुद्ध हों। ३. उनको शुद्ध करके हे प्रभो! आप **इह**=इस मानव-जीवन में, शुद्ध हृदय में, **देवान्**=दिव्य गुणों को **आसादयात्**=प्राप्त कराएँ। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए शुद्ध-हृदयता आवश्यक है।

भावार्थ—हम कर्मों को करते हुए प्रभु को न भूलें। प्रभु से हव्य (सात्त्विक) पदार्थों की याचना करें। प्रभु हमारे शुद्ध हृदयों में दिव्य गुणों की स्थापना करें। इस प्रकार प्रभु का सदा स्मरण करने से हम प्रभु के ही छोटे रूप 'विश्वरूप' बनते हैं।

ऋषिः—अरुणत्रसदस्यू। देवता—पवमानः। छन्दः—पिपीलिकामध्याविराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अरुण-त्रसदस्यु

अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः।
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥१८॥

१. हे **पवमान**=मेरे हृदय को पवित्र करनेवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से आप **सूर्यं अजीजनः**=मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदित करते हैं। २. मैं आपके आदेश के अनुसार **शक्मना**=शक्ति के हेतु से **पयः**=दूध को **विधारे**=धारण करता हूँ, अर्थात् दूध आदि पवित्र पदार्थों के सेवन से शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। ३. **गोजीरया**=(इमे लोका गौः—शतपथ० ६।५।२।१७) समस्त लोकों को जीवन देनेवाली **पुरन्ध्या**=(पुरं बहु दधाति) बहुतों को धारण करनेवाली शक्ति से **रंहमाणः**=इस जीवन-यात्रा में मैं आगे-और-आगे बढ़ता हूँ। मेरे सब कार्य इन पृथिवीस्थ (गो) प्राणियों के मिलाने के हेतु से तथा बहुत के धारण के दृष्टिकोण से ही हों। '**यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा**'= जो अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित है वही तो सत्य है। मेरे सब कार्य भी पृथिवीस्थ प्राणियों के जिलानेवाले व बहुत का धारण करनेवाले हों। ४. इस प्रकार मेरा सारा जीवन गतिशील व्यक्ति का जीवन हो (ऋ गतौ) मैं 'अरुण' बनूँ। मेरी इस 'गतिशीलता' से दास्यववृत्तियाँ मुझसे भयभीत होकर दूर ही रहें और मैं मन्त्र का ऋषि 'त्रसदस्यु' बनूँ।

भावार्थ—पवित्रता से ज्ञान दीप्त होता है। शक्ति के लिए हमें सात्त्विक दुग्ध आदि पदार्थों का प्रयोग करना है। हम सदा पृथिवी आदि लोकों के प्राणियों के जीवन के उद्देश्य से तथा बहुत के धारण के उद्देश्य से क्रियाओं को करनेवाले बनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—भूरिग्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

विभूः-प्रभूः

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणाऽअसि। ययुर्नामाऽसि शिशुर्नामास्यादित्यानां पत्वान्विहि देवाऽआशापालाऽएतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳरक्षतेह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ॥१९॥

१. **मात्रा**=तू माता से **विभूः**=व्यापक वृत्तिवाला=उदारवृत्तिवाला बना है। माता से तूने व्यापक हृदयता के संस्कार प्राप्त किये हैं। २. **पित्रा प्रभूः**=पिता से तूने शक्ति (प्रभाव) को प्राप्त किया है। ३. इस प्रकार माता-पिता से विशाल हृदय व शक्ति को प्राप्त करके **अश्वः असि**=तू कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, अर्थात् तू सदा कर्मशील जीवन बिताता है। **हयः असि**=(हय गतौ) तू गतिशील है। गतिशील ही क्या, **अत्यः असि**=(अत सातत्यगमने) तू निरन्तर गतिशील है। गति तो तेरा स्वभाव ही बन गया है। ४. इस गतिशीलता के कारण **मयः**=तू सुखरूप है। गतिशीलता के कारण तेरा जीवन सुखी है। ५. **अर्वा असि**=(अर्वति हिनस्ति च) सब बुराइयों का तू संहार करनेवाला है और बुराइयों के संहार के द्वारा ही **सप्तिः असि**=(सप सम्बन्धे) प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाला है। प्रभु के साथ सम्बद्ध होकर **वाजी असि**=तू शक्तिशाली बनता है। प्रभु की शक्ति का तुझमें प्रवाह होता है। ६. शक्तिसम्पन्न बनकर **वृषा असि**=तू लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाला बनता है। **नृमणा असि**=(नृषु मनो यस्य) तेरा मन सदा लोगों में रहता है, अर्थात् तू सदा उनकी उन्नति व सुख के वर्धन का विचार करता है। ७. इसके लिए तू **ययुः नाम असि**=खूब ही गतिशील बना है। लोगों की उन्नति व सुख के लिए अतिशयित प्रयत्नवाला होता है। **शिशुः नाम असि**=(श्यति कृशं करोति) अपने प्रयत्नों से तू लोगों के कष्टों को अत्यन्त क्षीण करनेवाला बनता है। अथवा (श्यति तनूकरोति) तू अपनी बुद्धि को भी अत्यन्त सूक्ष्म बनाता है, जिससे ठीक विचार से तू ठीक कार्य कर सके। ८. प्रभु कहते हैं कि तू **आदित्यानां पत्वा अन्विहि**=आदित्यों के मार्ग से चलनेवाला बन। आदित्यों का मार्ग यह है कि ये सर्वत्र विचरते हुए अच्छाई को ग्रहण करते हैं और बुराई को वहीं रहने देते हैं, बुराई का ध्यान नहीं करते। इस मार्ग पर चलने से प्रजा में कल्याण-ही-कल्याण होगा, सब लड़ाई-झगड़े समाप्त हो जाएँगे। ९. हे **आशापालाः**=इस **'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः'** की सब दिशाओं से रक्षा करनेवाले (आशा=दिशा) **देवाः**=देवो! **एतम्**=इस **अश्वम्**=शक्तिशाली तथा कर्मों में व्याप्त होनेवाले **प्रोक्षितम्**=जिसके शरीर में वीर्य का सिञ्चन हुआ है, वस्तुतः शरीर में वीर्य का सिञ्चन करके ही यह शक्तिशाली बना है, **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **मेधाय**=यज्ञरूप उत्तम कर्म के लिए **रक्षत**=सुरक्षित करो। 'मुख, पायु, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' ये चार मुख्य द्वार हैं। इनके अधिष्ठातृदेव ही आशापाल देव हैं। इनके कार्य के ठीक होने पर मनुष्य का जीवन सुरक्षित रहता है, वह बीमारियों से पीड़ित नहीं होता। वह वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करके कर्मों में प्रवृत्त होता है। १०. **इह**=इस उल्लिखित जीवन में **रन्तिः**=आनन्द है। **इह रमताम्**=मनुष्य को चाहिए कि वह इसमें ही रमण करे, आनन्द का अनुभव ले। **इह**=इस जीवन में **धृतिः**=दृढ़ता व कष्टों से न घबरानां होता है। **इह स्वधृतिः**=इस जीवन में हम आत्मतत्त्व का धारण-दर्शन करते हैं। **स्वाहा**=अतः इस जीवन के लिए हम प्रशंसा के शब्द कहते हैं। इसी जीवन को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। इसके लिए अपने को दे डालते हैं। यही हमारा ध्येय हो जाता है।

भावार्थ—हम उदार हृदय व शक्तिशाली बनकर सदा क्रियाशील बनें। अपने को पवित्र कर प्रभु से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। इस सम्बन्ध से शक्तिशाली बनकर लोकसेवा के कार्य में लग जाएँ। सर्वत्र अच्छाई को ग्रहण करके आगे बढ़ते चलें। इसी जीवन में आनन्द-प्राप्ति, कष्ट-सहनशक्ति व आत्मधारण है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रजापत्यादयः। छन्दः—भुरिग्धृतिः[क], निचृदतिधृतिः[र]।
स्वरः—षड्जः॥

समर्पण व स्वार्थत्याग

[क]काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहादित्यै मह्यै स्वाहादित्यै सुमृडीकायै स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा [र]सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा त्वष्ट्रे स्वाहा त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा विष्णवे स्वाहा विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा ॥२०॥

१. **काय**='को हि प्रजापतिः' (श० ६।२।२।५) प्रजापति के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। **कस्मै स्वाहा**=आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। **कतमस्मै स्वाहा**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। २. **आधिम्**=(Reflection=धर्मचिन्ता=अध्यात्म-विचार) अपने सारे विचार को **आधीताय**=स्वरूपचिन्तन के लिए अथवा इस संसार के तत्त्वचिन्तन के लिए **स्वाहा**=अर्पित कर, अर्थात् तू सदा पुरुष व प्रकृति का स्वरूपचिन्तन करनेवाला बन। **मनः**=अपने मन को **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापति के लिए अर्पित कर। **चित्तम्**=अपने चित्त को **विज्ञाताय**=विज्ञान की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=अर्पित कर। ३. **अदित्यै**=अखण्डन के लिए तू **स्वाहा**=स्वार्थ को त्यागनेवाला बन। स्वार्थत्याग से ही तुझे पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा। इस **अदित्यै**=अदीना देवमाता (नि० ५।२२) के लिए जोकि **मह्यै**=महनीय है, तेरे जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाएगी, उसके लिए **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग करनेवाला बन। स्वार्थ मनुष्य को दीन बनाता है, स्वार्थ से ऊपर उठकर हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। इस **अदित्यै**=वेदवाणी के लिए (नि०१।४) तू **स्वाहा**=अपने को अर्पित कर जो **सुमृडीकायै**=तेरे जीवन को बड़ा सुखी बनाएगी। ४. **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता की आराधना के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित कर। **सरस्वत्यै**=उस ज्ञानाधिदेवता के लिए तू अपने को **स्वाहा**=अर्पित कर जो **पावकायै**=पवित्र करनेवाली है। उस **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए तू **स्वाहा** =स्वार्थत्याग कर जो **बृहत्यै**=तेरे वर्धन का कारण होगी। ५. **पूष्णे**=पोषण की देवता के लिए तू **स्वाहा** =स्वार्थ का त्याग कर। स्वार्थत्याग शरीर के उत्तम पोषण का कारण बनता है। **पूष्णे स्वाहा**=उस पोषण के लिए तू निःस्वार्थ हो जो **प्रपथ्याय**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलने के लिए सहायक होता है। **पूष्णे स्वाहा**=उस पोषण के लिए तू स्वार्थ से ऊपर उठ जो **नरन्धिषाय**=(नरान् दधाति धारयति—उ०) मनुष्यों का धारण करता है। स्वार्थ से ऊपर उठकर ही मनुष्य लोकहित कर सकता है और यह लोकहित ही (नरान् दिधेष्टि शब्दयति उदयेन—म०) मनुष्य के चतुर्दिक् प्रवाही यश का कारण बनता है। ६. अब ज्ञान व पुष्ट शरीर को प्राप्त करके **त्वष्ट्रे स्वाहा**=निर्माण की देवता के लिए तू अपने को अर्पित कर, अर्थात् निर्माण के कार्यों में लग जा। उस **त्वष्ट्रे स्वाहा**=निर्माण की देवता के लिए तू अपने को अर्पित कर जो **तुरीपाय**=(तूर्णं धारया पाति—उ०) शीघ्रता से रक्षा करनेवाला है। **त्वष्ट्रे**=उस निर्माण की देवता के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित कर जो **पुरुरूपाय**=(पुरुणि रूपाणि यस्य) बड़े उत्तम रूपों को प्राप्त करानेवाली है। यदि राष्ट्र में सब व्यक्ति निर्माण के कार्यों

में लग जाएँ तो जहाँ राष्ट्र का शीघ्र ही कल्याण हो जाएगा वहाँ राष्ट्र को बड़ा सुन्दर रूप प्राप्त होगा। देश की आकृति ही बदल जाएगी। सब जगह 'सुख, सौन्दर्य व शान्ति' का राज्य हो सकेगा। ७. **विष्णवे स्वाहा**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति के लिए तू स्वार्थत्याग कर। व्यापकता को तभी प्राप्त होंगे जब स्वार्थ को समाप्त करेंगे। उस **विष्णवे**=व्यापक, उदार मनोवृत्ति के लिए **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग कर जो **निभूयपाय**=(नीचैर्भूत्वा यः पाति—उ०) नम्र बनकर सबका रक्षण करती है। उदार वृत्तिवाला पुरुष रक्षणादि कार्यों में प्रवृत्त होता है, परन्तु इन कार्यों को करते हुए सदा नम्र बना रहता है। उस **विष्णवे स्वाहा**=उदार मनोवृत्ति के लिए निःस्वार्थ बन जो **शिपिविष्टाय**=(शिपिषु अक्रोशत्सु प्राणिषु प्रविष्टाय—द०) उन-उन क्लेशों से पीड़ित व क्रन्दन करते हुए प्राणियों में प्रवेश करता है तथा अज्ञानवश उनसे किये गये आक्रोशों का ध्यान न करते हुए उनके हित में लगा रहता है। ये 'विष्णु' वृत्तिवाले लोग 'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्' लोगों से दी गई गालियों को सदा सहते हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु के लिए अपना अर्पण करें जो आनन्दस्वरूप है। स्वरूप के स्मरण के लिए हमारा चिन्तन हो, मन प्रजापति में लगा हो, ज्ञान की रुचि हो, अदीना देवमाता, सरस्वती, पूषा, त्वष्टा व विष्णु के हम आराधक बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देव-सख्य मित्रता

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।

विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥२१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' है। कल्याण को प्राप्त उत्तम स्थितिवाला, काम-क्रोध-लोभ से दूर। इसका मन्तव्य है कि **विश्वः**=इस संसार में प्रविष्ट **मर्तः**=मनुष्य **नेतुः**=सबका प्रणयन करनेवाले **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सख्यम् वुरीत**=मित्रता का वरण करे। संसार में प्रकृति की मित्रता का वरण करके ही मनुष्य उसके पाँवों तले रौंदा जाता है। २. परंन्तु संसार के इस स्वरूप को देखता हुआ भी **विश्वः**=सब मनुष्य **रायः**=धनों को ही **इषुध्यति**=चाहता है। धन का दास बनकर मनुष्य सचमुच अपना दासत्व=क्षय (दसु उपक्षये) सिद्ध कर लेता है। यह लक्ष्मी का वाहन उल्लू बन जाता है 'उत्=उत्कर्षं लुनाति'=यह अपने सब उत्कर्ष को खो बैठता है। इसका धन का दास बनना इसके निधन (मृत्यु) का कारण हो जाता है। ३. यह भी ठीक है कि इस संसार में धन के बिना कोई कार्य नहीं चलता, अतः वेद कहता है कि **द्युम्नम्**=इस यज्ञ के कारणभूत धन का भी **वृणीत**=वरण करो, परन्तु **पुष्यसे**=उतना ही जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वरण किया गया धन हमारे पतन का कारण नहीं बनता, उसी प्रकार जैसे भोजन शरीर का रक्षण ही करता है। यह अतिभोजन ही है जो शरीर को हानि पहुँचाता है। ४. अतः हम धन के दास न बन जाएँ, इसके लिए हम **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की वृत्तिवाले बनें।

भावार्थ—इस संसार में हमारी उत्तम स्थिति व कल्याण तभी होगा जब हम प्रभु की मित्रता का वरण करेंगे और धन के दास न बन जाएँगे। धन को हम उतना ही चाहें जितना कि शरीर-पोषण के लिए आवश्यक हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—लिङ्गोक्ताः। छन्दः—स्वराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

आदर्श राष्ट्र

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥२२॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार धन का दास न बनकर प्रभु का मित्र बनने पर राष्ट्र कैसा बनेगा' इसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे **ब्रह्मन्**=हमारी सब वृद्धियों के कारणभूत परमात्मन्! आपकी कृपा से **राष्ट्रे**=हमारे राष्ट्र में **ब्राह्मणः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **ब्रह्मवर्चसी**=यज्ञाध्ययनशील **आजायताम्**=पूर्ण रूप से हो, अर्थात् हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण सदा यज्ञों में व अध्ययन में प्रवृत्त रहें, उनकी रुचि यज्ञाध्ययन की ही हो। २. **राजन्यः**=क्षत्रिय **शूरः**=शूर हो, 'शूर विक्रान्तौ', वीरता के कर्म करनेवाला हो। **इषव्यः**=(इषुषु साधुः) अस्त्रविद्या में कुशल हो। **अतिव्याधी**=शत्रुओं को अतिशयेन विद्ध करनेवाला हो। **महारथः**=यह महारथ **जायताम्**=हो, अकेला ही हज़ारों के साथ युद्ध करने की क्षमता रखता हो। ३. वैश्यों के ठीक कार्य करने के कारण इस राष्ट्र में **धेनुः दोग्ध्री**=गौवें बड़ी दुधार हों, **अनड्वान् वोढा**=बैल भारवहन-क्षम हो, **सप्तिः आशुः**=घोड़े शीघ्रता से अपने मार्ग का व्यापन करनेवाले हों। ४. घरों में **योषा**=पत्नी **पुरन्धिः**=रूपादिगुण समन्वित शरीर को धारण करनेवाली हो अथवा (पुरुम् दधाति—द०) बहुत का, घर के सब सभ्यों का धारण करनेवाली हो। ५. **अस्य यजमानस्य**=इस यज्ञशील पुरुष का **वीरः**=पुत्र—सन्तान **जिष्णुः**=सदा जयशील, विजेता बने, **रथेष्ठाः**=रथे स्थितः=सदा रथ पर आरूढ़ होनेवाला हो, **सभेयः**=(सभायां साधुः) सभ्य व्यवहारवाला हो। संक्षेप में सन्तान वीर, विजेता, रथेष्ठ व सभ्य बने। इस शरीररूप रथ को पूर्णरूप से वश में करनेवाले हो। ६. **नः निकामे-निकामे**=(नितरां कामनायां सत्याम्—म०) हमारी निश्चित कामना होने पर **पर्जन्यः वर्षतु**=बादल वर्षा करनेवाले हों। जब-जब हमें अन्नादि के दृष्टिकोण से वर्षा की आवश्यकता हो तब-तब हमारे राष्ट्र में पर्जन्यदेव वृष्टि करनेवाले हों। वस्तुतः जब राष्ट्र में ब्राह्मणादि वर्ग अपना कार्य ठीक से नहीं करता तब अनावृष्टि आदि आधिदैविक आपत्तियाँ आया करती हैं। बादलों के ठीक बरसने से **नः ओषधयः**=हमारी सब ओषधियाँ **फलवत्यः**=फलवाली होकर **पच्यन्ताम्**=परिपक्व हों और इस प्रकार **नः**=हमारा **योगक्षेमः**=योगक्षेम **कल्पताम्**=क्लृप्त हो, सिद्ध हो। अप्राप्त की प्राप्ति 'योग' है, प्राप्त का रक्षण 'क्षेम' है। आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि व उनका रक्षण 'योगक्षेम' कहलाता है। 'राष्ट्र में सबका 'योगक्षेम' ठीक से चले, यही राष्ट्र की उत्तमता है। आदर्श राष्ट्र यही है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य' सब अपना कार्य ठीक से करें। श्रमिक लोग अपने कृषि आदि कार्यों को ठीक से करनेवाले हों। हमारे सन्तान उत्तम हों। राष्ट्र में सबका योगक्षेम ठीक से चले।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राणादयः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्राण-चक्षु-मन

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा॥२३॥

१. गतमन्त्र के आदर्श राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह **प्राणाय स्वाहा**=प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। २. **अपानाय स्वाहा**=अपानशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। ३. **व्यानाय स्वाहा**=व्यानशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। शरीर में प्राणशक्ति बल देती है, अपानशक्ति दोषों को दूर करती है तथा व्यान सारे शरीर में नाड़ी-संस्थान का शासन करती हुई उसे ठीक रखती है। यज्ञशील पुरुष के 'प्राणापानव्यान' सब ठीक रहते हैं। ४. **चक्षुषे स्वाहा**= दृष्टिशक्ति के ठीक रखने के लिए तू यज्ञशील हो और स्वार्थ की भावना से ऊपर उठ। **श्रोत्राय स्वाहा** =इसी प्रकार श्रोत्रशक्ति को ठीक रखने के लिए भी तू यज्ञशील हो और स्वार्थ को छोड़नेवाला बन। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष की सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक रहती हैं और उसकी ज्ञानसाधना में उचित रूप से सहायक बनती हैं। स्वार्थ की भावना इनको अपवित्र व क्षीणशक्ति कर देती है और मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है। ५. **मनसे स्वाहा**=मन की मननशक्ति की वृद्धि के लिए तू यज्ञशील बन और स्वार्थत्याग की वृत्तिवाला हो। स्वार्थ मन को भी मलिन कर देता है और मलिन मन में विचारशक्ति नहीं रहती।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यज्ञियवृत्तिवाले बनें, जिससे हमारे 'प्राणापानव्यान' ठीक रहें, चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान-ग्रहण-क्षम हों तथा हमारा मन मननशील हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**दिशः**। छन्दः—**विराडतिधृतिः**[क]। स्वरः—**षड्जः**॥

विश्व का सौन्दर्य

प्राच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॒ दक्षि॑णायै दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॒ प्र॒तीच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहोदी॑च्यै दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहो॒र्ध्वायै॑ दि॒शे स्वहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहावा॑च्यै दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॑ ॥२४॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही विस्तार से इस अध्याय की समाप्ति तक कहेंगे। जब मनुष्य की वृत्ति यज्ञिय व स्वार्थ से ऊपर उठी हुई होती है तब उसके लिए सारा संसार सुन्दर हो जाता है। अपनी वृत्ति खराब होने पर संसार भी उसके लिए खराब हो जाता है, अतः कहते हैं कि **प्राच्यै दिशे स्वाहा**=पूर्व दिशा के लिए यज्ञशील बन। 'यह दिशा तेरे लिए सुन्दर हो' इसके लिए तू स्वार्थ से ऊपर उठ। **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=पूर्व दिशा की उपदिशा के लिए भी तू यज्ञशील बन। २. इसी प्रकार **दक्षिणायै दिशे स्वाहा**=दक्षिण दिशा के सौन्दर्य के लिए तू यज्ञ करनेवाला बन। **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=इस दक्षिण की उपदिशा के लिए भी यज्ञशील बन। ३. **प्रतीच्यै दिशे स्वाहा**=पश्चिम दिशा के लिए तू यज्ञिय हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=पश्चिम की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ४. **उदीच्यै दिशे स्वाहा**=उत्तर दिशा के सौन्दर्य के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=उत्तर की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ५. **ऊर्ध्वायै दिशे स्वाहा**=ऊर्ध्व दिशा के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=ऊर्ध्व की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ६. **दिशे स्वाहा**=नीचे की दिशा के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=नीचे की उपदिशा के लिए तू यज्ञशील हो।

भावार्थ—यज्ञिय व निःस्वार्थ वृत्ति के द्वारा हमारा यह संसार आगे-पीछे, दायें-बायें व ऊपर-नीचे सब ओर से सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाता है। आसुरवृत्ति ने ही संसार को मलिन किया हुआ है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—जलादयः। छन्दः—अष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

जलों का नैर्मल्य

अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहोदकाय स्वाहा तिष्ठन्तीभ्यः स्वाहा स्रवन्तीभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा कूप्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा धार्याभ्यः स्वाहार्णवाय स्वाहा समुद्राय स्वाहा सरिराय स्वाहा ॥२५॥

१. **अद्भ्यः स्वाहा**=सर्वत्र व्याप्त जलों के लिए हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठकर यज्ञियवृत्तिवाले बनें। जब हम स्वार्थ व ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं तब ये जल भी हमारे लिए अधिक गुणकारी हो जाते हैं। यह वृत्ति इन जल व ओषधियों को हमारे लिए 'सुमित्रिय' बनाती है। द्वेषार्ह व ईर्ष्यालु के लिए ये दुर्मित्रिय हो जाती है। ईर्ष्या-द्वेष के साथ पिया हुआ पानी व खाया हुआ अन्न हमारे अन्दर विषों को जन्म देता है, अतः यज्ञिय वृत्तिवाले बन इन जलों को हम अपने लिए अमृत बनानेवाले हों। २. **वार्भ्यः स्वाहा**=रोगों का निवारण करनेवाले उत्तम जलों के लिए हम यज्ञशील हों। ३. **उदकाय स्वाहा**=वाष्परूप से ऊपर उठते जलों के लिए हम यज्ञशील हों। वाष्पीभूत होकर जो जल फिर द्रवीभूत किया जाता है उसे उदक कहते हैं। 'वह हमारे लिए उत्तम हो', इसके लिए हम यज्ञ करते हैं। ४. **तिष्ठन्तीभ्यः**=स्थिर जलों के लिए **स्वाहा**=हम यज्ञ करते हैं और ५. **स्रवन्तीभ्यः स्वाहा**=स्रोतोंरूप जलों के लिए यज्ञ हो। ६. **स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा**=प्रवाहित होते हुए जलों के लिए यज्ञ हो। ७. **कूप्याभ्यः**=कूप के जलों के लिए यज्ञ हो। ८. **सूद्याभ्यः**=(सूद=spring) झरने के जलों के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। ९. **धार्याभ्यः स्वाहा**=बाँध आदि बनाकर धारण किये गये जलों के लिए यज्ञ हो। १०. **अर्णवाय स्वाहा**=बड़ी झीलवाले (Lake) जलों के लिए यज्ञ हो। ११. **समुद्राय स्वाहा**=समुद्र के जल की शुद्धि के लिए यज्ञ हो तथा १२. **सरिराय स्वाहा**=वृष्टिजल के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञ के द्वारा ये सब जल बड़े शुद्धरूप में हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—मनुष्य की वृत्ति जब निःस्वार्थ व यज्ञशील होती है तब उसके लिए सब जल सुमित्रिय=कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वातादयः। छन्दः—विराडभिकृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

वात-विमलता (वायुशुद्धि) व वृष्टि

वाताय स्वाहा धूमाय स्वाहाभ्राय स्वाहा मेघाय स्वाहा विद्योतमानाय स्वाहा स्तनयते स्वाहावस्फूर्जते स्वाहा वर्षते स्वाहावर्षते स्वाहोग्रं वर्षते स्वाहा शीघ्रं वर्षते स्वाहोद्गृह्णते स्वाहोद्गृहीताय स्वाहा प्रुष्णते स्वाहा शीकायते स्वाहा प्रुष्वाभ्यः स्वाहा ह्रादुनीभ्यः स्वाहा नीहाराय स्वाहा ॥२६॥

१. **वाताय स्वाहा**=सदा बहनेवाली वायु के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञों से शुद्ध हुई-हुई वायु हमारे जीवन के लिए बहे। २. **धूमाय स्वाहा**=धूम के लिए यज्ञ हो। अग्नि में आहुत द्रव्य सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर जब जलवाष्प के साथ इधर-उधर उड़ते हैं तब वह धूम कहलाता है। आकाश में पहुँचकर यही अभ्र व मेघ के रूप में हो जाता है। ३. **अभ्राय स्वाहा**=इस 'अभ्र' के लिए—सूक्ष्म मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **मेघाय स्वाहा**=मेघों के लिए यज्ञक्रिया हो। ५. **विद्योतमानाय स्वाहा**=चमकते हुए मेघ के लिए अथवा विद्युत् से

युक्त मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **स्तनयते स्वाहा**=गर्जना करते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ७. **अवस्फूर्जते स्वाहा**=(अधो वज्रवद्घातं कुर्वते—द०) बिजली को नीचे गिराते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **वर्षते स्वाहा**=वर्षा करते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ९. **अववर्षते स्वाहा**=नीचे झुककर बरसनेवाले मेघों के लिए यज्ञक्रिया हो। १०. **उग्रं वर्षते स्वाहा**=बड़े ज़ोर से बौछार के रूप में बरसते हुए मेघ के लिए यज्ञ हो। ११. **शीघ्रं वर्षते स्वाहा**=तेज़ी से बरसते हुए मेघ के लिए यज्ञ हो। १२. **उद्गृह्णते स्वाहा**=जलों को ऊपर ग्रहण करनेवाले मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। १३. **उद्गृहीताय स्वाहा**=जो जलों को ऊपर ग्रहण कर चुका है उस मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। जब बादल अधिक-से-अधिक पानी को अपने अन्दर ले-चुकता है और बरसने लगता है तब वह उद्गृहीत कहलाता है, उस बादल के लिए यज्ञ की क्रिया हो। १४. **प्रुष्णते स्वाहा**=स्थूल बिन्दुओं में बरसनेवाले मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। १५. **शीकायते स्वाहा**=संयम करनेवाले बादल के लिए यज्ञक्रिया हो। १६. **प्रुष्वाभ्यः**=परिपूर्ण घनघोर वर्षा करनेवाले बादलों के लिए यज्ञक्रिया हो। १७. **ह्रादुनीभ्यः स्वाहा**=अधिक गड़गड़ाहट करते हुए बादलों के लिए यज्ञक्रिया हो। १८. **नीहाराय स्वाहा**=कुहरे के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—हम यज्ञादि उत्तम क्रियाओं को करनेवाले बनें, जिससे वायुमण्डल की शुद्धि हो, वृष्टि आदि यथासम्भव ठीक प्रकार से हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

अग्नीषोमात्मक जगत् का माधुर्य

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेन्द्राय स्वाहा पृथिव्यै स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा दिग्भ्यः स्वाहाशाभ्यः स्वाहोर्व्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा ॥२७॥

१. अग्नितत्त्व को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। स्वार्थ से ऊपर उठकर हमारा आहार-विहार चलेगा तो हममें अग्नितत्त्व की वृद्धि होगी। यह अग्नितत्त्व प्रकाश व प्रचण्डता का प्रतीक है। यज्ञशील होने पर हमारे भोजन के सात्त्विक होने से जाठराग्नि भी ठीक होगी। २. **सोमाय स्वाहा**=सोमतत्त्व की वृद्धि के लिए हम यज्ञशील हों। यह सोमतत्त्व शान्ति व शक्ति का प्रतीक है। इन अग्नि व सोमतत्त्व के मेल होने पर ही सारा माधुर्य उत्पन्न होता है। ३. **इन्द्राय स्वाहा**=इन्द्रियशक्ति के विकास के लिए हम यज्ञशील हों। यज्ञ व स्वार्थत्याग से विपरीत स्वार्थपरता भोगवाद को बढ़ाती है और इन्द्रशक्ति को क्षीण करती है। ४. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस शरीररूप पृथिवी को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। ५. **अन्तरिक्षाय स्वाहा**=हृदयान्तरिक्ष को ठीक रखने के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **दिवे स्वाहा**=मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखने के लिए यज्ञ हो। ७. **दिग्भ्यः स्वाहा**=सब दिशाओं को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। ८. **आशाभ्यः स्वाहा**=सब उपदिशाओं को ठीक रखने के लिए यज्ञ की क्रिया हो। ९. **उर्व्यै दिशे स्वाहा**=इस अत्यधिक दूरी तक फैली हुई दिशा के लिए यज्ञक्रिया हो, तथा १०. **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=समीप वर्त्तमान दिशा के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—हममें यज्ञिय वृत्ति होने पर जहाँ हमारा जीवन अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों के ठीक मेल से बड़ा मधुर बनेगा वहाँ दूर-से-दूर व समीप-से-समीप वर्त्तमान सब दिशाएँ हमारे लिए सुन्दर होंगी।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—नक्षत्रादयः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

यज्ञ से ईति निवारण व सुकाल

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा नक्षत्रियेभ्यः स्वाहाहोरात्रेभ्यः स्वाहार्धमासेभ्यः स्वाहा मासेभ्यः स्वाहऽऋतुभ्यः स्वाहार्त्तवेभ्यः स्वाहा संवत्सराय स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा चन्द्राय स्वाहा सूर्याय स्वाहा रश्मिभ्यः स्वाहा वसुभ्यः स्वाहा रुद्रेभ्यः स्वाहादित्येभ्यः स्वाहा मरुद्भ्यः स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा॥ २८॥

१. **नक्षत्रेभ्य स्वाहा**=नक्षत्रों के लिए यज्ञक्रिया हो। इन नक्षत्रों से किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति की हमारे लिए आशंका न रहे, इसके लिए हम यज्ञ करनेवाले बनें। **नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा**=इन नक्षत्रों में रहनेवाले प्राणियों से हमारा अविरोध हो, इसके लिए हम यज्ञ की वृत्तिवाले बनें। जैसे समीप के देशों से हम मित्रभाव चाहते हैं, उसी प्रकार इन नक्षत्रों में रहनेवाले प्राणियों से भी हमारा विरोध न हो। इस सबके लिए चाहिए यही कि हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठें। ३. **अहोरात्रेभ्यः स्वाहा**=दिन व रात की उत्तमता के लिए हम यज्ञशील हों। ४. **अर्धमासेभ्यः स्वाहा**=अर्धमासों के लिए—शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष के उत्तम होने के लिए हम यज्ञशील बनें। ५. **मासेभ्यः स्वाहा**=मासों के सौन्दर्य के लिए हम यज्ञशील बनें। ६. **ऋतुभ्यः स्वाहा**=ऋतुओं की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। ७. **अर्तवेभ्यः स्वाहा**=ऋतुजन्य पदार्थों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। ८. **संवत्सराय स्वाहा** =वर्ष के लिए हम यज्ञशील हों। यज्ञ के द्वारा हमारा सारा वर्ष सुन्दर-ही-सुन्दर व्यतीत हो। यज्ञों के होने पर सम्पूर्णकाल हमारे लिए अनुकूल-ही-अनुकूल हो। काल ही क्या, ९. **द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**=द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील बनें। १०. **चन्द्राय स्वाहा**=चन्द्र की अनुकूलता के लिए हम यज्ञों को अपनाएँ। ११. **सूर्याय स्वाहा**=सूर्य की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील बनें। १२. **रश्मिभ्यः स्वाहा**=सूर्य व चन्द्र की किरणों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञ करनेवाले बनें। १३. **वसुभ्यः स्वाहा, रुद्रेभ्यः स्वाहा, आदित्येभ्यः स्वाहा**=वसुओं, रुद्रों व आदित्यों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञियवृत्तिवाले बनें। १४. **मरुद्भ्यः**=४९ प्रकार के मरुतों—वायुओं की शुद्धता के लिए **स्वाहा**=हम यज्ञ करें। १५. **विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा**=सब देवताओं की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। १६. **मूलेभ्यः स्वाहा**=वृक्षों के मूलों के लिए यज्ञ हो। १७. **शाखाभ्यः स्वाहा**=शाखाओं के लिए यज्ञ हो। १८. **वनस्पतिभ्यः स्वाहा**=वनस्पतियों के लिए यज्ञ हो। १९. **पुष्पेभ्यः स्वाहा**=फूलों के लिए यज्ञ हो। २०. **फलेभ्यः स्वाहा**=फलों के लिए यज्ञ हो। २१. **ओषधीभ्यः स्वाहा**=ओषधियों के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञों के द्वारा वृष्टि होकर सिंची हुई ये वनस्पतियाँ व ओषधियाँ तथा फल और फूल सब हमारे लिए अनुकूल व गुणकारी हों।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा सब लोकों की हमारे साथ अनुकूलता होकर हमें सब ऋतुओं का सौन्दर्य प्राप्त होता है। सूर्य-चन्द्रादि देव तथा वसु, रुद्र, आदित्य व मरुत् आदि देवगण हमारे अनुकूल होते हैं। सब देवताओं की अनुकूलता के साथ सब ओषधि-वनस्पतियाँ हमारे लिए हितकर होती हैं और हम कभी आधिदैविक आपत्तियों के शिकार नहीं होते।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—लिङ्गोक्ताः। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

लोकत्रयी की अनुकूलता

पृथिव्यै स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा ॥२९॥

१. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस पृथिवीलोक के सौन्दर्य के लिए यज्ञक्रिया हो। २. **अन्तरिक्षाय स्वाहा**=अन्तरिक्षलोक की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ३. **दिवे स्वाहा**=द्युलोक की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **सूर्याय स्वाहा, चन्द्राय स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा**= सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ५. **अद्भ्यः स्वाहा, ओषधीभ्यः स्वाहा, वनस्पतिभ्यः स्वाहा**=जलों, ओषधियों व वनस्पतियों की उत्तमता के लिए यज्ञ हों। ६. **परिप्लवेभ्यः**=जलों में चतुर्दिक् तैरनेवाले प्राणियों की अनुकूलता के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। **चराचरेभ्यः स्वाहा**=निरन्तर चरणशील प्राणियों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। **सरीसृपेभ्यः स्वाहा**=रेंगनेवाले छिपकली, सर्प आदि प्राणियों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—यज्ञों से सब लोक, सब देव, सब वनस्पति, ओषधि व सब प्राणी हमारे अनुकूल होंगे। हमारी वृत्ति यज्ञिय होगी तो सारा संसार हमारे अनुकूल होगा।

नोट—प्रस्तुत मन्त्र में ये त्रिक द्रष्टव्य हैं—

पृथिवी	सूर्य	जल	परिप्लव
अन्तरिक्ष	चन्द्र	ओषधि	चराचर
द्युलोक	नक्षत्र	वनस्पति	सरीसृप

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वस्वादयः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

शरीर की उत्तमता

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहाभिभुवे स्वाहाधिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सꣳसर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवा पतयते स्वाहा ॥३०॥

१. **असवे स्वाहा**=प्राणों के लिए यज्ञक्रिया हो। २. **वसवे स्वाहा**=शरीर में वास करनेवाले वासकतत्त्वों के लिए यज्ञ हो। ३. **विभुवे स्वाहा**=व्यापक वायुतत्त्व के लिए यज्ञ हो। ४. **विवस्वते स्वाहा**=किरणों के द्वारा पालन करनेवाले सूर्य के लिए यज्ञ हो। ५. **गणश्रिये स्वाहा**=शरीर में जो 'ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण' आदि के गण हैं अथवा 'वसु, रुद्र, आदित्य व मरुत्' आदि देवों के गण हैं, उनकी शोभा के लिए यज्ञ हो। ६. **गणपतये**=शरीर में होनेवाले इन सब गणों के पति के लिए यज्ञ हो। ७. **अभिभुवे स्वाहा**=सब शत्रुओं के पराजय करनेवाले के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **अधिपतये**=सब इन्द्रियादि का स्वामी बननेवाले के लिए यज्ञ हो। ९. **शूषाय**=शत्रुओं के शोषक बल के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। १०. **संसर्पाय स्वाहा**=संसर्पण के लिए, जीवन के अन्त तक ठीक गति चलती रहे, इसके लिए यज्ञ हो। ११. **चन्द्राय**=अह्लादमयता के लिए यज्ञ हो। १२. **ज्योतिषे**=अन्तःप्रकाश के लिए यज्ञ हो। १३. **मलिम्लुचाय स्वाहा**=चोर के लिए यज्ञ हो, स्वार्थ को छोड़ने की क्रिया हो। उदाहरणार्थ एक चोर चोरी का दण्ड भोगकर घर लौटता

है। उसे यदि समाज कुछ स्वार्थत्याग करके जीवन में स्थापित करने का प्रयत्न करती है तो वह फिर चोर नहीं रह जाता। १४. **दिवा पतयते स्वाहा**=दिन के पति के लिए यज्ञक्रिया हो। 'हम दिन के अधिपति बने रहें। दिन हमारा अधिपति न बन जाए', इसके लिए हम सदा यज्ञादि उत्तम क्रियाओं में लगे रहें।

भावार्थ—यज्ञों से हम अपने जीवन को अत्युत्तम बना पाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**मासाः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मास त्रयोदशी व संवत्सर की अनुकूलता

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहांꣳहसस्पतये स्वाहा ॥३१॥

१. **मधवे**=पुष्परसों के कारण अत्यन्त मधुर चैत्रमास के लिए, इस मास में वायुमण्डल में ojone का अंश अधिक होता है, अतः यह चैत्रमास स्वास्थ्य के लिए भी अत्यन्त मधुर है, उस चैत्रमास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। यज्ञों के द्वारा यह मास हमारे स्वास्थ्य के अनुकूल हो। २. **माधवाय स्वाहा**=चारों ओर पुष्पों की शोभा के कारण **मा**=लक्ष्मी के **धव**=पतिरूप इस वैशाख मास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। ३. **शुक्राय स्वाहा**=(शुच्) पसीने आदि के द्वारा मल को निकालकर पवित्र करनेवाले इस ज्येष्ठमास के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **शुचये**=पसीने आदि से मलों को दूर करके शरीर को दीप्त करनेवाले इस आषाढ़ मास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। ५. **नभसे स्वाहा**=(नभ हिंसायाम्) सब रोगों व रोगकृमियों को समाप्त करनेवाले अथवा सन्ताप को दूर करनेवाले इस श्रावण मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **नभस्याय स्वाहा**=बुराई को समाप्त करने में उत्तम इस भाद्रपद मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ७. **इषाय स्वाहा**=सब अन्नों के परिपाकवाले अथवा वर्षभर निरन्तर गति के कारणभूत इस अश्विन मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **ऊर्जाय स्वाहा**=बल और प्राणशक्ति का उपचय करनेवाले इस कार्तिक मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ९. **सहसे स्वाहा** =सहनशक्ति व बल की वृद्धि के कारणभूत मार्गशीर्ष मास के लिए स्वार्थत्याग हो। १०. **सहस्याय स्वाहा**=बलोपचय में उत्तम पौष मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ११. **तपसे स्वाहा**=जिसमें सन्त लोग तप को महत्त्व देते हैं, उस माघ मास के लिए यज्ञ हो। १२. **तपस्याय स्वाहा**=तप करने के लिए सर्वोत्तम इस फल्गुन मास के लिए यज्ञक्रिया हो और इन बारह मासों के अतिरिक्त चन्द्र गणना के अनुसार तेरहवें मास **अंहसस्पतये स्वाहा**=अहंसस्पति के लिए भी यज्ञ हो। यह सामान्य भाषा में 'मलमास' कहलाता है, क्योंकि यह तीसरे-चौथे वर्ष के बीच में यूँही आ जाता है। इस मास को भी हम दैनिक यज्ञ के द्वारा सुखदायी बना पाएँ।

भावार्थ—याज्ञिक वृत्ति के द्वारा हमारे वर्ष के सारे ही मास बड़े सुन्दर बीतें। हमारा सारा वर्ष शुभ-ही-शुभ हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वाजादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सात्त्विक अन्न व सात्त्विक बुद्धि

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा स्वः स्वाहा मूर्ध्ने स्वाहा व्यश्नुविने स्वाहान्त्याय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥३२॥

१. **वाजाय स्वाहा**=(अन्नं=वाजः—श० ५।१।१।१६) अन्न के लिए यज्ञक्रिया हो। (**यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः**' गीता) यज्ञ से बादल होकर अन्न होता है, अतः इस अन्न की प्राप्ति के लिए हमारी यज्ञक्रिया ठीक से होती रहे। २. **प्रसवाय स्वाहा**='प्रसव' का शब्दार्थ अन्न व अन्न का होना ही है। उस प्रसव के लिए यज्ञक्रिया हो। ३. **अपिजाय स्वाहा**=दुबारा उत्पन्न होनेवाले (Born again) अन्नों के लिए यज्ञक्रिया हो अथवा (अप्सु जायते) जलों में होनेवाले अन्नों के लिए यज्ञ हो। ४. **क्रतवे स्वाहा**=शक्ति के लिए यज्ञ हो। उत्तम अन्नों से ही शक्ति प्राप्त होगी। ५. **स्वः स्वाहा**=सुख-प्राप्ति के लिए व प्रकाश के लिए यज्ञ हो। सात्त्विक अन्नों के सेवन से बुद्धि शुद्ध होगी और प्रकाश की प्राप्ति होगी। ६. **मूर्ध्ने स्वाहा**=मस्तिष्क के लिए यज्ञ हो। सात्त्विक अन्न बुद्धि को भी निर्मल करेगा। ७. **व्यश्नुविने स्वाहा**=शरीर में व्याप्त होनेवाले वीर्य के लिए यज्ञ हो। ८. **आन्त्याय भौवनाय स्वाहा**=सबसे अन्त में होनेवाले, सब प्राणियों के लिए हितकर ओज के लिए यज्ञ हो। शरीर में रस-रुधिरादि क्रम से वीर्य उत्पन्न होता है। उसका भी सार यह ओज है। यह सबसे अन्त में होनेवाला है। प्राणिमात्र के लिए यह हितकर है। ९. **भुवनस्य पतये स्वाहा**=भुवन के पति के लिए यज्ञ हो, अर्थात् सब प्राणियों की रक्षा करनेवाले के लिए यज्ञ हो। यज्ञ होने की भावना होने पर ही कोई व्यक्ति सब प्राणियों का रक्षक बन सकता है। १०. **अधिपतये स्वाहा**=(मनो वै प्राणानामधिपतिः—श० १४।३।२।३) मन के लिए यज्ञ हो। वस्तुतः यज्ञिय भावना ही मन को स्वस्थ बनाती है। ११. **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापति के लिए यज्ञ हो। उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए यह यज्ञ की भावना आवश्यक है। यज्ञिय भावना से हम भी प्रजापति का छोटारूप बन जाते हैं।

भावार्थ—यज्ञ से ही हमें वह सात्त्विक अन्नं प्राप्त होता है जो हमारी शक्ति के वर्धन के साथ हमारी बुद्धि का भी वर्धक होता है। यह अन्न हमें सौम्य वीर्य को प्राप्त कराकर जितेन्द्रिय व लोकहित के कर्मों में लगनेवाला बनाता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—आयुरादयः। छन्दः—भुरिक्कृतिः[क], भुरिगतिधृतिः[र]।
स्वरः—निषादः, षड्जः॥

उत्तम जीवन

[क]आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहापानो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहोदानो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा समानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा [र]वाग्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा मनो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहात्मा यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा ॥३३॥

१. **आयुः**=सारा जीवन **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पताम्**=अलंकृत हो और शक्तिसम्पन्न बने। इसके लिए **स्वाहा**=मैं स्वार्थ की भावना का त्याग करूँ। २. **प्राणो यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी प्राणशक्ति यज्ञरूप उत्तम कर्मों से सशक्त बने, **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्व का त्याग करूँ। ३. **अपानो यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से मेरी अपानशक्ति समर्थ बने। **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्वार्थ से ऊपर उठूँ। ४. **व्यानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरी व्यानवायु यज्ञ के द्वारा सशक्त बने, इसके लिए मैं स्वार्थ को छोड़नेवाला होऊँ। ५. **उदानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=कण्ठदेशस्थ

उदानवायु यज्ञ से सशक्त बने, अतः मैं स्वार्थ को छोड़ूँ। ६. **समानो यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=शरीर में समता को स्थापित करनेवाली मेरी समानवायु यज्ञ से सशक्त बनें, अतः मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। ७. **चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मैं इसलिए स्व का त्याग करूँ कि मेरी आँख यज्ञ से शक्तिशाली बने। ८. **श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरा श्रोत्र यज्ञ के द्वारा शक्तिशाली बने, अतः मैं स्वार्थ को छोड़नेवाला बनूँ। ९. **वाग्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरी वाणी भी यज्ञ के द्वारा शक्तिशाली बने, इसके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। १०. **मनो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरा मन यज्ञ से सुभूषित हो व सशक्त बने, अतः मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। ११. **आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मैं यज्ञ से सुभूषित व सशक्त बनूँ, अतः मैं स्व का त्याग करता हूँ। १२. **ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=चतुर्वेदवेत्ता पुरुष भी यज्ञ से सुभूषित हो, अतः वह स्वार्थ से ऊपर उठे। १३. **ज्योतिः**=आत्मप्रकाश **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **कल्पताम्**=सिद्ध हो, **स्वाहा**=इसके लिए हम स्वार्थत्याग करें। १४. **स्वः यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=सुख यज्ञ के द्वारा सिद्ध हो, अतः हम स्वार्थ को छोड़ें। १५. **पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**='तेजो ब्रह्मवर्चसं श्रीर्वै पृष्ठानि'—ए० ६।५ हमारा तेज, ब्रह्मवर्चस व श्री यज्ञ के द्वारा सुभूषित व सशक्त हो, अतः हम स्वार्थ से ऊपर उठें। १६. **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**='यज्ञो वै विष्णुः'=वह यज्ञरूप प्रभु यज्ञ से सिद्ध हो, हमें प्राप्त हो, अतः हम स्वार्थ को छोड़कर जीवन को यज्ञिय बनाते हैं। **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**=देवता यज्ञ परमात्मा की उपासना यज्ञ से ही करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के द्वारा हमारा सारा जीवन, सब इन्द्रियशक्तियाँ, मन व बुद्धि सशक्त होते हैं। इसी से हम प्रभु की पूजा भी कर पाते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

निर्दोष सुखमय दीर्घ जीवन

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳬस्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥३४॥

१. **एकस्मै स्वाहा**=जीवन के प्रथम वर्ष की उत्तमता के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। वस्तुतः 'किस प्रकार माता का स्वार्थत्याग व तप बालक के प्रथम वर्ष को पूर्ण नीरोग बना सकता है' यह स्पष्ट है। माता का पूर्ण सात्त्विक भोजन व सात्त्विक क्रियाएँ बालक की नीरोगता के लिए आवश्यक हैं। २. **द्वाभ्यां स्वाहा** =जीवन के द्वितीय वर्ष की उत्तमता के लिए भी हम स्वार्थत्याग करते हैं। ३. इसी प्रकार तीन-चार-पाँच इस क्रम से **शताय स्वाहा**=पूरे सौवें वर्ष के लिए भी हम स्वार्थत्याग करते हैं और सौवें से भी ऊपर उठकर ४. **एक शताय स्वाहा**=एक सौ एकवें वर्ष के लिए भी हम स्वार्थ से ऊपर उठते हैं। ५. **व्युष्ट्यै स्वाहा**=(वि+उष दाहे) विशेषरूप से सब रोगों व दोषों को जलाने के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। ६. और इस प्रकार **स्वर्गाय** =(सुअर्ग) उत्तम कर्मों के अर्जन के लिए तथा इस लोक को सुखमय बनाने के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। स्वार्थत्याग से ही दीर्घजीवन भी प्राप्त होगा, दोषदहन होकर स्वर्ग का निर्माण होगा।

भावार्थ—हम यज्ञियवृत्तिवाले बनें, जिससे हमारा एक-एक वर्ष उत्तम बीते। हमारा जीवन निर्दोष तथा सुखमय हो।

सूचना—१. इस अन्तिम मन्त्र में 'एकशताय' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहा है कि जीवन

सौ वर्ष से ऊपर भी चलना ही चाहिए। 'भूयश्च शरदः शतात्' की भी यही भावना है।

२. यहाँ २३ से ३४ तक सब मन्त्रों की मूल भावना इतनी ही है कि यज्ञमय जीवन ही सब सुखों का साधक है। यज्ञों से ही जीवन व संसार उत्तम बनता है।

'इन यज्ञों को जिस प्रभुकृपा से हम सिद्ध कर पाएँगे अथवा जिस प्रभु की कृपा से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनेगी' उस प्रभु की उपासना से अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है। वस्तुतः यह उपासना स्वयं सर्वमहान् यज्ञ है, अतः यज्ञ से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ है।

इति द्वाविंशोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—परमेश्वरः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१॥

१. **हिरण्यगर्भः**=(हिरण्यं ज्योतिर्गर्भे यस्य) सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ जिसके गर्भ में हैं वह परमात्मा **अग्रे**=सृष्टि के बनने से पूर्व ही **समवर्त्तत**=है, अर्थात् वे प्रभु कभी बने नहीं। सदा से **जातः**=आविर्भूत हुए-हुए वे प्रभु **भूतस्य**=पृथिवी आदि भूतों को तथा सब भूतमात्र, सब प्राणियों के **एकः**=अद्वितीय **पतिः**=रक्षक हैं। अपने रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य चेतनसत्ता की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे अपने कार्य में पूर्ण सशक्त होने से 'सर्वशक्तिमान्' हैं। २. **सः**=वे प्रभु **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक से **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहा है। तीनों लोकों का धारण करने के कारण ही वे त्रिलोकीनाथ हैं। ३. **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=जीव के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु सदा से हैं, वे सबके रक्षक हैं। त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। उनकी उपासना त्यागपूर्वक उपभोग से, हवि के द्वारा ही होती है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—परमेश्वरः। छन्दः—निचृदाकृतिः। स्वरः—पञ्चमः।

सूर्य में प्रभु-दर्शन

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्यस्ते महिमा। यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः॥२॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह के द्वारा गृहीत होते हैं। जैसे उत्तम विवाहित पत्नी अनन्यभाव से पति का ही स्मरण करती है, उसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अनन्यभक्त बनता है, उस समय परमात्मा के साथ वह विवाहित-सा हुआ प्रतीत होता है और इस अनन्यभाव से भजन करने पर ही वह परमात्मा को ग्रहण कर पाता है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस यज्ञ को स्वीकार करता हूँ। यह यज्ञ तुझ प्रजापति के लिए प्रीतिपूर्वक सेवित होता है। प्रभु यज्ञरूप हैं, यज्ञ ही उन्हें प्रिय है, सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञसहित प्रजाओं को प्रभु ने उत्पन्न किया और कहा कि यह यज्ञ ही तुम्हारी वृद्धि का कारण बनेगा। वस्तुतः यह यज्ञ ही प्रजापति है। ३. **एषः**=यह यज्ञ का ग्रहण करनेवाला मैं **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान होता हूँ। मेरे हृदय में तेरा प्रकाश होता है। ४. हे प्रभो! यह **सूर्यः**=सूर्य **ते**=तेरी **महिमा**=महिमा है—तेरी महिमा का प्रतिपादन करनेवाला है। ५. हे प्रभो!

यः=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **अहन्**=दिन में **संवत्सरे**=वर्ष में **सम्बभूव**=है, **यः** =जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **वायौ**=वायु में **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **सम्बभूव**=है। **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **दिवि**=द्युलोक में तथा **सूर्ये**=सूर्य में **सम्बभूव**=है। **तस्मै**=उस तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए **देवेभ्यः च**=और देवों के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग हो, अर्थात् स्वार्थ का त्याग करके दिव्य वृत्ति को अपनाकर मैं भी प्रभु के समान महिमा को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ, प्रजापति बनता हूँ और दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनता हूँ। ६. विचारशील पुरुष के लिए क्या दिन में क्या वर्ष में, वायु में व अन्तरिक्ष में, सूर्य में व द्युलोक में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनन्यभक्ति हमें प्रभु-दर्शन करानेवाली हो। हम सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हुए सूर्य के समान तेजस्वी बनें। इस तेजस्विता की प्राप्ति के लिए स्वार्थत्याग करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ईश

यः प्रा॒ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ऽइद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑।
यऽईशे॑ऽअ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पद॒ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ ३॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करनेवाले तथा **निमिषतः**=सदा आँखों को बन्द करके रहनेवाले **जगतः**=दो भागों में विभक्त जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा**=नियन्त्रण करनेवाला है। संसार स्थूलतया दो भागों में विभक्त है। (क) मनुष्यादि प्राणी जो प्राणधारण कर रहे हैं तथा (ख) वृक्षादि जो सदा आँखों को बन्द करके सुप्तावस्था में हैं। प्रभु इस सम्पूर्ण संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उन्हें अपने इस शासनकार्य में किसी अन्य चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं ही शासन कर रहे हैं। उनकी महिमा महान् है। २. **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पैरवालों के, पक्षियों के तथा **चतुष्पदः**=चार पैरवाले पशुओं के **ईशे**=ऐश्वर्य का कारण है। शहद की मक्खियाँ जो शहद बनाती हैं, चील जो आकाश में घण्टों पंखों को फैलाये उड़ती रहती है, सिंह जो तीव्रतर धारा को सीधा पार कर जाता है, यह सब प्रभु का ही ऐश्वर्य है। मनुष्य परमेश्वर प्रदत्त वासना से न चलकर बुद्धि से चलता है। इस बुद्धि के विकास के साथ-साथ वह उन्नत होता चलता है और उन सब पशु-पक्षियों को पराजित करके आगे बढ़ जाता है। वास्तव में तो प्रभु ने मनुष्य के लिए उस-उस पशु-पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को आदर्श के रूप में रखा है कि तूने यहाँ पहुँचना है। उदाहरणार्थ **'वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः'**=जो अन्तरिक्ष में उड़ते हुए पक्षियों के उड़ने के तत्त्व को समझता है वह आकाशीय विमान और समुद्र में चलनेवाली नौकाओं को भी बना सकता है। ३. इस पशु-पक्षियों में ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले **कस्मै**=आनन्द-स्वरूप **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें।

भावार्थ—प्रभु द्वारा पशु-पक्षियों में प्राप्त करायी गई उस-उस प्रवीणता को हम भी प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके लिए प्रभु का उपासन करें, प्रभु के उपासन के लिए 'हविर्भुक्' बनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—परमेश्वरः। छन्दः—विकृतिः। स्वरः—मध्यमः।

चन्द्र में प्रभु-दर्शन

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा। यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा॥४॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह द्वारा गृहीत होते हैं। पत्नी जिस प्रकार पति का, उसी प्रकार अनन्यभाव से जब हम आपका भजन करते हैं तब आपका ग्रहण कर पाते हैं। अनन्यभजन ही आपकी प्राप्ति का प्रधान साधन है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टम्**=तुझ प्रजापति के लिए अत्यन्त प्रिय इस यज्ञ को **गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। प्रभु हमें सदा इस 'श्रेष्ठतम कर्म'=यज्ञ की प्रेरणा देते हैं। ३. हे प्रभो! इस तेरे प्रिय यज्ञ का सेवन करनेवाला **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा स्थान बनता हूँ। मेरा हृदय आपका निवासस्थान बनता है। ४. **चन्द्रमाः**=यह चन्द्रमा **ते महिमा**=तेरी महिमा है। ५. **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **रात्रौ**=रात्रि में **संवत्सरे**=संवत्सर में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर तथा **अग्नौ**=अग्नि में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **नक्षत्रेषु**=नक्षत्रों में **चन्द्रमसि**=और चन्द्रमा में **सम्बभूव**=है, **तस्मै**=उस **ते**=तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए, **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए, यज्ञ के लिए तथा **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम स्वार्थत्याग करते हैं। स्वार्थत्याग के अनुपात में ही हमें महिमा प्राप्त होगी, हम प्रजापति बन सकेंगे तथा दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का ग्रहण अनन्यभाव से प्रभु का भजन करने पर होता है। चन्द्रमा में प्रभु-दर्शन करते हुए हम सचमुच अपने मनों को चन्द्रमा के समान शीतल, ज्योत्स्नावान् बनाएँ, आह्लादमय बनाएँ। इस आह्लादमयता के लिए हम स्वार्थ से ऊपर उठें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—परमेश्वरः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ब्रध्न-योग

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥५॥

१. गतमन्त्र के 'उपयाम' व प्रभु से विवाह, प्रभु के ही अनन्यभाव से भजन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **युञ्जन्ति**=ये उपासक उस प्रभु को अपने साथ जोड़ते हैं। किस प्रभु को (क) **ब्रध्नम्**=जो महान् हैं। प्रभु महत्ता की चरम सीमा हैं, प्रभु से अधिक महान् कोई नहीं। (ख) **अरुषम्**=जो (अ+रुषम्) क्रोध नहीं करता है व आरोचमान—सर्वतो देदीप्यमान हैं। (ग) जो **परितस्थुषः**=चारों ओर स्थित पदार्थों में **चरन्तम्**=विचरण कर रहे हैं, अर्थात् जो पदार्थमात्र में विद्यमान हैं। (घ) और जिस प्रभु की शक्ति से **दिवि**=द्युलोक में **रोचना**=देदीप्यमान सूर्यादि पदार्थ **रोचन्ते**=चमक रहे हैं। इस सूर्यादि के चमकानेवाले प्रभु को अपने साथ जोड़के यह उपासक भी उन्हीं की भाँति चमकने लगता है।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु को अपने साथ जोड़ना ही योग है। वे प्रभु महान् हैं, आरोचमान हैं, चारों ओर स्थित पदार्थों में विद्यमान हैं, उसी प्रभु की शक्ति से द्युलोक में सूर्यादि पदार्थ देदीप्यमान हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रथ-योजन

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥६॥

१. ये उपासक लोग **रथे**=शरीररूप रथ में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। रथ में जुतकर ही ये घोड़े इसकी यात्रा को पूर्ण करवाने में सहायक होंगे। जो घोड़े सदा चरते ही रहते हैं उनकी क्या उपयोगिता? इसी प्रकार जो इन्द्रियाश्व भोगों को ही भोगने में लगे हैं वे स्पष्ट ही व्यर्थ हैं। वे दस-के-दस जब रथ में जुते होते हैं तो हम 'दश-रथ' बनते हैं। जब ये भोगने में लगते हैं और मुख बन जाते हैं तब हम 'दश-मुख' (रावण) हो जाते हैं। २. ये घोड़े कैसे हैं? (क) **अस्य काम्या**=इस रथस्वामी के काम (इच्छा) का सम्पादन करनेवाले हैं। इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं। (ख) **विपक्षसा**=(पक्ष परिग्रहे) ये घोड़े विशिष्ट परिग्रहवाले हैं। एक ने उत्कृष्ट ज्ञान का ग्रहण किया है तो दूसरे ने विशिष्ट कर्म का परिग्रह किया है। (ग) **शोणा**=तेजस्विता के कारण रक्तवर्णवाले हैं। (घ) **धृष्णू**=तेजस्विता के कारण ही शत्रु का धर्षण करनेवाले हैं। (ङ) **नृवाहसा**=मनुष्यों को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। वस्तुतः इन्द्रियाश्वों को मलिन न होने देना, इनको ठीक-ठाक रखना ही जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का प्रमुख साधन है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतें और जीवन-यात्रा को पूर्णकर प्रभु के पास पहुँचें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

अभ्यावर्तन

यद्वातोऽअपोऽअगनीगन्प्रियामिन्द्रस्य तन्वम्।
एतꣳस्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्त्तयासि नः॥७॥

१. इन्द्रियरूप घोड़े विषयों में जा भटकते हैं, उनको न भटकने देने के लिए आवश्यक है—**यत्**=कि **वातः**=(वा गतौ=अत् गतौ) आत्मा **अपः**=कर्मों को **अगनीगन्**=प्राप्त हो। 'अत सातत्यागमने' धातु से आत्मा शब्द बनता है और 'वा गतौ' से 'वातः'। एवं, वातः व आत्मा पर्याय हैं। **'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्'** में शरीर के प्रतिकूल 'वायुः' आत्मा का ही वाचक है। २. इस कर्मशीलता के द्वारा **यत्**=जब यह **इन्द्रस्य**=इन्द्र के, परमैश्वर्यशाली प्रभु के **प्रियां तन्वम्**=प्रिय शरीर को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मशीलता के द्वारा शरीर को इस प्रकार स्वस्थ व तेजस्वी बनाता है कि यह शरीर प्रभु का प्रिय होता है। ३. हे **स्तोतः**=प्रभु के उपासक **नः एतं अश्वम्**=हमारे इस इन्द्रियरूप घोड़े को **अनेन पथा**=इस कर्मशीलता के मार्गों से **पुनः**=फिर **नः आवर्त्तयासि**=विषयों से व्यावृत्त करके हमारी ओर लानेवाला बन, इन्द्रियाश्व प्रभु की ओर चलनेवाले तभी होते हैं जब विषयों के बन्धनों से बद्ध नहीं होते। इनको विषयों से प्रत्यावृत्त व प्रत्याहृत करके ही हम आत्मतत्त्व का दर्शन किया करते हैं। उपनिषद् के शब्दों में—**'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुर-मृतत्त्वमिच्छन्'**=कोई एक-आध ही ऐसा धीर पुरुष होता है जो आवृत्त चक्षु होकर अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को देखता है।

भावार्थ—जीवात्मा वात=वायु क्रियाशील है। क्रियाशीलता से यह अपने इस शरीर को प्रभु का प्रिय बनाये रखता है। इस क्रियाशीलता के मार्ग से हमें इन्द्रियाश्वों को विषयों से व्यावृत्त करके आत्मतत्त्व का दर्शन करना चाहिए।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वाय्वादयः। छन्दः—अत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

अञ्जन (Decoration)

वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा। भूर्भुवः स्वर्लाजी३॥ञ्छाची३॥न्यव्ये गव्यऽएतदन्नमत्त देवाऽ एतदन्नमद्धि प्रजापते॥८॥

१. **वसवः**=वसुनामक आठ देव अथवा शरीर में उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्व **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसाः**=(गयाः प्राणाः तन् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। साधक की सर्वप्रथम कामना यही होनी चाहिए कि उसकी प्राणशक्ति ठीक रहे। २. **रुद्राः**=रुद्र अथवा 'रोरूयमानो द्रवति' जो प्रभु के नाम का निरन्तर उच्चारण करता हुआ गतिशील होता है, वही तो रुद्र है। ये प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्य को करने की भावनाएँ **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=(त्रि+स्तुप्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की प्रबल कामना से **अञ्जन्तु** =अलंकृत करें। मनुष्य प्रभुस्मरण करता है, कार्य में लगा रहता है। बस, यह बात उसे कामादि से दूर रखती है। यह व्यक्ति काम, क्रोध व लोभ का शिकार नहीं होता। ३. **आदित्याः**=बारह आदित्य अथवा सब जगह से अच्छाई के ग्रहण करने की वृत्ति **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित करने की प्रबल भावना से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। लोकहित वही कर सकता है जो सब जगह से अच्छाई को ग्रहण की वृत्तिवाला बने। ४. 'गायत्र छन्द से' तू **भूः**=पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करनेवाला होगा, 'त्रैष्टुभ् छन्द से' तू **भुवः**=आकलन, चिन्तन व ज्ञानवाला बनेगा। कामादि ही तो ज्ञान का आवरण बने रहते हैं। 'जागत छन्द से' तू **स्वः**=पूर्ण सुख को प्राप्त करनेवाला होगा। ५. **लाजीन्**=(योऽयं लाजानां समूहो लाजीनित्युक्तः—उ०) लाजाओं को **शाचीन्**=(योऽयं सक्तूनां समूहः शाचीनित्युक्तः—उ०) सत्तुओं को **यव्ये**=(यवमयः समूहः—उ०) यवसमूह में अथवा **गव्ये**=(गव्येर्विकारे दध्यादि—उ०) दही आदि में **एतद् अन्नं अत्त**=इस अन्न को खाओ। **देवाः**=देव इसी अन्न को खाते हैं। वस्तुतः यही 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थ ही मनुष्य को सात्त्विक वृत्तिवाला व देव बनाते हैं। हे **प्रजापते**=प्रजा के रक्षक! तू भी **एतत् अन्नं अद्धि**=इसी अन्न को खा। इस अन्न का सेवन तुझे सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर प्रजा का रक्षक बनाएगा, मांसाहारी राजा तो प्रजा का भक्षक ही बन जाएगा।

भावार्थ—हममें 'प्रजारक्षण, काम-कोध-लोभ-निवारण व लोकहित' की प्रबल कामना हो। इससे हम स्वस्थ, सज्ञान व सुखी बनेंगे। हम 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थों का प्रयोग करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—जिज्ञासुः। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

चार प्रश्न व उत्तर

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सूर्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥१०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में साहित्य में प्रश्नोत्तर के प्रकार से प्रतिपादन की शैली का सुन्दरतम उदाहरण मिलता है। वनपर्व की समाप्ति पर यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यही शैली प्रयुक्त हुई है। २. प्रथम प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन, **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **सूर्यः**=सूर्य **एकाकी**=अकेला **चरति**=चलता है। (क) सब ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला परमात्मा सूर्य है। वह अपने कार्यों में दूसरे की सहायता पर निर्भर न करता हुआ अकेला विचरता है। (ख) समाज में संन्यासी भी सूर्य है। वह भी अकेला विचरता है। 'अरुचिर्जनसंसदि'=उसे जनसंघ रुचिकर नहीं होता। (ग) शरीर में सूर्य 'चक्षु' है। यह चक्षु भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करती हुई स्वयं प्रमाण होती है और इस प्रकार अकेली विचरती है। यही भावना 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणाम्' इन शब्दों से कही गई है। (घ) मनुष्य को सामान्यतः यही प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर स्वयं कर सके तभी वह सूर्य के समान चमकेगा। सूर्य के आश्रित अन्य पिण्ड हैं, सूर्य उनका आश्रित नहीं, इसीलिए सूर्य 'सूर्य' है। ३. अब दूसरा प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन निश्चय से **पुनः**=फिर **जायते**=प्रादुर्भूत व विकसित होता है। उत्तर देते हुए कहते हैं कि **चन्द्रमाः**=चाँद **पुनः**=फिर **जायते**=विकसित होता है। (क) आधिदैविक जगत् में चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर प्रादुर्भूत होता दिखता है। (ख) शरीर में यह मन के रूप से है 'चन्द्रमा मनो भूत्वा' चन्द्रमा ही तो मन (moon) बनकर हृदय में प्रविष्ट होता है। किसी भी मनुष्य का विकास इस मन के विकास के अनुपात में ही होता है। मन की आह्लादमयता ही मनुष्य के स्वास्थ्य के विकास का भी कारण बनती है। (ग) एक गृहस्थ में नव उत्पन्न सन्तान 'चन्द्र' तुल्य है। यह दिन-ब-दिन विकास को प्राप्त होती चलती है। ४. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **हिमस्य**=शीत का **किं भेषजम्**=क्या औषध है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=आग **हिमस्य**=शीत का **भेषजम्**=औषध है। (क) आधिदैविक जगत् का अग्निदेव तो शीत से त्राण करता ही है। (ख) आधिभौतिक जगत् में जब आन्दोलन ठण्डा पड़ जाता है और लोगों का उत्साह मन्द हो जाता है तब एक नेता अग्नि की प्रतिनिधिभूत वाणी से (अग्निर्वाग् भूत्वा) लोगों में फिर से उत्साह का सञ्चार कर देता है, आन्दोलन में फिर से गर्मी आ जाती है। (ग) शरीर में जब तक यह अग्नितत्त्व विद्यमान रहता है तब तक मनुष्य ठण्डा नहीं पड़ता, मरता नहीं। ५. चौथा प्रश्न है **किम् उ**=और कौन-सा **महत् आवपनम्**=महनीय, महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **भूमिः**=यह पृथिवी ही **महत् आवपनम्**=महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। (क) वस्तुतः सभी बीज इसी भूमि में बोये जाते हैं। यह भूमि ही सब साधनों का क्षेत्र है। (ख) अध्यात्म में 'पृथिवी शरीरम्'=यह शरीर पृथिवी है। इसे 'क्षेत्र' कहते हैं। इसी में दिव्य गुणों व विकास के बीज बोये जाते हैं। इसी में बीज=सोम=वीर्य का आवपन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सोम को इस शरीर में सुरक्षित रखने पर ही सब प्रकार की उत्पत्ति (विकास) निर्भर है।

भावार्थ—हमें सूर्य की भाँति अपराश्रित रूप में विचरना है, अपने कार्य स्वयं करने हैं। मन के विकास से अपने विकास को सिद्ध करना है। अपनी वाणी को अग्नि के समान ओजस्वी बनाकर सर्वत्र उत्साह का सञ्चार करना है और इस शरीररूप पृथिवी में सोम का वपन करते हुए इसे महत्त्वपूर्ण आवपन बनाना है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—जिज्ञासुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पिलिप्पिला—पिशंगिला

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किंस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला॥११॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विद्युदादयः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥१२॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार ही इन मन्त्रों में भी चार प्रश्न व उत्तर दिये गये हैं। प्रथम प्रश्न है **स्वित्**=भला **पूर्वचित्तिः**=सबसे प्रथम (प्रथमा स्मृतिविषया—द०) स्मरण व ध्यान की वस्तु **का**=क्या है? अर्थात् सबसे अधिक ध्यान किसपर देना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **द्यौः**=मस्तिष्क **पूर्वचित्तिः**=सबसे प्रथम ध्यान देने का विषय **आसीत्**=है। शरीर में मस्तिष्क उसी प्रकार सर्वोपरि स्थित है जैसे विराट् शरीर में द्युलोक। **'मूर्ध्नो द्यौः'** विराट् शरीर के मस्तिष्क से ही द्युलोक बनता है और यही द्युलोक मस्तिष्करूप से हमारे शरीर में निवास करता है। हमें इस मस्तिष्क का सर्वाधिक ध्यान करना है। २. दूसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी **किम्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्वः**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला जीव ही **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी **आसीत्**=है। वैदिक साहित्य में आत्मा तथा परमात्मा दोनों को **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इन शब्दों में सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षियों के रूप में चित्रित किया है। इनमें परमात्मा सदावृद्ध व निरतिशय वृद्धिवाले हैं, जीवात्मा अल्प है और यह साधना के मार्ग पर चलकर वृद्धि को प्राप्त करनेवाला है। यह बढ़ता हुआ पक्षी है। जितना-जितना बढ़ता जाता है उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है अथवा जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है उतना-उतना बढ़ता जाता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **पिलिप्पिला**=(आर्द्रीभूता-चिक्कणा-शोभन—द०) (श्रीवै पिलिप्पिला—श० १३।२।६।१६) आर्द्रीभूत, चिक्कणा व शोभना श्री क्या **आसीत्**=है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अविः**=(अव रक्षणे) रोगों व वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला जीव ही **पिलिप्पिला**=शरीर में स्वास्थ्य की स्निग्धता से चिक्कण, मन में करुणा से आर्द्रीभूत, मस्तिष्क में उत्तम विचारों से शोभन श्रीवाला **आसीत्**=है। जब हम आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हैं तभी हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क श्रीसम्पन्न होते हैं। ४. चौथा प्रश्न है **स्वित्**= भला **पिशंगिला**=(पिशं रूपं गिलति) रूप को निगल जानेवाला **का आसीत्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **रात्रिः**=रात **पिशंगिला आसीत्**=रूप को निगल जानेवाली है। रात्रि में सब वर्ण समाप्त होकर एक कृष्ण-ही-कृष्ण वर्ण की प्रतीति होती है। इसी प्रकार उस परमेश्वर में रमण करनेवाले (रात्रिः रमयित्री) योगनिद्रागत योगी के इन शरीररूप रूपों का, वल्बों का विलय=मोक्ष हो जाता है। इस योगी को फिर दीर्घकाल तक शरीर नहीं लेना पड़ता।

भावार्थ—सर्वाधिक ध्यान हमें मस्तिष्क का करना है। साधना के द्वारा निरन्तर वृद्धि का यत्न करना है। अपने को आधि-व्याधियों से बचाकर श्रीसम्पन्न होना है तथा प्रभुस्मरण के द्वारा इन शरीरों के परिग्रह से ऊपर उठना है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ब्रह्मादयः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

अकृष्ण ब्रह्मा

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या।
एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये॥१३॥

१. **वायुः**=शरीर में वैश्वानर (जाठराग्नि) अग्नि के साथ मिलकर पाचनक्रिया को करनेवाला प्राणवायु **त्वा**=तुझे **पचतैः**=भोजनों के ठीक परिपाकों से **अवतु**=रोगों से बचाए। पाचनक्रिया के ठीक न होने पर ही शरीर रोगाक्रान्त हुआ करता है। २. **असितग्रीवः**=न बद्धग्रीवावाला **छागैः**=छेदन-भेदन से तेरी रक्षा करे। संसार में विषय मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं, मनुष्य उनसे बँध जाता है और फिर गर्दन में रस्सी से बँधे पशु की भाँति वह न्याय्य-अन्याय्य मार्गों में उनसे ले-जाया जाता है, परन्तु जो 'असितग्रीव'=विषयों से अ-बद्ध गर्दनवाला होता है वह इन विषय-वासनाओं का छेदन-भेदन करते हुए अपना उत्तम रक्षण कर पाता है। ३. **न्यग्रोधः**=(न्यञ्चति, रोहति) जो निरभिमानता से, नीचे होकर चलता और इस नम्रता से ही विकास व उन्नतिवाला होता है वह **चमसैः**=सत्य, यश व श्री के आचमनों से तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो व्यक्ति नम्र बनता है वही उन्नत होता है और वही सत्य, यश व श्री आदि को प्राप्त करता है। ४. **शल्मलिः**=(शल्=गति मलि=possession, enjoyment) गति को धारण करना अथवा गति में ही आनन्द लेना **वृद्ध्या**=वृद्धि के द्वारा तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो मनुष्य निरन्तर क्रियाशील रहता है, जिसे क्रिया में आनन्द आने लगता है वह सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है। ५. **एषः**=यह असितग्रीव, न्यग्रोध व शल्मलि' नामवाला **स्यः**=वह पुरुष **राथ्यः**=इस उत्तम शरीररूप रथवाला होता है, **वृषा**=यह बलवान् व सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ६. यह **चतुर्भिः पड्भिः**=चारों पुरुषार्थों के साथ, अर्थात् 'धर्मार्थकाममोक्ष' चारों के लिए प्रयत्नशील होता हुआ **इत्**=निश्चय से **आगन्**=प्रभु के समीप प्राप्त हुआ है। ७. प्रभु के समीप प्राप्त होने से यह **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माण करनेवाला बना है, **अकृष्णः च**=इसका कोई कर्म मलिन नहीं हुआ। यह **अकृष्णः**=विषयों से अनाकृष्ट **ब्रह्मा**=महान् निर्माता **नः अवतु**=अपने ज्ञानोपदेशों व कार्यों से हमारा रक्षण करे। इस **अग्नये नमः**=अग्रेणी पुरुष के लिए हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्राणों द्वारा भोजन के ठीक परिपाक से हम रोगों से बचे रहें। विषयों से अबद्ध रहकर हम उन्नति के विघ्नों का छेदन-भेदन करें। नम्रता से चलते हुए उन्नति को प्राप्त करके हम सत्य, यश व श्री को धारण करें। गतिशीलता में आनन्द हमारी वृद्धि का कारण बने। हम उत्तम शरीर-रथवाले व शक्तिशाली बनकर धर्मार्थकाममोक्ष चारों का साधन करते हुए परमात्मा को प्राप्त करें। विषयों से अनाकृष्ट व निर्माण के कार्यों में लगे हुए व्यक्ति हमारी रक्षा करें। हम इन रक्षक अग्रेणी नेताओं के लिए नतमस्तक हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ब्रह्मा। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सोमपुरोगव

सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः।
सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'राथ्यो वृषा' ने क्या किया है? उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा **रश्मिना** =ज्ञानरूपी किरणों से युक्त मनरूप लगाम से **रथः**=यह शरीररूप रथ

संशितः=शोभित किया गया है (संपूर्वः श्यतिः शोभने—उ०) अथवा चलने में तीक्ष्ण व उत्तम क्रियावाला किया गया है। २. **रश्मिना**=उसी ज्ञान-किरणयुक्त मनरूपी लगाम से **हयः**=इन्द्रियरूप घोड़े **संशितः**=शोभित व तीक्ष्ण क्रियायुक्त किये गये हैं। ३. **अप्सुजाः**=सदा कर्मों में लगा होनेवाला यह अश्व (=कर्मों में व्याप्त पुरुष) **अप्सु**=प्राणों में **संशितः**=शोभित हुआ है। कर्मों से इसकी प्राणशक्ति बढ़ी है। ४. इस प्रकार कर्मों से बढ़ी हुई प्राणशक्तिवाला यह पुरुष **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माता हुआ है, **सोमपुरोगवः**=यह सोम की रक्षा के द्वारा आगे-और-आगे चलता है (सोमेन पुरः गच्छति)। सोम की रक्षा के द्वारा यह उसकी ऊर्ध्वगति करनेवाला 'शूद्र (शु+उत्+र) होता है, शरीर में उसका प्रवेश करानेवाला 'वैश्य' बनता है, शरीर को सब क्षतों से बचाने के कारण 'क्षत्रिय' होता है और इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर 'ब्रह्म'=ज्ञान से दीप्त 'ब्राह्मण' होता है। इस प्रकार यह सोम के द्वारा अधिक-और-अधिक उन्नति करता चलता है।

भावार्थ—रथ और घोड़ों (शरीर व इन्द्रियों) को वश में करके क्रियाशीलता से अपनी शोभा को बढ़ाकर हम ब्रह्मा बनते हैं और सोम की रक्षा से आगे और आगे चलनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विद्वान्। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥१५॥

१. गतमन्त्र के 'सोमपुरोगव' से कहते हैं कि हे **वाजिन्**=क्रियाशील व शक्तिशालिन्! तू **स्वयम्**=अपने आप **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयस्व**=शक्तिशाली बना। तू औरों का ध्यान न करके 'और करते हैं या नहीं', इसका विचार न करके, स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न कर। २. शक्तिशाली बनकर **स्वयं यजस्व**=औरों की ओर न देखता हुआ स्वयं यज्ञशील बन। ३. यज्ञशील बनकर **स्वयं जुषस्व**=तू स्वयं प्रभु की प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाला बन। ४. इस प्रकार जीवन बिताने पर **अन्येन**=दूसरे से **ते महिमा**=तेरी महिमा **न सन्नशे**=नष्ट नहीं की जा सकती, अर्थात् तेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

भावार्थ—हम औरों की ओर न देखते हुए तथा औरों पर आश्रित न होते हुए अपने शरीर को शक्तिशाली बनाएँ, यज्ञशील बनें, प्रभु के उपासक हों। हम यह विश्वास रक्खें कि हमारे महत्त्व को कोई दूसरा नष्ट नहीं कर सकता। स्वयं हम ही ग़लती से नष्ट कर लें तो और बात है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

अमरण-अहिंसन

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥१६॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार औरों की ओर न देखते हुए जब हम स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाते हैं, यज्ञशील होते हैं, प्रीतिपूर्वक उपासन करनेवाले बनते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **एतत्**=यह तू **वै उ**=निश्चय से **न म्रियसे**=मरता नहीं है **न रिष्यसि**=तू हिंसित नहीं होता। इस मार्ग पर चलने से तेरा शरीर व्याधियों से आक्रान्त होकर असमय में चले जानेवाला नहीं होता और तेरा मन भी आधियों से अभिभूत होकर हिंसित नहीं होता। तेरा

शरीर नीरोग होता है तो मन निर्मल। २. **सुगेभिः पथिभिः**=साधुगमन मार्गों से, अर्थात् उत्तम मार्गों से चलता हुआ तू **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों को, दिव्य गुणों को प्राप्त होता है। ३. **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **तत्र**=उस मार्ग में **दधातु**=स्थापित करे **यत्र**=जहाँ **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **आसते**=उपविष्ट होते हैं और **यत्र**=जहाँ **ते**=वे **ययुः**=जाते हैं व चलते हैं। तेरा मार्ग सदा पुण्यशालियों का ही मार्ग हो, उन्हीं देवों के मार्ग से तू चलनेवाला हो, अर्थात् तेरा मार्ग 'देवयान-मार्ग' हो।

भावार्थ—देवयान-मार्ग से चलते हुए हम व्याधियों से मृत्यु को प्राप्त न हों और काम-क्रोध-लोभादि आधियों से हिंसित न हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि-वायु-सूर्य

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स तै लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्वायुः स तै लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यः स तै लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः॥१७॥

१. गतमन्त्र के देवयान-मार्ग में देव अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सबसे प्रथम इस पृथिवीलोक के ग्यारह देवताओं का मुखिया यह **अग्निः**=अग्निदेव **पशुः आसीत्**=(दृश्यः—द०) दर्शन व ज्ञान का विषय बनता है। इस अग्निदेव का ज्ञान प्राप्त करके **तेन**=उस अग्निदेव के साथ **अयजन्त**=वे अपना मेल बढ़ाते हैं (यज्=सङ्गतिकरण)। इस अग्नि को अपने विविध यत्नों से उपयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः इस अग्नि के ज्ञान व प्रयोग से **सः**=यह अग्नितत्त्व का वेत्ता ज्ञानी पुरुष **एतं लोकम्**=इस पृथिवीलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् अग्निः**=जिस लोक में यह अग्नि मुख्य देवता है **सः लोकः**=वह लोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=हो जाएगा, **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू विजय कर लेगा। वस्तुतः बिना ज्ञान के हम इन अग्नि आदि देवों को अपना नहीं बना सकते। इनसे उपयुक्त लाभ नहीं ले-सकते। इनका विजय इनके ज्ञान से ही होता है। इसके लिए तू **एताः अपः**=शरीर में रेतस्रूप से रहनेवाले इन अप्कणों का (आपः रेतो भूत्वा०) **पिब**=पान कर। इनको तू शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न कर। २. अग्नि के ज्ञान के पश्चात् **वायुः पशुः आसीत्**=अन्तरिक्षलोक के देवताओं का मुखिया यह वायुदेव ज्ञान का विषय हुआ। इन देवों ने वायु का ज्ञान प्राप्त किया। **तेन अयजन्त**=उस वायुदेव से इन्होंने अपना सङ्ग बढ़ाया। इसे अपने यत्नों व व्यवहार में उपयुक्त किया और अब **सः**=इसने **एतं लोकं अजयत्**=इस वायु के आधारभूत अन्तरिक्षलोक को जीत लिया। इस विजय से **यस्मिन् वायुः**=जिसमें यह वायु मुख्यदेव है **सः लोकः**=वह अन्तरिक्षलोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=होगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। **एता अपः पिब**=तू इन सोमकणों को अपने अन्दर व्याप्त करने का प्रयत्न कर। वायु का ठीक ज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य अन्तरिक्षलोक में अपने वायुयान आदि को चला पाता है और इस लोक को जीत लेता है। ३. अब अग्नि व वायु के ज्ञान के पश्चात् इन देवों का **सूर्यः**=द्युलोकस्थ देवों का मुख्यदेव सूर्य **पशुः आसीत्**=दृश्य व ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में इन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया तो यजुर्वेद में वायु इनके ज्ञान का विषय बना और अब साम में वे सूर्य को

ज्ञान का विषय बनाते हैं। **'अग्नेर्वा ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः'।** **तेन अयजन्त**=सूर्य के साथ ये विद्वान् अपना सङ्ग बढ़ाते हैं। इसकी किरणों से अपने यन्त्रादि को परिचालित करने का प्रयत्न करते हैं। **सः**=इस सूर्य का ज्ञान प्राप्त करके वह **एतं लोकम्**=इस सूर्य के आधारभूत द्युलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् सूर्यः**=जिस द्युलोक में यह सूर्य है **सः**=वह **ते लोकः**=तेरा लोक **भविष्यति**=हो जाएगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। उसके ज्ञान से तू द्युलोक को अपने अनुकूल कर पाएगा, इसके लिए **एता अपः पिब**=इन रेतःकणों को तू अपने अन्दर पीने का प्रयत्न कर।

भावार्थ—देववृत्तिवाले लोग 'अग्नि-वायु-सूर्य' आदि देवों (प्राकृतिक शक्तियों) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनके ज्ञान को अपने यन्त्रादि में विनियुक्त करते हैं। अपने हितसाधनों में इन्हें विनियुक्त करते हुए वे इनपर विजय प्राप्त करते हैं। ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ देवों के लिए हितकर हो जाती हैं।

नोट—मातृवत् हित करने से ही ये अगले मन्त्र में 'अम्बे, अम्बिके व अम्बालिके' इस रूप में सम्बोधित हुई हैं। ऋग्वेद अम्बा है, यजुर्वेद अम्बिका तथा साम अम्बालिका।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अम्बा-अम्बिका-अम्बालिका

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा। अम्बेऽअम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥१८॥

१. गतमन्त्र की ज्ञानवाणियों का ध्यान करते हुए कहते हैं कि **प्राणाय**=प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए अग्नि का वर्णन करनेवाली, ऋग्वाणी जो **अम्बा**=माता के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=(सुआह) उत्तमता से कही गई है। २. **अपानाय**=अपान—दोषों के दूरीकरण की शक्ति की वृद्धि के लिए यह वायु का वर्णन करनेवाली यजुर्वाणी जो **अम्बिका**=दादी (पितामही—द०) के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=उत्तमता से कही गई है। ३. **व्यानाय स्वाहा**=(व्यानः सर्वशरीरगः) व्यान के लिए, सारे शरीर को नियन्त्रण में रखने के लिए प्रतिपादित की गई यह सामवाणी सूर्य का वर्णन करती हुई **अम्बालिका**=प्रपितामही के समान हितकर है और इसका उत्तमता से प्रतिपादन हुआ है। ४. हे **अम्बे**=मातृवत् हितकारिणी अग्निविद्या, **अम्बिके**=पितामहीवत् हितकारिणी वायुविद्या तथा **अम्बालिके**=प्रपितामहीवत् हितकारिणी सूर्यविद्ये! ('अबि शब्दे' से ये तीनों शब्द बने हैं, अतः यहाँ शब्दप्रतिपाद्य विद्या के वाचक हैं) आपकी कृपा से **मा**=मुझे **कश्चन**=संसार का कोई भी विषय या प्रलोभन **न नयति**=धर्म के मार्ग से दूर नहीं ले-जाता Not to be led away) ५. ज्ञान प्राप्त करके सदा उत्तम क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाला (अश् व्याप्तौ) **अश्वकः**=(अश्वः एव अश्वकः स्वार्थे कन्) क्रियाशील शक्तिशाली पुरुष **सुभद्रिकाम्**=उत्तम कल्याण व सुख को सिद्ध करनेवाली **काम्पीलवासिनीम्**=(कं सुखं पीलयति गृह्णाति, तं वा संयाति तां लक्ष्मीम्—द०) सुख-संग्रहण में निवास करनेवाली लक्ष्मी को **ससस्ति**=प्राप्त करके आराम से शयन करता है। 'लक्ष्मीमधिशेते'=लक्ष्मी को प्राप्त करता है, इसी प्रकार **लक्ष्मीं ससस्ति**=कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्राण, अपान व व्यान की प्रतिपादिका ज्ञानवाणियों का ग्रहण करें। इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त करने पर हमें संसार का कोई प्रलोभन हरा नहीं सकता। ज्ञानानुसार कर्मों में व्याप्त होनेवाला पुरुष कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करके आराम से रहता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—गणपतिः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः।

गणपति-प्रियपति-निधिपति

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥१९॥

१. गतमन्त्र की **अम्बा**=मातृवत् हितकारिणी ऋग्वाणी से **गाणानां गणपतिम्**=ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक आदि अथवा आठ वसु, ग्यारह रुद्र व बारह आदित्यों के गणों के गणपति=रक्षक **त्वा**=तुझे **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से हम चाहते हैं कि ये सब गण ठीक बने रहकर हमारे स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हों। २. गतमन्त्र की **अम्बिका**=पितामहीवत् हितकारिणी यजुर्वाणी से हम **प्रियाणां प्रियपतिम्**=प्रियों के भी प्रियपति **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रियपति आपकी आराधना से हम यज्ञादि प्रिय कर्मों को करते हुए सभी के प्रिय हों। हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष न हो। ३. गतमन्त्र की अम्बालिका=प्रपितामहीवत् हितकारिणी ज्ञानवाणी से हम **निधीनां निधिपतिम्**=निधियों के निधिपति सर्वोच्च ज्ञानकोश के रक्षक (यस्मात् कोशात् उद्‌भराम वेदम्=अथर्व०) **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। निधिपति आपकी आराधना से हम भी ज्ञान के निधि बनने के लिए यत्नशील होते हैं और इस प्रकार मस्तिष्क के कोश को ज्ञाननिधि से भरनेवाले बनते हैं। ४. हे प्रभो! आप तो वस्तुतः **मम वसो**=मेरे बसानेवाले हो, मेरा उत्तम निवास आपपर ही निर्भर करता है। अतः ५. **गर्भधम्**=सब ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करनेवाले आपको **अहम्**=मैं **आ अजानि**=सर्वथा जाननेवाला बनूँ (अज=गति=ज्ञान) आपको जानूँ, आपकी ओर चलूँ और आपको प्राप्त करूँ। ६. **त्वम्**=तूही **गर्भधम्**=इस जगत् को गर्भ में धारण करनेवाली प्रकृति को **अजासि**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति देते हो। आप ही प्रथम गति देनेवाले Prime mover हो। आप ही सारे संसार के सञ्चालक हो।

भावार्थ—गणपति प्रभु का उपासक मैं ज्ञानेन्द्रिय आदि गणों का पति होऊँ। प्रियपति प्रभु का उपासक मैं सबका प्रिय बनूँ। निधिपति का उपासक ज्ञाननिधि का पति बनूँ। आपको मैं अपना निवासक जानूँ। सारे संसार को गर्भ में धारण करनेवाले आपकी ओर चलूँ। आप ही ब्रह्माण्डजननी प्रकृति को गति देते हो, मुझे भी उत्तम गति प्राप्त कराइए।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—राजप्रजे। छन्दः—स्वाराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

चार पुरुषार्थ

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोक प्रोर्णुवाथां
वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु॥२०॥

१. गतमन्त्र के 'गणपति, प्रियपति व निधिपति' का उपासक प्रभु से कहता है कि **ता उभौ**=वे दोनों आप और मैं (राजा व प्रजा) **चतुरः पदः**=चार पगों को **संप्रसारयाव**=फैलाएँ, अर्थात् चारों प्राप्तव्य पुरुषार्थों को, धर्मार्थ, काम-मोक्ष को विस्तृत करनेवाले बनें। २. आपकी कृपा से धर्मार्थ-काम-मोक्ष को सिद्ध करनेवाले बनें और **स्वर्गे लोके**=स्वर्गलोक में, सुखमयलोक में **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करें, अर्थात् सुखमयलोक में निवास करनेवाले बनें। आप तो सुखस्वरूप हैं ही, मैं भी आपकी कृपा से सुखमयलोक में रहनेवाला बनूँ। ३. आप **वृषा**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **वाजी**=शक्तिशाली व **रेतोधा**=वीर्यशक्ति का धारण करनेवाले हैं। हे प्रभो! आप कृपा करके **रेतः दधातु**=राजा व प्रजा

में शक्ति धारण कीजिए।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर मैं, प्रभुकृपा से 'धर्मार्थकाम-मोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करूँ। अपने को स्वर्गलोक में स्थापित करूँ। 'वृषा, वाजी, रेतोधा' प्रभु राजा व प्रजा में रेतस् का आधान करें, अर्थात् प्रभु राजा व प्रजा को शक्तिशाली बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**न्यायाधीशः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

व्यभिचार-दण्ड

उत्स॑क्थ्या॒ऽअव॑ गु॒दं धे॑हि॒ सम॒ञ्जिं चा॑रया वृषन्। य स्त्री॒णां जी॑व॒भोज॑नः॥२१॥

१. गतमन्त्र में 'वृषा, वाजी व रेतोधा' का उल्लेख था। राष्ट्र में प्रजाओं में सदाचार फैलाना, सदाचार के वातावरण को उत्पन्न करना यह राजा का मुख्य कार्य होना चाहिए तभी प्रजाएँ शक्तिसम्पन्न बन पाएँगी। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् तथा प्रजाओं पर सुखों की वृष्टि करनेवाले राजन्! आप **यः स्त्रीणां जीवभोजनः**=जो स्त्रियों पर आजीविका चलानेवाला पुरुष है उस **गुदम्**=(गुद् क्रीडायाम्) विलासमय क्रीडावाले भोगासक्त पुरुष को **उत्सक्थ्याः**=(उद्गते सक्थिनी यस्य) ऊपर जांघोंवाला **अवधेहि**=नीचे सिरवाला करके स्थापित कर, अर्थात् इसे उलटा लटका दे। विलास व व्यभिचार को फैलानेवाले को उलटा लटका देना चाहिए। इस प्रकार का कठोर दण्ड 'व्यभिचार' आदि को रोकने के लिए आवश्यक है। २. राजा को यह भी चाहिए कि **अञ्जिं संचारय**=ज्ञान के प्रकाश को फैलाये (अंजि=Brilliance)। अपराधों को दूर करने के लिए जहाँ अपराधियों को ऐसा दण्ड देना जो प्रत्यादेश के लिए हो, अर्थात् प्रजाओं में अपराधों को रोकनेवाला हो, वहाँ ज्ञान के प्रकाश को भी फैलाना चाहिए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति ही परिवर्तित हो जाए। व्यभिचार से होनेवाली हानियों के जानने पर तथा संयमी जीवन के लाभों के स्पष्ट होने पर लोग इन बुराइयों से सम्भवतः दूर हटेंगे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में व्यभिचार को रोकने के लिए विलासी पुरुष को उलटा लटकवा दे तथा राष्ट्र में व्यभिचार की हानियों व संयम के लाभों के ज्ञान का प्रचार करवाए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन किया जा सके।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

कृषि

य॒का॒स॒कौ श॑कु॒न्ति॒काह॒ल॒गिति॒ वञ्च॑ति।

आह॑न्ति ग॒भे प॒सो॒ निग॑ल्गलीति॒ धार॑का॥२२॥

१. **यका असकौ**=(या असौ) वह जो, पिछले मन्त्र के अनुसार व्यभिचार-विवर्जित संयमी जीवनवाली प्रजा **शकुन्तिका**=शक्तिशाली बनकर **आहलक्**=(आ हलेन आचरति) चारों ओर हल के साथ चलनेवाली होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=अकाल इत्यादि को राष्ट्र से दूर कर देती है। प्रजा में विलासिता आदि दोष न होने पर उसकी शक्ति बढ़ती है। कृषि आदि उत्तम कार्यों में लगकर प्रजा दुष्काल आदि आपत्तियों से राष्ट्र को बचाती है। २. इस **गभे**=(बड् वै गभः श० १३।२।९।६) ऐश्वर्यशालिनी (गभ=भग) प्रजा में राजा **पसो**=(पस=सम=समवाय, राष्ट्रं पसः—श० १३।२।९।६।) राष्ट्रीय भावना को—समवाय व मेल की भावना को **आहन्ति**, सब प्रकार से प्राप्त कराता है। (हन्=गति) इस राष्ट्रीय भावना व मेल की भावना को जगाकर वह प्रजा में आचरण के मापक को ऊँचा करने

का प्रयत्न करता है। राष्ट्र के उत्थान की भावना के प्रबल होने पर प्रजा कोई भी ऐसा कार्य नहीं करती जो राष्ट्र की अवनति का कारण बने। ३. राष्ट्रीय भावना के जागरण के लिए किये जानेवाले सब प्रचार को **धारका**=ऐश्वर्य का धारण करनेवाली प्रजा **निगल्गलीति** =खूब ही प्रेम से सुनती है। (गल् श्रवणे) अपने अन्दर निगल-सा लेती है, अर्थात् बड़े ध्यान से सुनकर उस ज्ञान को धारण करती है।

भावार्थ—सम्पूर्ण प्रजा कृषि में प्रवृत्त होकर राष्ट्र को दुष्काल आदि से बचाती है। जहाँ इस कार्य से (क) शक्तिशाली बनती है, (शकुन्तिका), (ख) ऐश्वर्य को बढ़ाती है (गभ=भग), (ग) वहाँ प्रसंगवश बुराइयों से बची रहती है। राजा इसी उद्देश्य से प्रजा में राष्ट्रीय भावना को जागरित करता है। प्रजा भी राजा से प्रचारित किये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनती है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—राजप्रजे। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

शकुन्तक (शक्तिसम्पन्न)

यक्रोऽसकौ शकुन्तकऽआहलगिति वञ्चति।
विवक्षतऽइव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभि भाषथाः ॥२३॥

१. गतमन्त्र में प्रजा के कृषिप्रधान बनने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में एक-एक व्यक्ति के कृषि को स्वीकार करने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यकः असकौ**=(यः असौ) जो वह **शकुन्तकः**=शक्तिशाली होकर **आहलक्**=(आ हलेन अञ्चति) चारों ओर हल के साथ गति करनेवाला होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=दुष्काल को राष्ट्र से दूर करता है। २. हे **अध्वर्यो**=राष्ट्रयज्ञ के सञ्चालक राजन्! **ते मुखम्**=तेरा चेहरा **विवक्षतः इव**=उस पुरुष के चेहरे के समान है जो विशिष्ट भार को उठाने की कामनावाला है। तेरे चेहरे से ही यह बात स्पष्ट है कि तू विशिष्ट राज्यभार को उठाये हुए है। ३. हमारा भी प्रयत्न ऐसा होगा कि **त्वं नः मा अभि भाषथाः**=आप हमें कुछ मत कहें। हमारा आचरण ही इतना सुन्दर हो कि आपको कुछ कहना ही न पड़े। वस्तुतः प्रजावर्ग का राजा के लिए सर्वोत्तम सहयोग यही है कि वह राजा को कुछ कहने का अवसर ही न दे।

भावार्थ—सब पुरुषों का जीवन कृषि-प्रधान हो। वे अपने आचरण को ऐसा उत्तम रक्खें कि राजा को उन्हें कुछ कहना ही न पड़े, तभी राजा राज्य के विशिष्ट कार्यभार को ठीक से उठा पाएगा।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—भूमिसूर्यौ। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

स्तेय-दण्ड (चोरी का नाश)

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्॥२४॥

१. राष्ट्र में प्रजा माता है जो राष्ट्र का निर्माण करती है और राजा पिता है जिसका काम राष्ट्र की रक्षा करना है। ये दोनों मिलकर ही राष्ट्र की उन्नति का साधन कर पाते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे राष्ट्र! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरी रक्षा करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रम्**=राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग पर, अर्थात् राष्ट्रोन्नति के शिखर पर **रोहतः**=आरोहण करते हैं। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य अग्रम्—श० १३।२।९।७) 'श्री' ही राष्ट्रवृक्ष का शिखर है, अतः ये राष्ट्र को अत्यन्त श्रीसम्पन्न करते हैं। २. और हे

राष्ट्र! **प्रतिलाम इति**=(तिल स्नेहने) प्रकर्षेण स्नेह करता हूँ, इस भावना से ही **ते पिता**=तेरा रक्षक यह राजा **गभे**=(विड् वै गभः) ऐश्वर्यसम्पन्न प्रजाओं के अन्दर **मुष्टिम्**=(मोषणात् नि० ६।१।१) चोरी की वृत्ति को **अतंसयत्**=कम्पित कर दूर करवा (Shakes away) देता है। मनु के अनुसार राजा चोर को हस्तच्छेदादि दण्ड देता है **(तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः**—मनु) ऐसे दण्ड से प्रजा चोरी आदि पापों की ओर झुकाववाली नहीं रहती। वस्तुतः जब राजा को राष्ट्र के प्रति स्नेह होता है तब वह राष्ट्र में से चोरी आदि को दूर करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—राष्ट्र की माता 'प्रजा' है तो पिता 'राजा' है। ये दोनों मिलकर राष्ट्रवृक्ष की श्री का वर्धन करते हैं। राजा राष्ट्र में से चोरी को कम्पित कर दूर भगा देता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूमिसूर्यौ**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

संयत-वाणी

माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः।

विवक्षतऽइव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु॥२५॥

१. हे राष्ट्रवृक्ष! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरा रक्षण करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रे**=इस राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग में **क्रीडतः**=एक क्रीडक की भावना से युक्त होकर सारे कर्त्तव्यों को करते हैं, अर्थात् इस राजकार्य में इनको जीत-हार की कोई वासना (complex) व्यथत नहीं करती। राजा केवल रौब के लिए कोई काम नहीं करता। २. **ब्रह्मन्**=हे राष्ट्र का वर्धन करनेवाले राजन्! **ते मुखम्**=तेरा मुख **विवक्षतः इव**= राज्य के विशिष्ट भार को उठानेवाले पुरुष के मुख की भाँति है। तेरे चेहरे से लगता है कि तूने महान् उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लिया हुआ है, परन्तु **त्वम्**=तू **बहु मा वदः**=बहुत बोल नहीं, चूँकि बहुत बोलनेवाला अपनी शक्ति को क्षीण कर लेता है और भार को उठा नहीं पाता।

भावार्थ—राजा और प्रजा राष्ट्र कार्यों को एक क्रीड़क की वृत्ति से निभाते हैं। राजा विशिष्ट राज्यभार को अपने कन्धे पर लेता है और बड़ी संयत वाणीवाला होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

राज-कर्त्तव्य-त्रयी

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳहरन्निव।

अथास्यै मध्यमेधताꣳशीते वाते पुनन्निव॥२६॥

१. गतमन्त्रों में राजा व प्रजा को राष्ट्र के माता-पिता के रूप में चित्रित किया है। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे राजन्! **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार को ले-जानेवाले की भाँति तू **एनाम्**=इस प्रजा को **ऊर्ध्वाम्**=ऊपर, उन्नत स्थिति में, **उच्छ्रापय**=उठाकर उन्नत कर। 'पर्वत पर भार ले-जानेवाले की भाँति' उच्छ्रित कर इस उपमा में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। (क) एक तो यह कि पर्वत पर चढ़ना ही कठिन है और भार लेकर ऊपर जाना तो बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करना, अर्थात् राजकर्त्तव्य को निभाना कोई सुगम कार्य नहीं है, (ख) दूसरा यह कि भार को ऊपर ले-जानेवाला स्वयं तो ऊपर पहुँचता ही है, इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करनेवाला राजा भी नैतिक दृष्टिकोण से उन्नत होता है। २. हे राजन्! इस प्रजा की उन्नति का, शिक्षित करने का परिणाम यह हो कि **अथ**=अब **अस्यै**=इस प्रजा के लिए **मध्यम्**=(श्रीर्वै राष्ट्रस्य

मध्यम्—श० ३।३।१।४) श्री=धनसम्पत्ति **एधताम्**=बढ़े। किसी भी राष्ट्र में प्रजा की स्थिति का अच्छा होना मूलरूप से उसकी श्री के विकास से ही आँका जाता है। ३. तू इस प्रजा को **शीते**=(श्येङ् वृद्धौ) बढ़ी हुई **वाते**=वायु में **पुनन् इव**=भूसे से गेहूँ को पृथक् करते हुए की भाँति हो। जैसे बढ़ी हुई वायु में कोई भी अन्न को गाहनेवाला छाज से फटकता है और भूसे को गेहूँ से पृथक् कर देता है। उसी प्रकार तू प्रजाओं से आर्य और दस्युओं को पृथक्-पृथक् करनेवाला हो। राजा ने यह दस्यु व आर्यों का अलग-अलग जानने की क्रिया 'शीते वाते'=शान्त गति के द्वारा करनी है। प्रजा में अन्याय व अनुचित दण्ड के भय की उद्विग्नता न छा जाए।

भावार्थ—राजा के तीन मौलिक कर्त्तव्य हैं (क) प्रजा की स्थिति को उन्नत करना, उसमें शिक्षा आदि का प्रसार करना, (ख) इसके श्री का विकास करना व (ग) आर्य और दस्युओं को अलग-अलग जानना।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रजा-कर्त्तव्य-त्रयी

ऊर्ध्वमे॑नमुच्छ्र॑यताद् गि॒रौ भा॒रꣳहर॑न्निव।

अथा॑स्य॒ मध्य॑मेजतु शी॒ते वाते॑ पु॒नन्नि॑व॥२७॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजा के प्रति राजकर्त्तव्य का उल्लेख किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं शब्दों में राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य का प्रतिपादन करते हैं। **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार ले-जानेवाले पुरुष की भाँति **एनम्**=इस राजा को **ऊर्ध्वम् उच्छ्रयतात्**=तू उन्नत कर, उन्नत स्थिति में स्थापित कर। जब प्रजा राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करती है तब राजा को प्रभु का प्रतीक मानती हुई उसकी आज्ञा का पालन करती है। प्रजा राजनियमों की अवहेलना तक नहीं करती। २. प्रजा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह 'कर-नियमों' का पालन करती हुई ऐसा प्रयत्न करे कि **अथ**=अब **अस्य**=इस राजा की **मध्यम्**=श्री **एजतु**=(सत्कर्मसु चेष्टताम्—द०) राष्ट्रोन्नति के उत्तम कार्यों में विनियुक्त हो। राजा ने श्री का विनियोग अपने विलास व सजधज में थोड़े ही करना है? उसने तो इस कोश को अपने लिए 'बन्ध्या गौ' के समान समझते हुए प्रजा के लिए ही इसे कामधेनु बनाना है। ३. प्रजा भी **शीते वाते पुनन् इव**=बढ़ी हुई वायु में तुष व अन्न को अलग करते हुए पुरुष की भाँति शान्त क्रियाशीलता में अपने जीवनों को पवित्र करनेवाली बने। शान्तिपूर्वक क्रिया में लगे हुए लोग व्यर्थ के उपद्रव की बातों को सोचते ही नहीं।

भावार्थ—प्रजा के तीन कर्त्तव्य ये हैं—१. वह राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करे। उसकी आज्ञा का पालन करे। २. कर देकर राजा की श्री का वर्धन करे, जिससे राजा उस श्री के द्वारा उत्तम कार्यों को करता हुआ राष्ट्र को सुन्दर बना पाए। ३. शान्त क्रियाशीलता के द्वारा प्रजा अपने जीवन से अशुभ भावनाओं को ऐसे दूर करें जैसे अन्न से भूसे को अलग कर देते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

न मे स्तेनो जनपदे

यद॑स्याऽअꣳहु॒भेद्याः॑ कृ॒धु स्थू॒लमु॒पात॑सत्।

मु॒ष्कावि॒द॑स्याऽएजतो गोश॒फे श॑कु॒लावि॑व॥२८॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार राष्ट्र व्यवस्था के उत्तम होने पर **यत्**=जो कोई भी **अंहुभेद्याः**=पाप का भेदन करनेवाली **अस्याः**=इस प्रजा का, अर्थात् पाप को अपने से दूर करनेवाली इस प्रजा का **कृधु**=(ह्रस्वः—नि० ३।२) थोड़ा-सा अथवा **स्थूलम्**=अधिक **उपातसत्**=क्षय करता है (तस्=Throw down) छोटी व बड़ी चोरी करता है, चोर के रूप में सेंध लगाकर घर का सामान चुरा ले-जाता है अथवा परिपन्थी के रूप में व्यापारी को मार्ग में ही रोककर लूट लेता है तो **अस्याः**=इस प्रजा के **इत्**=निश्चय से **मुष्कौ**=ये शोषण करनेवाले चोर राजदण्ड भय से **एजतः**=इस प्रकार काँपते हैं कि **इव**=जैसे **गोशफे**=गोखुरप्रमाण जल में **शकुलौ**=मछलियाँ काँप उठती हैं। २. राजदंण्ड के जागरूक होने पर न चोरियाँ होती हैं न डाके पड़ते हैं। प्रजा तभी शान्ति से सो पाती है जब राजदण्ड जागरित रहकर पहरा देता है। ३. यहाँ प्रजा का विशेषण 'अंहुभेद्याः' बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रजा में पाप की वृत्ति न हो—लोग अन्याय से धन न कमाएँ तो चोरियाँ अपने आप ही कम हो जाती हैं। जब कमाने में अन्याय आ जाता है तब चोरियाँ भी बढ़ने लगती हैं। अन्याय से कमाने की वृत्ति के बढ़ जाने पर ही चोरों की उत्पत्ति होती है। प्रजा में से ही ये चोर उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में दण्ड-व्यवस्था को इस प्रकार सुव्यवस्थित रक्खे कि चोर व डाकू दण्ड-भय से कम्पित होकर इस मार्ग को ही छोड़ दें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

नारी=नरहितकारिणी सभा

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः।
सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥२९॥

१. राजा के राजकार्य में सहायकरूप से जो दशावरा व त्र्यवरा परिषद् बनती हैं उनका मुख्य उद्देश्य 'प्रजा का हित करना' है, अतः नर-हितकारिणी यह सभा यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'नारी' शब्द से कही गई है। इस सभा में **यत्**=जब **ललामगुम्**=सुन्दर वाणीवाले (ललाम=सुन्दर, गो=वाणी) तथा **विष्टीमिन्**=विशेषरूप से प्रजा के लिए करुणार्द्रभाववाले (ष्टीम्=आर्द्रीभावे) राजा को **देवासः**=विद्वान् लोग, व्यवहारकुशल विद्वान् **प्र अमाविषुः**=प्रकर्षेण व्याप्त कर लेते हैं तब वे **यथा**=जैसे **सत्यस्य अक्षिभुवः**=सत्य की आँखों से देखनेवाले होते हैं, उसी प्रकार अर्थात् उसी अनुपात में **नारी**=वह नरहितकारिणी सभा **सक्थ्ना**=(षच सवने सचने च, षच् समवाये) सेवन की वृत्ति से, प्रजा पर सुख का सेचन करने से तथा अपने अन्दर समवाय व मेल से **देदिश्यते**=(Point out) संकेतित होती है, अर्थात् उस सभा के ये तीन मुख्य गुण हैं, (क) वह प्रजा की सेवा करनेवाली होती है, (ख) प्रजा पर सुखों का सेचन करती है और (ग) उस सभा के सभ्यों में परस्पर मेल होता है, वहाँ पक्ष, प्रति-पक्ष की फूट प्रबल नहीं हो पाती। २. मन्त्रार्थ से स्पष्ट है—राजा सभा में कभी कटु वाणी नहीं बोलता, वह 'ललामगु' होता है। अथर्व० ७।१२।१। में राजा कहता है कि **'चारु वदानि पितरः संगतेषु'**=हे सभासदो! मैं सभा के सभ्यों के एकत्र होने पर सदा सुन्दर शब्द ही बोलूँ। ३. अथर्व ७।१२।२ में इस सभा को नरिष्टा=मनुष्यों के लिए इष्ट को सिद्ध करनेवाली' शब्द से स्मरण किया गया है। यही भाव यहाँ 'नारी' शब्द से कहा गया है **'विद्म सभे ते नाम नरिष्टा नाम वा असि'**। ४. सभा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ पार्टीबाज़ी व वैमनस्य नहीं। **'ये ते के च सभासदः ते मे सन्तु सवाचसः'** (अ० ७।१२।२) सब सभासद् ऐकमत्यवाले हों। जितना-जितना सभासद सत्य की ओर

झुकाववाले होंगे, सत्य की ही आँख से देखनेवाले होंगे उतना-उतना वे परस्पर समीप होंगे। ५. 'प्र अमाविषुः'=व्याप्त करते हैं। यह शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा विद्वानों से ही घिरा होगा तो सभा प्रजा का कल्याण करनेवाली होगी, खुशामदियों से घिरा होगा तो वह राजा प्रजा का क्या कल्याण कर पाएगा?

भावार्थ—जब राजा को विद्वान् लोग व्याप्त करते हैं तभी राजसभा प्रजा की सेवा कर पाती है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—राजा। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

हरिण का यवभक्षण

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति॥३०॥

१. **यत्**=जब **हरिणः**=राष्ट्र, अर्थात् राष्ट्र का अधिकारी राजा **यवम्**=प्रजा को (विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः—श० १३।२।९।८) **अत्ति**=खाने लगता है तब वह **पुष्टम्**=पोषणवाली को, राष्ट्र की उन्नति को **पशु**=(पशुम्=प्रजा वै पशवः—श०१।४।६।१७) प्रजा को **न मन्यते**=आदर नहीं देता। वे पुष्ट प्रजाएँ ही वस्तुतः राष्ट्र की उन्नति का भी मूल है, ऐसा वह नहीं समझता। ऐसा न समझकर वह भारी करों द्वारा व अन्य उपायों द्वारा उनकी सम्पत्ति को हड़पने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने ही मूल को समाप्त कर लेता है। ऐसा राजा अपने भोग-विलास को ही महत्त्व देता है, प्रजा के पोषण को नहीं। २. एक **शूद्रा**=दासी **यत्**=जब **अर्यजारा**=स्वामी की 'जारा' बनकर उसकी शक्तियों को जीर्ण करनेवाली होती है तब वह **पोषाय**=वंश-पोषण के लिए **न धनायति**=सन्तान-धन की इच्छा नहीं करती। वहाँ भोगवासना का प्राधान्य होता है, वंशवृद्धि की भावना का वहाँ अभाव होता है। इसी प्रकार जिस राजा में विलास की वृत्ति आ जाती है, वह प्रजोन्नतिरूप धन की कामना से शून्य हो जाता है।

भावार्थ—जैसे एक दासी अपने स्वामी का उपभोग करती हुई वंशवृद्धि की कामनावाली नहीं होती, उसी प्रकार एक विलासी वृत्तिवाला राजा प्रजा को अत्यधिक कर आदि द्वारा खाता हुआ प्रजा-पोषण को महत्त्व नहीं देता।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—राजप्रजे। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पोषण की भावना का अभाव

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते।
शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यते॥३१॥

१. **यत्**=जब **हरिणः**=जिसने प्रजा के दुःखों का हरण करना था, वह राजा ही **यवम्**=प्रजा को (अपने से दोषों को दूर करनेवाली व गुणों से अपना मेल करनेवाली प्रजा को) **अत्ति**=खाता है, वह **पुष्टम्** =प्रजा के पोषण को **न बहु मन्यते**=बहुत महत्त्व नहीं देता। विलास की वृत्ति राजा को अन्धा बना देती है और वह विलास में फँसा हुआ प्रजा का तो नाश करता ही है, अपना भी नाश कर बैठता है। २. **शूद्रः**=एक शूद्र जब **अर्यायै जारः**=किसी वैश्य स्त्री का प्रेमी बन जाता है तब **पोषम्**=वंशवर्धन की न **अनुमन्यते**=कभी स्वीकृति नहीं देता, अर्थात् उसके उस प्रेम में केवल विलासिता-ही-विलासिता होती है, वहाँ कोई उच्च भावना काम नहीं कर रही होती। इस प्रकार एक विलासवृत्ति का राजा प्रजा-पोषण का नाममात्र भी ध्यान नहीं देता।

भावार्थ—राजा विलासी हो जाए तो वह उस शूद्र व्यक्ति के समान होता है जो एक स्वामिनी का प्रेमी बनकर वंशवृद्धि के विचार को कोई महत्त्व नहीं देता।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—राजा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'दधिक्रावा' का स्तवन

दधिक्राव्णोऽअकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।

सुरभि नो मुखा करत्प्र णऽआयूᳬषि तारिषत्॥३२॥

१. 'हमारे जीवन विलासमय न हो जाएँ' इसके लिए आवश्यक है कि हम सदा प्रभु का उपासन करें, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के उपासन का वर्णन करते हुए कहते हैं—मैं उस प्रभु का **अकारिषम्**=स्तवन करता हूँ (विष्णोः करोमि=विष्णु का स्तवन करता हूँ) जो (क) **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) धारणात्मक कर्म करते हुए गति करता है। उस प्रभु का प्रजाकर्म धारणात्मक है। (ख) **जिष्णोः**=जो प्रभु विजयशील हैं। वस्तुतः हम जो भी विजय प्राप्त करते हैं उस विजय को वे प्रभु ही हमें प्राप्त करा रहे होते हैं। प्रभु कभी पराजित नहीं होते। (ग) **अश्वस्य**=(अश्व व्याप्तौ) वे प्रभु व्यापक हैं। हमें भी उस प्रभु का अनुकरण करते हुए व्यापक व उदार बनना है। (घ) **वाजिनः**=उस प्रभु का जो (वज् गतौ) क्रियाशील व शक्तिशाली हैं (वाज=शक्ति)। २. इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हमें भी 'दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। ३. इस प्रकार बननेवाला पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि वे प्रभु **नः मुखा**=हमारे मुखों को **सुरभि करत्**=सुगन्धित करे। हमारे मुख से कोई कड़वा शब्द न निकले तथा **नः आयूँषि**=हमारे जीवनों को **प्रतारिषत्**=दीर्घ कर दे। जब हमारे मुखों से कोई अशुभ शब्द नहीं निकलता तब हमें अवश्य दीर्घजीवन प्राप्त होता है। कड़वे शब्द हमारे आयुष्य को भी काटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' पुरुष के मुख से कोई अपशब्द उच्चारित नहीं होता और इसे दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

छन्दों के नामों का उपदेश

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह।

बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३३॥

१. **गायत्री**=छन्द 'गयः प्राणास्तान् तत्रे'='प्राणशक्ति की रक्षा करना' इस **सूचीभिः**=सूचना से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करें। गायत्री छन्द का तुझे यही उपदेश है कि तू प्राणशक्ति की रक्षा करनेवाला बनना। प्राणशक्ति की रक्षा से स्वस्थ बनकर तू शान्ति को प्राप्त करनेवाला होगा। २. **त्रिष्टुप्**=छन्द 'त्रि+स्तुप्'='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को रोकने की सूचना देता है। 'त्रिष्टुप्' छन्द का उपदेश यही है कि तूने काम-क्रोध-लोभ इन तीनों को रोकना है। ये ही नरक के द्वार हैं। इनको बन्द करके तू स्वर्ग की शान्ति का अनुभव कर पाएगा। ३. **जगती**=छन्द 'निरन्तर गति' का उपदेश देता हुआ तेरे जीवन को शान्त बनाए। स्वस्थ बनकर, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर तूने निरन्तर क्रिया में लगे रहना है। ४. **अनुष्टुप्** (अनुस्तौति)=छन्द यह सूचना देता है कि तू गति करता हुआ, क्रिया करता हुआ प्रभु का स्तवन अवश्य कर। प्रभुस्मरण के साथ की गई क्रियाएँ तेरे जीवन की शान्ति का कारण

बनेंगी। प्रभु को न भूलकर किये जानेवाले कर्म पवित्र होते हैं। पवित्रता सदा शान्ति देती है। ५. **पङ्क्त्या सह**=पंक्ति छन्द के साथ अनुष्टुप् तुझे प्रभुस्मरण की सूचना द्वारा शान्ति प्रदान करे। पंक्ति छन्द की सूचना यह है कि तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाला बन, पाँचों कर्मेन्द्रियों को तू सशक्त बना, तेरे पाँचों प्राण अपना-अपना कार्य ठीक से करें। इस पंक्ति छन्द की सूचना को कार्यान्वित करके तू सचमुच 'पञ्चजन'=पाँचों का विकास करनेवाला व दूसरे अर्थों में सच्चा मनुष्य बनेगा। ६. **बृहती**=छन्द की सूचना यह है कि तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी दृष्टिकोणों से सदा वर्धमान हो। 'वृद्धि' तेरे जीवन का सूत्र हो। इस सूत्र को स्मरण करने से तू उन्नति की ओर ही बढ़ेगा और वास्तविक शान्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो रहा होगा। ७. **उष्णिहा**=(उत् स्निह्यति) छन्द की सूचना यह है कि तूने उत्कृष्ट स्नेह करनेवाला बनना है। प्रकृति की ओर न झुककर प्रभु की ओर उन्मुख होना है। यही तेरी उन्नति का साधन होगा। ८. **ककुप्**=छन्द 'शिखर' का वाचक है। इसकी सूचना यही है कि उन्नत होते-होते तूने शिखर तक पहुँचना है। शिखर तक पहुँचे बिना विराम नहीं लेना। ९. इस प्रकार ये छन्द 'गायत्री' से प्रारम्भ होकर 'ककुप्' पर समाप्त होते हुए यही कह रहे हैं कि (क) तू अपनी प्राणशक्ति की रक्षा कर। (ख) प्राणशक्ति की रक्षा के लिए ही 'काम-क्रोध-लोभ' को रोकनेवाला बन। (ग) इनको रोकने के लिए क्रिया में लगा रह। (घ) क्रिया को करते हुए प्रभु को न भूल। (ङ) इस प्रकार तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को सबल बना पाएगा। (च) तू सदा अपना वर्धन करनेवाला बन। (छ) इस वर्धन के लिए तू उत्कृष्ट स्नेहवाला हो और (ज) शिखर तक पहुँचनेवाला बन। सब छन्दों की सूचनाएँ तेरे जीवन को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—छन्दों के नाम उच्च भावनाओं की सूचना देते हुए हमें शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रजाः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

छन्दों के विविध स्वरूपों के उपदेश

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः।

विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३४॥

१. **द्विपदाः**=जो छन्द की जातियाँ दो चरणोंवाली हैं **याः**=जो **चतुष्पदाः**=चार चरणोंवाली हैं **त्रिपदाः** =जो तीन चरणोंवाली हैं **याः च**=और जो **षट्पदाः**=छह चरणोंवाली हैं, **विच्छन्दाः**=जो छन्दोंरहित विषमाक्षर गद्यरूप हैं **याः च**=और जो **सच्छन्दाः**=छन्दोंयुक्त हैं, वे सब **सूचीभिः**=विविध उपदेशों की सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। २. द्विपद छन्दों की सूचना है कि तू 'ज्ञान व कर्म' इन दोनों को अपनानेवाला हो। ये एक पक्षी के दो पंखों की भाँति हैं। जैसे पक्षी किसी एक पंख से आकाश में उड़ नहीं सकता, इसी प्रकार तू अकेले ज्ञान वा अकेले कर्म से उड़ न सकेगा। ३. चतुष्पदा छन्द कह रहे हैं कि 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' ये चारों ही तेरी **पद**=प्राप्य वस्तु हैं। धर्म व मोक्ष को भूलकर तू अर्थ व काम में ही न फँस जाना। ४. त्रिपदा छन्द कहते हैं कि तूने तीन कदम रखने हैं तभी तू त्रिविक्रम बनेगा। तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बना। 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों पर आक्रमण करनेवाला बन। 'सत्य, यश, श्री' तीनों को धारण कर। त्रिमात्रा ओंकार का ध्यान करके त्रिलोकी का विजय करनेवाला हो। ५. षट्पदा छन्द 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य' इन छह-के-छह शत्रुओं पर आक्रमण की सूचना दे रहे हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व छठे मन को काबू करने का ये उपदेश देते हैं। ६. 'विछन्द' यदि

छन्दरहित–इच्छा रहित होने का उपदेश देते हैं तो 'सच्छन्द' कह रहे हैं कि तुममें वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग करने की इच्छा तो होनी ही चाहिए।

भावार्थ–मन्त्र के विविध छन्दों की स्वरूप-सूचनाएँ हमें शान्ति देनेवाली बनें।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**प्रजाः**। छन्दः–**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः–**ऋषभः**॥

विविध वाणियों के उपदेश

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः।
मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३५॥

१. **महानाम्न्यः**=महानाम्नी नामवाली **वाचः**=ऋग्वाणियाँ **सूचीभिः**=अपने सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। ये 'महानाम्नी' ऋचाएँ महान् प्रभु के नामों का स्मरण कराने के कारण 'महानाम्नी' कहलाती हैं। प्रभु नाम-स्मरण से मनुष्य में ये शक्ति उत्पन्न करती हैं, अतः 'शक्वर्यः' नामवाली भी हो जाती हैं। इनका उपदेश यही है कि 'उस महान् प्रभु के नाम का जप करो और उसके अर्थ की भावना करो'। जीवन की सच्ची पवित्रता व शान्ति इसी से प्राप्त होती है। २. **रेवत्यः**=रेवत नामवाली **वाचः**=रेवती वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। इन वाणियों से ही हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करने का बोध लेते हैं। ३. **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **प्रभूवरीः** =शक्तिशाली बनानेवाली **वाचः**=वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से तुझे शान्त करें। इन वाणियों का उपदेश है कि तुम अपनी सब दिशाओं को शक्तिशाली बनाओ, अर्थात् सब दिशाओं में उन्नति करनेवाले बनो। तुम्हारा शरीर-मन-मस्तिष्क सभी प्रभावशाली हों। ४. **मैघीः**=मेघों के समान ज्ञानजल का वर्षण करनेवाली ये **वाचः**=वाणियाँ तुझे अपनी सूचनाओं से शान्त करें। इनकी सूचना है कि जैसे मेघ जल की वर्षा से औरों के सन्तापों को हरता है उसी प्रकार तू ज्ञानजल के वर्षण से औरों को सुखी करनेवाला हो। ५. **विद्युतः**=ये विशेष द्युतिवाली **वाचः**=वाणियाँ, विद्युत् के समान चमकती हुई सूचना दे रही हैं कि तू विशिष्ट ज्ञान से चमकनेवाला बन। यह सूचना तेरे जीवन का अङ्ग बने और तुझे शान्ति प्राप्त कराए।

भावार्थ–वेद की विविध वाणियाँ यह उपदेश दे रही हैं कि (क) तुम उस महान् प्रभु के नाम का स्मरण करो। (ख) वास्तविक ऐश्वर्य का अर्जन करो। (ग) सब दिशाओं में उन्नति करो। (घ) मेघों की भाँति सन्ताप हरनेवाले बनो और (ङ) बिजली की भाँति चमकते हुए अन्धेरे में औरों को रास्ता दिखानेवाले बनो।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**स्त्रियः**। छन्दः–**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः–**ऋषभः**।

सोम-विचयन

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३६॥

१. मन्त्र संख्या २९ में राजा की सभा को नारी=नरिष्टा=नरहितकारिणी कहा गया था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी पत्नीभूत, राष्ट्रयज्ञ के चलाने के लिए जिनके साथ तेरा संयोग हुआ है वे ये तेरी पत्नियाँ (पत्युर्नो यज्ञसंयोगे) **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ, अर्थात् सभा के सब सभ्य **मनीषया**=(मनसः ईषा) मन पर शासन करने के दृष्टिकोण से **लोम विचिन्वन्तु**=(सामानि यस्य लोमानि) साम का, प्रभु की उपासना का

सञ्चय करें, अर्थात् प्रभु की उपासना के मन्त्रों का संग्रह करके उन मन्त्रों से प्रभु-स्तवन के द्वारा अपने मनों को विषयों में जाने से रोकनेवाली हों। २. **देवानां पत्न्यः**=इन्द्रादि देवताओं की पत्नीभूत ये **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **सूचीभिः**=सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करनेवाली हों। 'प्राची' का उपदेश=प्र अञ्च्=आगे बढ़ने का है, 'दक्षिणा'=दक्षिण व कुशल बनने को कह रही है और 'प्रतीची'=विषयव्यावृत्त होकर इन्द्रियों को प्रत्याहृत करने का उपदेश देती है 'उदीची' (उद् अञ्च्) ऊपर उठने का उपदेश दे रही है। ये सब उपदेश तेरे जीवन में शान्ति लानेवाले बनें। ३. 'छन्दांसि वै लोमानि' (श० ६।४।१।६) इस वाक्य में छन्द को, वेद मन्त्रों को 'लोम' नाम दिया गया है। ये वेदमन्त्र छन्द हैं, पापवृत्तियों से सचमुच बचानेवाले हैं। गृहपत्नियाँ खाली समय में इन्हीं का विचयन (संग्रह) अध्ययन करेंगी तो उनका मन व्यर्थ की बातों में जाएगा ही नहीं। ऐसी पत्नियाँ सचमुच 'नार्य' नरहितकारिणी होंगी। अपने पति के लिए उत्तम गृह का निर्माण करती हुई उसके जीवन को सुखी करेंगी। भाइयों में संघर्ष का कारण भी न बनेंगी।

भावार्थ—राजसभा के सभ्य मन को वशीभूत करने के दृष्टिकोण से रिक्त समय में उपासना-मन्त्रों का संग्रह करें। दिशाएँ (पत्नियाँ) 'आगे बढ़ने' आदि उपदेशों से हमारे जीवनों में शान्ति स्थापित करें।

नोट—'लोम' शब्द का अर्थ 'लूञ् छेदने' से यदि छेदन किया जाए तो पूर्वार्द्ध का अर्थ इस प्रकार होगा कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी कार्य की पूरिका ये **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ **मनीषया**=बुद्धि से पूर्ण विचार करके, **लोम**=राष्ट्र के दोषों के छेदन का तथा शत्रुओं के उपद्रव के भेदन का **विचिन्वन्तु**=विचार करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—स्त्रियः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

उत्तम गृहिणी

रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥३७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में गृहिणियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **रजताः**=(अनुरक्तम्—द०) अनुरागवाली **हरिणीः**=अपने उत्तम व्यवहार व कार्यकुशलता से दुःखों का हरण करनेवाली अथवा मन को आकृष्ट करेनवाली, **सीसाः**=(षिञ् बन्धने) प्रेममय व्यवहार से घर में सबको परस्पर बाँधकर रखनेवाली, घर में लड़ाई-झगड़े न होने देनेवाली, **युजः**=सदा पति का साथ देनेवाली, उसके साथ मिलकर गृहस्थ के बोझ को उठानेवाली पत्नियाँ **कर्मभिः युज्यन्ते**=कर्मों से सदा सङ्गत रहती हैं। इनका जीवन कभी अकर्मण्यता का नहीं होता। २. **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली पति के **त्वचि**=संवरण में, रक्षा में, जैसे शरीर को त्वचा ने सुरक्षित किया हुआ है उसी प्रकार पति ने घर को सुरक्षित रखना है **सिमाः**=(सर्वाः=Whole) पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त हुई-हुई **शम्यन्तीः**=शान्ति को प्राप्त होती हुई **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। ३. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के गुणों का उल्लेख इन शब्दों में किया है कि (क) **रजताः**=वे अनुरागवाली हों। प्रेम के अभाव में गृहस्थ-भवन की नींव ही नहीं पड़ सकती, (ख) **हरिणीः**=वे अपने उत्तम व्यवहार से कष्टों का हरण करनेवाली हों। पत्नी का व्यवहार ही घर को स्वर्ग व नरक बना देता है, (ग) **सीसाः**=पत्नियाँ प्रेममय व्यवहार से घर में सबको बाँधनेवाली हों। वे भाइयों को परस्पर झगड़ने न दें, (घ) **युजः**=सदा पति के कर्मों में सहयोग देनेवाली हों, (ङ) **युज्यन्ते**

कर्मभिः=कभी अकर्मण्य न हों, (च) **अश्वस्य वाजिनः त्वचि**=उन्हें कर्मशील शक्तिशाली पति का संरक्षण प्राप्त हो, (छ) **सिमाः**=वे पूर्ण स्वस्थ हों, विकलांग न हों, (ज) **शम्यन्ती**=शान्त स्वभाववाली हों। (झ) **शम्यन्तु**=औरों को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—गृहिणी उत्तम गुण-कर्म व स्वभाव से घर को स्वर्ग बनानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभासदः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आत्मदेह-विवेक

कुविदङ्ग यवमन्तो यवंञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।

इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार घर के शान्त वातावरण में ही मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सकता है। घर स्वर्ग बनेगा तो वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। ये दिव्य वृत्तिवाले लोग **कुवित्**=खूब **अङ्ग**=शीघ्र ही, **यवमन्तः**=अच्छी कृषिवाले किसान **यव**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः एक ओर से **वियूय**=कुछ-कुछ अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, उसी प्रकार क्रमशः एक ओर से शुरू करके पहले अन्नमयकोश को, फिर प्राणमय, उसके बाद मनोमय, फिर विज्ञानमय व अन्त में आनन्दमय को अलग करके अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं। २. इन साधकों में कोई अभी 'अन्नमयकोश' मैं नहीं हूँ, ऐसा ही निश्चय करने का प्रयत्न कर रहा होता है, कोई इससे ऊपर 'प्राणमयकोश मैं नहीं हूँ' ऐसा निश्चय कर चुका होता है। कोई मनोमय से ऊपर उठने का प्रयत्न कर रहा होता है तो कोई विज्ञानमय तक पहुँच रहा होता है। कोई एक आध सौभाग्यशाली साधक आनन्दमय तक पहुँच गया होता है और आत्मानन्द ले-रहा होता है। हे प्रभो! आप **इह इह**=इस-इस स्थान में पहुँचे हुए इन सब अभियुक्त (साधना में लगे हुए) व्यक्तियों का **भोजनानि**=पालन **कृणुहि**=कीजिए। आप ही इनके योगक्षेम का ध्यान करते हैं। ३. आप उन सबके योगक्षेम को चलाते हैं **ये**=जो **बर्हिषः**=हृदय में से वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले लोग **नमउक्तिम्**=नमन के वचनों को, नम्रतापूर्ण स्तुति वचनों को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। वस्तुतः प्रभु के प्रति नमन ही उन्हें वासनाओं को उन्मूलित करने में सहायक होता है। वासनाओं के विनष्ट होने पर पवित्र हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—एक-एक कोश को चिन्तनपूर्वक अलग करते हुए हम आत्मरूप को देख पाते हैं। इस आत्मरूप का दर्शन तभी होगा जब हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँगे। हृदय की पवित्रता प्रभु के प्रति नमन से होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभु-दर्शक के प्रति प्रभु

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति।

कऽउ ते शमिता कविः॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाले **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दस्वरूप प्रजापति **आछ्यति**=समन्तात् विषयों से छिन्न करता है, छुड़ाता है। प्रभु-स्मरण वासनाओं के विनाश का सर्वोत्तम व एकमात्र उपाय है। २. वे **कः त्वा**=आनन्दस्वरूप प्रभु ही तुझे वासनाओं से पृथक् करके **विशास्ति**=विशिष्ट अनुशासन करते हैं, विविध धर्मों का उपदेश करते हैं। और ३. इस उपदेश के द्वारा **कः**=वे आनन्दघन प्रजापति **ते**=तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **शम्यति**=शान्त

करते हैं। वासना की उष्णता नष्ट होकर हृदय में शान्ति के राज्य की स्थापना उस प्रभु के द्वारा की जाती है। ४. इस प्रकार वे **कः**=आनन्दमय व अनिर्वचनीय प्रजापति **कविः**=जो क्रान्तदर्शी हैं, वे उ=निश्चय से **ते**=तुझे **शमिता**=शान्ति देनेवाले हैं। प्रभुभक्त का हृदय पवित्र होता है, परिणामतः शान्त होता है। इस शान्तपुरुष को ही वास्तविक सुख का अनुभव होता है।

भावार्थ—अपने भक्त को प्रभु वासनाओं से विच्छिन्न करते हैं। उसको विशिष्ट अनुशासन करके शान्त अङ्गोंवाला करते हैं। ये क्रान्तदर्शी प्रभु ही वस्तुतः हमें शान्ति का लाभ कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ऋतुओं की अनुकूलता

ऋतवस्तऽऋतुथा पर्व॑ शमितारो वि शा॑सतु।
संवत्सरस्य तेज॑सा शमीभिः॑ शम्यन्तु त्वा॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता होने पर ब्रह्माण्ड के सभी देवों की अनुकूलता हो जाती है। उसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—**ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ **ते**=तेरे **ऋतुथा**=उस-उस ऋतु के अनुसार चलने से **पर्व**=एक-एक जोड़ को **शमितारः**=शान्त करनेवाली होकर **विशासतु**=विशिष्ट उपदेश दें। ऋतुएँ सब सुन्दर हैं, परन्तु जब मनुष्य प्रभु से दूर होकर विषयों में भटक जाता है तब उसके पर्वों में विविध मलों का संग्रह होकर शरीर में विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतुचर्या ठीक होने पर शरीर व मन दोनों नीरोग होते हैं और यह नीरोग व्यक्ति वसन्त आदि के उपदेश को जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करता है। यह 'वसन्त' की भाँति उत्तम निवासवाला व उत्तम शक्तियों के विकासवाला बनने का प्रयत्न करता है। 'ग्रीष्म' की भाँति उत्साहसम्पन्न व निरालस्य बनता है। 'वर्षा' के समान लोगों पर ज्ञान की वर्षा के द्वारा उनके सन्ताप को हरने का प्रयत्न करता है। 'शरद' की भाँति बुराईरूप सब पत्तों को अपने से झाड़नेवाला बनता है। बुराइयों को झाड़कर 'हेमन्त' की भाँति अपना (हि उपचये) उपचय (वृद्धि) करता है और 'शिशिर' से (शश प्लुतगतौ) तीव्र गति का उपदेश ग्रहण करता है। कार्यों में पूरे उत्साह से लगा रहता है। २. इस प्रकार ये सब ऋतुएँ मिलकर **'संवत्सर'**=(वर्ष) को बनाती हुई **संवत्सरस्य तेजसा**=सम्पूर्ण वर्ष की तेजस्विता से, अर्थात् जिस तेजस्विता में बीमार पड़ जाने के कारण कमी नहीं आ गई, उस तेजस्विता से तथा **शमीभिः**=(शमी=कर्म—नि० २।१) शान्तिपूर्वक किये जाते हुए कर्मों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त जीवनवाला बनाएँ।

भावार्थ—प्रभुभक्त के लिए सब ऋतुएँ अनुकूल व सुन्दर होती हैं। वे उसके पर्व-पर्व को शान्त करनेवाली होती हैं। इन ऋतुओं से सूचित उपदेश को भक्त ग्रहण करता है और ये ऋतुएँ नीरोगता के कारण सम्पूर्ण वर्ष की अक्षीण तेजस्विता से तथा कर्मों से इसके जीवन को शान्त बनाती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दिन-रात, पक्षों व मासों की अनुकूलता

अर्द्धमासाः परू॑ꣳषि ते मासाऽआ च्छ्यन्तु शम्य॑न्तः।
अहोरात्राणि॑ मरुतो विलि॑ष्टꣳसूदयन्तु ते॥४१॥

१. **अर्धमासाः**=आधे मास, अर्थात् शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष, **मासाः**=वर्ष के बारह

महीने, **शम्यन्तः**=तेरे जीवन को शान्त बनाते हुए **ते परूँषि**=तेरे सब जोड़ों (joints) को **आच्छ्यन्तु**=दोषों से छिन्न=रहित करें। दोनों पक्ष तेरे अनुकूल हों। मास भी तेरे अनुकूल हों। उनके अनुकूल व्यवहार करने से तेरे सब पर्व दोषशून्य हों। २. **अहोरात्राणि**=दिन-रात अर्थात् सदा **मरुतः**=ये ४९ प्रकार की वायु **ते**=तेरे **विलिष्टम्** =थोड़े-से भी अल्पीभाव व न्यूनता को **सूदयन्तु**=नष्ट करें। जिस समय मनुष्य प्रत्येक मास का ध्यान करते हुए तथा पक्षों का विचार करते हुए अपना आहार-विहार ठीक रखता है तो शरीर में सब प्राणवायुएँ ठीक कार्य करती हैं और वे **मरुत्**-प्राण दिन-रात उसकी न्यूनताओं को दूर करने में लगे रहते हैं। शरीर में होनेवाली थोड़ी-थोड़ी कमी को भी (विलिष्टम्) ये दूर करके इसे पूर्ण स्वस्थ बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—अर्धमास, मास, दिन-रात व प्राण (मरुत्) हमारे अनुकूल हों और हमारे थोड़े-से भी दोष को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अनुकूल सङ्ग (सत्सङ्ग)

दैव्या॑ऽअध्व॒र्यव॒स्त्वाच्छ्य॑न्तु॒ वि च॑ शासतु।

गात्रा॑णि पर्व॒शस्ते॒ सिमा॑ः कृण्वन्तु॒ शम्य॑न्तीः॥४२॥

१. **दैव्याः**=(देवस्य इमे) उस प्रभु के भक्त पुरुष **अध्वर्यवः**=(अध्वरं कामयमानाः) यज्ञ की कामनावाले **त्वा**=तुझे **आच्छ्यन्तु**=सब प्रकार की बुराइयों से विच्छिन्न करें। **च**=और **विशासतु**=विशिष्ट रूप से अनुशासन करें। जो 'दैव्य अध्वर्यु' पुरुष हैं वे अपने जीवन के उदाहरण से हमें सुप्रेरणा प्राप्त कराते हैं और हमें बुरे मार्ग से हटाकर उत्तम मार्ग पर लाते हैं। इस प्रकार वे हमें बुराइयों से विच्छिन्न करनेवाले हैं। उन व्यक्तियों का उपदेश हमारे लिए सचमुच बड़ा प्रभावजनक होता है और २. **शम्यन्तीः**=तेरे जीवन को शान्त बनाती हुई **सिमाः**=(सर्वः=Whole) पूर्ण स्वस्थ तेरी शक्तियाँ **ते** =तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **पर्वशः**=एक-एक पर्व में **कृण्वन्तु**=संस्कृत करनेवाली हों। शान्त व स्वस्थ पत्नी पति को भी उसी प्रकार स्वस्थ व शान्त बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हमें 'दैव्य अध्वर्यु'=भक्त, यज्ञशील लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो। हमारी आन्तरिक शक्तियाँ भी शान्त व स्वस्थ हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सर्वलोकानुकूल्य

द्यौस्ते॑ पृथि॒व्य॒न्तरि॑क्षं वा॒यु॒श्छि॒द्रं पृ॑णातु ते।

सूर्य॑स्ते॒ नक्ष॑त्रैः स॒ह लो॒कं कृ॑णोतु साधु॒या॥४३॥

१. **ते**=तेरा **द्यौः**=द्युलोक, **पृथिवी**=पृथिवीलोक, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक तथा इस अन्तरिक्षलोक में चलनेवाली **वायुः**=वायु **ते छिद्रम्**=तेरे शरीर में होनेवाले दोषमात्र को **पृणातु**=भर दे, अर्थात् इन सबकी अनुकूलता से तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक हों। विकलाङ्गता तो हो ही नहीं। सकलाङ्गता के साथ वे सब अङ्ग अपना-अपना कार्य करने में पूर्ण स्वस्थ हों। यहाँ '**ते**=तेरा' यह सम्बन्ध शब्द स्पष्ट कह रहा है कि इन सब लोकों के साथ हमारा अपनापन हो। ये सब हमारे मित्र हों न कि शत्रु। २. **सूर्यः**=यह सूर्य **नक्षत्रैः सह**=अन्य सब नक्षत्रों के साथ **ते लोकम्**=तेरे दर्शन को (लोक दर्शने) तेरी दृष्टिशक्ति को **साधुया**

कृणोतु=साधु, समीचीन, उत्तम बना दे। वस्तुतः सूर्य दृष्टिशक्ति बनकर अक्षि में निवास करता है। इस सूर्य की अनुकूलता होने पर हमारी दृष्टिशक्ति के ठीक होने पर हमारा यह संसार भी सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथिवीलोक, वायु, सूर्य तथा नक्षत्र ये सब हमारे अनुकूल होकर हमारे शरीरों को निर्दोष करें तथा हमारी दृष्टिशक्ति को उत्तम करके हमारे संसार को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—राजा। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

शमन्वित (शान्तिगुणयुक्त) शरीर

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव॥४४॥

१. बाह्य संसार की अनुकूलता होने पर यह शरीररूप छोटा पिण्ड भी बड़ा स्वस्थ बनता है, अतः कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार द्युलोक आदि की अनुकूलता होने पर तेरे **परेभ्यः गात्रेभ्यः**=उत्कृष्ट, ऊपर के सिर, हाथ आदि अङ्गों के लिए **शम्**=शान्ति हो। **अवरेभ्यः (गात्रेभ्यः) शम् अस्तु**=अवर (lower), निचले पाँव आदि अङ्गों के लिए शान्ति हो। २. **अस्थभ्यः मज्जभ्यः**=शरीर की सब दुर्बलताओं को दूर फेंकनेवाली (अस्यन्ति=क्षिपन्ति) इन हड्डियों के लिए तथा (मज्जन्ति शुचन्ति=शुद्धिं कुर्वन्ति) शोधन करनेवाली मज्जा के लिए **शम्**=शान्ति हो। हड्डियों के ठीक होने पर ही शरीर का ठीक होना निर्भर है। इनकी निर्बलता मनुष्य को दुःख देती है। मज्जा के ठीक होने पर शरीर शुद्ध बना रहता है। ३. इस प्रकार **तव**=तेरे **तन्वै**=सम्पूर्ण शरीर के लिए उ=निश्चय से **शम् अस्तु**=शान्ति हो।

भावार्थ—बाह्य द्युलोक आदि की अनुकूलता से हमारे पर, अवर सब गात्र तथा अस्थि व मज्जा तथा सम्पूर्ण शरीर रोगों के उपद्रव से रहित व शान्त हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—जिज्ञासुः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ब्रह्मोद्य=ज्ञानचर्चा

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥४५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सूर्यादयः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥४६॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शरीर के स्वस्थ व शमगुणयुक्त होने पर मनुष्य उत्तम ज्ञानचर्चाएँ करते हुए परस्पर प्रश्नोत्तर के प्रकार से ज्ञान का विस्तार करते हैं और उदाहरण के लिए निम्न प्रश्न उपस्थित करते हैं—(क) **स्वित्**=भला **कः**=कौन **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? किसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती? (ख) **कः स्वित्**=कौन भला **पुनः**=फिर **जायते**=विकास को प्राप्त करता है? (ग) **किं स्वित्**=भला क्या **हिमस्य भेषजम्**=हिम का, ठण्डक का औषध है? (घ) उ=और **किम्**=क्या **महत्**=महान् **आवपनम्**=बोने का स्थान है? २. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क)

सूर्यः=सूर्य **एकाकी चरति**=अकेला विचरता है। पृथिवी आदि सूर्य से आकृष्ट होकर उसके चारों ओर घूमें तो घूमें, सूर्य को इनकी अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार अपराश्रित रूप से विचरनेवाला व्यक्ति ही सूर्य की भाँति चमकता है। स्वतन्त्रता में ही चमक है, (ख) **चन्द्रमा**=चाँद **पुनः**=फिर, कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर से **जायते**=विकसित हो जाता है। शरीर में यही चन्द्रमा मन है और मन के विकास के अनुपात में ही मनुष्य का विकास होता है, (ग) **हिमस्य**=ठण्डक का **भेषजम्**=औषध **अग्निः**=अग्नि है। शरीर में वाणी ही अग्नि है। यह वाणी किसी भी ठण्डे पड़े आन्दोलन को फिर से प्रचण्ड कर देने का सामर्थ्य रखती है, (घ) **भूमिः**=यह भूमि ही **महत् आवपनम्**=सबसे महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। 'पृथिवी शरीरम्' अध्यात्म में शरीर ही पृथिवी है। मनुष्य इसी में वीर्य का वपन करता है। शरीर में वीर्य को सुरक्षित करने पर ही यह बीज ज्ञानाङ्कुर व अन्य दिव्यांकुरों को जन्म देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपराश्रित होकर विचरेंगे तो सूर्य की भाँति चमकेंगे। मन को विकसित करके अपने विकास को साधेंगे। वाणी से उत्साह का सञ्चार करेंगे तो शरीर एवं पृथिवी को बीज-(वीर्य)-वपन का स्थान बनाते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों के अंकुरों को प्रादुर्भूत करनेवाले होंगे।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—जिज्ञासुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ब्रह्म-द्यौः-इन्द्र-गौः

किꣳस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किꣳसमुद्रसमꣳसरः।
किꣳस्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥४७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ब्रह्मादयः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳसरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते॥४८॥

१. **स्वित्**=भला **सूर्यसमम्**=सूर्य के समान **ज्योतिः**=प्रकाश **किम्**=क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **ब्रह्म**=परमात्मा ही **सूर्यसमं ज्योति** :=सूर्य के समान प्रकाश हैं। वेद में प्रभु को 'आदित्यवर्णम्' शब्द से स्मरण किया गया है। गीता में **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः'** इन शब्दों में प्रभु की ज्योति को हज़ारों सूर्यों की समुदित ज्योति से प्रतितुलित करने का प्रयत्न किया गया है। **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** इन वेद के शब्दों में प्रभु को सूर्य की तेजस्विता का कारण कहा है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश है और चन्द्रमा उसकी एक किरण से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रभु स्वयं प्रकाश हैं। जीव उस प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता है। (ख) यही ब्रह्म अध्यात्म में ज्ञान है। ज्ञान ही सूर्यसम ज्योति है। हमें अपने ज्ञान को सूर्य के समान दीप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। २. दूसरा प्रश्न, **समुद्रसमं सरः किम्**=समुद्र के समान तालाब कौन-सा है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **द्यौः**=द्युलोक ही **समुद्रसमं सरः**=समुद्र के समान तालाब है। वस्तुतः द्युलोकस्थ सूर्य इस पृथिवी के तालाबरूप समुद्र के पानी को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और वे वाष्प ऊपर जाकर कुछ घनीभूत होकर मेघरूप में परिणित होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र का निर्माण करते हैं और इस प्रकार द्युलोक इस समुद्र के समान एक महान् 'सर' बन जाता है। (ख)

शरीर में ये जल रेतस् रूप में रहते हैं। मूलाधारचक्र के समीप इनका स्थान है। प्राणायाम आदि की उष्णता से इनकी ऊर्ध्वगति होकर ये मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानाग्नि का उसी प्रकार ईंधन बनते हैं जिस प्रकार अन्तरिक्ष में मेघजल विद्युत् का। ३. तीसरा प्रश्न है **पृथिव्यै**=(पृथिव्याः) पृथिवी से **वर्षीयः**=अधिक बड़ा, अधिक पुराना **किं स्वित्**=क्या है? अथवा पृथिवी के लिए सर्वाधिक वृष्टि करनेवाला कौन है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **इन्द्रः**=सूर्य **पृथिव्यै**=पृथिवी से **वर्षीयान्**=बड़ा व पुराना है। उसी का एक अंशभूत यह पृथिवी है। किसी समय यह पृथिवी उस देदीप्यमान विराट् पिण्ड का ही भाग थी। सूर्य इस पृथिवी से १३ लाख गुणा बड़ा है। वह सूर्य ही इस पृथिवी पर वर्षा का भी कारण बनता है। (ख) अध्यात्म में जीव जब 'इन्द्र' बनता है। सब असुरों का संहार करनेवाला बनता है तब इस पृथिवीरूप शरीर के लिए अधिक-से-अधिक सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. चौथा प्रश्न है **कस्य मात्रा न विद्यते**=किसकी मात्रा नहीं है? कौन सीमित नहीं है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **गोः**=ज्ञान की वाणी की **तु**=तो **मात्रा**=माप **न विद्यते**=नहीं है। ज्ञान अनन्त है 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'=Art is long। ज्ञान का कहीं अन्त है? (ख) एक ही वस्तु का मनुष्य के लिए माप नहीं है और वह है 'ज्ञान की प्राप्ति'। जितना भी हम अधिक ज्ञान प्राप्त करें, वह थोड़ा है। ज्ञान की मात्रा नहीं है। जितना ज्ञान प्राप्त करेंगे उतना ही कल्याण होगा।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। हमें भी ज्योतिर्मय बनकर प्रभु-जैसा बनना है। मेघों से अन्तरिक्षीय समुद्र बना है। हमें भी वीर्यरूप जलों की ऊर्ध्वगति कर द्युलोकरूप मस्तिष्क में ज्ञानजल को भरना है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास करना है। हम असुरों के संहार करनेवाले इन्द्र बनकर इस शरीर में सुखों की वर्षा कर सकते हैं। जितना भी अधिक हो सके हम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टृसमाधातारौः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पद-त्रयी

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमा विवेशाँ३॥ऽ॥४९॥

१. यज्ञ की समाप्ति पर परस्पर ज्ञानचर्चा करते हुए उद्गाता ब्रह्मा से कहता है कि हे ब्रह्मन्! **देवसख**=देवों के मित्र अथवा उस देवाधिदेव प्रभु के समान ख्यानवाले (ख्यान=नाम व दर्शन)! **चितये**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए **त्वा पृच्छामि**=आपसे मैं यह पूछता हूँ कि **यदि**=अगर **त्वम्**=आप **अत्र**=इस विषय में **मनसा** =मनन के द्वारा **जगन्थ**=गये हैं, अर्थात् यदि विचार करते-करते आपने इस बात को समझा है, यदि आप जानते हैं तो मुझे भी बतलाइए। मैं केवल जिज्ञासुभाव से प्रश्न कर रहा हूँ—'मुझमें कोई विजिगीषा की भावना हो' ऐसा नहीं। मैं जल्प व वितण्डा की वृत्ति को अपनाकर प्रश्न नहीं कर रहा हूँ। शुद्ध (सं) वाद के विचार से मेरा प्रश्न है। २. प्रश्न मेरा उन लोकों के विषय में है **येषु**=जिन **त्रिषु पदेषु**=तीन पदों में **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **इष्टः**=(=आ इष्टः) सर्वथा चाहा गया है, (इष् इच्छायाम्), अर्थात् वह पूजा के योग्य (यज+क्त) है। **तेषु**=उन्हीं तीन पदों में ही तो **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है।

इस प्रकार प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अपि॒ तेषु॑ त्रि॒षु प॒देष्व॑स्मि॒ येषु॒ विश्वं॒ भुव॑नमा वि॒वेश॑।

स॒द्यः पर्ये॑मि पृथि॒वीमु॒त द्यामेके॒नाङ्गे॑न दि॒वोऽअ॒स्य पृ॒ष्ठम्॥५०॥

१. **तेषु त्रिषु पदेषु अपि अस्मि**=उन तीनों लोकों में भी मैं हूँ, अर्थात् उन तीनों लोकों का मुझे खूब ज्ञान है **येषु विश्वं भुवनं आविवेश**=जिनमें यह सारा ब्रह्माण्ड समा जाता है। वस्तुतः एक-एक कदम में एक-एक लोक को व्याप्त करने से ही **विष्णु** '**त्रि-विक्रम**' कहलाये हैं। २. मैं **सद्यः**=शीघ्र ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान ही ब्रह्मचर्यसूक्त में ज्ञानाग्नि की प्रथम समिधा कही गई है। 'पृथिवी' शब्द वेद में अन्तरिक्ष का भी वाचक है, अतः इस पृथिवी शब्द से अन्तरिक्ष का भी यहाँ ग्रहण करना है। मैं अन्तरिक्षलोक को भी जानता हूँ। यही ज्ञानाग्नि की द्वितीय समिधा है। ३. **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को भी **सद्यः**=शीघ्र ही **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। द्युलोक का भी मैं ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। यही ज्ञान मेरी ज्ञानाग्नि की तृतीय समिधा बनता है। ४. **एकेन अङ्गेन**=और अद्वितीय (अनुपम) प्रथम कोटि के ज्ञान से (अगि गतौ) **अस्य दिवः**=इस द्युलोक के **पृष्ठम्**=आधारभूत ब्रह्मलोक को जानता हूँ। अथवा पुरुषसूक्त के इन शब्दों के अनुसार कि 'वह प्रभु पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके इससे भी ऊपर उठे हुए हैं तथा यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में है। 'पृष्ठम्' शब्द का अर्थ द्युलोक से ऊपर का भाग भी किया जा सकता है। मैं द्युलोक के जो परे है उसे भी जानता हूँ। इन तीनों लोकों को जानते हुए चतुर्थ ब्रह्मलोक को भी जानता हूँ। मेरा ज्ञान त्रिपात् न होकर चतुष्पात् है। इन लोकों से प्रभु का ज्ञान होता है, अतः वे लोक 'पद' (पद्यते) कहलाये हैं, इन तीनों पदों से ऊपर प्रभु स्वयं पद (पद्यते) हैं, ज्ञानगम्य हैं। उन्हीं को जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—१. हम इस पृथिवीलोक का ज्ञान प्राप्त करें। पृथिवीस्थ देवों में हमें प्रभु की महिमा दिखेगी। इन देवों की मुखिया 'अग्नि' तो उस प्रभु की 'विभूति' ही है—'वसूनां पावकोऽस्मि'। २. अन्तरिक्षस्थ देवों का ज्ञान प्राप्त करने पर उनमें प्रभु-माहात्म्य दृष्टिगोचर होगा। अन्तरिक्ष का मुख्यदेव वायु तो प्रभु की स्पष्ट विभूति है—**'पवनः पवतामस्मि'**। ३. हमें द्युलोक के देवों का ज्ञान प्राप्त कर सूर्य में प्रभु-माहात्म्य का चरम सौन्दर्य देखना है—**'ज्योतिषां रविरंशुमान्'**। इस प्रकार तीनों पदों में प्रभु-माहात्म्य को देखकर ही व्यक्ति देवसख=प्रभुरूप मित्रवाला (Friend of God) बनता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—पुरुषेश्वरः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अन्तःपुरुष

केष्व॒न्तः पुरु॑ष॒ऽआ वि॑वेश॒ कान्य॒न्तः पुरु॑षे॒ऽअर्पि॑तानि।

ए॒तद् ब्र॑ह्म॒न्नुप॑ वल्हामसि त्वा॒ किंस्वि॑न्नः॒ प्रति॑ वोचा॒स्यत्र॑॥५१॥

१. पिछले प्रश्न का उत्तर पाकर उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि हे ब्रह्मन्! **पुरुषः**=पुरुष **केष्वन्तः**=किनके अन्दर **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है और **कानि**=कौन-कौन **अन्तः पुरुषे**=इस अन्तःस्थित पुरुष में **अर्पितानि**=आश्रित हैं, कौन-सी वस्तुएँ पुरुष के आश्रय पर विद्यमान हैं। हे **ब्रह्मन्**=ब्रह्मन् **त्वा**=आपसे **एतत्**=यह **उपवल्हामसि**=(उपसंगम्याहूयोत्क्षिप्य

बाहू पृच्छामि–उ०) समीप आकर, ललकारकर व बाहु उठाकर पूछते हैं। देखें **किंस्वित्**=भला क्या **नः**=हमें **अत्र**=इस विषय में **प्रतिवोचासि**=आप प्रत्युत्तर देते हैं।

उद्गाता के इस प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं–

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**परमेश्वरः**। छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआ विवेश तान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानोऽअस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥५२॥

१. **पञ्चस्वन्तः**=पाँच के अन्दर **पुरुषः**=पुरुष **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है। (क) 'अन्नमयकोश' उसका सबसे बाहर का आवरण है, उसके अन्दर क्रमशः 'प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' कोश हैं। इनके अन्दर इस शरीररूप पुरी में शयन व निवास करनेवाला यह जीवात्मा प्रविष्ट हुआ है। (ख) इस रूप में भी कह सकते हैं कि 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों से बने इस शरीर में वह शरीरी पुरुष प्रविष्ट हो रहा है। (ग) इस शरीर में पाँचों प्राणों में भी उसी की शक्ति काम कर रही है। पाँचों प्राणों में भी यही प्रविष्ट है। (घ) पाँचों कर्मेन्द्रियों में स्थित होकर वही इनसे कार्य कर रहा है। (ङ) और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठाता वही पुरुष है। (च) इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृरूपेण यह 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध' आदि पाँच तन्मात्राओं का ग्रहण करनेवाला बनता है। २. **तानि**=वे सबके सब **अन्तः पुरुषे**=अन्तःस्थित पुरुष पर ही **अर्पितानि**=आश्रित हैं। इसके इस शरीर को छोड़ने पर (क) उन सब कोशों का अन्त हो जाता है। (ख) यह पाँच भौतिक शरीर विनष्ट होकर पञ्चभूतों में विलीन हो जाता है–पृथिवी तत्त्व पृथिवी में मिल जाता है तो जलीय तत्त्व जल में, अग्नि अग्नि में मिली, वायु, वायु में गया और आकाश महाकाश के रूप में दिखने लगा। (ग) इसी प्रकार पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का भी विलय हो जाता है। उस समय इन 'शब्दादि' पञ्चतन्मात्राओं का भी यहाँ ग्रहण नहीं होता। ३. (क) जब तक इस पाँच भौतिक शरीर में यह पुरुष विद्यमान रहता है तभी तक वह एक सद्गृहस्थ से धारण के योग्य 'अन्वाहार्यपचनदक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य व आवसथ्य' इन पाँचों अग्नियों का धारण करता है। (ख) बड़ों को पञ्चाङ्ग प्रणाम करने का (बाहुभ्यां चैव जानुभ्यः शिरसा वक्षसा दृशा) ध्यान करता है। (ग) शरीर के पोषण के लिए 'दूध, शर्करा, घृत-दधि-मधु' इस पंचामृत का विधिवत् सेवन करता है। (घ) पंचावयव अनुमान वाक्य से (इदं जगत् सकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत्, यत् यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकं यथाः घटः, इदं जगत् अपि कार्यं, तस्माद् सकर्तृकम्) प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय व निगमन का ठीक प्रयोग करता हुआ ईश्वरादि परोक्ष पदार्थों का निश्चय करता है। (ङ) पंचशर (कामदेव) के 'संमोहन-उन्मादन-शोषण-तापन-स्तम्भन' पाँच बाणों का शिकार न होने के लिए यही पुरुष 'पञ्चतप' तपस्या भी किया करता है (चतुर्दिक् अग्नि व सूर्य)। (च) इस स्थूल शरीर के शोधन के लिए 'वमन-रेचन-नस्य-अनुवासन (oily enema) उनिरुह (enema not oily) इन पाँच कर्मों का भी यह कभी-कभी प्रयोग करता है। (छ) ऐसे अवसरों पर यह 'पंचगव्य' (क्षीरं दधि तथा चाज्यं मूत्रं गोमयमेव च) के प्रयोग का ध्यान करता है। (ण) पाँच मकारों से (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन) बचता है। (झ) पाँच पर्वों को (चतुर्दशी-अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा, रवि-संक्रान्ति) प्रभुपूजा में व्यतीत करता हुआ अपने में उत्तमताओं को भरता है। (ज) पञ्च महायज्ञों का करना (ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-

पितृयज्ञ–अतिथियज्ञ–बलिवैश्वदेवयज्ञ) इसे कभी विस्मृत नहीं होता। इन्हीं के द्वारा वह गृहस्थ के अन्दर वर्त्तमान पाँच सूनाओं (slaughter houses) का प्रायश्चित्त करता है। (पञ्च सूनाः गृहस्थस्य चुल्ली–पेषण्युपस्करः कंडनी–उदकुम्भश्च)। (ट) इस प्रकार यह पञ्चार्पित पुरुष संसार की अभिनय–स्थली में पञ्चाङ्ग अभिनय करता हुआ जीवनयापन करता है 'चित्ता–क्षिभ्रूहस्तपादैरंगैश्चेष्टादितामयतः पात्राद्यवस्थाकरणं पंचांगोऽभिनयो मतः'। ४. इस प्रकार ब्रह्मा उत्तर देकर कहते हैं कि **एतत्**=यह **अत्र**=इस विषय में **त्वा प्रति मन्वानः**=तेरे प्रति मननपूर्वक विचार को उपस्थित करता हुआ **अस्मि**=मैं हूँ। **मायया**=बुद्धि से तू **मत् उत्तरः**= मुझसे अधिक उत्कृष्ट **न भवसि**=नहीं होता है। तू मुझे बुद्धि से जीत नहीं सकता।

भावार्थ—हम पाँचों के अन्दर प्रविष्ट व अन्तः प्रविष्ट होकर पाँचों का धारण करनेवाले आत्मस्वरूप का मनन करनेवाले बनें।

सूचना—यहाँ प्रश्नोत्तर में ज्ञानविषयक स्वस्थ स्पर्धा द्रष्टव्य है। उद्गाता का ललकारना व ब्रह्मा का चैलेञ्ज को स्वीकार करना सचमुच अभिनयात्मक है। ऐसी ज्ञान–चर्चाएँ ही मानवजाति के उत्थान का कारण हो सकती हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रष्टा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पूर्वचित्तिः बृहद्वयः

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥५३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—समाधाता। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥५४॥

१. इसी अध्याय के मन्त्र संख्या ११-१२ पर इनका विस्तृत अर्थ है। यहाँ ज्ञानचर्चा के प्रसंग में इनको पुनः उपस्थित करने का उद्देश्य यह है कि **का स्वित्**=भला **पूर्वचित्तिः**= सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य वस्तु **आसीत्**=क्या है?' इस प्रश्न का यह उत्तर कि "**द्यौः**=मस्तिष्क ही **पूर्वचित्तिः**=सर्वप्रथम ध्यान देने की वस्तु **आसीत्**=है'। हम यह कभी भूलें नहीं कि मस्तिष्क के विकास से ही तो हम गतमन्त्र में दिये गये उत्तर को देने की योग्यतावाले ब्रह्मा बन पाएँगे। २. **किं स्वित्**=भला **बृहद्**=वर्धनशील **वयः**=पक्षी (जीव) क्या है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला जीव ही **बृहद् वयः**= वर्धनशील पक्षी है। वेद में परमात्मा व आत्मा को 'द्वा सुपर्णा'=दो पक्षियों के रूप में स्मरण किया है। परमात्मा सदा बढ़े हुए हैं, जीव अल्प होने से सदा सन्मार्ग पर चलते हुए बढ़ा करता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **का**=कौन **पिलिप्पिला**='चिक्कण, आर्द्र व शोभना' भी है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अविः**=आत्मरक्षण करनेवाला ही शरीर में पिलिप्पिला=स्वास्थ्य की स्निग्धतावाली, मन में दया की आर्द्रतावाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की शोभावाली श्री से युक्त होता है। ४. चौथा प्रश्न है **किं स्वित्**=भला **का**=कौन **पिशङ्गिला आसीत्**=सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली है? उत्तर देते हैं कि **रात्रिः**=रात **पिशङ्गिला आसीत्**=रूपों को निगल जानेवाली है। रात को सब रूप समाप्त होकर कृष्ण–ही–कृष्ण दिखता है। प्रलयकाल को भी (तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे) अन्धकारमय होने से तम व रात्रि कहते हैं। उस प्रलयकाल में भी ये रूप समाप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क को ध्येय वसुओं में सबसे ऊपर रक्खें। सबसे अधिक हमें इसी का ध्यान करना है। कर्मों में सदा व्याप्त रहकर हम वर्धनशील हों। आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हुए हम स्निग्ध शरीर, आर्द्र हृदय व शोभन मस्तिष्कवाले हों। हम इस बात को न भूलें कि हमारे जीवन में भी महानिद्रा की रात्रि आनी है, जिसमें ये सब भौतिक तड़क-भड़क (रूप) समाप्त हो जाएगी, अतः इसको इतना महत्त्व क्यों देना?

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अज-श्वावित्, शश-अहिः

काऽईमरे पिशङ्गिला काऽईं कुरुपिशङ्गिला।
कऽईमास्कन्दमर्षति कऽईं पन्थां वि सर्पति॥५५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शशऽआस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति॥५६॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में पिछले मन्त्रों के अन्तिम प्रश्न को फिर से दुहराया गया है। दुहराने का कारण यह है कि 'प्रलयकाल के समय शरीर प्रकृति में विलीन हो जाते हैं' तो आत्मा कहाँ रहती है? इसका स्पष्टीकरण अभीष्ट है, अतः प्रश्न को भी दो भागों में बाँटकर दो प्रश्नों के रूप में करते हुए पूछते हैं कि **अरे**=अयि क्रियाशील विद्वन्! (ऋ गतौ) **ईम्**=निश्चय से **पिशङ्गिला का**=सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली कौन वस्तु है और **ईम्**=निश्चय से **का**=कौन **कुरुपिशङ्गिला**=(कर्मकर्तुः जीवस्य पिशङ्गिलति) इस कर्म करनेवाले जीव के रूप को निगलनेवाली है। २. तीसरा प्रश्न है कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **आस्कन्दम्**=समन्तात् शत्रुशोषण को **अर्षति**=प्राप्त होता है, अर्थात् कौन शत्रुओं का शोषण करता है? तथा चौथे प्रश्न में पूछते हैं कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **पन्थाम्**=मार्ग पर **विसर्पति**=विशिष्ट रूप से गति करता है? ३. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अरे**=अयि प्रश्नकर्तः! तू यह समझ कि **अजा**=प्रकृति **पिशङ्गिला**=सब रूपों को अपने में निगीर्ण कर लेती है। जैसे घड़ा टूटता है, पिसते-पिसते मिट्टी बन जाता है। घड़े के रूप को मिट्टी अपने में निगीर्ण कर लेती है। इसी प्रकार वे सब सूर्य, चन्द्र, तारों के आकार प्रलय के समय प्रकृति में छिप जाएँगे। मनु के शब्दों में यह सारा संसार प्रकृति में जा सोएगा (प्रसुप्तमिव सर्वतः।) ४. दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जब जीव का यह भौतिक शरीर प्रकृति में चला जाएगा उस समय इस जीव को प्रभु अपने में स्थापित कर लेंगे। वे **श्वावित्**=(मातरिश्वा=श्वा, जैसे सत्यभामा=भामा) जीव को सदा प्राप्त (विद्=लाभ) होनेवाले, जीव के सतत सखा प्रभु (सयुजा सखाया) **कुरुपिशङ्गिला**=इस क्रियाशील चेतन जीव के रूप को अपने में धारण कर लेंगे, जैसे रात्रि के समय बच्चा माता की गोद में आराम से सोया हुआ होता है, उसी प्रकार प्रलयकाल में प्रभु हम जीवों को अपनी गोद में सुलानेवाले होंगे। कुछ देर के लिए हमारे सारे कष्ट समाप्त हो जाएँगे। हम सुषुप्ति में होंगे और ब्रह्मरूप-से होंगे। **'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'** (सांख्य)। ५. तृतीय प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि **शश**=प्लुतगतिवाला पुरुष, आलस्यशून्य कर्म करनेवाला पुरुष ही **आस्कन्दम्**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-आदि शत्रुओं के शोषण को **अर्षति**=प्राप्त करता है। क्रियाशीलता में ही काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश है। ६. चौथे

प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अहिः**=(न हन्ति अथवा अह्नोति अह व्याप्तौ) न हिंसा करनेवाला व्यक्ति तथा सदा लोकहित के व्यापक कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति ही **पन्थां विसर्पति**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलता है, अर्थात् संसार में मार्गभ्रष्ट वही व्यक्ति है जो (क) हिंसारत है, (ख) व्यापक मनोवृत्ति बनाकर कर्मों में नहीं लगा हुआ, (ग) स्वार्थी है।

भावार्थ—प्रलयकाल के समय ये सब कार्यपदार्थ कारणप्रकृति में चले जाएँगे, जीव प्रभु की गोद में सो जाएँगे। 'फिर जन्म न हो' इसके लिए चाहिए कि क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं का हम शोषण कर दें और अहिंसक बनकर सदा व्यापक कर्मों में लगे रहें, स्वार्थ से सदा ऊपर उठे रहें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञ-मीमांसा

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समिधा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५८॥

१. ब्रह्मा उद्गाता से प्रश्न करता है **अस्य**=इस यज्ञ के **कति**=कितने **विष्ठाः**=(विशेषेण तिष्ठति यज्ञो यासु) विशेषरूप से ठहरने के स्थान हैं? **कति अक्षराणि**=कितने इस यज्ञ के अक्षर हैं? **होमासः कति**=कितने होम हैं? **कतिधा समिद्धः**=कितने प्रकार से यह समिद्ध होता है? मैं **यज्ञस्य विदथा**=यज्ञ के ज्ञान के विषयों को **त्वा**=तुझे **अत्र**=यहाँ **पृच्छम्**=पूछता हूँ। **कति होतारः**=कितने होता **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु में, हर ऋतु में, **यजन्ति**=इस यज्ञ को करते हैं? २. उत्तर देते हुए उद्गाता कहते हैं कि (क) **अस्य**=इस यज्ञ के **षट्**=छह **विष्ठाः**=विशेषरूप से स्थित होने के स्थान हैं। 'विष्ठा' शब्द यहाँ अन्न का वाचक हो जाता है, क्योंकि यज्ञ अन्नों में ही स्थित है। यज्ञ से होनेवाले पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति होती है और इस 'पृथिवी-जल-वायु-अग्नि-सूर्य' आदि देवों से दिये हुए अन्न को इन देवों को बिना दिये खानेवाला स्तेन (चोर=one who steels) कहलाता है, अतः अन्न के खाने से पहले इसे देवों के लिए देना होता है। देव 'अग्निमुख' हैं, अतः अग्नि में अन्न की आहुति दी जाती है, यही यज्ञ है। यह अन्न षट् रसोंवाला है, अतः अन्नों की भी संख्या छह कह दी गई है—ये छह अन्न ही यज्ञ के विष्ठा हैं, विशिष्ट आधार हैं। (ख) कितने अक्षर हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं **शतम् अक्षराणि**=सौ इसके अक्षर हैं। सौ अक्षर कहने का अभिप्राय यह है कि यज्ञों में जिन मन्त्रों का उच्चारण होता है उनके १४ छन्द गायत्री से लेकर अतिधृतिपर्यन्त हैं। गायत्री की अक्षर संख्या २४ है और ४-४ बढ़कर अन्तिम अतिधृति की अक्षर संख्या छियत्तर है। अब इनमें क्रमोत्क्रम गति से (पहला+अन्तिम, द्वितीय+अन्तिम से पहला इस प्रकार) दो-दो छन्दों के अक्षर १००, १०० ही बनते हैं। गायत्री २४+७६ अतिधृति=१००) उष्णिक् २८+७२ धृति=१००, अनुष्टुप् ३२+६८ अत्यष्टि=१००, बृहती ३६+६४ अष्टि=१००, पंक्ति ४०+६० अतिशक्वरी=१००, त्रिष्टुप् ४४+५६ शक्वरी=१००, जगती ४८+५२ अतिजगती=१००। इस प्रकार यज्ञ इन्हीं १०० अक्षरोंवाला है। (ग) 'कति होमासः' का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अशीतिः होमाः**=अस्सी होम हैं।

शतपथब्राह्मण ८।५।२।१७ में 'अन्नमशीतिः' इस वाक्य से स्पष्ट किया गया है कि अन्न ही होम है। होम में अन्न का ही प्रयोग होता है, मांस का नहीं। अन्न सम्भवतः ८० भागों में बटे हैं, अतः उन अन्नों से होनेवाले होम भी ८० हो गये हैं। शतपथब्राह्मण (९।१।१।२१) में 'अन्नम् अशीतयः' ऐसा कहा ही है, अतः ८० प्रकार के अन्न ८० प्रकार के होमों का कारण बनते हैं। (घ) **ह**=निश्चय से इस यज्ञ की **समिधः तिस्त्रः**=तीन समिधाएँ हैं। अग्निहोत्र में अब भी तीन समिधाएँ के डालने की परिपाटी चलती है। इसका आध्यात्मिक संकेत यह होता है कि आचार्य विद्यार्थी की ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, द्यौ व अन्तरिक्ष' के पदार्थों के ज्ञान की समिधाएँ डालने के लिए यत्नशील हो। हम अपने जीवनयज्ञ में 'सत्य, यश व श्री' को धारण करने का प्रयत्न करें। ३. इस प्रकार कहकर उद्गाता कहता है कि **यज्ञस्य**=यज्ञ के **विदथा**=ज्ञान के हेतु से **ते प्रब्रवीमि**=आपके प्रति मैं यह सब कहता हूँ और **सप्त होतारः**=सात होता शिरःस्थ सात प्राण (कर्णौ नासिके चक्षणी मुखम्) अथवा पाँच ज्ञानेद्रियाँ मन तथा बुद्धि—ये सात मिलकर **ऋतुशः**=उस-उस ऋतु के अनुसार **यजन्ति**=यज्ञ करते हैं। जिस-जिस ऋतु में जैसी-जैसी सामग्री अभीष्ट होती है, उसका विचार करके यज्ञ को अधिक-से-अधिक लाभकारी बनाने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के आधार अन्न हैं। वे अस्सी प्रकार के हैं, अतः होम भी अस्सी हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि सब मिलकर यज्ञों को ऋतु के अनुसार करनेवाले हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रष्टा। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सृष्टि की अज्ञेयता

कोऽअस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥५९॥

१. उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि (क) **कः**=कौन **अस्य भुवनस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **नाभिम्**=(नह्यते यत्र) बन्धनस्थान को **वेद**=जानता है? नाभि में जैसे सारी नाड़ियों का बन्धन है, इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड का बन्धन किसमें है? किसमें बँधा होने के कारण यह गिर नहीं जाता? कौन इसे धारण किये हुए है? (ख) **कः**=कौन इस ब्रह्माण्ड की **द्यावा-पृथिवी-अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोकरूप त्रिलोकी को जानता है? इनके स्वरूप को कौन पूरा-पूरा समझता है? (ग) **कः**=कौन **बृहतः सूर्यस्य**=महान् सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है? सूर्य किस प्रकार पैदा हुआ इस बात का उत्तर कौन दे सकता है? (घ) और **कः**=कौन **वेद**=जानता है, इस **चन्द्रमसम्**=चन्द्रमा को कि **यतोजाः**=जिससे यह उत्पन्न हुआ है?

इस प्रकार इस रहस्यमय सृष्टि की उत्पत्ति व धारण के विषय में प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—समाधाता। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥६०॥

१. 'अह व्याप्तौ' धातु से बनकर 'अहम्' शब्द उस प्रभु का वाचक है जोकि 'अह्नोति सर्वं जगद् व्याप्नोति'=सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने के कारण सर्वव्यापक हैं। वे सर्वव्यापक प्रभु ही **अहम्**=जोकि 'अहं' शब्द वाच्य हैं **अस्य भुवनस्य नाभिं वेद**=इस

ब्रह्माण्ड के बन्धनस्थान को जानते हैं। 'इस ब्रह्माण्ड का धारण कैसे हो रहा है? यह किसमें बँधा हुआ गिरकर नष्ट नहीं हो जाता?' यह सब बात उस सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय है। २. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक को **वेद**=जानते हैं। इन लोकों का ठीक-ठीक स्वरूप सामान्य मनुष्य के ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? '**अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन**=इस सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद ही देव भी हुए' अतः देव भी इसे पूरा-पूरा नहीं जानते। मनुष्यों के जान सकने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ३. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **बृहतः**=इस महान् **सूर्यस्य**=सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है। सूर्य को वे प्रभु ही जन्म देनेवाले हैं, अतः वे ही सूर्य के जन्म आदि को जानते हैं। ४. **अथो**=और वे प्रभु ही **चन्द्रमसम्** =चन्द्रमा को **यतोजाः**=जैसे यह उत्पन्न हुआ, वैसे जानते हैं। मनुष्य के ज्ञान से ये बातें परे हैं। वस्तुतः इस संसार के जन्म-धारण व प्रलय आदि को ठीक-ठीक जान सकना मानव के लिए सम्भव ही नहीं। वेद कहता है '**को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः**'=कौन-साक्षात् जानता है और कौन इसका प्रतिपादन कर सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँ से आ गई? किस प्रकार इसका जन्म हो गया? यह सब 'अतर्क्य व अविज्ञेय'-सा ही है। इसे केवल **अहम्**=सर्वव्यापक प्रभु ही जानते हैं।

भावार्थ—इस भुवन का बन्धन कहाँ है? द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक क्या हैं, महान् सूर्य का जन्म कैसे हुआ तथा चन्द्रमा कहाँ से हुआ है? ये सब बातें एकमात्र सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार आवश्यक प्रश्न

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णोऽअश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥६१॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयꣳसोमो वृष्णोऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥६२॥

१. अब यजमान अध्वर्यु से पूछता है कि (क) **त्वा**=आपसे मैं **पृथिव्याः**=पृथिवी के **परमन्तम्**=परले सिरे को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यहाँ—यज्ञवेदि पर जहाँ हम बैठे हैं यह पृथिवी का एक सिरा हो तो इसका परला सिरा कहाँ होगा? (ख) उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **इयं वेदिः**=यह वेदि ही तो **पृथिव्याः**=पृथिवी का **परःअन्तः**=परला अन्त है, क्योंकि वृत्ताकार होने से पृथिवी जहाँ से प्रारम्भ होती है, वहीं आकर समाप्त होगी। वृत्ताकार वस्तु की परिधि का जहाँ से प्रारम्भ मानें वहीं उसका अन्त भी है। पृथिवी की वृत्ताकारिता को इससे अधिक सुन्दर प्रकार से प्रतिपादित कैसे किया जा सकता है? २. दूसरा प्रश्न है **पृच्छामि**=मैं पूछता हूँ उस वस्तु को **यत्र**=जिसमें **भुवनस्य**=इस भुवन का **नाभिः**=बन्धन है, आधार है, अर्थात् किस वस्तु के न होने पर यह लोक नष्ट हो जाएगा? उत्तर देते हुए कहते हैं **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ-सर्वव्यापक प्रभु (यज्ञो वै विष्णुः) **भुवनस्य नाभिः**=इस भुवन के आधार हैं। प्रभु के सर्वस्व त्याग ने ही ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है। ३. तीसरा प्रश्न पूछता हुआ वह कहता है कि मैं **वृष्णः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति को **पृच्छामि**=

जानना चाहता हूँ। इस पुरुष की शक्ति का रहस्य किस वस्तु में है? उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **अयं सोमः**=सोम—शरीर में रस-रुधिरादिक्रम से उत्पन्न होनेवाला वीर्य ही **वृष्णः**=शक्तिशाली लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाले **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति है। सोम की रक्षा के अनुपात में ही वह सशक्त बनता है। ४. चौथा प्रश्न है कि मैं **वाचः**=वाणी के **परमं व्योम**=उत्कृष्ट स्थान को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। उत्तर देता हुआ अध्वर्यु कहता है **अयं ब्रह्मा**=यह सम्पूर्ण सृष्टि का बनानेवाला प्रजापति ही **वाचः**=वाणी का **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, लोक में भी ब्रह्मा वह कहलाता है जो सम्पूर्ण वेद का ज्ञान रखता है। वह सम्पूर्ण वेद का स्थान=आधार तो बन ही गया। वैसे, सारे वेद उस प्रभु का ही वर्णन करते हैं, **'सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति'** तथा **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** इन मन्त्रांशों में यही बात कही गई है। उस **ब्रह्म**=सृष्टिनिर्माता प्रभु का ही वेदमन्त्रों में प्रतिपादन है, अतः ब्रह्मा ही वाणी के **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

भावार्थ—'वेदि' ही पृथिवी का पर-अन्त है।' यज्ञ भुवन का आधार है। सोम शक्ति देने के साथ ज्ञानाग्नि का भी वर्धन करता है और हमें वेदवाणी को समझने की योग्यता प्राप्त कराता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—समाधाता। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सुभू-स्वयंभू-प्रथम

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥६३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति और वस्तुतः ब्रह्मादि के 'ब्रह्मोद्य'=ज्ञानचर्चा की समाप्ति इस बात पर हुई थी कि सारी वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। उसी सृष्टि के उत्पत्तिकर्ता (ब्रह्म) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वह **'सुभूः'**=(सुष्ठु भूः उत्पत्तिर्यस्मात्—उ०) इस विश्व का उत्तम उत्पादन करनेवाला है, परन्तु उसे कोई बनानेवाला नहीं। वह तो **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाला है। वह सदा से विद्यमान है, खुद-आ है। २. **प्रथमः**=सबका आदि है। 'प्रथ विस्तारे'=अत्यन्त विस्तृत, सर्वव्यापक है। वह **महति अर्णवे अन्तः**=इस महान् प्रकृति के अणुसमुद्र के अन्दर विद्यमान है। वस्तुतः उसी की सत्ता के कारण यह महान् अणुसमुद्र भी सत्तावाला प्रतीत होता है, वही इस समुद्र को प्रथम गति देनेवाला है। ३. **ह**=निश्चय से वह स्वयम्भू **ऋत्वियम्**=(प्राप्तकालं) जिसका ठीक समय उपस्थित हुआ है उस **गर्भं दधे**=गर्भ को धारण करता है। काव्यभाषा में इस ब्रह्माण्ड की प्रकृति माता है तो प्रभु पिता हैं। वे प्रभु इस प्रकृति में बीज का धारण करते हैं और ये सब मूर्त्तियाँ (मूर्त्त वस्तुएँ) उत्पन्न हो जाती हैं। गीता में कहते हैं—**'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'**। ४. **यतः**=प्रभु के प्रकृति में जिस गर्भ धारण करने पर **प्रजापतिः जातः**=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया। **माता प्रजाता**=माता ने बच्चे को जन्म दिया, जिससे माता पैदा हो गई। इसी प्रकार 'प्रजापतिः जातः'=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया, प्रजापति बन गया।

भावार्थ—वे प्रभु 'सुभू, स्वयम्भू व प्रथम हैं। अणुसमुद्र के अन्दर भी विद्यमान हैं। वे इसमें गर्भ का धारण करते हैं और संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

सोम की महिमा से प्रभु-मेल

होता यक्षत्प्रजापतिꣳसोमस्य महिम्नः। जुषतां पिबतु सोमꣳहोतर्यज॥६४॥

१. गतमन्त्र के 'सुभू-स्वयंभू-प्रथम' **प्रजापतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक परमात्मा को **होता**=आहुतियों का देनेवाला त्यागशील पुरुष ही **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। त्याग न करनेवाला पुरुष प्रकृति का अधिकाधिक संग्रह करता हुआ उसी में उलझा रहता है। प्रकृति का त्याग करके ही हम परमात्मा को पा सकते हैं। २. यह होता **सोमस्य महिम्नः**=सोम की महिमा से **जुषताम्**=उस प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। भोगों से ऊपर उठकर सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पानेवाला बनता है। सोम की रक्षा से, इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर बुद्धि सूक्ष्म होती है और उस प्रभु का आभास लेनें के योग्य होती है, इसीलिए सोम की इस महिमा को समझकर मनुष्य **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करे। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य भोगों से ऊपर उठकर त्याग की वृत्तिवाला बन पाता है। भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोमरक्षा होती है, सोमरक्षा से भोगवृत्ति का ह्रास होता है। इस प्रकार ये परस्पर उपकारी होते हैं। ३. इन दोनों का आश्रय प्रभु-स्मरण है, अतः मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु का पूजन कर, उसे अपने साथ सङ्गत कर, उसके प्रति तू अपना अर्पण करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए यही मार्ग है कि मनुष्य (क) त्याग की वृत्तिवाला बने तथा (ख) सोम का शरीर में ही रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वत्र समप्रभु

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥६५॥

१. सोम की रक्षा से प्रभु-सम्पर्क करनेवाला आराधना करता है कि हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **ता विश्वा रूपाणि**=उन सम्पूर्ण प्राणियों को (रूपाणि पशवः) **न परिबभूव**=नहीं व्याप्त कर रहा। आप ही सबके अन्दर व्याप्त हो रहे हैं। आप ही सबकी रक्षा कर रहे हैं। 'विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में व श्वपाक में, सबमें आप ही समाये हुए हैं। समरूप से आपका ही सबमें दर्शन करनेवाला किसी से घृणा कैसे कर सकता है? २. हे प्रभो! **यत्कामाः**=जिस कामनावाले हम **ते जुहुमः**=आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. सर्वप्रथम बात यह है कि **वयम्**=हम कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी हों। इन धनों के कभी दास न हो जाएँ। धनों के दास बनने पर मनुष्य इनको टेढ़े-मेढ़े साधनों से जुटाने का प्रयास करता है और संसार विकृत होने लगता है, अतः हम यही चाहते हैं कि धन हमारा स्वामी न बन जाए। यह हमपर आरुढ़ न हो जाए। हम इसके वाहन उल्लू बनकर सब सत्कर्म को समाप्त न कर बैठें (उल् लू)।

भावार्थ—प्रभु ही सबमें विद्यमान हैं। हे प्रभो! समवृत्ति बनकर हम धन के कभी दास न बन जाएँ। इसके दास बनकर ही हम हीनमार्ग पर जाते हैं और मांसादि भोजन में प्रवृत्त हो जाते हैं।

इति त्रयोविंशोऽध्यायः॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः।

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीवऽआग्नेयो रराटे पुरस्तात् सारस्वती मेष्युधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याᳪसौर्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छऽइन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः॥१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—निचृत्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः।

रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः शितिरन्ध्रोऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्तशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः शितिबाहुरन्यतःशितिबाहुः समन्तशितिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रावरुण्यः॥२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः।

शुद्धवालः सर्वशुद्धवालो मणिवालस्तऽआश्विनाः श्येतः श्येताक्षोऽरुणस्ते रुद्राय पशुपतये कर्णा यामाऽअवलिप्ता रौद्रा नभोरूपाः पार्जन्याः॥३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मारुतादयः। छन्दः—विराडतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्तऽऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्तऽउषस्याः॥४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो वाचेऽविज्ञाताऽअदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः॥५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेयाः शितिभ्रवो वसूनाᳪरोहिता रुद्राणाᳪश्वेताऽअवरोकिणऽआदित्यानां नभोरूपाः पार्जन्याः॥६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—अतिजगती। स्वरः—निषादः।

उन्नतऽऋषभो वामनस्तऽऐन्द्रावैष्णवाऽउन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्तऽऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषाऽआग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः॥७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्राग्न्यादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

एताऽऐन्द्राग्ना द्विरूपाऽअग्नीषोमीया वामनाऽअनड्वाहऽआग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यतऽएन्यो मैत्र्यः॥८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेया बभ्रवः सौम्याः श्वेता वायव्याऽअविज्ञाताऽअदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः॥९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अन्तरिक्षादयः। छन्दः—विराड्गायत्री । स्वरः—षड्जः।

कृष्णा भौमा धूम्राऽआन्तरिक्षा बृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः॥१०॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वसन्तादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

धूम्रान् वसन्तायालभते श्वेतान् ग्रीष्माय कृष्णान् वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय॥११॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे दित्यवाहो
जगत्यै त्रिवत्साऽअनुष्टुभे तुर्यवाहऽउष्णिहे॥१२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विराजादयः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पष्ठवाहो विराजऽउक्षाणो बृहत्याऽऋषभाः
ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिछन्दसे॥१३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेया बभ्रवः सौम्याऽउपध्वस्ताः सावित्रा वत्सतर्यः सारस्वत्यः श्यामाः पौष्णाः पृश्नयो मारुता बहुरूपा वैश्वदेवा वशा द्यावापृथिवीयाः॥१४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

उक्ताः सञ्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुताः कायास्तूपराः॥१५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः।

अग्नयेऽनीकवते प्रथमजानालभते मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः सवात्यान् मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो बष्किहान् मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः सꣳसृष्टान् मरुद्भ्यः स्वतवद्भ्योऽनुसृष्टान्॥१६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्राग्न्यादयः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उक्ताः सञ्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाः प्राशृङ्गा माहेन्द्रा बहुरूपा वैश्वकर्मणाः ॥१७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—पितरः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणाꣳसोमवतां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः॥१८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वायुः। छन्दः—त्रिपाद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उक्ताः सञ्चराऽएताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्याः॥१९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वसन्तादयः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान्॥२०॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वरुणः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो
मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नाक्रान्॥२१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सोमाय हꣳसानालभते वायवे बलाकाऽइन्द्राग्निभ्यां
क्रुञ्चान् मित्राय मद्गून् वरुणाय चक्रवाकान्॥२२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्यऽउलूकानग्नीषोमाभ्यां
चाषानश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान्॥२३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—निषादः।

सोमाय लबानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान् गोषादीर्देवानां
पत्नीभ्यः कुलीका देवजामिभ्योऽग्नये गृहपतये पारुष्णान्॥२४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—कालावयवाः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—निषादः।

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूरहोरात्रयोः सन्धिभ्यो
जतूर्मासेभ्यो दात्यौहान्त्संवत्सराय महतः सुपर्णान्॥२५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—भूम्यादयः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

भूम्याऽआखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्त्रान् दिवे
कशान् दिग्भ्यो नकुलान् बभ्रुकानवान्तरदिशाभ्यः॥२६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वस्वादयः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

वसुभ्यऽऋश्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो
न्यङ्कून् विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान्त्साध्येभ्यः कुलुङ्गान्॥२७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ईशानादयः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

ईशानाय परस्वतऽआलभते मित्राय गौरान्
वरुणाय महिषान् बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्रऽउष्ट्रान्॥२८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राजापत्यादयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिनऽआलभते वाचे
प्लुषीँश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः॥२९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राजापत्यादयः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदृषभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्त्तिका नीलङ्गोः क्रिमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती॥३०॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राजापत्यादयः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मयुः प्राजापत्यऽउलो हलिक्ष्णो वृषदꣳशस्ते धात्रे दिशां कङ्को धुङ्क्षाग्नेयी कलविङ्को लोहिताहिः पुष्करसादस्ते त्वाष्ट्रा वाचे क्रुञ्चः॥३१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

सोमाय कुलुङ्गऽआरण्योऽजो नकुलः शका ते पौष्णाः क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः पिद्वो न्यङ्कुः कक्कटस्तेऽनुमत्यै प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः॥३२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मित्रादयः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

सौरी बलाका शार्गः सृजयः शयाण्डकस्ते मैत्राः सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद्भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरस्वते शुकः पुरुषवाक्॥३३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—स्वराट्शक्करी। स्वरः—धैवतः।

सुपर्णः पार्जन्यऽआतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे बृहस्पतये वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलजऽआन्तरिक्षः प्लवो मद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये द्यावापृथिवीयः कूर्मः॥३४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—चन्द्रादयः। छन्दः—निचृच्छक्करी। स्वरः—धैवतः।

पुरुषमृगश्चन्द्रमसो गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनां कृकवाकुः सावित्रो हुꣳसो वातस्य नाक्रो मकरः कुलीपयस्तेऽकूपारस्य ह्रियै शल्यकः॥३५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अश्विन्यादयः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

एण्यह्नो मण्डूको मूषिका तित्तिरिस्ते सर्पाणां लोपाशऽआश्विनः कृष्णो रात्र्याऽऋक्षो जतूः सुषिलीका तऽइतरजनानां जहका वैष्णवी॥३६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अर्धमासादयः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

अन्यवापोऽर्द्धमासानामृश्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणामपामुद्रो मासाङ्कश्यपो रोहित्कुण्डृणाची गोलत्तिका तेऽप्सरसां मृत्यवेऽसितः॥३७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वर्षादयः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः।

वर्षाहूर्ऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितृणां बलायाजगरो वसूनां कपिञ्जलः कपोतऽउलूकः शशस्ते निर्ऋत्यै वरुणायारण्यो मेषः॥३८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—आदित्यादयः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

श्वित्रऽआदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान्वार्ध्रीनसस्ते मत्याऽअरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः॥३९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवादयः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः।

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिꣳहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः॥४०॥[१]

इति चतुर्विंशोऽध्यायः॥

---

१. इस अध्याय का भाष्य पण्डित हरिशरणजी नहीं कर पाये थे। अगले अध्याय के नवम मन्त्र तक भी उन्होंने भाष्य नहीं किया था, अतः इन मन्त्रों को मूलरूप में ही छापा गया है।
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सरस्वत्यादयः। छन्दः—भुरिक्शक्वरी*, निचृदतिशक्वरी*। स्वरः—धैवतः॥

*शादं द॒द्भिरव॑कां दन्तमू॒लैर्मृदं॒ बस्वै॑स्ते॒गान्दꣳष्ट्राभ्या॒ꣳसर॑स्वत्याऽ अग्रजि॒ह्वं जि॒ह्वाया॑ऽ उत्सा॒दम॑वक्र॒न्देन॒ तालु॒ वाज॒ꣳहनु॑भ्याम॒पऽआ॒स्येन॒ वृष॑णमा॒ण्डाभ्या॒मादि॒त्याँ श्मश्रु॑भि॒: पन्था॑नं भ्रू॒भ्यां द्यावा॑पृथि॒वी वर्त्तो॑भ्यां वि॒द्युतं॑ क॒नीन॑काभ्याꣳशु॒क्लाय॒ स्वाहा॑ कृ॒ष्णाय॒ स्वाहा॒ पार्या॑णि॒ पक्ष्मा॒ण्यवा॒र्या॒ऽ इ॒क्षवो॑ऽवा॒र्या॒णि॒ पक्ष्मा॑णि॒ पार्या॑ऽ इ॒क्षव॑:॥१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राणादयः। छन्दः—भुरिगतिशक्वर्यौ। स्वरः—धैवतः।

वातं॑ प्रा॒णेना॑पा॒नेन॒ नासि॑केऽ उपया॒मम॑धरे॒णौष्ठे॑न॒ सदुत्त॑रेण प्रका॒शेना॒न्तर॑मनूका॒शेन॒ बाह्यं॑ निवे॒ष्यं मू॒र्ध्ना स्त॑नयि॒त्नुं नि॑र्बा॒धेना॒शनिं॑ म॒स्तिष्के॑ण वि॒द्युतं॑ क॒नीन॑काभ्या॒ं कर्णा॑भ्या॒ꣳश्रोत्र॒ꣳश्रोत्रा॑भ्या॒ं कर्णौ॑ तेद॒नीम॑धरक॒ण्ठेना॒पः शु॒ष्कक॒ण्ठेन॑ चि॒त्तं मन्या॑भि॒रदि॑ति॒ꣳशी॒र्ष्णा निर्ऋ॑तिं॒ निर्ज॑र्जल्येन शी॒र्ष्णा सं॑क्रो॒शैः प्रा॒णान् रे॒ष्माण॑ꣳ स्तु॒पेन॑॥२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः।

म॒शका॒न् केशै॒रिन्द्र॒ꣳस्वप॑सा॒ वहे॑न॒ बृह॒स्पति॑ꣳशकुनिसा॒देन॑ कू॒र्माञ्छ॒फैरा॒क्रम॑ण॒ꣳ स्थू॒राभ्या॑मृक्ष॒ला॑भिः क॒पिञ्ज॑लाञ्ज॒वं जङ्घा॑भ्या॒मध्वा॑नं बा॒हुभ्या॒ं जाम्बी॑ले॒नार॑ण्यम॒ग्नि- म॑ति॒रुग्भ्यां॑ पू॒षणं॑ दो॒र्भ्याम॒श्विना॒वꣳसा॑भ्या॒ꣳरु॒द्रꣳरोरा॑भ्याम्॥३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—स्वराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः।

अ॒ग्नेः प॑क्ष॒तिर्वा॒योर्निप॑क्षति॒रिन्द्र॑स्य तृ॒तीया॒ सोम॑स्य चतु॒र्थ्यदि॑त्यै पञ्च॒मीन्द्रा॒ण्यै ष॒ष्ठी म॒रुता॑ꣳसप्त॒मी बृह॒स्पते॑रष्ट॒म्यर्य॒म्णो न॑व॒मी धा॒तुर्द॑श॒मीन्द्र॑स्यैकाद॒शी वरु॑णस्य द्वाद॒शी य॒मस्य॑ त्रयोद॒शी॥४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—स्वराड्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः।

इ॒न्द्रा॒ग्न्योः प॑क्ष॒तिः सर॑स्वत्यै॒ निप॑क्षतिर्मि॒त्रस्य॑ तृ॒तीया॒पां च॑तु॒र्थी निर्ऋ॑त्यै पञ्च॒म्य॒ग्नीषोम॑योः ष॒ष्ठी स॒र्पाणा॑ꣳसप्त॒मी विष्णो॑रष्ट॒मी पू॒ष्णो न॑व॒मी त्वष्टु॑र्दश॒मीन्द्र॑स्यै- काद॒शी वरु॑णस्य द्वाद॒शी य॒म्यै त्र॑योद॒शी द्यावा॑पृथि॒व्योर्द॑क्षि॒णं पा॒र्श्वं विश्वे॑षां दे॒वाना॒मुत्त॑रम्॥५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मरुतादयः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

मरुतांᳫँस्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयादित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पतीऽऊरुभ्यां मित्रावरुणा-वल्गाभ्यामाक्रमणᳫँस्थूराभ्यां बलं कुष्ठाभ्याम्॥६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—पूषादयः। छन्दः—निचृदष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

पूष्णं वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विह्रुतऽआन्त्रैरपो वस्तिना वृषण-माण्डाभ्यां वाजिनᳫँशेपेन प्रजाᳫँरेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः॥७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—निचृदभिकृतिः। स्वरः—ऋषभः।

इन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भसज्जीमूतान् हृदयौपशेनान्तरिक्षं पुरीतता नभऽउदर्येण चक्रवाकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन् प्लाशिभिरुपलान् प्लीह्ना वल्मीकान् क्लोमभिर्ग्लौभिर्गुल्मान् हिराभिः स्रवन्तीर्ह्रदान् कुक्षिभ्याᳫँ समुद्रमुदरेण वैश्वानरं भस्मना॥८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—पूषादयः। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—धैवतः।

विधृतिं नाभ्या घृतᳫँरसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वाऽअश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाᳫँसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा॥९॥

२३वें अध्याय की समाप्ति पर 'विश्वा रूपाणि' का उल्लेख था। इसकी व्याख्या सम्पूर्ण २४वें अध्याय में ६०९ पशुओं के अश्वमेघ यज्ञ में बन्धन करने के वर्णन से हुई है। २५वें अध्याय के प्रारभिक नौ मन्त्रों में राष्ट्र-शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन हुआ है। इस उत्तम राष्ट्र में निवास करते हुए हम प्रभु की उपासना से अपने जीवनों को और भी उत्तम बनाएँ, अतः मन्त्र में प्रभु-उपासना निम्न प्रकार से की गई है—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—हिरण्यगर्भः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उपासना

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१०॥

१. **हिरण्यगर्भः**='हिरण्यं वै ज्योतिः' सम्पूर्ण ज्योति जिनके गर्भ में हैं, वे प्रभु अथवा आदित्य आदि ज्योतिर्मय पिण्डों को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभु **अग्रे**=इस सृष्टि के बनने से पहले ही **समवर्त्तत**=थे। वे प्रभु कभी सृष्ट नहीं हुए, बने नहीं। वे स्वयम्भू हैं, खुदा हैं। २. **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुए वे प्रभु **भूतस्य**=इस सृष्टि के मौलिक कारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक पञ्च भूतों के तथा प्राणिमात्र के **एकः पतिः**=मुख्य तथा अकेले ही रक्षक **आसीत्**=हैं। इन सबका रक्षण प्रभु पर ही आश्रित है। इस रक्षणरूप कार्य में वे प्रभु किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ३. **सः**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। इस लोकत्रयी को धारण करने के कारण ही वे 'त्रिविक्रम'

कहलाते हैं। ४. सबका धारण करने के कारण **कस्मै**=उस आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब सुखों को देनेवाले के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं। उस सब-कुछ देनेवाले प्रभु की अर्चना देकर खाने से ही तो हो सकती है। यह देकर खानेवाला व्यक्ति सदा यज्ञशेष का सेवक व्यक्ति प्रजा की रक्षा करनेवाला होने से 'प्रजापति' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—वे हिरण्यगर्भ प्रभु सदा से हैं, सबके अद्वितीय रक्षक हैं—त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। हम उस आनन्दस्वरूप, सर्वप्रद व ज्योतिर्मय प्रभु की ही उपासना करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दर्शन

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥११॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करते हुए, अर्थात् चेतन प्राणियों के तथा **निमिषतः**=सदा पलकों को बन्द किये हुए, अर्थात् दीर्घनिद्रा में लेटे हुए वृक्षादि स्थावर **जगतः**=जगत् का, अर्थात् इस चराचर (Movable तथा Immovable) संसार का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा बभूव**=नियन्त्रण करनेवाला है। और २. **यः**=ये **अस्य**=इस **द्विपदः चतुष्पदः**=दोपाये व चौपायों का, अर्थात् पक्षियों व पशुओं का **ईशे**=ईश है, इनके अन्दर स्थापित ऐश्वर्य का मालिक है, अर्थात् जिसने मानव को शिक्षा देने के लिए उस-उस पशु व पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को स्थापित किया है। चीलों की उड़ान को देखकर ही मानव ने वायुयान को बनाने की शिक्षा प्राप्त की। इसी प्रकार इन पशु-पक्षियों में प्रभु द्वारा स्थापित ऐश्वर्य का दर्शन होता है। इस ऐश्वर्य के दर्शन से आकर्षित हो हम उस स्थापन करनेवाले प्रभु का ध्यान करते हैं। ३. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—चराचर संसार के नियामक वे प्रभु ही हैं। सब पशु-पक्षियों में दृश्यमान ऐश्वर्य उस प्रभु का ही है। उस सुखस्वरूप सर्वज्ञ प्रभु का हम वस्तुओं के त्यागपूर्वक प्रयोग से पूजन करते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

महिमा

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳरसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१२॥

१. **इमे**=ये **हिमवन्तः**=हिमाच्छादित पर्वत **यस्य**=जिसकी **महित्वा**=महिमा को **आहुः**=कहते हैं **रसया सह**=इस सम्पूर्ण रसमय फलों व अन्नों को जन्म देनेवाली पृथिवी के साथ **समुद्रम्**=समुद्र **यस्य (महित्वा) आहुः**=जिसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। **इमाः**=ये **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ भी **यस्य**=जिसकी महिमा का वर्णन करती हैं तथा **यस्य**=जिसके **बाहू**=(बाह प्रयत्ने) चराचर द्विविध जगत् के निर्माणात्मक प्रयत्न उसकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। ३. उस **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=सर्वानन्दप्रद प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों को देखकर, विविध रसों से परिपूर्ण फल-फूलोंवाली इस पृथिवी को देखकर, अनन्तप्राय जलराशिवाले समुद्र को देखकर, इन विस्तृत दिशाओं को देखकर तथा चर व अचर विविध जगत् के निर्माण-प्रयत्नों को देखकर किस द्रष्टा को प्रभु की महिमा का स्मरण नहीं होता? कोई अचर ही होगा जिसे इन वस्तुओं को देखकर भी प्रभु का स्मरण न हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अमृतम्

यऽआ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ऽउ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑ छा॒यामृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥१३॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने कि **आत्मदाः**='आत्मानं ददाति इति—द०' जीवहित के लिए अपने को दे डाला है, अर्थात् वे प्रभु निरन्तर जीवों के हित में तत्पर हैं—उनकी अपनी आवश्यकता शून्य है। स्वयं वे पूर्ण हैं, अतः उन्हें अपने लिए कुछ भी करना नहीं है। २. **बलदाः**=वे बल देनेवाले हैं। जीवहित को सिद्ध करने के लिए वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। इस सामर्थ्य से सम्पन्न होकर जीव ने अपनी उन्नति सिद्ध करनी है। ३. वस्तुतः **विश्वे**=संसार में प्रविष्ट सभी प्राणी **यस्य उपासते**=जिसकी उपासना करते हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो कष्ट पड़ने पर प्रभु का स्मरण न करे। सुख में भी अविकृत वृत्तिवाले लोग प्रभु का कीर्तन करते ही हैं, दुःख आने पर दुःखापहरण के लिए प्रभु-कीर्तन चलता है। ४. परन्तु **देवाः**=देव लोग **यस्य प्रशिषं उपासते**=जिसकी आज्ञा की उपासना करते हैं। वे प्रभु के गुणगान में ही सारा समय समाप्त न करके उसके आदेश के अनुसार 'पठन, पाठन व प्रचार' के कार्य में लगकर ही उसकी पूजा करते हैं। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य** ५. **यस्य छाया**=जिस प्रभु का किया हुआ छेदन-भेदन (छोड़ देने) अर्थात् अंगविकार भूकम्पादि दण्ड **अमृतम्**=जीव की अमरता के लिए है। **यस्य मृत्युः**=(अमृत) प्रभु द्वारा प्राप्त कराई गई यह मृत्यु भी अमरता के लिए है। ये सब इसलिए ही प्रभु से दी जाती हैं कि हम विषयों व वासनाओं के पीछे मरते न फिरें। इनके पीछे भागते रहकर हम अपने को मार ही लेंगे, अतः प्रभु कृपा करके ऐसी व्यवस्था कर देते हैं कि हम विषयवासनाओं में जा फँसने से बच जाते हैं। ६. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=ज्योतिर्मय सर्वज्ञ प्रभु के लिए **हविषा**=यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण वं आप्तकाम हैं। उन्हें अपने लिए कुछ नहीं करना—उन्होंने अपने को जीवहित के लिए दे डाला है। उनके सब कार्य जीव को उन्नति-साधन प्राप्त करने के लिए हैं। वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। सामान्य लोग इस प्रभु का गुणगान करते हैं तो समझदार प्रभु के आदेशों के अनुसार कार्य करने का ध्यान करते हैं। प्रभु से दिये गये दण्ड व मृत्यु भी जीव की अमरता के लिए साधन बनते हैं। इस प्रभु का पूजन त्यागपूर्वक उपभोग से ही सम्भव है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

भद्र क्रतु

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो॒ऽअप॑रीतासऽउ॒द्भिदः॑।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद् वृ॒धेऽअस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे॥१४॥

१. **नः**=हमें **क्रतवः**=यज्ञ व सङ्कल्प **आयन्तु**=सवर्था प्राप्त हों। कैसे यज्ञ व सङ्कल्प? क. **भद्राः**=कल्याणकारी और सुख देनेवाले, ख. **विश्वतः अदब्धासः**=सब ओर से अहिंसित, अर्थात् पूर्णरूप से निर्विघ्न ग. **अपरीतासः**=(न परीता अज्ञाताः), अर्थात् जो फलानुमेय हैं, पूर्ण हो जाने पर ही जिनका पता लगता, है, पहले जिनका ढिंढोरा नहीं पीट दिया गया। घ. **उद्भिदः**=(उद्भिन्दन्ति यज्ञान्तराणि प्रकटयन्ति) अन्य यज्ञों को प्रकट करनेवाले, अर्थात् परस्पर अनुबन्धरूप से चलनेवाले—एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा—इस प्रकार निरन्तर चलनेवाले अथवा विकास के कारणभूत। इस प्रकार के यज्ञ व सङ्कल्प हमें निरन्तर प्राप्त हों। २. क. हम इसलिए उल्लिखित प्रकार से उत्तम कर्मों में लगे रहें **यथा**=जिससे कि **देवाः**=सब देव, सब प्राकृतिक शक्तियाँ **सदम्**=सदा **इत्**=ही **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **असन्**=हों। हमारे कर्मों के दूषित होने पर ही आधिदैविक आपत्तियाँ प्राप्त हुआ करती हैं। कर्म उत्तम होने पर सूर्य-चन्द्रादि सभी देव अनुकूल होते हैं (ख) 'देवाः' शब्द का अभिप्राय 'दिव्य वृत्तिवाले विद्वान्' भी है। वे विद्वान् भी सदा हमारी वृद्धि का कारण बनें। ये देव, वे विद्वान् **अप्रायुवः**=(**प्रकर्षेणायुवन्ति अमाषन्ति**) प्रमाद से रहित हों, जनहित के कार्यों में इन्हें किसी प्रकार का आलस्य न हो और वे **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **रक्षितारः**=सब प्रकार के अशुभों से हमारी रक्षा करनेवाले हों। सूर्यचन्द्र आदि हमारे शरीरों को नीरोग बनाएँ और विद्वान् लोग हमारे मनों व मस्तिष्कों को स्वस्थ बनाएँ।

भावार्थ—हमें उत्तम कर्म व सङ्कल्प प्राप्त हों। देव हमारी वृद्धि का कारण बनें। आलस्य से ऊपर उठकर दिन-प्रतिदिन वे प्रजा-रक्षण के कार्य में लगे रहें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

'सुमति व राति'=देवसख्य

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳬं रातिर्भि नो निर्वर्त्तताम्।
देवानाᳬं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥१५॥

१. **ऋजूयताम्**=क. **ऋजुगामिनाम्**=सदा सरल मार्ग से चलनेवाले ख. **ऋजुकामिनाम्**=सदा सरलता को चाहनेवाले **देवानाम्**=देवों की **भद्रा सुमतिः**=कल्याण व सुख को करनेवाली शोभनमति **नः**=हमें **अभिनिवर्त्तताम्**=अभिमुख्येन प्राप्त हो, अर्थात् हम भी देवों की भाँति सरल मार्ग से चलनेवाले व सरलता की कामना करनेवाले बनें। २. **देवानाम्**=देवों की **रातिः**=दानवृत्ति भी **नः**=हममें **अभिनिवर्तताम्**=अभिमुख प्रवृत्त हो, अर्थात् देवों की भाँति हम भी सदा देनेवाले बनें। ३. इस प्रकार देवों की सुमति तथा राति को प्राप्त करके **वयम्**=हम **देवानाम्**=देवों के **सख्यम्**=मित्रभाव को **उपसेदिम**=प्राप्त करें। उन-जैसा बनकर ही तो हम उनके सच्चे मित्र हो सकेंगे। ४. ऐसा होने पर **देवाः**=देव **नः आयुः**=हमारे जीवन को **जीवसे**=चिर जीवन के लिए **प्रतिरन्तु**=बढ़ाएँ। वस्तुतः 'सुमति व राति' दोनों ही दीर्घजीवन के लिए आवश्यक हैं। मस्तिष्क की कुमति अल्पायुष्य का प्रबल कारण बनती है। मन की अनुदारता भी उसी प्रकार आयुष्य को छोटा करती है, अतः हम सुमति व राति को प्राप्त करके दीर्घजीवन को सिद्ध करें। इस दीर्घजीवन के लिए 'देवों की मित्रता' अत्यधिक महत्त्व रखती है।

भावार्थ—हमें देवों की 'सुमति' प्राप्त हो। देवों की भाँति हम 'दानवृत्ति' वाले हों तथा देवों की ही हमें 'मित्रता' प्राप्त हो। ये तीनों बातें हमारे दीर्घजीवन का कारण बनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

देव-हूति

तान् पूर्व॑या नि॒विदा॑ हूमहे व॒यं भग॑ मि॒त्रमदि॑तिं॒ दक्ष॑म॒स्रिध॑म्।
अ॒र्य॒मणं॒ वरु॑ण॒ꣳसोम॑म॒श्विना॒ सर॑स्वती नः सु॒भगा॒ मय॑स्करत्॥१६॥

१. गतमन्त्र में देवों की मित्रता प्राप्त करने की प्रार्थना थी। उन्हीं देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **तान्**=उन देवों को **पूर्वया**=सृष्टि के आरम्भ में दी गई **निविदा**=(निविदा इति वाङ् नाम—नि० १।११) इस निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली वेदवाणी के हेतु से **वयम्**=हम **हूमहे**= पुकारते हैं, अर्थात् इन विद्वानों को हम इसलिए समीप प्राप्त करना चाहते हैं कि ये हमें उत्तम वेदज्ञान प्राप्त करानेवाले हों। २. किन देवों को? (क) **भगम्**='ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्यरूप भग से युक्त को (ख) **मित्रम्**=(मिद् स्नेहने) सबके साथ स्नेह करनेवाले को तथा (प्रमीतेः त्रायते) पाप से बचानेवाले को (ग) **अदितिम्**=अदीनभाव से युक्त होकर दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाले को अथवा किसी का खण्डन व हिंसन न करनेवाले को (अदीना देवमाता—नि०, न दितिः यस्मात्) (घ) **दक्षम्**=कार्यकुशल को, कर्मयोगी को (ङ) **अस्त्रिधम्**=न स्रेधते। कभी सद्भाव को नष्ट न होने देनेवाले को (च) **अर्यमणम्**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति=सदा दानशील को (छ) **वरुणम्**=द्वेष का निवारण करनेवाले अतएव श्रेष्ठ को (ज) **सोमम्**=सौम्य स्वभाववाले शान्त को (झ) **अश्विना**=प्राणापान-शक्तिसम्पन्न को अथवा सूर्य-चन्द्र के गुणधर्मों से युक्त को। सूर्य के समान प्रकाशमय तथा चन्द्र के समान आनन्दमय को ३. इन सब देवों को तो हम बुलाते ही हैं। इनके साथ सतत सम्पर्क होने पर **सुभगा**=सब उत्तम भगों को प्राप्त करानेवाली **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नः**=हमारा **मयस्करत्**=कल्याण करे। देवों के सम्पर्क में रहने से हमारा ज्ञान बढ़ता है, उस ज्ञानवृद्धि से हमारा कल्याण होता है।

भावार्थ—हम देवों के सम्पर्क में आकर उनसे ज्ञान प्राप्त करें जो हमारा कल्याण करे।

ऋषिः—गोतमः। देवता—वायुः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मयोभु भेषज

तन्नो॒ वातो॑ मयो॒भु वा॑तु भेष॒जं तन्मा॒ता पृ॑थि॒वी तत्पि॒ता द्यौः।
तद् ग्रावा॑णः सोम॒सुतो॑ मयो॒भुव॒स्तद॑श्विना शृणुतं धिष्ण्या यु॒वम्॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम देवों को पुकारते हैं और उनसे निश्चयात्मक श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **नः**=हमें **वातः**=यह निरन्तर गति के द्वारा बुराई का (रोग-कारणों का) संहार करनेवाला वायु (वा गतिगन्धनयोः) **मयोभु**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाली **भेषजम्**=ओषधि **वातु**=प्राप्त कराए, अर्थात् वायु हमारे रोगों का प्रतीकार करके हमें नीरोग व सुखी करनेवाला हो। २. जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **पृथिवी माता**=यह मातृवत् हितकारिणी पृथिवी हमें कल्याणकर औषध को प्राप्त करानेवाली हो। **पिता द्यौः**=पिता की भाँति रक्षक यह द्युलोक भी कल्याणकर औषध को प्राप्त कराए। जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं ३. **तत्**=तब **सोमसुतः**=सोम का अभिषव करनेवाले **ग्रावाणः**=ये पत्थर भी सोमरस के प्रापण के द्वारा **मयोभुवः**=हमारा कल्याण करनेवाले हों, अर्थात् सोमयज्ञों के अन्दर सोमपान करते हुए हम अपने शरीरों को शान्त-शक्ति से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करें अथवा सौम्यता को जन्म देनेवाले ज्ञानी (आचार्य) हमारे लिए ज्ञान

देते हुए कल्याण करनेवाले हों। ४. **तत्**=ज्ञान प्राप्त करने पर **धिष्ण्या**=गृह की भाँति धारण करनेवाले **अश्विना**=हे प्राणापानो! **युवम्**=तुम दोनों भी हमारी 'मयोभु भेषज' की प्रार्थना को **शृणुतम्**=सुनो। तुम्हारी कृपा से हमारे शरीर, मन व बुद्धि सभी नीरोग, निर्मल व तीव्र बनें। हम प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनें—प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हों।

भावार्थ—जब हम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तब वायु, पृथिवी, द्युलोक, सोमाभिषव करने में उपयुक्त ग्रावाणा अथवा अधिक सौम्यता को जन्म देनेवाले उपदेष्टा गुरु—ये सब हमें कल्याणकर औषध प्राप्त कराते हैं और प्राणापान हमारे लिए सर्वोत्तम औषध बनते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ईशान का आह्वान

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।

पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥१८॥

१. **वयम्**=हम **अवसे**=रक्षा के लिए—शरीर की रोगों से रक्षा के लिए तथा मन की द्वेषादि मलों से रक्षा के लिए—**तं ईशानम्**=उस ईशान करनेवाले रुद्र प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं, यतः प्रभु ही **जगतः तस्थुषः पतिम्**=जंगम व स्थावर जगत् के पति हैं, इस सम्पूर्ण चराचर संसार के रक्षक हैं तथा **धियञ्जिन्वम्**=बुद्धि को प्रीणित करनेवाले हैं। हमारी बुद्धियों को शुद्ध करनेवाले हैं (द०)। २. इस ईशान के आह्वान को हम सदा ही किया करें **यथा**=जिससे **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला वह प्रभु **नः**=हमारे **वेदसाम्**=धनों के **वृधे**=वर्धन के लिए **असत्**=हों। **रक्षिता**=वह हमारा रक्षण करनेवाला हो, हमें आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से बचाये (resque) तथा **पायुः**=हमें काम-क्रोधादि के आक्रमणों से भी बचानेवाला हो। **अदब्धः**=कामादि से कभी हिंसित न होनेवाला वह ईशान हमारे **स्वस्तये**=कल्याण व उत्तम स्थिति के लिए हो। हम प्रभु की उपासना करनेवाले होंगे तो काम हमपर कभी आक्रमण न करेगा।

भावार्थ—ईशान का आह्वान हमारे शरीर व मानस रक्षा का कारण बने तथा हमें पोषण के लिए आवश्यक धनों की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

स्वस्ति का साधन

स्व॒स्ति न॒ऽइन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः।

स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ऽअरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु॥१९॥

१. **नः**=हमारे लिए **वृद्धश्रवाः**=सदा से बढ़े हुए ज्ञानवाला **इन्द्रः**=बलवान् व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण करनेवाला हो, अर्थात् प्रभु की कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और उस प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में सब वासनाओं का दहन होकर हमें वास्तविक शान्ति का लाभ हो और हमारी जीवन-स्थिति उत्तम हो। २. **नः**=हमारे लिए **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनों का स्वामी **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला प्रभु पोषण के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराता हुआ **स्वस्ति**=कल्याणकर हो, अर्थात् प्रभुकृपा से हम पुरुषार्थ करते हुए आवश्यक धनों की प्राप्ति के द्वारा जीवन की स्थिति को उत्तम कर सकें। ३. **नः**=हमारे लिये **तार्क्ष्यः**=(तृक्ष गतौ) गति में उत्तम=स्वाभाविक क्रियावाला पूर्णरूप से निःस्वार्थ क्रियावाला, **अरिष्टनेमिः**=अहिंसित मर्यादावाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याणकर

हो। हम भी उस प्रभु की तरह सतत व निःस्वार्थ गतिवाले बनकर सदा मर्यादा में चलते हुए कभी हिंसित न हों और इस मर्यादित जीवन में कल्याण प्राप्त करें। ४. **नः**=हमारे लिए **बृहस्पतिः**=बृहत् (बड़े) आकाशादि का पति वह प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण को **दधातु**=धारण करे। हम भी 'बृहस्पति' प्रभु की उपासना करते हुए 'बृहस्पति' बनें, उदार हृदयाकाशवाले बनें। यह उदारता हमें कृपण (miser) की कृपणता (misery) से ऊपर उठाकर कल्याणमय स्थिति में प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए (क) वृद्ध ज्ञानवाले व काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें, (ख) पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त करें, (ग) निरन्तर क्रियाशील जीवन बिताते हुए कभी मर्यादा का उल्लंघन न करें। (घ) उदारहृदय बनकर कल्याण को सिद्ध करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

देवों का आतिथ्य

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवाऽअवसागमन्निह॥२०॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार हमारी स्थिति कल्याणमयी हो', इसी दृष्टिकोण से हम प्रस्तुत मन्त्र में चाहते हैं कि **विश्वेदेवाः**=सब देव—दिव्य वृत्तिवाले विद्वान् लोग **अवसा**=अन्न के हेतु से, अर्थात् हमारा आतिथ्य स्वीकार करने के हेतु से यहाँ **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। उन देवों के समय-समय पर घरों में आते रहने से घर का वातावरण सुन्दर बना रहता है। २. ये देव कैसे हैं? क. **पृषदश्वाः** (पृषु सेचने, पुष्ट्यादिना संसिक्ताङ्गः—द०)=इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्टि से संसिक्त हैं। इनका जीवन भोगमय न होने से इनके सब अङ्ग सुगठित हैं। (क) **मरुतः**=(प्राणाः) ये प्राणशक्ति के पुञ्ज हैं। (ख) **पृश्निमातरः**=(पृश्नि=a ray of light) प्रकाश की किरणों का निर्माण करनेवाले हैं। इनके मस्तिष्क ज्ञान-किरणों से दीप्त हैं। (ग) **शुभंयावानः**=शुभमार्ग पर चलनेवाले हैं, अतएव कल्याण को प्राप्त करने व करानेवाले हैं (घ) **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **जग्मयः**=सदा जानेवाले हैं। (ङ) **अग्निजिह्वाः**=(अग्निरिव सुप्रकाशितवाणी येषां—द०) अग्नि के समान प्रकाशमय वाणीवाले अथवा जिनके मुख से निकले हुए शब्द प्रगति का साधन हैं, उत्साह का वर्धन करनेवाले हैं, मृत आन्दोलन में फिर से गर्मी ला देनेवाले हैं। (च) **मनवः**=जो बड़े मननशील हैं, विद्वान् व समझ से चलनेवाले हैं। (छ) **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान दृष्टिवाले हैं। जिनकी दृष्टि अज्ञानान्धकार को उसी प्रकार नष्ट करनेवाली है जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को। ३. इस प्रकार के विद्वान् हमारे घरों पर समय-समय पर आते रहेंगे तो उनकी ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवनों को परिशुद्ध बनानेवाली होंगी, अतः प्रभुकृपा से इन देवों का हमारे घरों पर आना होता ही रहे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें देवों के आतिथ्य करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे, जिससे हमारे जीवनों में ज्ञान व उत्साह का सञ्चार सदा अविच्छिन्न रूप से हो सके।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उपदेश के विषय

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥२१॥

१. **देवाः**=हे ज्ञान-ज्योति-देनेवाले विद्वानो! आपकी उपदेश-वाणियों से प्रेरित होकर हम **कर्णेभिः**=कानों से **भद्रम्**=कल्याण व सुखकर शब्दों को ही **शृणुयाम**=सुनें। हम निन्दात्मक बातों को सुनने की रुचि से ऊपर उठ जाएँ। २. हे **यजत्राः**=(यज+त्रा) अपने ज्ञानदान से त्राण करनेवाले विद्वानो! हम **अक्षभिः**=प्रभु से दी गई इन आँखों से **भद्रम्**=शुभ को ही **पश्येम**=देखें। हम कभी किसी की बुराई को देखें ही नहीं। शहद की मक्खी की भाँति सब स्थानों से रस ही लेने का प्रयत्न करें। मल का ग्रहण करनेवाली मक्खी न बन जाएँ। हंस की भाँति द्वेष जल को छोड़कर गुणरूप दूध का ही ग्रहण करें। एवं, शुभ ही सुनें और शुभ ही देखें और ३. परिणामतः शरीर-शक्तियों को जीर्ण न होने देते हुए **स्थिरैः अङ्गैः**=दृढ़ अंगों से तथा **तनूभिः**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीरों से **तुष्टुवांसः**=सदा प्रभु का स्तवन करते हुए उस आयु को **व्यशेमहि**=व्याप्त करें **यत् आयुः**=जो जीवन, जो आयु **देवहितम्**=देव की उपासना के योग्य है, अर्थात् जो अपने कर्त्तव्यों के करने के द्वारा प्रभु की अर्चना में बीतता है।

भावार्थ—देवों से प्रेरणा प्राप्त कर हम कानों से भद्र ही सुनें। आँखों से भद्र ही देखें तथा स्थिर अङ्गोंवाले शरीरों से प्रभु का स्तवन करते हुए देवोपासनयोग्य जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सौ वर्ष तक

शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥२२॥

१. हे **देवाः**=देवो! **शतं शरदः इत्**=सौ वर्षों तक निश्चय से **अन्ति**=आप हमारे समीप होवें, अर्थात् हमें आजीवन आपका सङ्ग प्राप्त होता रहे। २. उस समय तक हमें आपका सङ्ग प्राप्त रहे **यत्र**=जहाँ से ये सब सूर्यादि देव **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों के **जरसम्**=वार्धक्य को **चक्र**=कर देते हैं, अर्थात् वृद्धावस्था में भी हम आपके सत्संग में सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहें। उस समय भी हमें स्वयं पर्याप्त अनुभवी हो जाने का गर्व न हो जाए। ३. हम उस समय भी आपके सत्संग के अभिलाषी बने रहें **यत्र**=जबकि **पुत्रासः**=पुत्र भी **पितरः**=पिता **भवन्ति**=बन जाते हैं, अर्थात् पुत्रों की भी सन्तान हो जाने पर जब हम पौत्रोंवाले हो जाते हैं और पितामह कहलाते हैं, उस समय भी हमें आपके सङ्ग करने का सौभाग्य प्राप्त हो। उस समय आप देवों की प्रेरणा हमारे जीवन में ज्ञान व उत्साह को सञ्चरित करनेवाली होगी। ४. आपकी प्रेरणा व ज्ञानज्योति द्वारा मार्ग-प्रदर्शन से **नः आयुः**=हमारा जीवन **गन्तोः मध्याः**=लक्ष्य-स्थान के बीच में ही, अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचे बिना ही **मा रीरिषत**=मत नष्ट हो जाए। हम इसी जीवन में लक्ष्य तक पहुँच सकें और यात्रा को पूर्ण कर मोक्ष-लाभ करनेवाले हों।

भावार्थ—जैसे वृद्धावस्था में भी शरीर के लिए भोजन आवश्यक होता है उसी प्रकार मानस पोषण के लिए देवों की प्रेरणाएँ भी आवश्यक होती हैं। इन प्रेरणाओं से हम मार्ग में नहीं रुक जाते, अपितु पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**द्यौरित्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आदित्य

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवाऽअदितिः पञ्च जनाऽअदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥२३॥

१. गतमन्त्र की **'मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तः'** प्रार्थना की पूर्ति के लिए कहते हैं कि **द्यौः**=यह द्युलोक **अदितिः**=मेरा खण्डन करनेवाला न हो। इस द्युलोक के साथ मेरा युद्ध न हो, यह मेरे साथ शान्ति में हो। **'द्यौः शान्तिः'** यही प्रार्थना यहाँ शब्द परिवर्तन के साथ 'अदितिः द्यौः' इस रूप में हुई है। जब ये बाह्य जगत् जल, वायु आदि देव हमारे अनुकूल नहीं होते और हम इनके साथ युद्ध की स्थिति में होते हैं तब हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और हम रोगाक्रान्त हो जाते हैं। २. **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाला न हो। द्युलोक का मुख्य देवता 'सूर्य' हमारे लिए शान्तिकर होकर तपे (शं नस्तपतु सूर्यः) और अन्तरिक्षलोक का मुख्य देवता वायु भी हमारे लिए शान्तिकर होकर बहे (शं नो वातः पवताम्)। ३. **माता**=यह पृथिवी माता भी हमारा **अदितिः**=खण्डन करनेवाली न हो। इस पृथिवी पर बहनेवाले जल व इससे उत्पन्न होनेवाली ओषधियाँ हमारे लिए स्वास्थ्यकर हों **'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु'**। ४. **सः**=वह हमारा **पिता**=पितृस्थानापन्न आकाश **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो और **सः** वह **पुत्रः**=आकाश का पुत्रतुल्य सूर्य **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो अथवा **सः पिताः सः पुत्रः**=वह पिता और वह पुत्र दोनों मेरा खण्डन करनेवाले न हों। मैं कभी पिताजी का क्रोधपात्र न हो जाऊँ तथा पुत्रों का ठीक प्रकार से शिक्षण करता हुआ मैं उनके अविनयादि से परेशानी को प्राप्त न करूँ। ५. **विश्वेदेवाः**=राष्ट्र के सब विद्वान् **अदितिः**=हमारा खण्डन न करनेवाले हों तथा संसार की सब आधिदैविक शक्तियाँ हमारे अनुकूल हों। ६. **पञ्चजनाः**=राष्ट्र के 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र तथा निषाद' ये पाँचों-के-पाँचों **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाले न हों। सबके साथ हमारी अनुकूलता हो। ७. **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए सन्तान व पदार्थ **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों तथा **जनित्वम्**=भविष्य में होनेवाले सन्तान तथा पदार्थ भी **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों।

भावार्थ—तीनों लोक तथा घर के मुख्य व्यक्ति राष्ट्र के सब देव व जनता, भूत, भविष्य में होनेवाले पदार्थ व व्यक्ति सभी हमारे अनुकूल हों। इनकी अनुकूलता हमारे अखण्डन व स्वास्थ्य के लिए हो। सारी प्रजा मेरे स्वास्थ्य के लिए हो। मैं भी 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**मित्रादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्रवचन

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णोऽअर्य॒मायुरिन्द्र॑ऽऋभुक्षा म॒रुत॒: परि॑ख्यन्।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्ते॑: प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॒णि॥२४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सब लोकों व लोकवासियों की अनुकूलता प्राप्त करके यह व्यक्ति प्रार्थना करता है कि **मित्रः**=स्नेह का देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण का देवता, **अर्यमा**=दातृत्व, **आयुः**=(इ गतौ) गतिशीलता, **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व, **ऋभुक्षाः**=महत्ता अथवा (ऋतेन भान्ति इति ऋभवः, क्षि गति, ऋत=regularity=नियमितता से दीप्त होकर चलना, तथा **मरुतः**=प्राण **नः**=हमें **मा परिख्यन्**=मत छोड़ें। ये उत्तम बातें व दिव्य गुण हमारा परित्याग न करें, २. **यत्**=क्योंकि हम तो **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **वाजिनः**=सर्वशक्तिमान् **देवजातस्य**=देव लोगों से हृदय में आविर्भूत किये गये **सप्तेः**=सबमें समवेत (षप समवाये) अर्थात् प्राणिमात्र में व भूतमात्र में निवास करनेवाले उस प्रभु के **वीर्याणि** शक्तिशाली कर्मों का **प्रवक्ष्यामः**=प्रवचन करेंगे। यह प्रभु के कर्मों का प्रवचन ही वस्तुतः मानव-जीवन को शुद्ध बनाये रखता है। ज्ञानयज्ञों में एकत्र होकर हम शक्तिशाली, सब देवों में प्रादुर्भूत, सर्वत्र

समवेत प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु के प्रिय बनते हैं। उस समय ये सब देव हमारा आश्रय करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, जिससे देव हमें त्याज्य न समझें। प्रभु का स्मरण हमें दिव्य गुणयुक्त बनाए।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शुद्ध धन-शुद्ध अन्न

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूपऽइन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥२५॥

१. **यत्**=जब **निर्णिजा**=शुद्ध, अर्थात् शुद्ध उपायों से कमाये हुए **रेक्णसा**=धन से **प्रावृतस्य**=आच्छादित पुरुष के **गृभीतां रातिम्**=ग्रहण किये हुए दान को **मुखतः**=मुख्यरूप से अथवा आरम्भ मे ही **नयन्ति**=ले-जाते हैं। इस दान देनेवाले पुरुष के लिए वह प्रभु २. **सुप्राङ्**=(सु प्र आङ्) उत्तमता से खूब आगे ले-चलनेवाले होते हैं। **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशीलता के द्वारा इसकी सब बुराई को दूर फेंकनेवाले होते हैं। **मेम्यत्**=(भृशं हिंसन् ऋ० १.१६२.–द०) सब काम-क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाले व (प्राप्नुवन्–द०) इसे प्राप्त होनेवाले होते हैं। **विश्वरूपः**=इसके लिए सब आवश्यक ज्ञानों का निरूपण करनेवाले होते हैं। ३. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में यह स्पष्ट है कि (क) यदि हम शुद्ध उपायों से धन कमाते हैं और (ख) दान देते हैं तो (ग) हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। केवल प्रभु-प्राप्ति नहीं होती, अपितु ४. यह प्रभु का प्रिय **इन्द्रापूष्णोः प्रियम्**=इन्द्र और पूषा के प्रिय **पाथः अप्येति**=अन्न को भी प्राप्त करता है, अर्थात् इसे वह अन्न प्राप्त होता है जो उसे इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, जितेन्द्रिय बनाता है और **पूषा**=उत्तम पोषणवाला करता है। प्रभुकृपा से प्राप्त यह सात्त्विक अन्न उसे जितेन्द्रिय बनने में तो सहायक होता ही है, वह अन्न उसे **पूषा**=पुष्टि का भी देवता बनाता है, अर्थात् इसके अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़ करनेवाला होता है। ५. यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रस्तुत मन्त्र 'शुद्ध धन' से प्रारम्भ होता है और 'शुद्ध अन्न' पर समाप्त होता है।

भावार्थ—(क) हम धन से अपने को आच्छादित करें, अर्थात् खूब कमाएँ, परन्तु शुद्ध साधनों से। (ख) इस धन का मुख्य उपयोग दान हो—दान देकर बचे हुए को ही खाने का विचार करें। (ग) प्रभु को हृदयस्थ कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें। (घ) उसी अन्न का सेवन करें जो संयम व पोषण की दृष्टि से ठीक हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

एष छागः=यह-शत्रु छेदक

एष छागः पुरोऽअश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनꣳसौश्रवसाय जिन्वति॥२६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शुद्ध धन, शुद्ध अन्न' का सेवन करनेवाले के लिए कहते हैं कि **एषः छागः**=यह (छो छेदने) शत्रुओं का छेदन करनेवाला, **पूष्णो भागः**=पोषक अन्न का ही सेवन करनेवाला, (भज् सेवायाम्) **विश्वदेव्यः**=अपने में सब दिव्य गुणों को धारण करनेवाला मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (प्रशस्त इन्द्रियोंवाला) **अश्वेन**=(अश् व्याप्तौ) सर्वत्र व्याप्त **वाजिना**=सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु से **पुरः नीयते**=आगे उन्नति-पथ पर ले-जाया जाता

है। २. **अर्वता**=(अर्व हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु से **यत्**=जब **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति को देनेवाले **पुरोडाशम्**=हुतशेष (Leavings of an oblation) की **अभि**=ओर (नीयते) ले-जाया जाता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करने के लिए ही प्रेरित किया जाता है तब **त्वष्टा**=यह देवशिल्पी अथवा (त्विष् दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाला प्रभु **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इस हुतशेष (यज्ञशेष) का सेवन करनेवाले को **सौश्रवसाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके उसे प्रसन्नता का लाभ कराता है। वस्तुतः यज्ञशेष का सेवन चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। शुद्ध चित्त में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम काम-क्रोधादि का छेदन करें, पोषक अन्न का सेवन करें, दिव्य गुणों की प्राप्ति हमारा लक्ष्य हो। ऐसा होने पर प्रभु हमारी उन्नति का कारण बनेंगे। हम यज्ञशेष का ही सेवन करेंगे तो ज्ञानदीप्त प्रभु हमें ज्ञान से प्रसादयुक्त करेंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सहयज्ञ प्रजाओं का सर्जन

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भागऽएति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः ॥२७॥

१. **यत्**=जब **हविष्यम्**=(हविषि उत्तमम्) जीव दानपूर्वक अदन में उत्तम होता है, अर्थात् दान देकर यज्ञशेष खाने की वृत्ति होती है तब २. **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु के अनुसार **देवयानम्**=देवताओं के मार्ग से चलता है, अर्थात् ऋतुचर्या का ध्यान करते हुए सत्य को अपनाता है तथा ३. **मानुषाः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति) विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले **अश्वम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को (अश् व्याप्तौ) **त्रिः**=प्रातः, मध्याह्न व सायं समय **परिनयन्ति**=अपने विचारों में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उस सर्वव्यापक प्रभु का ध्यान करते हैं। ४. **अत्र**=ऐसा होने पर **पूष्णः**=पूषा का **प्रथमो भागः**=सर्वोत्तम भाग **एति**=इन्हें प्राप्त होता है, अर्थात् इनको उत्तम पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं। इनका शरीर उत्तम पुष्टिवाला होता है और ५. **अजः**=कभी भी जन्म न लेनेवाला वह प्रभु अथवा सब प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **देवेभ्यः**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञम् प्रतिवेदयन्**=यज्ञों को प्राप्त कराता है। यह यज्ञ उनके लिए सब इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हवि के प्रयोग में उत्तम हों, देवयान मार्ग से चलें। सदा प्रभु का स्मरण करें, शरीर को सुपुष्ट करें, प्रभु से दिये गये यज्ञ को अपनाएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सप्तहोता यज्ञ

होताध्वर्युरावयाऽअग्निमिन्धो ग्रावग्राभऽउत शꣳस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्॥२८॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु ने यज्ञ को प्राप्त कराया' ऐसा कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि हे दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **तेन**=उस **स्वरङ्कृतेन**=साधु अलंकृत, अर्थात् बड़ी उत्तमता से तथा **स्विष्टेन**=उत्तम भावना से किये गये **यज्ञेन**=यज्ञ से तुम **वक्षणाः**=अपनी सब प्रकार की उन्नतियों को अथवा आशा-नदियों को **आपृणध्वम्**=पूर्ण करनेवाले बनो, अर्थात् इस यज्ञरूप उत्तम कर्म को जब तुम उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करोगे तो तुम्हारी सब

इच्छाएँ पूर्ण हो पाएँगी—तुम्हारी सर्वतोमुखी उन्नति हो सकेगी। २. 'तुम कैसे बनो' इस विषय में भी प्रभु सात नामों का उच्चारण करते हुए सात बातें कहते हैं: (क) **होता**=तुम दानपूर्वक अदनवाले बनो, सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले होओ। (ख) **अध्वर्युः**=अहिंसात्मक कार्यों को अपने साथ जोड़नेवाले होओ, कभी हिंसा में तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। (ग) **अवयाः**=(कण अवयजने) तुम दुर्गुणों को अपने से सर्वथा दूर करनेवाले बनो। (घ) **अग्निमिन्धः**=ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर दीप्त करने के लिए प्रयत्नशील होओ। (ङ) **ग्रावग्राभः**=प्रभु-स्तवन का ग्रहण करनेवाले बनो, (च) **शस्ता**=उत्तम कार्यों का शंसन करनेवाले होवो **उत**=और (छ) **सुविप्रः**=शोभन मेधावी बनो। प्रयत्न करो कि तुम्हारा ज्ञान अधिक-से-अधिक हो। इस प्रकार इन सात बातों को अपने जीवन में अनूदित करके तुम जीवनरूप सप्तहोताओंवाले यज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाले बनो।

भावार्थ—जीवन को सप्तहोताओं से चलनेवाला यज्ञ बनाओ। यज्ञ को उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करते हुए तुम अपनी सब उन्नतियों को सिद्ध करो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यूपव्रश्चन

यूपव्रस्काऽउत ये यूपवाहाश्चषालं येऽअश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनꣳसम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु॥२९॥

१. गतमन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख है। उस 'जीवन-यज्ञ' की यज्ञशाला यह शरीर है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस यज्ञशाला के यूप हैं। इन यूपों-यज्ञस्तम्भों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **यूपव्रस्काः**=(यूपं वृश्चन्ति) जो इस अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों का वृश्चन द्वारा ठीक निर्माण करनेवाले बढ़ई हैं। इस यज्ञस्तम्भों पर चढ़ी हुई चर्बीरूप मैल की तहों को छील-छालके जो इन स्तम्भों को ठीक-ठाक बना देते हैं, **उत**=और **ये**=जो **यूपवाहाः**=इन यज्ञस्तम्भों का वहन करनेवाले हैं, अर्थात् इन अङ्गरूप स्तम्भों को कार्यों में प्रयुक्त करनेवाले हैं, **ये**=जो **अश्वयूपाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव के इन यज्ञस्तम्भों के लिए **चषालम्**=(यूपाग्रामाग्रेस्थाप्यं काष्ठं) अङ्गरूपस्तम्भों के अग्रभाग में स्थाप्य मस्तिष्करूप चषाल को भी (तक्ष तनूकरणे) खूब सूक्ष्म व तीव्र बनाते हैं। २. **ये च**=और जो **अर्वते**=(हिंसायाम्) काम-क्रोधादि पशुओं की हिंसा करनेवाले के लिए—इसलिए कि वह कामादि का हिंसक बन सके **पचनं सम्भरन्ति**=पचन को, बुद्धि के परिपाक को सम्यक् प्राप्त कराते हैं, **ते**=इन लोगों का **अभिगूर्त्तिः**=उद्योग **नः इन्वतु**=हमें भी प्रीणित करनेवाला हो, अर्थात् हम भी बड़ी रुचि से ज्ञान का परिपाक करने में लगे रहें। ३. इस प्रकार मन्त्र में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शरीररूप यज्ञशाला का स्तम्भ समझें। इन अङ्गों को चर्बी की तहों से बेडौल न होने दें। उचित व्यायाम व आसनों से उस चर्बी का तक्षण करते रहें। (ख) इन अङ्गों को सदा क्रियाशील बनाये रक्खें। अङ्ग शब्द का तो धात्वीय अर्थ ही 'गतिशील' है। अङ्गरूप साम्य शरीररूप यज्ञशाला का वहन करनेवाला हो। (ग) इन यूपों के अग्रभाग में स्थाप्य काष्ठ-चषाल यह मस्तिष्क है, इसका सुन्दर तक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जितनी बुद्धि सूक्ष्म होगी उतना ही यह तत्त्वदर्शन ठीक कर सकेगी (चषालं तक्षति) (घ) इस यज्ञशाला में कामादि पशुओं का बन्धन हो सके उसके लिए आवश्यक है कि ज्ञान का उत्तम परिपाक हो। ज्ञान के परिपाक के न होने पर मनुष्य **अर्वा**=कामादि का संहार करनेवाला नहीं बन सकता।

(अर्वते पचनं सम्भरन्ति)।

भावार्थ—१. हम अङ्गरूप स्तम्भों का ठीक वृश्चन कर उन्हें सुन्दर, सुडौल बनाएँ। २. इन अङ्गरूप स्तम्भों को संभृत किये रखने के स्थान में इन्हें कार्य-विनियुक्त करें। ३. मस्तिष्क को तीव्र बनाएँ। ४. ज्ञान का परिपूर्ण पाक करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उप प्रागात्

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशाऽउप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्राऽऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥३०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यदि हम (क) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुडौल बनाते हैं (ख) मस्तिष्क का सुन्दर तक्षण करते हैं तथा (ग) ज्ञान का परिपाक करते हैं और इस कार्य में रुकते नहीं तो **उपप्रागात्**=वह प्रभु हमारे समीप आते हैं। हम पर्वत की ओर चलते जाते हैं तो पर्वत हमारे समीप हो जाता है, इसी प्रकार यहाँ साधना करने से प्रभु हमारे समीप हो जाते हैं। समीप क्या? प्रभु का मेरे अन्दर निवास होता है। २. इस प्रभु के निवास से **सुमत्**=स्वयं ही (सुमत्=स्वयं-नि०) **मे**=मुझमें **मन्म**=(मननम्) ज्ञान **अधायि**=निहित होता है। प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं। प्रभु का मुझमें निवास हुआ तो मेरे अन्दर ही ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। ३. उस समय मेरी **आशाः**=आशा व इच्छा भी **देवानाम्**=देवों की हो जाती है। देवों की कामनाएँ अध्यात्मता का पुट लिये होती हैं। ४. **उप**=उस प्रभु के समीप रहकर मैं **वीतपृष्ठः**=कान्तपृष्ठवाला बनता हूँ। मेरी पीठ पाप के बोझों से नहीं लद जाती। मेरी पीठ पर पाप का कलंक नहीं होता। ५. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग तथा **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **एनम्**=इस समीप प्राप्त प्रभु के **अनुमदन्ति**=आनन्द से आनन्दित होते है, अर्थात् प्रभु को प्राप्त करके वे उस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं, जो अनुपम है। ६. **देवानाम् पुष्टे**=दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम उस प्रभु को **सुबन्धुम्**=उत्तम बन्धु **चकृम**=करते हैं। प्रभु के साथ बना हुआ हमारा बन्धुत्व हममें दिव्य गुणों के निरन्तर विकास का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त होते हैं तो हमारे अन्तःज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। हम एक अनुपम आनन्द अनुभव करते हैं, प्रभु का यह उपासन हमारी दैवी प्रवृत्ति को बढ़ाता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

बन्धन व दिव्यता

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणꣳसर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३१॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि 'दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम प्रभु को अपना सुबन्धु बनाते हैं'। 'उन्हीं दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए क्या-क्या करना' इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **यत्**=जो **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष का **दाम**=ग्रीवा का बन्धनभूत रज्जु है, अर्थात् ग्रीवा का बन्धन है, कण्ठ को संयत करना है—इस प्रकार कण्ठ का संयम हो कि कोई भी अशिष्ट व अनावश्यक शब्द मुख से न निकले। २. जो **अर्वतः**=सब बुराइयों को संहार करनेवाले का **सन्दानम्**=पाद-बन्धन है। 'पाँव' गति के साधन हैं। पादबन्धन का अभिप्राय पाँव को संयत करना, चाल को नपा-तुला बनाना

है। यह बुराइयों को नष्ट करनेवाला व्यक्ति व्यर्थ की चेष्टाओं को नहीं होने देता। इसकी चाल-ढाल संयत होती है। ३. **या**=जो **अस्य**=इस शक्तिशाली व बुराइयों के संहार करनेवाले की **शीर्षण्या रज्जुः**=सिर-स्थानीय रज्जु है। सिर की बन्धनभूत रज्जु का अभिप्राय ज्ञानेन्द्रियों के संयम से है। इसकी कोई भी ज्ञानेन्द्रिय अवाच्छनीय व्यवहार नहीं करती, यह अपने मस्तिष्क में कोई अवाच्छनीय विचार नहीं आने देता। ४. अथवा **अस्य**=इसकी जो **रशना**=कटिप्रदेश की रज्जु है। यह रज्जु उदर के संयम का संकेत कर रही है। उदर के संयम के साथ ही वह उपस्थ के संयम का भी द्योतक है। ५. इन सब 'ग्रीवा, पाद, सिर व कटि' के बन्धनों के साथ यह जो **वा घ**=निश्चय से **अस्य आस्ये**= इसके मुख में **तृणम्**=तृण अर्थात् वानस्पतिक भोजन ही **प्रभृतम्**=डाला गया है। यह कभी भी मांस भोजन को नहीं अपनाता। ६. इस प्रकार इन बातों का उल्लेख करके कहते हैं कि **ते**=तेरी **सर्वा ता**=सब बातें **देवेषु अस्तु**=(सन्तु म०) देवोपयोगी हों, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली हों। तेरा जीवन इन बातों के कारण अधिकाधिक दिव्य बनता जाए।

भावार्थ—इस मन्त्र में दिव्य गुणों के लिए पाँच बातें कही गई हैं १. शक्तिशाली बनकर ग्रीवा को संयत रखना, कोई अवाच्छनीय शब्द न बोलना, बोलचाल का नपा-तुला होना। २. बुराई के संहार के उद्देश्य से पाँव को बन्धन में रखना। चाल-ढाल को संयत रखना, व्यर्थ क्रिया नहीं करना। ३. शिरः बन्धन को अपनाना, सब ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं व विचारों का संयम करना। ४. कटिबन्धन, अर्थात् उदर व उपस्थ को संयत करने का प्रयत्न। ५. उन्हीं भोजनों को करना जिनका प्रतीक तृण है, मांस-भोजन से बचना।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कर्म में लगे रहना

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३२॥

१. **यत्**=जो **अश्वस्य**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले का तथा **क्रविषः**=(कृवि हिंसा-करणयोश्च) निरन्तर क्रिया के द्वारा बुराई का संहार करनेवाले का **मक्षिका**=(मक्षति= accumulate, to collect) जीविकार्थ धनोपार्जन **आश**=समय को खा लेता है, इसका बहुत-सा समय धनोपार्जन में ही व्यतीत हो जाता है। **यद्वा**=और जो **स्वरौ**=(स्वृ शब्दे) शब्दरूप वाङ्मय, अर्थात् ज्ञान में **रिप्तम्**=(लिप्तं) इसे लगाव है तथा **स्वधितौ**=सबके आत्मतत्त्व के धारण में इसे लगाव है। २. **यत्**=जो **हस्तयोः**=(कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ) हाथों में इसे लगाव है, अर्थात् हाथों से कोई-न-कोई कार्य करता ही रहता है, अपने मुख्य कार्य के बाद आमोद-प्रमोद के रूप में किसी-न-किसी व्यासंग (Hobby) को अपनाये रखता है और इस प्रकार पूर्णतः सब दोषों को शान्त करनेवाले इस व्यक्ति का **यत्**=जो **न**=नहीं **खेषु**=छिद्रों में, दोषों में लगाव है, अर्थात् यह जो सब व्यसनों से ऊपर उठा रहना है, ३. **ते**=तेरी **सर्वा ता**=ये सब बातें **अपि**=भी **देवेष्वस्तु**=(सन्तु) देवोपयोगी हों, दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनें।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए निम्न बातें कही गई हैं—१. सद्गृहस्थ सर्वप्रथम तो गृहस्थ के सञ्चालन के लिए धनोपार्जन के कार्य में लगे। धनोपार्जन मक्षिक के रसग्रहण की भाँति करना है। लाटरी से एक ही रात में धनी बनने का स्वप्न नहीं लेना। २. धनोपार्जन से वाङ्मय की उपासना करनी है। ३. मस्तिष्क के

थकने पर आत्मचिन्तन द्वारा हृदय में आत्मतत्त्व के स्थापन का प्रयत्न करना है ४. आमोद-प्रामोद के लिए हाथ के किसी व्यासंग को अपनाना है। ५. शान्त स्वभाववाला बनकर प्रयत्न करना है कि व्यसनों की ओर झुकाव न हो जाए (न+ख)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मेध का शृतपाकपचन

यदूवध्यमुदरस्यापवाति यऽआमस्य क्रविषो गन्धोऽअस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधꣳशृतपाकं पचन्तु॥३३॥

१. गत दो मन्त्रों में दिव्य गुणों के विकास का उल्लेख हुआ है। उसके लिए स्वास्थ्य के ठीक होने का महत्त्व सुव्यक्त है। स्वास्थ्य का निर्भर तृण भोजन पर है। मानस स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता की आवश्यकता है और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता के साथ परिपाक के ठीक से होने की भी आवश्यकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **यत्**=जो **ऊवध्यम्**=(भक्षितमपक्वमामाशयस्थम्।—म०) खाया हुआ अन्न ठीक से पचता नहीं वह **उदरस्य अपवाति**=पेट में दुर्गन्ध का कारण बनता है (गन्धयते—उ०) या वमन आदि द्वारा निकल जाता है (अपगच्छति—म०) इस प्रकार वातिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ३. भोजन में **यः**=जो **आमस्य**=कच्चेपन का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है और परिणामतः इसके पूर्ण परिपाक न होने से कफजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं ४. अथवा भोजन में जो **क्रविषः**=(कृवि हिंसायाम्) पैत्तिक विकार के द्वारा हिंसा करने के दोष का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है ४. **तत्**=उस दोष को **शमितारः**=सब दोषों को दूर करके शक्ति देनेवाले **सुकृता**=सुसंस्कृत **कृण्वन्तु**=कर दें, अर्थात् उस दोष को पूर्ण तथा दूर कर दें। **उत**=और **मेधम्**=पवित्र सात्त्विक वस्तु को **शृतपाकम् पचन्तु**=ठीक परिपाक-वाला बनाएँ। उसे अतिपक्व व ईषत् पक्व न कर दें। ईषत् पक्व कफविकारों का कारण बनता है और अतिपक्व पित्तविकारों का कारण बनता है। पेट में जाकर ठीक पाचन न होने पर वातिक विकार कष्ट देते हैं, अतः भोजन सात्त्विक भी होना चाहिए और उसका उचित पाक भी आवश्यक है। यह उचित पाक ही यहाँ 'शृतपाक' कहा गया है।

भावार्थ—हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें और उन सात्त्विक पदार्थों का सदा उचित परिपाक करके ही सेवन करें। फलों का भी कच्चे व गलेरूप में कभी सेवन न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों के लिए

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम सात्त्विक भोजन का 'शृतपाक पचन'—उचित पचन= करके सेवन करते हैं तब आमाशय में पहुँचकर 'वैश्वानर अग्नि' से उसका परिपाक होता है, उससे रस-रुधिरादि क्रम से वीर्य की उत्पत्ति होती है। प्रभु से शरीर में यह वीर्य इसलिए स्थापित किया गया है कि यह सब रोगों को कम्पित करके दूर किये रक्खे, परन्तु मनुष्य अज्ञानवश इस वीर्य के महत्त्व को ठीक से नहीं आँकता और उसको अधिक सन्तानोत्पत्ति में व व्यर्थ के भोगविलास में व्यय कर देता है। चाहिए यह कि हम इसकी रक्षा करें, सुरक्षित होकर यह हममें दिव्य गुणों के विकास का कारण बनेगा, अतः मन्त्र में कहते हैं

कि १. **अग्निना पच्यमानात्**=शरीर के अन्दर वैश्वानर अग्नि से पकाये जाते हुए भोजन से उत्पन्न रुधिरादि धातुओं से **शूलं अभि**=रोगों का लक्ष्य करके, अर्थात् रोगों को दूर करने के उद्देश्य से **निहतस्य**=(हन्=गति) निश्चय से प्राप्त कराये गये इस वीर्य का **यत्**=जो अंश **ते गात्रात्**=तेरे शरीर से **अवधावति**=दूर जाता है **तत्** =वह **भूम्याम्**=बीज के वपन की आधारभूत स्त्री में **मा**=मत **आश्रिषत्**=आलिंगन करे **तृणेषु**=तृणतुल्य तुच्छ विषयभोगों में तो वह न ही व्ययित हो, अर्थात् एक या अधिक-से-अधिक तीन सन्तानों के बाद वह सन्तानोत्पत्ति में भी व्ययित न हो—भोगविलास में उसके व्यय का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उससे बढ़कर मूर्खता क्या हो सकती है? २. **तत्**=वह अधिक सन्तान व भोगविलास में न व्ययित हुआ-हुआ वीर्य **उशद्भ्यः**=(Shine) चमकते हुए **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **रातम्**=दिया हुआ **अस्तु**=हो। इस वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि इसे हम शरीर में सुरक्षित रक्खें। यह सुरक्षित वीर्य जहाँ शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा (शूल) को न होने देगा वहाँ यह हमारे मनों में दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनेगा। इस वीर्य के कारण हमारा यह पृथिवीरूप शरीर दृढ़ बनेगा, मस्तिष्क में ज्ञानज्योति जगेगी तथा हमारे मानस में दीप्त दिव्य गुणों का निवास होगा।

भावार्थ—भोजन के परिपाक से उत्पन्न वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि हम उसे शरीर में सुरक्षित रक्खें, जिससे शरीर में रोग उत्पन्न न हों और हमारे मनों में दिव्य गुणों का विकास हो, मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आचार्य-कर्त्तव्य

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं यऽईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो माꣳसभिक्षामुपासतऽउतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु॥३५॥

१. गतमन्त्र में वीर्यरक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन है। आचार्य गुरुकुलों में विद्यार्थी के वातावरण को सुन्दर बनाकर उसे वीर्यरक्षा के योग्य बनाते हैं। इसी वीर्यरक्षण के द्वारा वे उसके शरीर को शक्तिशाली व मस्तिष्क को परिपक्व ज्ञानवाला बनाते हैं। इसी के द्वारा वे उसके जीवन को दिव्य गुणों की सुगन्धि से परिपूर्ण करते हैं और उसके बाद उसे यही आदेश देते हैं कि तू इस ज्ञान को निश्चय से दूर-दूर तक फैलानेवाला बन। आचार्य कहते हैं कि काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले तुझसे हम तेरे जीवन की ही भिक्षा माँगते हैं 'तू अपने मांस को इस लोक के कल्याण के लिए दे डाल'। मन्त्र में कहते हैं कि २. **ये**=जो आचार्य विद्यार्थी को **वाजिनम्**=शक्तिशाली व सुदृढ़ शरीरवाला तथा **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञानवाला, परिपक्व बुद्धिवाला **परिपश्यन्ति**=देखते हैं तथा ३. **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **आहुः**=कहते हैं कि तू **सुरभिः**=(क) स्वास्थ्य के कारण चमकते हुए (Shining, Handsome) सुन्दर शरीरवाला है (ख) दीप्त ज्ञानाग्नि के कारण उत्तम बुद्धिमान् (Wise. Learned) हुआ है (ग) मन में उत्तम गुणोंवाला (Good, Virtuous) बना है। ऐसा तू **निर्हरः इति**='निश्चय से ज्ञान को दूर-दूर तक ले-जानेवाला बन' हम तो बस यही चाहते हैं। ४. **ये च**=और जो आचार्य **चार्वतः**=काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला विद्यार्थी से **मांसभिक्षाम्**=उसके मांस (जीवन) की भिक्षा **उपासते**=माँग लेते हैं, अर्थात् जो उसे यह कहते हैं कि तू लोकहित के लिए अपना जीवन दे डाल, **तेषाम्**=उन, अपने लिए कुछ भी न चाहनेवाले आचार्यों का **अभिगूर्त्तिः**=उद्योग **उत**=निश्यच से **नः इन्वतु**=हमें प्राप्त करे,

अर्थात् हम भी इन्हीं आचार्यों में से एक बनें और विद्यार्थी को सुन्दर जीवनवाला व परिपक्व ज्ञानवाला बनाकर उससे लोकहित करने की गुरुदक्षिणा लें।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि (क) विद्यार्थी को दृढ़ शरीरवाला बनाये (वाजिनम्) (ख) उसके ज्ञान को परिपक्व करे (पक्वम्), (ग) उसको सुरभि बनाये—सुन्दर शरीरवाला, बुद्धिमान् व दिव्य गुणसम्पन्न करे। (घ) उसे इस ज्ञान को दूर-दूर तक फैलाने का निर्देश करे (निर्हरः इति), (ङ) लोकहित के लिए जीवन को खपा देने की प्रेरणा करे इसी को अपनी गुरुदक्षिणा समझे (मांसभिक्षामुपासते)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मांस्पचनी उखा

यन्नीक्षणं माँस्पचन्याऽउखाया या पात्राणि यूष्णऽआसेचनानि।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम्॥३६॥

१. इस शरीर को प्रस्तुत मन्त्र में 'मांस्पचनी उखा' यह नाम दिया गया है। उखा देगची को कहते हैं, जिसमें व्यञ्जनों का परिपाक होता है। इस शरीर में भी खाये हुए आहार का वैश्वानर अग्नि के द्वारा परिपाक होता है और उस परिपाक में 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा व वीर्य' इन धातुओं का निर्माण होता है। यहाँ 'मांस' बाकी सब धातुओं का उपलक्षण है। **मांस्पचन्याः उखायाः**=मांसादि धातुओं का जिसमें निरन्तर पाक द्वारा निर्माण हो रहा है, इस देगची का **यत्**=जो यह **नीक्षणम्**=(नितराम् ईक्षणम्) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निरन्तर उस-उस विषय का दर्शन है, यह **अश्वम्**=निरन्तर इन क्रियाओं में व्याप्त जीव को **परिभू**=अलंकृत करता है। कभी इन ज्ञानेन्द्रियों से उस-उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया का विचार करें तो उसमें अद्भुत सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। किस प्रकार ये दो आँखें एक ही वस्तु का ग्रहण करती हैं, दो कान एक ही शब्द सुनते हैं? यह सब सोचने पर बड़ा अद्भुत लगता है। २. इससे भी अद्भुत शरीर में ग्रन्थियों (Glands) का कार्य है। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'पात्र' कहा है। ये सचमुच शरीर का 'पा-रक्षणे' रक्षण करनेवाली हैं। **यः**=जो **पात्राणि**=ग्रन्थियाँ **यूष्णः**=रस का **आसेचनानि**=शरीर में सर्वत्र सेचन करनेवाली हैं। इन ग्रन्थियों से विविध रस निकलकर शरीर में रक्षात्मक कार्यों को कर रहे हैं। इस प्रकार ये रसों के आसिचन **अश्वम्**=इस क्रिया में व्याप्त पुरुष को **परिभूषयन्ति**=अलंकृत कर रहे हैं। ३. यह त्वचा भी एक अद्भुत वस्तु है। यह **अपिधानः**=सारे शरीर को ढकनेवाली तो है ही और इस प्रकार **ऊष्मण्याः**=(ऊष्मशब्दस्य धारणार्थे—उ० ऊष्माणं धारयन्ति—म०) शरीर में यह गर्मी का धारण करनेवाली है। देगची पर ढक्कन भी यही कार्य करता है कि 'अन्दर की गर्मी को अन्दर ही रखता है और नष्ट नहीं होने देता। इसी प्रकार यह त्वचा इस 'मांस्पचनी उखा' का ढक्कन है। इस ढक्कन की यह विशेषता है कि यह अन्दर की अधिक गर्मी को पसीने आदि के रूप में बाहर कर देता है और उसी पसीने आदि के वाष्पीयन में ही बाहर की गर्मी व्ययित हो जाती है, शरीर में प्रविष्ट नहीं हो पाती। एवं, यह त्वचा एक अद्भुत अपिधान है जो इस शरीर में प्रविष्ट जीवात्मा को (अश्वं) **परिभूषति**=अलंकृत करता है। ४. इस शरीर में इन्द्रियाँ घोड़ों से उपमित होती हैं और उस समय जिन विषयों का ये ग्रहण करती हैं वे 'चरु' कहलाते हैं। **'विषयाँस्तेषु गोचारान्'**। इन्द्रियाँ जो इनका ग्रहण करती हैं, तो जो संस्कार अन्दर मानस पटल पर या मस्तिष्क में पड़ते हैं वे वहाँ **'अङ्कः'**=चिह्न कहलाते हैं। इंग्लिश में ये ही Impressions

हैं। इन अङ्कों के बाद ही प्रेरणाओं का समय आता है। ये प्रेरणाएँ ही **सूनाः**='षू प्रेरणे' कही गई हैं। वस्तुतः ये **चरूणाम्**=विषयों के **अंकाः**=आगम व **सूनाः**=प्रयोग–प्रेरण भी अद्भुत हैं। ये इस अश्व को अलंकृत कर रहे हैं।

भावार्थ—यह शरीर परिपाक द्वारा मांसादि धातुओं का निर्माण करनेवाली उखा (देगची) है। इसमें १. ज्ञानेन्द्रियों से उस–उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया २. ग्रन्थियों से रसों का आसेचन ३. गर्मी को सुरक्षित करनेवाली ढक्कन के समान यह त्वचा ४. विषयों का ग्रहण व प्रवचन—ये सब बातें बड़ी ही अद्भुत हैं। ये इस उखा में रहकर कार्यव्याप्त जीव के मानो भूषण हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

'काम' से ऊपर

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम्॥३७॥

१. **त्वा**=तुझे **धूमगन्धिः**=अज्ञान की गन्धवाली अथवा 'धूञ् कम्पने' कम्पन की कारणभूत **अग्निः**=कामाग्नि **मा**=मत **ध्वनयीत्**=रणरणक को देनेवाली हो, शब्दयुक्त न करे। यह कामाग्नि संयोग में शृंगार–प्रधान शब्दों का उच्चारण कराती है और वियोग में प्रलम्भ शृंगार के विरह–ताप के सूचक शब्दों का। कामसन्तप्त कुछ गाता है, चाहे कितना ही असम्बद्ध–सा हो। इस काम में ज्ञानाग्नि बुझ–सी जाती है, धूआँ हो जाता है, अतः इसे 'धूमगन्धि' कहा है। जीवों में इस काम में ज्ञानाग्नि के इस प्रकार आवृत होने का उल्लेख है जैसे 'धूमेनाव्रियते वह्नि' धूम से अग्नि आवृत होती है। २. इस कामाग्नि के दीप्त होने पर यह गत मन्त्र में वर्णित **उखा**=मांसादि धातुओं का परिपाक करनेवाली शरीररूप उखा, जो अभी तक स्वास्थ्य की दीप्ति से **भ्राजन्ति**=चमकती थी **जघ्रिः**=(ग्रह उपादाने) जो सब उत्तम शक्तियों का ग्रहण किये हुए थी, वह **अभिविक्त**=(भयचलनयोः) वह कम्पित हो उठती है। वेद कहता है कि ये तेरी सुन्दर गात्रयष्टि **न अभिविक्त**=मत काँप उठे। न तू कामाग्नि का शिकार हो और न ही तेरी यह गात्रयष्टि काँप उठे। ३. इसके लिए तूने यह ध्यान करना है कि **इष्टम्**=(इष्टं अस्य अस्ति इति, तं) यज्ञादि करनेवाले को, वीतं (वी गतिर्जनन०) गति के द्वारा सब शक्तियों का विकास करनेवाले को, **अभिगूर्त्तम्**=सदा उत्तम कर्मों में उद्योगशील को, **वषट्कृतम्**=नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले को, **तं अश्वम्**=उस सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष को **देवासः**=दिव्य गुण **प्रतिगृभ्णन्ति**=स्वीकार करते हैं, अर्थात् इस प्रकार इष्टादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ आलस्यशून्य व्यक्ति कभी कामाग्नि का शिकार नहीं होता। यह अपनी ज्ञानाग्नि को सदा दीप्त रख पाता है। इसकी यह शरीररूप उखा तेजस्विता से चमकती रहती है।

भावार्थ—कामाग्नि का शिकार न होने पर ज्ञान दीप्त रहता है, शरीर तेजस्वी बना रहता है। कामाग्नि से बचने का उपाय यही है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यज्ञः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

घास–भोजन (अमांस भोजन)

निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के विषय को ही प्रस्तुत करते हुए कहते हैं **ते**=तेरी **ता सर्वा**=वे सब बातें **अपि**=भी **देवेषु**=देवोपयोगी **अस्तु**=हों, अर्थात् निम्न बातें तुझमें दिव्य गुणों के विकास के लिए सहायक हों। क्या-क्या बातें?—२. **निक्रमणम्**=घर से बाहर आना-जाना। (निष्क्रमणस्थानम्—उ०) घर से बाहर तू आवश्यक कार्यों के लिए आने-जानेवाला हो। तू व्यर्थ में न घूमता फिरे। ४. **निषदनम्**=तेरा उठना-बैठना देवोपयोगी हो। हीनपुरुषों के साथ उठना-बैठना होने पर तू अपनी हीनता को ही सिद्ध कर लेगा। बुरों के साथ संग स्वयं एक बड़ा पाप है, क्योंकि यह मनुष्य को उस-उस पाप में फँसाने का कारण हो जाता है। ५. **विवर्त्तनम्**=तेरी विविध चेष्टाएँ भी देवोपयोगी हों। हमारी छोटी-छोटी चेष्टाएँ हमारे स्वभाव-निर्माण में भाग लेती हैं। हँसी व प्यार में बोला हुआ अपशब्द भी हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। ५. **अर्वतः**=बुराई का संहार करनेवाले **यच्च**=और जो (क) **पड्वीशम्**=(पादबन्धन) तेरा गति का नियमन है, संयत गति है, यह तेरे दैवी स्वभाव का निर्माण करनेवाली हो। (ख) 'पड्वीशं' शब्द का अर्थ उव्वट ने 'पादेषु विशति' इन शब्दों में किया है, पाँवों में स्थित होता है, अर्थात् नम्र बना रहता है। वस्तुतः यह नम्रता सब दिव्य गुणों की जननी है। ६. इन बातों के अतिरिक्त **यच्च पपौ**=जो जल पीता है और **घासिम्**=घास को, अर्थात् वानस्पतिक भोजन को **जघास**=खाता है। ये तेरा सादा खाना-पीना तेरे उच्च जीवन का कारण बने। मांसभोजन मनुष्य को कभी उच्चता की ओर नहीं ले-जाता। इससे कुछ-न-कुछ क्रूरता व स्वार्थ की वृत्ति को बढ़ावा मिलता है। अन्य साधनों की उपस्थिति में यदि एक मांसाहारी ऊँचे जीवन का प्रतीक होता है तो मांसाहार को छोड़ने पर वह और ऊँचा उठ जाएगा। मांस-भोजन देवों का नहीं, असुरों का है।

भावार्थ—हमारा घर से बाहर आना-जाना, उठना-बैठना, हमारी विविध चेष्टाएँ, गति का नियमन व नम्रता तथा सादा खान-पान—इन सबसे हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

दैवी सम्पत्ति के साधन

यदश्वा॑य॒ वास॑ऽउपस्तृ॒णन्त्य॑धीवा॒सं या हिर॑ण्यान्यस्मै।
सु॒न्दा॒नमर्व॑न्तं॒ पड्वी॑शं प्रि॒या दे॒वेष्वा या॑मयन्ति॥ ३९॥

१. जो **प्रिया**=प्रिय वस्तुएँ तुझे **देवेषु**=दिव्य गुणों में **आयामयन्ति**=(आगमयन्ति) प्राप्त कराती हैं, अर्थात् इन बातों के कारण तेरे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। २. कौन-सी प्रिय वस्तुएँ?—(क) **यत्**=जो **अश्वाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **वासः**=प्रकृति-विज्ञान की गन्ध को **उपस्तृणन्ति**=आच्छादित करती हैं, फैलाती हैं (to spread, to expand), (ख) इस प्रकृति-विज्ञान की गन्ध के साथ **अधीवासम्**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म-विद्या की गन्ध को भी इसके लिए प्राप्त कराती हैं। प्रकृति-विज्ञान को 'वास' कहा गया है तो ब्रह्मविज्ञान को 'अधीवास' नाम दिया गया है। प्रकृति विज्ञान की गन्ध जीवन को सुन्दरता से बिताने के लिए आवश्यक है तो आत्मज्ञान की उत्कृष्ट गन्ध (अधीवास) संसार के प्रलोभनों में न उलझने के लिए आवश्यक है। (ग) **या**=जो **अस्मै**=कर्मठ विद्यार्थी के लिए **हिरण्यानि**='हितरमणीयानि' हितरमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' आदि दिव्य गुणों को जो ज्ञान के ही परिणाम हैं, इसके हृदय में स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। 'वास व अधीवास' ने मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाया था तो ये हिरण्य उसके हृदय को रमणीय बनाते हैं। (घ)

अर्वन्तम्=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **सन्दानम्**=उदर व कटि के बन्धन को इसे प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः भोजन का संयम व ब्रह्मचर्य का नियम हो जाने पर जीवन में बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं, इसीलिए 'संदानं' का यहाँ 'अर्वन्तं' ऐसा विशेषण दिया है। (ङ) **पड्वीशम्**=सन्दान के साथ इसे वे पादबन्धन भी प्राप्त कराते हैं, अर्थात् (पद् गतौ) इसकी गति व चाल-ढाल को बड़ा नियमित करते हैं। इस चाल-ढाल को नियमित करना ही 'अनुशासन 'discipline' में रखना कहलाता है। ये सब बातें इस विद्यार्थी में दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली होती हैं। ३. मन्त्रार्थ में 'अश्व' शब्द यह सुस्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि आचार्य अकर्मण्य व आलसी विद्यार्थी का निर्माण नहीं कर सकते। विद्यार्थी में दिव्य गुणों के विकास के लिए उसे प्रकृति-विज्ञान व आत्मज्ञान प्राप्त कराना आवश्यक है। अज्ञान को दूर किये बिना किसी भी प्रकार का निर्माण सम्भव नहीं होता। विद्यार्थी के हृदय में हितरमणीय बातों के प्रति रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है। उसको **संदान**=उदरबन्धन-भोजन के संयम का महत्त्व समझाना आवश्यक है। इसी के साथ चाल-ढाल का मपा-तुला होना भी जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—आचार्य कर्मठ विद्यार्थी को 'प्रकृति-विज्ञान, आत्मज्ञान, हितरमणीय बातों के प्रति रुचि, भोजन का संयम व गति का नियमन' इन बातों को प्राप्त कराके दैवी सम्पत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सामृत पाणि से दिया गया 'दण्ड'

यत्ते॑ सा॒दे मह॑सा॒ शूकृ॑तस्य॒ पार्ष्ण्या॑ वा॒ कश॑या वा तु॒तोद॑।
स्रु॒चेव॒ ता ह॒विषो॑ऽअध्व॒रेषु॒ सर्वा॒ ता ते॒ ब्रह्म॑णा सूदयामि ॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी आचार्य से अनुशिष्ट होकर इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। आचार्य ने अपनी **महसा**=तेजस्विता से विद्यार्थी को यथासम्भव शीघ्र ही शिक्षित करने का प्रयत्न किया है (शूकृतस्य शीघ्रं शिक्षितस्य—द०) इस कार्य में उसे कभी-कभी विद्यार्थी को दण्ड भी देना पड़ता है। यह दण्ड हाथ-पाँव के प्रहार से भी हो सकता है (पार्ष्ण्या=Neel एड़ी से भी) या वाणी के द्वारा झिड़कने से भी (कशया—'कश शासने')। आचार्य कहता है कि इन दण्डों को तुमने ऐसा समझना जैसे **स्रुचा**=चम्मच से यज्ञों में **हविषः**=घी डालना हो। आचार्य उन सब दण्डों को ज्ञान से प्रतितुलित कर देता है, अर्थात् ज्ञान देकर दण्ड के कष्ट को विस्मारित कर देता है। २. आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि हे **सादे**=शरीररूप रथ के उत्तम सञ्चालक शिष्य **महसा**=तेजस्विता से **शूकृतस्य**=शीघ्र शिक्षित किये हुए **ते**=तुझे **यत्**=जो **पार्ष्ण्या**=ऐड़ी से **वा**=अथवा **कशया**=(कशा वाङ्नाम-निघण्टौ) वाणी से झिड़कने के द्वारा **तुतोद**=मैंने कभी-कभी पीड़ित किया है, तूने यह स्पष्टरूप से समझ लेना कि **ता**=वे सब दण्ड तो इस प्रकार के हैं **इव**=जैसे **स्रुचा**=चम्मच से **हविषः**=हवि का **अध्वरेषु**=यज्ञों में प्रक्षपेण होता है। इन दण्डों के द्वारा तेरी वृत्ति को मैंने इधर-उधर से हटाकर ज्ञानप्रवण करने का प्रयत्न किया है। ३. इस प्रकार **ते**=तेरी **ता**=इन सब दण्ड-पीड़ाओं को मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञानादि के द्वारा **सूदयामि**=भ्रष्ट करता हूँ। तुझे इस प्रकार कड़े नियन्त्रण में रहने से प्राप्त हुआ ज्ञान सब पीड़ाओं को भुलानेवाला होता है। आचार्य दयानन्द ने 'सूदयामि' का अर्थ 'प्रापयामि' किया है। तब इस मन्त्रखण्ड का अर्थ यह होगा कि मैं **ता**=उन सब दण्डों को **ते**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से ही

सूदयामि=प्राप्त कराता हूँ। उन सब दण्डों का उद्देश्य एक ही होता है कि तू किसी प्रकार अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाला बने। एवं, स्पष्ट है कि आचार्य अमृतयुक्त हाथों से दण्ड देते हैं, न कि विषसिक्त हाथों से।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को जो दण्ड देते हैं वह यज्ञ में स्रुवा से हवि के प्रक्षेपण के समान है। उसके द्वारा आचार्य विद्यार्थी के जीवन-यज्ञ में ज्ञान की आहुति देने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यज्ञः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

चतुस्त्रिँशत् वङ्क्री

चतुस्त्रिꣳशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त॥४१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्य से ठीक अनुशासन में चलाया हुआ विद्यार्थी जब 'स्वधिति' अपना धारण करनेवाला बनता है, अर्थात् इधर-उधर भटकता नहीं, अपने मन को एकाग्र करने में समर्थ होता है तब **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवबन्धोः**=दिव्य गुणों को अपने में बाँधनेवाले तथा उस **देव**=प्रभु के बन्धुभूत आचार्य के जो **अश्वस्य**=निरन्तर क्रिया में लगे रहते हैं और इस क्रियाशीलता के कारण जो 'वाजी व देवबन्धु' बने हैं, उनके **चतुस्त्रिंशत् वङ्क्रीः**=चौंतिस गूढ़ ज्ञानों (Knowledge) को **समेति**=प्राप्त होता है। वक् धातु गति वाचक है, 'गति' का प्रथम अर्थ ज्ञान है। ३३ देवों का ज्ञान यदि 'अपराविद्या' है तो ३४वें प्रभु (महादेव) का ज्ञान ही 'पराविद्या' है। मन्त्र संख्या ३९ में इन्हें ही 'वासः तथा अधिवासः' शब्द से स्मरण किया था। विद्यार्थी ज्ञान तभी प्राप्त कर पाता है जब वह एकाग्रवृत्ति का हो, 'स्वधिति' बने। आचार्य वही आदर्श है जो 'वाजी-देवबन्धु व अश्व' है। ज्ञेय वस्तुएँ ३३ देव ३४वें महादेव हैं। इनका ज्ञान ही क्रमशः अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक होता है। ३३ देवों का ज्ञान हमें शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बनाता है तो ३४वें महादेव का ज्ञान हमें आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करता है। ३. यह आचार्य **वयुना**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **गात्रा**=विद्यार्थी के सब अंगों को **अच्छिद्रा**=दोषरहित **कृणोतु**=करे। ३. वेद कहता है—हे विद्यार्थियो! तुम भी आचार्य से दिये हुए ज्ञान का **अनुघुष्य**=आचार्य के पश्चात् उच्चारण करके, अर्थात् आचार्य से उच्चारित ज्ञान को अनुघोषण द्वारा आत्मसात् करके **वि परुः परुः**=एक-एक पर्व के, जोड़ के दोष का **विशस्त**=छेदन करो (छिन्त—द०) और इस प्रकार अपने सारे क्षेत्रों को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करो। आचार्य की तुम्हें निर्दोष बनाने की यह साधना तुम्हारी अनुकूलता से ही सफल हो सकती है। विद्यार्थी की बनने की वृत्ति न हो तो आचार्य उसे कुछ बना नहीं सकते।

भावार्थ—१. एकाग्रता से विद्यार्थी आचार्य से दिये गये ३३ देवों व ३४वें महादेव के ज्ञान को प्राप्त करता है। २. ज्ञानपूर्वक कर्मों से आचार्य विद्यार्थी को निर्दोष बनाता है ३. विद्यार्थी को चाहिए कि आचार्य के इस पावनकार्य में अपनी अनुकूलता पैदा करे।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यजमानः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

त्वष्टा-अश्व

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथऽऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥४२॥

१. गतमन्त्र के प्रकरण को ही चलाते हुए कहते हैं कि **एकः**=जीवन-निर्माण के कार्य में मुख्य भाग लेनेवाला (एके मुख्यान्यकेवलाः) आचार्य **त्वष्टुः**=(त्विष दीप्तौ) बुद्धि के दृष्टिकोण से सूर्य के समान (त्वष्टा-सूर्य) चमकनेवाले तथा **अश्वस्य**=शरीर में घोड़े के समान शक्तिवाले विद्यार्थी का **विशस्ता**=विशेषरूप से दोषों का छेदन करनेवाला होता है। २. **द्वा यन्तारा भवतः**=दो ही बातें निर्माण कार्य में नियामक होती हैं। आचार्य की सभी क्रियाएँ इन दो दृष्टिकोणों को लिये हुए होती हैं-(क) विद्यार्थी का मस्तिष्क **त्वष्टा**=सूर्य के समान देदीप्यमान बने और उसका शरीर **अश्व**=घोड़े के समान शक्तिशाली हो। ३. दो नियामक तत्त्वों के साथ **तथा**=उसी प्रकार **ऋतुः**=ऋतु भी नियामक होती है। स्पष्ट है गर्मी का कार्यक्रम वर्षाऋतु में कुछ परिवर्तित हो जाएगा और वर्षा में चलनेवाले कार्य को सर्दी में कुछ परिवर्तन करना होगा। पढ़ाई के समय में ऋतु-परिवर्तन के साथ परिपाक करना ही पड़ेगा। वास्तव में ऋतु के अनुसार की गई सब क्रियाएँ विद्यार्थी को नीरोग व निर्दोष बनानेवाली होंगी। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि-४. **या** जो मैं तेरे **गात्राणाम्**=अंगों के दोषों को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **कृणोमि**=दूर करने का प्रयत्न करता हूँ अथवा ऋतु के अनुसार अंगों के संस्कार का प्रयत्न करता हूँ तो **अग्नौ**=प्रगतिशील तुझे **ता-ता**=उन-उन **पिण्डानाम्**=बलों को (पिण्ड=might, strength, power) **प्रजुहोमि**=आहुत करता हूँ। इन्हें निर्दोष बनाने के लिए किये गये संस्कारों द्वारा तुझे प्रत्येक अंग में सशक्त करता हूँ। ५. वस्तुतः आचार्य का यज्ञ यही है कि वह विद्यारूप अग्नि में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिरूप हव्य की आहुति दे, विद्यार्थी को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ-आचार्य ने विद्यार्थी को 'त्वष्टा व अश्व' दीप्त व सबल बनाना है। इसके लिए वह ऋतुओं के अनुसार सब क्रियाओं को करता हुआ विद्यार्थीरूप अग्नि में बलों की आहुति देता है, अर्थात् उन्हें सर्वाङ्ग सबल बनाने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः-**गोतमः**। देवता-**आत्मा**। छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**॥

जीवन का अन्तिम दिन

मा त्वा तपत्प्रियऽआत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्वुऽआ तिष्ठिपत्ते।
मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब आचार्य विद्यार्थी का ठीक से निर्माण करता है, तब यह अपना जीवन इतना सुन्दर बिताता है कि शरीर को छोड़ते हुए इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के कारण इसे शरीर में इतनी आसक्ति नहीं होती कि वह उसे छोड़ते हुए अपनी मृत्यु समझे। आत्मतत्त्व के धारण से वह शरीर की वास्तविक स्थिति को जानता है, इस शरीर में ही पड़े रहने का उसका आग्रह नहीं होता। मन्त्र में कहते हैं कि २. **अपियन्तम्**=इस शरीर को छोड़कर जाते हुए तुझको अथवा ब्रह्म के साथ मेल करते हुए **त्वा**=तुझे प्राण **मा तपत्**=सन्तप्त न करे। तुझे प्राणों से पृथक् होने का कोई सन्ताप न हो। तू इन प्राणों से सहर्ष विदाई ले-सके। ३. **स्वधितिः**=आत्मतत्त्व का धारण, आत्मतत्त्व को समझना **ते**=तुझे **तन्वः**=शरीर का **मा आतिष्ठिपत्**=स्थापित करनेवाला न बनाये, अर्थात् शरीर के जाने से तू अपने को जाता हुआ न समझे। ४. परन्तु यह सब तभी होगा जब आचार्य ने तुझे प्रकृति-विज्ञान के साथ आत्मज्ञान को देने का प्रयत्न किया होगा, इसी प्रयत्न में उसने तुझे कभी-कभी दण्ड भी दिया होगा ('पाष्ण्या वा कशया वा तुतोद') परन्तु इसके विपरीत यदि आचार्य लोभवश हुआ और उत्तमता से दोषों को दूर

करनेवाला न हुआ तब तो तेरे जीवन के अन्तिम दिन का दृश्य इससे विपरीत होगा। तू मृत्यु से घबरा रहा होगा और तुझे देह से पृथक् होने में आत्मविनाश की प्रतीति हो रही होगी, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **गृध्नुः**=धन के विषय में लोभवाला **अविशस्ता**=उत्तम उपदेशों द्वारा दोषों का छेदन न करनेवाला, अर्थात् उत्तम उपदेश न देनेवाला कोई आचार्य **छिद्राणि अतिहाय**=दोषों को छोड़कर, अर्थात् बिना ही दोषों के **मिथू**=यों ही झूठ-मूठ **गात्राणि**=तेरे अङ्गों को **असिना कः**=तलवार से छिन्न न करे (अन्यथा मा छिदत्-म०) अर्थात् तुझे सदा वह ज्ञानादि की उन्नति के लिए उचित दण्ड देनेवाला हो। तुझसे धन लेने के लिए तुझे यूँ ही दण्डित न करे।

भावार्थ—आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके हम अपने स्वरूप को समझें। जीवन के अन्तिम दिन प्राणों से वियोग हमें पीड़ित करनेवाला न हो। यह होगा तब यदि अपने ब्रह्मचर्यकाल में हमें अलोभी, उचित दण्ड व ज्ञान-प्रदान से दोषों को दूर करनेवाला आचार्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—गोतमः। देवता—आत्मा। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मर्त्यलोक से देवलोक में

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषतीऽअभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य॥४४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अगृध्नु तथा विशस्ता' अलोभी व दोषों से दूर करनेवाले आचार्य के मिलने पर विद्यार्थी का जीवन इतना सुन्दर बनता है कि इस शरीर के छोड़ने पर उसे अगला शरीर मिलता है तो अधिक उत्तम ही मिलता है, अतः वह मृत्यु के दिन अपने को ही इस रूप में प्रेरणा देता है कि तू **वा उ**=निश्चय से **एतत्**=यह **न म्रियसे**=मर थोड़े ही रहा है। यह शरीर से अलग होने की प्रक्रिया तेरी मृत्यु नहीं है, क्योंकि उत्तम शिक्षित होकर तू **सुगेभिः पथिभिः**=सरल मार्गों से, छल-छिद्र व कुटिलता के मार्गों से दूर रहकर चलता हुआ **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों के ज्ञान को प्राप्त होता है, अर्थात् इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर देवलोक में जन्म लेता है। २. यह देवलोक को प्राप्त होना तेरा निश्चित ही है, क्योंकि **ते**=तेरे **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक व कर्मेन्द्रिय पञ्चकरूप घोड़े **युञ्जा**=सदा योगयुक्त होने का प्रयत्न करते रहे और अतएव **पृषती**=(पृष् to sprinkle) अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन करनेवाले तथा (पृष् to give) ज्ञान का प्रसार करनेवाले **अभूताम्**=हुए और ३. यह भी इसलिए हुआ कि **रासभस्य धुरि**=(रास् शब्दे) शब्दों द्वारा ज्ञान देनेवाले अध्यापकों ने अग्रभाग में, मुख्यस्थान में **वाजी**=शक्तिशाली, त्याग की वृत्तिवाला, ज्ञानी व क्रियाशील आचार्य **उपास्थात्**=तुझे प्राप्त हुआ (**वाज**=शक्ति, त्याग, ज्ञान, क्रिया)। इस प्रकार के आचार्य के प्राप्त होने का ही यह परिणाम है कि तेरा जीवन बड़ा सुन्दर बना, तेरी इन्द्रियाँ विषयों में न भटकीं, अतः अब तुझे उत्तम देवलोक ही प्राप्त होगा। शरीर से पृथक् होने में कोई घाटे का सौदा नहीं। यह मृत्यु है ही नहीं। यह तो निचली श्रेणी से ऊपर जाने के समान है। मर्त्यलोक से देवलोक में जाना है, उन्नति है, नकि अवनति, Promotion है नाकि Demotion, अतः यह तो हर्ष का विषय है, मृत्यु सुख है नकि दुःख।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीर को छोड़ता हुआ इस प्रकार आत्मप्रेरणा देता है कि "तू मर थोड़े ही रहा है, तू ह्रास को नहीं प्राप्त हो रहा। सरल मार्ग से जीवन बिताकर तू देवलोक को प्राप्त करेगा। तेरी इन्द्रियाँ योगयुक्त तथा अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन

करनेवाली बनें और यह सब इस कारण कि तुझे शब्दज्ञान देनेवाले उपाध्यायों का अग्रणी आचार्य बड़ा ज्ञानी, त्यागी व शक्तिशाली प्राप्त हुआ। उस आचार्य की कृपा से तेरा जीवन सुन्दर बना और परिणामतः तुझे देवलोक प्राप्त होने लगा है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—प्रजाः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

इहलोक का उत्कर्ष

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ२॥ऽउत विश्वापुषꣳरयिम्।
अनागास्त्वं नोऽअदितिः कृणोतु क्षत्रं नोऽअश्वो वनताꣳहविष्मान्॥४५॥

१. गतमन्त्र में आचार्य को **वाजी**=ज्ञानी, शक्तिशाली व क्रियाशील कहा है। यह **वाजी**=ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न आचार्य जोकि **अदितिः**=हमारा खण्डन न होने देनेवाला है, वह उत्तम ज्ञान देकर **नः**=हमारी **सुगव्यम्**=(गाव ज्ञानेन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रियों की उत्तमता को, **स्वश्व्यम्**=(अश्वाः कर्मेन्द्रियाणि) कर्मेन्द्रियों की उत्तमता को, **पुंसः पुत्रान्**=पुरुषार्थ साधक पुरुषों व पुत्रों को, वीरता के द्वारा अपनी पवित्रता को सिद्ध करनेवाले पुत्रों को **उत**=और **विश्वापुषम् रयिम्**=सबका पोषण करनेवाले धन को, जिस धन के द्वारा हम केवल अपना ही पोषण न करके औरों का भी पोषण करते हैं और, **अनागास्त्वम्**=(अनागस्त्वम्—म०) निष्पापता को **कृणोतु**=करे। आचार्य की कृपा से हम 'उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले, उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले, वीर पुत्रोंवाले, सबका पोषण करनेवाले धन से युक्त और अतएव निष्पाप जीवनवाले' बनें। २. **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला, **हविष्मान्**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला यह आचार्य **नः**=हमारे लिए **क्षत्रम्**=क्षत से त्राण करनेवाले बल को **वनताम्**=प्राप्त कराए (वनताम्=करोतु—उ०)। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवन बितानेवाला ही ४४वें मन्त्र के अनुसार हर्षपूर्वक शरीर को छोड़ पाता है। उसका यह जीवन तो सुन्दर बीतता ही है, उसे अगला लोक भी उत्तम प्राप्त होता है। एवं, आचार्य का दिया हुआ ज्ञान इसकी इहलौकिक व पारलौकिक उभयविध उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—आचार्य 'वाजी, अदितिः, अश्व व हविष्मान्' होता है तो वह विद्यार्थी को 'सुगव्य, स्वश्व्य, वीरतायुक्त, सर्वपोषक धन, निष्पापता व क्षत्र-बल' को प्राप्त करानेवाला बनता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—भुरिक्शक्वरीः। स्वरः—धैवतः।

स्वर्ग का निर्माण

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति॥४६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम शिक्षा द्वारा उत्तम जीवनवाला बनके जब विद्यार्थी समावृत्त होकर संसार में आता है तब वह कहता है कि **नु**=अब (now) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=तथा **विश्वेदेवाः**=संसार की सभी दिव्य शक्तियाँ ऐसी कृपा करें कि हम मिलकर **इमा भुवना**=इन लोकों को, जिनमें कि हमारा निवास है, **कं सीषधाम**=सुखमय सिद्ध करें। अपने निवासस्थानभूत लोकों को हम स्वर्गतुल्य बनानेवाले हों। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर को स्वर्ग बनाये, प्रत्येक सभ्य समाज को सुन्दर बनाने का ध्यान करे। प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र को स्वर्ग बनाने का निश्चय करे। २. **इन्द्रः**=सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण

करनेवाला प्रभु **सगणः**=इन सब प्राकृतिक शक्तिरूप देवगणों के साथ—**विश्वेदेवाः**'=सब देवों के साथ—विशेषकर **आदित्यैः**=वर्ष में संक्रान्तियों के कारण १२ नामोंवाले आदित्यों के साथ तथा **मरुद्भिः**=४९ प्रकार की वायु के साथ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **भेषजा**=रोगनिवारक औषधों को **करत्**=करे, अर्थात् (क) प्रभु स्मरण के द्वारा, (ख) प्राकृतिक शक्तियों के अनुकूल वर्तन से, (ग) सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहने से तथा (घ) अधिक–से–अधिक खुली वायु में विचरने से हम स्वस्थ जीवनवाले बनने का प्रयत्न करें। वस्तुतः लोक को स्वर्ग बनाने के लिए सबसे अधिक यही बात आवश्यक है। स्वर्ग–निवासी देव अजर व अमर हैं। वे जीर्णशक्ति व रोगों के शिकार नहीं होते। हम भी प्रस्तुत चारों उपायों का प्रयोग करते हुए स्वस्थ बनें और प्रार्थना करें—**इन्द्रः**=ज्ञान के प्रकाश का सूर्य प्रभु अथवा ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला प्रभु **अदित्यैः सह**=ज्ञान–विज्ञान का आदान करनेवाले सब विद्वानों के साथ, अर्थात् इन विद्वानों द्वारा **नः**=हमारे जीवनों में **यज्ञम् च**=यज्ञरूप उत्तम कर्मों को **तन्वं च**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के लिए तथा **प्रजां च**=प्रजा को **सीषधाति**=सिद्ध करें। प्रभुकृपा से हमें उन ज्ञानी विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो जिनके ज्ञान को सुनकर हम इस संसार में यज्ञों के करने, शक्तियों को विस्तृत करने तथा उत्तम प्रजा के निर्माण में ही लगे रहें। ऐसा होने पर क्या हमारा यह लोक सुखमय न होगा?

भावार्थ—प्रभु व प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता में चलकर हम अपने लोक को स्वर्ग बनाएँ। प्रभु का उपासन, प्राकृतिक नियमों का पालन, सूर्य सम्पर्क में निवास व शुद्ध वायु के सेवन से हम स्वस्थ बनें। प्रभु के उपासन व ज्ञानी विद्वानों के संग से हममें वह ज्ञान की ज्योति जगे जिससे हमारे कर्म यज्ञात्मक हों, हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें तथा उत्तम ज्ञान का निर्माण करनेवाले बनें। अपने लोक को स्वर्ग बनाने का यही मार्ग है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

'गोतम' की प्रार्थना

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिं दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपने लोक को स्वर्ग बनाने की कामनावाला प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अधिक–से–अधिक समीप हो **उत**=और **त्राता**=हमें रोगों व वासनाओं से रक्षित करनेवाले हो। इस प्रकार **शिवः भव**=आप हमारे लिए कल्याणकारी होते हो। **वरूथ्यः**=(वरूथ आच्छादन) आप हमारे उत्तम आच्छादन व गृह हो अथवा आप ही हमें उत्तम धन देनेवाले हो (वरूथ=wealth)। २. **वसुः**=आपकी कृपा से हमारा निवास उत्तम होता है, **अग्निः**=आप हमारी सब उन्नतियों को सिद्ध करते हैं। **वसुश्रवा**=आप ही निवास के लिए आवश्यक धन व ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **अच्छ नक्षि**=आप हमारी ओर आते हैं (नक्ष गतौ) यह कितनी सौभाग्य की बात है कि (You knock at our door) आप हमारे दरवाज़े को थपथपाते हैं और यदि हम उस ब्रह्ममुहूर्त में सोये ही नहीं रह जाते, अपितु उठकर दरवाज़ा खोलते हैं तो आप **द्युमत्तमं रयिं दाः**=हमें अत्यन्त दीप्तियुक्त धन देते हैं, अर्थात् आपकी कृपा से हमें वह धन प्राप्त होता है, जिस धन के साथ ऊँचे–से–ऊँचे ज्ञान का निवास है। हे **शोचिष्ठ**=

हमारे हृदयों को अधिक-से-अधिक शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए अथवा **सुम्न**=Hymn स्तोत्रों के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। हम यह चाहते हैं कि हमारा जीवन सदा आपके स्तवन से युक्त हो, और साथ ही **सखिभ्यः**=समान ज्ञानवाले मित्रों के लिए पार्थना करते हैं, आपकी कृपा से हमें ज्ञानी मित्र मिलते रहे, जिससे हम इस संसार-यात्रा में कभी फिसल न जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे समीपतम मित्र हैं। प्रभु हमारे समीप आते हैं और यदि हम प्रभु के स्वागत के लिए उद्यत होते हैं तो ज्योतिर्मय धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। हम प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनें और ज्ञानी मित्रों को प्राप्त करें।

सूचना—अपने लोक को स्वर्गलोक बनाना ही सच्चा 'अश्वमेध' है। यहाँ अश्वमेघ यज्ञ समाप्त होता है। अगला अध्याय 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य' ऋषि के मन्त्र से प्रारम्भ होता है। यह ऋषि 'दीदिवस्' प्रभु की कृपा से 'विवस्वान्'=ज्ञान की किरणोंवाला बना है और 'शोचिष्ठ' प्रभु की कृपा से सदा यज्ञों में वसानः=गति करनेवाला याज्ञवल्क्य हुआ है। यह प्रार्थना करता है—

इति पञ्चविंशोऽध्यायः॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—अभिकृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

पूर्ण स्वास्थ्य

अ॒ग्निश्च॑ पृ॒थि॒वी च॒ सन्न॑ते ते मे॒ सं न॑मताम॒दो वा॒युश्चा॒न्तरि॑क्षं च॒ सन्न॑ते ते मे॒ सं न॑मताम॒दऽआ॑दि॒त्यश्च॒ द्यौश्च॒ सन्न॑ते ते मे॒ सं न॑मताम॒दऽआप॑श्च॒ वरु॑णश्च॒ सन्न॑ते ते मे॒ सं न॑मताम॒दः। स॒प्त स॒ꣳसदो॑ऽअ॒ष्ट॒मी भू॒तसा॑धनी। सका॑माँ२॥ऽअध्व॑नस्कुरु सं॒ज्ञान॑मस्तु मे॒ऽमुना॑॥१॥

१. **अग्निश्च पृथिवी च**=अग्नि और पृथिवी **सन्नते**=परस्पर आनुकूल्य से चल रहे हैं। पृथिवी अधिष्ठान है और अग्नि उसपर अधिष्ठित प्रधान देवता है, इनका कभी प्रातिकूल्य नहीं होता। ये दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है, पृथिवी शरीर है और अग्नि उस शरीर में व्याप्त होनेवाली उचित उष्णता (वैश्वानर अग्नि=पाचन का कारणभूत अग्नि) है। इनके ठीक रहने से मैं स्वस्थ हूँ। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं स्वस्थ शरीरवाला बनकर भोगप्रवण न बन जाऊँ, अपितु इस स्वस्थ शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रभु के माहात्म्य को देखनेवाला बनूँ। २. **वायुः च अन्तरिक्षम् च**=वायु और अन्तरिक्ष **संनते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। अन्तरिक्ष वायु का अधिष्ठान है। वे दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी **सन्नमताम्**=अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मानस स्वास्थ ठीक है। अन्तरिक्ष हृदय है और वायु उसमें निरन्तर सञ्चार करनेवाले प्राण है। इनके ठीक होने से मेरा मन पूर्ण स्वस्थ है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः सं नमताम्** =उस प्रभु को प्राप्त कराएँ। मैं इनकी रचना में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ३. **आदित्यः च द्यौः च**=सूर्य व द्युलोक **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। द्युलोक आदित्य का अधिष्ठान है। प्रभुकृपा से ये मेरे प्रति भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मस्तिष्क स्वस्थ है। वस्तुतः द्युलोक ही शरीर में मस्तिष्क है और उस मस्तिष्क में होनेवाली 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' ही आदित्य का प्रकाश है। इनके ठीक होने पर मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ होता है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं मस्तिष्क में तथा उस मस्तिष्क में रहनेवाले ज्ञान के प्रकाश में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ४. **आपः च वरुणः च**=जल व जलों की अधिष्ठातृ देवता वरुण **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। 'आपः' शरीर में वीर्य हैं और 'वरुण' शरीर में द्वेषादि का वारक है, द्वेषादि से दूर रहकर उत्तम व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही 'वरुण' बनना है। वीर्य के अभाव में वरुण नहीं बना जाता, निर्वीर्य पुरुष चिड़चिड़ा व झगड़ालु हो जाता है। इनकी अनुकूलता से मेरा त्रिविध स्वास्थ्य ठीक रहता है। वीर्य तथा व्रतों का बन्धन शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र व दीप्त बनाते हैं। ५. हे प्रभो **सप्त**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये सात **संसदः**=तेरे आयतन हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रकृति का ज्ञान होने पर प्रकृति के कण-कण में तेरी महिमा दिखती है, मन तेरी

महिमा का अनुभव करता है और तीव्र बुद्धि से ही तेरा दर्शन होता है। इस प्रकार ये सात तेरे संसद् हैं। **अष्टमी**=आठवीं वाणी **भूतसाधनी**=सब भूतों को वश में करनेवाली होती है। इसके द्वारा हम अपने विचारों को प्रकट करके उनके मस्तिष्कों व हृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ६. हे प्रभो! आप **अध्वनः**=हमारे मार्गों को **सकामान्**=सकाम, प्राप्तकाम, अर्थात् सफल मनोरथवाला **कुरु**=कीजिए। हम जिस भी मार्ग पर चलें, वहाँ अवश्य सफल हों और इन सब मार्गों पर चलते हुए **मे**=मेरा **अमुना**=आप प्रभु से **संज्ञानम् अस्तु**=संज्ञान हो, संगमन हो। आपसे ऐकमत्यवाला होकर ही मैं उस-उस मार्ग का अनुसरण करूँ, अर्थात् मुझे अपनी सब क्रियाओं में सदा आपका स्मरण रहे।

भावार्थ—मैं शरीर, हृदय व मस्तिष्क के स्वास्थ्य को सिद्ध करूँ। वीर्यरक्षा व व्रतों का बन्धन मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाये। मैं ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि से प्रभु का साक्षात्कार करूँ, वाणी से लोगों को आकृष्ट करनेवाला बनूँ। मेरी सब क्रियाएँ सफल हों तथा प्रभुस्मरण के साथ हों।

ऋषिः—लौगाक्षिः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—स्वराडत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

ज्ञानयज्ञ से प्रभु का आराधन

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳯशूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥२॥

१. गतमन्त्र का 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य'='ज्ञान की किरणोंवाला, यज्ञ में विचरनेवाला' प्रस्तुत मन्त्र में 'लौगाक्षि' बनता है, उसका दृष्टिकोण सदा लोकहितवाला होता है (लौग=लोक)। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि मेरा आपसे इस प्रकार संज्ञान हो कि **यथा**=जिसमें मैं **इमाम्**=इस **कल्याणी वाचम्**=कल्याणकर वाणी को **जनेभ्यः**=सब लोगों के हित के लिए **आवदानि**=समन्तात् व्यक्त करनेवाला बनूँ। मैं इस वेदवाणी को **ब्रह्मराजन्याभ्याम्**=ब्राह्मणों के लिए तथा क्षत्रियों के लिए **शूद्राय च अर्याय च**=शूद्रों के लिए तथा वैश्यों के लिए **स्वाय च**=अपनों के लिए तथा **चारणाय**=परायों के लिए (नास्ति रणो येन सह वाक् सम्बन्धरहितः मे शत्रुरिति वा—म०) शत्रुओं के लिए भी मैं इस वेदवाणी को उच्चरित, प्रकाशित करता हूँ। २. इस ज्ञान-प्रसार के कार्य से मैं **देवानाम्**=विद्वानों का **प्रियः भूयासम्**=प्रिय बनूँ, अर्थात् विद्वान् लोगों को मेरा यह ज्ञान-प्रसार का कार्य प्रीति देनेवाला हो और साथ ही **दक्षिणायै (दक्षिणायाः)**=दक्षिणा के **दातुः**=देनेवाले का **इह**=यहाँ **प्रियः**=प्रिय **भूयासमम्**=होऊँ। दक्षिणा देनेवाले को भी दक्षिणा देते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो। ३. **अयम् मे कामः**=यह मेरी इच्छा है कि (क) मैं ब्राह्मणादि सभी के लिए वेदज्ञान को व्यक्त करूँ। (ख) इस कार्य से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। (ग) दक्षिणा देनेवाले भी प्रसन्नता का अनुभव करें। यह मेरी इच्छा **समृध्यताम्**=समृद्ध हो, अर्थात् सफल हो। मेरे इस ज्ञानयज्ञ से आराधित हुए-हुए **अदः**=वे प्रभु **माः**=मुझे **उपनमतु**=समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् मैं अपने इस कार्य से प्रभु को आराधित करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरी इस इच्छा को पूर्ण करें कि मैं सभी के लिए वेदज्ञान को देनेवाला बनूँ। इस ज्ञानयज्ञ से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। दक्षिणा को देनेवाले दक्षिणा देने में प्रसन्नता अनुभव करें और इस ज्ञानयज्ञ से मैं प्रभु की आराधना करके प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

जितेन्द्रिय, विकसित शक्ति, बलवान्

बृहस्पतेऽअति यदर्योऽअर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद्दीदयच्छवसऽ ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्।
उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतये त्वैष ते योनिर्बृहस्पतये त्वा॥३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि मैं वेदज्ञान का प्रचार करूँ। प्रचार के लिए आवश्यक है कि वह वेदज्ञान हमें प्राप्त हो। वेदज्ञान को अप्राप्त व्यक्ति ने क्या वेद का प्रचार करना? अतः मन्त्र में उस वेदज्ञान के प्रकाश के लिए प्रार्थना करते हुए 'गृत्समद' ऋषि, जो प्रभु का स्तवन करते हैं (गृणाति) और प्रसन्न रहते हैं (माद्यति), कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति प्रभो! **यत्**=जिस वेदज्ञान को **अति अर्यः**=अतिशयेन जितेन्द्रिय, अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही **अर्हात्**=(अर्हति) प्राप्त करने योग्य होता है। २. जो **द्युमत्**=ज्ञान की दीप्तिवाला तथा **क्रतुमत्**=सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाला वेदज्ञान **जनेषु**=(जनि प्रादुर्भाव) अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों में **विभाति**=विशेष-रूप से दीप्त होता है। ३. **यत्**=जो वेदज्ञान **शवसा**=बल से **दीदयत्**=चमकता है, अर्थात् जिस वेदज्ञान का प्रकाश सबल व्यक्ति में ही होता है। ४. हे **ऋतप्रजात**=(ऋतं प्रजातं यस्मात्—द०) ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभो! **तत्**=वह **चित्रम् द्रविणम्**=अद्भुत वेदज्ञानरूपी धन **अस्मासु**=हम गृत्समदों में **धेहि**=स्थापित कीजिए। आपसे वेदज्ञान को प्राप्त करके ही हम उसे लोगों में प्रचारित कर पाएँगे। इस वेदज्ञान के पात्र बनने के लिए हम (क) **अर्य**=जितेन्द्रिय बनेंगे, (ख) **जन**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले बनेंगे तथा (ग) **शवस**=अपने में बल का सम्पादन करेंगे। इस वेदज्ञान के द्वारा जहाँ हम प्रकृति के सारे विज्ञान को प्राप्त करेंगे (द्युमत्), वहाँ इस वेद से हमें अपने कर्त्तव्यभूत यज्ञों का भी ज्ञान होगा (क्रतुमत्)। ५. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतो असि**=उपासना के द्वारा क्रिया में लाये हुए यम-नियमों से गृहीत होते हुए जाने जाते हो। **बृहस्पतये त्वा**=उस वेदज्ञान के पति प्रभु के लिए, अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**= उत्पत्तिस्थान है, अर्थात् इस प्रभु से ही तेरा प्रकाश हुआ है। **बृहस्पतये त्वा**=उस बड़े-बड़े लोकों के पति प्रभु के लिए तुझ वेदज्ञान को मैं ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए हम जितेन्द्रिय, शक्तियों का विकास करनेवाले व बलशाली बनें। यह वेदज्ञान प्रभु के प्रकाश के लिए भी आवश्यक है।

ऋषिः—रम्याक्षी। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः।

वासना-विनाश व स्तवन

इन्द्र गोमन्निहा याहि पिबा सोमꣳशतक्रतो। विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतम्।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते॥४॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' प्रस्तुत मन्त्रों में 'रम्याक्षीः'=रमणीय आँखोंवाला बनता है। प्रभु का कुछ-कुछ आभास होने पर मानस आह्लाद का आँखों में बसना स्वाभाविक है। यह रम्याक्षि कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **गोमन्**=वेदवाणियोंवाले प्रभो! **इह**=इस मानव-जीवन में **आयाहि**=आप हमें प्राप्त हों। ३. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु रम्याक्षि से कहते हैं कि हे **शतक्रतोः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञमय जीवन बितानेवाले

रम्याक्षे! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। शरीर में उत्पन्न इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाला बन। यह सोम **विद्यद्भिः** (दो अवखण्डने)=विशेषरूप से वासनाओं का खण्डन करनेवालों से तथा **ग्रावभिः**=स्तोताओं (गृणन्ति इति–द०) से **सुतम्**=अपने अन्दर उत्पन्न किया जाता है। सोमरक्षा के लिए हम अपने अन्दर वासनाओं को उत्पन्न न होने दें और प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। ३. अब रम्याक्षि कहता है–हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**= आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद! मैं **त्वा**=तुझे **इन्द्राय गोमते**= इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही प्राप्त करता हूँ, जोकि वेदवाणियोंवाला है। **एषः**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। **इन्द्राय गोमते**=मैं तुझे उस सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले वेदवाणियों के पति प्रभु की प्राप्ति के लिए ही स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ–प्रभु-प्राप्ति के लिए वीर्य की रक्ष और सोम का पान आवश्यक है। इसके साधन हैं, वासनाओं से बचना व प्रभु का स्तवन करना। वेदज्ञान भी प्रभु-प्राप्ति के लिए ही है।

ऋषिः–रम्याक्षी। देवता–सूर्यः। छन्दः–भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः–धैवतः।

गोमान् ग्रावा

इन्द्रा याहि वृत्रहन् पिबा सोमꣳशतक्रतो। गोमद्भिर्ग्रावभिः सुतम्।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते॥५॥

१. गतमन्त्र के ही भाव को परिवर्तित शब्दों में रम्याक्षि इस प्रकार प्रकट करता है–हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वृत्रहन्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को विध्वस्त करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप यहाँ मेरे हृदयाकाश में आइए। २. उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि **शतक्रतोः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञ को चलानेवाले रम्याक्षे। **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला बन। यह सोम **गोमद्भिः**=वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाले **ग्रावभिः**=स्तोताओं से **सुतम्**=उत्पादित किया जाता है। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम वेदवाणियों का सतत अध्ययन करें। ३. अब रम्याक्षि कहता है कि हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद। **त्वा**=मैं तुझे **गोमते इन्द्राय**=उस वेदवाणियोंवाले ज्ञानरूप परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु की प्राप्ति के लिए ही प्राप्त करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। मैं उस **गोमते इन्द्राय**= वेदवाणियोंवाले प्रभु के लिए ही **त्वा**=तुझे प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ–प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है, उस सोमरक्षा के लिए हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें और प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। वेदज्ञान भी प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन होता है।

ऋषिः–प्रदुराक्षिः। देवता–वैश्वानरः। छन्दः–जगतीः। स्वरः–निषादः॥

वैश्वानर प्रभु का आराधन

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥६॥

१. 'उल्लिखित साधनों को कार्यान्वित करता हुआ रम्याक्षि जिस दिन प्रभु का दर्शन करता है उस दिन 'प्रादुराक्षि' (प्रादुर्भूत ज्ञानवाला) बन जाता है और कहता है कि हम **ईमहे**=उस प्रभु से याचना करते हैं जो (क) **ऋतावानम्**=सत्य व यज्ञवाला है (ख)

वैश्वारनम्=(विश्वनरहितम्)=सब मनुष्यों का हित करनेवाला है, (ग) **ऋतस्य ज्योतिषस्पतिम्**=सत्य, अविनाशी ज्योति, अर्थात् तेज का पालक है—तेज का अधिष्ठान है, (घ) **अजस्रम्**=(न जरयति नश्यति) अनुपक्षीण व अहिंसित है, (ङ) **घर्मम्**=सब मलों का क्षरण करनेवाला तथा दीप्त है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। २. यह प्रादुराक्षि प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होते हो। मैं **त्वा**=तुझे वेद को **वैश्वानराय**=विश्वनरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए स्वीकार करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है, अतः मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=इस विश्वनरों का हित करनेवाले के लिए स्वीकारता हूँ—मेरा यह वेदाध्ययन प्रभु-प्राप्ति के लिए ही होता है।

भावार्थ—हम वैश्वानर प्रभु का आराधन करें। वे यम-नियमों से गृहीत होते है। वेदज्ञान प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—वैश्वानरोऽग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

भौतिकता का त्याग

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥७॥

१. गतमन्त्र का प्रादुराक्षि=प्रभु के दर्शनवाला व्यक्ति सारी वासनाओं का संहार करनेवाला बनता है, अतएव 'कुत्स' हो जाता है। (कुथ हिंसायाम्)। कुत्स प्रार्थना करता है कि हम **वैश्वानरस्य**=इस विश्वनरहित करनेवाले प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=हों, अर्थात् हम हृदयस्थ प्रभु की कल्याणी मति को सुनें और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करें। २. यह वैश्वानर **राजा**=सारे संसार को दीप्त करनेवाले हैं तथा इस संसार को व्यवस्थित Regulate करनेवाले हैं। **हि**=निश्चय से सबको **कम्**=सुख देनेवाले हैं। **भुवनानाम्**=सब भुवनों के प्राणियों के **अभिश्रीः**=अभिश्रयणीय हैं, सेवनीय हैं। सब प्राणी अन्त में प्रभु का ही आश्रय ढूँढते हैं। ३. **इतः**=इस सर्वाश्रयणीय प्रभु से **जातः**=प्राप्त विकासवाला व्यक्ति **इदम् विश्वम्**=इस सारे ब्रह्मणड को **विचष्टे**=(Abandon, Leave) त्याग देता है। प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संसार में उलझता नहीं। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द की तुलना में संसार का आनन्द तुच्छ हो जाता है। ४. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला वह प्रभु **सूर्येण**=(सरति) स्वयं सरण करनेवाले पुरुषार्थी के साथ **यतते**=उसकी उन्नति के लिए उद्योग करता है, अर्थात् प्रभु हमारा हित करते हैं, परन्तु करते तभी हैं जब हम स्वयं यत्नशील हों। ५. यह कुत्स कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से गृहीत होते हो। 'कुत्स' ऋषि वेद को सम्बोधन करके कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं। मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु को वैश्वानररूप में देखें, हम स्वयं भी सब मनुष्यों का हित करनेवाले बनें। प्रभु का दर्शन करनेवाला इस संसार में भोगों में नहीं उलझता, उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है और प्रभु उसकी सहायता करते हैं। यह वेदज्ञान उसे प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—वैश्वानरः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

उक्थरूपी वाहन

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्र यातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥८॥

१. गतमन्त्र का ऋषि कुत्स ही आराधना करता है—**वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **नः**=हमारी **ऊतये**=रक्षा के लिए **परावतः**=दूर-से-दूर देश से भी **आप्रयातु**=सर्वथा आये ही। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु जब तक हमें प्रभु का ज्ञान नहीं तब तक प्रभु हमसे दूर ही हैं। प्रभु का ज्ञान ही हमें प्रभु का सामीप्य प्राप्त कराता है। २. वह **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला प्रभु **उक्थेन वाहसा**=स्तोत्ररूप वाहन से समीप प्राप्त हो। प्रभु का स्तवन करता हुआ स्तोता प्रभु के गुणों को अपने में धारण करता है, प्रभु-जैसा बनता है और इस प्रकार प्रभु का उपासक व प्रभु के सामीप्यवाला होता है। ३. कुत्स प्रभु से कहते हैं कि हे प्रभो! आप **उपायगृहीतः असि**=उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। ४. इस प्रकार प्रभु से कहकर कुत्स वेद को सम्बोधित करता है कि मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब नरों के हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं। अतः **त्वा**=तुझे मैं **वैश्वानराय**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्तोत्ररूप वाहनों पर आरुढ़ हो हमें प्राप्त होते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। उस वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए वेदज्ञान साधन बनता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—वैश्वानरः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

महान् गृह (महागय)

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे॥९॥

१. गतमन्त्र का वासनाओं का हिंसन करनेवाला 'वसिष्ठ' बनता है, अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है। यह प्रभु का आराधन इस प्रकार करता है—**अग्निः**=यह हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला है **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है और हमपर ज्ञान का प्रकाश करनेवाला है। इस ज्ञान के द्वारा **पवमानः**=हमें पवित्र करनेवाला है। **पाञ्चजन्यः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी का हित करनेवाला है। **पुरोहितः**=यह सृष्टि बनने से पहले से ही है अथवा सबसे आगे, सबसे बढ़कर हित करनेवाला है। २. **तम्**=उस **महागयम्**=(महान् गयः स्तुतिर्यस्य—म०) उरुगाय, महान् स्तुतिवाले अथवा (गय=गृह) महागृहरूप प्रभु की **ईमहे**=हम प्रार्थना करते हैं, अर्थात् उसी को पाने का प्रयत्न करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपयाम, स्वीकरण के द्वारा गृहीत होते है, अर्थात् जैसे पत्नी एक पति को स्वीकार करती है, इसी प्रकार जो उपासक एकमात्र आपका स्वीकार करता है उससे आप गृहीत होते हो। ४. यह 'वसिष्ठ' वेद को सम्बोधित करके कहता है कि **त्वा**=तुझे उस **अग्नये**=सर्वाग्रणी **वर्चसे**=तेजोरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं, अतः **त्वा**=तुझे उस **अग्नये वर्चसे**=तेजोरूप अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—उत्तम निवासवाला और शक्तिशाली वह बनता है जो प्रभु को अपना घर

बनाता है। वेद उस तेजोमय अग्निरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

महाँ इन्द्र

महाँ२॥ऽइन्द्रो वज्रहस्तः षोडशी शर्म यच्छतु। हन्तु पाप्मानं योऽस्मान्द्वेष्टि। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥१०॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार प्रभु को **महागय**=महान् गृह समझनेवाले और अतएव उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' कहते हैं कि **महान्**=वे प्रभु श्रेष्ठ हैं (मह पूजायाम्) पूजनीय हैं। **इन्द्रः**=(इदि परमैश्वर्ये) वे परमैश्वर्यवाले हैं, (इन्द to be powerful) सर्वशक्तिमान् हैं। **वज्रहस्तः**=वज्र उनके हाथ में है, अर्थात् 'वज गतौ' वे सदा क्रियाशील हैं, **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** उनकी क्रिया स्वाभाविक है। ३. **षोडशी**=सोलह कलाओंवाले वे प्रभु, हमारे जीवनों को इन सोलह कलाओं से युक्त करके हमें अविकल (सकल) बनाकर **शर्म यच्छतु**=सुख व कल्याण प्राप्त कराएँ। प्रश्नोपनिषद् में इन 'प्राण' आदि सोलह कलाओं का वर्णन है। उनसे युक्त होने पर हमारा जीवन अविकल (अव्याकुल) व सम्पूर्ण=Whole स्वस्थ बनता है। ३. वे प्रभु हममें से **पाप्मानम् हन्तु**=पाप को नष्ट करें और उसको भी समाप्त करें **यः**=जो **अस्मान्**=हमारे साथ **द्वेष्टि**=प्रीति न करता हो। वस्तुतः जब हमारा पाप नष्ट हो जाता है तब हमारे साथ प्रीति न करनेवाला भी नहीं रहता। पापनाश 'शत्रुनाश' का कारण बनता है। ४. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप अनन्यरूप से आपका ही भजन करने से गृहीत होते हो। ५. वसिष्ठ वेद को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे हम उस **महेन्द्रायः**=महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए स्वीकारते हैं **एषः ते योनिः**=यह महेन्द्र ही तेरा उत्पत्तिस्थान है। **महेन्द्राय त्वा**=उस महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए तुझे ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'महान्, इन्द्र, वज्रहस्त व षोडशी हैं', वे हमारा कल्याण करते हैं। हमारे पाप को नष्ट कर सभी को हमारे प्रति प्रीतियुक्त करते हैं। हम वेदज्ञान द्वारा प्रभु को पाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दुःखनाशक प्रभु

तं वो दुस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनवऽइन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥११॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नोधा'=नवधा स्तुति को धारण करनेवाला अथवा स्तुति के द्वारा आत्मधारण करनेवाला कहता है कि **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जो (क) **वः**=आप सबके **दस्मम्**=दर्शनीय (प्रियवादिनं कार्यसाधकं च—उ०) हैं अथवा (दसु उपक्षये) दुःखों का नाश करनेवाले हैं, (ख) **ऋतीषहम्**=गति के द्वारा वासनाओं का पराभव करनेवाले हैं, अर्थात् हमें कर्मशील बनाकर काम, क्रोध आदि वासनओं में न फँसने देनेवाले हैं। (ग) **वसोः**=(वासयितुः—उ०) उत्तम निवास के कारणभूत **अन्धसः**=सोम के द्वारा **मन्दानम्**=आनन्दित करनेवाले हैं। ३. उस प्रभु की ओर हम **स्वसरेषु**=दिनों में, अर्थात् प्रतिदिन **नवामहे**=जाते हैं **न**=जैसे **धेनवः**=दुधार गौवें **वत्सम् अभि**=बछड़े की ओर। जैसे गो बछड़े की प्रति प्रेम से जाती है उसी प्रकार हम प्रेम से प्रभु की ओर जाते हैं। जिस प्रकार दूध से भरे ऊधस्वाली गौ के

लिए बछड़े की ओर न जाना व्याकुलता का कारण होता है, इसी प्रकार हमें प्रभु के उपासन के बिना अनमनापन-सा लगे। हम प्रभु के उपासन के लिए उतावले हों।

भावार्थ—हम प्रभु-उपासन के लिए उसी प्रकार प्रेमवाले हों जैसेकि गौ बछड़े के प्रति जाने के लिए प्रेमवाली होती है। प्रभु ही हमारे सब दुःखों के नाशक हैं।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अग्निहोत्र-सन्ध्या-दान

यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजाऽउदीरते॥१२॥

१. प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जो भी **वाहिष्ठम्**=सर्वोत्तम प्राप्त करने योग्य वस्तु है **तत्**=उसे **अग्नये**=अग्नि के लिए अर्पित करनेवाला बन, अर्थात् अग्निहोत्र में सर्वोत्तम घृत तथा औषधद्रव्यों को ही डालने का विधान करो। ये पदार्थ ही सूक्ष्मकणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में फैलेंगे और तुम्हें पूर्णतया नीरोग करनेवाले होंगे। साथ ही इस प्रकार अग्निहोत्र होने पर ठीक ऋतु में वर्षा होगी, पौष्टिक अन्न की उत्पत्ति होगी और यह अन्न-वृद्धि तुम्हारी सम्पत्ति-वृद्धि का कारण बनेगी। २. हे **विभावसो**=(विभा एव वसु यस्य) ज्ञान धनवाले! तू **बृहद् अर्च**=खूब अर्चना करनेवाला बन। यह अर्चना तेरी शक्ति-वृद्धि करनेवाली होगी। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की शक्ति तुझमें प्रवाहित होगी। ३. **महिषी इव**=(महिष्याः इव) जैसे एक गृहणी से ठीक उसी प्रकार **त्वत्**=तुझसे **रयिः**=धन तथा **त्वत्**=तुझसे **वाजाः**=अन्न **उदीरते**=प्रवाहित होते हैं। तू परोपकार के लिए धनों व अन्नों को देनेवाला होता है। घर में गृहिणी=पत्नी सबको खिलाकर खाती है, इसी प्रकार तू भी पाँचों यज्ञों के द्वारा धनों व अन्नों को औरों तक पहुँचाकर ही बचे हुए को खानेवाला बनता है। एवं, तेरे जीवन में 'अग्निहोत्र, उपासना व दान'—ये सतत प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—१. हम उत्तम घृत व औषधद्रव्यों से अग्निहोत्र करें। २. ज्ञानरूप धनवाले बनकर प्रभु का अर्चन करें। ३. सदा धनों व अन्नों का दान करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वेद का उपदेश

एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्नऽइत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्द्धासऽइन्दुभिः॥१३॥

१. प्रभु की अर्चना से ज्ञान का प्रकाश तो प्राप्त होता ही है, प्रभु की शक्ति भी हममें प्रवाहित होती है और हम 'भारद्वाज' बनते है, अपने में शक्ति को भरनेवाले। इस भारद्वाज से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाले! **एहि उ**=तुम मेरे समीप आओ ही, अर्थात् प्रातः-सायं मेरा ध्यान करने का प्रयत्न करो। २. मैं **ते**=तेरे लिए **इत्था**=इस प्रकार से, अर्थात् तेरे मेरे समीप आने से **गिरः**=उन वाणियों को **ब्रुवाणि**=उत्तमता से कहता हूँ जोकि **इतराः**=(इ तराः) कामवासना से तुझे तैरानेवाली होती हैं, जिनके उच्चारण से तू वासना को जीत लेता है। ३. हे भारद्वाज! तू **एभिः**=इन **इन्दुभिः**=सोमकणों से **वर्द्धासे**=वृद्धि को प्राप्त कर। तुझमें ये सोमकण उत्पन्न होते हैं, यदि तू इनकी सम्यक् रक्षा करेगा तो ये तेरे शरीर को नीरोग करनेवाले होंगे, तेरे मन को वासनाओं से बचाकर निर्मल बनाएँगे, तेरी ज्ञानाग्नि का ये ईंधन होंगे। इस प्रकार तेरी उन्नति उसी अनुपात में होगी जिस अनुपात में तू इन सोमकणों की रक्षा कर सकेगा।

भावार्थ—हम प्रभु-सम्पर्क में आकर वेदवाणियों का श्रवण करें और सोम की रक्षा

करनेवाले हों।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—संवत्सरः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

यज्ञ व प्रजा-परिपालन

ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः॥१४॥

१. गतमन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी प्रभु भारद्वाज से कहते हैं कि **ऋतवः**=ऋतुएँ **ते यज्ञम्**=तेरे यज्ञ को **वितन्वन्तु**=विस्तृत करनेवाली हों, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार तेरे यज्ञ निरन्तर चलते रहें। २. **मासाः**=प्रत्येक मास **ते हविः**=तेरे दानपूर्वक अदन के भाव को **रक्षन्तु**=रक्षित करें, अर्थात् तुझमें कभी भी न देकर सारा खा जाने की वृत्ति उत्पन्न न हो जाए। ३. **संवत्सरः**=वर्ष **ते**=तेरे लिए **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ को **दधातु**=धारण करे, अर्थात् वर्षभर तेरे द्वारा यज्ञ निरन्तर चलता रहे और वस्तुतः यह यज्ञ ही तेरे उत्तम रक्षण का कारण बने **च**=और निरन्तर चलाया जाता हुआ यह यज्ञ **नः प्रजाम्**=हमारी प्रजा को **परिपातु**=सुरक्षित करे। वस्तुतः यह सम्पूर्ण प्रजा उस प्रभु की ही है, इस प्रजा की रक्षा के लिए यज्ञ ही महान् साधन है। प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया और कहा कि इसी से तुम फूलो-फलोगे, यही तुम्हारी सब इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा।

भावार्थ—हम प्रत्येक ऋतु में यज्ञशील बनें, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों, सारा वर्ष हमारा यज्ञ अविच्छिन्न चलता रहे और यह यज्ञ प्रजा का परिपालन करनेवाला हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—विद्वान्। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

जीवन की पूर्ति=विप्रता

उपह्वरे गिरीणाᳬसङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽअजायत॥१५॥

१. गतमन्त्र में प्रतिपादित यज्ञादि उत्तम कर्मों की वृत्ति जीवन में तभी बनती है, जब प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार उत्तम गुरुओं की समीपता, प्रभुभक्त व स्तोताओं का संग प्राप्त होता है। मन्त्र में कहते हैं—**गिरीणाम्**=(गुरूणां गृणन्ति इति) गुरुओं के **उपह्वरे**=समीप **विप्रः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला (वि+प्रा) **अजायत**=बनता है। गिरि और गुरु शब्द एक ही धातु से बने हैं। संन्यासियों का एक वर्ग 'गिरि' भी है। ये घूम-घूमकर प्रजा को उपदेश देते हैं। जिस बालक को उत्तम गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है वह ज्ञानी बन जाता है। '**मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद**'। ५ वर्ष तक जिसे उत्तम मातृरूप गुरु ने सदाचारी बनाया, आठ वर्ष तक पितृरूप गुरु ने जिसे सुशील बनाया तथा २५ वर्ष तक जिसे आचार्यरूप गुरु ने उत्तम ज्ञान दिया यह पुरुष वि-प्र बनता है, अपना पूरण करनेवाला होता है **च**=और २. **नदीनाम्**=(नदिः=स्तोता) स्तोताओं के **संगमे**=संग में **विप्रः अजायत**=अपना पूरण करनेवाला बनता है। इन गुरु-भक्तों का संग मिलने से वृत्ति सुन्दर बनी रहती है, मनुष्य विषय-वासनाओं में भटककर विकृत जीवनवाला नहीं बनता। ३. गुरुओं की समीपता में और स्तोताओं की सङ्गत में **धिया**=सदा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से (धीः प्रज्ञा व कर्म) मनुष्य **विप्रः**=अपनी न्यूनताओं को दूर करके पूर्ति करनेवाला **अजायत**=होता है। जब मनुष्य को सुगुरुओं का सामीप्य नहीं मिलता तथा इसका सङ्ग प्रभुप्रवण लोगों से नहीं होता तब वह संसार में ज्ञान की अपेक्षा मूर्खतापूर्ण भोगविलासों में अधिक फँस जाता है और इसका जीवन दोषों से भरा हुआ हो जाता है।

भावार्थ—हमें गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो, स्तोताओं की संगत में हम उठें-बैठें और ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहें तो हमारा जीवन अधिकाधिक पूर्ण होता जाएगा। जीवन की पूर्णता से हम 'वत्स', प्रभु के प्रिय, इस मन्त्र के ऋषि बनेंगे।

ऋषिः—महीयवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सात्त्विक पदार्थों का सेवन

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रꣳशर्म महि श्रवः॥१६॥

१. गतमन्त्र के 'वत्स' से ही प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरा **अन्धसः**=इस आध्यायनीय, सब दृष्टिकोण से ध्यान देने योग्य सोम से **उच्चा जातम्**=उत्कृष्ट विकास हुआ है, क्योंकि इसी की रक्षा से शरीर 'नीरोग' मन 'निर्मल' तथा बुद्धि 'तीव्र' बनती है। २. इस सोम की रक्षा का ही यह परिणाम है कि तू **दिवि**=सदा प्रकाशमयलोक में रहता हुआ **सत्**=उत्कृष्ट **भूमिः**=पार्थिव पदार्थों को ही **आददे**=ग्रहण करता है। तू भोजनों में सात्त्विक भोजनों का ही सेवन करता है। ३. इन सात्त्विक पदार्थों के सेवन से **उग्रम् शर्म**=उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता है तथा **महिश्रवः**=महनीय कीर्ति व धन को प्राप्त करनेवाला होता है। लौकिक सुखों से ऊपर उठा होने के कारण और उदात्त अपार्थिव सुखों में विचरण करने के कारण ही यह 'अमहीयु' की सन्तान 'आमहीयव' कहलाता है, यह मही—पृथिवी व पार्थिव भोगों को अपने से जोड़ना नहीं चाहता।

भावार्थ—हम जितना सोम का रक्षण करेंगे उतना ही उत्कृष्ट हमारा विकास होगा, प्रकाशमय जीवन बिताते हुए हम उत्तम सात्त्विक पार्थिव पदार्थों को ग्रहण करेंगे, परिणामतः हमें उदात्त सुख व महनीय कीर्ति व धन प्राप्त होगा।

ऋषिः—महीयवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दान के पात्र

स नऽइन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित्परि स्रव॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'महीयवः'=उत्कृष्ट धन को प्राप्त करनेवाले अमहीयु से प्रभु कहते हैं **सः**=वह **वरिवोवित्**=(वरिवः धन) धन को प्राप्त करनेवाला तू **नः**=हमारे **इन्द्रायः**=इन्द्रियों के अधिष्ठता, जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **यज्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिए तथा **मरुद्भ्यः**=(मरुतः प्राणाः) प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुषों के लिए, प्राणसाधना करनेवाले अभ्यासी पुरुषों के लिए **परिस्रव**=धन को प्राप्त करानेवाला हो। इनके लिए तेरा धन बहे। २. वस्तुतः पात्रापात्र का विचार करके ही दान देना ठीक होता है। दान के पात्र ये व्यक्ति हैं जोकि (क) जितेन्द्रिय होने से भोगविलास में धन का व्यर्थ में व्यय न करेंगे, (ख) यज्ञशील होने से यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही धन को विनियुक्त करेंगे, (ग) धन का विनियोग वे स्नेह की भावना को बढ़ाने के लिए ही करेंगे, उनका धन द्वेष-वर्धक न होगा, (घ) उनका धन प्राणसाधनादि योगवृत्तियों के प्रसार में विनियुक्त होगा। वस्तुतः ये ही व्यक्ति दान के पात्र हैं। इनसे विपरीत वृत्तिवालों को दिया गया धन हानिकर ही होगा।

भावार्थ—हमारा धन 'इन्द्र, यज्यु, वरुण व मरुतों' के लिए हो।

ऋषिः—महीयवः। देवता—विद्वान्। छन्दः—स्वराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञशेष का सेवन

एना विश्वान्यर्यऽआ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे॥१८॥

१. 'अमहीयु' प्रार्थना करता है—**अर्यः**=सब धनों का स्वामी प्रभु **एना**=इन **विश्वानि**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के, अर्थात् विचारशील पुरुषों के लिए हितकर **द्युम्नानि**=धनों को हमारे लिए **आ**=(आनयतु) प्राप्त कराए। प्रभुकृपा से हम उन सब धनों को प्राप्त करनेवाले बनें, जो मनुष्य के लिए हितकर हैं। २. इन धनों को प्राप्त करके 'अमहीयु' चाहता है कि हम इन धनों को **सिषासन्तः**=उचित पात्रों में दान करते हुए ही **वनामहे**=(संभुज्महे) इनका उपयोग करें। भौतिक शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का विनियोग आवश्यक ही है, परन्तु हम अपने जीवनों में इस भोग को प्रथम स्थान न दे दें, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** प्रभु के इस आदेश का ध्यान करते हुए पहले त्याग व पीछे भोग को समझें। केवलादी न बनें, यह हमें न भूले कि **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप को ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्चयज्ञ न करके स्वयं सब खा जानेवाला चोर है। ऐसा हम समझें और सदा बाँटकर ही खाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें मानवहितकारी धन प्राप्त हों और उन्हें पात्रों में बाँटकर हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाल बनें। हम इस बात को न भूलें कि धनों के स्वामी हम नहीं, वे प्रभु ही हैं। उसके धनों का विनियोग उसके आदेश के अनुसार ही करें।

ऋषिः—मुद्गलः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—त्रिष्टप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ व पोषण

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः।
अनु द्विपदानु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु ॥१९॥

१. गतमन्त्र के यज्ञ के अनुपात में **वीरैः**=वीर पुत्रों से **अनुपुष्यास्म**=हम पोषण को प्राप्त करें। जितना-जितना हमारा जीवन यज्ञिय होता है उतना-उतना हमारे सन्तान भी वीर बनते हैं। वस्तुतः भोगमार्ग हमारी शक्तियों को क्षीण करता है, हमारी शक्तियों की क्षीणता के साथ हमारी सन्ताने भी निर्बल होती हैं। २. **गोभिः अश्वैः अनु** (पुष्यास्म)=हम गौवों व घोड़ों से पोषण को प्राप्त हों। हमारे घरों में गौवें हों, घोड़े हों और उनसे हमारे ब्रह्म व क्षत्र का पोषण हो। अथवा 'गाव ज्ञानेन्द्रियाणि, अश्वाः कर्मेन्द्रियाणि' हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ ठीक पोषण से युक्त हों। वस्तुतः यज्ञिय वृत्ति हमारी इन्द्रियों को अक्षीण-शक्ति बनाती है। ३. **सर्वेण अनु** (पुष्यास्म)=अन्य भी सब चाहने योग्य शक्तियों के पोषणवाले हम हों, **पुष्टैः**=पुष्टि के साधनभूत गृह आदि सब पदार्थों से **अनु**=(पुष्यास्म)=हम अनुपुष्ट हों। ४. **द्विपदा**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों से अनु (पुष्यास्म)=पोषण को प्राप्त हों और **चतुष्पदा वयम्** (पुष्यास्म) चौपाये गौ आदि पशुओं से हम पोषण प्राप्त करनेवाले हों। ५. इस पोषण के उद्देश्य से ही **देवाः**=सब देव **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ। हम प्रत्येक ऋतु में, ऋतु के अनुसार ही हविर्द्रव्यों से यज्ञ करनेवाले हों और यह यज्ञ हमें वीरों, गौवों, अश्वों तथा पोषण के लिए आवश्यक अन्य सब पदार्थों से पुष्ट करें। इन यज्ञों से मनुष्य व पशु सब हमारे अनुकूल हों और हमारे पोषण का कारण बनें।

भावार्थ—हमारी वृत्ति यज्ञिय हो। यज्ञों से हमें सब प्रकार का पोषण प्राप्त हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विद्वान्। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

देव-पत्नी तथा त्वष्टा

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारꣳसोमपीतये ॥२०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'मेधातिथि' है, यह निरन्तर बुद्धि की ओर अग्रसर हो रहा है (मेधाम् अतति) अथवा यह सदा बुद्धिपूर्वक ही संसार में चलता है (मेधया अतति)। इस मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! **इह**=इस मानव-जन्म में तू **उशती:**=(कामयमाना:) सदा लोकहित की कामना करता हुआ **देवनाम् पत्नी:**=शरीर में वाणी इत्यादि के रूप से रहनेवाले अग्नि आदि देवों की पत्नियों को, शक्तियों को **उपावह**=समीपता से प्राप्त करनेवाला हो। २. तू **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए, अर्थात् शरीर में सोम को सुरक्षित रखने के लिए **त्वष्टारम्**=त्वष्टा को (त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मण:, त्वषतेर्वा करोतिकर्मण:) ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा दीप्ति को प्राप्त करनेवाला बन। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा हो। उसे आलस्य से घृणा हो, ज्ञान-प्राप्ति व क्रियाशलता सोमरक्षा के साधन हैं।

भावार्थ—आगे बढ़ने का अभिप्राय है जीवन में दिव्य गुणों को आमन्त्रित करना। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सोमरक्षा आवश्यक है। सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए हम त्वष्टा बनें, सदा ज्ञान की प्राप्ति करनेवाले तथा क्रियाशील जीवनवाले हों।

ऋषि:—मेधातिथि:। देवता—विद्वान्। छन्द:—गायत्री। स्वर:—षड्ज:॥

सोम-रक्षा का साधन व साध्य

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्ट: पिबऽऋतुना। त्वꣳहि रत्नधाऽअसि॥२१॥

१. हे **ग्नाव:** (ग्ना वाणी—नि० १।११) प्रशस्त वाग्मिन्! उत्तम प्रवचन करनेवाले! **न:**=हमें **यज्ञम् अभि**=यज्ञ का लक्ष्य करके **गृणीहि**=उपदेश दीजिए, अर्थात् इस प्रकार उत्तमता से वेद का प्रवचन कीजिए कि हमारी प्रवृत्ति यज्ञ की ओर झुकाववाली हो जाए। हम भोगप्रवणता से ऊपर उठ जाएँ। वस्तुत: यही तो साधन है जिससे हम अपने शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम की रक्षा कर सकेंगे। २. वह प्रशस्त वाग्मी मुख्यरूप से यही उपदेश करता है कि हे **नेष्ट:**=अपने को आगे ले-चलनेवाले! तू **ऋतुना**=समय रहते **पिब**=सोम का पान करनेवाला बन। यदि तुझे यौवन के बीत जाने पर वार्धक्य में सोमरक्षा का ध्यान आया तो यह तेरे लिए कितने दुर्भाग्य की बात होगी। हम समय रहते यौवन में ही, ठीक ऋतु में ही, सोम का पान करें, यही अपने को अग्नि बनाने व आगे ले-जाने का साधन है। ३. इस सोम के पान से **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **रत्नधा**=रमणीय धातुओं का धारण करनेवाला बनता है। 'यज्ञों में लगे रहना' सोमपान का साधन है, और रत्नों का धारण उस सोमपान का साध्य है। सोमपान से हमारे जीवन में सब रमणीय वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। शरीर में यह सोम ही नीरोगता का कारण बनता है, यही मन में निर्मलता लाता है और बुद्धि में तीव्रता पैदा करता है। संक्षेप में यह सोमपान 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी को स्वस्थ करता है।

भावार्थ—(क) हमारी वेदादि के प्रवचनों से यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति हो, (ख) इसके परिणामरूप भोगवृत्ति व वासनाओं से बचकर हम सोम का पान करनेवाले बनें, (ग) इस सोमपान से हमारे जीवन में रमणीय वस्तुओं का धारण होगा। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दीप्त होंगे।

ऋषि:—मेधातिथि:। देवता—सोम:। छन्द:—गायत्री। स्वर:—षड्ज:॥

दान व सोमपान

द्रविणोदा: पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत॥२२॥

१. गतमन्त्र के सोमपान का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं **द्रविणोदा:**=धन का दान

करनेवाला ही **पिपीषति**=सोम के पान की इच्छा करता है। वस्तुतः सोमपान का मूलसूत्र 'भोगवृत्ति से ऊपर उठना' है, भोगवृत्ति से ऊपर उठानेवाली वस्तु दान है। एवं, दान का परिणाम यह हो जाता है कि हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले बनते है। २. इस दान का प्रासंगिक लाभ यह भी होता है कि मनुष्य प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, अतः कहते हैं कि **जुहोत**=दान देनेवाले बनो, **च**=और **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। दान से प्रतिष्ठा होती ही है। ३. इन दान आदि की उत्तम वृत्तियाँ के बने रहने के लिए **नेष्ट्रात्**=नेष्टा के प्रेरणात्मक कर्म से (नेष्टुः इदं नेष्ट्रम्) नेता के प्रेरक प्रवचनों से तुम **ऋतुभिः**=ऋतुओं के साथ **इष्यत**=गति करनेवाले होओ। तुम्हें सदा नेताओं के प्रेरणात्मक उत्तम उपदेश प्राप्त होते रहें और तुममें उत्तम वृत्तियाँ सदा बनी रहें। तुम्हारी सब गतियाँ ऋतुओं के अनुकूल हों।

भावार्थ—दान दें, भोगवृत्ति से बचें और सोम की रक्षा करें। प्रसंगवश प्रतिष्ठा पानेवाले हों। हमें नेताओं से इसी प्रकार की प्रेरणाएँ प्राप्त होती रहें।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विद्वान्। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

नेष्टा की प्रेरणा

तवायꣳसोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमꣳसुमनाऽअस्य पाहि।
अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठरऽइन्दुमिन्द्र॥२३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर नेता की प्रेरणा के अनुसार चलने का संकेत है। नेता की सर्वमहान् प्रेरणा यह है कि **अयम् सोमः तव**=यह शरीर में उत्पन्न किया गया सोम तेरा है, अर्थात् यह तेरी सब प्रकार की उन्नतियों का साधन है। २. इसकी रक्षा के लिए **त्वम्**=तू **अर्वाङ्**=अपने अन्दर **एहि**=आनेवाला बन। सामान्यतः इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी होती है और यह बाहर भटकना मानव-जीवन को भोगप्रवण बना देता है, अतः हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनें। जिधर-जिधर हमारा मन भटकने की करे, उधर-उधर से हम इस चञ्चल मन को रोकने के लिए यत्नशील हों। ३. **सुमनाः**=उत्तम मनवाला बनकर, मन को वासनाओं से शून्य करके तू **शश्वत्तमम्**=(सर्वकालम्) सदा **अस्य पाहि**=इस सोम की रक्षा करनेवाला हो। हम तनिक प्रमाद में हुए कि वासनाओं का शिकार बन सोम का विनाश कर बैठेंगे, अतः सोमरक्षा के लिए सदा सावधान रहना अत्यावश्यक है। ४. **अस्मिन्यज्ञे**=इस यज्ञ में तथा **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषद्य**=सदा स्थित होकर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इमम् इन्दुम्**=इस सोम को **जठरे**=शरीर के मध्य में ही **दधिष्व**=धारण करनेवाला बन। 'सदा यज्ञों में लगे रहना तथा हृदय को वासनाशून्य बनाना' सोमरक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

भावार्थ—सोम (वीर्य) ही हमारी सर्व उन्नतियों का साधन है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि (क) हम अन्तर्मुखी वृत्ति बनाएँ (अर्वाङ् एहि), (ख) मन को सदा वासनाशून्य व निर्मल बनाए रक्खें, (ग) किसी क्षण प्रमाद में न चले जाएँ (शश्वत्तमम्) (घ) सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें, (ङ) हम अपने हृदय को वासनाशून्य बनाने का ध्यान करें (बर्हिषि)।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—विद्वान्। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

विद्वत् समागम

अमेव नः सुहवाऽआ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।
अथा मन्दस्व जुजुषाणोऽअन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः॥२४॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद' है—'गृणाति माद्यति'=प्रभु-स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह विद्वानों से कहता है कि **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से पुकारने योग्य आप लोग **अमा इव**=अपने घर की भाँति **हि**=निश्चय से **आगन्तन**=आइए। आपको आमन्त्रित करना हमारे लिए दुष्कर न हो जाए, आप हमारे घर को अपना ही घर समझें और यहाँ **बर्हिषि**=दर्भासन पर **निसदतन**=स्थिरता से विराजिए और **रणिष्टन**=उपदेश दीजिए, अर्थात् हम विद्वानों को आमन्त्रित करें, वे हमारे घर में अपने घर की भाँति ही सुविधा अनुभव करें और आसन पर बैठकर हमें समुचित उपदेश दें। २. उपदेश का स्वरूप इस प्रकार है कि (क) **अथा मन्दस्व**=(अ=परमात्मा, of protection रक्षा) उस प्रभु के रक्षण में आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् हम अपने को उस प्रभु के अमृत उपस्तरण व अपिधान में सुरक्षित अनुभव करते हुए आनन्दयुक्त मनवाले हों। (ख) **जुजुषाणः**=उस प्रभु के रक्षण में अपने कर्तव्य-कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। (ग) हे **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम की रक्षा से **त्वष्टः**=(त्विषि=दीप्तौ) अपने ज्ञान को दीप्त करनेवाले साधक! तू **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा तथा **जनिभिः**=अपनी शक्तियों के विकास के द्वारा **सुमद्‌गणः**=बड़ी प्रसन्न ज्ञानेन्द्रियों के गणवाला उसी प्रकार सुदृढ़ कर्मेन्द्रियों के गणवाला तथा प्रसन्न प्राणपञ्चकवाला बन।

भावार्थ—हमें विद्वान् लोग प्राप्त हों, उनके सदुपदेश को सुनकर हम आनन्दमय मनोवृत्तिवाले बनें, कर्त्तव्यों को प्रीतिपूर्वक करें, सोमरक्षा द्वारा ज्ञान को दीप्त करते हुए दिव्य गुणोंवाले बनें, शक्तियों का विकास करें तथा प्रकृष्ट ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणोंवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्वादिष्ठ-मदिष्ठ-धारा

स्वादि॑ष्ठया॒ मदि॑ष्ठया॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या। इन्द्रा॑य॒ पात॑वे सु॒तः॥२५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है=अत्यन्त उत्तम इच्छावाला। यह सोम को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि हे **सोम**=सब उत्तमताओं के जनक (सू) वीर्य! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हममें प्रवाहित हो। जब वीर्य शरीर में सुरक्षित होता है तब यह शरीर की रक्षा करनेवाला होता है। २. यह सोम की धारकशक्ति **स्वादिष्ठया**=स्वादिष्ठ है। स्वादिष्ठ धारणशक्ति से ही तू हममें प्रवाहित हो, अर्थात् ज्ञान की रक्षा से हमारा जीवन मधुर बने। निर्वीय पुरुष में कटुता होती है, वह चिड़चिड़ा बन जाता है। **मदष्ठिया**=यह जीवन को हर्षित करनेवाला है। ३. हे सोम! **सुतः**=उत्पन्न हुआ- हुआ तू **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा के लिए हो, अर्थात् सोम का मुख्य प्रयोजन शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें। यह हमारी वाणी व वृत्ति को मुधर बनाएगा, हम सदा प्रसन्न रहेंगे, यह हमारे शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण करेगा।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अयोहत शरीर

र॒क्षो॒हा वि॒श्वच॑र्षणिर॒भि योनि॒मयो॑हते। द्रोणे॑ स॒धस्थ॒मास॑दत्॥२६॥

१. मधुच्छन्दा यह समझता है कि यह सोम **रक्षोहा**=रोगकृमियों का नाशक है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा जैसे यह शरीर के रोगों का नाश करता है, उसी प्रकार यह

राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करके मन को भी निर्मल बनाता है। ३. **विश्वचर्षणिः**=सम्पूर्ण जगत् का दर्शन करानेवाला है, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे विज्ञान की प्राप्ति का यह कारण बनता है। सोमरक्षा से ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर मनुष्य प्रकृति के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर पाता है। एवं, यह सोम विश्वचर्षणि है। ३. जब यह सोम वासनाओं के कारण विनम्र न होकर **अभियोनिम्**=अपने उत्पत्तिस्थान इस शरीर में ही प्रविष्ट होता है तब **अयोहते द्रोणे**=(अयसा हते उत्कीर्णे) मानो लोहे से ढले हुए इस शरीर में, वज्रतुल्य बने हुए इस दृढ़ शरीर में **सधस्थम्**=जीवात्मा व परमात्मा की सहस्थिति को **आसदत्**=प्राप्त कराता है। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर तो इतना दृढ़ बनता है कि मानो लोहे को ही ढालकर बना दिया गया हो और इस वज्रतुल्य शरीर में जीव परमात्मा के साथ निवास को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने हृदय में जीव परमात्मा का उपासन करता है, प्रभु के सम्पर्क में निवास करता है, इसकी प्रभु के साथ सहस्थिति हो जाती है। इससे ऊँची स्थिति हो ही क्या सकती है?

भावार्थ—सोम रोगकृमियों का नाशक है, राक्षसीवृत्तियों को दूर करता है, सम्पूर्ण विज्ञान का साधन बनता है। शरीर में व्याप्त होकर यह शरीर को लोहे का बना हुआ अत्यन्त दृढ़ बना देता है और उस वज्रतुल्य दृढ़ शरीर में प्रभु के साथ सहस्थिति को प्राप्त कराता है।

नोट—शरीर को यहाँ द्रोण कहा है, यह सोम का पात्र है। 'द्रु गतौ' से बनकर यह द्रोण शब्द इस भावना को व्यक्त कर रहा है कि इसे सदा क्रियाशील रहना है। सोलह कलाओं से युक्त होने के कारण यह कलश कहलाया है। वेद में इसे **'चमस्'** नाम से भी स्मरण किया है। इस शरीर में सोम की रक्षा करनेवाला निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः उसका नाम ही 'अग्नि' हो जाता है, अतः अगला अध्याय इस अग्नि ऋषि के वर्णन से ही प्रारम्भ होता है।

इति षड्विंशोऽध्यायः॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—अग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अलौकिक दीप्ति (दिव्य रोचन)

समास्त्वाग्नऽऋतवो वर्द्धयन्तु संवत्सराऽऋषयो यानि सत्या।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वाऽआ भाहि प्रदिशश्चतस्त्रः॥ १॥

१. प्रभु 'अग्नि' से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! या राष्ट्र को उन्नत करनेवाले अग्रेणी राजन्! **त्वा**=तुझे **समाः**=मास **ऋतवः**=ऋतुएँ तथा **संवत्सराः**=वर्ष **वर्द्धयन्तु**=बढ़ानेवाले हों, अर्थात् प्रतिमास प्रतिऋतु व प्रतिवर्ष तुझे आगे बढ़ा हुआ ही देखूँ। तू उन्नत और उन्नतर होता चले। २. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा वर्द्धयन्तु**=तुझे बढ़ानेवाले हों, तत्त्वद्रष्टाओं के सम्पर्क में आकर तेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। 'मास, ऋतुएँ व संवत्सर' अनुकूल होकर जहाँ इस अग्नि को शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बना रहे थे वहाँ ये तत्त्वद्रष्टा इसके ज्ञान को बढ़ाकर इसे बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. **यानि सत्या**=जो भी सत्य हैं, वे सब तेरे जीवन का अङ्ग बनकर तुझे बढ़ानेवाले हों। **'मनः सत्येन शुध्यति'** इस मनुवाक्य के अनुसार ये सत्य तुझे मानस स्वास्थ्य देनेवाले हों। ४. तू शरीर, मन व बुद्धि के त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त करके **दिव्यने रोचनेन**=अलौकिक दीप्ति से **संदीदिहि**=चमकनेवाला बन। ५. प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार दीप्त होकर तू **विश्वा**=सब **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाओं को **आभाहि**=सब दृष्टिकोणों से दीप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—मासों, ऋतुओं व वर्षों की अनुकूलता हमें शारीरिक स्वास्थ्य दे। तत्त्वद्रष्टा लोग हमारी बौद्धिक प्रगति का कारण बनें। सत्य-व्यवहार हमारे मानस को पवित्र करे। इस प्रकार हम एक अलौकिक दीप्ति से चमकानेवाले बनें और अपने चारों ओर प्रकाश फैलानेवाले हों।

ऋषिः—अग्निः। देवता—सामिधेन्यः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

पुरुषार्थ से सौभाग्य

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।

मा च रिषदुपसत्ता तेऽअग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु माऽन्ये॥ २॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव से ही प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने!** तू **सं इध्यस्व च**=सम्यक् दीप्त होनेवाला बन। केवल शरीर का स्वास्थ्य, केवल मानस भद्रता व केवल मस्तिष्क की दीप्ति यह 'समिन्धन' नहीं है। तू तीनों को दीप्त करके समिद्ध हो। २. **च**=और **एनम्**=इन अपने समीपवर्ती बन्धुओं को भी **प्रबोधय**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाने का प्रयत्न कर। स्वयं ज्ञानी बन और ओरों को ज्ञान देनेवाला हो। ३. तू **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **उत् तिष्ठ च**=सदा उद्योग करनेवाला हो। आलस्य ही तो सौभाग्य को नष्ट करनेवाला है। उद्योग सौभाग्य का मूल है। ४. इस बात का तू सदा ध्यान रखना कि सौभाग्य तेरे मस्तिष्क को विकृत न कर दे और तेरी क्रियाएँ पड़ोसियों की

परेशानी का कारण न बन जाएँ। **ते उपसत्ता**=तेरा पड़ोसी (समीप रहनेवाला) **मा रिषत्**=तेरी किसी भी क्रिया से हिंसित न हो। ५. हे **अग्नेः**=प्रगतिशील जीव! **ब्राह्मणः**=ज्ञानी पुरुष तथा **यशसः**=यशस्वी व्यक्ति ही **ते सन्तु**=तेरे हों, अर्थात् ऐसे लोगों का ही तेरे यहाँ आना-जाना हो **मा अन्ये**=इनसे भिन्न अर्थात् (उज्जड) बदमाश लोग तेरे न हों, तेरा घर उन लोगों का अड्डा न बन जाए।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील जीव वह है जो चमकता है, चमकाता है, पुरुषार्थ से सौभाग्यशाली होता है। पड़ोसियों से मधुरता से वर्त्तता है, उसके घर में ज्ञानी, यशस्वी पुरुषों का आना-जाना होता है।

ऋषिः—अग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

गृह में सतत जागरण

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणाऽइमे शिवोऽअग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहा नोऽअभिमातिजिच्च स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥३॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इमे ब्राह्मणः**=ये ब्राह्मण **त्वा वृणते**=तेरा वरण करते हैं, अर्थात् 'कौन व्यक्ति हमारे जाने योग्य हैं?' ऐसा विचार होने पर ये ब्राह्मण लोग तेरा वरण करते हैं। तुझे इस योग्य समझते हैं कि तेरे अन्न को वे स्वीकार कर लें। २. **संवरणे**=इस संवरण के होने पर, अर्थात् जब ये ब्राह्मण तेरे घर पर आने-जानेवाले हों तब हे **अग्ने**=अग्नि के समान प्रकाशमय जीवनवाले! तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=हो। उत्तम संसर्ग तुझे अधिक प्रकाशमय जीवनवाला बनाये और तू लोगों का और अधिक कल्याण करनेवला हो। ३. तू **नः**=हमारे **सपत्नहा**=शत्रुओं का नाश करनेवाला बन। एक ज्ञानी, प्रगतिशील पुरुष ने अपने काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर अपने सम्पर्क में आनेवालों के काम-क्रोधादि को, ज्ञान के प्रकाश के द्वारा नष्ट करने के लिए यत्नशील होना है, परन्तु इस सारे कार्य को करते हुए इसे **अभिमातिजित् च**=अभिमान को निश्चय से जीतनेवाला बनना है। इसके जीवन में अभिमान होगा, तो इसकी अपनी सारी उन्नति समाप्त हो जाएगी, औरों का क्या कल्याण करेगा? ४. अतः अग्ने! तुझे चाहिए कि **स्वे गये जागृहि**=तू अपने घर में सदा जागता रह। 'हमारे शरीर में रोग न आएँ, मन में वासनाएँ न आएँ, इसका एक ही उपाय है और वह यह कि हम अपने कर्त्तव्य व उद्देश्य का स्मरण करते हुए **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए अपने जीवनयात्रा के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते ही चलें।

भावार्थ—हम ब्राह्मणों के लिए वरणीय बनें। ब्राह्मणों से वृत होकर सबका कल्याण करनेवाले हों। काम-क्रोधादि को नष्ट करें, अभिमान को जीतें और इस शरीररूप गृह में सदा सावधान होकर जागरित रहें।

ऋषिः—अग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

देशज वस्तु का प्रयोग

इहैवाग्नेऽअधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचितो निकारिणः।
क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्द्धतां तेऽअनिष्टृतः॥४॥

१. हे **अग्ने**=अपने राष्ट्र को उन्नत करनेवाले जीव! **इह एव**=अपने राष्ट्र में ही **रयिम्**=धन को **अधिधारया**=आधिक्येन धारण कर। तू यथासम्भव अपनी देशज वस्तुओं का ही प्रयोग कर, जिससे रुपया विदेश में न जाए। २. तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो कि **पूर्वचितः**=

पूर्वनाम में, ब्रह्मचर्याश्रम में—तीन बार नाचिकेतस् अग्नि का चयन करनेवाले, अर्थात् सबसे पूर्व ५ वर्ष तक माता के शिक्षणालय में सच्चरित्रता की अग्नि का चयन करनेवाले, इसके बाद ८ वर्ष तक पिता के शिक्षाणालय में शिष्टाचार की अग्नि का चयन करनेवाले और अन्त में आचार्य के शिक्षणालय में ज्ञानादि का चयन करनेवाले पूर्वचित लोग, जो **निकारिणः**=नितरां यज्ञकरणशील हैं अथवा ज्ञान व कर्म के समुच्चय के अतिशय से जो औरों को नीचा दिखानेवाले हैं, अर्थात् जीत जानेवाले हैं। वे **त्वा**=तुझे **मा निक्रम्**=नीचा करनेवाले न हों, अर्थात् तू उनसे पराजित न किया जा सके, तू स्वयं 'सच्चरित्रता, शिष्टाचार व ज्ञानरूप अग्नियों' का चयन करनेवाला बन तथा तेरा जीवन नितरां यज्ञशील हो। ३. हे अग्ने! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सुयमम्**=उत्तम संयमवाला **क्षत्रम्**=बल **अस्तु** हो, संयम से उत्पन्न बल तुझे सब क्षत्रों से बचानेवाला हो। ४. तेरा व्यवहार सदा ऐसा हो कि **ते उपसत्ता**=तेरे समीप रहनेवाला तेरा पड़ोसी भी **अनिष्टृतः**=किसी प्रकार से हिंसित न होता हुआ **वर्धताम्**=बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—हम राष्ट्र का रुपया, स्वदेशी का प्रयोग करते हुए, राष्ट्र में ही रखने का प्रयत्न करें। हम 'सच्चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान में' आगे बढ़कर यज्ञशील हों, संयम के द्वारा बल की साधना करें तथा हमारा कोई भी व्यवहार पड़ोसी की हिंसा करनेवाला न हो।

ऋषिः—अग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सबल कर्म

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्थाऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥५॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि की भाँति शत्रुओं को भस्मसात् करनेवाले जीव! **क्षत्रेण**=बल के साथ **स्व आयुः**=अपने जीवन को **संरभस्व**=समारब्ध कर, अर्थात् अपने जीवन में सबल कार्यों का करनेवाला बन। २. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मित्रेण**=(मित्र=सूर्य) सूर्योदय के साथ ही, अर्थात् दिन के प्रारम्भ से ही **मित्रधेये यतस्व**=इस प्रकार यत्नशील हो कि तू अपने मित्रों का धारण करनेवाला बने ('यथा मित्राणि धार्यन्ते तथा यत्नं कुरु'—उ०)। अपने लिए तो कौवा भी जीता है, तू केवल अपने लिए जीनेवाला न बन। ३. तू **सजातानाम्**=समान जन्मवालों का, हमउम्रवालों का, **मध्यमस्था एधि**=मध्यस्थ हो, अर्थात् यदि कभी किन्ही दो में संघर्ष हो जाए तो वे दानों तुझे मध्यस्थ बनाने के लिए सहर्ष उद्यत हों। यह होगा तभी जब तेरा जीवन यज्ञमय होगा। ४. हे अग्ने! पथप्रदर्शक! तेरा जीवन ऐसा सुन्दर हो कि तू **राज्ञाम्**=राजाओं का भी **विहव्यः**=विशिष्टरूप से पुकारने योग्य बने। ५. हे अग्ने! इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **दीदिहि**=खूब ही चमकनेवाला हो।

भावार्थ—हमारे कार्य शक्तिशाली हों, हमारा सारा दिन ऐसे कार्यों में बीते जो मित्रों का धारण करनेवाले हों, उनके परस्पर के झगड़ों को हम निपटानेवाले बनें। राजाओं के भी पुकारने योग्य हों तथा देदीप्यमान जीवनवाले बनें।

ऋषिः—अग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

दुष्ट-संग से दूर

अति निहोऽअति स्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳसहवीराꣳरयिं दाः॥६॥

१. हे **अग्ने**=जीवन में आगे बढ़ने के स्वभाववाले जीव! **निहः**=(निहन्तॄन्) हिंसकवृत्तिवालों

को **अति**=(अतिक्रम्य) अतिक्रमण करके, लाँघकर, अर्थात् इनके संग से सदा बचकर, २. **स्त्रिधः**=(स्त्रिध कुत्सावाक्) कुत्सित आचरणवालों को, अर्थात् संयम की मर्यादा के तोड़नेवालों को **अति**=लाँघकर ३. **अचित्तिम् अति**=अन्यमनस्कतावालों के, अध्ययन व संज्ञान की प्रवृत्ति के अभाववालों को लाँघ के तथा ४. **अरातिम् अति**=न दान की वृत्तिवाले, कृपण व अयज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को लाँघकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील! तू **विश्वा दुरिता**=सब पापों को **सहस्व**=अभिभूत कर, अपने से दूर कर। वस्तुतः दुरितों से दूर होने के लिए दुष्ट मनोवृत्ति व दुष्टाचरणवालों से दूर रहना आवश्यक है। ५. यह 'अग्नि' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अथ**=अब, जबकि हमने हिंसकों, कुत्सिताचरणों, अज्ञानियों व कृपणों से दूर रहकर अपनी वृत्तियों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है तो आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीराम्**=वीर-पुत्रों से युक्त **रयिम्**=धन को **दाः**=दीजिए। वस्तुतः जब हमारा जीवन सदाचार-सम्पन्न होता है तब हमें धन प्राप्त होता है और वह धन वीर सन्तानों से युक्त होता है।

भावार्थ—हम दुष्टाचारणों को त्यागें, जिससे उत्तम धन और वीर सन्तानों से युक्त हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रभुभक्त का जीवन

अनाधृष्यो जातवेदाऽअनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वाऽआशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे॥७॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इह**=इस कर्म में वर्त्तमान हुआ-हुआ तू, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार उत्तम मार्ग में चलता हुआ तू **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **दीदिहि**=प्रकाशमय कर दे। २. तू स्वयं (क) **अनाधृष्यः**=काम-क्रोध आदि भावनाओं से धर्षित न होनेवाला बन, (ख) **जातवेदाः**=(जातं वेदो धनं ज्ञानम् यस्मात्) ज्ञानी बन तथा संसार के लिए आवश्यक धन को कमानेवाला बन, (ग) **अनिष्टृतः**=तू किन्ही भी रोगादि से हिंसित न हो। तेरे मन में क्रोधादि न आएँ और शरीर में रोग न हों, (घ) इस प्रकार तू **विराट्**=विशेषरूप से चमकनेवाला हो, और (ङ) अपने में **क्षत्रभृत्**=बल को धारण करनेवाला हो। उस बल का तू पोषण कर जो तुझे सब क्षतों से बचानेवाला हो। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवनवाला बनकर **मानुषीः**=मनुष्य-सम्बन्धिनी नीतियों को 'जन्म, जरा, मृति, दैन्य, शोक' आदि मनुष्य को प्राप्त होनेवाले भयों से ऊपर उठकर **नः**=हमारे दिये हुए इस शरीरादि को **अद्य**=आज **शिवेभिः**=कल्याणों के द्वारा, शुभकर्मों के द्वारा **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित करनेवाला हो। और **नः वृधे**=तू हमारे वर्धन के लिए हो, अर्थात् अपने आदर्श जीवन से लोगों पर यह प्रभाव डालनेवाला बन कि 'प्रभुभक्तों का जीवन इस प्रकार सुन्दर हुआ करता है'।

भावार्थ—प्रभुभक्त अपने सुन्दर जीवन से प्रभु के यश का वर्धन करनेवाला होता है। वह क्रोधादि से धर्षित नहीं होता, ज्ञानी बनता है, रोगों से अहिंसित होता है, चमकता है, बल का धारण करता है, सब दिशाओं को चमकानेवाला बनता है, मनुष्य के जीवन में आनेवाले भयों से ऊपर उठता है, शिव भावनाओं से युक्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आचार्य का कर्तव्य

बृहस्पते सवितर्बोधयैनꣳसꣳशितं चित्सन्तराꣳसꣳशिशाधि।
वर्धयैनं महते सौभगाय विश्वऽएनमनु मदन्तु देवाः॥८॥

१. 'अग्नि' गतमन्त्रों में वर्णित जीवन को बनाने के लिए आचार्य से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते, ज्ञान के स्वामिन्! **सवितः**=ज्ञान के बीज को विद्यार्थी के मस्तिष्क में बोनेवाले आचार्य! **एनम्**=इस तेरे समीप प्राप्त हुए-हुए विद्यार्थी को **बोधय**=तू उद्बुद्ध ज्ञानवाला कर, इसे ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देनेवाला तू हो। २. **संशितम् चित्**=माता-पिता के द्वारा शिक्षित किये हुए को भी **सन्तराम्**=अब खूब ही **संशिशाधि**=सम्यक्तया शिक्षित कर। इसक जीवन को संयत Disciplined बनाने का ध्यान कर। ३. **एनम्**=इसको **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **वर्धय**=बढ़ाइए। इसे इस प्रकार शिक्षित कीजिए कि यह संसार में आकर महनीय, पूजनीय, अर्थात् उत्तम मार्गों से कमाये गये ऐश्वर्य को अर्जित करनेवाला हो। ४. इसके जीवन को ऐसा बनाइए कि समावृत्त होने पर **देवाः**=सब विद्वान् **एनम् अनु**=इसका लक्ष्य करके **मदन्तु**=हर्ष को प्राप्त हों। इस ज्ञानपूर्ण, व्रती व अर्जनक्षम जीवन को देखकर सभी को प्रसन्नता हो।

भावार्थ—आचार्य ने विद्यार्थी के जीवन में ज्ञान (Knowledge) शिक्षा (Education) व अर्जनक्षमता (सौभाग्य) को पैदा करना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

भय से मुक्ति

अमुत्रभूयादध यद्यमस्य बृहस्पतेऽअभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥९॥

१. हे **बृहस्पतेः**=ज्ञान के स्वामी आचार्य! आप अपने उपनीत इस शिष्य को **अमुत्रभूयात्** सदा परलोक में होने से **अमुञ्चः**=छुड़ाइए, अर्थात् यह प्रतिक्षण परलोक का ही ध्यान न करता रहे, यह इस लोक का भी ध्यान करे। २. **अध**=और **यत्**=जो **यमस्य**=यम का, मृत्यु की देवता का भय है उससे भी, आप इसे छुड़ाइए। यह मौत से ही न डरता रहे। ३. हे आचार्य! इसे आप (क) **अभिशस्तेः**=लोकापवाद से मुक्त कीजिए, (ख) साथ ही 'अभिशस्तेः अमुञ्चाः' का यह भी अर्थ है कि इसे लोकापवाद प्राप्त न हो। ४. **अश्विना**=प्रणापान जो **देवानाम् भिषजा**=देवों के वैद्य हैं, देवलोग दवाइयों पर आश्रय न करके प्राणापान की शक्ति का ही आश्रय करते हैं, वे प्राणापान **शचीभिः**=अपनी शक्तियों के द्वारा हे **अग्ने**=विद्यार्थी की उन्नति के साधक आचार्य! **अस्मात्**=इससे **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहताम्**=दूर करें। (प्रति प्रेरयताम् अन्यत्र नयताम्—उ०)।

भावार्थ—हम सदा परलोक का ही ध्यान न करते रह जाएँ, यमजनित मृत्यु से न डरते रहें, लोकापवाद के भय से मुक्त हों। प्राणापान ही हमारे वैद्य हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्+उत्तर+उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सदा डरते न रहकर **वयम्**=हम **उत् तमसः परि** उत्कृष्ट प्रकृति के बन्धन को छोड़कर, प्रकृति से ऊपर उठकर आगे बढ़ें। प्रकृति को पूर्णतया छोड़ने का देहवान् के लिए सम्भव नहीं, परन्तु इसमें उलझना भी सर्वथा हेय है। 'प्रकृति निकृष्ट हो' यह बात नहीं, भौतिक शरीर के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, परन्तु इससे ऊपर उठना ही ठीक है। २. इससे ऊपर उठकर **उत्तरम् स्वः**=तुलना में अधिक उत्कृष्ट

प्रकाशमय जीव को, अर्थात् आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए आगे बढ़ें। प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव उत्कृष्टतर है। प्रकृति जड़ है, जीव पूर्ण चैतन्य न होते हुए भी चैतन्य कर्त्ता तो है ही। ३. यह आत्मदर्शी पुरुष कहता है कि हम **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव, देवों को भी बल प्राप्त करानेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा को जो **सूर्यम्**=सूर्य की तरह देदीप्यमान है, **अगन्म**=प्राप्त हों। ४. मन्त्र में 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द प्रकृति, जीव व परमात्मा का संकेत कर रहे हैं। प्रकृति उत्कृष्ट है, जीव उत्कृष्टतर है और परमात्मा उत्कृष्टतम। प्रकृति 'सत्' है जीव 'सत्+चित्' है और परमात्मा 'सत्+चित्+आनन्द' है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट प्रकृति का उत्तम प्रयोग करते हुए इससे ऊपर उठें, अपने प्रकाशमयरूप को देखते हुए ज्योतियों में सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा के समीप पहुँचने के लिए यत्नशील हों। वही हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

चमकता हुआ (सुप्रतीक)

ऊर्ध्वाऽअस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींᳬष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः॥११॥

१. **अस्य अग्नेः**=इस उत् से उत्तर तथा उत्तर से उत्तम की ओर जानेवाले अग्नि की **समिधः**=दीप्तियाँ **ऊर्ध्वा भवन्ति**=उत्कृष्ट होती हैं। इसकी एक-एक इन्द्रिय शक्ति-सम्पन्न होती है, सब इन्द्रियाँ दीप्त प्रतीत होती हैं। स्वास्थ्य की दीप्ति इसे चमकानेवाली होती है। ३. इस अग्नि की **शुक्रा**=अत्यन्त शुद्ध **शोचींषि**=मानस पवित्रताएँ, मानस संकल्पों की शुद्धता में **ऊर्ध्वा**=अत्यन्त उत्कृष्ट होती हैं। इसका शरीर नीरोग होता है तो इसका मन भी पूर्ण निर्मल होता है। ३. इस शारीरिक स्वास्थ्य व मानस निर्मलता के कारण **सुप्रतीकस्य सूनोः**=अत्यन्त प्रसन्नवदनवाले व्यक्ति का ज्ञान **द्युमत्तमा**=अत्यन्त द्युतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रगतिशील जीव की इन्द्रियाँ शक्तियों से चमकती हैं, इसकी मानस पवित्रताएँ, इसका ज्ञान अत्यन्त दीप्त होते हैं। इस प्रकार शरीर व चमकते हुए मस्तिष्कवाला यह अग्नि चमकते हुए मुखवाला व प्रसन्नवदन होता है।

ऋषिः—अग्निः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥१२॥

१. यह 'अग्नि' **तनूनपात्**=अपने शरीर को न गिरने देनेवाला है। सात्त्विक व पौष्टिक भोजनों का सेवन करने से यह शरीर को ढीला नहीं होने देता। २. **असुरः**=(असुमान् प्राणवान्—उ०) यह प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है। यह प्राणशक्तिप्रद भोजनों का सेवन करता है और संयमी जीवन बिताता हुआ प्राणशक्ति में कमी नहीं आने देता। ३. **विश्ववेदाः**=सब आवश्यक धनों का अर्जन करता है और सम्पूर्ण ज्ञानवाला होता है। ४. **देवः**= दानादि गुणयुक्त होता है। 5. देवेषु देवः। यह **पथः**=अपने जीवन-मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से और **घृतने**=(घृ क्षरण) मलों के क्षरण, अर्थात् नैर्मल्य से तथा (घृ दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से **अनक्तु**=अलंकृत करे, अर्थात् इसके सारे कार्यों में माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति का पुट हो।

भावार्थ—हम शरीर को स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाएँ, ज्ञानी व धनी बनें, देववृत्ति-वाले, देवों के भी देव बनें। हमारे व्यवहार मुधर, निर्मल व समझदारी को लिये हुए हों।

ऋषिः—अग्निः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

विश्ववारः= सबसे वरणीय

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशंसो अग्ने। सुकृद्देवः सविता विश्ववारः॥१३॥

१. **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने श्रेष्ठतम कर्मों को **नक्षसे**=तू व्याप्त करता है अथवा माधुर्य से तू उत्तम कर्मों की ओर जाता है (नक्ष गतौ), सदा उन कर्मों में लगा रहता है। २. उन कर्मों को तू किसी के दवाब से नहीं करता। **प्रीणानः**=प्रियता व तृप्ति का अनुभव करता हुआ तू उन कर्मों की ओर जाता है और इसीलिए **नराशंसः**=मनुष्यों से तू स्तुति किया जाता है। प्रसन्नतापूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति क्यों लागों की प्रशंसा का पात्र न होगा? ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! इस प्रकार तू **सुकृत्**=सदा शोभन कर्मों को करनेवाला है। **देवः**=दीप्तिमान् होता है। **सविता**=ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले निर्माण के ही कार्यों में तू लगता है, राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाता है और **विश्ववारः**=सबका वरणीय बनता है और सबके हित के कार्यों का ही वरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—'अग्नि' वह है जो यज्ञादि कार्यों को प्रसन्नता व मधुरता के साथ करता है। सबकी प्रशंसा का पात्र होता है, शोभनकारी, दीप्तिमान्, उत्पादक व विश्ववरणीय होता है।

ऋषिः—अग्निः। देवता—वह्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

प्रभु—प्राप्ति के साधन

अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वह्निर्नमसा। अग्निंस्रुचोऽअध्वरेषु प्रयत्सु॥१४॥

१. **अयम्**=यह 'अग्नि' **अच्छ एति**=उस प्रभु की ओर जाता है। किन साधनों से? (क) **शवसा**=अपने बल से। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=यह आत्मा निर्बल से तो लभ्य नहीं है, (ख) **घृतेन**=मलों के क्षरण द्वारा निर्मल मन से। मलिन मन में प्रकाश नहीं दिखता, (ग) **घृतेन**=(दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से। सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही प्रभु का दर्शन होगा **'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्यया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**। (घ) **ईडानः**=(ईड् स्तुतै=स्तुति करता हुआ ही मनुष्य प्रभु का दर्शन करता है, (ङ) **वह्निः**=जो अपने नियत कर्म का ठीक वहन करता है। अकर्मण्य न बनकर प्रत्येक कर्म को फल—प्राप्तिपर्यन्त चलाता ही है, (च) **नमसा**=नमन के द्वारा। अभिमानी को प्रभु का दर्शन नहीं होता। २. यह प्रभु की ओर इस प्रकार जाता है जैसे **प्रयत्सु अध्वरेषु**=यज्ञों के प्रज्वलित होने पर **स्रुचः**=चम्मच आदि **अग्निम्**=अग्नि की ओर जाते हैं। यहाँ खाली चम्मच अग्नि की ओर नहीं जाता, घृत से भरा हुआ चम्मच ही अग्नि की ओर जाता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य, ज्ञान व नैर्मल्य की दीप्ति से परिपूर्ण मनुष्य ही प्रभु की ओर जाता है।

भावार्थ—प्रभु की ओर जाने के लिए आवश्यक है कि (क) हम बलवान बनें, (ख) नैर्मल्य व दीप्तिवाले हों, (ग) कार्यभार का उठानेवाले हों, (घ) नम्र हों।

ऋषिः—अग्निः। देवता—वायुः। छन्दः—स्वराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

चेतिष्ठ बनना

स यक्षदस्य महिमानमग्नेः सऽईं मन्द्रा सुप्रयसः। वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च॥१५॥

१. **सः**=यह गत मन्त्र में वर्णित साधनों का प्रयोग करके प्रभु के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करनेवाला व्यक्ति **अस्य अग्नेः**=इस सर्वाग्रणी, सबकी उन्नतियों के साधक प्रभु की **महिमानम्**=महिमा को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। प्रभु—सम्पर्क से यह उपासक भी

प्रभु-जैसा बन जाता है। २. **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **सुप्रयसः** (प्रयस्=अन्न)=उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले की **मन्द्रा**=हर्षजनक वृत्तियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से उसके चित्तम में सदा आह्लादमयी वृत्ति बनी रहती है। राजसी भोजन उसके मन को राग-द्वेष से ही भरेगा और तामसी अन्न के सेवन के परिणामस्वरूप उसे आलस्य, प्रमाद व निद्रा के रोग घेरे रहेंगे। ३. इस प्रकार यह प्रभु- सम्पर्क से प्रभु की महिमा को अपने साथ जोड़नेवाला बनता है और सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस प्रसाद को पाने के लिए यनशील होता है, परिणामतः **वसुः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है **चेतिष्ठः**=अधिक-से-अधिक चेतनावाला होता है, **वसुधातमः च**=और (धनानाम् दातृतमः—उ०) धनों का अतिशयेन दान देनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-सम्पर्क से हम प्रभु की महिमा को प्राप्त करें। सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस आह्लाद का लाभ करें। उत्तम निवासवाले, ज्ञानी व धनों का खुब दान करनेवाले हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**देव्यः**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

देवों की अनुकूलता

द्वारो॑ दे॒वीरन्व॑स्य॒ विश्वे॑ व्र॒ता द॑दन्तेऽअ॒ग्नेः। उ॒रु॒व्यच॑सो॒ धाम्ना॒ पत्य॑मानाः॥१६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की महिमा को अपने साथ सम्पृक्त करनेवाले **अस्य अग्नेः**=इस प्रगतिशील जीव के **विश्वे**=सब देव **देवी द्वारः अनु**=दिव्य द्वारों के अनुकूल होते हैं। जैसे शरीर में अग्निदेव वाणी के रूप से रहता है, सूर्य चक्षु के रूप से तथा अन्य देव भी भिन्न इन्द्रिय-द्वारों के रूप में इस शरीर में रह रहे हैं, अतः इन देवों का शरीर के दिव्य द्वारों से किसी प्रकार का विरोध नहीं। इन दैवों का इस अग्नि के दिव्य द्वारों के साथ सदा आनुकूल्य बना रहता है। यह अनुकूलता ही इन इन्द्रियों का पूर्ण स्वास्थ्य है। यही 'सुख'=इन्द्रियों का ठीक होना है। इनकी प्रतिकूलता में इन्द्रियों की स्थितिविकृत होती है और यही 'दुःख' है। २. प्रगतिशील जीव **व्रता ददन्ते**=अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाले व्यक्ति ही उन्नत होते हैं। ३. ये व्रतों के धारण करनेवाले अग्नि **उरुव्यचसः**=बड़ी व्यापकतावाले होते हैं। इनके जीवनों में संकुचितता नहीं होती और ४. वे **धाम्ना पत्यमानाः**=तेजों से ऐश्वर्यशाली बनते हैं। इनको प्रत्येक इन्द्रिय की तेजस्विता प्राप्त होती है। ये धनों से ऐश्वर्यशाली बनने की बजाय तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

भावार्थ— 'अग्नि' को देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है, ये व्रतों को धारण करते हैं, व्यापक मनोवृत्तिवाले व तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

यज्ञ की अहिंसकता (अध्वरता)

तेऽअ॒स्य॒ योष॑णे दि॒व्ये न योना॑ऽउ॒षासा॒नक्ता॑। इ॒मं य॒ज्ञम॑वतामध्व॒रं नः॥१७॥

१. **अस्य**=इस 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव के **योना**=घर में **ते**=वे **दिव्ये न योषणे न**=दिव्य पत्नियों के समान **उषासानक्ता**=दिन और रात **इमम् यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अवताम्**=रक्षित करें। उस यज्ञ को रक्षित करें जो **नः**=हमारी **अध्वरम्**=न हिंसा होने देनेवाला है। २. घर में पत्नी 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र के अनुसर यज्ञ में संयोग देने के लिए ही तो है। 'दिव्ये' विशेषण पत्नी की अभौतिक वृत्ति का संकेत देता है। संसार के भोगों में अनासक्ति हाने पर ही यज्ञियवृत्ति का विकास सम्भव है। 'दिन-रात' हमारी दिव्य

पत्नियों के समान हों और ये हमारे घरों में निरन्तर यज्ञ को अविच्छिन्न रक्खें, अर्थात् हमारे घरों में प्रातः-सायं यज्ञ अवश्य चले। ३. अथर्ववेद के अनुसार, **'सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता'** १९।५५।३ सायंकाल किया हुआ अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य को देनेवाला होता है और **'प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता'** १९।५५।४ प्रातःकाल में किया हुआ अग्निहोत्र सायंकाल तक सौमनस्य देनेवाला होता है। इस प्रकार ये **उषासानक्ता**=दिन-रात दिव्य पत्नियों को कहते हैं कि **'वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम'** १९।५५।४=हे अग्ने! तू सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक वसुओं को देनेवाला है। हम तेरा समिन्धन करते हुए सौ वर्षपर्यन्त वृद्ध हों, फूलें-फलें।

भावार्थ—हम घरों में दिन-रात यज्ञ करनेवाले हों। ये यज्ञ हमारे लिए अहिंसक बनें। हमें अहिंसित करके ये हमारे फूलने-फलने का कारण बनें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दैव्य होता

दैव्या होतारा ऽऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभि गृणीतम्। कृणुतं नः स्विष्टिम्॥१८॥

१. हे प्राणापानो! **दैव्या होतारा**=प्राणापान **नः**=हमारे **अध्वरम्**=हिंसा न करनेवाले यज्ञ को **ऊर्ध्वम् कृणुतम्**= उत्कृष्ट करें, अर्थात् हमारे जीवन में यज्ञ को प्रधानता प्राप्त हो। **अग्नेः**=मुझ प्रगति के पथ पर प्रस्थान की कामनावाले की **जिह्वाम्**=जिह्वा को **अभिगृणीतम्**=स्तुति करनेवाला बनाओ। मेरी जिह्वा दिन-रात (अभि=दोनों ओर, जगारित में व स्वपन में भी) प्रभु का स्तवन करनेवाली हो। ३. हे प्राणपानो! **नः**=हमारी **स्विष्टिम्**=उत्तम इष्टि को, इच्छा व गति को **कृणुतम्**=करो। हमारे मनों में सदा शुभ इच्छाएँ ही उत्पन्न हों, हमारे संकल्प शिव ही हों। ४. हमारे प्राणापान ''दैव्य होता'' बनें—देव को प्राप्त करानेवाले हों और हममें त्याग की वृत्ति को पनपानेवाले हों, ये सदा त्यागपूर्वक ही अदन करें। वस्तुतः होतृत्व ही इन्हें दैव्य बनाता है। जो जितना त्याग की वृत्तिवाला बनता है उतना ही प्रभु के समीप पहुँचनेवाला होता है। प्रभु की प्राप्ति के लिए भौतिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक है। शरीर में अन्य इन्द्रियों की तुलना में प्राणापान का होतृत्व उत्कृष्ट है, अतः ये प्राणापान **दैव्य**=देव को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम में यज्ञियवृत्ति हो, हमारी जिह्वा प्रभु का नामोच्चारण करे और हमारी इच्छाएँ व क्रियायें उत्तम हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

तीन देवियाँ

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳसदन्त्विडा सरस्वती भारती। मही गृणाना॥१९॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तिस्रः देवीः**=ये तीन देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **इदं बर्हिः**=इस मेरे वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**=आसीन हों। वस्तुतः दिव्य भावनाओं के बीज बोने के लिए हृदयक्षेत्र को तैयार करना नितान्त आवश्यक है। कोई भी बीज खेत को तैयार करके ही बोया जाता है। इस हृदयक्षेत्र में भी मन्थन=चिन्तनरूप हल चलाके वासनारूप घास-फूस को निकाल देने पर ही उत्तम गुणों के बीज बोये जा सकते हैं। २. ये तीन देवियाँ क्रमशः **इडा**=पृथिवीस्थानीय

देवता है, **सरस्वती**=अन्तरिक्षस्थानीय है और **भारती**=द्युलोकस्थानीय देवता है। 'इडा' निघण्टु में 'अन्न' का नाम है (२.६) जीवनयज्ञ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग 'इडा' का है। वस्तुतः इस अन्न पर ही जीवन का निर्माण निर्भर करता है—"जैसा अन्न वैसा मन' =You are what you eat ३. मन सरस्वान् है और उस मन की शक्ति 'सरस्वती' है। इसके बाद 'भारती' 'भरत आदित्यः तस्य भाः भारती' नि० ८।१'=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान है। एवं, अग्नि चाहता है कि उसके हृदय में ये तीन बातें अङ्कित हो जाएँ कि (क) मैं सदा यज्ञिय सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला बनूँगा, (ख) मैं अपनी मानस शक्ति को सदा प्रबल बनाऊँगा तथा (ग) मेरा ज्ञान सूर्य के समान चमकनेवाला होगा। ४. मेरी ये सब देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **मही**=(मह पूजायाम्) महनीय—पूजनीय हों तथा **गृणाना**=प्रभु का स्तवन करनेवाली हों। 'यज्ञिय अन्न' मेरे शरीर को स्वस्थ बनाए, मानस संकल्प मन को परिष्कृत करे तथा ज्ञान मुझे पवित्र बनाकर प्रभु-प्रवण करे।

भावार्थ—मेरे जीवन में 'यज्ञिय अन्न', 'मानस शक्ति' व 'सूर्यसम देदीप्यामान ज्ञान' तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**त्वष्टाः**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

कैसा धन?

तन्न॑स्तु॒रीप॒मद्भु॑तं पुरु॒क्षु त्वष्टा॑ सु॒वीर्य॑म्। रा॒यस्पोषं॒ वि ष्य॑तु॒ नाभि॑म॒स्मे ॥२०॥

१. जीवन के उत्थान में धन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः अग्नि=प्रगतिशील जीव इस मन्त्र में प्रार्थना करता है कि **त्वष्टा**=देवशिल्पी=सब धनों का निर्माण करनेवाला प्रभु **नः**=हमें **तत्**=उस **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **विष्यतु**=विशेषरूप से दे, छोड़े, अर्थात् हमपर उस धन की वर्षा करे जो (क) **तुरीपम्**=(तुरा वेगेन आप्नोति प्रापयति) शीघ्रता से कार्यों को सिद्ध करनेवाला है अथवा **तुर**=(Great strength), वेद में प्रबलशक्ति का वाचक हो, उस 'तुरीं पाति' तुरी की रक्षा करनेवाला है। प्रभु हमें वह धन दें जोकि हमारी शक्ति की रक्षा करता है। (ख) **अद्भुतम्**=यह धन अभूतपूर्व हो, महान् हो। ऐसा हो जैसाकि पहले किसी ने प्राप्त नहीं किया। (ग) **पुरुक्षु**=यह धन 'पुरुक्षु' पालन-पूरण करनेवाला हो अथवा यह 'पुरूणां क्षु' बहुत के निवास का कारण हो, अर्थात् जो केवल हमारे अपने लिए ही विनियुक्त न हो जाए। (घ) **सुवीर्यम्**=यह हमें उत्तम पराक्रमवाला बनाए। इसके द्वारा हम अपना आहार-विहार इतना सुन्दर बना सकें कि हम उत्तम वीर्य सम्पन्न हो पाएँ और (ङ) अन्त में यह धन **अस्मे**=हमारे लिए **नाभिम्** (नह बन्धने)=परस्पर बन्धन का कारण हो। हमें एक-दूसरे के साथ बाँधनेवाला हो, हमारे बन्धुत्व को करनेवाला हो, हमें परस्पर लड़ा न दे। २. इन गुणों से युक्त धन को प्राप्त करके ही हम अपने जीवनों को धन्य बना पाते हैं। अन्यथा विपरीत धन हमारे निधन का कारण हो जाता है। इस उत्तम धन को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें, आगे बढ़नेवाले बनें। इस बात का सबसे अधिक ध्यान करें कि यह हमारा धन 'पुरुक्षु' बहुत को निवास देनेवाला हो। ऐसा होने पर यह धन हमें 'प्रजापति' बनाएगा और इस प्रजापति को प्रभु अगले मन्त्र में दान देने की प्रेरणा देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें धन दें, वह धन जो कार्यसाधक है, शक्ति की रक्षा करनेवाला है, अभूतपूर्व है, बहुत का निवासक है और उत्तम वीर्यवान् बनाता है। प्रभु हमें वह धन दें जो हमें परस्पर बाँधनेवाला हो, न कि लड़ानेवाला।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

प्रजापति की दानवृत्ति

वनस्पतेऽव सृजा रराणस्त्मना देवेषु। अग्निर्हव्यꣳशमिता सूदयाति ॥२१॥

१. प्रभु प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि प्रजापति से कहते है, हे **वनस्पते**=(वन संभक्ति) सम्भजनीय धन के रक्षक! तू इस धन का रक्षक है, धन तो मेरा (प्रभु का) है, तू इसका स्वामी नहीं, रक्षकमात्र है, यह धन तुझे सम्भजन-सम्यक् रीति से बाँटने के लिए दिया गया है, **अवसृज**=तू इसको भिन्न-भिन्न स्थानों में देनेवाला बन। **रराणः**=देना तेरा स्वभाव हो (रादाने) २. **त्मना**=तू स्वयं देनेवाला बन। तुझे औरों से प्रेरणा दिये जाने की आवश्यकता न हो। **देवेषु**=तेरी यह दानक्रिया देवों के विषय में हो। तू देवों के प्रति देनेवाला बन। जिससे इस धन का विनियोग ठीक ही हो। बिना सोचे अपात्र में दिया गया धन तुझे भी 'तामसदाता' बना देगा। ३. प्रभु प्रजापति से कहते हैं कि तूने यह भी ध्यान करना कि **शमिता**=रोगों को शान्त करनेवाला **अग्निः**=यह यज्ञ की अग्नि **हव्यम्**=तुझसे होमे गये हव्य पदार्थों को सूदयाती सब देवों में क्षरित करता है, सूक्ष्म कणों में विभक्त करके इस हव्य को सब देवों में फैला देता है (द०) और इस प्रकार इस सारे वायुमण्डल को रोगकृमियों से शून्य कर देता है।

भावार्थ—हम धनों को देवों को देनेवाले बनें। यज्ञों में हव्य-पदार्थों का प्रयोग करके वायुमण्डल को रोगकृमिशून्य करते हुए प्रजापति बनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

दान के तीन स्थान

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदऽइन्द्राय हव्यम्। विश्वेदेवा हविरिदं जुषन्ताम्॥२२॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **स्वाहा कृणुहि**='अग्नये स्वाहा' आदि स्वाहाकार मन्त्रों से स्वाहा करनेवाला बन। यह ध्यान रख कि अपना त्याग 'स्वस्य हा' अपने लिये त्याग है, अर्थात् इस त्याग से हमारा अपना ही लाभ है। २. हे **जातवेद**=उत्पन्न धनवाले व्यक्ति! तू **इन्द्राय**=राष्ट्र के शत्रुओं का विद्रावण करेनवाले राजा के लिए **हव्यम्**=कर (Tax) को **कृणुहि**=स्वयं देनेवाला हो, अर्थात् तूने धन कमाया है, तू जातवेद (विद् लाभे) बना है, तो इस धन में से राष्ट्रकार्य के सञ्चालन के लिए उचित कर तुझे देना ही चाहिए। ३. तुझसे दी हुई **इदम् हविः**=इस हवि को **विश्वेदेवाः**=सब देव, दिव्य वृत्तिवाले लोग **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् तेरे घर में 'अतिथियज्ञ' नियमपूर्वक चले। 'अग्ने स्वाहा कृणुहि' शब्दों से देवयज्ञ का निर्देश हुआ है, 'इन्द्राय हव्यम्' से ब्रह्मयज्ञ का, चूँकि करमें दिये गये धन से ही राष्ट्र में ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रचार होगा तथा 'विश्वदेवाः जुषन्ताम्' शब्दों से अतिथियज्ञ ध्वनित हुआ है। एवं, इन तीन यज्ञों में हमारा धन उदारतापूर्वक व्ययित हो। 'विश्वेदेवाः' शब्दों में माता-पिता भी देव होने से आ जाते हैं, अतः पितृयज्ञ भी यहाँ सङ्कलित हो जाता है।

भावार्थ—हम धन को कमाएँ और उस धन को देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व अतिथि आदि यज्ञों में विनियुक्त करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—वायुः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वसिष्ठ का सुन्दर जीवन

पीवोऽअन्ना रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः॥२३॥

१. **पीवो अन्नाः**=(पुष्टान्नम् यस्य) पुष्टिकम अन्नवाला, अर्थात् जो सदा पौष्टिक अन्न का ही सेवन करता है, जिसके भोजन का मापक पौष्टिकता है, नकि स्वाद। २. **रयिवृधः** धन का वर्धन करनेवाला, संसार-यात्रा के लए आवश्यक धन जुटानेवाला ३. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला ४. **श्वेतः**=(शिव गतिवृद्ध्योः) गतिशीलता व क्रिया द्वारा अपनी शक्तियों का वधर्न करनेवाला ५. **नियुताम्**=(अश्वानाम्) इन्द्रियरूप घोड़ों की **अभिश्रीः**=दोनों ओर शोभावाला, जिस समय ज्ञानवाहिनी नाड़ियों से प्रभाव अन्दर जा रहे होते हैं और इसके बाद जब क्रियावाहिनी नाड़ियों से ये प्रभाव बाहर की ओर आते हैं—इन दोनों अवसरों पर (अभि) इन्द्रियों की क्रिया को बड़ी शोभा से करनेवाला यह **वसिष्ठ**=उत्तम निवासवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ही **सिषक्ति**=(सेवते) प्रभु का सेवन व उपासन करता है। ६. **ते**=इस प्रकार के उपासक ही **वायवे**=उस सारे ब्रह्मण्ड को गति देनेवाले प्रभु के लिए **समनसः**=(सहमनसः) सदा मन के साथ होते हुए, अर्थात् मन को न भटकने देते हुए, **वितस्थुः**=विशेषरूप से स्थित होते हैं, अर्थात् वे ही प्रभु के सच्चे उपासक बनते है। ७. **नरः**=ये अपने को उन्नति-पथ पर प्राप्त करानेवाले लोग **इत्**=निश्चय से **विश्वा**=सब **स्वपत्यानि**=उत्तम सन्तानों के निर्माण करनेवाले कर्मों को **चक्रुः**=करते हैं। स्वयं अपने जीवनों को सुन्दर बनाते हुए ये सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाते हैं।

भावार्थ—'वसिष्ठ' का अपना जीवन उत्तम होता है, वह सन्तानों को भी उत्तम बनाता है। यह अन्न का पौष्टिकता के दृष्टिकोण से सेवन करता है, धन का उचित वर्धन करनेवाला होता है, उत्तम बुद्धिवाला, क्रियाशीलता से अपना वर्धन करनेवाला, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शोभायुक्त बनानेवाला होता है। यही इसकी 'उपासना' होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

धनार्जन व धन का दान

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम्।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वाऽउत श्वेतं वसुधितिं निरेके॥२४॥

१. **इमे रोदसी**=ये द्यावापृथिवी, मस्तिष्क तथा शरीर **नु**=अब **यम्**=जिसको **राये**=धन के लिए **जज्ञतुः**=(उत्पादयामासतुः, म०) विकसित शक्तिवाला करते हैं, अर्थात् स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क, इस वसिष्ठ को धन-उत्पादन के योग्य बनाते हैं। २. इस **देवम्**=(दिव=व्यवहार) व्यवहार को उचित प्रकार से करनेवाले पुरुष को **देवी**=प्रकाशमयी **धिषणा**=बुद्धि अथवा व्यवहारकुशल वाणी **राये**=ऐश्वर्य के लिए **धाति**=स्थापित करती है। यह बुद्धि से तथा वाणी के ठीक प्रयोग से उचित धन कमानेवाला बनता है। ३. **अध**=अब धन कमाने के बाद इसके **स्वाः**=आत्मा के वश में हुए-हुए, अपने बने हुए ये **नियुतः**=इन्द्रियरूप घोड़े **वायुम्**=आत्मतत्त्व को **सश्चत्**=सेवित करते हैं, अर्थात् यह पुरुष धन में नहीं फँस जाता, धन कमाते हुए भी यह अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है **उत**=और **निरेके**=निश्चितरूप से इस धन के विरेचन, दान करने पर उस **श्वतेम्**=गति के द्वारा वर्धन करनेवाले **वसुधितिम्**=सब वसुओं को धारण करनेवाले, सब धनों के देनेवाले उस प्रभु को ये सेवित करते हैं। संक्षेप में, यह 'वसिष्ठ' धन तो कमाते हैं, परन्तु धन को कमाते समय भी उसमें फँसते नहीं, कुछ अध्यात्मवृत्ति के बने रहते हैं और धन का दान करके प्रभु के सच्चे उपासक बन जाते है। इनको यह भूलता नहीं कि सब वसुओं का धारण करनेवाले वे प्रभु ही हैं, वे प्रभु ही **श्वेत**=गति द्वारा हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ– 'वसिष्ठ' अपने मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाता है, अपनी बुद्धि व वाणी को व्यवहारकुशल करता है और इस प्रकार धन का अर्जन करता है, परन्तु इस धनार्जन को करते हुए भी अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है और इस धन का दान करके प्रभु का ही बन जाता है। उस प्रभु को ही सब धनों का दाता व वर्धन करनेवाला मानता है।

ऋषिः–**हिरण्यगर्भः**। देवता–**प्रजापतिः**। छन्दः–**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

देवों का प्राण

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानाꣳसमवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२५॥

१. गतमन्त्र का वसिष्ठ प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु को सम्पूर्ण प्रकृति के गर्भ में देखता है और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पिण्डों को प्रभु के गर्भ में। इस प्रकार प्रभु की हिरण्यगर्भ रूप में उपासना करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यगर्भ' ही हो जाता है। यह ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है कि **यत्**=अब **बृहतीः**=ये अत्यन्त बढ़े हुए महान् **आपः**=व्यापक तत्त्व (साम्यावस्थारूप में प्रकृति) इस जगत् का उपादानकारणभूत एक फैला हुआ मेघ (Nebula=नभस्), **विश्वम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु को **गर्भं दधाना**=अपने गर्भ में धारण करते हुए **अग्निम्**=अग्नि आदि देवों को–द्युलोक में सूर्यरूप से रहनेवाली, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथिवी पर अग्निरूप से रहनेवाली इस अग्नि को **जनयन्तीः**=पैदा करता हुआ **आयन्**=गति करता है। **ततः**=उस समय **देवानाम्**=इन सब देवों का **असुः**=प्राण **एकः**=यह अद्वितीय परमात्मा ही **समवर्त्तत**=होता है। वस्तुतः शरीर का वर्धन जैसे अन्तःस्थित आत्मतत्त्व पर निर्भर है, इसी प्रकार इस संसार के उपादानकारणभूत उस **आपः**=व्यापकतत्त्व का वर्धन अन्तःस्थित प्रभु पर निर्भर है। इन **आपः**=साम्यवस्थावाली प्रकृति से बने हुए इन सूर्यादि देवों का प्राण यह अद्वितिय परमात्मा ही है। उस प्रभु की दीप्ति से ही सूर्यादि ये सब देव दीप्त होते रहे हैं। २. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय महिमावाले **देवाय**=दीप्तरूप प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से अथवा आत्मसमर्पण से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले हों।

भावार्थ–सृष्टि के मूल व्यापक तत्त्व में प्रभु गर्भरूप से स्थित न होते तो उस मूलतत्त्व से अग्नि आदि देवों की उत्पत्ति ही न होती। वे प्रभु ही इन सूर्यादि देवों के देवत्व का कारण हैं। उस अनिर्वचनीय महिमावाले देव के प्रति हम समर्पण द्वारा आराधना करनेवाले हों।

ऋषिः–**हिरण्यगर्भः**। देवता–**प्रजापतिः**। छन्दः–**त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

प्रभु की अध्यक्षता में

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देवऽएकऽआसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सृष्टि का मूलतत्त्वभूत व्यापक प्रकृति प्रभु की अध्यक्षता में इस संसार को जन्म देती है। **यः चित्**=जो निश्चय से **महिना**=अपनी महिमा से **आपः**=उस व्यापक मूलतत्त्व का **पर्यपश्यत्**=सम्यक्तया Supervise देखता है, जो तत्त्व **दक्षं दधानाः**=अपने अन्दर उस शक्ति के पुञ्ज प्रजापति प्रभु को धारण कर रहे हैं और **यज्ञम्**=इस संगत (not disunited) संसार को **जनयन्तीः**=जन्म दे रहे हैं। प्रकृतिगर्भ में प्रभु का निवास न हो तो प्रकृति इन चराचर पदार्थों को जन्म नहीं दे सकती, उस समय प्रकृति एक जड़ तत्त्व

(Inert matter) के रूप में ही पड़ी रह जाएगी, संसार न बनेगा। उस चेतन प्रभु की सर्वव्यापकता का ही यह परिणाम है कि यह सारा संसार एक संगत सृष्टि के रूप में उत्पन्न होता है, २. परमात्मा वह है **यः**=जो **देवेषु**=इन सूर्यादि देवों में **एकः**=अद्वितीय **अधिदेवः**=अधिष्ठातृ देव **आसीत्**=है। इन देवों को उसी से तो देवत्व प्राप्त हो रहा है **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**। ३. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय, आनन्दस्वरूप **देवाय**=द्युतिमय प्रभु के लिए हम **हविषा**=समर्पण द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति से सम्बद्ध यह सृष्टि होती है। प्रभु देवों के भी देव हैं, उस प्रभु के प्रति समर्पण से हम प्रभु की पूजा करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुभोजस रयि

प्र याभिर्यासि दाश्वाꣳसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे।
नि नो रयिꣳ सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः॥२७॥

१. **वायो**=(वा गतिगन्धनयोः) सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले व सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **याभिः नियुद्भिः**=जिन नियुत् नामक अश्वों से **दावांसम्**=दान की वृत्तिवाले यजमान की **अच्छा**=ओर **इष्टये**=यज्ञों की सिद्धि के लिए **दुरोणे**=गृह में **प्रयासि**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हो। इन नियुतों के द्वारा **नः**=हमें **सुभोजसम्**=उत्तमता से हमारा पालन करनेवाले **रयिम्**=धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए तथा **वीरम्**=हमें वीर सन्तान **नि**=(युवस्व) प्राप्त कराइए, और **गव्यम्**=उत्तम गौवोंवाले **अश्व्यं च**=और उत्तम घोड़ोंवाले **राधः**=कार्यसाधक धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए। २. यहाँ मन्त्र में इन्द्रियाश्वों को 'नियुत्' कहा गया है, इन्हें निश्चयपूर्वक 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' बुराई से दूर करना और अच्छाई में लगाना चाहिए। ३. घर के लिए 'दुरोण' शब्द का प्रयोग हुआ है, दुर्=बुराई का उसमें से 'ओण् अपनने' अपनयन करना है। घर वही है जिसमें से बुराई को दूर किया गया है। इस बुराई को दूर करने के लिए ही 'इष्टि' यज्ञों का घर में प्रचलन आवश्यक है। यज्ञिय वृत्ति उसी की बनती है जो 'दाश्वान्' देनेवाला होता है। इस देनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते है। ४. रयि व धन वही है जो हमारा उत्तमता से पालन करता है, 'सुभोजस्' है। दान की वृत्तिवाले होने पर पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। इन्हें वह सम्पत्ति प्राप्त होती है जो इनके घर में गौवों व अश्वों की कमी नहीं होने देती तथा इनके सब कार्यों को सिद्ध करनेवाली होती है 'राध् सिद्धौ'। ५. 'गव्यं व अश्व्यं' का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाती है तथा कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है। उस समय 'वीर' की भी भावना सन्तान न लेकर 'वीरता' ही लेना चाहिए। हम वही धन चाहते हैं जो (क) हमें वीर बनाये (ख) हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम करे तथा (ग) हमें उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला बनाये। इस प्रकार अपने निवास को उत्तम बनानेवाला यह व्यक्ति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है।

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त कराएँ (ख) हम घरों में यज्ञशील व दान देनेवाले बनें, (ग) हमें पालक धन प्राप्त हों, (घ) उस धन को प्राप्त हों, जो हमें वीर बनाये, हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को उत्तम करे। अथवा हमें वह धन चाहिए जिससे हमारे सन्तान वीर हों और हमारा घर गौवों व अश्वों से भरा-पूरा हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—वायुः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शतिनी-सहस्त्रिणी (नियुत्)

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरꣳसहस्त्रिणीभिरुप याहि यज्ञम्।
वायोऽअस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥२८॥

१. हे **वायो**=संसार के सञ्चालक प्रभो! आप **शतिनीभिः**=सौ वर्षपर्यन्त अपने कार्य को उत्तमता से करनेवाली तथा **सहस्त्रिणीभिः**=सदा प्रसन्नता (स+हस्) के साथ रहनेवाली **नियुद्भिः**=इन अश्वरूप इन्द्रियों के साथ **नः**=हमारे **अध्वरम्**=कुटिलता व हिंसा से रहित जीवन-यज्ञ को **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त होओ, अर्थात् प्रभुकृपा से हमें इस जीवन-यज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए वे इन्द्रियाँ प्राप्त हों जो सौ वर्ष तक कार्य करनेवाली हों तथा सदा आनन्द के साथ अपने कार्य में लगी रहनेवाली हों। इन इन्द्रियों को प्राप्त करके हम अपने इस जीवन-यज्ञ को सचमुच 'अध्वर' कुटिलता व हिंसा से रहित बना सकें। २. हे वायो! **अस्मिन् सवने**=इस यज्ञात्मक जीवन में **मादयस्व**=हमें हर्ष को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यज्ञों में हम आनन्द का अनुभव करें। ३. **यूयम्**=आप **नः**=हमें **सदा**=सर्वदा **स्वस्तिभिः**=इन यज्ञों से सिद्ध होनेवाले अविनाशों व उत्तम स्थितियों द्वारा **पात**=पालित करो।

भावार्थ—(क) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम जीवनयज्ञ में शतवर्षपर्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कार्य की क्षमतावाली इन्द्रियों को प्राप्त करें। (ख) आप हमें यज्ञ में आनन्द को अनुभव करनेवाला बनाइए, हमारी रुचि यज्ञप्रवण हो, (ग) यज्ञों से हमारी स्थिति उत्तम हो और हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—वायुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुन्वन् का घर

नियुत्वान्वायवा गह्ययꣳशुक्रोऽअयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्॥२९॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र में आनन्द का अनुभव करता हुआ 'गृत्समद' बनता है 'गृणाति, माद्यति' स्तुति करता है और हर्षित होता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **वायो**=सब गतियों को सिद्ध करनेवाले प्रभो! **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले आप **आगहि**=मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त करूँ। २. **अयम्**=यह मैं **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुच गतौ) और गतिशीलता से दीप्त जीवनवाला होकर (शुच दीप्तौ) **ते अयामि**=आपके समीप प्राप्त होता हूँ। प्रभु को प्राप्त करने का यही मार्ग है कि वह गतिशील हो, गतिशीलता से शुद्ध जीवनवाला हो। ३. वे प्रभु **सुन्वतः**=यज्ञशील के अथवा अपने शरीर में सोम का (शक्ति का) सवन करनेवाले के **गृहम्**=घर को **गन्तासि**=प्राप्त होते हैं। मैं यज्ञशील बनूँगा व शक्ति का अपने में उत्पादन करनेवाला होऊँगा तो फिर क्यों न आपको प्राप्त करूँगा?

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ, (ख) हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त करें, (ग) प्रभु यज्ञशील व शक्ति सम्पादन करनेवाले को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—पुरुमीढः। देवता—वायुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

माधुर्य का शिखर

वायो शुक्रोऽअयामि ते मध्वोऽअग्रं दिविष्टिषु।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता॥३०॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' जब लोकहित में प्रवृत्त होता है तब वह 'पुरुमीढ'=बहुत पर सुखों की वृष्टि करनेवाला व 'अजमीढ' (अज गतिक्षेपणयोः)=क्रियाशीलता से बुराइयों को दूर करके कल्याण की वृष्टि करनेवाला बनता है और प्रभु से कहता है कि हे **वायो**=गतिशील प्रभो! **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुक गतौ) मैं **ते अयामि**=आपको प्राप्त होता हूँ। २. आपकी उपासना से शक्ति-सम्पन्न होकर मैं **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्टि) ज्ञानयज्ञों में **मध्वाः अग्रम्**=माधुर्य के अग्रभाग को **अयामि**=प्राप्त कराता हूँ, अर्थात् अत्यन्त माधुर्य से जनहित के लिए ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता हूँ, प्रजाओं में ज्ञान को फैलाने का प्रयत्न करता हूँ और इस ज्ञानविस्तार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को स्थिर बनाये रखता हूँ। ३. हे **देव**=सब ज्ञानदीप्तियों के देनेवाले प्रभो! आप ही **स्पार्हः**=स्पृहणीय हैं। चाहिए तो यही कि हम आपको प्राप्त करने का प्रयत्न करें, आपको प्राप्त कर लेने पर सब-कुछ प्राप्त हो ही जाता है। हे देव! **नियुत्वता**=उत्तम इन्द्रियोंवाले इस 'शरीर-रथ' के हेतु से **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइए। आपकी प्राप्ति में, आपकी उपासना में ही इन इन्द्रियाश्वों को निर्मल करने की शक्ति है। आप हमें इसलिए प्राप्त होओ कि हम **सोमपीतये**=सोम का पान कर सकें, शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रख सकें। आपके प्राप्त होने पर वासनाओं का सहज विनाश हो जाता है और यह वासना-विनाश शक्ति की रक्षा में सहायक होता है।

भावार्थ—हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों। ज्ञान प्रचार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को बनाये रक्खें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों।

ऋषिः—**अजमीढः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पुरुमीढ का प्रभु-स्तवन

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम्। शिवो नियुद्भिः शिवाभिः॥३१॥

१. **वायुः**=वे प्रभु सम्पूर्ण गति का स्रोत हैं। २. **अग्रेगाः**=वे प्रभु हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। हमारी सब प्रकार की उन्नति प्रभुकृपा से ही तो सिद्ध होती है। ३. **यज्ञप्रीः**=यज्ञों के द्वारा वे प्रभु प्रीणित होते हैं। हम यज्ञशील बनकर प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं। ४. वे प्रभु **मनसा साकम्**=मन के साथ **यज्ञम् गत्**=यज्ञ को प्राप्त हों, अर्थात् जब हम यज्ञ करें तब प्रभुकृपा से हमें ऐसा उत्तम मन प्राप्त हो कि हमारी यह यज्ञिय वृत्ति और बढ़ती जाए। ५. वे प्रभु **शिवाभिः नियुद्भिः**=सदा शुभ कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों से **शिवः**=हमारा कल्याण करेनवाले हैं। इन्द्रियों की उत्तमता में ही सुख है, सु+ख।

भावार्थ—प्रभु की आराधना के लिए हम यज्ञशील हों। 'यज्ञप्रीः' प्रभु को हम यज्ञ से ही आराधित कर सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

नियुत्वान्

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरा गहि। नियुत्वान्त्सोमपीतये॥३२॥

१. प्रभु का स्तवन करता हुआ गृत्समद प्रार्थना करता है—**वायो**=हे सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **सहस्रिणः**=(स+हस्) प्रसन्नता से युक्त **रथासः**=ये शरीररूप रथ हैं **तेभिः**=उनके साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए, अर्थात् आपकी कृपा से हम उन शरीर-रथों को प्राप्त करें, जिनमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि सभी का विकास (हास) दीखता है, शरीर मुर्झाया-सा लगे, इन्द्रियाँ दुर्बल हों, मन मरा-सा हो और बुद्धि कुण्ठित

हो तो ऐसे शरीररूप रथ को प्राप्त करके हम क्या करेंगे? २. **नियुत्वान्**=हे प्रभो! आप प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले, अर्थात् हमें उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ों को प्राप्त करानेवाले होकर **सोमपीतये**=हमारे सोम की रक्षा के लिए होइए। आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों, विषय-वासनाओं में विचरनेवाली न हों, और इस प्रकार हमारे सोम (वीर्य) की रक्षा हो सके। इस सोम की रक्षा से हमारा शरीर-रथ 'सहस्री' होगा, हास व विकासवाला होगा।

भावार्थ— हे प्रभो! आप हमें सब शक्तियों के विकास से युक्त शरीररूप रथ प्राप्त कराइए, हमारे इन्द्रियरूप अश्व भी उत्तम हों, वे वासनाओं के शिकार न हों, जिससे हम शक्ति को सुरक्षित कर सकें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ग्यारह, बाईस व तेतीस

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशती च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च॥३३॥

१. हे **स्वभूते**=सम्पूर्ण जगद्रूपी स्वकीय विभूतिवाले प्रभो! यह सम्पूर्ण जगत् आपकी ही तो विभूति है। आप जिन **एकया च दशभिः च**=एक और दस, अर्थात् ग्यारह पार्थिव दिव्य शक्तियों से तथा **द्वाभ्याम् विंशती (त्या) च**=जिन बाइस (ग्यारह पार्थिव तथा ग्यारह अन्तरिक्षलोक की) दिव्य शक्तियों से तथा **तिसृभिः च त्रिंशता च**=जिन तेतीस (ग्यारह पार्थिव, ग्यारह अन्तरिक्ष तथा ग्यारह द्युलोकस्थ) दिव्य शक्तियों से **वहसे**=इस सृष्टियज्ञ को चला रहे हो, हे **वायो**=सृष्टि-सञ्चालक प्रभो! आप **ता**=उन शक्तियों को **इष्टये**=जीवन-यज्ञ के उत्तमता से सञ्चालन के लिए **इह**=यहाँ हमारे शरीर में **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के रूप से **विमुञ्च**=देनेवाले होओ। २. सृष्टि में तेतीस देव काम कर रहे हैं, वे सबके सब देव इस शरीर में भी रहते है, ये देव जब तक शरीर में ठीक कार्य करते रहते हैं तब तक मनुष्य पूर्ण स्वस्थ चलता है। जीवन-यज्ञ के ठीक चलने के लिए उन देवों का शरीर के अंग-प्रत्यंगों में ठीक रूप से रहना आवश्यक है। 'अग्निदेव' शरीर में रूप से रहता है तो सूर्य चक्षुरूप से, दिशाएँ श्रोत्ररूप से और वायु प्राण के रूप से। इसी प्रकार इन सब देवों के निवास से ही यह शरीर-यज्ञ चल रहा है। ३. ब्रह्मण्ड की त्रिलोकी शरीर में इस रूप से है कि शरीर पृथिवी है, हृदय अन्तरिक्ष और मस्तिष्क द्युलोक है। इनमें ग्यारह-ग्यारह देवों का निवास है और वे देव इस शरीर में होनेवाले जीवनयज्ञ को चला रहे हैं। ये देव शरीर में नियुत् रूप से हैं, इन्द्रियाश्वों के रूप से हैं। इन्द्रियाश्व नियुत् हैं, क्योंकि इन्हें निश्चय से गुणों से युक्त व अवगुणों से वियुक्त करना है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। प्रभु हमें देवों को इन नियुतों के रूप में देनेवाले हों, जिससे हमारा निवास यहाँ उत्तम हो और हम मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे शरीर में तेतीस देवों का उत्तम निवास हो, उस उत्तम निवासवाले हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—**अङ्गिरसः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

त्वष्टा के जामाता का रक्षण

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। अवांश्स्या वृणीमहे॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे शरीर में तेतीस देव नियुतों के रूप में रह रहे होंगे तब हमारा अंग-प्रत्यंग सबल, स्वस्थ व सुन्दर बन जाएगा और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि

'अंगिरस' बनेंगे। यह अंगिरस प्रभुरक्षण की प्रार्थना इस रूप में करता है कि हे **वायो**=सम्पूर्ण सृष्टि के सञ्चालक! **ऋतस्पते**=सृष्टि के नियमों के स्वामिन्! **त्वष्टुः**='तूर्णमश्नुते'—नि० ८।१४। शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले तथा ('त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः'—नि० ८।१४) स्वाध्याय के द्वारा मस्तिष्क की दीप्ति का सम्पादन करनेवाले, (त्वष्टा देवशिल्पी) दिव्य गुणों के निर्माण के लिए यत्नशील जीव की **जामातः**=(जायाम् मिमीते) बुद्धिरूपी जाया (पत्नी) का निर्माण करनेवाले! **अद्भुत**=अभूतपूर्व, अनुपम प्रभो! **तव**=तेरे **अवांसि**=रक्षणों का **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरण करते हैं। प्रभु सृष्टि के सञ्चालक हैं (वायु), प्रभु ने ही सृष्टि के अन्दर कार्य करनेवाले नियमों को बनाया है। ये नियम ही 'ऋत' हैं। प्रभु इन ऋतों के स्वामी हैं। प्रभु की अध्यक्षता में ये ऋत अपना कार्य कर रहे हैं। ३. ये प्रभु ही जीव को बुद्धि देनेवाले हैं। यह बुद्धि आत्मा की पत्नी के समान है, परन्तु यह बुद्धि प्राप्त तभी होती है जब जीव क्रियाशील होता है, स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तथा अपने जीवन में दिव्यता लाने की कोशिश करता है, एक शब्द में जब यह 'त्वष्टा' बनता है। ५. वे प्रभु अद्भुत हैं, प्रभु के समान न कोई हुआ न होगा, अतः प्रभु की किसी से उपमा देना सम्भव नहीं, वे सचमुच अनुपम हैं।

भावार्थ—संसार के सञ्चालक, सृष्टि-नियमों के स्वामी स्वाध्यायशील की बुद्धि का निर्माण करनेवाले उस अनुपम प्रभु के रक्षण हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अभि-नमन

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाऽइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥३५॥

१. गतमन्त्र का अंगिरस प्रभु-स्तवन करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है तो यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' हो जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शूर**=हमारे सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपकी **अभि नोनुमः**=दोनों ओर खूब स्तुति करते हैं। यही सन्ध्या है। २. हम आपका स्मरण **अदुग्धा इव धेनवः**=अदुग्ध गौवों के समान करते हैं। 'हम दुग्धदोह=गौवों की तरह अत्यन्त जीर्ण होकर आपका स्मरण करते हों' ऐसा नहीं। यौवन में ही हम आपके स्मरण में तत्पर होते हैं और आपका यह स्मरण हमें सदा युवा बनाये रखता है। ३. हम आपका स्मरण इस रूप में करते हैं कि आप (क) **अस्य जगतः**=इस जंगम संसार के **ईशानम्**=ईशान हैं, आपके स्वामित्व में ही सम्पूर्ण चर संसार चल रहा है। (ख) आप **स्वर्दृशम्**=(स्वः=सूर्य) सूर्य के समान देदीप्यमान हैं और (ग) **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **तस्थुषः**=स्थावर जगत् के **ईशानम्**=ईशान हैं। आपके आधार में ये सब पदार्थ स्थिरता से ठहरे हुए हैं। आप ही सबके आधार हैं।

भावार्थ—वसिष्ठ इसीलिए वसिष्ठ है कि वह यौवन से ही प्रभु-स्तवन में लगा है। वह चराचर का आधार प्रभु को ही जानता है, प्रभु को सूर्य के समान देदीप्यमान रूप में देखता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्वायन्तः गव्यन्तः

न त्वावाँ२॥ऽअन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥३६॥

१. प्रभु का उपासन करता हुआ 'वसिष्ठ' शान्त जीवनवाला बनता है, अतः 'शंयु' हो जाता है। यह ऊँचा ज्ञानी बनता है, अतः 'बार्हस्पत्यः' कहलाता है। यह कहता है कि हे प्रभो! **त्वावान्**=(त्वत्सदृशः) आप-जैसा **अन्यः**=कोई और **न**=न तो **दिव्यः**=द्युलोक में होनेवाला और **न पार्थिवः**=न ही पृथ्वीलोक में होनेवाला है। आपके समान भी कोई नहीं अधिक तो हो ही कैसे सकता है? **न जातः**=न भूतकाल में आपके समान कोई हुआ, **न जनिष्यते**=न भविष्य में आपके समान कोई होगा। २. **मघवन्**=परमपूजित (पापशून्य) ऐश्वर्यवाले! **इन्द्र**=सर्वदुःखविनाशक प्रभो! **अश्वायन्तः**=उत्तम अश्वों को, कार्यों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को चाहते हुए **वाजिनः**=शक्ति का सम्पादन करनेवाले हम **गव्यन्तः**=गौवों को, पदार्थों का निश्चय से ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को चाहते हुए आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से (क) हमें उत्तम सशक्त कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों, (ख) हम शक्ति-सम्पन्न बनें तथा (ग) विषयों का निश्चयात्मक ज्ञान देनेवली ज्ञानेन्द्रियाँ हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'एकमेवाद्वितीयम्' इन शब्दों के अनुसार एक ही अद्वितीय हो। आप हमें सशक्त कर्मेन्द्रियों को, शक्ति को व उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त कराइए।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'शंयु' की प्रार्थनत्रयी

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥३७॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं व कष्टों के निवारण करनेवाले प्रभो! **कारवः**=प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण तरीके से करनेवाले हम ('कारुः शिल्पिनि कारके') **वाजस्य**=शक्ति की **सातौ**=प्राप्ति के निमित्त **हि**=निश्चय से **त्वाम् इत्**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आप ही तो हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे। हाँ, यह ठीक है कि आप शक्ति प्राप्त कराते तभी हैं जब हम आपके निर्देश के अनुसार पुरुषार्थी बनते हैं। २. हे प्रभो! **वृत्रेषु**=ज्ञान पर आवरण डाल देनेवाली कामादि वासनाओं के साथ संग्राम में विजय के लिए भी **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वा**=आपको पुकारते हैं। आपके साहाय्य के होने पर ही तो हम इन वासनाओं को जीत पाएँगे। ३. **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे प्राप्त कराने की कामनावाले हम **अर्वतः काष्ठासु**=(Race-ground, course goal) घोड़ों के घुडदौड़ के मैदानों में **त्वा**=आपको पुकारते हैं। 'हमारे ये इन्द्रियरूप घोड़े उद्देश्य तक, उद्दिष्टस्थल तक पहुँच सकें' इसके लिए हम आपको ही पुकारते हैं। 'अर्वत' शब्द यहाँ छठी विभवक्ति में प्रयुक्त हुआ है। घोड़े की काष्ठा, उसका लक्ष्यस्थान ही है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम (क) शक्ति प्राप्त करें (ख) वासना-संग्राम में विजय हों। ३. इन्द्रियरूप घोड़ों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराड्बृहतीः। स्वरः—मध्यमः।

शत्रुओं का धर्षण व विजय

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानोऽअद्रिवः।
गामश्वꣳरथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे॥३८॥

१. हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप जोकि **चित्रः**=अन्दुत हैं, जिनके समान न कोई है और न होगा, **वज्रहस्त**=(वजगतौ) सदा क्रियाशील हाथोंवाले है, अर्थात् स्वाभाविक क्रियावाले

हैं, और जो आप **धृष्णुया महः**=शत्रुओं के धर्षक तेजवाले हो **अद्रिवः** (न) अपने मार्ग से विदीर्ण न किये जानेवाले हैं—अच्युत हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली आप! **स्तवानः**=स्तुति किये **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को **अश्वः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को जो **रथ्यम्**=शरीररूप रथ के लिए अत्यन्त हितकर हैं, उनको **नः संकिर**=हमारे लिए दीजिए। २. आप हमे **जिग्युषे**= विजयशील पुरुष के लिए **न**=जैसे **वाजम्**=बल को प्राप्त कराते है, उसी प्रकार **सत्रा**=सचमुच शक्ति प्राप्त कराइए, जिससे जीवन–संग्राम में हम विजयी बनें। ३. 'चित्र' शब्द की भावना 'चित् र'=ज्ञान देनेवाले की है। वे प्रभु ज्ञान देकर ही तो हमें इस संसार में विजयी बनाते हैं। ४. उस प्रभु का स्तवन यही है कि हम भी **वज्रहस्त**=क्रियाशील बनें, **धृष्णुया महः**= शत्रुधर्षक तेजस्विता का सम्पादन करें, **अद्रिवः**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले व दृढ़निश्चयी बनें, तभी हम प्रभु से उस शक्ति की याचना के अधिकारी बनते हैं, जो शक्ति हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराइए। हमें वह शक्ति दीजिए जोकि हमें विजयी बनाए।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सदावृधः सखा

कया नश्चित्रऽआ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शरीर को प्राप्त करके यह 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है और प्रभु–स्तवन करते हुए कहता है कि **चित्रः**= वह ज्ञान देनेवाले अद्भुत परमात्मा **कया ऊती**=किस कल्याणकारक रक्षण के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः**=सदा वर्धन करनेवाला **सखा**=मित्र **आभुवत्**=होता है। वास्तव में ज्ञान देकर ही प्रभु हमारा कल्याण करते हैं, प्रभु द्वारा सतत चलनेवाला रक्षण हमारे लिए कल्याणकर होता है, इस रक्षण के द्वारा प्रभु हमारा वर्धन करते हैं और हमारे सच्चे मित्र होते हैं। २. हमारे मित्र प्रभु **कया**=अत्यन्त आनन्दमय **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**= आवर्तन से हमारा सदा वर्धन करनेवाले होते हैं। 'दिन–रात' का एक आवर्तन (चक्र) चल रहा है, दिन में कार्य करने से शक्ति का क्षय होता है तो रात्रि हमारी टूट–फूट को ठीक–ठाक करके हमें फिर से तरोताज़ा कर देती है। इसी प्रकार शुक्ल व कृणपक्षों का आवर्तन है। फिर वर्ष में मासों व ऋतुओं का आवर्तन है। ये सब आवर्तन हमारे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होते हुए हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण व मास, ऋतु आदि के परिवर्तन से शक्ति का वर्धन—ये दोनों हमारे लिए कल्याणकर हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

मदानां मंहिष्ठः

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥४०॥

१. वामदेव अपने को ही सम्बोधन करते हुए कहते हैं **त्वा**=तुझे **कः**=अनिर्वचनीय व आनन्दमय प्रभु, **सत्यः**=जो सत्यस्वरूप हैं तथा **मदानाम्**=ज्ञानानन्दों व उल्लासों के **मंहिष्ठः**=(दातृतम) अधिक–से–अधिक देनेवाले हैं, **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। आनन्द–प्राप्ति का कारण मन की शुद्धता है 'आनन्द व

मन:प्रसाद' पर्यायवाची से हो गये हैं। एवं, मन की शुद्धि तो सत्य से होती है और शरीर-शुद्धि के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है। मन व शरीर की शुद्धि होने पर आनन्द-प्राप्ति का न होना असम्भव है। संक्षेप में यह आवश्यक है कि हम (क) सत्य बोलें (ख) प्रसन्न रहें (ग) सोम की रक्षा द्वारा स्वस्थ शरीरवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **दृढा चित् वसु**=बड़े दृढ़ व कठोर भी कनक (स्वर्ण) आदि धनों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न कर देते हो, उन्हें चूर्ण करके सबमें बाँटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वे अनिर्वचनीय, आनन्दमय, सत्यस्वरूप, सर्वाधिक आनन्द के दाता प्रभु सोमरक्षा के द्वारा हमारे जीवन को उल्लास से युक्त करते हैं। वे कठोर स्वर्णादि धनों को बाँट-बाँटकर सबके लिए देते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जरितॄणाम् अविता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतये॥४१॥

१. हे प्रभो! आप **नः सखीनाम्**=हम मित्रों के **अभि**=आभिमुख्येन के **अविता**=उत्तम रक्षक होते हो और २. **जरितॄणाम्**=हम स्तोताओं के **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **ऊतये**=रक्षा के लिए **भवासि**=होते हैं। ३. प्रभु का रक्षण हमें तब प्राप्त होता है जब हम प्रभु के सखा व स्तोता बनते हैं। प्रभु के सखा बनने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति-प्रवण होकर हम प्रभु को भूल न जाएँ। स्तोता बनने का अभिप्राय भी यही है कि प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए हम उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। प्रभु के गुणों को धारण करके यह सचमुच 'वामदेव'=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाला बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के सखा व स्तोता बनें, हमें प्रभुरक्षण प्राप्त होगा।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अमृत-जातवेदस्

यज्ञायज्ञा वोऽअग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शꣳसिषम्॥४२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का सखा व स्तोता बनकर प्रभु का रक्षण प्राप्त करनेवाला यह शान्त जीवनवाला बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनकर लोकहित के दृष्टिकोण से कार्यप्रवृत्त हुआ कहता है कि हे मनुष्यो! **यज्ञायज्ञा**=प्रत्येक यज्ञ के द्वारा **वः**=तुम्हारे **अग्नये**=आगे ले-चलनेवाले उस प्रभु के लिए **वयम्**=हम इस प्रभु को **प्रियम् मित्रम् न**=जो हमारे प्रिय मित्र के समान हैं, **अमृतम् प्रशंसिषम्**=वह अमृत है, इस रूप में प्रशंसित करता हूँ। प्रभु तो अमृत हैं ही, वे यज्ञों के द्वारा हमें भी मृत्यु से बचाते हैं। २. **च**=और **गिरागिरा**=एक-एक ज्ञान की वाणी के द्वारा **दक्षसे**=योग्यता को बढ़ानेवाले उस प्रभु को जो **प्रियं मित्रं न**=हमारे प्रिय मित्र के समान है, **जातवेदसं प्रशंसिषम्**=वह सम्पूर्ण ज्ञान का प्रादुर्भाव करनेवाला है, इस प्रकार प्रशंसित करते हैं। ये प्रभु तो सर्वज्ञ हैं ही, वे हमें भी इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा योग्य बनाते हैं। ३. इस प्रकार यज्ञों द्वारा हमें अमृत (नीरोग) व ज्ञान की वाणियों से हमें योग्य बनाते हुए वे प्रभु यह प्रेरणा दे रहे हैं कि तुम्हारी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में व्याप्त हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों के ग्रहण में।

भावार्थ—प्रभु अमृत हैं, यज्ञों द्वारा उन्नत होते हुए हम भी अमर बनने का प्रयत्न करें। प्रभु जातवेदाः हैं, प्रभु से दी गई इन ज्ञान की वाणियों से हम भी अपनी योग्यता को बढ़ानेवाले हों। संक्षेप में 'अमृत व जातवेदाः' बनकर ही हम 'शंयु'=शान्ति को प्राप्त होनेवाले होंगे।

ऋषिः—**भार्गवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार वाणियाँ

पाहि नोऽअग्नऽएकया पाह्युत द्वितीयया।

पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥४३॥

१. गतमन्त्र में 'गिरागिरा च दक्षसे' इस वाक्य में जिस ज्ञान की वाणी का उल्लेख था, उसी का कुछ विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=विज्ञान के द्वारा अग्निवत् हमारे जीवन को प्रकाशित व उन्नत करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **एकया**=अपनी इस प्रथमस्थानीय ऋग्रूप विज्ञान की वाणी से **पाहि**=रक्षा प्राप्त कराइए। २. **उत**=और हे प्रभो! आप हमें **द्वितीयया**=इस यजुरूप—यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली द्वितीय वेदवाणी के द्वारा भी **पाहि**=रक्षण प्राप्त कराइए। इसमें प्रतिपादित यज्ञ हमारे जीवन का भाग बनकर हमें नीरोग बनानेवाले हों। प्रथम विज्ञान की वाणी से ऐश्वर्य का अर्जन करके हम उस ऐश्वर्य का इन यज्ञों में ही विनियोग करें। ३. हे **ऊर्जाम्पते**=बल व प्राणशक्तियों के स्वामिन्! आप हमें **तिसृभिः गीर्भिः**=ऋग्यजुः के साथ इन तीसरी सामवाणियों के द्वारा **पाहि**=रक्षित कीजिए। इनके द्वारा आपकी उपासना करते हुए हम सचमुच आपकी शक्ति को अपने में प्रवाहित करनेवाले हों। हम भी ऊर्जाम्पति बनें। उपासना से हमें शक्ति प्राप्त हो। ४. हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **चतसृभिः**=ऋग्यजुः साम के साथ चौथी इस अथर्व की वाणी से आप हमें **पाहि**=इस संसार में सुरक्षित कीजिए। इस वाणी के मौलिक उपदेश को कि 'वाचस्पति बनो' हम ग्रहण करें। जिह्वा के संयम से भोजन को मात्रा में सेवन करते हुए हम अपने बल को बढ़ाएँ व रोगों को दूर भगाएँ। वाणी का संयम हमें मितभाषी बनाये और हम व्यर्थ के कलहों को उत्पन्न न होने दें। जिह्वा का संयम रोगों से बचाये और वाणी का संयम हमें झगड़ों से बचाये।

भावार्थ—हम ऋग्, यजुः साम व अथर्वरूप चारों वाणियों से चतुष्पाद् धर्म का सेवन करें। ऋचाओं द्वारा प्राप्त विज्ञान हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाए, यजुः में प्रतिपादित यज्ञ हमारी पवित्रता का कारण बनें। साम द्वारा की गई उपासना हमारे बल व प्राण का वर्धन करनेवाली हो तथा अथर्व के उपदेश से वाचस्पति बनकर हम इस शरीर व जगत् में अपने निवास को उत्तम बनाएँ। थोड़ा खाएँ—थोड़ा बोलें। इन वाणियों के द्वारा अपने ज्ञान का परिपाक करके हम मन्त्र के ऋषि 'भार्गव' बनें, 'भ्रस्ज पाके' अपना परिपाक करनेवाले।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

प्रभु के प्रति अर्पण

ऊर्जो नपातꣳस हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।

भुवद्वाजेष्ववि॒ता भुवद् वृधऽउत त्राता तनूनाम्॥४४॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'ऊर्जाम्पते' इस प्रकार सम्बोधन किया था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि **सः**=वह तू **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले उस प्रभु को **हिन**=अपने उत्तम कर्मों व उपासनों से प्रीणित कर (तर्पय—उ०) (हि

गतौ वृद्धौ च)। उत्तम कर्मोपासनाओं से प्रभु की ओर जा और उस प्रभु की महिला को बढ़ानेवाला बन। २. **अयम्**=ये प्रभु निश्चय से **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले हैं, हमें चाहते हैं, हमें प्यार करते हैं। ३. **हव्यदातये**=हव्य पदार्थों के दान के लिए **दाशेम**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर दें, तो वे प्रभु हमें **वाजेषु**=वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में **अविता भुवत्**=हमारे रक्षक होते हैं। वे प्रभु इस शरणागत की **वृधे**=वृद्धि व उन्नति के लिए **भुवत्**=होते हैं। प्रभु के प्रति अर्पण करने पर, वे जिधर चलाएँ, उधर ही चलने पर हमारी उन्नति-ही-उन्नति होगी। **उत**=और वे प्रभु हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के भी **त्राता**=रक्षक होते हैं। वे हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं और हमें आधि-व्याधियों से बचाते हैं। ५. इस प्रकार प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके यह व्यक्ति अत्यन्त शान्त जीवनवाला होता हुआ मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनता है।

भावार्थ—हम अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करें। वे हमारा भला-ही-भला चाहते हैं। उनके प्रति हम अपना अर्पण कर दें, वे वासना-संग्राम में हमारी रक्षा करेंगे, हमारी वृद्धि का कारण होंगे, हमें आधि-व्याधियों से बचाएँगे।

ऋषिः—शंयुः। देवता—अग्निः। छन्दः—**निचृदभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

पूर्ण जीवन

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्द्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताꣳसंवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्याऽएत्यै सं चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद॥४५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु हमारे शरीरों के रक्षक होंगे तब हमारा जीवन निश्चय से सुन्दर बनेगा। प्रभु 'शंयु' से कहते हैं कि तू **संवत्सरः असि**=(संवसति) उत्तम निवासवाला है। २. **परिवत्सरः असि** (परिवसति) सम्पूर्ण कोशों में निवासवाला है, केवल अन्नमयकोश में ही रहा। तेरी दुनिया केवल खाने-पीने की ही दुनिया नहीं है। तेरा जीवन अधूरा न होकर समूचा (पूर्ण) है। ३. **इदावत्सरः असि** (इदा=इदनीम्)=तू वर्त्तमान काल में रहनेवाला है, तू भूत-भविष्य की बातें नहीं करता रहता। न तो तू भूत का राग अलापता रहता है और ना ही भविष्य के स्वप्न लेते रहता है। तू सदा वर्त्तमान को उत्तम बनाने का प्रयत्न करता है। ४. **इद्वत्सरः असि**=तू निश्चय से निवास करनेवाला है। तेरे जीवन में विकल्पों व संशयों का स्थान नहीं। ५. इस प्रकार तू **वत्सरः असि**=निवासवाला है, तेरा निवास सब प्रकार की जटिलता व संकरता (Complexes) से रहित है। यहाँ 'वत्सर' का पाँच बार प्रयोग इस बात का भी संकेत कर रहा है कि तू ने पाँचों भूतों से बने इस पाँचभौतिक शरीर में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पाँचों प्राणशक्तियों का विकास करते हुए अपने 'पञ्चजन' नाम को चरितार्थ किया है। ६. **ते**=इस उत्तम निवासवाले तेरे लिए **उषसः कल्पन्ताम्**=सामार्थ्य को बढ़ानेवाले हों। इसी प्रकार **ते**=तेरे लिए **अहोरात्राः**=दिन व रात **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली हों, तेरे लिए **अर्धमासाः**=अर्धमास, शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य का वर्धन करनेवाले हों। **मासाः ते कल्पन्ताम्**=वैशाख-ज्येष्ठ आदि मास भी तेरे लिए सामर्थ्य को दें। **ऋतवः ते कल्पन्ताम्**='ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर व वसन्त' ये ऋतुएँ भी तुझे शक्तिशाली बनाएँ और इन ऋतुओं से बना हुआ यह **संवत्सरः**=वर्ष ते

कल्पताम्=तेरे लिए शक्ति व सामर्थ्य को करनेवाला हो। ७. प्रभु कहते हैं कि अब तू **प्रेत्या**=खूब गतिशील बनकर (प्र इ) **च**=और **एत्यै**=मेरे समीप पहुँचने के लिए **सम् अञ्च**=सम्यक् गतिवाला हो, अर्थात् उत्तम कर्मों को करनेवाला बन **च**=तथा **प्रसारय**=अपनी शक्तियों का प्रकृष्ट प्रसार कर, शक्तियों को फैलानेवाला बन। ८. **सुपर्णचित् असि**=तू अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला तथा ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है (पर्ण पृ पालनपूरणयोः चित् ज्ञान) ९. इस प्रकार **तया देवतया**=उस देवता, अर्थात् प्रभु के साथ सम्पर्क में रहकर **अंगिरस्वत्**=एक-एक अंग में रस के सञ्चारवाला होकर **ध्रुवः**=मर्यादा में चलनेवाला बनकर **सीद**=इस संसार में निवास कर। इस प्रकार के निवास में ही जीवन की शान्ति है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शंयु' बन पाते है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन पाञ्चों भूतों, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों के दृष्टिकोण से पूर्ण हो। सब काल-विभाग हमें शक्ति देनेवाले हों। उत्तम गतिवाले होकर हम अपनी शक्ति को फैलानेवाले बनें। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु-संग से रसमय-जीवनवाले होकर मर्यादामय जीवनवाले हों।

नोट—प्रभुसंग से ही जीवन रसमय होता है, अतः अगले अध्याय में इस प्रभु के सम्पर्क के साधनों व परिणामों के वर्णन से ही मन्त्रों का प्रारम्भ होता है। ये मन्त्र 'बृहदुक्थ वामदेव' ऋषि के हैं। बृहत् उत्कर्षवाला, अर्थात् वृद्धि के कारणभूत स्तोत्रोंवाले तथा सुन्दर दिव्य गुणोंवाले इस ऋषि के द्वारा निम्न मन्त्रों में प्रभु-प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन किया जाता है—

इति सप्तविंशोऽध्यायः॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

चर्षणीसहाम् ओजिष्ठः

होता यक्षत्समिधेन्द्रमिडस्पदे नाभा पृथिव्याऽअधि।
दिवो वर्ष्मन्त्समिध्यतऽओजिष्ठश्चर्षणीसहां वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥१॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला, **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है, इसके लिए आवश्यक है कि हम (क) त्यागवृत्तिवाले बनें, दानपूर्वक अदनवाले हों, सदा यज्ञशेष का सेवन करें तथा (ख) अपने ज्ञान को दीप्त करें। २. 'प्रभु का सम्पर्क कहाँ होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **इडस्पदे**=वाणी के स्थान में, अर्थात् जब हम ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करेंगे, तथा (ख) **पृथिव्याः**=इस शरीर के (पृथिवी शरीरम्) **नाभौ अधि** =केन्द्र में। शरीर का केन्द्र 'हृदय' है। एक ओर अन्नमयकोश व प्राणमयकोश हैं तो दूसरी ओर विज्ञानमय व आनन्दमयकोश हैं, ठीक मध्य में मनोमयकोश है। इस मनोमयकोश को वेद में **'विकोशं मध्यमं युव'** इन शब्दों में मध्यमकोश कहा है। इस मध्यमकोश में ही प्रभु का दर्शन होना है (ग) **दिवः वर्ष्मन्**=द्युलोक के वर्षिष्ठ प्रदेश में। द्युलोक मस्तिष्क है, इसका वर्षिष्ठ सर्वोत्तम प्रदेश 'सहस्रारचक्र' है, इसी स्थल में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की उत्पत्ति होती है और प्रभु का साक्षात्कार होता है। एवं, **समिध्यते**=वे प्रभु दीप्त किये जाते हैं (क) ज्ञान की वाणियों की चर्चाओं में (ख) हृदयदेश में, तथा (ग) ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर मस्तिष्करूप द्युलोक के सर्वोत्तम प्रदेश में। ३. प्रभु-दर्शन होने पर यह भक्त **चर्षणीसहाम्**=श्रमशील (चर्षणयः कर्षणयः) तथा शत्रुओं का पराभव करनेवालों में **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम बनता है, अर्थात् यह सर्वाधिक श्रमशील व कामादि का विजेता होता है। वस्तुतः ये दोनों बातें ही इसके ओजस्वी बनने का रहस्य हैं। ४. **आज्यं वेतु**='तेजो वा आज्यम्' तां० १२।१०।१२ 'रेतः आज्यम्' श० १।३।१।१८ यह प्रभुभक्त शक्ति का पान करनेवाला हो। प्रायः सोम के पान का उल्लेख होता है, यहाँ सोम के स्थान में 'आज्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। आज्य की भी भावना 'शक्ति' ही है। प्रभुभक्त आज्य का, शक्ति का पान करनेवाला बनता है, अतः मन्त्र की समाप्ति पर प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=प्रभु से मेल कर। यह मेल ही तेरी शक्ति का स्रोत बनेगा।

भावार्थ—होता बनकर, ज्ञान की वाणियों की चर्चा करते हुए हम हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करें। इससे हमें शक्ति प्राप्त होगी, हम श्रमशील व शत्रु-विजेताओं के अग्रेणी बनेंगे।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

मधुमत्तम मार्ग

होता यक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम्।
इन्द्रं देवꣳस्वर्विदं पथिभिर्मधुमत्तमैर्नराशꣳसेन तेजसा वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=उस प्रभु का अपने साथ सम्पर्क करता है जो **तनूनपातम्**=शरीर को न गिरने देनेवाले हैं, **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा शरीर को व्याधियों से बचानेवाले हैं, **जेतारम्**=सदा हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतनेवाले हैं और **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होते। **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व परमैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं, **देवम्**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्ञान से देदीप्यमान व सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं (देवः दीव्यति, द्योतनाद् दानाद्वा), **स्वर्विदम्**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं। २. वे प्रभु 'स्वर्विद्' हैं—सुख प्राप्त कराते हैं, परन्तु कब? जबकि हम (क) **मधुमत्तमैः पथिभिः**=अत्यन्त मधुर मार्गों से जीवनयात्रा में गति करते हैं। जब हमारे सब कर्मों में माधुर्य होता है तथा (ख) **नराशंसेन**=(नरैः आशंसनीयेन) मनुष्यों से प्रशंसा करने योग्य **तेजसा**=तेज के द्वारा। जब हम तेजस्वी बनते हैं, और हमारा यह तेज प्रशंसनीय होता है। (ग) इसीलिए भक्त को चाहिए कि **आज्यस्य वेतु**=तेज का पान करने का प्रयत्न करे। तेज को अपने में सुरक्षित करे। इस प्रकार वीर्य को शरीर में सुरक्षित करते हुए **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु का अपने साथ मेल कर।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर को नीरोग बनानेवाले हैं। हमारे शत्रुओं को जीतनेवाले हैं। हम मधुर मार्गों से चलते हैं और प्रशंसनीय तेजवाले होते हैं तो वे प्रभु हमें सुखी करते हैं। हमें चाहिए कि हम वीर्य को शरीर में सुरक्षित करते हुए दान की वृत्तिवाले बनें और प्रभु से अपना मेल करें।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वज्रहस्त पुरन्दर

होता यक्षदिडाभिरिन्द्रमीडितमाजुह्वानममर्त्यम्।
देवो देवैः सवीर्यो वज्रहस्तः पुरन्दरो वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली **इडाभिः ईडितम्**=वेदवाणियों से स्तुति किये गये प्रभु को, **अजुह्वानम्**=जो सभी से पुकारा जाता है। सज्जन तो प्रातः-सायं शक्ति व शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु का आराधन करते ही हैं, दुर्जन भी कष्ट आने पर प्रभु को ही पुकारते हैं। **अमर्त्यम्**=वे प्रभु अमरणधर्मा हैं। २. **देवः**=वे प्रभु देव हैं। **देवैः**=सब देवों के साथ उनका निवास है, और सब देव उस प्रभु के कारण ही देवत्व को प्राप्त हुए हैं। प्रभु के सम्पर्क में आनेवाला यह होता भी 'देवः'=देव बनता है, **देवैः**=दिव्य गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करता है। **सवीर्यः**=यह पराक्रमशाली बनता है, **वज्रहस्तः**=क्रियाशील हाथोंवाला होता है और **पुरन्दरः**=इन शरीररूप पुरियों का विदारण करता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो जाता है। ३. इसी उद्देश्य से जीव को चाहिए कि वह **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करनेवाला बने, सोम, अर्थात् वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रक्खे। इस प्रकार सोम का पान करनेवाले **होतः**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=दान देनेवाला बन और

उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणियों से स्तुत होते हैं। उन प्रभु से मेल बनाकर जीव भी देव बनता है। जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठता है, अतः जीव को चाहिए कि शक्ति की रक्षा करे और दानशील बनकर प्रभु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—रुद्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'वसु, रुद्र व आदित्य' बनना

होता यक्षद् बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम्।
वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥४॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदयाकाश में **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। जो प्रभु **निषद्वरम्**=(निषदः उपवेष्टाः तेषां वरम्) हृदय में आसीन होनेवालों में सबसे श्रेष्ठ हैं, **वृषभम्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले व शक्तिशाली हैं और **नर्यापसम्**=नरहितकारी कर्मोंवाले हैं, उनका कोई भी कार्य मनुष्य का अहित करनेवाला नहीं। २. ये प्रभु जो **वसुभिः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले **रुद्रैः**=(रोरुयमाणो द्रवति) अपने हृदयों में प्रभु-नामोच्चारण करते हुए कार्यों में लगे रहनेवाले **आदित्यैः**=सब ज्ञान-विज्ञान का आदान करके सूर्य की भाँति चमकनेवाले **सयुग्भिः**=मिलकर कार्य करनेवाले (सह युञ्जन्ति) पुरुषों से **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदत्**=(आसाद्यते) आसीन किये जाते हैं। प्रभु का निवास वसु, रुद्र व आदित्य जोकि परस्पर मेलवाले होते हैं उन्हीं के हृदयों में होता है, अतः हम भी इन्हीं में से एक बनने का प्रयत्न करें। प्रभु इनके साथ ही वासनाशून्य हृदय में बैठते हैं, (आसदत्) अतः मैं शरीर को नीरोग बनकार 'वसु' बनूँगा, सदा प्रभुस्मरणपूर्वक क्रिया में लगकर वासनाशून्य बनता हुआ 'रुद्र' बनूँगा और अपने हृदय को पवित्र बनाऊँगा, ज्ञान-विज्ञान का आदान करके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाला 'आदित्य' बनूँगा। ३. उपासक को चाहिए कि वह **'आज्यस्य'**=तेज का **वेतु**=अपने अन्दर पान करे। शक्ति को अपने में सुरक्षित रक्खे और इस प्रकार सब उत्तमताओं की अपने में नींव डाले। हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु के साथ अपना मेल बना। इसी उद्देश्य से दानी बन।

भावार्थ—प्रभु 'नर्यापस्' हैं, उनके सब कार्य जीव के लिए हितकर हैं। हम भी वसु, रुद्र व आदित्य बनकर प्रभु से मिलकर कार्य करनेवाले हों (सयुज्)। अपने में शक्ति का व्यापन करते हुए होता बनें और खूब दान देनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः।

ओजस्, वीर्य व सहस्

होता यक्षदोजो न वीर्यं सहो द्वारऽइन्द्रमवर्द्धयन्। सुप्रायणाऽअस्मिन् यज्ञे वि श्रयन्तामृतावृधो द्वारऽइन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥५॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला अथवा प्रभु का आह्वान करनेवाला (आह्वाता) **ओजः**=ओज को **न**=और **वीर्यम्**=वीर्य को, **सहः**=सहनशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करे, अर्थात् प्रभुस्मरण करते हुए तथा त्याग की वृत्ति को अपने में पनपाते हुए हम 'ओज, वीर्य व सहस्' को अपने में धारण करें। ३. ऐसा करने पर **द्वारः**=हमारे सभी इन्द्रियद्वार **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवर्धयन्**=बढ़ानेवाले होते हैं, अर्थात् सब इन्द्रियद्वारों

से प्रभु-पूजन चलता है और ये विषय-प्रवणता से दूर हो जाते हैं। ३. ये इन्द्रियद्वार **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट गमनवाले होकर **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **विश्रयन्ताम्**=विशिष्टरूप से (श्रि=सेवायाम्) सेवा करनेवाले हों। ४. **ऋतावृधः**=ये सदा ऋत का वर्धन करनेवाले **द्वारः**=नव इन्द्रियद्वार **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली **मीढुषे**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=शक्ति का पान करें, शक्ति को शरीर में सुरक्षित रक्खें। ५. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **यज**=उस प्रभु को अपने साथ संगत कर, खूब देनेवाला बन।

भावार्थ—हम अपने में ओजस्विता को धारण करें। हमारे इन्द्रियद्वार उस प्रभु का वर्धन करनेवाले हों। इनसे सत्य का ही पोषण हो और शक्ति का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उषासानक्ता—दोनों सन्ध्याकाल

होता यक्षदुषेऽइन्द्रस्य धेनू सुदुघे मातरा मही।
सवातरौ न तेजसा वत्समिन्द्रमवर्द्धतां वीतामाज्यस्य होतर्यज॥६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला अथवा प्रभु का आह्वाता पुरुष **उषे**=(नक्तोषासा) दोनों सन्ध्याकालों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। ये दोनों उषःकाल **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **धेनू**=आप्यायन करनेवाले हैं (धेट् अप्यायने) ये सब दोषों का दहन करके उसका वर्धन करते हैं (उष दाहे)। **सुदुघे**=इस प्रकार ये उत्तमता से उसका प्रपूरण करनेवाले हैं। **मातरा**=उसका निर्माण करनेवाले हैं। उसके जीवन को सुन्दर बनाते हैं। **मही**=ये उसके जीवन को महिमा-सम्पन्न करते हैं। २. ये उषःकाल इसके लिए **तेजसा**=तेजस्विता के द्वारा **सवातरौ न**=(स=समान, वात=वायु, र=गति) वायु के समान गतिवाले हैं, इसे वायु की भाँति क्रियाशील बनाते हैं। ३. इस प्रकार क्रियाशीलता के द्वारा **वत्सम्**=प्रभु के प्रिय अथवा वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय—असुरों का संहार करनेवाले पुरुष को **अवर्धताम्**=ये उषःकाल बढ़ाते हैं। ३. ये इसके लिए **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करनेवाले बनें और हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **यज**=तू अपने साथ प्रभु का मेल कर, अथवा इन उषःकालों को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—दोनों उषःकाल जीव का वर्धन, पूरण व निर्माण करनेवाले हों। ये इसे वायु के समान क्रियाशील बनाएँ। इसके लिए शक्ति का पान करनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो गोतमः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्राणापान (दैव्या होतारा)

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजा सखाया हविषेन्द्रं भिषज्यतः।
कवी देवौ प्रचेतसाविन्द्राय धत्तऽइन्द्रियं वीतामाज्यस्य होतर्यज॥७॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=प्राणापानों को (ऐ० २।४) **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। ये प्राणापान इसके **भिषजा**=वैद्य होते हैं, इसके रोगों को दूर करके **सखाया**=इसके मित्र बनते हैं अथवा ये प्राणापान परस्पर स्नेहवाले होते हैं। दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर कार्य करते हैं। २. ये प्राणापान **हविषा**=अग्निहोत्र के साथ— अग्निहोत्र में आहुत किये गये हव्य पदार्थों को श्वास द्वारा सूक्ष्मरूप में अपने अन्दर

लेने के द्वारा **इन्द्रम्**=जीव को **भिषज्यतः**=नीरोग करते हैं। ३. **कवी**=ये नीरोगता के द्वारा जीव को क्रान्तदर्शी बनाते हैं **देवौ**=दिव्य गुणोंवाला करते हैं, **प्रचेतसौ**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाते हैं। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये प्राणापान **इन्द्रियम्**=वीर्य को **धत्त**=धारण करते हैं। इस प्रकार ये प्राणापान इस जीवात्मा के लिए **आज्यस्य**=रेतस् का **वीताम्**=पान करें, इसकी शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले हों। ४. **होता**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=इन प्राणापानों को अपने साथ संगत कर अथवा दान देनेवाला बन और प्रभु को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—प्राणापान साधक को नीरोग करते हैं। ये उसे क्रान्तदर्शी, दिव्य गुणोंवाला और ज्ञानी बनाते हैं। प्राणापान हमारे रेतस् की ऊर्ध्वगति का साधन हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

हविष्मती इन्द्र पत्नियाँ

होता॑ यक्षत्ति॒स्रो दे॒वीर्न भे॑ष॒जं त्रय॑स्त्रि॒धात॑वो॒ऽपस॒ऽइडा॒ सर॑स्वती॒ भार॑ती म॒हीः।
इन्द्र॑पत्नीर्ह॒विष्म॑ती॒र्व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥८॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्रः देवीः**=तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जो देवियाँ **भेषजम्**=औषध हैं। **त्रयः**=(तिस्र) ये तीनों **त्रिधातवः**=शरीर, मन व बुद्धि को धारण करनेवाली हैं। **अपसः**=कर्मशील हैं, अर्थात् ये हमारे जीवन को क्रियाशील बनानेवाली हैं। २. ये देवियाँ क्रमशः **इडा-सरस्वती-भारती**=श्रद्धा, वाणी व मस्तिष्क में रहनेवाली विद्या की अधिदेवता तथा 'भारती' शरीर का सम्यक् भरण करने-वाली पोषण की देवता हैं। इनका क्रमशः मन, मस्तिष्क व शरीर में निवास है। ये सब **महीः**=महनीय हैं, हमारे जीवन को भी ये महनीय बनाती हैं। ३. **इन्द्रपत्नीः**=ये इन्द्र की पत्नियाँ, जीवात्मा की शक्तियाँ हैं। **हविष्मतीः**=हविवाली हैं। इनके कारण मनुष्य में देकर खाने की वृत्ति पैदा होती है। ४. ये तीनों देवियाँ **आज्यस्य व्यन्तु**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाली हों। **होतः**=देकर खानेवाले जीव! तू **यज**=इन देवियों को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—मन में श्रद्धा, मस्तिष्क में सरस्वती और शरीर में भारती—ये तीनों देवियाँ हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क का धारण करनेवाली हों। ये शरीर में शक्ति का पान करनेवाली हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

त्वष्टा

होता॑ यक्ष॒त्त्वष्टा॑र॒मिन्द्रं॑ दे॒वं भि॒षजं॑ꣳसु॒यजं॑ घृत॒श्रिय॑म्।
पु॒रु॒रूप॑ꣳ सु॒रेत॑सं म॒घोन॒मिन्द्रा॑य॒ त्वष्टा॒ दध॑दिन्द्रि॒याणि॒ वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥९॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **त्वष्टारम्**=देवशिल्पी, दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाले ज्ञान की दीप्तिवाले (तक्षतेः करोति कर्मणः) उत्तम कर्मों को करनेवाले प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जोकि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं। **देवम्**=दिव्य गुणों का पुञ्ज हैं। **भिषजम्**=हमारे सब रोगों के चिकित्सक हैं, प्रभु के नाम-स्मरण से रोगों का प्रतीकार होता है, इस नाम-स्मरण से रोग आते ही नहीं। **सुयजम्**=सुगमता से उपास्य व संगतिकरण योग्य हैं। **घृतश्रियम्**=दीप्तश्रीवाले हैं, **पुरुरूपम्**=विश्वरूप हैं, वेद में 'विश्वतश्चक्षुः' आदि शब्दों में इस पुरुरूपता का वर्णन द्रष्टव्य है। **सुरेतसम्**=उत्तम रेतस्वाले हैं तथा उनके

स्मरण से हमारा रेतस् पवित्र बना रहता है। **मघोनम्**=मघवान् हैं, सम्पूर्ण धनोंवाले हैं अथवा जो सम्पूर्ण यज्ञोंवाले हैं (मघ=मख)। २. **त्वष्टा**=यह दीप्त प्रभु **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियशक्तियों को **दधत्**=धारण करते हैं। होता बनकर जीव त्वष्टा को अपने साथ संगत करता है तो त्वष्टा उसे शक्तियाँ प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः यह त्वष्टा इस उपासक के हित के लिए **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, अर्थात् इस प्रभु-नाम-स्मरण से वासनाओं का विनाश होकर शक्ति का हममें सुरक्षण हो। हे **होतः**=प्रभु का आह्वान करनेवाले उपासक **यज**=तू यज्ञशील बन और प्रभु को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—वे प्रभु त्वष्टा हैं, हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं और सृष्टिनिर्माण आदि यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले हैं। उनके संग से सुरेतस् बनकर हम भी दिव्य गुण-सम्पन्न, ज्ञानदीप्त व यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

वनस्पति

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुं धियो जोष्टारमिन्द्रियम्। मध्वा समञ्जन् पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥१०॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **वनस्पतिम्**=ज्ञान-किरणों के रक्षक को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, **शमितारम्**=जो शम-प्रधान हैं, अपने उपासक को भी शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले हैं। **धियः जोष्टारम्**=बुद्धि व कर्म को प्रेरित करनेवाले हैं (सवितारम्—उ०)। **इन्द्रियम्**=जो वीर्यात्मक हैं 'वीर्यमसि'। २. ये प्रभु उपासक के **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **सुगेभिः पथिभिः**=शोभनगमनवाले मार्गों से **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करते हुए **मधुना घृतेन**=माधुर्य व दीप्ति से **स्वदाति**=स्वादवाला कर देते हैं, रसमय बना देते हैं। प्रभु-उपासक सदा सरल, कुटिलताशून्य, माधुर्ययुक्त और ज्ञान की दीप्तिवाला होता है। ३. ये वनस्पति—ज्ञानरश्मियों का पति प्रभु इस जीव के हित के लिए **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान कराएँ। प्रभु नाम-स्मरण से हमारी शक्ति की ऊर्ध्वगति हो। हे **होतः**=प्रभु का आह्वान करनेवाले उपासक! **यज**=तू उस प्रभु के साथ अपना मेल बना।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की किरणों के पति हैं, हमारे जीवनों को शान्त बनानेवाले हैं। जीवन में माधुर्य, दीप्ति व सरलता का सञ्चार करनेवाले हैं। उस प्रभु के स्मरण से हम शक्ति को अपने में सुरक्षित करें और जीवन को मधुर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

आज्य-मेदस्

होता यक्षदिन्द्रꣳस्वाहाज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳस्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳस्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवाऽआज्यपा जुषाणाऽइन्द्रऽआज्यस्य व्यन्तु होतर्यज॥११॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करे। २. इस प्रभु से मेल करनेवाले के जीवन में **स्वाहा**=(स्व=हा) स्वार्थ त्याग करनेवाले **देवाः**=देव, अर्थात् प्राणादि पाँच मरुत् जो **आज्यपाः**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाले हैं। **जुषाणाः**=ये आत्मा का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, इनके साथ **इन्द्रः**=

स्वयं जीवात्मा **आज्यस्य**=शक्ति का **व्यन्तु**=पान करे, इसलिए हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=प्रभु से मेल कर। ३. ये सब देव **आज्यस्य**=घृत का **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना के साथ **व्यन्तु**=पान करें। **मेदसः स्वाहा**=औषध के गुणोंवाले (medicinal properties) या शरीर को कुछ स्थूल करनेवाले पदार्थों को **स्वाहा**=स्वार्थत्याग के साथ **व्यन्तु**=पान करें, अर्थात् सारे घृत व मेदस् को स्वयं ही न खालें, अपितु त्याग करके बचे हुए को खानेवाले बनें। ४. **स्तोकानाम्**=सोम के कणों का **स्वाहा**=स्व में—अपने में आहुति देते हुए पान करें। इन वीर्यकणों को नष्ट न होने दें। **स्वाहाकृतीनाम्**=(प्राणा वै स्वाहाकृतयः। —कौ० १०।५) प्राणों का **स्वाहा**=स्व में आहुति देते हुए **व्यन्तु**=पान करें अथवा अपने में प्राणाशक्ति का विकास करें (वी=प्रजनन)। **हव्यसूक्तीनाम्**=प्रभु को पुकारने के लिए मधुर वचनों का **स्वाहा**=अपने में आहुति देते हुए पान करें, अर्थात् वीर्यकणों को, प्राणशक्ति को तथा प्रभु को पुकारने के पवित्र पदों को अपने में धारण करें।

भावार्थ—होता प्रभु के साथ अपना मेल करें। घृत आदि पदार्थों का त्यागभावना से उपभोग करें। अपने में वीर्यकणों को, प्राणाशक्ति को तथा मधुर प्रार्थना व शक्तियों को आहुत करे, अर्थात् इनको धारण करें।

सूचना—ये ११ मन्त्र 'प्रयाजप्रैष' कहाते हैं, अर्थात् वे प्रैष=प्रकृष्ट प्रेरणा के मन्त्र जो प्रयाज=जीव व प्रभु के महान् संगतिकरण का उल्लेख करते हैं। अब ११ अनुयाजप्रैषों का उल्लेख है। इनमें 'वसुवने' धन के सेवन का उल्लेख है और साथ ही यह भी कहा है कि वसुधेय=वसुओं के आधारभूत उस प्रभु के साथ यज=मेल बनाना आवश्यक है।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवं बर्हिः=दिव्य हृदय

दे॒वं ब॒र्हिरिन्द्र॑ꣳसुदे॒वं दे॒वैर्वी॒रव॑त् स्ती॒र्णं वेद्या॑मवर्द्धयत्।
वस्तो॑र्वृ॒तं प्राक्तो॑र्भृ॒तꣳरा॒या ब॒र्हिष्म॒तोऽत्य॑गाद्व॒सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥१२॥

१. **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **सुदेवम्**=जो दिव्य गुणोंवाला बना है, **अवर्धयत्**=बढ़ाता है, अर्थात् दिव्य, वासनाशून्य हृदय जितेन्द्रिय पुरुष की वृद्धि का कारण बनता है। २. कैसा हृदय? (क) **वस्तोः**=दिन में **वेद्याम्**=यज्ञवेदि में **वृतम्**=जिसका वरण किया गया है, अर्थात् सम्पूर्ण दिन जो यज्ञात्मक कर्मों की भावना से ही युक्त रहा है। (ख) **अक्तोः**=रात्रि में जो **प्रभृतम्**=प्रकृष्ट रूप से धारण किया गया है, अर्थात् रात्रि के समय सुषुप्ति में पहुँचकर जो आनन्द की स्थिति में स्थापित हुआ है और जो **राया**=दान दिये जानेवाले धन के द्वारा **बर्हिष्मतः**=अन्य वासनाशून्य हृदयवालों को **अत्यगात्**=लाँघ गया है, अर्थात् वासनाशून्य हृदयवालों में भी जो अधिक वासनाशून्य बना है। ३. ऐसा यह दिव्य, क्रीडक की भावना sportsman like spirit वाला हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का भी **वेतु**=(वी=प्रजनन) अपने में विकास करें, प्रभु का भी स्मरण करें। यह संसार धन के बिना तो चलता ही नहीं, अतः यह धन का सेवन बेशक करे, परन्तु धन के आधारभूत प्रभु को भूल न जाए। ४. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू इस प्रकार धन के साथ उस प्रभु को भी याद करता हुआ अपने जीवन को यज्ञशील बना, प्रभु से तेरा संगतिकरण हो (यज=संगतिकरण)। ५. इन 'अनुयाजप्रैष' मन्त्रों के ऋषि 'अश्विनौ' हैं, पति-पत्नी। स्पष्ट है कि गृहस्थ में धनार्जन करते हुए इन्होंने प्रभु को भूलना नहीं और प्रभु-स्मरण के साथ (अश् व्याप्तौ) उत्तम कर्मों

में लगे रहना है।

भावार्थ—हम अपने हृदयों को दिव्य बनाएँ। यह हृदय धनार्जन का ध्यान करता हुआ प्रभु का भी स्मरण करे।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवीः द्वारः=दिव्य इन्द्रियद्वार

देवीर्द्वारऽइन्द्रꣳसङ्घाते वीड्वीर्यामन्नवर्द्धयन्। आ वत्सेन तरुणेन कुमारेण च मीवतापार्वाणꣳरेणुककाटं नुदन्तां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥१३॥

१. **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले, जीवन-यात्रा में सारे व्यवहारों के साधक (दिव् व्यवहार), **द्वारः**=इन्द्रियद्वार, जो अलग-अलग भी बड़े प्रबल हैं, परन्तु **संघाते**=एक समूह के रूप में हो जाने पर तो **वीड्वीः**=अत्यन्त प्रबल हैं, हमें कुचल डालनेवाले हैं। ये इन्द्रियद्वार **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **यामन्**= जीवन-यात्रा में **अवर्धयन्**=बढ़ानेवाले होते हैं। 'अजितेन्द्रिय पुरुष' इन इन्द्रियों से कुचला जाता है तो जितेन्द्रिय को ये इन्द्रियाँ सिद्धि प्राप्त करानेवाली होती हैं। २. ये इन्द्रियाँ **वत्सेन**=(वदति इति) प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले, **तरुणेन**=वासनाओं व विघ्नों को तैर जानेवाले, **कुमारेण**=(कु-मार) सब कुत्सित वृत्तियों को नष्ट कर डालनेवाले अथवा (कुमार क्रीडायाम्)=एक क्रीडक की मनोवृत्तिवाले **मीवता**=शत्रुओं की हिंसा करनेवाले (मी=हिंसायाम्) इस इन्द्र के साथ ये इन्द्रियाँ **अर्वाणम्**=(अर्व् to kill) नष्ट कर डालनेवाले अथवा 'अर्यते यत्र' जिसकी ओर अज्ञानवश जाया जाता है, उस **रेणुककाटम्**=धूलि से आच्छादित विषयकूप को **अपनुदन्ताम्**=अपने से दूर कर दें, अर्थात् संसार के ये विषय उस कुएँ के समान हैं जोकि ऊपर धूलि से आच्छन्न होने के कारण सामान्य भूमि के रूप में दिखता है और आकर्षक होने के कारण इन्द्रियों की उधर आने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और उधर जाने पर हम इस कुएँ में गिरते हैं और समाप्त हो जाते हैं। चाहिए यह कि हम इस कुएँ से बचें—हमारे इन्द्रियद्वार इस ओर न जाएँ। यह होगा तभी जबकि इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव सदा प्रभु-नाम का उच्चारण करे (वत्स), वासनाओं को तैरने के लिए यत्नशील हो (तरुण), संसार में एक क्रीडक की मनोवृत्ति को अपने में विकसित करे (कुमार) तथा सदा बुराइयों के संहार में लगा रहे (मीवता) ३. विषयवासनारूप कूप को दूर से ही छोड़नेवाले ये इन्द्रियद्वार **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **व्यन्तु**=विकास करें, अर्थात् प्रभु का खूब ही स्मरण करें। ४. इस प्रकार हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन, उस प्रभु से मेल करनेवाला बन, इसीलिए तू धन का दान कर। दान ही यज्ञ का उत्कृष्ट रूप है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, विषय-वासनाओं के तृणाच्छन्न कूप के समान हैं। हम प्रभु-नामस्मरण करते हुए इन्द्रियों को इस कूएँ में गिरने से बचाएँ। धन कमाएँ, परन्तु प्रभु को न भूलें और धन का दान करनेवाले हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अहोरात्रे**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवी उषासानक्ता

देवीऽउषासानक्तेन्द्रं यज्ञे प्रयत्यह्वेताम्।
दैवीर्विशः प्रायासिष्टाꣳसुप्रीते सुधिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१४॥

१. **उषासानक्ता**=उषःकाल व रात्रि दोनों **देवी**=हमारे लिए दिव्य गुणों को लिये हुए हों और ये **प्रयति यज्ञे**=इस चल रहे जीवन-यज्ञ में, अर्थात् वर्त्तमान जीवनयात्रा में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अह्वेताम्**=पुकारें, अर्थात् हम प्रातः-सायं उस प्रभु का स्मरण करें, वस्तुतः तभी यह जीवनयात्रा सुचारुरूपेण चलती है। २. इस जीवनयात्रा में **दैवीर्विशः**=दिव्य गुणोंवाली, प्रभु की ओर चलनेवाली अथवा ज्ञान से दीप्त दानशील प्रजाओं की ओर ही **प्रायासिष्टाम्**=प्रकर्षेण जानेवाले हों, अर्थात् हम सदा उत्तम संगवाले हों, जैसा हमारा संग होगा वैसे ही तो हम बनेंगे। ३. हमारे ये दिन-रात **सुप्रीते**=अत्यन्त सन्तोष से युक्त हुए-हुए (अतितुष्टे) **सुधिते**=(सुतारां हिते) अत्यन्त हितकारी बने हुए **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=विकास व प्रादुर्भाव करें, अर्थात् हम दिन-रात सन्तोष की वृत्तिवाले बनकर हितकर कार्यों में लगे हुए धनार्जन करें, परन्तु उस धनों के स्वामी को भूल न जाएँ। ४. हे जीव! तू **यज**=उस प्रभु से मेल करनेवाला बन।

भावार्थ—हम दिन-रात इस जीवनयात्रा को चलाते हुए उस प्रभु का स्मरण करें। उत्तम वृत्तिवाले लोगों से ही अपना मेल बनाएँ, सन्तुष्ट बनकर हितकारी कार्यों में लगे हुए धनार्जन करें, परन्तु प्रभु को भूलें नहीं। यज्ञशील हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवी जोष्ट्री (अहोरात्रे)

दे॒वी जोष्ट्री॒ वसु॑धिती दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धताम्। अया॑व्य॒न्याघा द्वेषा॒ᳪंस्यान्या व॑क्ष॒द्वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒ते व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वी॒तां यज॥१५॥

१. यहाँ 'जोष्ट्री' शब्द अहोरात्र के लिए आया है। ये अहोरात्र परस्पर एक-दूसरे का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, दोनों के लिए 'दिन व रात' अलग-अलग शब्दों का प्रयोग भी होता है—'रात्रिन्दिवं, नक्तन्दिवं, अहोरात्र' आदि शब्दों में द्वन्द्वात्मक प्रयोग तो इनका है ही। ये दोनों **देवी**=दिव्य गुणोंवाले हैं, इस दिव्यता का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में ही आगे है। ये **वसुधिती**=सब निवासक तत्त्वों का धारण करनेवाले हैं। ये **देवम्**=देव वृत्तिवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं, उसकी उन्नति का कारण बनते हैं। आसुर वृत्तिवाले तो इन दिन-रोतों में भोगमय जीवन बिताते हुए अपना ह्रास कर बैठते हैं। २. इनमें से **अन्या**=एक 'रात्रि' **अघा**=पापों को व **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अयावि**=हमसे पृथक् करती है। रात्रि में सो जाने पर पाप व द्वेष विस्मृत हो जाते हैं। महानिद्रा व मृत्यु की व्यवस्था भी इन राग-द्वेषों को भुलाने के लिए ही हुई है। हम महानिद्रा में जाकर इन द्वेषों व पापवृत्तियों को बिल्कुल भूल जाते हैं। ३. **अन्या**=दूसरा यह 'दिन' **वार्याणि वसु**=(वसूनि) वरणीय धनों को **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए, उत्तम कर्मों में लगे हुए पुरुष के लिए **आवक्षत्**=प्राप्त कराता है। दिन में हम सुपथ से, उत्तम मार्ग से धन कमानेवाले होते हैं। ४. इस प्रकार **शिक्षिते**=द्वेष व पाप के अपनयन (दूर करने में) में तथा वरणीय वसुओं के प्रापण में सधे हुए (trained) ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा को **वीताम्**=प्रकाशित करें, आविर्भूत करें, अर्थात् हम प्रभु को भूलें नहीं। ५. हे जीव! तू **यज**=इस प्रकार प्रभु से अपना मेल बना, यज्ञशील बन, दान दे।

भावार्थ—रात्रि हमें सब द्वेषों व पापों को भुला देती है। दिन हमें वरणीय धनों के प्रापण में सहायक होता है। ये हमें धन प्राप्त कराते हुए प्रभु का भी स्मरण कराएँ।

ऋषिः—अश्विनौ। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगाकृतिः। स्वरः—निषादः।

देवी ऊर्जाहुती (द्यावापृथिव्यौ)

देवीऽऊर्जाहुति दुघे सुदुघे पयसेन्द्रमवर्द्धताम्। इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिꣳसपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमाने पुराणेन नवमधातामूर्जमूर्जाहुतीऽऊर्जयमाने वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१६॥

१. यहाँ 'ऊर्जाहुती' शब्द द्युलोक व पृथिवीलोक के लिए आया है (नि० ९।४२)। ये हममें 'ऊर्ज्' की आहुति देनेवाले हैं। इन्हीं से अन्न व रस के द्वारा बल व प्राणशक्ति प्राप्त करायी जाती है, अतएव ये **देवी**=दिव्य गुणोंवाले अथवा बल व प्राणशक्ति को देनेवाले हैं। वे **दुघे**=अन्न व रस के द्वारा हमारा पूरण करनेवाले हैं (दुह प्रपूरणे), **सुदुघे**=बड़ी उत्तमता से ये हमारा पूरण करनेवाले हैं। ये दोनों **पयसा**=आप्यायन व वर्धन के कारणभूत रस से **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. इनमें से **अन्या**=दूसरा पितृस्थानापन्न द्युलोक **सग्धिम्**=सहभोजन को तथा **सपीतिम्**=सहपान को प्राप्त कराता है। पृथिवी से उत्पन्न हुए-हुए अन्न को उस-उस भूमि के स्वामी अपना समझते हैं और स्वयं खाते हैं, परन्तु द्युलोक से होनेवाली वृष्टि पर व्यक्ति का अधिकार नहीं, इसमें बहनेवाली हवा को सभी श्वासवायु के साथ अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार द्युलोक सपीति व सग्धि को प्राप्त कराता है। ३. ये द्यावापृथिवी **नवेन**=नव अन्न से **पूर्वं ऊर्जम्**=पुराने अन्न की **दयमाने**=रक्षा करते हैं और **पुराणेन**=पुराने से **नवं ऊर्जम्**=नये अन्न को **अधाताम्**=धारण करते हैं। कई बार चावल इत्यादि कुछ देर तक रखने आवश्यक हो जाते हैं, उसे पुराने अन्न में कुछ औषधगुणों की अधिकता हो जाती है, परन्तु नये चावल न आएँ तो पुराने को समाप्त करना पड़ जाता है, परन्तु द्युलोक व पृथिवीलोक नये धान्य को पैदा करके पुराने का रक्षण कर देते हैं और यह तो स्पष्ट ही है कि पुराने को बोकर हम नये धान को प्राप्त करते हैं। ४. इस प्रकार **ऊर्जयमाने**=ऊर्जा को बढ़ाते हुए **ऊर्जाहुती**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वार्याणि वसु**=वरणीय धनों को (अधाताम्) धारण करते हैं। ५. इस प्रकार **शिक्षिते**=नव से पुराने की रक्षा व पुराने से नव का धारण तथा यजमान के लिए वरणीय वसुओं के प्रापण की शिक्षा को पाये हुए ये द्यावापृथिवी **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=सब धनों के आधारभूत उस प्रभु का **वीताम्**=अपने में प्रजनन व प्रादुर्भाव करें। हे जीव! तू **यज**=उस प्रभु को अपने साथ संगत करनेवाला बन। धन को प्राप्त कर तथा उस धन का दान देनेवाला बन।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिए उत्तम अन्नों का दोहन करनेवाले हों। ये यज्ञशील को वार्य वसु प्राप्त कराएँ। इनसे धनों को प्राप्त करते हुए हम धनों के आधारभूत प्रभु को न भूल जाएँ।

ऋषिः—अश्विनौ। देवता—अश्विनौ। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

दैव्या होतारौ

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रमवर्द्धताम्। हताघशꣳसावाभार्ष्टां वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षितौ वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१७॥

१. ऐ० २।४ के अनुसार प्राणापान 'दैव्य होता' हैं। ये **देवाः**=दिव्य गुणयुक्त व शरीर के सारे व्यवहारों के साधक हैं। ये दोनों **दैव्या होतारा**=प्राणापान **देवम्**=दिव्य गुणोंवाले,

काम-क्रोधादि की विजिगीषावाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं। सब प्रकार की उन्नति का निर्भर इन्हीं पर है। इनकी साधना से ही मन की वृत्ति को भी हमने वश में करना है। वशीभूत मन हमारे मोक्ष तक का साधक बनता है, अतः प्राणापान सचमुच हमारा उत्तम वर्धन करते हैं। २. **हता अघशंसौ**=अघ व पाप के शंसन (प्रशंसन) को जिन्होंने नष्ट किया है। प्राणासाधना होने पर पाप पाप के रूप में दिखते हैं। उनका चमकीला रूप हमें लुब्ध नहीं कर पाता। ऐसे ये प्राणापान **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वार्याणि वसु**=(वसूनि) वरणीय धनों को **आभार्ष्टाम्**=प्राप्त कराएँ (आहृतवन्तौ)। ३. **शिक्षितौ**=इस प्रकार यज्ञशील के लिए उत्तम धन देने के लिए अभ्यस्त ये प्राणापान **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=अपने में विकास करें और हे जीव! तू **यज**=इन प्राणापान को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमारे दृष्टिकोण को शुद्ध करे। हम पाप को पाप के ही रूप में देखें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

तीन देवताएँ

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्द्धयन्। अस्पृक्षद्भारती दिवंरुद्रैर्यज्ञं सरस्वतीडा वसुमती गृहान्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥१८॥

१. **तिस्रः देवीः**=भारती, सरस्वती व इडा नामक तीन देवियाँ, जो **तिस्रः**=तीनों की तीनों **देवीः**=द्युति—ज्ञानदीप्ति व दानवृत्ति को हमें प्राप्त करानेवाली हैं, ये देवियाँ **पतिम् इन्द्रम्**=काम-क्रोधादि को वश में करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयन्**=बढ़ाती हैं। २. इस रक्षक जीव को **दिवम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **भारती**=(भरत आदित्यः, तस्य भा भारती) हमारा धारण करनेवाली ये सूर्य की किरणें **अस्पृक्षत्**=छूती हैं ३. **रुद्रैः**=(रोरुयमाणो द्रवति—नि०) उस प्रभु के नामोच्चारण के साथ क्रिया में लगे रहने के साथ **सरस्वती**=शिक्षा की अधिदेवता **यज्ञम्**=आत्मा के इन्द्रियों के साथ संगतिकरण करानेवाले मन को (हृदयान्तरिक्ष को) छूती है तथा ४. यह **वसुमती**=सब वसुओं को देनेवाली **इडा**=श्रद्धा **गृहान्** =हमारे इन शरीररूपी घरों को छूती है, अर्थात् इन तीन देवियों के अनुग्रह से हमारा मस्तिष्क, मन व गृहरूप शरीर सब सुन्दर बन जाते हैं। ५. ये तीनों देवियाँ **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=उस धन के आधारभूत प्रभु को **व्यन्तु**=विकसित करें, उसकी भावना को अपने में जागरित करें, अर्थात् प्रभु को भूलें नहीं। **यज**=हे जीव! तू इन देवियों को अपने साथ संगत कर अथवा प्रभु के साथ अपना मेल बना और उसके लिए दानशील बन।

भावार्थ—हम 'भारती, सरस्वती व इडा' इन देवियों के पति बनें। इनसे हमारे मस्तिष्क, मन व शरीररूप गृह सुभूषित हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

त्रिवरूथ-त्रिबन्धुर

देवऽइन्द्रो नराशंसस्त्रिवरूथस्त्रिबन्धुरो देवमिन्द्रमवर्द्धयत्। शतेन शितिपृष्ठानामाहितः सहस्रेण प्र वर्त्तते मित्रावरुणेदस्य होत्रमर्हतो बृहस्पति स्तोत्रमश्विनाध्वर्यवं वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥१९॥

१. **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज, **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली, **नराशंसः**=मनुष्यों से स्तुति करने योग्य, **त्रिवरूथः**=शरीर (इन्द्रियाँ), मन व बुद्धि को सुरक्षित करनेवाला (वरूथ=cover) अथवा भौतिक सम्पत्ति—शारीरिक बलरूप सम्पत्ति तथा मस्तिष्क के ज्ञानरूप धन को देनेवाला (वरूथ=wealth) **त्रिवन्धुरः**=पृथिवीलोक, द्युलोक व अन्तरिक्षलोक को परस्पर बाँधनेवाला वह प्रभु **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। २. यह प्रभु **शितिपृष्ठानां शतेन**=(शितयः तीक्ष्णाः पृष्ठः=प्रच्छ जिज्ञासायाम्') तीव्र जिज्ञासाओं के सैकड़ों से **आहितः**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के हृदय में स्थापित होता है, अर्थात् जब हमें निरन्तर प्रभु की जिज्ञासा होती है तभी हमें हृदयों में उस प्रभु का आभास मिलता है। ३. **सहस्रेण प्रवर्त्तते**=वे प्रभु हज़ारों प्रकार से अपने कार्य को कर रहे हैं। ४. **मित्रावरुणा इत्**=मित्र और वरुण ही, अर्थात् सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के निवारणवाले पुरुष ही **अस्य**=इस प्रभु के **होत्रम्**=होतृकार्य के **अर्हतः**=योग्य होते हैं। इन्हीं को इस प्रभु के आह्वान का अधिकार है। प्रभु की सच्ची प्रार्थना वही करता है जो सबके साथ स्नेह से रहता है और द्वेष नहीं करता। ५. **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति ही **स्तोत्रम्**=इस प्रभु के स्तवन का अधिकारी है तथा **अश्विनौ**=प्राणापान **आध्वर्यवम्**=इस जीवनयज्ञ के कार्य-सञ्चालन के सम्यक्तया योग्य होते हैं। प्राणापान के ठीक होने पर ही जीवन सुचारुरूपेण चलता है। ६. **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु को **वेतु**=मनुष्य अपने में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करे। **यज**=हे जीव! इस प्रकार तू उस प्रभु से अपना मेल कर, उसके लिए दान देनेवाला बन।

भावार्थ—हम 'त्रिवरूथ-त्रिबन्धुर' प्रभु का स्मरण करें। विज्ञान के अध्ययन में जिज्ञासाओं के द्वारा प्रभु-भावना का हममें उदय हो। धन का सञ्चय करते हुए वस्तुतः धनों के स्वामी उस प्रभु को हम न भूलें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—इन्द्रः। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—पञ्चमः।

मधुशाखः सुपिप्पलः (यह संसार-वृक्ष)

दे॒वो दे॒वैर्वन॒स्पति॒र्हिर॑ण्यपर्णो॒ मधु॑शाखः सुपिप्प॒लो दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत्।
दिव॒मग्रे॑णास्पृक्ष॒दान्तरि॑क्षं पृथि॒वीम॑दृꣳहीद्वसुवने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥२०॥

१. **देवः**=सब व्यवहारों का साधक, **हिरण्यपर्णः**=हितरमणीय पालन व पूरण करनेवाला (सुनहले पत्तोंवाला), **मधुशाखः**=माधुर्यमयी शाखाओंवाला **सुपिप्पलः**=उत्तम फलवाला **वनस्पतिः**=सौन्दर्य, यश व धन (loveliness, glory, wealth) का रक्षक यह संसार-वृक्ष **देवैः**=अपने 'अग्नि, वायु सूर्य' आदि देवों से **देवम्**=ज्ञान की दीप्ति प्राप्त करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। यह संसार एक वृक्ष है। यह हमें सब आवश्यक वस्तुओं को देकर (देवो दानात्) हमारे सब जीवन-व्यवहारों का साधक है (व्यवहार=दिव्), अतः 'देव' है। यह सुन्दरता व हितपूर्वक हमारा पालन करने से 'हिरण्यपर्ण' है। इसकी विविध योनिरूप शाखाओं में हमारे लिए माधुर्य निहित है। गौ हमें दूध देती है। घोड़ा हमारे व्यायाम व आने-जाने का साधन बनता है, भेड़ हमें ऊन प्राप्त कराती है, बकरी सर्वरोगापहारी दूध देती हुई पशम देती है। इस प्रकार ये विविध शाखाएँ हमारे जीवन को मधुर बना रही हैं। मधुर फलोंवाला तो यह वृक्ष है ही। इस संसार-वृक्ष के सूर्यादि सब देव जितेन्द्रिय पुरुष की उन्नति का कारण बनते हैं। २. यह संसार-वृक्ष **अग्रेण**=अग्रभाग से **दिवम्**=द्युलोक को **अस्पृक्षत्**=छूता है, अर्थात् इसका एक प्रान्त (सिरा)

द्युलोक है तो यह **आ अन्तरक्षिम्**=चारों ओर इस अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है और **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अदृंहीत्**=दृढ़ बना रहा है। इसका मध्यभाग अन्तरिक्ष है और इसका (उपरेण) दूसरा सिरा यह दृढ़ पृथिवीलोक है। इस प्रकार त्रिलोकी से बना हुआ यह संसारवृक्ष है। ३. यह संसार-वृक्ष **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य वेतु**=धन के आधारभूत उस प्रभु का प्रजनन=प्रादुर्भाव करनेवाला हो। **यज**=हे जीव! तू उस प्रभु से अपना मेल करनेवाला बन। एतदर्थ तू यज्ञशील हो, दान देनेवाला बन।

भावार्थ—यह 'हिरण्यपर्ण मधुशाख, सुपिप्पल' संसारवृक्ष हमारे लिए वर्धन का कारण बने। धन के सेवन में धन के आधारभूत प्रभु का प्रादुर्भाव करनेवाला हो।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवं बर्हिः

दे॒वं ब॒र्हिर्वारि॑तीनां दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत्।

स्वा॒स॒स्थमिन्द्रे॒णास॑न्नम॒न्या ब॒र्हीᳪंष्य॒भ्य॒भूद्व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥२१॥

१. **वारितीनाम्**='वे प्रभु वरणीय हैं, उस प्रभु में (वारि इतिर्गतिर्येषां) **इति**=गतिवाले, विचरनेवाले, प्रभुभक्तों का **देवम् बर्हिः**=दिव्य गुणों से पूर्ण प्रकाशमय, वासनाशून्य हृदय **देवम्**=दानशील, द्युतिवाले, अपनी ज्ञानज्योति से औरों का दीपन करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। वस्तुतः वासनाशून्य हृदय हमारी सब उन्नतियों का साधक है। २. यह वासनाशून्य हृदय उस जीव को बढ़ाता है जो **स्वासस्थम्**=(सुखेन आसनेन तिष्ठति) सदा सुखासन पर स्थित होने का अभ्यास करता है, सब इन्द्रियों को उत्तम बनानेवाले (सु) आसनों को करता है (आस+स्थ), और इन आसनों का अभ्यास करते हुए **इन्द्रेण आसन्नम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का समीपस्थ उपासक बनता है। ३. इस प्रकार 'आसनों का अभ्यास' व 'प्रभु का उपासन' करने से यह **अन्या बर्हीषि**=अन्य निर्वासन हृदयों को **अभ्यभूत्**=जीत लेता है, उनका अभिभव करनेवाला होता है, अर्थात् इसका हृदय सबसे अधिक वासनाशून्य हो जाता है। ४. यह वासनाशून्य हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=प्रजानन व प्रादुर्भाव करे, अर्थात् धन के अन्दर विचरण करते हुए भी प्रभु को भूल न जाए। **यज**=हे जीव! तू यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना सम्पर्क बना।

भावार्थ—आसनों के अभ्यास व उपासना से हमारा हृदय वासनाशून्य हो। यह हृदय प्रभु को कभी भुलानेवाला न हो।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

स्विष्टकृद् अग्निः

दे॒वोऽअ॒ग्निः स्वि॑ष्ट॒कृद्दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत्।

स्वि॑ष्टं कु॒र्वन्त्स्वि॑ष्ट॒कृत् स्वि॑ष्टम॒द्य क॑रोतु नो वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥२२॥

१. यह **अग्निः**=यज्ञ में समाहित किया गया अग्नि **देवः**=हमें सब कुछ देनेवाला है, रोगादि के निवारण से दिव्य गुणोंवाला है। **स्विष्टकृत्**=यह हमारे सब उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला है (एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्)। यह यज्ञाग्नि **देवम्**=यज्ञादि उत्तम व्यवहारों के करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है, उसकी उन्नति का कारण बनता है। २. **स्विष्टम् कुर्वन्**=हमारे उत्तम इष्टों को सिद्ध करता हुआ **स्विष्टकृत्**=यह कल्याण

करता हुआ अग्नि **अद्य**=आज हमारे **स्विष्टम्**=उत्तम इष्ट को **करोतु**=सिद्ध करे, यह हमें नीरोगता व सौमनस्य को देनेवाला हो। ३. **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत, सब धनों के स्वामी उस प्रभु को **वेतु**=हममें प्रादुर्भूत करे। **यज**=हे जीव! तू उस प्रभु के साथ सम्पर्क बनानेवाला हो, यज्ञशील बन, दान देनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्रतिदिन अग्निहोत्र में अग्न्याधान करते हुए अपने इष्ट नैरोग्य व सौमनस्य को सिद्ध करें। संसार में विचरते हुए प्रभु को भूल न जाएँ। सदा यज्ञशील बने रहें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

छाग बन्धन

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय छागम्। सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय छागेन। अघत्तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन॥ २३॥

१. **अयम्**=इस **यजमानः**=यज्ञ के स्वभाववाले व्यक्ति ने **अद्य**=आज **होतारम्**=इस सृष्टि के सर्वोत्तम पदार्थों को देनेवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **अवृणीत**=वरण किया है। यह **पंक्तिः पचन्**=पक्तव्य पदार्थों का परिपाक कर रहा है। इसने शरीर को दृढ़ बनाया है और मस्तिष्क को ज्ञान से परिपक्व किया है। **पुरोडाशम् पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः। —कौ० १३.५) इसने अपनी आत्मा का भी ठीक परिपाक किया है। आध्यात्मिकता का पोषण ही आत्मा का परिपाक है। **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के विकास के लिए **छागम् बध्नन्**=वासनाओं के छेदन-भेदन का प्रबन्ध किया है। वासनाओं के छेदन से ही आत्मशक्ति का विकास होता है। ३. **छागेन**=इस वासनाओं के छेदन-भेदन में **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **अद्यः** आज=वासना विनाश हो जाने पर **देवः**=वह ज्योतिर्मय **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति प्रभु **सूपस्था**=सुगमता से उपस्थान के योग्य **अभवत्**=हो गया है। वासनाओं ने ही वस्तुतः ज्ञान पर वह परदा डाला हुआ था, जिससे हमें उस प्रभु की ज्योति का दर्शन नहीं हो रहा था। ४. आज वासना-विनाश द्वारा प्रभु-दर्शन होने पर यह भक्त **तम्**=उस प्रभु को **मेदस्तः**=बड़े स्नेह से **अघत्**=खाता है, अर्थात् अपने अन्दर ग्रहण करता है। वस्तुतः यह प्रभु का, ब्रह्म का भक्षण ही 'ब्रह्मचर्य' है, ब्रह्म का चरना। ५. **प्रतिपचता**=इसी उद्देश्य से इसने एक-एक शक्ति का ठीक से परिपाक किया है। **अग्रभीत्**=उन शक्तियों का इसने ग्रहण किया है और **पुरोडाशेन**=आत्मभाव से **अवीवृधत्**=बढ़ा है।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष प्रभु का ही वरण करता है। वासना-विनाश से वह प्रभु सुगमता से उपस्थान के योग्य होता है। वह अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करता है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ऋषि गौः

होता यक्षत्समिधानं महद्यशः सुसमिद्धं वरेण्यमग्निमिन्द्रं वयोधसम्।
गायत्रीं छन्दऽइन्द्रियं त्र्यविं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वासना को विनष्ट करनेवाला व्यक्ति ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है। विद्या की अधिदेवता को अपनानेवाला यह व्यक्ति 'सरस्वती' नामवाला हो जाता है। यह **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता

है, जो (क) **समिधानम्**=सूर्यादि सब लोक-लोकान्तरों को दीप्त कर रहे हैं, (ख) **महद्यशः**=महनीय यशवाले हैं, (ग) **सुसमिद्धम्**=ज्ञान से सम्यक् दीप्त हैं, (घ) **वरेण्यम्**=वरने के योग्य हैं, प्रकृति की तुलना में प्रभु का ही वरण ठीक है प्रकृति-वरण से प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु प्रभु-वरण से प्रकृति तो मिल ही जाती है, (ङ) **अग्निम्**=वे प्रभु हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (छ) **वयोधसम्**=हममें उत्कृष्ट आयु को धारण करनेवाले हैं। २. इस होता को चाहिए कि (क) **गायत्रीम् छन्दः**=प्राणरक्षा की (गयाः प्रणाः, तान् तत्रे) प्रबल इच्छा को, (ख) **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को, (ग) **त्र्यविम्**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को, (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करता हुआ **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, शक्ति को अपने में सुरक्षित करे। शक्ति की रक्षा से ही प्राणरक्षा होगी, इन्द्रियों का सामर्थ्य प्राप्त होगा, शरीर, मन व बुद्धि तीनों का रक्षण होगा और जीवन उत्कृष्ट बनेगा। ४. **होतः**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! **यज**=तू यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हम होता बनकर देदीप्यमान प्रभु से अपना मेल बनाएँ। प्राणरक्षा की हमारी प्रबल कामना हो, शरीर, मन व बुद्धि की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को हम अपनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

दित्यवाट् गौः

होता यक्षत्तनूनपातमुद्भिदं यं गर्भमदितिर्दधे शुचिमिन्द्रं वयोधसम्।
उष्णिहं छन्दऽइन्द्रियं दित्यवाहं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥२५॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, उस प्रभु को, जो—(क) **तनूनपातम्**=हमारे शरीर व शक्तियों के विकास को न गिरने देनेवाले हैं, प्रभु स्मरण से शरीर स्वस्थ बना रहता है, (ख) **उद्भिदम्**=वे प्रभु सब विघ्नों को विदीर्ण करके हमारा उत्थान करनेवाले हैं, (ग) ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अदितिः**=न खण्डित होनेवाला, अपने शरीर व मन को रोगों व वासनाओं से आक्रान्त न होने देनेवाला **गर्भं दधे**=अपने में गर्भरूप से धारण करता है, अर्थात् प्रभु का निवास अदिति में होता है, उस पुरुष में जोकि रोगों व वासनाओं से खण्डित न हो, (घ) **शुचिम्**=वे प्रभु पूर्ण पवित्र हैं, हमें पवित्र बनानेवाले हैं, (ङ) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (च) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. यह होता (क) **उष्णिहं छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की प्रबल कामना को, (ख) **इन्द्रियम्** =प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को, (ग) **दित्यवाहं गाम्**=वासनाओं का खण्डन करनेवाली वेदवाणी को, (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, वीर्य को अपने अन्दर ही सुरक्षित करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हम होता बनकर सब उन्नतियों के साधक प्रभु को धारण करें। हमारा स्नेह प्रकृति से न होकर प्रभु से हो। हम वासनाओं का खण्डन करनेवाले वेदज्ञान को अपनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

पञ्चावि गौः

होता यक्षदीडेन्यमीडितं वृत्रहन्तममिडाभिरीड्यꣳसहः सोममिन्द्रं वयोधसम्।
अनुष्टुभं छन्दऽइन्द्रियं पञ्चाविं गां वयोदधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥२६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **ईडेन्यम्**=स्तुति के योग्य हैं, (ख) **इडाभिः ईडितम्**=सब वेदवाणियों से स्तुति किये गये हैं **'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति'** (ग) **वृत्रहन्तमम्**=वासनाओं का सर्वाधिक विनाश करनेवाले हैं, (घ) **ईड्यम् सहः**=स्तुत्य शक्ति के पुञ्ज हैं, (ङ) **सोमम्**=अत्यन्त शान्त है, अर्थात् शक्ति के साथ शान्ति का प्रभु में पूर्ण समन्वय है, इसी से उनकी शक्ति प्रशंसनीय है, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (छ) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. होता को चाहिए कि उसमें (क) **अनुष्टुभम् छन्दः**=(अनुस्तौति) प्रत्येक सफलता के साथ प्रभु-स्तवन की भावना हो, जिससे उस सफलता का गर्व न हो जाए, उस सफलता को प्रभु से होता हुआ समझकर हम अहंकार न करें, (ख) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को (ग) **पञ्चाविम् गाम्**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं से बचाकर इस पाञ्चभौतिक शरीर की, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधद्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, अपने में शक्ति को सुरक्षित करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन, दान देनेवाला बनकर प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ— हम होता बनकर वासनाओं को नष्ट करनेवाले 'वृत्रहन्तम' प्रभु का अपने से मेल बनाएँ। हम प्रत्येक सफलता को प्रभु की शक्ति से होता हुआ समझें। हम उस वेदवाणी को अपनाएँ जो पाँचों इन्द्रियों की रक्षा करनेवाली है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

त्रिवत्स गौः

होता यक्षत्सुबर्हिषं पूषण्वन्तममर्त्यꣳसीदन्तं बर्हिषि प्रियेऽमृतेन्द्रं वयोधसम्। बृहतीं छन्दऽइन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२७॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **सुबर्हिषम्**=उत्तमता से हृदय को वासनाशून्य बनानेवाले हैं, प्रभु नाम-स्मरण के साथ ही हृदय से वासनाएँ नष्ट होनी प्रारम्भ हो जाती हैं, (ख) **पूषण्वन्तम्**=वे प्रभु हमारा उत्तम पोषण करनेवाले हैं (ग) **अमर्त्यम्**=अमरणधर्मा हैं और (घ) **प्रिये**=प्रेम से युक्त, द्वेषादि से शून्य **अमृता**=(अमृते) विषयों के पीछे न मरनेवाले **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **सीदन्तम्**=निवासन करते हुए (ङ) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, (च) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. इस होता को चाहिए कि (क) **बृहतीं छन्दः**=सब प्रकार की वृद्धि की प्रबल भावना को (ख) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को (ग) **त्रिवत्सं गाम्**=प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का प्रतिपादन करनेवाली वेदवाणी को (त्रीन् वदति) अथवा ज्ञान, कर्म व उपासना का प्रतिपादन करनेवाली वेदवाणी को (घ) तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन। दान देनेवाला बनकर प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—होता उस प्रभु को अपने साथ संगत करता है जो प्रभु प्रिय, अर्थात् द्वेष से शून्य तथा अमृत, विषयों के पीछे न मरनेवाले वासनाशून्य हृदय में निवास करते हैं।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

तुर्यवाड् गौः

होता॑ यक्षद्व्यच॑स्वतीः सुप्राय॒णा ऋ॑ता॒वृधो॒ द्वारो॑ दे॒वीर्हि॑र॒ण्ययी॒र्ब्रह्मा॒णमिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। प॒ङ्क्तिं छन्द॑ऽइ॒हेन्द्रि॒यं तु॑र्य॒वाहं॒ गां वयो॒ दध॒द्व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॥२८॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **देवीः द्वारः**=दिव्य इन्द्रियों को—जीवनयात्रा के विविध कार्यों व व्यवहारों को सिद्ध करनेवाले इन्द्रियरूप द्वारों को, जो (क) **व्यचस्वतीः**=(अञ्चु गतौ) विशिष्टरूप से अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले हैं तथा (ख) **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट गमनवाले हैं (ग) **ऋतावृधः**=सत्य व यज्ञ का वर्धन करनेवाले हैं, उन इन्द्रियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जो (क) **हिरण्ययीः**=हितरमणीय ज्ञान को प्राप्त करानेवाली हैं। २. इस प्रकार यह होता इन इन्द्रियों को सम्यक्तया नियमित करता हुआ इनके द्वारा उस प्रभु को अपने साथ **यक्षत्**=संगत करता है, जोकि (क) **ब्रह्माणम्**=(परिवृढं) अत्यन्त बढ़े हुए हैं और इस संसार को बढ़ानेवाले हैं, (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, तथा (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. यह होता (क) **पंक्तिम् छन्दः**='पाँचभौतिक शरीर को मैं बड़ा ठीक रक्खूँगा, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों को पूर्ण सशक्त बनाऊँगा', इस प्रबल इच्छा को, (ख) **इह**=इस शरीर में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को (ग) **तुर्यवाहं गाम्**= उस वेदवाणी को जो कि उसे तुरीयावस्था तक पहुँचाती है, अर्थात् उसे पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोक के विजय के बाद ब्रह्मलोक में पहुँचने के योग्य बनाती है तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से यह प्रयत्न करे कि इसके इन्द्रियद्वार **आज्यस्य व्यन्तु**=तेज को पान करनेवाले बनें, इस शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करें। ये इन्द्रियद्वार संयत होने पर विषय-वासनाओं में न जाएँगे और इस प्रकार शक्ति का रक्षण करनेवाले हो सकेंगे। ४. हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु को अपना और इसी उद्देश्य से यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष अपने इन्द्रियद्वारों को ज्योतिर्मय बनाकर, इनके द्वारा प्रभु की महिमा को देखता हुआ, प्रभु को अपने साथ संगत करे।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—अहोरात्रे। छन्दः—निचृदतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

पष्ठवाड् गौः

होता॑ यक्षत्सु॒पेश॑सा सु॒शि॒ल्पे बृ॑ह॒ती ऽउ॒भे नक्तो॒षासा॒ न द॑र्श॒ते विश्व॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। त्रि॒ष्टुभं॒ छन्द॑ऽइ॒हेन्द्रि॒यं प॑ष्ठ॒वाहं॒ गां वयो॒ दध॑द्वीता॒माज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॥२९॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदनशील पुरुष **नक्तोषासा**=उन 'दिन और रात' को अपने साथ **यक्षत्**=संगत करता है जो (क) **सुपेशसा**=(शोभनं पेशो याभ्याम्) उत्तम रूप को देनेवाले हैं, दिन क्रिया द्वारा शक्ति देकर रूप का वर्धन करता है तो रात्रि रमयित्री होती हुई सारी तोड़-फोड़ को फिर से ठीक करके सौन्दर्य प्रदान करती है। (ख) **सुशिल्पे**=(यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्) एक-दूसरे की प्रतिरूप हैं, दिन प्रकाशमय है तो रात्रि अन्धकारमय, दिन क्रिया करने का समय है तो रात्रि विश्रामस्थली है, दिन का ईश 'सूर्य' है तो रात्रि का ईश 'चन्द्र' है। (ग) **बृहती**=ये दिन-रात दोनों ही हमारा वर्धन करनेवाले हैं, **न**=और (च) ये **उभे**= दोनों ही **दर्शते**=दर्शनीय हैं, 'दिन' सूर्य के प्रकाश से देदीप्यमान है तो 'रात्रि' को चन्द्र

व तारे दर्शनीय बना रहे हैं। २. ऐसे दिन और रात को होता अपने साथ संगत करता है और साथ ही इन दिन व रात में उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ उस प्रभु को भी अपने साथ संगत करता है, जो प्रभु (क) **विश्वम्**=(विशति) इस ब्रह्माण्ड के कण-कण में प्रविष्ट होकर इस संसार-यन्त्र का सञ्चालन कर रहे हैं, (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं तथा (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट आयुष्य को धारण करानेवाले हैं। ३. यह होता (क) **त्रिष्टुभम् छन्दः**=(त्रि स्तुभ) मैं 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों को रोक दूँगा, इस प्रबल भावना को, (ख) **इह इन्द्रियम्**=इस मानव-जीवन में इन्द्रियों के सामर्थ्य को, (ग) **पष्ठवाहम् गाम्**=उस वेदवाणी को जो अपनी पीठ पर कर्म के भार को उठाये हुए है, अर्थात् **'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'** इस वाक्य के अनुसार सारे कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाली है तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से प्रयत्न करता है कि उसके लिए ये दिन और रात **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करानेवाले हों, अर्थात् होता दिन-रात शक्ति के पान का ध्यान करता हुआ ही अपने जीवन को उत्कृष्ट बना पाएगा। ५. **हे होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु के साथ संग बना और यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष के लिए दिन-रात बड़े सुन्दर होते हैं, ये उसे सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यह इनके चक्र में प्रभु के रचना-सौन्दर्य को देखता हुआ प्रभु को पूजता है, उसके साथ अपना सम्पर्क बनाता है और उसके प्रति अपना अर्पण कर देता है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अनड्वान् गौः

होता यक्षत्प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या कवी सयुजेन्द्रं वयोधसम्। जगतीं छन्दऽइन्द्रियमनड्वाहं गां वयो दधद्वीतामाज्यस्य होतर्यज॥३०॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है। उन प्राणापानों को जोकि (क) **प्रचेतसा**=उसे प्रकृष्ट ज्ञानी बनानेवाले है, (ख) **कवी**=जो क्रान्तदर्शी हैं। वस्तुतः प्राणापान की साधना से बुद्धि इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि वह गहरे-से-गहरे विषय को भी समझने के योग्य होता है और साधक प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनता है, (ग) ये प्राणापान **देवानाम्**=विषयों को ग्रहण करानेवाली इन्द्रियों के **उत्तमं यशः**=उत्तम यश हैं। इनके ही कारण ये इन्द्रियाँ अपने कार्यों को कर पाती हैं, (घ) **सयुजा**=ये प्राणापान सयुज हैं। प्राण अपान के साथ मिलकर चलता है और अपान प्राण के साथ। ये शरीर में सदा साथियों की भाँति 'सयुज्' हैं। २. यह होता इन दैव्य होताओं, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा उस प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है जोकि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं और **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. **जगतीं छन्दः**=क्रियाशीलता की इच्छा को, **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **अनड्वाहम् गाम्**=उस वेदवाणी को, जो संसार-शकट का वहन करनेवाली है। मनुष्य **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण के हेतु से **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करे। प्राणापान के द्वारा शक्ति का संयम होने पर ही 'जगती छन्द' इत्यादि सब बातों का सम्भव होगा। ४. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **यज**=तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष के लिए प्राणापान प्रकृष्ट ज्ञान को देनेवाले होते हैं। ये उसके अन्दर क्रियाशीलता को उत्पन्न करते हैं, इन्द्रियों के सामर्थ्य को देते है, जीवन-यात्रा को

पूर्ण करने की क्षमता देते हैं और उसके जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—वाण्यः। छन्दः—भुरिक्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

धेनु गौः

होता यक्षत्पेशस्वतीस्तिस्रो देवीर्हिरण्ययीर्भारतीर्बृहतीर्महीः पतिमिन्द्रं वयोधसम्। विराजं छन्दऽइहेन्द्रियं धेनुं गां न वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥३१॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्रो देवीः भारतीः**=भारती, सरस्वती व इडा नामक तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है जो देवियाँ—(क) **पेशस्वतीः**=उत्तम रूपवाली हैं, जिनकी स्थिति से मनुष्य का स्वरूप बड़ा उत्तम प्रतीत होता है, (ख) **हिरण्ययीः**=जो अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं, इनमें से एक मस्तिष्क को दीप्त करती है (भारती) तो दूसरी मन को (सरस्वती) तथा तीसरी शरीर को ठीक रखती है (इडा), (ग) **बृहतीः**=ये उसका वर्धन करनेवाली हैं और **महीः**=उसको महत्त्व प्राप्त कराती हैं। २. यह होता इन देवियों के सम्पर्क के द्वारा उस प्रभु को अपने साथ संगत करता है जो (क) **पतिम्**=हम सबके स्वामी व रक्षक हैं (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, और (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. **विराजं छन्दः**='मैं इस जीवन में खूब देदीप्यामान होऊँ (राज् दीप्तौ, अथवा राज् To regulate) अथवा जीवन को बड़ा व्यवस्थित करूँ', इस इच्छा को, **इह**=इस जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामथर्य को, **धेनुम् गाम्**=ज्ञानदुग्ध के द्वारा वर्धन करनेवाली वेदवाणी को, **न**=और **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**='धारण करता हुआ यह होता बने' इसके लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=ये तीनों देवियाँ शक्ति का पान करें, अर्थात् इनके द्वारा शक्ति का शरीर में ही व्यय हों। अंग-प्रत्यंग में व्याप्त होकर यह शक्ति उसे सुन्दर रूप दे। ४. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—होता का जीवन 'भारती, सरस्वती व इडा' के कारण बड़ा सुन्दर हो जाता है। ये देवियाँ उसके जीवन को ज्योतिर्मय बना देती हैं।

ऋषि—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्शक्वरी। स्वरः—धैवतः।

उक्षा गौः

होता यक्षत्सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्द्धनꣳरूपाणि बिभ्रतं पृथक् पुष्टिमिन्द्रं वयोधसम्। द्विपदं छन्दऽइन्द्रियमुक्षाणं गां न वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥३२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **सुरेतसम्**=वासना-विनाश के द्वारा हमारे **रेतस्**=(वीर्य) को शोभन बनाये रखते हैं, उस प्रभु के नामस्मरण से रेतस् में वासनाजनित उष्णता उत्पन्न नहीं होती, (ख) **त्वष्टारम्**=जो हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले हैं अथवा हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाले हैं, (ग) **पुष्टिवर्द्धनम्**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं, (घ) **रूपाणि बिभ्रतम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य को धारण करनेवाले हैं (ङ) **पृथक् पुष्टिम्**=अलग-अलग एक-एक अङ्ग को पुष्ट करनेवाले हैं, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, और (छ) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. **द्विपदम् छन्दः**=(द्वाभ्यां पद्यते) 'मैं ज्ञानमार्ग व कर्ममार्ग दोनों का समन्वय करके चलूँगा', इस प्रबल इच्छा को, **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सम्पर्क को, **उक्षाणं गाम्**=सुखों का सेचन करनेवाली वेदवाणी को **न**=और **वयः**=उत्कृष्ट जीवन

को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=यह त्वष्टा देव इस होता में सोम का (शक्ति का) पान कराए। इसके शरीर में ही रेतस् का व्यापन हो। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—त्वष्टादेव हमें सुरेतस् बनाएँ, हमारे जीवनों को सुन्दर व पुष्ट करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

वशा वेहत् गौः

होता यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुꣳ हिरण्यपर्णमुक्थिनꣳ रशनां बिभ्रतं वशिं भगमिन्द्रं वयोधसम्। ककुभं छन्दऽइहेन्द्रियं वशां वेहतं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥३३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस विद्वान को संगत करता है, जोकि **वनस्पतिम्**=ज्ञान की किरणों का पति है, **शमितारम्**=शान्ति प्रदाता व शान्तस्वभाव है, **शतक्रतुम्**=सैकड़ों प्रज्ञानों व कर्मोंवाला है, **हिरण्यपर्णम्**=हितरमणीय ज्ञान से पालन व पूरण करनेवाला है, **उक्थिनम्**=स्तोत्रोंवाला है, प्रभु का स्तवन करनेवाला है, **रशनां बिभ्रतम्**=मेखला को धारण करनेवाला है, अर्थात् दृढ़ निश्चयी है, **वशिम्**=अपनी वासनाओं को वशीभूत करनेवाला है, **भगम्**=ऐश्वर्यशाली है अथवा (भज सेवायाम्) सेवा की वृत्तिवाला है, **इन्द्रम्**=शक्तिशाली है और आसुर भावनाओं का विद्रावण करनेवाला है। **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला है। ऐसे विद्वान् के सम्पर्क में आकर वह होता भी इसी प्रकार के जीवनवाला बनता है। २. **ककुभं छन्दः**='मैं शिखर पर पहुँचूँगा', इस इच्छा को, **इह**=इस मनाव-जीवन में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **वशां वेहतं गाम्**=उस वेदवाणी को जो वशा व वन्ध्या है, अर्थात् मनुष्य को फल की इच्छा से ऊपर उठकर कार्य करनेवाला बनाती है तथा **वेहतम्**=गर्भोपघातिनी, सब बुराइयों को गर्भवास्था में ही समाप्त करनेवाली है (to nip the evil in the bud) तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण के हेतु से यह होता **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, शक्ति को अपने शरीर में व्याप्त करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपने को संगत कर।

भावार्थ—विद्वान्, शान्त, यज्ञशील पुरुषों का संग हमारे जीवन को भी उत्कृष्ट बनाये। हम उन्नति के शिखर पर पहुँचने की कामना करें। फल की इच्छा से ऊपर उठकर कर्तव्य बुद्धि से कर्म करें और बुराई को गर्भ में ही समाप्त करने का ध्यान करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ऋषभ गौः

होता यक्षत् स्वाहाकृतीरग्निं गृहपतिं पृथग्वरुणं भेषजं कविं क्षत्रमिन्द्रं वयोधसम्। अतिच्छन्दसं छन्दऽइन्द्रियं बृहदृषभं गां वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३४॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। किन बातों को? (क) **स्वाहाकृतीः**=(सु आह कृति) वाणी से उत्तम शब्दों को बोलने की क्रियाओं को, या (स्व+हा=कृति) स्वार्थत्याग के कर्मों को, (ख) **गृहपतिं अग्निं पृथक्**=रोगादि के निवारण से तथा वायु-शुद्धि से घरों के रक्षक यज्ञियाग्नि को अलग-अलग, अर्थात् होता के घर का प्रत्येक सभ्य अपने-अपने अंश को अग्निहोत्र में डाले, (ग)

वरुणम्=द्वेष-निवारण की देवता को जोकि द्वेषजन्य विषों को पैदा न होने देने के कारण शरीर के रोगों का **भेषजम्**=औषध है तथा मस्तिष्क में **कविम्**=क्रान्तदर्शिता को प्राप्त करानेवाला है, (घ) **इन्द्रः**=सब आसुरवृत्तियों का विद्रावण करनेवाले इन्द्र को जो **क्षत्रम्**=सब क्षतों से बचानेवाला है और इस प्रकार **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाला है। २. **अतिच्छन्दसं छन्दः**=भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठने की इच्छा को, **बृहद्**=वृद्धि के कारणभूत **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **ऋषभं गाम्**=(ऋष गतौ) 'गति की प्रेरणा देनेवाली वेदवाणी को **दधत्**=धारण करनेवाला यह होता बने' इसलिए 'वरुण, इन्द्र' आदि इसके लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=सोमशक्ति का शरीर में ही व्यापन करनेवाले बनें। ३. हे **होतः**=दानशील पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—हममें स्वार्थत्याग की भावना हो, हमारे घर का प्रत्येक सभ्य यज्ञ के स्वभाववाला बने। हम द्वेष से दूर रहकर स्वस्थ व ज्ञानी बनें, भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठें।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

गायत्री छन्द

दे॒वं ब॒र्हिर्व॑यो॒धसं॑ दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत्।

गा॒य॒त्र्या छन्द॑सेन्द्रि॒यं चक्षु॒रिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥३५॥

१. **देवम् बर्हिः**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाला वासनाशून्य हृदय **वयोधसम्**=उत्कृष्ट आयुष्य को धारण करनेवाला है। हृदय के अच्छा होने पर जीवन भी अच्छा होता है। २. यह हृदय **देवम्**=ज्ञान की ज्योति से जगमगानेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। हृदय की पवित्रता ही सब प्रकार की वृद्धि का मूल है। ३. **गायत्र्या छन्दसा**=प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल इच्छा के द्वारा **इन्द्रियम्** =वीर्य व इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=स्थापित करता हुआ, यह पवित्र हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु को **वेतु**=प्रजनन करे 'प्रभु-भावना' को अपने में विकसित करे। ४. हे **होतः**=दानशील पुरुष! तू **यज**=इस पवित्र हृदय के द्वारा उस प्रभु का अपने-आप संगम कर, प्रभु की पूजा करनेवाला बन, उसके प्रति अपना अर्पण कर दे।

भावार्थ—दिव्य हृदय प्रभु-प्राप्ति का प्रथम साधन है। प्रभु-प्राप्ति के लिए साधना का प्रारम्भ वहीं से होता है कि हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उष्णिक् छन्द

दे॒वीर्द्वारो॑ वयो॒धस॒ꣳशुचि॒मिन्द्र॑मवर्द्धयन्।

उ॒ष्णिहा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं प्रा॒णमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥३६॥

१. **देवीः द्वारः**=दिव्य गुणोंवाले, व्यवहारों को उत्तमता से सिद्ध करनेवाले (दिव व्यवहार) ये इन्द्रियद्वार **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **शुचिम्**=पवित्र **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयन्**=बढ़ाते हैं। सब इन्द्रियाँ—ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ पवित्र जीवनवाले पुरुष को बढ़ानेवाली होती है। २. **उष्णिहा छन्दसा**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की प्रबल कामना के साथ-साथ (क) **इन्द्रियम्**=वीर्य को **प्राणम्**=पाँचों इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=स्थापित

करते हुए (दधतः) **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत उस प्रभु को **व्यन्तु**=प्रादुर्भूत करें, सब द्वार उस प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु के साथ अपना मेल बना, इसके लिए तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—सब इन्द्रियद्वारों की पवित्रता तथा हीन स्नेह से ऊपर उठना, हमें प्रभु की ओर ले-आता है। प्रकृति व प्रभु में हमारा स्नेह प्रभु के लिए हो, हम प्रकृति की ओर झुकाववाले न हों।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

अनुष्टुप् छन्द

देवीऽउषासानक्ता देवमिन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
अनुष्टुभा छन्दसेन्द्रियं बलमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३७॥

१. **उषासानक्ता**=उषा और रात **देवी**=हमारे सब व्यवहारों के साधक हैं, ये **देवी**=देदीप्यमान होते हुए **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=ज्ञान से देदीप्यमान **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. **अनुष्टुभा छन्दसा**=प्रत्येक कार्य में उस-उस सफलता के लाभ के साथ प्रभु-स्तवन (अनु-स्तु) की प्रबल कामना से **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **बलम्**=बल को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=(दधत्यौ-म०) धारण करते हुए ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा का **वीताम्**=प्रजनन करें, प्रभु-भावना को जागरित व विकसित करें। हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=दानशील बनकर उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—'दिन-रात को ज्ञान-प्राप्ति द्वारा दीप्त बनाना और प्रत्येक कर्म में सफलता के साथ प्रभु का स्मरण करना, जिससे उस सफलता का गर्व न हो जाए' यह प्रभु-प्राप्ति का तीसरा साधन है।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

बृहती छन्द

देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
बृहत्या छन्दसेन्द्रियꣳश्रोत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३८॥

१. **देवी**=दिव्य गुणों से युक्त **जोष्ट्री**=सब व्यवहारों के साधक दिन व रात **वसुधिती**=सब वसुओं के निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों का धारण करनेवाले हैं। ये **देवी**=देदीप्यामान होते हुए **देवम्**=ज्ञान से दीप्त **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ानेवाले हों। २. **बृहत्या छन्दसा**=(बृहि वृद्धौ) बढ़ने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रियम्**=वीर्य को **श्रोत्रम्**=श्रवणशक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=(दधत्यौ) धारण करते हुए ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धनों के आधारभूत उस प्रभु का **वीताम्**=प्रजनन करें, उस प्रभु की भावना को इस पुरुष के हृदय में विकसित करें। हे **होतः**=दानशील! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बढ़ा।

भावार्थ—'दिन-रात आगे बढ़ने की भावना' हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाकर प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाली होती है। हम अपने कानों से दिन-रात प्रभु की महिमा का श्रवण करें और वैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृच्छक्वरी। स्वरः—धैवतः।

पंक्ति छन्द

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
पङ्क्त्या छन्दसेन्द्रियःशुक्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३९॥

१. **देवी**=ये दिव्य गुणयुक्त **ऊर्जाहुती**=अन्न व रस की आहुति देनेवाले, सब अन्न-रसों को प्राप्त करानेवाले **दुघे**=अन्न-रस के द्वारा हमारा पूरण करनेवाले **सुदुघे**=अन्न का उत्तमता से पूरण करनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक **पयसा**=अन्न आदि के द्वारा आप्यायन से (पयसा= अप्यायनेन) **इन्द्रं देवम्**=इस ज्ञानदीप्त जितेन्द्रिय पुरुष को **देवी**=सब अन्नों के देनेवाले होकर **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. **पङ्क्त्या छन्दसा**=पाँचों इन्द्रियों व प्राणों को सुरक्षित करने की प्रबल कामना के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **शुक्रम्**=वीर्य को तथा **वयः**= उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करती हुई **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधरभूत परमात्मा का **वीताम्**=प्रादुर्भाव करें, प्रभु-भावना को जागरित करें। ३. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित कर।

भावार्थ—द्यावापृथिवी से उत्तम अन्न-रस को प्राप्त करके हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को पुष्ट करते हुए संसार में आवश्यक धन का अर्जन करें और प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अतिजगती। स्वरः—निषादः।

त्रिष्टुप् छन्द

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रं वयोधसं देवौ देवमवर्द्धताम्।
त्रिष्टुभा छन्दसेन्द्रियं त्विषिमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥४०॥

१. **देवाः**=दिव्य गुणों से युक्त **दैव्या होतारा**=प्राणापान (ऐ० २।४) **देवौ**=नीरोगता इत्यादि से दीप्ति को प्राप्त करानेवाले होकर **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले, **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। ३. **त्रिष्टुभा छन्दसा**='काम, क्रोध, लोभ' तीनों को रोक देने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **त्विषिम्**=दीप्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करते हुए ये प्राणापान **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=प्रजनन व प्रादुर्भाव करें। इस व्यक्ति के हृदय में प्रभु के स्मरण की भावना बनी रहे और यह भावना उसे सदा धन में आसक्त होने से बचानेवाली हो। ४. हे प्राण साधना करनेवाले पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु से अपना मेल बना। प्रभु ही तो तुझे काम, क्रोध व लोभ की विजय में समर्थ करेगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा कामादि वासनाओं पर विजय पाएँ और प्रभु-प्राप्ति के अधिकारी बनें।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

जगती छन्द

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्द्धयन्।
जगत्या छन्दसेन्द्रियःशूषमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥४१॥

१. **देवीः तिस्रः**=दिव्य गुणोंवाली तीनों 'भारती, सरस्वती, इडा' **तिस्रः**=तीनों ही **देवीः**=जीवन को प्रकाशमय बनानेवाली हैं। भारती मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है, तो सरस्वती वाणी को दीप्त करती है और इडा (=श्रद्धा) हृदय को जगमगा देती हैं। २. ये सब **पतिम्**=इन देवियों की अपने जीवन में रक्षा करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयन्**=बढ़ाती हैं। ३. **जगत्या छन्दसा**=गतिशीलता की प्रबल भावना के साथ अथवा जगती के हित की भावना से (जगतं छन्दः) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=(दधत्यौ) धारण करती हुई **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का विस्मरण न होने दें। ५. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बनकर उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'भारती, सरस्वती व इडा' एक विशेष दीप्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं। ये हमें शत्रुओं के शोषक बल को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—इन्द्रः। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

विराट् छन्द

दे॒वो न॒रा॒शꣳसो॑ दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्द्धयत्।
वि॒राजा॒ छन्द॑से॒न्द्रि॒यꣳरू॒पमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥४२॥

१. **देवः**=अपने ज्ञान से दीप्त तथा अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों को ज्ञान से द्योतित करनेवाला **नराशंसः**=सब मनुष्यों से शंसनीय **देवः**=सब-कुछ देनेवाला वह प्रभु, **देवम्**=अपने को ज्ञानादि दिव्य गुणों से युक्त करनेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानादि गणुयुक्त **इन्द्रम्** =जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। **विराजा छन्दसा**='मैं अपने जीवन को विशिष्ट रूप से दीप्त बनाऊँगा अथवा निश्चित रूप से व्यवस्थित (Regulated) करूँगा', इस भावना के द्वारा **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **रूपम्**=सौन्दर्य को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करता हुआ प्रभु ऐसी कृपा करे कि **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=यह जितेन्द्रिय पुरुष पान करे, प्रजनन करे, अपने हृदय में आविर्भाव करे। ३. हे जीव! तू **यज** =यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल कर।

भावार्थ—हम अपने जीवन को दीप्त व व्यवस्थित बनाएँ, जिससे इस संसार में विचरते हुए भी इसमें उलझ न जाएँ और प्रभु को विस्मृत न करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—इन्द्रः। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

द्विपाद छन्द

दे॒वो व॒न॒स्पति॑र्दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्द्धयत्।
द्विप॑दा॒ छन्द॑से॒न्द्रि॒यं भग॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥४३॥

१. **देवः**=दिव्य गुणों से युक्त **वनस्पतिः**=ज्ञान की किरणों का पति **देवः**=सब-कुछ देनेवाला प्रभु **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानशील **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **द्विपदा छन्दसा**='न केवल ज्ञानमार्ग को, न केवल कर्ममार्ग को, अपितु ज्ञान व कर्म दोनों मार्गों को व्यवस्थितरूप से अपनाने की प्रबल भावना के साथ' **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **भगम्**='ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य' रूप छह-के-छह भगों को **वयः**=

उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करते हुए प्रभु ऐसी कृपा करें यह जितेन्द्रिय पुरुष **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=अपने में प्रजनन व प्रादुर्भाव करे। ३. हे जीव! **यज**=तू यज्ञशील बन और प्रभु का अपने साथ मेल बना।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में ज्ञानमार्ग व कर्ममार्ग को मिलाकर चलें, 'ज्ञानयोग व्यवस्थिति' ही दैवी संपत्ति का अंश है।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

ककुभा छन्द

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रं वयोधसं देवं देवमवर्द्धयत्।
ककुभा छन्दसेन्द्रियं यशऽइन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥४४॥

१. **वारितीनाम्**=(वर=वरणीय प्रभु, इति गति) वरणीय प्रभु में गतिवालों का अर्थात्, प्रभु का ध्यान करनेवालों का जो **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय होता है, जोकि **देवम्**=दानादि की भावना से युक्त है, वह हृदय **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानशील **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **ककुभा छन्दसा**=शिखर पर पहुँचने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **यशः**=यश को **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करता हुआ, यह वासनाशून्य हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=अपने में प्रादुर्भाव करे, अर्थात् इसके हृदय में सदा प्रभु का स्मरण बना रहे। ३. **यज**=हे जीव! तू यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपना मेल बना।

भावार्थ—वासनाशून्य हृदय हममें शिखर तक पहुँचने की भावना को धारण कराये और यह भावना हमें प्रभु तक ले-जानेवाली हो।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडतिजगती। स्वरः—निषादः।

अतिच्छन्दसा छन्द

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत्।
अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥४५॥

१. **देवः**=दिव्य गुणयुक्त **अग्निः**=यज्ञ के अन्दर आहित किया गया अग्नि **स्विष्टकृत्**=उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला है। 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'=यह यज्ञाग्नि इष्टकामों को पूर्ण करनेवाला तो है ही। **देवः**=यह नीरोगता आदि देनेवाला है। यह अग्नि **देवम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **अतिच्छन्दसा छन्दसा**='मैं सब इच्छाओं से ऊपर उठ जाऊँ', इस इच्छा के साथ, अर्थात् सब लौकिक कामनाओं से ऊपर उठने की भावना के साथ **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों के सामर्थ्य को **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को, **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=इस जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करने के हेतु से **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा का **वेतु**=पान करे, प्रभु की भावना को प्रादुर्भूत व जागरित करे। ३. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपना मेल बना। ४. इस मन्त्र के साथ अनुयाजप्रैष समाप्त होते हैं। ये मन्त्र निरन्तर प्रेरणा देते हैं कि संसार का कार्य करते हुए भी प्रभु को भूलो नहीं।

भावार्थ—यज्ञाग्नि हमारे सब इष्टों को पूर्ण करे। हम इन यज्ञों को भी अहंकार व

फलेच्छा से ऊपर उठकर करें (सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव) तभी तो हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—सरस्वती। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आकृतिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभु-वरण (पुरोडाशपचन)

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय वयोधसे छागम्। सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे छागेन। अघत्तं मेदस्तः प्रतिपचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन॥४६॥

१. **अयं यजमानः**=इस प्रयाजानुयाज मन्त्रों के प्रैषों, (प्रेरणाओं) के द्वारा प्रभु से मेल के शीलवाले पुरुष ने **अद्य**=आज **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **अवृणीत**=वरा है। २. **पक्तीः**=पक्तव्य पदार्थों का **पचन्**=यह परिपाक करनेवाला बना है। इसने ब्रह्मचर्यपूर्वक शरीर की धातुओं का ठीक परिपाक किया है, आचार्यों के चरणों में बैठकर बुद्धि का भी यह ठीक परिपाक करनेवाला बना है। ३. **पुरोडाशं पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः) यह आत्मभाव का भी परिपाक करनेवाला हुआ है। इसने आत्मा की भावना को दृढ़ करने के लिए प्रयत्न किया है कि 'मैं आत्मा हूँ, यह शरीर नहीं हूँ'। ४. उस उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले **वयोधसे इन्द्राय**=परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए, अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **छागं बध्नन्**=(छो छेदन) इसने निरन्तर वासनाओं के छेदन का प्रबन्ध किया है। वासनाओं को सदा अपने से दूर करनेवाला बना है। ५. इसी का परिणाम है कि **अद्य**=आज **देवः**=सब दिव्यताओं के पुञ्ज **वनस्पतिः**=ज्ञान की किरणों का स्वामी वह प्रभु इस **छागेन**=वासनाओं के छेदन-भेदन से **वयोधसे**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **सूपस्थाः**=सुगमता से उपस्थान के योग्य **अभवत्**=हुआ है। प्रभु वासनाशून्य है, मैं वासनाशून्य बनकर ही तो प्रभु का उपासक हो सकता हूँ। ६. जीव **पुरोडाशेन**=आत्मभाव की वृद्धि के द्वारा 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' इन शब्दों के अनुसार नित्य अध्यात्म-चिन्तन से **तम् अघत्**=उस प्रभु का भक्षण=ग्रहण करता है। **मेदस्तः**=बड़े स्नेहभाव से **प्रतिपचत**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का परिपाक करता है, **अग्रभीत्**=उस प्रभु का ग्रहण करता है और **अवीवृधत्**=आत्मचिन्तन से वृद्धि को प्राप्त करता है। इसके लिए सब प्राकृतिक भोग तुच्छ हो गये हैं। इसने उस 'रस' रूप प्रभु का रसास्वाद जो कर लिया है, अतः यह तो होना ही था।

भावार्थ—हम अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करें, अपने को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाएँ।

नोट—अगला अध्याय 'आप्री' संज्ञक मन्त्रों से प्रारम्भ होता है। इन मन्त्रों में भक्त अपने कर्मों से (आ सर्वथा प्री उस प्रभु को प्रीणत) करता है। ४४ बार उस प्रभु से अपने मेल का संकल्प करके उसने ऐसा करना ही था।

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञान

समिद्धोऽअञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत् पिन्वमानः।
वाजी वहन्वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम्॥१॥

१. प्रभुभक्त का पहला लक्षण यह है कि **समिद्धः**=वह ज्ञान से दीप्त होता है। जीवन का प्रथमाश्रम 'ब्रह्मचाश्रम' है, यह आश्रम ज्ञान के भक्षण का है। २. यह प्रभुभक्त **मतीनाम्**=विचारशीलताओं के **कृदरम्**=उदर को **अञ्जन्**=प्रकट करता है। इसके व्यवहार में सदा विचारशीला का आभास मिलता है। यह कोई भी काम नासमझी से नहीं करता। इसके कार्यों में कुशलता होती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मधुमत्**=मधु से युक्त **घृतम्**=घृत को **पिन्वमानः**=अपने में सींचनेवाला बनता है, अर्थात् 'मधु व घृत' आदि पदार्थों का सेवन करता है। ४. इन उत्तम पदार्थों का सेवन करता हुआ **वाजी**=तू शक्तिशाली बनता है और **वाजिनम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **वहन्**=अपने हृदय में धारण करता है। ५. प्रभु को हृदय में धारण करने से **जातवेदः**=आविर्भूत ज्योतिवाला होता है, अतः तुझमें ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। ६. तू अपने को **देवानाम्**=देवों के **प्रियम्**=प्रिय **सधस्थम्**=मिलकर बैठने के स्थान को **आवक्षि**=सर्वथा प्राप्त कराता है, अर्थात् तू सदा ऐसे सत्संगों में उपस्थित होता है, जिनमें विद्वान् लोग एकत्र होकर प्रीतिपूर्वक ज्ञानचर्चा करते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त के जीवन में ज्ञान का सर्वोपरि स्थान होता है। उसे यह पता है कि ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

देवों से सम्पर्क

घृतेनाञ्जन्त्सं पथो देवयानान् प्रजानन्वाज्यप्येतु देवान्।
अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताᳬस्वधामस्मै यजमानाय धेहि॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार एक प्रभुभक्त अपने जीवन को ज्ञानमय बनाने का प्रयत्न करता है। यह 'बृहदुक्थ' बनता है, खूब ही प्रभु का स्तवन करता है। 'वामदेव' अपने जीवन में **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से **देवयानान् पथः**=देवयान मार्गों को **समञ्जम्**=व्यक्त करता है, अर्थात् सदा देवयान मार्गों से चलता है। २. **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता है और **वाजी**=शक्तिशाली व ज्ञानी **अपि**=होता हुआ भी **देवान्**=देवों को **एतु**=प्राप्त हो, अर्थात् ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न बनकर भी देवों के संग को प्राप्त करता है। ४. हे **सप्ते**=(सपतिः परिचरणकर्मा—नि० ३.५) ज्ञानपूर्वक कार्यों से प्रभु की परिचर्या (उपासना) करनेवाले जीव! **प्रदिशः**=यह सब प्रकृष्ट दिशाएँ **त्वा**=तुझे **अनुसचन्ताम्**=अनुकूल होकर प्राप्त हों, अर्थात् तेरा इन दिशाओं में रहनेवाले किसी भी व्यक्ति से वैर-विरोध न हो। ५. **अस्मै**=इस **यजमानाय**=तेरे सम्पर्क में आनेवाले विद्वान् के लिए (यज=संगतिकरण)

स्वधाम्=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **धेहि**=तू धारण कर, अर्थात् तू विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाला बन। जहाँ विद्वान् अतिथियों का स्वागत होता है वहीं उनका आना-जाना बना रहता है। इन देवों के सम्पर्क से ही सत्कर्म बने रहते हैं, उन घरों में वैर-विरोध का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—हम सन्मार्ग से चलनेवाले हों, देवों के सम्पर्क में आएँ, विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ईड्य व वन्द्य

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते।

अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वह्निं वहतु जातवेदाः॥३॥

१. हे बृहदुक्थ! तू देवयानमार्ग को अपनाकर अपने सुन्दर व्यवहार के कारण **ईड्यः च असि**=स्तुति के योग्य है, चारों ओर तेरा यश-ही-यश है। **वन्द्यः च**=जब लोग तुझे देखते हैं तो उनसे वन्दना के योग्य तू होता है। २. हे **वाजिन्**=शक्तिशाली! **सप्ते**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से प्रभु का परिचरण करनेवाले! तू **आशुः च असि**=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाला है और **मेध्यः च**=(मेध=यज्ञ) यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करनेवाला है। ३. **देवैः**=देवताओं के साथ, दिव्यवृत्तिवालों के साथ तथा **वसुभिः**=उत्तम निवासवालों के साथ **सजोषाः**=प्रीतियुक्त वह **अग्निः**=पावक प्रभु जो **जातवेदाः**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले हैं, वे **प्रीतम्**=सदा प्रसन्न रहनेवाले 'सन्तुष्टो येन केनचित्' तथा **वह्निम्**=अपने कर्त्तव्य का वहन करनेवाले **त्वा**=तुझको सिद्धि तक पहुँचानेवाले हों। २. मन्त्रार्थ से यह सुव्यक्त है कि प्रभु को वे व्यक्ति प्रिय हैं जो (क) देव बनते हैं, (ख) अपने निवास को उत्तम बनाते हैं, जिनके शरीर में रोग नहीं, मन में आधियाँ नहीं तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तियाँ हैं, (ग) जो अपने कर्त्तव्य का वहन करते हैं (वह्नि), परन्तु फल की चिन्ता न करते हुए सदा सन्तुष्ट रहते है (प्रीतम्)। मन्त्रार्थ में यह बात भी स्पष्ट है कि मनुष्य अपना कर्म करता जाए, सिद्धि तो प्रभु प्राप्त कराते ही हैं (वहतु)।

भावार्थ—हम अपने उत्तम कर्मों से ईड्य व वन्द्य बनें। यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में लगे रहें। देव, वसु, प्रीत (सन्तुष्ट) व वह्नि (कर्त्तव्य को करनेवाले) बनकर प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सुवित में स्थापन

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम्।

देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तब हमारा हृदय प्रभु की भावना से आच्छादित होने के कारण बड़ा सुरक्षित होता है। इस अमृत प्रभु से **स्तीर्णम्**=आच्छादित **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **आजुषाणा**=सब प्रकार से अपने कर्त्तव्य-कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **सुष्टरीमा**=उत्तमता से आच्छादित करें। प्रभुस्मरण से हृदय सुरक्षित रहता है, परन्तु कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करने से और अधिक सुरक्षित हो जाता है। २. इस **उरु पृथु**=खूब विशाल **पृथिव्यां प्रथमानम्**=विशालता के कारण पृथिवी में प्रख्यात होते हुए **देवेभिः युक्तम्**=दिव्य गुणों से युक्त हृदय को, **सजोषाः अदितिः**=इस बृहदुक्थ के साथ प्रीतिवाली

अदीना देवमाता **स्योनं कृण्वाना**=सुखमय करती हुई, **सुविते**=(सु इते) उत्तम आचरण में **दधातु**=स्थापित करें। ३. जब जीव हृदय को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है तब प्रभु उसके सहायक होते हैं, प्रभु ही 'अदिति' हैं, हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले है। ये प्रभु हमारे जीवन को सुखमय बनाने के हेतु से हमारे हृदयों को सन्मार्ग में स्थित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों को वासनाओं से सुरक्षित करके सन्मार्ग में स्थापित करें। प्रभुकृपा से हमारे हृदय विशाल हों, विशालता के कारण ही उनकी ख्याति हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुप्रायण द्वार

एताऽउ वः सुभगा विश्वरूपा वि पक्षोभिः श्रयमाणाऽउदातैः।
ऋष्वाः सतीः कवषः शुम्भमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु ॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे हृदय सुरक्षित होते हैं, उनमें विशालता होती है और इस प्रकार जब ये वासनाशून्य बनते हैं तब हमारे सब इन्द्रियद्वार उत्तम होते हैं। प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **एताः**=ये **द्वारः**=इन्द्रियद्वार **उ**=निश्चय से **भवन्तु**=हों। कैसे? (क) **सुभगाः**=उत्तम भगवाले। भग, अर्थात् 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति' रूप धर्मोंवाले हों। (ख) **विश्वरूपाः**=इस विश्व व संसार का बड़ी सुन्दरता से निरूपण करनेवाले हों। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से इस पाञ्चभौतिक संसार का ठीक-ठीक ग्रहण होता ही है। (ग) **उद् आतैः**=उत्कृष्ट गमनों के द्वारा, अर्थात् कर्मेन्द्रियों से सदा उत्तम कर्म को करने के द्वारा **विपक्षोभिः**=ज्ञान, कर्म व उपासनारूप विविध (पक्ष परिग्रहे) परिग्रहों से **श्रयमाणाः**=आश्रय किये जाते हुए हों। कर्मों से ही ज्ञान व उपासना भी साध्य हैं। (घ) **ऋष्वाः सतीः**=उल्लिखित परिग्रहों से महान् बनते हुए ये द्वार **कवषः**=(कुशके, षोऽन्तकर्मणि) प्रभुनामोच्चारण से बुरी भावनाओं का अन्त करनेवाले हों। (ङ) बुरी भावनाओं के अन्त से **शुम्भमानाः**=सद्गुणों से सुशोभित होते हुए ये द्वार **देवीः**=दिव्य बनें और (च) **सुप्रायणाः**=उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, इनसे कभी कोई अवाञ्छनीय कर्म न हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार उत्तम, प्रकृष्ट गमनवाले हों। प्रभुनामोच्चारण से बुराइयों को नष्ट करनेवाले होकर सुन्दर व दिव्य बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रातः-सायं (सुहिरण्य-सुशिल्प)

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने।
उषासा वाᳩसुहिरण्ये सुशिल्पेऽऋतस्य योनाविह सादयामि॥६॥

१. प्रभु यजमान व यजमानपत्नी से कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार जब तुम अपने इन्द्रियद्वारों को सुन्दर बनाते हो तो मैं **वाम्**=तुम दोनों के **उषासा**=उषाकालों को (द्विवचन के कारण यहाँ प्रातः व सायं की संध्या से अभिप्राय है) दोनों संध्याकालों को **इह**=इस जीवन में **ऋतस्य योनौ सादयामि**=यज्ञाग्नि के उत्पत्तिस्थान में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम्हारे घरों में दोनों कालों में यज्ञ चलता रहे। प्रातः का यह अग्निहोत्र सायं तक और सायं का अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य का देनेवाला होता है। २. ये उषाकाल सदा **मित्रावरुणा अन्तरा चरन्ती**=स्नेह व द्वेषनिवारण में चलनेवाले होते है, अर्थात् तुम्हारा प्रातः-सायं यह

संकल्प होता है कि हम स्नेह करनेवाले होगें और द्वेष से दूर रहेंगे। ३. वे उषाकाल **यज्ञानाम्**=यज्ञों के **मुखम्**=प्रारम्भकाल का **अभिसंविदाने**=प्रतिपादन करनेवाले होते हैं। मानो ये कहते हैं कि 'अब उठो, यह अग्निहोत्र का समय है, इस समय उठकर अब यज्ञ की तैयारी करनी चाहिए'। ४. **सुहिरण्ये**=वे उषाकाल तुम्हारे लिए सुन्दर, हित व रमणीय हैं अथवा उत्तम ज्योतिवाले हैं 'हिरण्यं वै ज्योतिः'। ५. **सुशिल्पे**=उत्तम शिल्प क्रियावाले हैं, अर्थात् तुम इन समयों में सदा उत्तमता से कर्म करनेवाले होते हो। ६. 'ऋतस्य योनौ' की भावना यह भी है कि ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम दोनों समय ध्यान करते हो।

भावार्थ—हमारे उषाःकाल स्नेह व निर्द्वेषता के संकल्पवाले हों, हम इनमें यज्ञों के करनेवाले हों, स्वाध्याय व उत्तम कर्मों से इन्हें सुन्दर बनाएँ और दोनों कालों में अपने को ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करने का प्रयत्न करें, अर्थात् दोनों समय ध्यान करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—**धैवतः**।

कैसे बनें?

प्रथमा वांꣳसरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा।
अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारा ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को जो (क) **प्रथमा**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हो और मनुष्यों में प्रथम श्रेणी में स्थित होते हो, (ख) **सरथिना**=मिलकर इस गृहस्थ की गाड़ी को खेंचनेवाले हो, (ग) **सुवर्णा**=स्वास्थ्य के कारण उत्तम वर्णवाले हो अथवा उत्तमता से प्रभु का वर्णन करनेवाले हो, (घ) **देवौ**=दिव्य गुणों से युक्त हो, देववृत्तिवाले हो, (ङ) **विश्वा भुवनानि पश्यन्तौ**=सब प्राणियों का ध्यान करते हो (Look after) अथवा सबसे प्रीतिवाले हो (कान्ति), केवल अपने ही पेट भरने के लिए नहीं जीते, (च) **वाम्**=इन तुम दोनों को जो **चोदना**=शास्त्रीय प्रेरणाओं को **मिमाना**=क्रियारूप में ला रहे हो। (छ) **होतारा**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, (ज) **प्रदिशा**=बड़े उत्कृष्ट मार्ग से **ज्योतिः**=ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हो, अर्थात् किसी की हिंसा न करते हुए तुम सबके लिए उत्कृष्ट ज्ञान देते हो, (झ) इस प्रकार के बने तुम दोनों को **अपिप्रयम्**=मैं चाहता हूँ, अर्थात् प्रभु कहते हैं कि मेरी इच्छा है कि तुम ऐसे बनो।

भावार्थ—पति-पत्नी का प्रयत्न होना चाहिए कि वे 'प्रथम, सरथी, देव, सर्वपालक, वेद-प्रेरणानुसार क्रियायों के कर्त्ता, होता तथा ज्ञानोपदेष्टा' बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—सरस्वती। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—**धैवतः**।

आदित्य, रुद्र, वसु

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳसरस्वती सह रुद्रैर्नऽआवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥८॥

१. **आदित्यैः**='आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से **नः**=हममें उत्पन्न हुई-हुई **भारती**=सूर्य के समान ज्ञान की दीप्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से हमें ज्ञान प्राप्त हो और उस ज्ञान को प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। २. **रुद्रैः**='रुद्र' विद्वानों के **सह**=साथ रहने से उत्पन्न हुई-हुई **नः**=हमारी यह **सरस्वती**=प्रशस्त विज्ञानवाली वाणी **आवीत्**=रक्षा करे।

३६ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करनेवाले मध्यम श्रेणी के विद्वान् 'रुद्र' कहलाते हैं। इनके सम्पर्क से मनुष्य शिक्षित व सभ्य बनता है। यही 'सरस्वती' का विकास है। यह विकसित हुई-हुई सरस्वती हमें वासनाओं के आक्रमण से रक्षित करनेवाली हो। ३. **वसुभिः**='वसु' नामक प्रथम कक्षा के विद्वानों से **सजोषा**=प्रीतिपूर्वक सेवन की गई **उपहूता**=पुकारी गई **इडा**=यह वेदवाणी भी (अवतु) हमारी रक्षा करे। ४. इस प्रकार **देवीः**=(देव्यः) हे 'भारती-सरस्वती व इडा' नामक देवियो! **नः**=हममें से **अमृतेषु**=विषयों के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों में **यज्ञम्**=यज्ञ की भावना को धारण कीजिए, हमारे जीवन को यज्ञशील बनाइए।

भावार्थ—'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का उच्च ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' हैं। 'प्रकृति व जीव' का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'रुद्र' हैं। 'प्रकृति' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'वसु' हैं। इनकी कृपा से हम में क्रमशः 'भारती, सरस्वती व इडा' का जन्म होता है। 'भारती' ज्ञान है। 'सरस्वती' शिक्षा व सभ्यता है। 'इडा' (A Law) जीवन का एक नियमहै। ये सबके सब हमें विषयों के पीछे न मरनेवाला=अमृत बनाते हैं। ये हमें यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

त्वष्टा

त्वष्टा॑ वी॒रं दे॒वका॑मं जजान॒ त्वष्टु॒रर्वा॑ जायतऽआ॒शुरश्वः॑।
त्वष्टे॒दं विश्वं॒ भुव॑नं जजान ब॒होः क॒र्त्तार॑मि॒ह य॑क्षि होतः॥१॥

१. 'त्वष्टा' शब्द 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' त्विष धातु से बनकर ज्ञान से दीप्त आचार्य का वाचक है। 'त्वक्षेतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः' त्वक्ष धातु से बनकर यह उत्तम विद्यार्थी का निर्माण करनेवाले आचार्य का वाचक है। यह **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्त आचार्य **वीरम्**=वीरता से युक्त, वीर भावनावाले **देवकामम्**=देवताओं की कामनावाले शिष्य को **जजान**=द्वितीय जन्म देता है। माता-पिता से पैदा हुए-हुए इस विद्यार्थी को आचार्य वीर व दिव्यगुणों की कामनावाला बनाकर एक नया जन्म दे देता है। २. **त्वष्टुः**=इस विद्यार्थी के उत्तम जीवन का निर्माण करनेवाले आचार्य से **अर्वा**=काम, क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाला, **आशुः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाला **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त व्यक्ति **जायते**=उत्पन्न होता है, अर्थात् आचार्य विद्यार्थी को इस प्रकार की शिक्षा देता है कि वह वासनाओं को जीतनेवाला, कर्मव्याप्त जीवनवाला, आलस्यशून्य बनता है। ३. **त्वष्टा**=यह विद्यार्थी के जीवन का निर्माता आचार्य **इदं भुवनम्**=इस भूतग्राम को **विश्वम्**=(सर्वं) पूर्ण **जजान**=बनाता है, अर्थात् यह उसके शरीर को स्वस्थ व नीरोग, मन को निर्मल, वासनाशून्य तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है। शरीर से इसे 'वसु'=उत्तम निवासवाला, मन से 'रुद्र'=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारणपूर्वक वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला तथा मस्तिष्क से 'आदित्य'=सब ज्ञानों का आदान करनेवाला बनाता है। इसके मस्तिष्क में 'भारती' का निवास कराता है, मन में 'सरस्वती' का तथा शरीर में 'इडा' का। इस प्रकार आचार्य अपने विद्यार्थियों के जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। ४. इस प्रकार **बहोः कर्त्तारम्**=(बह् to strengthen, to make firm) दृढ़ व सबल जीवन का निर्माण करनेवाले इस आचार्य को **इह**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में हे **होतः**=आचार्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाले विद्यार्थी! तू **यक्षि**=आदर देनेवाला बन।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को 'वीर, देवकाम, अर्वा, आशु, अश्व, विश्वं (पूर्ण) व बहु (दृढ़)' बनाये। विद्यार्थी आचार्य के प्रति सदा सन्मान की भावनावाला हो।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अश्व

अश्वो॑ घृतेन॒ त्मन्या॒ सम॑क्तु॒ऽउप॑ दे॒वाँ२॥ऽऋ॑तु॒शः पाथ॑ऽएतु।
वन॒स्पति॑र्देवलो॒कं प्र॑जा॒नन्न॒ग्निना॑ ह॒व्या स्व॑दि॒तानि॑ वक्षत्॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'त्वष्टा' आचार्य विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता है तब यह **अश्वः** =सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **त्मन्या**=स्वयं **घृतेन**=मलों के क्षरण से, मलों के दूरीकरण से तथा ज्ञान की दीप्ति से **समक्तः**=अलंकृत हो जाता है (घृ क्षरणदीप्तयोः) २. यह अश्व **ऋतुशः**=ऋतु के अनुसार **पाथे**=मार्ग पर चलता हुआ (पथ गतौ) **देवान्**=देवों के **उप एतु**=समीप प्राप्त होता है। इसका जीवन कर्मव्याप्त होता है, यह ऋतु के अनुसार बड़े नियमित जीवनवाला होता है और इसी कारण मनुष्यों से ऊपर उठता हुआ यह 'देव' बन जाता है। ३. यह **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का स्वामी **देवलोकं प्रजानन्**=(हेतौ शतृ) देवलोक को जानने व अनुभव करने के हेतु से, देवलोक को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से **अग्निना स्वदितानि**=अग्नि से स्वाद लिये गये **हव्या**=हव्य पदार्थों को ही **वक्षत्**=अपने को प्राप्त कराता है, अर्थात् पहले अग्निहोत्र आदि यज्ञों में यह हव्य पदार्थों को डालता है और यज्ञशेष का ही सेवन करता है। यह यज्ञशेष का सेवन इसे अमृतत्व प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ— कर्मव्याप्त जीव निर्मल व ज्ञानी बनता है। यह मार्ग पर चलता हुआ देवों के समीप पहुँचता है। देवलोक को प्राप्त करने की कामना से यज्ञशेष का सेवन करता है।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

तप द्वारा वर्धन

प्र॒जाप॑ते॒स्तप॑सा वावृधा॒नः स॒द्यो जा॒तो द॑धिषे य॒ज्ञम॑ग्ने।
स्वाहा॑कृतेन ह॒विषा॑ पुरोगा या॒हि सा॒ध्या ह॒विर॑दन्तु दे॒वाः॥११॥

१. **प्रजापतेः**=प्रजापति के **तपसा**=तप से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ, अर्थात् प्रजापति जैसे तप से सृष्टि का निर्माण करते हैं, इसी प्रकार तू भी तप से अपने जीवन का निर्माण करता है। २. तप से वृद्धि को प्राप्त करते हुए **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सद्यः जातः**=शीघ्र ही आचार्यकुल से द्वितीय जन्म को प्राप्त करके **यज्ञं दधिषे**=यज्ञ को धारण करता है। गृहस्थ बनने पर तू पाँचों यज्ञों को करनेवाला बनता है। ३. प्रभु कहते हैं कि तू **स्वाहाकृतेन**=स्वार्थत्याग के द्वारा किये हुए इन यज्ञों से **हविषा** =दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **पुरोगाः**=आगे और आगे जानेवाला होकर **याहि**=जीवनयात्रा में चल। ६. **साध्या देवाः**=(साधनात् नि० १२।४०)=साधना करनेवाले देव **हविः अदन्तु**=सदा हवि का ही सेवन करें। वस्तुतः देव की मूलसाधना है ही यही कि वे यज्ञशील होते हैं।

भावार्थ—अग्रगामी जीवन में तप है, यज्ञ है। सबसे बड़ी साधना त्याग ही है।

ऋषिः—भार्गवो जमदग्निः। देवता—यजमानः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अर्वा

यदक्र॑न्दः प्रथ॒मं जाय॑मानऽउ॒द्यन्त्स॑मु॒द्रादु॒त वा॒ पुरी॑षात्।
श्ये॒नस्य॑ प॒क्षा ह॑रि॒णस्य॑ बा॒हूऽउप॑स्तु॒त्यं महि॑ जा॒तं ते॑ऽअर्वन्॥१२॥

१. अब अध्याय के अन्त तक मन्त्र 'भार्गवजमदग्नि' के हैं। 'भृगु का अपत्य' भार्गव है, अपने ज्ञान को पूर्ण परिपाक करनेवाला (भ्रस्ज पाके)। जिसके वहाँ अग्नियाँ जीमती हैं, अग्नियों को हव्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, वह 'जमदग्नि' है। यह निमयपूर्वक अग्निहोत्रादि करनेवाला है। यह **समुद्रात्**=ज्ञान के समुद्र आचार्य से ('तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे'=तप करता हुआ आचार्य के समीप रहता है)। **उद्यन्**=उदय को प्राप्त होता हुआ **उत वा**=तथा **पुरीषात्**=(पृ पालनपूरणयोः) तीनों आश्रमियों का पालन व पूरण करनेवाले इस गृहस्थाश्रम से **उद्यन्**=उदय को प्राप्त करता हुआ **यत्**=जो **जायमानः**=प्रतिदिन निद्रा की समाप्ति पर आविर्भूत जीवनवाला होता हुआ, अर्थात् जागरितावस्था में आता हुआ **प्रथमम्**=सबसे पहले, किसी भी अन्य क्रिया को करने से पहले **अक्रन्दः**=प्रभु का आह्वान करता है (क्रदि आह्वाने) २. इसके **पक्षौ**=(पक्ष परिग्रहे)=ज्ञान व उपासनारूप पंख **श्येनस्य**=(श्यैङ् गतौ) बाज़ की भाँति गतिशील होते हैं, अर्थात् इसका ज्ञान इसे कर्म में प्रवृत्त करता है और यह कर्मों द्वारा ही प्रभु की उपासना करता है। ३. इसकी **बाहू**=बाहुएँ, भुजाएँ **हरिणस्य**=हरिण की भाँति दुःखों के हरण करनेवाले पुरुष की होती हैं, अर्थात् ये अपने प्रयत्नों से औरों के दुःख दूर करने में लगे रहते हैं। ४. हे **अर्वन्**=(अर्व to kill) प्रभु-स्मरण के द्वारा कर्मों में लगे रहने के द्वारा तथा लोकहित में प्रवृत्ति से वासनाओं के संहार करनेवाले जीव! **ते**=तेरा यह सब कर्म **महि उपस्तुत्यम्**=बड़ा स्तुति के योग्य **जातम्**=हो गया है, अर्थात् इस मार्ग पर चलने से तुझे यश-ही-यश मिला है।

भावार्थ—उठते ही हम प्रभु-स्तवन करें, आचार्य के समीप रहकर उन्नति को प्राप्त करें, गृहस्थ में सभी का पालन-पोषण करते हुए हम उन्नत हों। हमारा ज्ञान व उपासन हमें गतिशील बनाएँ। हमारे प्रयत्न औरों का दुःख हरण करने के लिए हों। इस प्रकार वासनाओं का संहार करने पर हमारा जीवन उत्तम होगा।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्रित, इन्द्र, गन्धर्व तथा वसु

यमेन दत्तं त्रितऽएनमायुनगिन्द्रऽएणं प्रथमोऽअध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वोऽअस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥१३॥

१. **यमेन**=सृष्टि के नियामक प्रभु से **दत्तम्**=दिये हुए **एनं अश्वम्**=इस इन्द्रियरूप अश्व को **त्रितः** (त्रीन् तनोति)=ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाला यह त्रित **आयुनक्**=ज्ञान, कर्म व उपासना में लगाता है, अथवा इस शरीररूप रथ में जोतता है। वस्तुतः इन ज्ञानादि में लगे रहने पर ही यह इन्द्रियाश्व हमारे वशीभूत होता है, इसका हम नियमन कर पाते हैं। २. **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **एणं अध्यतिष्ठत्**=इसपर अधिष्ठित होता है, इसको वशीभूत करता है। ३. **गन्धर्वः**=(गां वदेवाचं धारयतीति) वेदवाणी का धारक ज्ञानी पुरुष **अस्य**=इस इन्द्रियाश्व की **रशनाम्**=मनरूपी लगाम को **अगृभ्णात्**=ग्रहण करता है। मन को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखना ही वह उपाय है जिससे यह इन्द्रियाश्व हमारे वश में रहता है। ४. **सूरात्**=सूर्य से **अश्वम्**=इस इन्द्रियाश्व को **वसवः**=उत्तम निवासवाले लोग **निरतष्ट**=बनाते हैं। सूर्य जैसे निरन्तर चल रहा है उसी प्रकार निरन्तर गति के द्वारा इन इन्द्रियाश्वों का निर्माण होता है। क्रियाशून्यता से इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

भावार्थ—त्रित इन्द्रियाश्वों को जोतता है, इन्द्र इसका अधिष्ठाता बनता है, गन्धर्व

इसकी लगाम पकड़ता है, वसु इसका निर्माण करते हैं। 'त्रित' इन अश्वों को 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगाये रखता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय इन्हें वश में करता है 'ज्ञान में लगा पुरुष' इनकी लगाम को थामता है और 'निवास को उत्तम बनानेवाले' क्रियाशीलता द्वारा इन्हें सशक्त बनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यम-आदित्य

असि यमोऽअस्यादित्योऽअर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्तऽआहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥१४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियाश्वों को संयत करनेवाले के लिए कहते हैं कि तू **यमः असि**=इन्द्रियाश्वों का नियमन करनेवाला है, इसीलिए **आदित्यः असि**=उत्तमताओं व ज्ञान का आदान करनेवाला है। २. **अर्वन्**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले! तू **गुह्येन व्रतेन**=हृदयरूप गुहा से सम्बद्ध इस ब्रह्मचर्य के व्रत के द्वारा **त्रितः असि**='ऋग्, यजुः व साम' का विस्तार करनेवाला है, अथवा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को विस्तृत करता है, 'त्रीन् तरति' यह भी ठीक है कि तू काम, क्रोध व लोभ को तैर जाता है। ३. इस ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा तू **सोमेन**=सोमशक्ति से, वीर्यशक्ति से **समया**=समीपता से **विपृक्तः असि**=विशेषरूप से सम्बद्ध होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य का धारण करके तू शरीर में वीर्य को सुरक्षित करनेवाला बनता है। ५. इस सोम के सुरक्षित होने के कारण **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धनानि**='ऋग्, यजुः, साम' रूप तीन बन्धनों को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् सोम को मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाने पर तेरे मस्तिष्क में ऋग्, यजुः व साम का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों का नियमन करते हैं तो ज्ञान को ग्रहण करनेवाले आदित्य बनते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा हम सोम को सुरक्षित करते हैं और मस्तिष्क में 'ऋग्, यजुः व साम' को बाँधनेवाले होते है, अर्थात् इनके ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नौ व्रत अथवा परम जनित्र

त्रीणि तऽआहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा तऽआहुः परमं जनित्रम् ॥१५॥

१. हे भार्गव जमदग्ने! **ते दिवि**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धननि**=तीन बन्धन हैं, अर्थात् तू मस्तिष्क के विषय में तीन व्रतों में अपने को बाँधता है, (क) ऋग्वेद के द्वारा मैं प्रकृति का विज्ञान प्राप्त करूँगा, (ख) यजुर्वेद द्वारा मैं जीवन के कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करूँगा और (ग) सामवेद के द्वारा मैं उपास्य प्रभु से परिचित होने का प्रयत्न करूँगा। २. **त्रीणि अप्सु** (आपोमयाः प्राणाः) प्राणों के विषय में तेरे तीन बन्धन हैं। ये तीन बन्धन ही 'प्राण अपान, व्यान' अथवा 'भूः, भुवः, स्वः' या 'स्वास्थ्य, ज्ञान व जितेन्द्रियता' इन शब्दों से व्यक्त होते हैं। तू प्राणसाधना करके स्वस्थ बनता है, ज्ञानी बनता है, जितेन्द्रिय होने का प्रयत्न करता है। ३. **अन्तः समुद्रे**=(समुद्रम् अन्तरिक्षम्) इस अन्दर के समुद्र, अर्थात् सदा मोद व प्रसन्नता के साथ रहनेवाले (स+मुद्) हृदयान्तरिक्ष में **त्रीणि**=तेरे तीन बन्धन हैं। तेरा यह व्रत है कि (क) मैं इस हृदय को कामवासना से

आक्रान्त न होने दूँगा। (ख) मैं इसे क्रोधाभिभूत न होने दूँगा तथा (ग) मैं इसे लोभाविष्ट भी नहीं होने दूँगा। ४. **उत इव**=(=अपि च) और इस प्रकार **वरुणः**=श्रेष्ठ (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः) बनकर तू **मे**=मेरी **छन्त्सि**=(छन्दतिरर्चतिकर्मा) अर्चना व पूजा करता है। यह तेरा नौ व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही तेरी उपासना हो जाती है। यही वस्तुतः 'नवधा' भक्ति है। ५. हे **अर्वन्**=सब वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! ये बन्धन ही वे बाते हैं **यत्र**=जहाँ **ते**=तेरे **परमं जनित्रम्**=सर्वोत्कृष्ट विकास को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् ये व्रत का जीवन ही तुझे सर्वोत्कृष्ट विकास तक पहुँचाएगा।

भावार्थ—मनुष्य को मन्त्रवर्णित नौ व्रत धारण करने चाहिएँ। इन्हीं को प्रभु की उपासना समझना चाहिए। ये व्रत ही उसके जीवन का परम विकास करनेवाले होंगे।

ऋषिः—भार्गवो जमदग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

व्रतों के लाभ

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानांᳬसनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशनाऽअपश्यमृतस्य याऽअभिरक्षन्ति गोपाः॥१६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित व्रत मनुष्य को शक्तिशाली बनाते हैं, अतः उस व्रती का सम्बोधन ही 'वाजिन्' शब्द से करते हैं। हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **इमा**=ये व्रत ही **ते**=तेरे **अवमार्जनानि**=पापों का शोधन करनेवाले हो जाते हैं। व्रतों से जीवन पवित्र होता है। २. **इमा**=ये व्रत **सनितुः**=संविभागपूर्वक अन्नादि का सेवन करनेवाले व्रती पुरुष के जीवन में **शफानाम्**=(शम्)=शान्ति के **निधाना**=स्थापित करनेवाले होते हैं। व्रती पुरुष संविभागपूर्वक खाने को अपना महान् व्रत समझता है। यह संविभागपूर्वक खाना ही शान्ति का कारण बनता है। संसार के अन्दर 'परिग्रह'=सब-कुछ अपने लिए जुटाने की प्रवृत्ति ही संघर्षों व अशान्तियों का कारण है। ३. **अत्र**=यहाँ—इस व्रती जीवन में ही **ते**=तेरी **भद्रा**=कल्याणकर **रशना**=मेखला को **अपश्यम्**=देखता हूँ। रशना वा मेखला शब्द दृढ़ निश्चय के प्रतीक हैं। **याः**=जो मेखलाएँ व दृढ़ निश्चय **ऋतस्य अभिरक्षन्ति**=ऋत का रक्षण करते हैं। दृढ़ निश्चय होने पर मनुष्य ऋत से गिरता नहीं। **गोपाः**=ये निश्चय ही इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। विषय इतने सुन्दर व आकर्षक हैं कि ये इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेते हैं। बड़ा दृढ़ निश्चय होने पर ही मनुष्य अपने को विषयपङ्क में डूबने से रोक पाता है।

भावार्थ—व्रत हमें पवित्र बनाते हैं, ये हमारी शान्ति के निधान हैं। इन व्रतों में किये हुए दृढ़ निश्चय हममें ऋत का रक्षण करते हैं और इन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—भार्गवो जमदग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सूर्यद्वार से प्रभु की प्राप्ति

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरोऽअपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि॥१७॥

१. प्रभु गतमन्त्र के 'व्रती' अतएव 'वाजी' पुरुष से कहते हैं कि **ते मनसा**=तेरी मननशीलता के द्वारा **आत्मानम्**=आत्मा को **आरात् अजानाम्**=समीप ही जानता हूँ, अर्थात् मैं ऐसा देखता हूँ कि मननशीलता के द्वारा तू मेरे समीप पहुँचता जाता है। २. **अवः**=(अवस्तात्) इस निचले प्रदेश से **दिवा**=आकाश में **पतंगं पतयन्तम्** (अजानाम्)=सूर्य की ओर जाते हुए तुझे जानता हूँ। देवयान-मार्ग से जानेवाले व्यक्ति सूर्यद्वार से ही उस

अव्ययात्मा अमृतपुरुष को प्राप्त किया करते हैं। **'सूर्यद्वारणे ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा'**। ३. मैं **पतत्रि**=निरन्तर सूर्य की ओर चलनेवाले **शिरः**=तेरे इस मस्तिष्क को **अरेणुभिः**=रजोविकार से रहित, रजोगुण से ऊपर उठे हुए **सुगेभिः**=सरल व सात्त्विक **पथिभिः**=मार्गों से **जेहमानम्**=गति करते हुए को **अपश्यम्**=देखता हूँ, अर्थात् तू मस्तिष्क में निरन्तर ऊपर उठने की भावना को धारण करता है, तू रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्गों का आक्रमण करता है और इसी का परिणाम है कि तू सूर्यद्वार से मेरे समीप पहुँच रहा है। सबसे निचला लोक असुर्यलोक है, उससे ऊपर मर्त्यलोक, उससे ऊपर पितृयाण मार्ग से प्राप्त होनेवाला चन्द्रलोक और फिर देवयान से प्राप्त सूर्यलोक और अन्त में ब्रह्मलोक। एक व्रती पुरुष निरन्तर ऊपर उठता चलता है और ऊँचा-और-ऊँचा उठता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु व्रतीपुरुष के समीप होते हैं, यह व्रतीपुरुष सूर्यमार्ग से प्रभु को प्राप्त करता है, यह रजोगुण से ऊपर उठता हुआ, सात्त्विक मार्ग से चलता हुआ शिखर पर पहुँचता है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभुरूप दर्शन

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिषऽआ पदे गोः।
यदा ते मर्त्तोऽअनु भोगमानडादिद् ग्रसिष्ठऽओषधीरजीगः॥१८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मैं रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्ग पर चलता हूँ तब **अत्र**=यहाँ **ते**=तेरे **उत्तमम् रूपम्**=सर्वोत्तम सच्चिदानन्दरूप को **अपश्यम्**=देखता हूँ। जो तेरा रूप **जिगीषमाणम्**=मेरी सब वासनाओं को जीतने की कामना करता है, अर्थात् आपके रूपदर्शन से ही मेरी सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। २. आपके दर्शन से मैं **गोः पदे**=इस वेदवाणी के पद में दिव्य प्रेरणाओं को **अपश्यम्**=अपने सारे जीवन के लिए देखता हूँ। मुझे इन वेदवाणियों से सुन्दर प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। ३. इन प्रेरणाएँ को सुननेवाला **ते मर्तः**=आपका यह मनुष्य **यत्**=जब **अनु**=यज्ञ के बाद **भोगम् आनट्**=भोग को व्याप्त करता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करता है, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इन शब्दों के अनुसार त्यागपूर्वक उपभोग में प्रवृत होता है **आत् इत्**=तभी सचमुच यह **ग्रसिष्ठः**=सर्वोत्तम भक्षण करनेवाला होता है। अकेला खानेवाला तो निकृष्ट भोगी है। ४. यह उत्तम भोक्ता **ओषधीः अजीगः**=ओषधियों का ही निगरण करता है। यह कभी भी मांसभोजन में प्रवृत्त नहीं होता।

भावार्थ—सात्त्विक मार्ग पर चलने से प्रभु का दर्शन होता है, क्रोधादि को हम जीत पाते हैं, वेदवाणी से प्रतिपादित मार्ग पर चलते हैं, यज्ञशेष का सेवन करते हैं, ओषधि-वनस्पतियों को अपनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वानुकूलता

अनु त्वा रथोऽअनु मर्यो॑ऽअर्वन्ननु गावोऽनु भर्गः कनीनाम्।
अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते॥१९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के उत्तम रूप को देखते हैं और ओषधि-वनस्पतियों

का ही सेवन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **रथः त्वा अनु**=यह शरीररूप रथ तेरे अनुकूल होता है, **मर्यः अनु**=सामान्य मनुष्य तेरे अनुकूल होते हैं। २. हे **अर्वन्**=बुराइयों का संहार करनेवाले विद्वन्! **गावः अनु**=सब इन्द्रियाँ तेरे अनुकूल होती है, अथवा गौएँ तेरे अनुकूल होती है, तुझे स्वास्थ्यप्रद दूध देनेवाली होती है। **कनीनाम् भगः अनु**=कन्याओं का सौभाग्य तेरे अनुकूल होता है, अर्थात् तेरी पुत्रियाँ व पुत्रवधुएँ तेरे घर के सौभाग्य को बढ़ानेवाली होती हैं। तेरी पुत्रियाँ जहाँ भी जाती हैं वे तेरे घर की कीर्ति का कारण बनती हैं और तेरे घर में आई कन्याएँ भी तेरे घर की शोभा का कारण बनती हैं। ३. **व्रातासः**=मनुष्यों के गण व समाज **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और ये सब **तव सख्यम् ईयुः**=तेरी मित्रता को प्राप्त करते है। ५. **देवाः**=सूर्यादि सब प्राकृतिक देव भी **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और **ते वीर्यं ममिरे**=तेरी शक्ति का निर्माण करते हैं। यह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सब प्राकृतिक दिव्य शक्तियाँ तेरे अनुकूल होकर तुझे सशक्त बनाती हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाने पर हमें सारे संसार की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—भार्गवो जमदग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

हिरण्यशृंग अयः पाद

हिर॑ण्यशृङ्गो॒ऽयो॑ऽअस्य॒ पादा॒ मनो॑जवा॒ऽअव॑र॒ऽइन्द्र॑ऽआसीत्।
दे॒वाऽइद॑स्य हवि॒रद्य॑माय॒न्यो॑ऽअर्व॑न्तं प्रथ॒मोऽअ॒ध्यति॑ष्ठत्॥२०॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अर्वन्तम् अध्यतिष्ठत्**=इन इन्द्रियाश्वों पर अधिष्ठित होता है, अर्थात् इन इन्द्रियरूप अश्वों को अपने वश में करता है, वह पुरुष **हिरण्यशृंगः**=(हिरण्यवत् शृंगं दीप्तिर्यस्य, शृंगमिति ज्वलन्नामसु पठितम्) स्वर्ण के समान देदीप्यमान ज्ञानवाला होता है अथवा इसका शृंग—शिखर, अर्थात् मस्तिष्क ज्ञाऩज्योति से चमकता है और **अस्य पादाः**=इसके पैर **अयः**=लोहा होते हैं—लोहे की भाँति सुदृढ़ इसकी टाँगे होती है, मस्तिष्क में ज्ञान और पाँवों में चलने की शक्ति। २. यह **अवरः इन्द्रः**=उस महेन्द्र प्रभु का छोटा भाई उपेन्द्र (अवर इन्द्र) जीव **मनोजवा आसीत्**=मन में वेगवाला होता है, अर्थात् इसका मन बड़ा ठीक कार्य करनेवाला होता है। ३. **देवाः**=ज्ञानी—विद्वान् लोग **इत्**=निश्चय से **अस्य** इसके **अद्यम् हविः**=खाने योग्य हव्य पदार्थ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। इसके गृह पर आतिथिरूपेण आकर इसके आतिथ्य को स्वीकार करते हैं और सात्त्विक भोजन का सेवन करते हैं। वस्तुतः इनके निरन्तर सम्पर्क में बने रहने के कारण ही यह 'हिरण्यशृंग, अयः पाद, मनोजवाः' बन पाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रिय बनकर हम ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले, सुदृढ़ पाँववाले, कार्यपटु मनवाले तथा देवों का आतिथ्य करनेवाले बनें।

ऋषिः—भार्गवो जमदग्निः। देवता—मनुष्याः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ईर्मान्त सिलिकमध्यम

ई॒र्मान्ता॑सः॒ सिलि॑कमध्यमा॒सः॒ सᳪशूर॑णासो दि॒व्यासो॒ऽअत्याः॑।
ह॒ᳪसाऽइ॑व श्रेणि॒शो यत॑न्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वाः॑॥२१॥

१. **ईर्मान्तासः**=(ईर्यते ईर्मः प्रेरितः अन्तः येषां ते) जिनके प्रान्तभाग प्रकृष्ट गतिवाले हैं। गतमन्त्र में 'हिरण्यशृंगः अयो अस्य पादाः' इन शब्दों में मस्तिष्क की उज्ज्वलता व

पाँवों की सुदृढ़ता का उल्लेख हुआ था। वही यहाँ 'ईर्मान्तासः' शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है। इनका उज्ज्वल मस्तिष्क सब विषयों के समझने में खूब गतिशील है तो इनके पाँव सुदृढ़ हैं। २. **सिलिकमध्यमासः**=(सिलिकः शिलष्टः संलग्नो मध्यमो येषां ते कृशोदराः) इनका उदर पीठ से लगा हुआ है, अर्थात् ये कृश उदरवाले हैं। 'मस्तिष्क मजबूत, पाँव प्रबल, पर पेट पतला' यह है इन वीर पुरुषों का चित्रण। ३. **शूरणासः**=(शू शीघ्रं रणः युद्धविजयो येषां) शीघ्रता से युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाले और अध्यात्म-विजय प्राप्त करके **दिव्यासः**=(दिवि भवाः) सदा प्रकाश में निवास करनेवाले **अत्याः**=सतत गतिशील ये होते हैं। ४. और **हंसा इव श्रेणिशः** =जैसे हंस पंक्ति में इक्ट्ठे उड़ते हैं, इसी प्रकार ये लोग भी **श्रेणिशः**=श्रेणियाँ बनाकर, **संयतन्ते**=मिलकर धनार्जन का प्रयत्न करते हैं। इसका यह परिणाम स्वाभाविक है कि धन का समाज में बहुत विषम विभाग नहीं हो पाता। ५. इस विषम विभाग के न होने से अतिधनी होकर ये धन व विषयों में डूब नहीं जाते और अति दरिद्र होकर भूखे नहीं मर जाते। इस प्रकार **अश्वाः**=शक्तिशाली बने हुए ये पुरुष **दिव्यम् अज्मम्**=सुन्दर दिव्य गुणों के पनपाने के कारणभूत मार्ग को **आक्षिषुः**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा उस मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं, जो उनके जीवन को दिव्य बनाता है।

भावार्थ—हम प्रबल मस्तिष्क व पाँववाले हों, कृशोदर हों, युद्ध में शीघ्र विजयी, दिव्य व गतिशील बनें। हंसों की भाँति मिलकर सहकारी समितियों के रूप में काम करें और इस प्रकार शक्तिशाली बनकर दिव्य मार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**वायवः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पतयिष्णु-ध्रजीमान्

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥२२॥

१. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **तव शरीरम्**=तेरा यह शरीर **पतयिष्णु**=गति के स्वभाववाला हो, अर्थात् क्रिया तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वभाव बन जाए। तू सब अङ्गों से गतिशील बन। २. **तव चित्तम्**=तेरा चित्त **वात इव**=वायु की भाँति **ध्रजीमान्**=गति व वेगवाला है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय के प्रति जानेवाला है। तेरा चित्त कभी शिथिल नहीं होता। ३. **तव शृङ्गाणि**=तेरी ज्ञान दीप्तियाँ (शृङ्गम् इति ज्वलतो नामधेयम्) **पुरुत्रा**=विद्युत्, चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि अनेक विषयों में **विष्ठिता**=विशेषरूप से स्थित हैं, अर्थात् तेरा ज्ञान व्यापक है। ४. यह तेरा शरीर, यह तेरा चित्त तथा ये तेरा ज्ञान **अरण्येषु**=एकान्त स्थानों में, उस प्रभु के ध्यान के द्वारा **जर्भुराणा**=(जर्भुराणानि) देदीप्यमान व (जृम्भ विकसने) विकसित होकर **चरन्ति**=अपना-अपना कार्य करते हैं।

भावार्थ— प्रभु के उपासन से शरीर की गतिशीलता, चित्त की विज्ञान-कुशलता व ज्ञानदीप्तियों की विविधता विकसित होती है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'कवि व रेभ'—प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः॥२३॥

१. **वाजी**=गतमन्त्र के अनुसार अरण्य प्रदेशों में उपासना के द्वारा शक्तिशाली बना

हुआ यह पुरुष **शसनम्**=वासनाओं के संहार को **उपप्रागात्**=समीपता से सम्यक्तया प्राप्त करता है। वस्तुतः शक्ति के साथ ही गुणों का वास होता है और निर्बलता में वासनाएँ पनपती हैं। २. शक्तिशाली बनकर **अर्वा**=वासनाओं का संहार करनेवाला यह 'भार्गव' **देवद्रीचा**=(देवान् अञ्चति) दिव्य गुणों व दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के प्रति जानेवाले **मनसा**=मन से **दीध्यानः**=देदीप्यमान होता है। ३. इसके द्वारा अपने प्रत्येक कर्म में **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाला प्रभु **पुरः**=आगे **नीयते**=प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् यह प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में प्रभु का स्मरण करता है। ४. यह प्रभु ही **अस्य**=इस भार्गव के जीवन का **नाभिः**=केन्द्र होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में प्रभु को केन्द्र बनाकर चलता है। ५. **पश्चात्**=पीछे, अर्थात् प्रभु स्मरण के बाद **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी **रेभाः**=स्तोता लोग **अनुयन्ति**=अनुकूलता से चलते हैं, अर्थात् लोगों के अविरोध से जीवनयापन करते हैं। ये किन्हीं भी लोकविद्विष्ट कार्यों को नहीं करते।

भावार्थ—शक्तिशाली बनकर हम वासनाओं का संहार करें। प्रभु में मन लगाकर हम देदीप्यमान जीवनवाले हों। प्रत्येक कार्य को प्रभु-स्मरण से प्रारम्भ करें। प्रभु ही हमारा केन्द्र हो। हम ज्ञानी स्तोता बनकर अनुकूलता से कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ब्रह्मनिष्ठता का मार्ग

उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वाँ२॥ऽअच्छा पितरं मातरं च।

अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्याऽअथा शास्ते दाशुषे वार्याणि॥२४॥

१. **अर्वान्**=(नलोपाभावश्छान्दसः, अर्वा) वासनाओं का संहार करनेवाला यह व्यक्ति उस स्थान को **उपप्रागात्**=प्राप्त हुआ है **यत्**=जो **परमं**=सर्वोत्कृष्ट **सधस्थम्**=परमात्मा व आत्मा का 'महेन्द्र व उपेन्द्र का' एकत्र स्थित होने का स्थान है। इसे ही मोक्षलोक कहते हैं, इसमें उपनिषद् के 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' शब्दों के अनुसार यह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ विचरता है। यह पुरुष ब्रह्मनिष्ठ होकर सब कार्यों को किया करता है। २. यह अपने जीवन के प्रराम्भ में **मातरम् पितरम् च अच्छ**=माता और पिता की ओर **गम्याः**=जाता है। माता के शिक्षणालय में सच्चरित्र बनकर, पिता के शिक्षणालय में सदाचार का शिक्षण प्राप्त करता है। ३. और **अद्य**=आज सच्चरित्र, सदाचारी बनकर **जुष्टतमः**=प्रीततम होता हुआ, अर्थात् प्रसन्न मन से ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता हुआ **हि**=निश्चय से **देवान्**=ज्ञानी विद्वानों को **गम्याः**=प्राप्त होता है। इनके समीप रहकर ही तो यह विविध विद्याओं का अध्ययन करेगा। ४. अब यह आचार्य भी—इन विज्ञानी विद्वानों में से प्रत्येक विद्वान् **दाशुषे**=इस आत्मसमर्पण करनेवाले विद्यार्थी के लिए **वार्याणि**=वरणीय ज्ञानों को **आशास्ते**=चाहता है। आचार्य का प्रयत्न होता है कि वह इस जुष्टतम विद्यार्थी को ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करानेवाला हो सके।

भावार्थ—वासनाओं के विनाश से हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। यहाँ पहुँचने के लिए हमारे जीवन का निर्माण माता, पिता व आचार्यों के शिक्षणालय में सच्चरित्रता, सदाचार व ज्ञान के शिक्षण से होता है। हम आचार्यों के प्रति अपना अर्पण करते हैं, आचार्य हमें ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—विद्वान्। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु का दूत

समिद्धोऽअ॒द्य मनु॑षो दुरो॒णे दे॒वो दे॒वान्य॑जसि जातवेदः।
आ च॒ वह॑ मित्रमहश्चिकि॒त्वान्त्वं दू॒तः क॒विर॑सि॒ प्रचे॑ताः ॥२५॥

१. 'गतमन्त्र का ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति किस प्रकार प्रभु को प्रीणित करता है' यह अगले १२ 'आप्री' मन्त्रों में वर्णन करते हैं। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति की प्रथम विशेषता यह है कि **अद्य**=आज **मनुषः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले के **दुरोणे**=इस शरीररूप गृह में, जिसमें से सब बुराइयों का अपनयन (दूर) कर दिया है (ओण् अपनयने), **समिद्धः**=खूब ज्ञान की दीप्तिवाला बना है, अर्थात् यह इस शरीर को निर्मल बनाता है और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता है। २. हे ब्रह्मनिष्ठ! तू **जातवेदः**=जात-प्रज्ञानवाला होकर, अर्थात् ज्ञानी बनकर **देवः**=दानादि गुणों से युक्त हुआ-हुआ **देवान् यजसि**=देवों का यजन करता है, मान्य व्यक्तियों को आदर देता है, विद्वानों का ही संग करता है और सदा उनके लिए दानशील होता है। ३. हे **मित्रमहः**=स्नेहयुक्त, तेजस्वितावाले (मित्रम् महो यस्य) ब्रह्मनिष्ठ पुरुष! तू **चिकित्वान्**=चेतनावाला होकर, अर्थात् बड़ा समझदार बनकर **आवह**=इस ज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला बन। **त्वम् दूतः**=तू उस प्रभु का सन्देशवाहक है, प्रभु के दिये सन्देश को तूने मनुष्यमात्र तक पहुँचाना है। **कविः असि**=तू क्रान्तदर्शी है, लोगों की मनोवृत्ति को समझकर उन्हें ठीक प्रकार से ही ज्ञान देनेवाला है, **प्रचेताः**=तू प्रकृष्ट संज्ञानवाला है। तू अपने ज्ञान के प्रसार से लोगों को एक-दूसरे के समीप लानेवाला होता है। इस प्रकार लोकहित करता हुआ तू अपनी ब्रह्मनिष्ठता को व्यक्त करता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति (क) शरीर-गृह को पवित्र बनाकर ज्ञान संचय करता है, (ख) देवों के संघ में रहता है, (ग) स्नेहशील, तेजस्वितावाला बनकर लोगों को ज्ञान प्राप्त कराता है, (घ) यह प्रभु का बड़ा समझदार दूत बनता है।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—विद्वान्। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

तनूनपात्

तनू॑नपात्प॒थऽऋ॒तस्य॒ याना॒न्मध्वा॑ सम॒ञ्जन्त्स्व॑दया सुजिह्व।
मन्मा॑नि धी॒भिरु॒त य॒ज्ञमृ॒न्धन्दे॑व॒त्रा च॑ कृणुह्यध्व॒रं नः॥२६॥

१. गत मन्त्र के ब्रह्मनिष्ठ का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि तू **तनूनपात्**=अपने शरीर को गिरने नहीं देता, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट नहीं करता। २. **ऋतस्य पथः यानान्**=ऋत के मार्ग पर गमनों को तू **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करनेवाला होता है। तू सदा ऋत के मार्ग पर चलता है और तेरे वे सब आने-जाने के मार्ग माधुर्य से युक्त होते हैं। तू किसी को अपनी गतियों से पीड़ित नहीं करता। ३. **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले! तू **स्वदया**=सभी के जीवन को स्वादयुक्त बनानेवाला होता है। तेरी वाणी से ऐसे मधुर शब्द उच्चरित होते हैं कि सुननेवाले को आनन्द की अनुभूति होती है। ४. तू **मन्मानि** =अपने ज्ञानों को **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **ऋन्धन्**=बढ़ानेवाला होता है। ५. **उत**=और **यज्ञम्**=तू अपने जीवन में यज्ञ को बढ़ाता है। ६. **च**=और **नः**=हमारे, हमसे उपदिष्ट, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदोपदेश द्वारा किये गये इस **अध्वरम्**=यज्ञ को **देवत्रा**=

देवों के विषय में तू **कृणुहि**=कर। ब्रह्मादि पाँचों यज्ञों को करनेवाला तू बन। ये यज्ञ ही तेरा इस लोक व परलोक में कल्याण करेंगे। यज्ञों से ही तू हमारी भी आराधना कर रहा होगा, अथवा **अध्वर**=किसी प्रकार की हिंसा करनेवाला तू न हो।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ को चाहिए कि (क) शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रक्खे, (ख) ऋत के मार्ग का मुधरता से आक्रमण करे, (ग) मधुर शब्दों से सबके मनों को आनन्दित करे। (घ) बुद्धियों से ज्ञान को बढ़ाए (ङ) यज्ञ को सिद्ध करे, (च) देवों के विषय में यज्ञों को करनेवाला हो, अर्थात् उनकी हिंसा से दूर रहे।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—विद्वान्। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुक्रतु-शुचि

नराशꣳसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।
ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवाऽउभयानि हव्या॥२७॥

१. **नराशंसस्य**=मनुष्यों से शंसन के योग्य **यजतस्य**=सबके साथ संगतिकरणवाले अथवा सब-कुछ देनेवाले (यज संगतिकरणदान) पूज्य (यज=पूजा) प्रभु की **एषाम्**=इन लोगों से **यज्ञैः**=लोकहित के कर्मों द्वारा होनेवाली **महिमानम्**=पूजा को **उपस्तोषाम्**=हम स्तुत करते हैं, अर्थात् इन लोगों से की जानेवाली प्रभु की महिमा (पूजा) की हम प्रशंसा करते हैं। **ये**=जो (क) **सुक्रतवः**=उत्तम संकल्प, कर्म व प्रज्ञानवाले हैं, (ख) **शुचयः**=अर्थ के दृष्टिकोण से पवित्र हैं। (ग) **धियन्धाः**=जो बुद्धि व ज्ञानपूर्वक कर्मों को धारण करनेवाले हैं, और (घ) जो **देवाः**=देववृत्तिवाले बनकर **उभयानि**=बुद्धि व शरीर दोनों के दृष्टिकोण से **हव्या**=ग्रहण योग्य पदार्थों को **स्वदन्ति**=आनन्द से सेवन करते हैं। ये खाने योग्य पदार्थों को ही खाते हैं और खाने योग्य पदार्थ इनके दृष्टिकोण में वे ही हैं जो बुद्धि के वर्धक हैं तथा स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हैं। ३. इस प्रकार ये लोग प्रभु की क्रियात्मिक भक्ति करते हैं, इनकी भक्ति दृश्यभक्ति है। यही भक्ति प्रशंसनीय है। केवल गुणानुवाद स्तवन तो श्रव्यभक्ति है, वह प्रभु को प्रीणित नहीं कर सकती। प्रभु तो हमारे कर्मों से ही प्रीणित होंगे।

भावार्थ—हम सुक्रतु, शुचि, धी-सम्पन्न व हव्यों के ग्रहण करनेवाले बनकर प्रभु की सच्ची भक्ति करनेवाले हों।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

ईड्य वन्द्य

आजुह्वानऽईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता सऽएनान्यक्षीषितो यजीयान्॥२८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **आयाहि**=आइए। जो आप (क) **आजुह्वानः**=(आहूयमानः) सभी से पुकारे जाते हैं, सज्जनों से सुख में, दुर्जनों से दुःख में, (ख) **ईड्यः** =स्तुति के योग्य हैं, (ग) **वन्द्यः**=अभिवादनीय हैं, (घ) **वसुभिः सजोषाः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले हैं, (ङ) उन देवों को भी वस्तुतः देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्', (च) **होता**=आप ही सब-कुछ देनेवाले है। २. **सः**=वे आप **इषितः**=हमसे सत्कृत हुए-हुए **एतान्**=इन-हम सबको **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। आप **यजीयान्**=अतिशयेन यष्टा हैं। अत्यन्त पूज्य हैं तथा हमें सब

आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप स्तुति के योग्य तथा वन्दनीय हैं, आप ही सर्वमहान् देव हैं, सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, आप हमें प्राप्त होइए।

नोट—यह्व होता=यह्वः चासौ होता च।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अन्तरिक्षम्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** स्वरः—**पञ्चमः**।

विशाल व वासनाशून्य हृदय

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यतेऽअग्रेऽअह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्योऽअदितये स्योनम्॥२९॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'वसुभिः सजोषाः'—'वसुओं के साथ प्रीतिवाला' कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में 'वसु' बनने के मार्ग का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि **अस्याः पृथिव्याः**=इस शरीर के (पृथिवी शरीरम्) **वस्तोः**=उत्तम निवास के लिए **प्राचीनं बर्हिः**=यह (प्र अञ्च्) अग्रगति की भावनावाला, वासनाशून्य हृदय **अह्नाम् अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में ही अर्थात् प्रातःकाल के समय **प्रदिशाः वृज्यते**=वेदोपदिष्ट मार्ग दोषवर्जित किया जाता है। हम हृदय को उषाःकाल में ही पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। २. दोषशून्य किया जाने पर यह **वितरम्**=खूब **वरीयः**=विशाल हृदय **उ**=निश्चय से **विप्रथते**=(प्रथ= विस्तारे) विशेषरूप से विस्तीर्ण बनता है। ३. यह विस्तीर्ण हृदय **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है, अर्थात् इस विस्तीर्ण हृदय में दिव्य गुणों का विकास आसानी से होता है और यह हृदय **अदितये**=अखण्डन के लिए, स्वास्थ्य के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है। हृदय में होनवाली वासनाएँ व संकुचित भावनाएँ शरीर-स्वास्थ्य को नष्ट करने में प्रबल स्थान रखती हैं। वासनाएँ गई, विशालता आई तो यह शरीर स्वस्थ हो जाता है। मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार 'वसु' बनने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि हम वेद में प्रभु से उपदिष्ट मार्गों से हृदय को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु के प्रिय बनने के लिए हम हृदय को विशाल च वासनाशून्य बनाएँ। शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का प्रयत्न करें। 'वसु' बनकर ही हम प्रभु के प्रिय बन सकेंगे।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दिव्य इन्द्रियद्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥३०॥

१. 'वसुओं' की—उत्तम निवासवालों की इन्द्रियाँ **व्यचस्वतीः**=(व्यञ्चनवत्यः गमनवत्यः) उत्तम गमनों व क्रियाओंवाली होकर **उर्विया**=(उरवो विशालाः—उ०) विशाल हों और **विश्रयन्ताम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) विशिष्ट कार्यों का सेवन करनेवाली हों। २. **न**=जिस प्रकार **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **शुम्भमानाः**=अपने को शोभित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ आत्मा के लिए अपने को शोभित करनेवाली हों ३. **देवीः द्वारः**=ये सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ **बृहतीः**=वृद्धि का कारण बनें। **विश्वमिन्वाः**=(विश्वम् एति गच्छति यासु ताः) सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हों। ४. ये इन्द्रियाँ **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **सुप्रायणाः**=(सुप्रगमनाः) प्रकृष्ट

गमनवाली हों, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय अपने मार्ग पर उत्तमता से आक्रमण करनेवाली हो, जिससे हममें उत्तरोतर दिव्यता का विकास हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार प्रकृष्ट गमनवाले हों, विशाल हों, अपने को उत्तम शक्तियों, उत्तम ज्ञानप्राप्तियों व कर्मों से सुभूषित करें, दिव्य बनें, हमारी वृद्धि का कारण बनें, सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान को ग्रहण करनेवाले हों। ये सदा उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, जिससे हममें उत्तरोत्तर दिव्य गुणों का विकास होता चले।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—स्त्रियः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

स्मयमान दिन-रात

आ सुष्वयन्ती यजतेऽउपाकेऽउषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मेऽअधि श्रियंशुक्रपिशं दधाने॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के उत्तम होने पर हमारे **उषासानक्ता**=दिन व रात **आसुष्वयन्ती**=सब प्रकार से स्मयमान होते हुए (स्मयतेः निरुपसर्गात्, मकारस्य नकारः) खिलते हुए, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से विकास को प्राप्त होते हुए, **यजते**=यज्ञशील होते हुए **उपाके**=(उप समीपम् अकतः, अक गतौ) प्रभु के समीप उपस्थित होनेवाले **योनौ**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **निसदताम्**=नम्रता से स्थित हों, अर्थात् हम दिन व रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। यह उपसना ही हमारे सर्वतोमुखी विकास का कारण बनेगी। २. **दिव्ये**=ये दिन-रात हमें प्रकाश में स्थापित करनेवाले हों, अर्थात् हम प्रातः व सायं प्रभु-उपासन के साथ स्वाध्याय अवश्य करें। ३. **योषणे**=स्वाध्याय के द्वारा ये दिन-रात हमें बुराइयों से अमिश्रित व अच्छाइयों से मिश्रित करनेवाले हों। हमारे दुर्गुणों को ये दूर करें व सुगुणों को प्राप्त कराएँ। 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव'। इस प्रकार ये **बृहती**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **सुरुक्मे**=उत्तम सुवर्ण व कान्ति को प्राप्त करानेवाले बनें। ४. ये दिन-रात हममें **शुक्रपिशम्**=(शुक्र वीर्य, पिश् to shape) वीर्य के द्वारा जिसका निर्माण होता है उस **श्रियम्**=शोभा को **अधि दधाने**=आधिक्येन धारण करनेवाले हों। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि की दीप्ति से हमें शुक्र, शुक्ल, श्वेत श्री की प्राप्ति होती है तथा इस वीर्यरक्षा के द्वारा ही 'कपिश श्री' स्वास्थ्य के कारण चेहरे पर तेजस्विता की सुनहली झलक प्राप्त होती है। इस प्रकार ये दिन-रात हमें भी सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—हमारे दिन-रात स्मयमान हों। यज्ञव्यापृत प्रभु की उपासना में लगे हुए ये दिन-रात हमारी बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को प्राप्त कराते हुए हमें भी सम्पन्न करें।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्राणापान

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥३२॥

१. हमारे प्राणापान **दैव्या होतारा**=उस देव=(प्रभु) को प्राप्त करानेवाले होता हैं। **प्रथमा**=ये इस शरीर में रहनेवाले देवों में प्रथम हैं, इनके जाने पर शरीर की दुर्गति ही क्या, समाप्ति ही हो जाती है, अतः प्राण ही वरिष्ठ व श्रेष्ठ हैं। **सुवाचा**=उत्तम वाणीवाले हैं, प्राणशक्ति की क्षीणता से वाणी भी क्षीण होने लगती है और अपान के ठीक कार्य न करने

से तो वाणी समाप्त ही हो जाती है। २. इस **मनुषः**=मननशील पुरुष के **यजध्यै**=(यष्टुं) प्रभु से मेल कराने के लिए **यज्ञम् मिमाना**=ये प्राणापान यज्ञों का निर्माण करते हैं। प्राणापान की शक्ति से ही सब यज्ञ चलते हैं। ३. ये प्राणापान साधना करनेवाले मनुष्य को **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचोदयन्ता**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्राणापान का साधक ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण ज्ञान की रुचिवाला होता है। **कारू**=ये प्राणापान प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण ढंग से करनेवाले हैं। शरीर में प्राणापान की शक्ति के ठीक होने पर कार्यों में भी सौन्दर्य व कला प्रकट होती है। प्राणापान की दुर्बलता होने पर कार्य में उत्साह नहीं होता और परिणामतः वहाँ अनाड़ीपन व भद्दापन टपकता है। ४. ये प्राणापान **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **प्राचीनम् ज्योतिः**=उन्नति के साधनभूत अथवा सनातन (शाश्वत) ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से हृदय का वह नैर्मल्य प्राप्त होता है जिससे अन्तःस्थ प्रभु की ज्योति का हममें आभास होता है। यह ज्योति हमारी निरन्तर उन्नति का कारण बनती है, यह प्राचीन है, हमें आगे ले-चलनेवाली है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें प्रभु से मिलाती है, ज्ञान को बढ़ाती है, हमारे कार्यों में सौन्दर्य लाती है, सनातन ज्योति का आभास कराती है।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—वाक्। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

स्वपस के बर्हि में

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदथं स्योनꣳ सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥३३॥

१. **नः**=हमारे **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ में **भारती**=(भरतः आदित्यः, तस्य इयं भारती) सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति **तूयम्**=शीघ्र **आ**=सब प्रकार से **एतु**=प्राप्त हो। २. **मनुष्वत्**=एक ज्ञानी पुरुष को जैसे चाहिए उस प्रकार **इह**=इस जीवनयज्ञ में **चेतयन्ती**=चेतना को प्राप्त कराती हुई, संज्ञानवाला करती हुई **इडा**=यह श्रद्धा नामक देवता भी हमारे जीवनयज्ञ में शीघ्रता से प्राप्त हो। श्रद्धा न रहने पर 'जीवन' यज्ञ नहीं रहता, यह भोग का स्थान बन जाता है। 'Eat, drink and be merry'='खाओ-पीओ, मौज उड़ाओ' यह उनके जीवन का सिद्धान्त बन जाता है। ३. भारती व इडा के साथ **सरस्वती**=यह वाणी देवता भी है और इस प्रकार **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वपसः**=(सु अपस्) उत्तम कर्मशील पुरुष के **इदम् स्योनम्**=इस सुखमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**= आसीन हों, अर्थात् हम 'भारती, इडा व सरस्वती' इन तीनों देवियों को अपनाने का प्रयत्न करें। इन तीनों देवियों को अपनानेवाला व्यक्ति वही होता है जो 'स्वपस्' हो, उत्तम कर्मोंवाला हो। इस उत्तम कर्मोंवाले का हृदय वासनाशून्य होता है और वासनाशून्य हृदय में ही इन देवियों का स्थान है।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'भारती, इडा व सरस्वती' तीनों देवियों का समुचित स्थान हो।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—विद्वान्। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

त्वष्टा का उपासन

यऽइमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंꣳशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥३४॥

१. **यः**=जो त्वष्टा **इमे**=इन **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को और **जनित्री**=सब

भूतों को जन्म देनेवाला है, उनको **रूपै अपिंशत्**=रूपों से अलंकृत करता है तथा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को रूपों से सजाता है, अर्थात् जिस त्वष्टा के कारण उस-उस पिण्ड व लोक में अमुक-अमुक सौन्दर्य है **तम्**=उस **देवं त्वष्टारम्**=दिव्य गुणोंवाले सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले त्वष्टादेव को, हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! **इषितः**= प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **यजीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील विद्वान्, ज्ञानी तू **इह**=इस मानव-जीवन में **यक्षि**=संगत कर। २. वे प्रभु जैसे सूर्यादि देवों को रूपों से अलंकृत करते हैं, वैसे तुझे भी रूपों से अलंकृत करेंगे। तू 'इषित' बन, प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बन, तू यजीयान हो, अतिशयेन यज्ञशील हो। विद्वान् व ज्ञानी बन। इस प्रकार बनने का प्रयत्न करने पर ही तू प्रभु-सम्पर्क को प्राप्त करेगा और तेरा जीवन भी द्युलोक व पृथिवीलोक की तरह रूपों से अलंकृत होगा।

भवार्थ—त्वष्टा ब्रह्माण्ड का निर्माता होकर उसे सौन्दर्य प्रदान करता है, हम उसके सम्पर्क में आएँगे तो वह हमें भी सौन्दर्य प्रदान करेगा।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वनस्पति-शमिता-देव-अग्नि

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथऽऋतुथा हवींꣳषि।
वनस्पतिः शमिता देवोऽअग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥३५॥

१. हे जमदग्ने! तू **त्मन्या**=स्वयं (आत्मना) **देवानाम् पाथे**=देवताओं के मार्ग में अर्थात्, देवयान मार्ग पर चलते हुए **समञ्जन्**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु से **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **हवींषि**=हव्य पदार्थों को **उपावसृज**=उपासना के साथ, प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने में डाल, अर्थात् प्रभुस्मरण करते हुए हव्य पदार्थों का भोजन कर। 'जैसा अन्न वैसा मन', इस उक्ति के अनुसार तेरा जीवन वैसा ही बनेगा जैसा तू भोजन करेगा। तू देवयान मार्ग से चलनेवाला बन और सात्त्विक भोजन का सेवन कर तभी तुझमें दिव्य गुणों की उत्पत्ति होगी। २. **वनस्पतिः**=तू ज्ञान की रश्मियों का पति बन, **शमिता**=शान्त स्वभाववाला हो। **देवः**=दिव्य गुणों का अपने में विकास कर। **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ानेवाला हो। ३. जो 'वनस्पति, शमिता, देव व अग्नि' बनना चाहते हैं, वे **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को ही, पवित्र यज्ञिय भोजनों को ही **मधुना घृतेन**=शहद व घृत के साथ **स्वदन्तु**= खानेवाले हों, आनन्दपूर्वक इन्हीं वस्तुओं का सेवन करें। 'हव्य, मधु, घृत' ये सात्त्विक पदार्थ हमारे मनों को भी सात्त्विक बनाएँगे। इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ेगा, हमारे मन प्रसादगुणयुक्त व शान्त होंगें, हममें दिव्य गुणों का विकास होगा और हम आगे-ही-आगे बढ़ेंगे।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से चलते हुए जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें। यज्ञिय, वनस्पति भोजन, मधु व घृत का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृहस्थ व यज्ञ

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतꣳहविरदन्तु देवाः॥३६॥

१. विद्यार्थी आचार्यकुल में प्रविष्ट होता है तो आचार्य उसे उपनीत करता हुआ गर्भ में धारण करता है। जब वह आचार्यगर्भ से उत्पन्न होता है तब **जातः**=उत्पन्न हुआ व

दीक्षान्तस्नान किया हुआ स्नातक विद्या व व्रतों में स्नान करके **सद्यः**=शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**=गृहस्थ में प्रवेश करके पाँचों यज्ञों का करनेवाला बनता है। २. **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला होता है। आगे बढ़ते हुए **देवानाम्**=देवताओं का **पुरोगाः**=अग्रगामी **अभवत्**=होता है, अर्थात् देवो में भी प्रथम स्थान प्राप्त करता है। ३. **अस्य होतुः**=इस सृष्टियज्ञ के होता परमात्मा के **प्रदिशि**=प्रकृष्ट निर्देश में **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान की वाणी के, अर्थात् प्रभु से वेद में प्रतिपादित मार्ग के अनुसार **स्वाहाकृतम्**=अग्नि में 'स्वाहा' शब्दोच्चारणपूर्वक डाली हुई **हविः**=हव्य पदार्थ को **देवाः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव **अदन्तु**=खाएँ, अर्थात् मनुष्य वेदोपदिष्ट मार्ग से अग्निहोत्र करें, माता-पिता, आचार्य व अतिथि को श्रद्धापूर्वक खिलाये। इनको खिलाकर यज्ञशेष को खाना ही अमरता का साधन है।

भावार्थ—आचार्यकुल से समावृत्त होकर हम गृहस्थ बनें तो यज्ञशील हों। वेदानुसार अग्निहोत्र करें। मात-पिता को खिलाकर खाएँ, अतिथियों से पूर्व न खाने लग जाएँ। यज्ञशेष खानेवाले ही देव व अमर बना करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उषाः जागरण

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्याऽअपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥३७॥

१. गतमन्त्र का यज्ञशील पुरुष सदा उत्तम इच्छाओं से सम्पन्न होता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छान्दा' बनता है। उसकी कामना होती है—(क) अन्धकार को दूर करने के लिए वह प्रकाश को फैलाये, (ख) निर्धनता को दूर करने के लिए वह धन के उचित संविभागवाला हो अथवा (पेशस् रूप) आहार-विहार का ठीक ज्ञान देने से लोगों को स्वस्थ बनाकर उन्हें ठीक रूप देनेवाला हो। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अकेतवे**=अविद्यमान प्रज्ञानवाले, नासमझ के लिए **केतुम्**=प्रज्ञान को **कृण्वन्**=करता हुआ तथा (क) **अपेशसे मर्या**=(मर्याय) (न विद्यते पेशः सुवर्णं यस्य)=अविद्यमान धनवाले के लिए **पेशः**=सुवर्ण को करता हुआ (ख) अथवा (पेशः=रूपम्) अस्वास्थ्य के कारण नष्ट सौन्दर्यवाले व्यक्ति के लिए, स्वास्थ्य के द्वारा सुन्दर रूप को करता हुआ तू **उषद्भिः**=उषाःकालों के साथ **अजायथाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भव—विकास करता है, अर्थात् उषाःकाल में ही जाग उठता है और अपने कर्त्तव्यों के पालन में लगकर अपनी शक्तियों का विकास करता है।

भावार्थ—हम अज्ञानी के लिए ज्ञान दें, अधन के लिए धन देनेवाले हों तथा अरूप को स्वास्थ्य के द्वारा रूप प्रदान करें। उषाःकाल में ही उद्बुद्ध होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगते हुए अपनी शक्तियों का विकास करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वर्म (कवच) ब्रह्मरूप कवच

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।

अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳस त्वा वर्मणो महिमा पिपर्त्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रातःकाल जागकर अपने कर्त्तव्यों में लगनेवाला व्यक्ति अपना उचित रक्षण कर पाता है। शक्तिशाली बनकर जहाँ वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता, वहाँ मन में क्रोधादि भावनाओं से भी बचा रहता है, अतः इसका नाम 'भारद्वाज पायु' हो जाता है, अपने में शक्ति भरनेवाले की सन्तान, अपनी रक्षा करनेवाला। यह ज्ञानरूप कवच को

धारण करके (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्, शर्म वर्म ममान्तरम्) कामादि के आक्रमण से विद्ध (घायल) नहीं होता। वासनाओं के साथ संग्राम में यह ज्ञान व प्रसाद (सुख) का कवच इसे बचानेवला होता है। (क) मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जब **वर्मी**='ब्रह्म' कवच को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **समदाम्**=संग्रामों के (सह माद्यन्ति योद्धा यत्र) **उपस्थे**=गोद में, अर्थात् संग्राम में **याति**=प्राप्त होता है तब **जीमूतस्य इव**=मेघ की भाँति **प्रतीकम् भवित**=इसका मुख होता है। जिस प्रकार बादल विद्युत् व गर्जनाओं से असह्य होता है उसी प्रकार इस पायु का मुख भी ज्ञानदीप्ति व प्रभु नमोच्चारण से शत्रुओं के लिए असह्य हो जाता है। ३. जैसे योद्धा कवच के कारण अनविद्ध शरीरवाला होता है, उसी प्रकार **अनाविद्धया तन्वा**=काम, क्रोधादि के आक्रमणों से न घायल शरीर से **त्वम्**=तू **जय**=विजयी हो। **त्वा** =तुझे **वर्मणः**=ब्रह्मरूप कवच का **सः महिमा**=वह प्रसिद्ध महत्त्व **पिपर्त्तु**=कामादि के आक्रमण से बचानेवाला हो। ब्रह्मरूप कवच को धारण किये हुए तुझे कामदेव के अस्त्र विद्ध न कर सकें।

भावार्थ—ब्रह्मरूप कवच को धारण करके मनुष्य काम के आक्रमणों से बचा रहे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

धनुष् (प्रणवरूप धनुष)

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥३९॥

१. **धन्वना**=धनुष से **गा**=गौवों को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **आजि**=युद्ध को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **तीव्राः**=उग्र व पटु बने हुए हम **समदः**=संग्रामों को **जयेम**= जीत जाएँ। **धनुः** =धनुष् **शत्रोः**=शत्रु की **कामम्**=इच्छा को **अपकृणोति**=दूर करता है, **धन्वना**= इस धनुष् से **सर्वाः प्रदिशः**=सब प्रकृष्ट दिशाओं को **जयेम**=जीत जाएँ। २. उपनिषदों में 'प्रणवो धनुः' इन शब्दों में **प्रणव**=ओंकार को धनुष् कहा है। योग में प्रणव के जप व अर्थभावन पर बल दिया है। इसके उच्चारण व अर्थभावन से हम इन्द्रियों (गाः) को जीतते है। इसी के बल से हम वासना-संग्राम (आजि) में विजयी होते है। इसके उच्चारण से शक्तिशाली बने हुए हम (तीव्रम्) सब संग्रामों को अथवा मदयुक्त प्रबल शत्रुओं को (समदः) पराजित करते हैं। ३. यह धनुष् ही—प्रणव का ध्यानपूर्वक जप ही हमपर कामाग्नि का आक्रमण नहीं होने देता। हम इस प्रणवरूप धनुष् से सब दिशाओं में उन्नित कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रणवरूप धनुष् के महत्त्व को समझें और अर्थभावनपूर्वक 'ओम्' का जप करते हुए सच्चे धानुष्क (धनुर्धारी) बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्या (जिह्वा)

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳसखायं परि षस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳसमने पारयन्ती॥४०॥

१. जिस समय धनुष् पर तीर लगाकर ज्या को खींचते हैं तब यह ज्या कान के पास तक पहुँचती है, मानो वह कान में कुछ कहना चाहती है। **वक्ष्यन्ती इव**=वचनोत्सुका-सी बोलने के लिए उत्सुक-सी **इत्**=निश्चय से **कर्णम्**=धानुष्क के कर्णमूल के पास

आगनीगन्ति=खूब आती है। २. यह ज्या **प्रियं सखायम्**=अपने प्रिय मित्र बाण को **परिषस्वजाना**=आलिंगन किये हुए होती है। ३. **अधिधन्वन्**=धनुष् पर **वितता**=फैली हुई यह ज्या **योषा इव**=गुणों के मिश्रण व दोषों के अमिश्रण करनेवाली स्त्री के समान **शिङ्क्ते**=अव्यक्त शब्द करती है। ४. **इयम्**=यह **ज्या**=धनुष् की डोरी **समने**=संग्राम में **पारयन्ती**=विजय को प्राप्त करती है। ५. हमारी जिह्वा ही ज्या है, यह कान में कुछ कहने के लिए तो उत्सुक रहती ही है, 'शरो ह्यात्मा'=आत्मा 'बाण' है—और यह वाणी उसी का स्त्रीलिंगरूप धारण किये हुए आत्मा की पत्नी ही है। आत्मा इसका प्रिय सखा है। प्रणवरूप धनुष पर विस्तृत हुई-हुई यह जयरूप में अव्यक्त शब्द करती है और वासनासंग्राम में हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—धनुष् में ज्या का जो महत्त्व है वही जीवन में वाणी का महत्त्व है। इसी से आत्मारूप शर प्रेरित होता है। प्रभु की वाणी हम आत्माओं को प्रेरणा दे रही है। हम स्वयं भी वाणी द्वारा आत्मा को प्रेरणा (आत्मप्रेरणा) देकर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आर्त्नी (श्रद्धा व विद्या)

तेऽआचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यताᳬंसंविदानेऽआर्त्नीऽइमे विष्फुरन्तीऽअमित्रान् ॥४१॥

१. **ते आर्त्नी**=वे दोनों धनुष्कोटियाँ **समना योषा इव आचरन्ती**=समान पति में गये हुए मनवाली स्त्रियों की भाँति आचरण करती हुईं, **माता पुत्रम् इव**=जिस प्रकार माता पुत्र को, उसी प्रकार **उपस्थे**=गोद में **बिभृताम्**=शर को धारण करें। दोनों धनुष्कोटियाँ धानुष्क को इस प्रकार प्राप्त होती हैं जैसे दो स्त्रियाँ समान पति को प्राप्त होती है। पत्नी शक्ति का प्रतीक है। यहाँ धानुष्क की शक्ति इन दोनों कोटियों में निहित है। अध्यात्म में ये दोनों कोटियाँ 'श्रद्धा और विद्या' है। आत्मा इनका पति है, आत्मा की शक्ति श्रद्धा और विद्या पर निर्भर करती है। इन दोनों कोटियों के मध्य में जैसे शर निहित होता है, उसी प्रकार यहाँ श्रद्धा और विद्या के मध्य में कर्म है। जो कर्म श्रद्धा व विद्या से मिलकर किया जाता है, वह कर्म वीर्यवत्तर होता है। २. **इमे**=ये दोनों **आर्त्नी**=धनुष्कोटियाँ **संविदाने**=परस्पर एकभाव को प्राप्त हुईं-हुईं, परस्पर सिली-सी हुईं **'मूर्धानमस्य संसीव्य हृदयं च यत्'**, **अमित्रान्**=अस्नेहवालों को, अर्थात् शत्रुओं को **विष्फुरन्ती** =(विशेषेण चालयन्त्यौ) विशेषरूप से डाँवाडोल करती हुई **शत्रून्**=शत्रुओं को **अपविध्यताम्**=विद्ध करके दूर भगा दें। हमें चाहिए कि हम अपने जीवन में श्रद्धा से विद्या का पोषण करें और विद्या से श्रद्धा को दृढ़मूल करें। इस प्रकार श्रद्धा और विद्या को परस्पर मिला दें। जब हम श्रद्धा व ज्ञानपूर्वक प्रभु के नाम का उच्चारण व अपने अन्य कर्म करें तब काम, क्रोधादि शत्रु काँप उठें और हमारे हृदय से दूर भाग जाएँ।

भावार्थ—प्रणवरूप धनुष् की श्रद्धा व विद्यारूप दोनों कोटियाँ परस्पर सम्बद्ध होंगी तो इस धनुष् से इस प्रकार कर्मरूप तीव्र शर चलेंगे कि वासनारूप सब शत्रुओं का संहार हो जाएगा।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इषुधिः (तूणीर)

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में तरकस का उल्लेख करते हैं। इस तरकस में तीर रखे जाते हैं और यह धानुष्क की पीठ पर बँधा होता है। इसमें तीर सुरक्षित होते हैं, सो कहते हैं कि **बह्वीनाम् पिता**=बहुत-से तीरों का यह पिता—रक्षक होता है। **बहुः**=बहुत-से इषुओं का यह समूह **अस्य**=इसका **पुत्रः**=पुत्र स्थानीय है। 'पुरून् बहून्ह त्रायते'=यह वाणसमूह शत्रुओं पर आक्रमण करके हमारी रक्षा करता है। २. यह तूणीर **समना अवगत्य**=संग्राम में पहुँचकर **चिश्चा कृणोति**='चिश्चा' इस अव्यक्त शब्द को करता है—'' 'चि'=एक-एक शत्रु का चयन करके, एक-एक को चुनकर उसका उच्चाटन कर दो'', ऐसा कहता प्रतीत होता है। ३. यह **इषुधिः**=तूणीर **पृष्ठे निनद्धः**=पीठ पर दृढ़ता से बँधा हुआ **प्रसूतः**=धानुष्क से कार्य में प्रेरित किया हुआ **सर्वाः**=सब **सङ्काः**=(सन्नतेः, संपूर्वात् किरतेर्वा) सम्बद्ध व विकीर्ण **पृतनाः**=सेनाओं को **जयति**=जीत लेता है। ४. हृदय तूणीर है, इसमें निहित प्रभु के नाम ही शर हैं—अध्यात्मभवनारूप इन तीरों से वासनाओं की सेनाएँ पराजित कर दी जाती हैं।

भावार्थ—तरकस का युद्ध में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वही स्थान शरीर में हृदय का है। यह शत्रुओं के संहारक आत्मसङ्कल्परूप शरों से भरपूर होना चाहिए।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

सारथिः व रश्मयः

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥४३॥

१. **रथे**=रथ पर **तिष्ठन्**=स्थिरता से ठहरा हुआ **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **यत्र-यत्र**=जहाँ-जहाँ **कामयते**=चाहता है, वहाँ-वहाँ **वाजिनः**=घोड़ों को **पुरः**=आगे **नयति**=ले-जाता है। यह शरीर भी रथ है। इस रथ पर आत्मा रथी है, वह बुद्धिरूप सारथिवाला है। जब यह सारथि ठीक होता है तब यह इन्द्रियरूप घोड़ों को इष्ट स्थान की ओर ले-जाता है और अपनी जीवन-यात्रा को आगे-और-आगे (पुरः) बढ़ाता चलता है, परन्तु सारथि के अकुशल होने पर ये घोड़े रथ को किसी गर्त में गिरा देते हैं और सब काम ही समाप्त हो जाता है, उन्नति व यात्रापूर्ति का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। २. मन्त्र कहता है कि जहाँ सारथि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहाँ **अभीशूनाम्**=रश्मियों की, लगामों की **महिमानम्**=महिमा की **पनायत**=स्तुति करो। ये **रश्मयः**=रश्मियाँ—लगामें **पश्चात्**=पीछे होती हुई **मनः**=अश्वरूपी चित्त को **अनुयच्छन्ति**=अनुकूलता से प्राप्त होकर वशवर्ती कर लेती हैं। लगाम घोड़ों को काबू करने में सहायक होती है। शरीर में मन ही लगाम है। मनीषा, अर्थात् बुद्धि ने इस मनरूप लगाम के द्वारा ही इन्द्रियों को काबू करना है।

भावार्थ—बुद्धिरूप सारथि उत्तम होगा तो वह इन्द्रियों से हमारी जीवन-यात्रा को पूर्ण करेगा। इन इन्द्रियों को मनरूप लगाम द्वारा ही काबू किया जा सकता है। बुद्धिरूप सारथि का नाम ही मनीषा (मनसः ईष्टे) है, यह मन का शासन करती है।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अश्व (इन्द्रियाँ)

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँ१॥ऽरनपव्ययन्तः॥४४॥

१. **वृषपाणयः**='वृष' शब्द यहाँ शक्तिशाली घोड़ों का प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे

घोड़े जिनके हाथों में है (वृषा: पाणौ येषाम्)। वे उत्तम अश्वोंवाले व्यक्ति **तीव्रान् घोषान्**=तीव्र जय शब्दों को **कृण्वते**=करते हैं। शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से क्या हम जीवन-यात्रा में विजयी न होंगे? २. इन वृषपाणियों के **अश्वाः**=ये इन्द्रियाश्व भी **रथेभिः सह**=शरीररूप रथों के साथ **वाजयन्तः**=जीवनयात्रा में आगे-और-आगे चलते हुए (गच्छन्तः) अथवा प्रभु का पूजन करते हुए (पूजयन्तः) विजय-घोष करते हैं। ३. **अमित्रान्**=अमित्रों को **प्रपदैः**=पादाग्रों से, खुरों से **अवक्रामन्तः**=पाँवों तले रौंदते हुए **अनपव्ययन्तः**=न नष्ट होते हुए, शक्ति को क्षीण न होने देते हुए **शत्रून्**=शत्रुओं को **क्षिणन्ति**=नष्ट कर देते हैं। यदि हमारे ये इन्द्रियाश्व वृषपाणियों के हाथों में होंगे तो ये वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करके हमें जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे ले-चलेंगे। यहाँ मन्त्र में 'तीव्रान् घोषान्' शब्दों से उच्च स्वर में प्रभु नामोच्चारण का संकेत किया गया है। प्रभु 'उक्थ' हैं। ऊँचे से गायन के योग्य हैं। यह उच्च स्वर से प्रभुनामोच्चारण हमें विजयी बनाता है। यह मन्त्रोच्चारण जयशब्दोच्चारण हो जाता है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व शक्तिशाली हों। उनकी लगाम हमारे हाथों में हो तभी हम इस शरीर-रथ से यात्रा में आगे बढ़ पाएँगे।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रथमुपसदेम

रथवाहनꣳहविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुप शग्मꣳसदेम विश्वाहा वयꣳसुमनस्यमानाः॥४५॥

१. **अस्य**=इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज पायु' का **हविः**=दानपूर्वक अदन, यज्ञशेष के रूप में भोजन का सेवन **रथवाहनम् नाम**=निश्चय से शरीररूप रथ के धारण के लिए ही करते हैं। २. इनका यह शरीररूप रथ ऐसा है **यत्र**=जिसमें **अस्य**=इस रथस्वामी का **आयुधम्**=सब अस्त्र-शस्त्र, (वस्तुतः इस जीवन-यात्रा में इन्द्रियाँ ही आयुध हैं अथवा प्राण आयुधरूप हैं—ये इन्दियाँ और प्राण) तथा **वर्म**=ज्ञानरूप कवच **निहितम्**=रखा है। वस्तुतः जिस समय मनुष्य भोजन का चुनाव बड़े ध्यान से करता है तब उसकी इन्द्रियाँ, प्राण और ज्ञान सभी उत्तम होते हैं। ३. **तत्र**=उस समय **वयम्**=हम **एवम्**=शरीररूप रथ पर **उपसदेम**=विनीततापूर्वक आसीन हों—हम उपासना की वृत्तिवाले बनकर रथारूढ़ हों, जिससे यह रथ **शग्मम्**=हमारे लिए सुखकर हो। ४. ऐसे रथ पर आरूढ़ हुए-हुए हम **विश्वाहा**=सदा **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्यवाले हों। हमारे मनों में प्रसन्नता हो, उसमें किसी प्रकार की मलिन भावनाएँ न हों।

भावार्थ—जैसे रथ के ठीक होने पर तथा सब उपकरणों व रक्षासाधनों से युक्त होने पर यात्री सुख व शान्ति अनुभव करता है, उसी प्रकार हमारा यह शरीररूप रथ भी हो। इसमें इन्द्रियाँ, प्राण, मन व बुद्धि आदि सभी उपकरण ठीक हों, जिससे सौमनस्यवाले होकर हम यात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रथ-गोप—रथ-रक्षक सैनिक (Commanders)

स्वादुषꣳसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेनाऽइषुबलाऽअमृध्राः सतोवीराऽउरवो व्रातसाहाः॥४६॥

१. सेना के नायकों का 'रथगोप' के नाम से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **स्वादुषंसदः**=(स्वादु सुखं यथा तथा संसीदन्ति) इनका उठना-बैठना भी माधुर्य को लिये हुए होता है, (ख) **पितरः**=ये रक्षक होते हैं, अपने सैनिकों को पुत्रवत् समझते हैं, (ग) **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले होते है। (घ) **कृच्छ्रेश्रितः**=(कृच्छ्रे श्रीयन्ते सेव्यन्ते) कष्ट आने पर इनकी शरण में आया जाता है, (ङ) **शक्तीवन्तः**=सामर्थ्य व आयुधविशेषों से ये सम्पन्न होते है, (च) **गभीराः**=गम्भीरबल व गम्भीर प्रज्ञावाले हैं, (छ) **चित्रसेनाः**=नाना प्रकार की सेनावाले हैं, (च) **इषुबलाः**=बाणादि अस्त्रों से बलवाले हैं, (झ) **अमृध्राः**=(कठिनाङ्गा अमृदवः) कठिन अङ्गोंवाले हैं अथवा उग्र शासनवाले हैं, (ञ) **सतोवीराः**=सत्ता व बल से युक्त सेना को विविध दिशाओं में ईरण व प्रेरण करनेवाले हैं। अथवा सज्जन व वीर हैं। **उरवः**=विशाल जघन व उरु प्रदेशवाले हैं। **व्रातसाहाः**=शत्रुओं के समूहों को अभिभूत करनेवाले हैं। २. वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति 'रथगोप' अथवा सेनानायक बनने की योग्यता रखते हैं। वे सेना के पितर कहलाते हैं। वस्तुतः राष्ट्ररक्षक होने से इनका 'पितर' नाम समुचित ही है।

भावार्थ—मन्त्रवर्णित योग्यताओं को धारण करके हम सच्चे 'रथगोप' सेनानायक बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**धनुर्वेदाध्यापकाः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ब्राह्मण

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवीऽअनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नोऽअघशंसऽईशत॥४७॥

१. हमारे राष्ट्र के 'सेनानायक कैसे हों', यह विषय गतमन्त्र का था। प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भिक विषय यह है कि 'हमारे राष्ट्र के आचार्य कैसे हों?' आचार्य (क) **ब्राह्मणासः**=(ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्म के जाननेवाले अर्थात् पराविद्या में भी निपुण हों। **'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'**, पराविद्या वही है जिससे उस अक्षर, अविनाशी, परमात्मा का ज्ञान होता है। 'पराविद्या में निपुण' कह देने से अपराविद्या का पाण्डित्य तो आ ही जाता है, क्योंकि सामान्यक्रम से अपरा के बाद ही परा का अध्ययन होता है। (ख) ये परा-पराविद्या में निपुण ब्राह्मण **पितरः**=विद्यार्थियों का पालन व रक्षण करनेवाले होते हैं। (ग) **सोम्यासः**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले होते हुए ये बड़े सौम्य स्वभाव के, शान्तवृत्ति के होते हैं। २. राष्ट्र में ब्राह्मणों के ठीक होने पर आधिदैविक आपत्तियों से राष्ट्र बचा रहता है, अतः कहते हैं कि 'ब्राह्मणों के पितर व सोम्य' होने पर **नः**=हमारे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अनेहसा**=उपद्रव व हिंसाशून्य होते हुए **शिवे**=कल्याणकर हों। पार्थिव व अन्तरिक्ष कोई भी विपत्ति हमपर न आये। ३. द्यावापृथिवी के साथ **पूषा**=यह सबका पोषण करनेवाला सूर्य **नः**=हमें **दुरितात्**=पाप से **परिपातु**=सुरक्षित करे। ४. हे **ऋतावृधः**=सत्य व यज्ञ का रक्षण करनेवाले देवो! आप **रक्ष**=हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः जब हमारे अन्दर सत्य व यज्ञ का वर्धन होगा तब हमारी रक्षा तो स्वतः हो जाएगी। ५. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकि**=मत **ईशत**=शासन करनेवाला हो जाए, अर्थात् हम किन्हीं भी दुष्टों के वश में न हो जाएँ। उनकी बातों में आकर धर्म के मार्ग से विचलित न हों जाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र के ब्राह्मण 'पितर व सोम्य' हों तो द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा कल्याण करनेवाले होंगे। सूर्य भी हमें अशुभावस्था से बचाएगा। सब देव हमारी रक्षा करें। हम दुर्जनों की बातों के प्रभाव में न आ जाएँ।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

बाण

सुपर्णं वस्ते मृगोऽअस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यꣳसन्॥४८॥

१. धानुष्क से छोड़े जानेवाला बाण **सुपर्णं वस्ते**=पक्षी के पिच्छ को धारण करता है। बाण के अग्रभाग में उसकी गति को तीव्र करने के लिए कंक आदि पक्षियों का पंख लगाया जाता है। २. **अस्या दन्तः**=इस इषु का फलका **मृगः**=लक्ष्य का मार्गण (अन्वेषण) करनेवाला होता है। ३. **गोभिः**=गोविकार श्लेष्मस्नायुओं (ताँत) से **सन्नद्धा**=अच्छी प्रकार कसकर बँधा हुआ **प्रसूता**=धानुष्क से प्रेरित किया गया यह इषु **पतति**=शत्रुसैन्य की ओर जाता है। ४. इसके शत्रुसैन्य पर पड़ने पर रणांगण का दृश्य ऐसा हो जाता है कि **यत्र**=जिसमें **नरः**=मनुष्य **संद्रवन्ति च**=मिलकर भाग खड़े होते हैं **च**=और **विद्रवन्ति**=विरुद्ध दिशाओं में तितर-बितर हो जाते हैं। ५. इस प्रकार शत्रुसैन्य को भगाकर ये **इषवः**=बाण **तत्र**=उस रणाङ्गण में **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए शर्म **यंसन्**=सुख व शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—राष्ट्र की रक्षा के लिए आयुध-सामग्री ठीक से तैयार होनी चाहिए। यह शत्रुसैन्य को पराजित करके राष्ट्र में सुख व शान्ति को बढ़ानेवाली हो।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ऋजुगमन (सरल व्यवहार)

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमोऽअधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥४९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शत्रुओं के भय से सुरक्षित राष्ट्र में हम कैसे बनें' इस बात का वर्णन करते हुए कहते है कि हे **ऋजीते**=(ऋजुः इति सरल गमन) सरल गति! तू **नः**=हमें **परिवृङ्ग्धि**=सब ओर से, शरीर में रोगादि से और मन में चिन्ताओं व ईर्ष्या-द्वेषादि से छुड़ा। सुरक्षित राष्ट्र में सब प्रजाएँ सरल व्यवहार को अपनाकर अपने को रोगों व दोषों से मुक्त करें। २. **नः तनूः**=हमारे शरीर रोग-दोष से मुक्त होकर **अश्मा भवतु**=पत्थर के समान सुदृढ़ हों। छोटे-मोटे ऋतु-विकार उससे टकराकर प्रभावशून्य हो जाएँ। ३. **सोमः**=शान्त=विनीत स्वभाववाला आचार्य **नः**=हमें **अधिब्रवीतु**=अधिक्येन उपदेश दे। इनके उपदेश से ही हमारे जीवन में सरलता स्थिर रहेगी और हम कुटिलता से बचे रहेंगे। ४. **अदितिः**= अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य अथवा अदीना देवमाता=दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली अदीनता की भावना **शर्म**=शान्ति व सुख **यच्छतु**=दे।

भावार्थ—हमारा व्यवहार सरल, कपटशून्य हो। शरीर पाषाणवत् दृढ़ हो। सौम्य आचार्यों से हमें ज्ञान प्राप्त हो। अदीनता व दिव्यता हमें सुखी व शान्त करे।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अश्वाजनी

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ२॥ऽउप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥५०॥

१. जहाँ रथ में घोड़ों का महत्त्व है, वहाँ घोड़ों को चलानेवाले रथवाहक का महत्त्व

भी कम नहीं है। समझदार रथवाहक सामान्य घोड़ों को भी बड़ी अच्छी गतिवाला कर लेता है। वह चाबुक का प्रयोग बड़ी समझदारी से करता है। नासमझ रथवाहक मार-मार कर अच्छे घोड़े को भी बिगाड़ देते हैं, अतः कहते हैं कि **प्रचेतसः** =प्रकृष्ट ज्ञानवाले समझदार रथवाहक **एषाम्**=इन घोड़ों के **सानु**=सानुतुल्य मांसोपचित (उठे हुए) अङ्गों को **आजङ्घन्ति**=चोट करते हैं, आहत करते हैं और **जघनान्**=कटिभागों को **उपजिघ्नते**=समीपता से ताड़ित करते हैं, दूर से किया हुआ प्रहार क्रोध को व्यक्त करता है और घोड़े को एक धक्का देता है, जिसकी प्रतिक्रिया कभी ठीक नहीं होती। पास से किया हुआ आघात प्रेमपूर्वक दिये गये संकेत का सूचक है, उससे घोड़ा यथेष्ट गति के लिए उत्साहित होता है। ३. हे **अश्वाजनि**=चाबुक (अश्वाः अज्यन्ते यया)! तू समझदार प्रचेतस रथवाहक से प्रेरित हुआ-हुआ **अश्वान्**=घोड़ों को **समत्सु**=संग्रामों में **चोदय**=प्रकृष्ट प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—घोड़ों के संचालक—रथवाहक बड़े समझदार होने चाहिएँ। वे चाबुक का समझदारी से प्रयोग करते हुए घोड़ों को संग्राम में सञ्चालित करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**महावीरः सेनापतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुमान् पुमांसं पातु

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः।

ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्पुमा॒न्पुमा॑ꣳसं॒ परि॑ पातु वि॒श्वतः॑॥५१॥

१. 'हस्तघ्न' की व्युत्पत्ति है 'हस्ते स्थितो हन्ति' अथवा 'हस्तं हन्ति प्राप्नोति'—हाथ में स्थित होता हुआ ज्या के अघात को रोकता है अथवा ज्या के अघात से बचाव के लिए हाथ को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह **हस्तघ्नः**=प्रकोष्ठ त्राण (भुजरक्षक) **ज्यायाः**=धनुष की डोरी के **हेतिम्**=आघात को **परिबाधमानः**=रोकता हुआ **बाहुम्**=बाहु को **भोगैः**=अपने विस्तार से (आभोग से) **पर्येति**=इस प्रकार परिवेष्टित कर लेता है **इव**=जैसे **अहिः**=साँप **भोगैः**=अपने शरीरावयवों से। २. इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न हो, हाथ में लिये हुए शस्त्रों से शत्रुओं का हनन करनेवाला हो। यह राजा **विश्वा वयुनानि**=सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानता हुआ, अर्थात् अपने कर्त्तव्यों व ज्ञेय विषयों को समझता हुआ **पुमान्**=वीर होता हुआ अथवा (पू) पवित्र जीवनवाला होता हुआ **पुमांसम्**=अपने राष्ट्र के पवित्राचरण लोगों को **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—'हस्तघ्न' ज्या के आघात से बाहु की रक्षा करता है। इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न बनता है और अपने कर्त्तव्यों को समझता हुआ प्रजा का रक्षण करता है।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

रथ

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒याऽअ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑।

गोभि॒ः सन्न॑द्धोऽअसि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु जेत्वा॑नि॥५२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में रथ को 'वनस्पते' शब्द से सम्बोधन किया गया है। रथ बहुत कुछ वनस्पति-विकार व काष्ठमय होता ही है। यह हमारा शरीररूप रथ भी वनस्पति का विकार ही होना चाहिए, यह मांस से परिपुष्ट न होकर वनस्पति से ही पोषण को प्राप्त करे। हे **वनस्पते**=वनस्पतिविकार रथ! तू **हि**=निश्चय से **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गवाला **भूयाः**=हो। **अस्मत् सखा**=तू हमारा साथी हो। इस जीवन-यात्रा में सचमुच हमारी मदद देनेवाला हो।

प्रतरणः=सब विघ्नों को तैर जानेवाला हो। **सुवीरः**=उत्तम वीरतावाला हो। २. **गोभिः सन्नद्धः असि**=हे युद्धवाले रथ! तू गौ के श्लेष्मचर्मों से सम्यक् बँधा हुआ है, इधर हमारा यह शरीररूप रथ भी गोविकार दूध आदि पदार्थों से दृढ़ गठे हुए अङ्गोंवाला है। **वीडयस्व**=तू दृढ़ता के कार्यों को करनेवाला हो, तेरे कार्य वीरतापूर्ण हों। ३. **ते अस्थाता**=तुझपर आसीन होनेवाला **जेत्वानि**=विजेतव्य देशों व द्रव्यों को **जयतु**=जीते।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ 'वनस्पतिविकार' ही हो, अर्थात् हम वानस्पतिक भोजन ही करें। गोदुग्ध से हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुगठित हों। इस शरीररूप रथ पर आसीन होकर हम विजेतव्य वस्तुओं का विजय करें।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीरः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

ओजोभरण हविर्यजन

दिवः पृथिव्याः पर्योजऽउद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्य्याभृतꣳसहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳहविषा रथं यज॥५३॥

१. गतमन्त्र के शरीररूप रथ में **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीरूप शरीर का **ओजः**=बल **परि**=सब प्रकार से **उद्भृतम्**=प्रकर्षपूर्वक पोषित किया गया है, अर्थात् यह ध्यान किया गया है कि मस्तिष्क में जितने ज्ञान का पोषण हो सकता है, वह किया जाए और शरीर को जितना भी सबल बनाया जा सकता है बनाया जाए। २. इसी उद्देश्य से इसमें **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों के द्वारा **सहः**=सहनशक्ति बढ़ानेवाला बल **पर्याभृतम्**=सब ओर से अच्छी प्रकार लाया गया है, अर्थात् वनस्पतियों के सेवन से इसमें उस बल की वृद्धि हुई है जिसके कारण इसमें सहनशक्ति है, यह शीघ्रता से क्रोध में नहीं आ जाता। ३. **अपाम्**=(आपः रेतः) रेतस् कणों के—वीर्य-बिन्दुओं के **ओज्मानम्**=बल का पुंज यह **रथम्**=शरीररूप रथ **गोभिः**=गोदुग्धों से **परि आवृतम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृत हुआ है, अर्थात् जिसके अङ्गों का निर्माण दूध से हुआ है, दूध को पीकर जिसके अङ्ग सुन्दर बने हैं अथवा जो रथ **गोभिः**=ज्ञान की किरणों से आवेष्टित है। यह शरीर **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **वज्रम्**=वज्रतुल्य दृढ़ है (यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे) इस शरीर रथ को **हविषा**=हवि से **यज**=सङ्गत कर, अर्थात् यह सदा हवि का सेवन करनेवाला हो, दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। इस हवि से ही तो हम प्रभु की भी अर्चना कर पाते हैं, अतः हम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। इस यज्ञशेष के सेवन से यह रथ अमृत बनेगा, रोगों का शिकार न होगा।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में हम मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करें, शरीर को बल-सम्पन्न बनाएँ। वनस्पतियों के सेवन से सहनशील बनें। रेतस् कणों की रक्षा से ओजस्वी बनें। ज्ञानकिरणों से प्रकाशित इस रथ को जितेन्द्रियता द्वारा वज्रतुल्य बनाएँ और सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीरः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मित्रस्य गर्भः

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥५४॥

१. गतमन्त्र का यह शरीररूप रथ **इन्द्रस्य वज्रः**=इन्द्र का वज्र है, अर्थात् जितेन्द्रिय

पुरुष का यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ होता है। २. यह शरीर **मरुताम्**=प्राणों की **अनीकम्**=तेजस्विता व दीप्तिवाला (splendour, brilliance) है, अर्थात् जहाँ जितेन्द्रियता से यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ता को प्राप्त होता है, वहाँ प्राणसाधना से यह तेज व दीप्तिवाला होता है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष का यह शरीर प्राणसाधना करने पर **मित्रस्य गर्भः**=स्नेह की देवता का गर्भ होता है, अर्थात् स्नेह से परिपूर्ण होता है। ४. **वरुणस्य नाभिः**=द्वेष के निवारण की देवता का केन्द्र व बन्धन-(नह बन्धने)-वाला होता है। इस इन्द्र के शरीर में द्वेष के लिए स्थान नहीं रहता। यहाँ प्रेम-ही-प्रेम होता है। ५. हे **देवरथ**=इन्द्र, मरुत्, मित्र व वरुण आदि देवों के निवासस्थान बने हुए रथ! **सः**=वह तू **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम् जुषाणः**=यज्ञशेष के रूप में दिये गये भोजन को सेवन करता हुआ **प्रति**=प्रतिदिन **हव्या**=हवियों को ही **गृभाय**=ग्रहण कर, अर्थात् तू सदा हवि का सेवन करनेवाला बन। वस्तुतः देवता हविर्भुक् हैं, हवि के सेवन से ही हममें देवों की व दिव्य गुणों की वृद्धि होगी।

भावार्थ—हम हवि के सेवन से, यज्ञशेष के भोजन से, अपने में शरीर की दृढ़ता, प्राणों की तेजस्विता, स्नेहभाव व द्वेष-निवारण को स्थिर करें।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वीराः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दुन्दुभि

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ मनुतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद्दवी॑यो॒ऽअप॑ सेध॒ शत्रू॑न्॥५५॥

१. हे **दुन्दुभे**=दुन्दुशब्द से शत्रुओं को भयभीत करनेवाली दुन्दुभे! तू **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **उपश्वासय**=गुञ्जित कर दे (उपशब्दय—उ०)। २. **पुरुत्रा**=बहुत-से स्थानों पर अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थानों पर **विष्ठितम्**=विशेषरूप से स्थित हुआ-हुआ यह **जगत्**=सारा लोक **ते मनुताम्**=तुझे जाने, तेरा विचार करे। 'इतना आयत, दीर्घ व भयंकर शब्द कहाँ से हुआ' ऐसा सब लोग सोचने लगें। ३. हे दुन्दुभे! **सः**=वह तू **इन्द्रेण**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले राजा के **सजूः**=साथ तथा **देवैः**=युद्धक्रीड़ा के सञ्चालक अन्य सेनापतियों के साथ **शत्रून्**=शत्रुओं को **दूरात् दवीयः**=दूर से भी दूर **अपसेध**=भागा दे, रोक दे। तेरे शब्द को सुनकर शत्रु आगे बढ़ने का उत्साह ही न कर सके। तेरा शब्द उनके हृदयों को दहला दे।

भावार्थ—जब हम धर्म्य संग्राम में अवतीर्ण होते हैं, तब हमारा युद्ध के लिए किया गया आह्वान का शब्द शत्रु को भयभीत करनेवाला हो। हमारी दुन्दुभि के शब्द को सुनकर शत्रु भाग खड़े हों।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वादयितारो वीराः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

परायों को रुलाना-अपने को सबल बनाना

आ क्रन्द॑य॒ बल॒मोजो॑ न॒ऽआधा॒ निष्ट॑निहि दु॒रि॒ता बाध॑मानः।
अप॑ प्रोथ दुन्दुभे दु॒च्छुना॑ऽइ॒तऽइन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व॥५६॥

१. हे दुन्दुभे! तू **बलम्**=शत्रुसैन्य को **आक्रन्दय**=रुला दे। 'मेरा भाई मारा गया, मेरे पिता चले गये' इस प्रकार रोती हुई शत्रुसेना भाग खड़ी हो। २. तू **नः**=हममें **ओजः आधाः**=ओजस्विता का आधान कर। तेरा नाम ही 'आनक' है, आनयति सोत्साहान् करोति=यह शब्द वीरों को आनन्दित करता है, वे अधिक उत्साहयुक्त होकर युद्ध के लिए

आगे बढ़ते हैं। ३. **दुरिता**=दुरितों को, ग़लत चालों को, भाग जाने आदि की अपमानजनक भावनाओं को **बाधमानः**=रोकती हुई तू **निष्टनिहि**=निश्चत विजय के लिए शब्द कर। ४. हे दुन्दुभे! तू **इतः**=यहाँ रणांगण से **दुच्छुनाः**=दुष्ट कुत्ते के समान हमारे शत्रुओं को **अप प्रोथ**=सुदूर नष्ट कर दे। 'दुच्छुना' शब्द का अर्थ 'दुष्ट सुखों में फँसे हुए लोगों को' ऐसा होगा। इन लोगों को यह युद्ध का डिण्डिमशब्द दूर भगा दे। ५. हे **दुन्दुभे**! तू तो **इन्द्रस्य**=इस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा व सेनापति की **मुष्टिरसि**=मुष्टि है। जैसे मुष्टि से प्रहार करते हैं, इसी प्रकार दुन्दुभि का शब्द भी शत्रु पर प्रबल प्रहार करता है, अतः, हे दुन्दुभे! **वीडयस्व**=तू हमारे सैनिकों को दृढ़ बनानेवाली हो अथवा वीरतायुक्त कर्म कर।

भावार्थ—दुन्दुभि का शब्द जहाँ शत्रु को भयभीत करता है, वहाँ अपने सैनिकों को उत्साहयुक्त करता है। इसके शब्द से शत्रु-सैन्य कुत्तों की भाँति भाग खड़ा हो।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—वादयितारो वीराः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

विजय

आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥५७॥

१. **केतुमत्**=विजय-पताकावाली अथवा (केतु=प्रज्ञा) विजय की प्रकाशक, विजय की सूचना देनेवाली **दुन्दुभिः**=भेरी **वावदीति**=अतिशयेन बजे। २. इस दुन्दुभि के द्वारा **अमूः**=इन शत्रुसेनाओं को तू **आ अज**=चारों ओर से विक्षिप्त करनेवाला हो। शत्रुसेनाएँ, भय से भाग खड़ी हों। **इमाः** =इन शत्रुसेनाओं को **प्रत्यावर्त्तय**=तू वापस लौटा दे। अथवा इन विजय करनेवाली अपनी सेनाओं को अब वापस लौटा ला। ३. **नः**=हमारे **अश्वपर्णाः नरः**=घोड़े के समान वेगवाले अथवा घोड़ों से इधर-उधर जानेवाले सेनानायक **संचरन्ति**=युद्धभूमि में सम्यक्तया, अव्याकुलता से विचरण करते हैं। ४. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले सेनापते! तू इस प्रकार उत्तमता से सेना का सञ्चालन कर कि **अस्माकम्**=हमारे **रथिनः**=रथी लोग **जयन्तु**=विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी रणभेरी विजयसूचक होकर बज उठे, शत्रुसेनाएँ भाग खड़ी हों, हमारी सेनाएँ व घुड़सवार सैनिक अव्याकुलता से रणांगाण में गति करें और हमारे रथी विजयी बनें।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

पशु व देवता

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेवऽऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माषऽऐन्द्राग्नः संहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्णऽएकशितिपात्पेत्वः॥५८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विजयी राष्ट्र में राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभाग भिन्न-भिन्न पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ, इस बात का संकेत करते हुए कहते हैं कि **कृष्णग्रीवः**=काले गलेवाला पशु **आग्नेयः**=अग्नि देवतावाला, अर्थात् अग्नि के उत्तम गुणों से युक्त है, अतः अग्निनामक राष्ट्र का अग्रणी पुरुष कृष्णग्रीव पशु को अपना सूचक चिह्न बनाये। २. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुणोंवाली है। सरस्वती देवता का सूचक चिह्न 'मेषी' को बनाया जाए। आजकल भेड़ मूर्खता का प्रतीक समझी जाती है, परन्तु इस वेदवाक्य में वह

ज्ञान का प्रतीक होने योग्य समझी गई है। ३. **बभ्रुः**=पिङ्गल वर्णवाला पशु (धुमेला पशु—द०) **सौम्यः**=चन्द्रमा के गुणोंवाला है, सोम देवतावाला है। ४. **श्यामः**=श्याम रंग से युक्त पशु **पौष्णः**=पुष्टि आदि गुणोंवाला है, पूषा देवता से सम्बद्ध है, पूषा के गुणधर्मों से युक्त है। गौवों में काली गौ सम्पन्न क्षीरतमा मानी जाती है। ५. **शितिपृष्ठः**=श्याम पृष्ठवाला पशु **बार्हस्पत्यः**=बृहस्पति देवतावाला है, बृहस्पति के गुणधर्मों से युक्त है। ६. **शिल्पः**=विचित्र वर्णवाला पशु **वैश्वदेवः**=विश्वदेवे देवतावाला है, सब विद्वानों के गुणोंवाला है। इसके अनेक रंग विद्वान् की अनेक विद्याओं को संकेतित करते हैं। विद्वान् को भी विविध विद्याओं से विभूषित कण्ठवाला 'कल्माषग्रीव' होना ही चाहिए versatile। ७. **अरुणः**=लाल वर्णवाला **ऐन्द्रः**=इन्द्र देवतावाला है, सूर्य के गुणोंवाला है। ८. **कल्माषः**=खाखी वर्णयुक्त पशु **मारुतः**=वायुदेवता—सम्बन्धी है, अध्यात्म में इसका सम्बन्ध प्राणों से है। यह प्राण शरीर में अनेक चित्र (अद्भुत) कार्य करते हैं। ९. **संहितः**=दृढ़ अङ्गोंवाला पशु **ऐन्द्राग्नः**=इन्द्र व अग्नि देवतावाला है। इन्द्र व अग्नि का प्रतीक है, राष्ट्र में इन्द्र=सेनापति च अग्नि=सभापति दोनों को ही बड़े दृढ़ अङ्गोंवाला होना चाहिए। १०. **अधोरामः**=निचले प्रदेश में श्वेत वर्णवाला पशु **सावित्रः**=सवितृ देवतावाला है। जैसे सूर्य यहाँ अधः प्रदेश में भूमण्डल पर प्रकाश फैला देता है, उसी प्रकार राष्ट्र में सविता नामक शिक्षा—सचिव ने राष्ट्र में शिक्षा के विस्तार का ध्यान करना है। ११. **एकशितिपत्**=एक पाँव जिसका सफ़ेद है और **पेत्वः**=बड़ा वेगवान्, पतनशील पशु है, वह **वारुणः**=वरुणदेवता से सम्बद्ध है। वरुण के पाश **'छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**, अनृतवादी को जहाँ बाँधते हैं वहाँ सत्यवादी को मुक्त करते हैं। एवं, एक पाँव काला है तो दूसरा सफ़ेद। एक सफेद पाँववाला व दूसरा कृष्ण पाँववाला पशु यही संकेत कर रहा है।

भावार्थ—राष्ट्र में समुचित प्रेरणा (व्यवस्था) के लिए सब अधिकारी अपने देवताओं के गुणधर्मोंवाले पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिगतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

देवगुणधर्मयुक्त पशु

अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ सावित्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कल्माषऽआग्नेयः कृष्णोऽजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः॥५९॥

१. **रोहिताञ्जिः**=(रोहितोऽञ्जिस्तिलको यस्य) लाल तिलकवाला **अनड्वान्**=वृषभ **अनीकवते**=सेनावाले, अर्थात् सेना के सञ्चालन करनेवाले **अग्नये**=अग्रेणी सेनापति के लिए है, अर्थात् रोहिताञ्जि अनड्वान् सेनापति का सूचक चिह्न है। २.**अधोरामौ**=निचले भाग में श्वेत दो पशु **सावित्रौ** =सविता के गुणधर्मवाले हैं, अर्थात् श्वेत अधोभागवाले दो पशु (श्वेत=शुक्र=शुक्ल) **सावित्रौ**=पति—पत्नी के प्रतीक हैं, जो अधोभाग में वर्त्तमान इन्द्रियों से रमण करते हुए सन्तान को जन्म देते हैं। ३. **रजतनाभी**=रजत के समान नाभिवाले दो पशु **पौष्णौ**=पूषा देवता के गुणधर्मोंवाले हैं। प्रजाओं का पालन—पोषण करनेवाले धनी स्त्री—पुरुषों के ये पशु प्रतीक हैं, ये धनी स्त्री—पुरुष भी रजत व धन से सभी को अपने साथ बाँधे रहते हैं (नह बन्धने)। ४. **पिशङ्गौ**=पिङ्गल वर्णवाले **तूपरौ**=निःशृंग दो पशु **वैश्वदेवौ**=विश्वदेव देवतावाले हैं। सब देवता तेजस्विता के कारण सुवर्ण के समान पीत वर्णवाले होते हैं और हिंसा न करने से मानो निःशृंग हैं या गर्व न करने से इनके सींग

नहीं निकले हुए। ५. **कल्माषः**=खाखी वर्णवाला पशु **मारुतः**=मरुतों के गुण धर्मवाला है। मरुत=प्राण हैं, ये शरीर में विविध कार्यों को करते हुए कल्माष व चित्र-विचित्र वर्णवाले हैं। योग में प्राणों के विविध रंग माने गये हैं। ६. **कृष्णाः अजः**=कृष्णवर्ण का अज **आग्नेयः**=अग्नि के गुणधर्मवाला है। 'अग्नि' गर्म है इस कृष्ण अज से प्राप्त पशम भी बड़ी गरम होती है। अथवा अग्नि सेनापति है वह कृष्ण वर्णवाले बारूद से शस्त्रों के प्रक्षेपण (अज=क्षेपण) द्वारा शत्रुओं को दूर भगाता है, अतः उसका प्रतीक 'कृष्ण अज' रक्खा गया है। ७. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुण-धर्मवाली है। सरस्वती के उपासक भेड़ की भाँति ही नतमस्तक=विनीत रहते हैं और मस्तक व ज्ञान के द्वारा ही टक्कर लेते हैं। ८. **पेत्वः**=वेगवान् पशु **वारुणः**=वरुण देवतावाला है। वेगवान् पशु की भाँति वरुण भी अपने शत्रु-बाधनादि कार्यों में वेगवाला होता है।

भावार्थ—पशुओं के गुणधर्मों को समझकर हम अपने प्रतीकभूत पशु के चिह्न से प्रेरणा लेनेवाले बनें।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—विराट्प्रकृतिः[क], प्रकृतिः[र]। स्वरः—धैवतः।

बृहस्पति-शाक्वर

[क]अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपालऽइन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालो मित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभाभ्यामेकविंशाभ्यां [र]वैराजाभ्यां पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय चरुः सवित्रऽऔष्णिहाय त्रयस्त्रिंशाय रैवताय द्वादशकपालः प्राजापत्यश्चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्याऽअष्टाकपालः॥६०॥

१. याज्ञिक परिभाषा में आठ कपालों (पात्रों) में संस्कृत हवि को 'अष्टाकपाल' कहते हैं। यहाँ याज्ञिक परिभाषा का ही प्रयोग करते हुए कहते हैं कि **अग्नये**=आगे बढ़ने के स्वभाववाले, **गायत्राय**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा करनेवाले, **त्रिवृते**=(त्रिषु वर्तते) धर्मार्थकाम तीनों में समानुपात से वर्तनेवाले और अतएव **राथन्तराय**=इस शरीररूप रथ से तैर जानेवाले के लिए **अष्टाकपालः**=आठ कपालों में संस्कृत की गई हवि होती है। ये आठ कपाल गीता के **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'** इस श्लोक में स्पष्ट हैं। पञ्चमहाभूतों से यह स्थूलशरीर बना है और फिर मन, बुद्धि, अहंकार से सूक्ष्म शरीर की रचना हुई है। इन स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में संस्कृत हवि का अभिप्राय यह है कि इनकी शक्तियों का ठीक से परिपाक किया जाए। इन सबके सशक्त होने पर ही मनुष्य संसार-समुद्र को इस शरीररूप रथ से पार कर जाता है। २. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय, **त्रैष्टुभाय**='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को रोकनेवाले, **पञ्चदशाय**=पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाले, **बार्हताय**=(बृहि वृद्धौ) निरन्तर वृद्धिशील व्यक्ति के लिए **एकादशकपालः**=ग्यारह कपालों में संस्कृत की गई हवि चाहिए। 'पुरमेकादशद्वारम्' में ग्यारह इन्द्रियद्वारों का उल्लेख है। इन ग्यारह इन्द्रियद्वारों की शक्ति का विकास करना ही एकादशकपालों में हवि का परिपाक है। ३. **विश्वेभ्यो देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले, **जागतेभ्यः**=जगती के हित में प्रवृत्त, **सप्तदशेभ्यः**=पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय व मन और बुद्धि इन १७

को ठीक रखनेवाले **वैरूपेभ्यः**=विशिष्ट रूपवालों के लिए सबमें असामान्य रूप से दिखनेवालों के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत हवि होनी चाहिए। दस इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि की शक्ति का विकास ही बारह कपालों में हवि का परिपाक है। ४. **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह व द्वेष-निवारण को धारण करनेवाले, **अनुष्टुभाभ्याम्**=प्रत्येक कार्य के साथ प्रभु-स्मरण करनेवाले (अनु+स्टुभम्) **एकविंशाभ्याम्**='ये त्रिषप्त' मन्त्र में वर्णित शरीर की २१ शक्तियों का धारण करनेवाले और अतएव **वैराजाभ्याम्**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले अथवा नियमित (regulated) जीवनवालों के लिए **पयस्या**=(पायस शृतः) दूध में परिपक्व चरु होना चाहिए, अर्थात् इन्हें यथासम्भव दूध व दूध में संस्कृत वस्तुओं पर ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए। ५. **बृहस्पतये**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बननेवाले, **पाङ्क्ताय**=पंक्तिछन्द से स्तुत, अर्थात् पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को सुन्दर बनाने की प्रबल इच्छावाले, **त्रिणवाय**=धर्मार्थकाम तीनों में गतिवाले (नव् गतौ) अथवा शरीर, मन व बुद्धि तीनों जिसके स्तुत्य हैं उस त्रिणव, अतएव **शाक्वराय**=शक्तिशाली के लिए **चरुः**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए, अर्थात् यह उन्हीं हविर्द्रव्यों का भोजन में प्रयोग करे जिनका यज्ञ के लिए परिपचन होता है। एवं, यज्ञिय पदार्थों को सेवन करता हुआ ही यह शक्तिशाली बनता है। मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह बृहस्पति है तो शरीर के दृष्टिकोण से 'शाक्वर'। ६. **सवित्रे**=निर्माण के कार्य करनेवाले **औष्णिहाय**=उत्कृष्ट स्नेहवाले, **त्रयस्त्रिंशाय**=तेतीस देवों का निवास स्थान बननेवाले, **रैवताय**=उत्कृष्ट ज्ञानधनवाले के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत होनेवाला, अर्थात् इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति के विकासवाला इष्ट है। ७. **प्राजापत्यः**=प्रजापति के लिए हितकर, अर्थात् जो हमारी वृत्ति को प्रजारक्षणवाला बनाता है, वह **चरुः**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए। यह व्यक्ति भी इन यज्ञिय भोजनों को करता हुआ ही तो ऐसा बन सकेगा। ८. **अदित्यै**=न खण्डन करनेवाली **विष्णुपत्न्यै**=लक्ष्मी के लिए **चरुः**=वानस्पतिक यज्ञिय भोजन ही इष्ट है। ऐसे भोजनों को करते हुए ही हम लक्ष्मी की आराधना करते हुए भी उसमें आसक्त न होने से स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनोवृत्तिवाले बने रहेंगे। ९. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत हवि चाहिए, अर्थात् वैश्वानर अग्नि बनने के लिए हमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति का विकास करना चाहिए। १०. अन्त में **अनुमत्या (त्यै)**=अनुमति के लिए **अष्टाकपालः**=आठ कपालों में संस्कृत हवि अभिष्ट है। हम लोक में अनुकूल गति से ही चलें, हमारी गति शास्त्रविरुद्ध मार्ग पर जानेवाली न हो, इसके लिए हम पंचभूतों व मन, बुद्धि, अंहकार सभी को ठीक रखने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—इस संसार में जीवन को सुन्दर बनाने के लिए पंचभूतों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अंहकार—इन सबका ठीक परिपाक होना चाहिए। साथ ही हम सदा यज्ञिय पदार्थों का ही सेवन करें।

सूचना—इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय की समाप्ति जीवन को यज्ञिय बनाने के उपदेश से हुई है। अब अगले अध्याय का प्रारम्भ इस यज्ञिय भावना को जागरित करने की प्रार्थना से ही करते हैं।

इत्येकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—नारायणः। देवता—सविताः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञान+वाङ्माधुर्य

देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु॥ १॥

१. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा **सवितः**=सकल जगदुत्पादक तथा सब प्रेरणाओं के देनेवाले प्रभो! **यज्ञम् प्रसुव**=हमें यज्ञ की प्रेरणा दीजिए। प्रेरणा देने का अधिकार तभी प्राप्त होता है जब वे गुण स्वयं हममें हों। इसी दृष्टिकोण से यहाँ 'देव सवितः' इस क्रम से शब्दों का प्रयोग है। प्रभु स्वयं दिव्य गुणोंवाले हैं, दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं, वे हृदयस्थरूपेण जीव को प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। प्रभु स्वयं सृष्टिरूप महान् यज्ञ करनेवाले हैं, वे प्रभु हमें भी यज्ञ की प्रेरणा प्राप्त कराएँ। २. हे प्रभो! **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के पति, यज्ञों के रक्षक मुझे **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए **प्रसुव**=प्रेरित कीजिए, अर्थात् मुझे ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। मैं यज्ञशील बनकर ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. हे प्रभो! आप **दिव्यः**=सदा प्रकाश में निवास करनेवाले हैं, **गन्धर्वः**=(गां धरति) वेदवाणी का धारण करनेवाले हैं, **केतपूः**=हमारे ज्ञानों को पवित्र करनेवाले हैं। आपकी कृपा से आपका उपासक 'दिव्य, गन्धर्व, केतपूः' विद्वान् **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। हमें प्रकाश में निवास करनेवाले, वेदवाणी के धारक, ज्ञान को पवित्र करनेवाले आचार्य प्राप्त हों, उनके सम्पर्क से हमारा ज्ञान चमक उठे। ४. **वाचस्पतिः**=सब वाणियों का स्वामी व रक्षक प्रभु **नः**=हमारी **वाचम्**=वाणी को **स्वदतु**=स्वादवाला बनाए। हमारी वाणी में माधुर्य हो,। ५. ज्ञानी व मधुर वाणीवाले बनकर हम यज्ञियवृत्ति से अधिक-से-अधिक लोकहित में प्रवृत्त हों और दुःखी मनुष्य-समूह का कल्याण करते हुए प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'नारायण' बनें, नरसमूह के शरणस्थान।

भावार्थ—प्रभु हमें यज्ञ की प्रेरणा दें। यज्ञपति बनकर हम ऐश्वर्यशाली हों। प्रभु हमारे ज्ञान को पवित्र करें और वाणी को माधुर्य से भर दें।

ऋषिः—नारायणः। देवता—सविताः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वरेण्य भर्ग

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'यज्ञ+ज्ञान+व वाङ्माधुर्य' को अपनाकर हम अपने जीवन को इस प्रकार उच्च बनाएँ कि हम प्रभु के तेज को धारण करनेवाले बनें। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट यज्ञादि की प्रेरणा प्राप्त कराए **तत्सवितुः**=(स चासौ सविता च) उस सर्वव्यापक (तन् विस्तारे) सकल जगदुत्पादक व प्रेरक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **वरेण्यम्**=वरने योग्य **भर्गः**=(भ्रस्ज पाके) पापों को भून डालनेवाले तेज को **धीमहि**=हम धारण करें। २. उसी तेज की शक्ति को हम

अपना लक्ष्य बनाएँ। यह लक्ष्य ही हमारी पापवृत्तियों को समाप्त करेगा। इस लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए हम बुराइयों से बचे रहेंगे। ३. हृदयस्थरूपेण वे प्रभु हमें सदा उत्तम कर्मों की प्रेरणा दे ही रहे हैं। 'उस प्रभु के समान मुझे भी तेजस्वी बनना है', यही सर्वमहान् लक्ष्य है। लक्ष्य की ऊँचाई के अनुपात में ही हमारी उन्नति होती है। ऊँचे लक्ष्य से हम बुरइयों में फँसने से बचते हैं और प्रभु-जैसे बनते चलते हैं। प्रभु 'ब्रह्म' हैं, हम 'ब्रह्म इव' हो जाते हैं। लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि-सा देदीप्यमान हो उठता है।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु का ध्यान करें, प्रभु की तेजस्विता हमारे लिए वरेण्य हो। यह लक्ष्य हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएगा।

ऋषिः—नारायणः। देवता—सविता। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दुरित-दूरीकरण

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रन्तन्नऽआ सुव ॥ ३॥

१. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **विश्वानि**=हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आनेवाली **दुरितानि**=बुराइयों को **परासुव**=हमसे दूर कर दीजिए। २. बुराइयों को दूर करके **यत् भद्रम्**=जो शुभ है, कल्याणकर है **तत्**=उसे **नः**=हमें **आसुव**=सर्वथा प्राप्त कराइए। ३. हमारे जीवन का कार्यक्रम यही हो कि हम दुरितों को दूर करते चलें और भद्र बातों को ग्रहण करते जाएँ। यही उत्तम बनने का मार्ग है, यही आपके समीप पहुँचने का साधन है। यही वास्तविक उपासना है। ४. यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध में '**नः**' का प्रयोग नहीं, पर उत्तरार्ध में नः का प्रयोग है। दोष-दूरीकरण में दूसरों के दोषों को हमें देखना ही नहीं चाहिए, परन्तु कल्याण-प्राप्ति की प्रार्थना सभी के लिए करनी चाहिए, इसीलिए उत्तरार्ध में 'नः' शब्द का सौन्दर्य स्पष्ट है। ५. वस्तुतः हम दोषों को दूर करके व भद्र का संग्रह करके ही मन्त्र के ऋषि 'नारायण' बनने की तैयारी करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे दोष दूर हों और हमें भद्र की प्राप्ति हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—सविता। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वसु-विभाग (Distribution of Wealth)

विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम् ॥ ४॥

१. गतमन्त्र में प्रार्थित दुरितों को दूर करने व भद्र के प्रापण का प्रकार यह है कि प्रभु धन का विभाग करते हैं। उस धन के केन्द्रित होने पर ही दोष उत्पन्न होते हैं। मनुष्य भी नासमझी व स्वार्थपरता के कारण धन पर केन्द्रित होने लगता है और सारा सामाजिक शरीर अस्वस्थ हो जाता है। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि हम **वसोः**=निवास के लिए आवश्यक धन के **विभक्तारम्**=विभागपूर्वक देनेवाले प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं, अर्थात् हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे हममें सदा उचित धन-विभाग की व्यवस्था किये रक्खें। हमारे राष्ट्र के राजा आदि को प्रभु की ऐसी प्रेरणा मिले कि वे प्रजा में धन को कहीं केन्द्रित न होने दें। ३. यह धन जहाँ (क) **वसु**=निवास के लिए आवश्यक साधनों का प्रापक है, वहाँ (ख) **चित्रस्य**=(चित् र) यह ज्ञान देनेवाला है, इसके द्वारा हम ज्ञानवर्धक ग्रन्थों का संग्रह कर पाते हैं। इस धन को हम सदा साधन के रूप में देखते हैं। यह साध्य बनकर हमें अभिभूत करके उल्लू नहीं बना देता। साथ ही (ग) **राधसः**=(राध संसिद्धौ) यह धन हमारे कार्यों का साधक है। यह धन कार्यों में सफलता प्राप्त करानेवाला है। यह स्पष्ट है

कि इतना ही धन ठीक है जो 'वसु+चित्र व राधस्' है। ३. हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक हैं, वस्तुतः हमें भी उत्पादन करके ही धनार्जन करना चाहिए। ५. **नृचक्षसम्**=वे प्रभु सब मनुष्यों को देखनेवाले हैं (चक्ष्=To look after) हम भी सभी को देखनेवाले बनें, सभी का ध्यान करें। जब हम स्वार्थी बन जाते हैं तभी धन के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है।

भावार्थ—प्रभु धन का विभाग करते हैं। यदि धन एक स्थान पर केन्द्रित होने लगता है तो दुरितों की वृद्धि हो जाती है, अतः 'मेधातिथि' समझदारी से चलनेवाला, धन को केन्द्रित नहीं होने देता।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ज्ञान के लिए ब्राह्मण को

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयायाऽ अयोगूं कामाय पुंश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार राष्ट्र-शरीर के स्वास्थ्य के लिए धन का विभाग व विकेन्द्रियकरण आवश्यक है। राजा को राष्ट्र की उचित व्यवस्था के लिए यह धन-विभाग करना ही चाहिए। कर व्यवस्था भी इस प्रकार से हो कि धन केन्द्रित न हो पाये। प्रसंगवश अब यह भी कहते हैं कि राष्ट्र में राजा किस-किस कार्य के लिए किस-किस व्यक्ति को नियत करे। २. **ब्रह्मणे**=ज्ञान के प्रचार के लिए **ब्राह्मणम्**=वेद व ईश्वर के वेत्ता ज्ञानी पुरुष को **आलभते**=नियत करे। ज्ञान ज्ञानी ही तो फैलाएगा। 'आलभते' क्रिया २२वें मन्त्र में आई है। वही क्रिया सर्वत्र उपयुक्त होगी। २. **क्षत्राय राजन्यम्**=लोगों को व राष्ट्र को क्षतों से बचाने के लिए क्षत्रिय को प्राप्त करे। राष्ट्र की रक्षा क्षत्रियों से ही होगी। क्षत्रियों के अभाव में राष्ट्र शत्रुओं से आक्रान्त होकर पराधीन हो जाएगा। ३. **मरुद्भ्यः**=सब मान्य मनुष्यमात्र के लिए **वैश्यम्**=वैश्य को प्राप्त करे। जहाँ मनुष्यों की बस्ती बसानी है वहाँ वैश्यों के लिए मण्डी भी बनानी है। मनुष्यों के दैनन्दिन जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को ये ही प्राप्त कराएँगे। ४. **तपसे शूद्रम्**=तप के लिए, अर्थात् कष्ट व श्रम के लिए शूद्र को प्राप्त करे। **शूद्र**=शु द्रवति=यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है, शु उन्दति=शीघ्र पसीने से गीला होनेवाला होता है। यह ज्ञान, बल व धन-प्राप्ति की योग्यता के अभाव में श्रम से ही राष्ट्र की उपयोगी सेवा करता है। शरीर में जो पाँव का स्थान है, राष्ट्र-शरीर में वही स्थान शूद्र का है। राष्ट्र के सब बड़े-बड़े भवन इन्हीं के श्रम पर आश्रित होते हैं। ५. **तमसे**=अन्धकार में काम करने के लिए **तस्करम्**=चोर को नियत करे। 'तत् करोतीति तस्करः'=अन्धकार में कार्य करने में समर्थ पुरुष को नियत करे। ६. **नारकाय वीरहणम्**=(नारम् नरसमूहं कायति) शत्रुओं के नरसमूहों को रुलाने के लिए वीरों को नियत करे, जो शत्रुपक्ष से आनेवाले व्यक्तियों को तीरों की मार से समाप्त कर दें। **पाप्मने क्लीबम्**=पाप के लिए नपुंसक को प्राप्त करे। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं—(क) पाप के लिए नपुंसक-सा हो जाए, अर्थात् पाप कर ही न सके अथवा (ख) नपुंसक ही पाप करेगा, वीर पाप को अपनी शोभा के विपरीत समझेगा' ८. **आक्रयाय अयोगूम्**=सब प्रकार के पदार्थों के क्रय-विक्रय के लिए खूब परिश्रमी पुरुष को नियत करे। 'अयोगू' शब्द का अर्थ 'लोहार' है। यह भरपूर श्रम का प्रतीक है। इधर-उधर की भागदौड़ से न थकनेवाला पुरुष ही इस कार्य के लिए उपयुक्त है। ९. **कामाय पुंश्चलूम्**=इच्छाशक्ति को बलवान् बनाने के लिए

मनुष्यों में हलचल उत्पन्न करनेवाले को प्राप्त करे। १०. **अतिक्रुष्टाय मागधम्**=महान् वक्तृत्व के लिए मागध—स्तुतिपाठक को प्राप्त करे, भाटों को अत्युक्तिपूर्ण कथनों के उपयुक्त जाने। किसी की निन्दा करनी हो तो मागध को नियुक्त करे, ये लोग प्रशंसा करते हुए प्रतीत होते हैं और इष्टनिन्दा को पूर्ण सफलता के साथ कर सकते हैं।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए उपयुक्ततम व्यक्ति को नियत करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

नृत्य के लिए सूत को

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभꣳहसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम्॥ ६॥

११. **नृत्ताय सूतम्**=नृत्य के लिए—इशारों से नृत्य की प्रेरणा देनेवाले को प्राप्त करे। १२. **गीताय शैलूषम्**=सम्मिलित गायन के लिए शैलूष (One who beats tune at a concert) को—करताल बजानेवाले को रक्खो। १३. **धर्माय**=राष्ट्र के कानून के लिए **सभाचरम्**=धर्मसभा के सभासद् (Assembly's member) को प्राप्त करो। १४. **नरिष्ठायै भीमलम्**=(नरि-ष्ठा) नेतृत्व के पद पर स्थिति के लिए भीतिप्रद, ओजस्वी, रोबवाले पुरुष को नियत करे। १५. **नर्माय रेभम्**=परिहास आदि की क्रीड़ा के लिए स्तोता को अथवा बोलने में चतुर वाचाट पुरुष को प्राप्त करे। १६. **हसाय कारिम्**=हँसी-मखौल के लिए नकल उतारनेवाले को प्राप्त करे। १७. **आनन्दाय**=आनन्द प्राप्ति के लिए **स्त्रीषखम्**=पत्नी की मित्रता को प्राप्त करे। वस्तुतः सारा गृहसुख पत्नी के साथ समान विचारवाला होने में ही है। १८. **प्रमदे कुमारीपुत्रम्**=कुमारी के पुत्र को प्रमादयुक्त कार्यों के लिए जाने। जिस प्रकार कुमारी से प्रमादवश वह सन्तान हो गई, अतः उस सन्तान में भी वही प्रमाददोष उत्पन्न हो जाएगा। ऐसा सन्तान प्रायः प्रमादयुक्त कार्यों को करनेवाला होगा। १९. **मेधायै रथकारम्**=मेधा के लिए रथकार को प्राप्त करे। जैसे एक रथकार भिन्न-भिन्न रथांगों को कुशलता से संगत करके रथ का निर्माण करता है उसी प्रकार उसका अनुसरण करता हुआ पुरुष अपनी मेधा को बढ़ानेवाला होता है। रथ आदि के निर्माण में बुद्धिकौशल व्यक्त होता है। २०. **धैर्याय**=धैर्य के लिए **तक्षाणम्**=तरखान को प्राप्त करे। 'किस प्रकार सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चित्रकारी व कारीगरी के कार्यों को यह तक्षा धैर्यपूर्वक करता चलता है', इस कर्म को देखकर दूसरा मनुष्य भी धैर्य से काम करने का पाठ पढ़ता है। मुझे एक बढ़ई की भाँति धैर्यवाला (As patient as a carpenter) बनना है' ऐसा हमें निश्चय करना चाहिए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में नृत्य आदि कार्यों के लिए सूत आदि को नियुक्त करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

तप के लिए कौलाल को

तपसे कौलालं मायायै कर्मारꣳ रूपाय मणिकारꣳ शुभे वपꣳशरव्याया इषुकारꣳ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम्॥ ७॥

२१. **तपसे कौलालम्**=तपनेवाले कार्यों के लिए कुम्हार के पुत्र को प्राप्त करे। वह सदा भट्टी के तपाने से उन कार्यों के लिए अधिक अभ्यस्त होता है। ऋत, सत्य आदि उत्तम तप के लिए कुलीन पुरुष को संयुक्त करे, यह कुल में कलह होने के भय से तप

को न छोड़ेगा। २२. **मायायै कर्मारम्**=बुद्धि व आश्चर्य (माया) के कार्य करने के लिए लोहार को प्राप्त करे। 'किस प्रकार लोहार लोहे को लेकर उसे अद्भुत यन्त्र में परिवर्तित कर देता है', यह सब जादू-सा प्रतीत होता है। २३. **रूपाय मणिकारम्**=आभूषणादि सुन्दर वस्तु बनाने के लिए मणिकार को प्राप्त करे। २४. (क) **शुभे**=मुखादि की शोभा बढ़ाने के लिए **वपम्**=नाई को प्राप्त करे, नाई बालों को ठीक-ठाक करके 'शुन्धिशिरः' सिर आदि का ठीक शोधन कर देता है। (ख) अथवा **शुभे**=राष्ट्र की शोभा के लिए **वपम्**=बीज को बोनेवाले किसान को प्राप्त करे। वे ही राष्ट्र में अन्नादि की समुचित वृद्धि करके राष्ट्र की शोभा को बढ़ाते हैं। २५. **शरव्यायै इषुकारम्**=शरसमूह को प्राप्त करने के लिए बाण बनानेवाले को प्राप्त करे। २६. **हेत्यै**=दूर फेंकनेवाले अस्त्रों के लिए **धनुष्कारम्**=धनुष बनानेवाले शिल्पी को प्राप्त करे। २७. **कर्मणे ज्याकारम्**=युद्ध के कार्यों के लिए धनुष की डोरी आदि बनानेवाले शिल्पी को प्राप्त करे। २८. **दिष्टाय रज्जुसर्जम्**=आज्ञाओं के पालन कराने के लिए रज्जु का निर्माण करनेवाले को नियत करे। आज्ञा न माननेवालों को बन्धन में डालने के लिए वह सदा तैयार हो। नियमन का भय ही शासन का पालन कराता है। २९. **मृत्यवे मृगयुम्**=दुष्ट प्राणियों के वध के लिए, ग्राम के आतङ्क का कारण बन जानेवाले चीते आदि को मारने के लिए शिकारी को प्राप्त करे। ३०. **अन्तकाय**=दुष्टों का अन्त करने के लिए **श्वनिनम्**=कुत्तों को पालनेवाले शिकारी (Hound) को प्राप्त करे।

भावार्थ—मृगयु, श्वनी आदि को भी राजा राष्ट्र के उपयोगी कार्यों में विनियुक्त करे। उनके द्वारा शेर आदि की हत्या कराके ग्रामवासियों के आतङ्क को दूर करे।

ऋषिः—नारायणः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः।

नदियों के लिए पौञ्जिष्ठ को

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठमृक्षीकाभ्यो नैषादं पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं प्रयुग्भ्यऽउन्मत्तꣳ सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यताया अकितवं पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्॥ ८॥

३१. (क) **नदीभ्यः**=नदियों के लिए **पौञ्जिष्ठम्**=मछियारे को प्राप्त करे। नदियों पर मछली आदि के पकड़ने के कार्य को ये ही करेंगे अथवा (ख) नदियों के लिए काष्ठखण्डों के पुञ्जों पर स्थित होकर (बेड़ों=rafts पर) नदियों को पार करानेवालों को प्राप्त करे। नदियों पर ये नाविक यात्रियों को पार करने का कार्य करेंगे। ३२. **ऋक्षीकाभ्यो नैषादम्**=रीछ आदि जंगली, क्रूर पशुओं के लिए निषाद व जंगली-जाति के पुरुषों को प्राप्त करे। वे ही इनके वध आदि की ठीक व्यवस्था रखेंगे। ३३. **पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम्**=पुरुषों में व्याघ्र के समान शूरवीर के लिए, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को नियन्त्रण में रखने के लिए, दुर्दान्त प्रचण्ड वीर को, अदम्य पुरुष को नियत करे, ३४. (क) **गन्धर्वाप्सरोभ्यः**=सुन्दर युवक व युवतियों के लिए, अर्थात् इनके संरक्षण के लिए व अध्ययनाध्यापन के लिए **व्रात्यम्**=(व्रताः मनुष्याः तेषु साधुः) मनुष्यसमूहों में उत्तमता से वर्त्त सकनेवाले को नियत करे। (ख) **गन्धर्व**=किसान (गां धारयति) **अप्सर**=मजदूर (कर्म में चलता है) लोगों में संघों के सञ्चालन में उत्तम पुरुष को नियत करे जो संघ (Union) को ठीक नियन्त्रण में रख सके। ३५. **प्रयुग्भ्यः**=परीक्षणों के लिए, प्रयोगों के लिए (प्रयोजनं प्रयुक्) **उन्मत्तम्**=उन्मत्त को (One who is mad after them) जिसे परीक्षणों की ख़ब्त हो, उसे

नियत करे। दूसरा व्यक्ति तो तनिक-सी असफलता पर परीक्षण को बीच में ही छोड़ देगा। ३६. **सर्पदेवजनेभ्यः**=सर्प, अर्थात् गुप्तचर (अपसर्पः चरः स्पशः) तथा देवजन (दीव्यन्ति व्यवहरन्ति) व्यापारी वर्ग के लिए **अप्रतिपदम्**=जो न जाना जा सके तथा जो अनुत्तम=बहुत अधिक ज्ञानवाला है, उसे नियत करे। गुप्तचर पहचाने न जा सकें और व्यापारी बड़े समझदार हों। ३७. (क) **अक्षेभ्यः**=पासों के लिए **कितवम्**=जुआरी को प्राप्त करें (ख) अथवा उत्तम गतियों के लिए ज्ञानी पुरुषों को नियत करे (कित संज्ञाने, चिकेति) ३८. **ईर्यतायै**=सन्मार्ग पर चलने के लिए **अकितवम्**=न जुआरी अर्थात् श्रमशील कृषक आदि को प्राप्त करे। उल्लिखित दोनों वाक्यों का भाव **'अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व'** इन आदेशों में स्पष्ट है, 'जुआ न खेलो, खेती ही करो'। ३९. **पिशाचेभ्यः विदलकारीम्**=रक्त-मांसभोजी मनुष्यों के लिए ऐसे व्यक्ति को नियत करो जो उनमें फूट डाल सके (Split-maker=वि-दल-कारी) ४०. **यातुधानेभ्यः**=चोर-डाकुओं के लिए, प्रजा-पीड़कों के लिए **कण्टकीकारम्**=नोकदार शस्त्रधारी सैनिकों को, सैन्य तैयार करनेवालों को नियत करे। यातुधानों से प्रजारक्षण के लिए कुन्तधारी (Lancers) पुरुषों को नियत करे।

भावार्थ—राजा ने राष्ट्रोन्नति के लिए विविध पुरुषों को विविध कार्यों में लगाना है। मछियारों से लेकर कुन्तधारियों तक सभी की यथास्थान नियुक्ति करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

सन्धि के लिए जार को

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराद्ध्या एदिधिषुःपतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीᳬसंज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानुरुधं बलायोपदाम् ॥ ९॥

४१. **सन्धये जारम्**=सन्धि के लिए वृद्ध (जीर्ण) पुरुष को प्राप्त करे। ये वृद्ध पुरुष शान्ति से बात कर सकते हैं और इन्हें एक लम्बा अनुभव प्राप्त हो चुका होता है, अतः ये सन्धि के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। ४२. **गेहाय**=घर की रक्षा के लिए **उपपतिम्**=एक उपसंरक्षक (Assistant Guard) को नियुक्त करे। स्वयं तो राजा राजकार्यों में व्यस्त रहेगा न कि घर की ही रक्षा करता रहेगा। ४३. **आर्त्यै**=पीड़ा को दूर करने के लिए **परिवित्तम्**=सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त करनेवाले को प्राप्त करे। सब प्रकार का सच्चा ज्ञान (true information) प्राप्त करके कष्ट के समय पर उसका उपयोग करके लोगों का कष्टों से संरक्षण करना इसका काम होगा। ४४. **निर्ऋत्यै**=भूख, महामारी आदि कष्टों को दूर करने के लिए **परिविविदानम्**=सब ओर से साधनों को प्राप्त करनेवाले को नियुक्त करे। ४५. **अराद्ध्यै**=दरिद्रता को दूर करने के लिए **एदिधिषुः पतिम्**=सबसे प्रमुख, धारण करने योग्य सम्पत्ति के पालक को प्राप्त करे (अग्रे दिधिषति धारयितुमिच्छति) पिछले तीन वाक्यों का अर्थ इस रूप में भी होता है कि बड़े भाई के अविवाहित होते हुए विवाहित होनेवाले छोटे भाई को पीड़ा (परिवित्तम्) के लिए प्राप्त करता है। बड़े भाई की उपेक्षा करके दायभाग लेनेवाले छोटे भाई को (परिविविदानम्) निर्ऋति=महान् कष्ट के लिए जाने। बड़ी कन्या के रहते छोटी के साथ विवाह करनेवाले **एदिधिषुः पतिम्**=व्यक्ति को असमृद्धि के लिए जाने। इसलिए राजा कानून द्वारा इन तीनों स्थितियों पर प्रतिबन्ध लगाये। ४६. **निष्कृत्यै**=सुधारने के लिए **पेशस्कारीम्**=सौन्दर्य बढ़ाने के साधनों को बनानेवाले को प्राप्त करे। ४७. **संज्ञानाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **स्मरकारीम्**=स्मरण करानेवाली क्रिया को

प्राप्त करे। ४८ **प्रकामोद्याय**=यथेष्ठ बातचीत करने के लिए, जी खोलकर बात करने के लिए **उपसदम्**=निकटतम मित्र को प्राप्त करे। ४९. **वर्णाय अनुरुधम्**=किसी बात को स्वीकार करा देने के लिए उचित ढंग से अनुरोध करनेवाले पुरुष को नियत करे। ५०. **बलाय उपदाम्**=बल की वृद्धि के लिए भेंट व पुरस्कार देनेवाले को प्राप्त करे। पुरस्कार देने से सैनिकों का उत्साह निश्चितरूप से बढ़ेगा।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में सन्धि आदि कार्यों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को नियत करे।

नोट—आर्ति का अर्थ पीड़ा के लिए सामान्यत होता है। यहाँ पीड़ा की निवृत्ति के लिए किया गया है। जैसे 'मशकाय धूमः' का अर्थ 'मच्छरों की निवृत्ति के लिए धूँआ' होता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

विनाश कार्यों के लिए

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामꣳ स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षायाऽअभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकम्॥ १०॥

५१. **उत्सादेभ्यः**=विनाशकारी कार्यों के लिए **कुब्जम्**=कुबड़े को नियत करे। इन लोगों की बुद्धि निर्माण की अपेक्षा विनाश में अधिक चलती है। कुब्ज का शब्दार्थ है—'कुत्सितं उब्जति'=बुरे ढंग से दबाव (Subdue) में रखता है ५२. **प्रमुदे वामनम्**=विनोदकारी कार्यों के लिए बौने पुरुष को प्राप्त करे। बौने पुरुष को देखकर ही कुछ अजीब-सा प्रतीत होने लगता है। इनमें अपने कद की कमी को प्रतितुलित करने के लिए हास्य आदि की शक्ति अधिक होती है। ५३. **द्वार्भ्यः**=द्वारों की रक्षा के लिए **स्रामम्**=जल से क्लिन्न आँखोंवाले को प्राप्त करे। द्वारपाल के स्थान पर स्राम की नियुक्ति करे न कि स्नेहशून्य आँखोंवाले की। ५४. **स्वप्नाय**=नींद के लिए **अन्धम्**=लोचनहीन को नियुक्त करें, अर्थात् जिस जगह केवल सोने का कार्य हो वहाँ नेत्रहीन पुरुष की नियुक्ति कर दे, चूँकि यह सोने के कार्य को सम्यक् पूर्ण कर सकेगा। ५५. **अधर्माय**=अधर्म के लिए **बधिरम्**=बहिरे को प्राप्त करे। जो बड़ों की प्रेरणा को नहीं सुनता (Turns a deaf ear to them) वह अधर्म के मार्ग की ओर चला ही जाता है। शास्त्रश्रवण करनेवाला व्यक्ति ही धर्म के मार्ग पर चल पाता है। ५६. **पवित्राय भिषजम्** =पवित्रता के लिए वैद्य को नियत करे। इसका कार्य जहाँ सफाई का ध्यान करना होगा, वहाँ बीमारियों को न फैलने देने तथा मानस पवित्रता उत्पन्न करने का भी ध्यान करना होगा। ५७. **प्रज्ञानाय**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **नक्षत्रदर्शम्**=नक्षत्रों का दर्शन करनेवाले को, अर्थात् गणित ज्योतिष के पण्डित को नियुक्त करे। यह उन तारों की गति में भी प्रभु की महिमा को देखता है, इसे तारे प्रभु का स्तवन करते प्रतीत होते हैं। यह इन नक्षत्रों की विद्या का अध्ययन करता हुआ प्रभु का ज्ञान प्राप्त करता है। ५८. **आशिक्षायै प्रश्निनम्**=सब विषयों का ज्ञान देने के लिए विविध प्रश्न करनेवाले अध्यापक को प्राप्त करे। वस्तुतः इस प्रश्नात्मक शैली (Questioning method) के द्वारा आचार्य विद्यार्थी के अन्दर से ही ज्ञान को बाहर लाने का प्रयत्न करता है। ५९. **उपशिक्षायै**=उपशिक्षा के लिए, अर्थात् Training के लिए **अभिप्रश्निनम्**=नाना प्रकार के प्रश्न पूछनेवाले को नियत करे। उन भावी शिक्षकों को प्रश्न पूछने का प्रकार भी तो सिखाना ही है। ६०. **मर्यादायै**=मर्यादा के लिए **प्रश्नविवाकम्**=न्यायाधीश को नियत करे। यह अपराधियों को उचित दण्ड देते

हुए कुप्रवृत्तियों का दमन करता है और इस प्रकार मर्यादा की स्थापना करता है।

भावार्थ—राजा शिक्षा के प्रसार के लिए ऐसे अध्यापकों को नियत करे जो विद्यार्थियों के ज्ञान को प्रश्नात्मक शैली से निरन्तर बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**ः। स्वरः—**पञ्चमः**।

अर्म के लिए हस्तिप को

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपꣳश्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम्॥ ११॥

६१. **अर्मेभ्यः**=गन्तव्य प्रदेशों के लिए **हस्तिपम्**=हाथियों के पालनेवाले व महावत को प्राप्त करे। ये हाथी कठिन, दुर्गम व गम्भीर स्थानों में भी हमें प्राप्त करानेवाले होंगे। ६२. **जवाय**=वेग के लिए **अश्वपम्**=अश्वपाल को नियत करे। यह घोड़ों के द्वारा शीघ्रता से स्थानान्तर पर पहुँचानेवाला होगा। ६३ **पुष्ट्यै**=पोषण के लिए **गोपालम्**=गोरक्षकों को नियत करे। ये उत्तम गोदुग्ध प्राप्त कराके हमारा पोषण करेंगे। ६४. **वीर्याय**=वीर्य के लिए **अविपालम्**=अवि (भेड़) के पालनेवाले को नियत करे। भेड़ का दूध 'स्थौल्यमेदहरम्' मोटापे व प्रमेहों (Diabetes) को दूर करनेवाला है। ६५. **तेजसे**=तेजस्विता के लिए **अजपालम्**=बकरियों को पालनेवाले को नियत करे। इन बकरियों का दूध 'सर्वरोगापहम्'=सब रोगों का हरण करनेवाला है, रोगहरण द्वारा यह हमें तेजस्वी बनाता है। ६६. **इरायै**=अन्न की वृद्धि के लिए **कीनाशम्**=किसान को प्राप्त करे। वस्तुतः इन किसानों की स्थिति के ठीक होने पर ही देश की स्थिति का ठीक होना सम्भव है। ६७. (क) **कीलालाय**=पेय पानी के लिए **सुराकारम्**=शुण्डायन्त्र से पानी को वाष्पीभूत करके फिर से द्रवीभूत करनेवाले को नियत करे। डिस्टिल्ड पानी स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर है। (ख) **कीलालाय**=अन्न, फल आदि के रस के लिए **सुराकारम्**=रस का अभिषव करनेवाले को नियत करे। ६८. **भद्राय**=कल्याण के लिए **गृहम्**=घरों के रक्षक को (पहरेदारों को) नियत करे। पहरेदारों के होने पर चोरी आदि न होने से प्रजा का भद्र व कल्याण होता है। ६९. **श्रेयसे**=कल्याण के लिए **वित्तधम्**=वित्त के धारण करनेवाले को प्राप्त करे। 'वित्तधम्' वह व्यक्ति है जो धनी है, वित्त का धारण करनेवाला है और औरों के लिए धन को देता हुआ धन के द्वारा उनका धारण करता है। इस व्यक्ति का कल्याण क्यों न होगा? ७०. **आध्यक्ष्याय**=अध्यक्षता के कार्य के लिए **अनुक्षत्तारम्**=कर्मसचिवों Secretaries को नियत करे क्षत्ता Ministers हैं और अनुक्षत्ता Secretaries हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में गोप, अश्वपाल, अविपाल व किसान आदि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**विराट्संकृतिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

भा के लिए दार्वाहार को

भायै दार्वाहारं प्रभाया अग्न्येधं ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं देवलोकाय पेशितारं मनुष्यलोकाय प्रकरितारꣳ सर्वेभ्यो लोकेभ्यऽउपसेक्तारमवऽऋत्यै वधायोपमन्थितारं मेधाय वासः पल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम्॥ १२॥

७१. **भायै**=अग्नि के लिए **दार्वाहारम्**=लकड़हारे को प्राप्त करे। घर में अग्नि के लिए मुख्य साधन लकड़ी ही है। कोयला भी लकड़ी से ही तैयार होता है। ७२. **प्रभायै**

अग्न्येधम्=प्रभा के लिए, विशेष प्रकाश के लिए अग्नि को दीप्त करनेवाले को प्राप्त करे। ७३. **ब्रध्नस्य विष्टपाय**=सूर्यलोक के लिए **अभिषेक्तारम्**=ज्ञान-जल में अभिषेक करनेवाले को प्राप्त करे। ७२ में यह कहा था कि प्रकाश के लिए अग्नि को दीप्त करनेवाले को नियत करे, अर्थात् जो अपनी ज्ञानाग्नि से विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि को समिद्ध करता है, उस विशेष प्रकाशक को नियत करे। ७३ में कहते हैं कि 'इस ज्ञान-जल में स्नान करनेवाले को सूर्यलोक में जन्म लेनेवाला जाने। ७४. **परिवेष्टारम्**=परोसनेवाले को **वर्षिठाय नाकाय**=सर्वोत्तम स्वर्गलोक के लिए नियुक्त करे, उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य बाँटकर खाना सीखता है। ७५. **देवलोकाय**=देवलोक के लिए **पेशितारम्**=बुराइयों को चूर्णित करनेवाले को प्राप्त करे (पिश=पीसना)। बुराइयों को समाप्त करके सौन्दर्य का निर्माण करनेवाले को जाने (पेशः=सौन्दर्य, shape) ७६. **मनुष्यलोकाय**=मनुष्यलोक के लिए **प्रकरितारम्**=शत्रुओं=असुरों को उखाड़ फेंकनेवाले को अथवा ज्ञानादि का विकरण=फैलाव करनेवाले को प्राप्त करे। इसी प्रकार मनुष्यों की स्थिति ऊँची हो सकती है। ७७. **सर्वेभ्यः लोकेभ्यः**=सब लोगों के कल्याण के लिए **उपसेक्तारम्**=उनमें ज्ञानादि गुणों का उपसेचन करनेवाले को नियुक्त करे। ७८. **अवऋत्यै**=नीचाचरण को रोकने के लिए तथा **वधाय**=वधों को (क़त्लों को) दूर करने के लिए **उपमन्थितारम्**=प्रजाओं का आलोडन करनेवाले को प्राप्त करे, उस अफसर को, जो प्रजाओं में विचरण करता हुआ ऐसे कार्यों को प्रजा में न होने दे। ७९. **मेधाय**=संगम के लिए, अर्थात् सभा-समाजों में लोगों से मिलने-जुलने के लिए **वासःपल्पूलीम्**=कपड़े धोनेवाली को प्राप्त करे, अर्थात् इनसे कपड़ों को धो दिये जाने पर ही तो हम सभा-समाज में जा सकेंगे। मैले कपड़ों से तो मेलजोल सम्भव नहीं। ८०. **प्रकामाय**=उत्कृष्ट, लौकिक आनन्द के लिए **रजयित्रीम्**=रञ्जन करनेवाली को प्राप्त करे, उस स्त्री को प्राप्त करे जो अपने मधुर व्यवहार से अपने पति को रञ्जित करनेवाली होती है।

भावार्थ—उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए त्याग व अशुभवृत्ति-विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

ऋति के लिए स्तेनहृदय को

ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्त्यै क्षत्तारमौपद्रष्ट्र्यायानुक्षत्तारं बलायानुचरं भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिनमरिष्ट्याऽअश्वसादꣳ स्वर्गाय लोकाय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्॥ १३॥

८१. **ऋतये**=शत्रु-सैन्य के लिए **स्तेनहृदयम्**=(हृदयस्य स्तेनः) हृदय को चुरा लेनेवाले को, अर्थात् उसके दिल की बात का पता लगानेवाले को (One who can draw out) नियत करे (ऋति=An army)। ८२. **वैरहत्याय**=वैर व हत्या आदि कार्यों के लिए **पिशुनम्**=चुग़लखोर को नियत करे, वह इधर की बातें उधर करके इन कार्यों को सुविधा से कर पाते हैं। ८३. **विविक्त्यै**=किसी कार्य के विवेक के लिए, उसके गुण-दोष के परीक्षण के लिए **क्षत्तारम्**=सुविश्लिष्ट विचारवाले मन्त्री को प्राप्त करे। ८४. **औपद्रष्ट्र्याय**=सब कार्यों के बारीकी से निरीक्षण के लिए **अनुक्षत्तारम्**=कर्मसचिव (Secretary) को नियत करे। ८५. **बलाय**=सेना के लिए **अनुचरम्**=आज्ञानुसार कार्य करनेवाले को नियत करे। सैनिकों का कार्य आज्ञा मानना ही है, इसके औचित्य का विचार करना उनका कार्य नहीं। ८६. **भूम्ने**=बाहुल्य व सुख के लिए **परिष्कन्दम्**=चारों ओर भ्रमण करके दोषों को दूर

करनेवाले अफ़सरों को नियत करे, अथवा सब स्थानों पर भ्रमण करके उचित 'कर' उगाहनेवाले को (स्कन्दयति to collect) नियत करे। ८७. **प्रियाय**=राष्ट्र में प्रेम के वर्धन के लिए **प्रियवादिनम्**=ऐसे अध्यक्षों को नियत करे जा कड़वा नहीं बोलते। ८८. **अरिष्ट्यै**=राष्ट्र की अहिंसा के लिए **अश्वसादम्**=घुड़सवार फ़ौज नियत करे। ८९. **स्वर्गाय लोकाय**=स्वर्गलोक के लिए **भागदुघम्**=अपने भाग का ही दोहन करनेवाले को प्राप्त करे। राजा को चाहिए कि प्रजाओं में अपने ही भाग के दोहन की प्रवृत्ति को पैदा करे। गौ का दोहन बछड़े का भाग छोड़कर ही करे, राजा भी प्रजा से कर का दोहन उचित भाग के रूप में ही करे। ९०. **वर्षिठाय नाकाय**=सर्वोत्तम स्वर्गलोक के लिए **परिवेष्टारम्**=परोसनेवाले को प्राप्त करे। जो स्वयं सारा नहीं खा जाता, अपितु औरों को परोसकर बचे हुए को खाता है, वह अवश्य सर्वोत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—स्तेनहृदय लोगों का भी राष्ट्र के लिए सुन्दर उपयोग हो सकता है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौ। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

मन्यु के लिए अयस्ताप को

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसरं योगाय योक्तारः शोकायाभिसर्त्तारं क्षेमाय विमोक्तारमुत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं वपुषे मानस्कृतः शीलायाञ्जनीकारीं निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम्॥ १४॥

.९१. **मन्यवे**=ज्ञान की वृद्धि के लिए **अयस्तापम्**=धातुओं के सन्तप्त करनेवाले को प्राप्त करे। यह धातुओं को सन्तप्त करके उनको विविध रूपों में ढालनेवाला, जैसे उन धातुओं को सुन्दर रूप प्रदान करता है, इसी प्रकार आचार्य (भृगु) विद्यार्थी को तपस्या की अग्नि में तपाकर उत्तम ज्ञानी का रूप प्राप्त कराता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए तप आवश्यक है, तप के बिना ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं। ९२. **क्रोधाय**=क्रोध को दूर करने के लिए **निसरम्**=(नितरां सर्तारम्—म०) निरन्तर कार्य में लगे रहनेवाले को प्राप्त करे, खाली आदमी को क्रोध आया ही करता है। ९३. **योगाय**=योग के लिए, प्रभु व दिव्यता के साथ सम्पर्क के लिए **योक्तारम्**=प्रतिदिन चित्तवृत्तिनिरोध का अभ्यास करनेवाले को प्राप्त करे, प्रतिदिन ध्यान करनेवाला ही प्रभु को प्राप्त करेगा। ९४. **शोकाय**=(शुच दीप्तौ) दीप्ति के लिए **अभिसर्त्तारम्**=आन्तरिक व बाह्य उन्नति के लिए उद्योग करनेवाले को, अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की साधना करनेवाले को, श्रेय व प्रेय दोनों का आक्रमण करनेवाले को, ज्ञान व योग की व्यवस्थिति करनेवाले को प्राप्त करे। केवल ऐहिक उन्नति से जीवन दीप्त नहीं बनता, ऐहिक उन्नति के साथ पारलौकिक उन्नति का मेल आवश्यक है। ९५. **क्षेमाय**=कल्याण के लिए **विमोक्तारम्**=स्वतन्त्र करनेवाले को प्राप्त करे। 'सर्वं परवशं दुःखम्' परवशता में ही दुःख है। हम काम, क्रोध, लोभ के बन्धन में हैं तो कल्याण सम्भव ही नहीं। इन बन्धनों से अपने को छुड़ाएँगे तभी कल्याण होगा। ९६. **उत्कूलनिकूलेभ्यः**= 'ऊर्ध्वनीचतटेभ्यः' ऊँचे-नीचे स्थानों के लिए, अर्थात् जीवन के ऊँच-नीच (Up and down) के लिए, ऊँच-नीच में न घबराने के लिए **त्रिष्ठिनम्**=(त्रिषु तिष्ठति) शरीर, मन व बुद्धि तीनों की उन्नति में स्थित होनेवाले को अथवा 'धर्मार्थकाम' तीनों में समरूप से स्थित होनेवाले को अथवा काम, क्रोध व लोभ तीनों को काबू करनेवालों को प्राप्त करे। ऐसा व्यक्ति ही जीवन के ऊँच-नीच में स्थितप्रज्ञ रह पाता है। ९७. **वपुषे**=शरीर के लिए,

शरीर के सौन्दर्य के लिए **मानस्कृतम्**=प्रत्येक वस्तु को मानपूर्वक, माप-तोलकर करनेवाले को प्राप्त करे। 'मात्रा बलम्' शरीर का बल प्रत्येक वस्तु का माप-तोलकर ही प्रयोग करने में है। ९८. **शीलाय**=सुन्दर शील के लिए **अञ्जनीकारीम्**=दृष्टिदोष को दूर करनेवाली को प्राप्त करे। यहाँ स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग पत्नी की महत्ता को व्यक्त कर रहा है। घर में पत्नी एक भाई के दृष्टिकोण को विकृत कर देती है और घर के शील का नाश हो जाता है, बड़ों का आदर व परस्पर प्रेम न रहकर लड़ाई-झगड़े होने लगते हैं। ९९. (क) **निर्ऋत्यै**=आपत्ति के लिए, अर्थात् आपत्ति के समय काम आने के लिए **कोशकारीम्**=कोश बढ़ानेवाली को प्राप्त करे। 'आपदर्थं धनं रक्षेत्' में यही भावना है। (Rainy Days) के लिए कुछ-न-कुछ बचाना' यह नागरिक शास्त्र का सिद्धान्त इसी बात को व्यक्त करता है। (ख) यह भी अर्थ संगत है कि राजा यदि कोशवृद्धि की नीति को अपनाये रक्खेगा तो आपत्ति को ही बढ़ाएगा, प्रजाहित का प्रथम स्थान होना चाहिए नकि कोशवृद्धि का। १००. **यमाय**=नियन्त्रण के लिए **असूम्**=अस्त्रवर्षा करनेवाली सेना को प्राप्त करे। यदि कभी नियन्त्रण में कठिनाई आती है तो शस्त्रधारी सेना को बुलाना ही पड़ता है।

भावार्थ—राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था के लिए उचित कर आदि लेनेवाले व्यक्तियों को नियत करे।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौ। छन्दः—विराट्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

यम के लिए यमसू को

यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोकाᳬं संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजाता-मिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जराᳬं संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धᳬं साध्येभ्यश्चर्मम्नम्॥ १५॥

१०१. **यमाय**=नियन्त्रण के लिए **यमसूम्**=नियमोपनियम बनानेवाली सभा को प्राप्त करे, आजकल की भाषा में 'विधान-सभा' का निर्माण करे। १०२. **अथर्वभ्यः**=(न थर्वति) स्थिरवृत्तिवाले लोगों के लिए, ध्यान के अभ्यासियों के लिए **अवतोकाम्**=रक्षक सेना को नियत करे। १०३. **संवत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **पर्यायिणीम्**=क्रम को जाननेवाली को प्राप्त करे। वस्तुतः जो पत्नी 'किस क्रम में कार्य करने हैं' इस बात को समझती है, वह कार्यों को सुचारुरूपेण सम्पन्न कर पाती है। १०४. **परिवत्सराय**=पूर्ण निवास के लिए, एक-एक कोश में उत्तम निवास के लिए **अविजाताम्**=ब्रह्मचारिणी (अ-विजात) को प्राप्त करे, अर्थात् गृहस्थ में आने से पहले इस बात का ध्यान किया जाए कि ब्रह्मचारिणी ने सब कोशों का विकास उत्तमता से किया है। १०५. **इदावत्सराय**=वर्त्तमान काल में निवास के लिए **अतीत्वरीम्**=अतिशयेन क्रियाशील को प्राप्त करे। जो क्रियाशील नहीं होती वह या तो भूतकाल की उज्ज्वलता का गान करती रहती है या भविष्यत् के स्वप्न लेती रहती है। १०६. **इद्वत्सराय**=निश्चयात्मक निवास के लिए, असंशयात्मा होकर जीवन को चलाने के लिए **अतिष्कद्वरीम्**=अतिशय ज्ञानवाली (स्कन्द गति=ज्ञान) को प्राप्त करे। ज्ञान ही मनुष्य को संशय से ऊपर उठानेवाला है। १०७. **वत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **विजर्जराम्**=(विगतजर्जराम्) अशिथिल शरीरवाली को नियत करे। शिथिल शरीरवाली से निवास के लिए आवश्यक कर्मों को करना सम्भव नहीं होता। १०८. **संवत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **पलिक्नीम्**=श्वेत केशोंवाली, अर्थात् अनुभव-सम्पन्न महिला को नियत करे। १०९. **ऋभुभ्यः**=शिल्पियों के लिए, रथ आदि का निमार्ण करनेवालों के लिए

अजिनसन्धम्=चर्म के सन्धाता को नियत करे। इन दोनों का परस्पर सम्मिलित कार्य होने पर ही रथ आदि का ठीक से निर्माण हो सकेगा। रथकार उपस्थ=Seat आदि बनाएगा, तो उनपर गद्दी आदि को यह अजिनसन्धाता जमाएगा। ११०. **साध्येभ्यः**=अपूर्ण पदार्थों को पूर्ण बनानेवालों के लिए (Finishing touches) देनेवालों के लिए **चर्मम्नम्**=चमड़ा कमानेवाले (Leather tanner) को नियत करे। 'साध्य रथ की कमी को दूर करेगा तो यह 'चर्मम्न' चमड़े की कमी को दूर करेगा और इस प्रकार ये दोनों मिलकर रथ को पूर्ण ठीक कर देंगे।

भावार्थ—जहाँ राष्ट्र का उत्तम सञ्चालन, व्यवस्थापिका, सभादि के होने से होता है वहाँ घर में उत्तम निवास के लिए कार्यों के क्रम को सम्यक् समझनेवाली पत्नी का होना आवश्यक है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौ। छन्दः—विराट्कृतिः। स्वरः—निषादः।

सरों के लिए धीवर को

सरो॑भ्यो धैव॒रमु॑प॒स्थाव॑राभ्यो॒ दाशं॑ वैश॒न्ताभ्यो॑ बै॒न्दं न॑ड्व॒लाभ्यः॒ शौष्क॑लं पा॒राय॑ मार्गा॒रम॑वा॒राय॑ कै॒वर्त्तं॑ ती॒र्थेभ्य॑ऽआ॒न्दं विष॑मेभ्यो मैना॒लꣳ स्वने॑भ्यः॒ पर्ण॑कं॒ गुहा॑भ्यः॒ किरा॑तꣳ सानु॑भ्यो॒ जम्भ॑कं॒ पर्व॑तेभ्यः किम्पूरु॒षम्॥ १६॥

१११. **सरोभ्यः**=तलाबों के लिए **धैवरम्**=धीवर सन्तानों को नियत करे। तालाबों को स्वच्छ रखना इनका कार्य हो। ११२. **उपस्थावराभ्यः**=तालाबों के समीप (उप) लगी वाटिकाओं के लिए (स्थावराभ्यः) **दाशम्** =माली आदि भृत्यों को प्राप्त करे। उन पौधों में नियमपूर्वक पानी आदि देना इनका कार्य हो। ११३. **वैशन्ताभ्यः**=जोहड़ों के लिए (Pools) **बैन्दम्**=उन जोहड़ों से कमलगट्टे व सिंघाड़े आदि प्राप्त करनेवालों को (विद् लाभे) नियत करे। ११४. **नड्वलाभ्यः**=नड़ों व सरकण्डोंवाले प्रदेशों के लिए **शौष्कलम्**= (शुष्=कला) उन तृणों को सुखाकर कलात्मक वस्तुएँ बनानेवाले को नियत करे। ११५. **पाराय मार्गारम्**=पार जाने के लिए मार्ग को जाननेवाले को अथवा जल-जन्तुओं का शिकार कर सकनेवालों को नियत करे (मृगणाम् अरिः, तस्यापत्यम्) ११६. **अवाराय**=नदी में उरले किनारे पर लौट आने के लिए **कैवर्तम्**=केवट को नियत करे। ११७. **तीर्थेभ्यः**=तीर्थों के लिए, घाट आदि के लिए अथवा तीर्थस्थानों के लिए जोकि प्रायः नदी के किनारे होते हैं **आन्दम्**=(अदि बन्धने) बाँध बाँधनेवाले को नियत करे। ११८. **विषमेभ्यः**=विषम स्थानों के लिए, जलों में संकटयुक्त स्थानों के लिए, जहाँ कि मगरमच्छ आदि का भय हो **मैनालम्**=जालों द्वारा (मीनान् अलति वारयति) मछली आदि के निवारण करनेवाले को नियत करे। ११९. **स्वनेभ्यः**=नाना प्रकार के शब्दों के लिए **पर्णकम्**=पहरेदार को (पृ पालनपूरणयोः) नियुक्त करे अथवा **स्वनेभ्यः**=उत्तम स्वरों के लिए **पर्णकम्**=तुरही (वाद्यविशेष) बजानेवाले को प्राप्त करे। १२. **गुहाभ्यः**=पर्वत कन्दराओं के लिए, पर्वत-कन्दराओं में शेर आदि के खतरे से बचने के लिए **किरातम्**=भीलों को प्राप्त करे। १२१. **सानुभ्यः**=पर्वत-शिखरों के लिए **जम्भकम्**=(जभि नाशने) हिंस्र-पशुओं के नाश करनेवाले को नियत करे और १२२. **पर्वतेभ्यः**=पर्वतों के लिए **किम्पूरुषम्**=छोटे कदवाले पुरुषों को प्राप्त करे, पर्वतों पर ऐसे ही व्यक्ति सुविधा से कार्य कर सकते हैं, पर्वतारोही पुरुष छोटे कद के ही होने चाहिएँ।

भावार्थ—तालाबों व पहाड़ों पर कार्यव्यवस्था के लिए तदुपयुक्त पुरुषों को नियत करना चाहिए। तालाबों के लिए धीवर आदि तो पर्वतों के लिए किरात आदि।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौः। छन्दः—विराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः।

बीभत्स के लिए पौल्कस को

बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वाणिजं पश्चादोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमात्यैं जनवादिनं व्यृद्ध्याऽअपगल्भꣳ सꣳशराय प्रच्छिदम्॥ १७॥

१२३. **बीभत्सायै**=हत्या आदि बीभत्स कार्यों के लिए **पौल्कसम्**=अन्त्यजजाति के व्यक्ति को प्राप्त करे। १२४. **वर्णाय**=सौन्दर्य निर्माण के लिए **हिरण्यकारम्**=सुवर्णकार को प्राप्त करे, वह सोने पर किस प्रकार चित्रकला द्वारा सौन्दर्य का उत्पादन करनेवाला होता है? १२५. **तुलायै**=तुला के लिए, तोलने आदि के कार्यों के लिए **वाणिजम्**=वणिक्पुत्र (बाणिया) को प्राप्त करे। १२६. **पश्चादोषाय**=पीछे दोष देने के लिए **ग्लाविनम्**=अहृष्ट, अशान्त को प्राप्त करे (ग्लै हर्षक्षये), अर्थात् अप्रसन्न रहने के स्वभाववाला व्यक्ति सदा पीठ पीछे दोषों का उद्घाटन करता है अथवा पश्चादोष (back biter) कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। १२७. **विश्वेभ्यः भूतेभ्यः**=सब प्राणियों के हित के लिए **सिध्मलम्**=(सिध्माः सुखसाधकाः विद्यन्ते यस्य तम्–द०) सुखसाधक पदार्थों से युक्त पुरुष को नियत करे। १२८. **भूत्यै जागरणम्**=कल्याण के लिए जागरण को प्राप्त करे, अर्थात् जागनेवाले का ही कल्याण होता है, ऐसा समझे। १२९. **अभूत्यै स्वपनम्**=यह भी स्पष्ट है कि सोना, सोते रहना, अपने भले को न सोचना, अकल्याण के लिए होता है। १३०. **आर्त्यै**=पीड़ा के लिए **जनवादिनम्**=इधर-उधर लोकनिन्दा फैलानेवाले को प्राप्त करे। १३१. **व्यृद्ध्यै**=असमृद्धि व दरिद्रता के लिए **अपगल्भम्**=प्रगल्भतारहित पुरुष को प्राप्त करे। राजा के मन्त्री प्रगल्भ व चतुर न होंगे तो कोश खाली हो जाएगा। प्रगल्भता के अभाव में गृहस्थ दरिद्र ही बना रहेगा। १३२. **संशराय**=उत्तमता से हिंसा के लिए **प्रच्छिदम्**=उत्तम छेदनकर्ता को प्राप्त करे, अर्थात् वधदण्ड के लिए छेदनक्रिया में निपुण व्यक्ति को नियत करे।

भावार्थ—राष्ट्र में बीभत्स व छेदनादि कार्यों में निपुण व्यक्ति की नियुक्ति करनी है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौ। छन्दः—निचृत्प्रकृतिः। स्वरः—धैवतः।

अक्षराज के लिए कितव को

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाणऽउप तिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम्॥ १८॥

१३३. **अक्षराजाय**=राजा की आँखरूप गुप्तचरों के (चारैः पश्यन्ति राजानः) अध्यक्ष पद के लिए **कितवम्**=(कित् ज्ञाने) अत्यन्त समझदार पुरुष को प्राप्त करे। १३४. **कृताय**=किये जा चुके, सम्पन्न कर्मों के लिए **आदिनवदर्शम्**=उन कर्मों में रह गये दोषों को देखनेवाले पुरुष को प्राप्त करे, ताकि उन दोषों को दूर किया जा सके। १३५. **त्रेतायै**= 'अग्नित्रयमिदम् त्रेता' गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि—इन तीन अग्नियों के कार्यों को ठीक रखने के लिए **कल्पिनम्**=कल्पशास्त्र में निपुण व्यक्ति को प्राप्त करे। इन कल्पसूत्रों में यज्ञों की वेदियों के विधि-विधानों का प्रतिपादन है। उनको ठीक से जाननेवाला यज्ञ के कार्यों को ठीक चला सकेगा। १३६. **द्वापराय**=(द्वौ परौ यस्य) धर्म, और मोक्ष ही पर-अन्तिम उद्देश्य हैं, जिसके 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' में एक सीमा पर धर्म और दूसरी

सीमा पर मोक्ष ही जिसके जीवन के अङ्ग है, उसके लिए **अधिकल्पिनम्**=अधिक सामर्थ्यवाले पुरुष को नियत करे। यह धर्मपूर्वक राष्ट्र के कार्य करता हुआ, दोषों से मुक्त रहता हुआ, अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेगा। सामान्य व्यक्ति तो अर्थ व काम में ही फँस जाता है। १३७. **आस्कन्दाय**=चारों ओर ज्ञान के प्रसार के द्वारा (गति=ज्ञान) दोषों के शोषण के लिए **सभास्थाणुम्**=सभा में स्थिरता से रहनेवाले को नियत करे। यह उत्तम नियमों के निर्माण व प्रचार के द्वारा प्रजा के दोषों का शोषण करना अपना कार्य समझे। १३८. **गोव्यच्छम्**=गौ को पीड़ित करनेवाले को **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए प्राप्त करे। १३९. **गोघातम्**=गोहत्या करनेवाले को **अन्तकाय**=बधक के लिए प्राप्त करे, अर्थात् गोघाती को वधदण्ड दे। १४०. **गां विकृन्तन्तम्**=गौ को काटते हुए पुरुष को **यः**=जो **भिक्षमाणः**=भीख माँगता हुआ **उपतिष्ठति**=उपस्थित होता है उसे **क्षुधे**=भूख के लिए प्राप्त करे, अर्थात् ऐसे व्यक्ति को भूखा रखने का दण्ड दिया जाए। १४१. **दुष्कृताय**=पापों को दूर करने के लिए **चरकाचार्यम्**=भ्रमणशील आचार्यों को स्थित करे, जो घूम-फिरकर प्रजा को ज्ञान देते हुए दुष्कृत्यों को दूर करे। १४२. **पाप्मने**=पापी पुरुष के लिए **सैलगम्**=(सैलेन सह गच्छति) अस्त्रधारी पुरुष को नियत करे।

भावार्थ—राष्ट्र में गोहत्या आदि पापों को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाए।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौ। छन्दः—भुरिग्धृतिः। स्वरः—ऋषभः।

प्रतिश्रुत्क के लिए अर्तन को

प्रतिश्रुत्काया॑ऽअर्तनं घोषा॑य भ॒षमन्ता॑य बहुवा॒दिनमन॒न्ताय मूक॒ꣳ शब्दा॑याडम्बराघा॒तं महसे वीणावा॒दं क्रोशा॑य तूणव॒ध्ममवरस्प॒राय॑ शङ्ख॒ध्मं वना॑य व॒नप॒मन्यतो॑रण्याय दाव॒पम्॥ १९॥

१४३. **प्रतिश्रुत्काय**=प्रतिज्ञापूर्ति के लिए **अर्तनम्**=प्रेरक को नियत करे। यह निरन्तर उत्तम प्रेरणा देता हुआ उन्हें प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उत्साहित करता रहेगा। १४४. **घोषाय्**=उद्घोषणा के लिए **भषम्**=ऊँची आवाज़ से बोलनेवाले को प्राप्त करे। १४५. (क) **अन्ताय**=सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए **बहुवादिनम्** =उत्तम वक्ता को नियत करे। (ख) इस वाक्य में ऐसी भावना भी सूचित होती है कि बहुत बोलनेवाले को अन्त के लिए जाने, अर्थात् 'इसका आयुष्य अल्प हो जाता है' ऐसा समझे। १४६. **अनन्ताय**=उस अनन्त प्रभु के उपदेश के लिए **मूकम्**=मौन धारण करनेवाले को प्राप्त करे, क्योंकि ईश का उपदेश तो **'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्'** के अनुसार मौन से ही दिया जाता है। साथ ही कम बोलनेवाले को दीर्घायुष्यवाला जाने। १४७. **शब्दाय**=शब्द करने के लिए, पक्षी आदि को भयभीत करने के लिए (आवाज़) करने के लिए **आडम्बराघातम्**=ढोल बजानेवाले को प्राप्त करे। १४८. **महसे**=उत्सवों के लिए, उत्सवों में सभ्यों के विनोदार्थ **वीणावादम्**=वीणा बजानेवाले को प्राप्त करे। १४९. **क्रोशाय**=लोगों को एकत्र होने की सूचना देने के लिए (आह्वान के लिए) **तूणवध्मम्**=ढक्का बाजनेवाले को प्राप्त करे। १५०. **अवरस्पराय**= आस-पास के लोगों को प्रार्थना आदि के लिए बुलाना हो तो **शंखध्म्**=शंख बजानेवाले को प्राप्त करे। १५१. **वनाय** =वनों की रक्षा के लिए **वनपम्**=वनों के रक्षक को नियत करे। १५२. **अन्यतः अरण्याय**=दूसरे घने जंगलों के लिए **दावपम्**=वनाग्नि से रक्षा करनेवाले को नियत करे। नगर के समीप साधारण वन की रक्षा के लिए वनाय की नियुक्ति है 'इन उपवनों का कोई दुरुपयोग न करे' इसके लिए निगरानी करनेवाले को रखना है और घने जंगलों की रक्षा के लिए दावपों की नियुक्ति है। उन वनों में अचानक आग लगने से लाखों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—जहाँ उद्घोषणा आदि के लिए ढोल आदि बजानेवाले की नियुक्ति करनी है वहाँ वनों की रक्षा के लिए रक्षापुरुषों को भी नियुक्त करना है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौ। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—ऋषभः।

नर्म के लिए पुँश्चलू को

नर्माय पुँश्चलूꣳ हसाय कारिं यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम्॥ २०॥

१५३. **नर्माय**=क्रीड़ाओं के लिए **पुँश्चलूम्**=लोगों में चहल-पहल कर देनेवाले को नियत करे। ये लोगों में खेल देखने के लिए उत्साह पैदा करेंगे। १५४. **हसाय**=हास्य के लिए, केवल आमोद-प्रमोद के लिए **कारिम्**=अनुकरण करनेवाले को नियत करे। १५५. **यादसे**=जल-जन्तुओं के लिए **शाबल्याम्**=शबर स्त्रियों को नियत करे। १५६. १५७. १५८. **महसे**=तेजस्विता के लिए, राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए **ग्रामण्यम्**=ग्रामनेता, नम्बरदार **गणकम्**=हिसाब-किताब रखनेवाला पटवारी या क्लर्क तथा **अभिक्रोशकम्**=उद्घोषणापूर्वक सबको एकत्र करनेवाले **तान्**=इन तीनों को प्राप्त करे। प्रत्येक ग्राम में 'ग्रामणी, गणक व अभिक्रोशक' की व्यवस्था होनी चाहिए तभी राज्य-प्रबन्ध तेजस्वी बना रहता है, अन्यथा व्यवस्था ढीली हो जाती है। १५९. **नृत्ताय**=नृत्य के लिए **वीणावादम्**=वीणा बजानेवाले को, १६०. **पाणिघ्नम्**=हाथ से तबला आदि बाजानेवाले को १६१. **तूणवध्म्**=तुरही बजानेवाले को नियत करे। नृत्य में उत्साह लाने के लिए इनका होना आवश्यक है। इनके स्वर पर ही नृत्य चलता है। १६२. **आनन्दाय**=आनन्द के लिए, कीर्तन आदि में आनन्द की वृद्धि के लिए **तलवम्**=करताल बजानेवाले को प्राप्त करे।

भावार्थ—जहाँ ग्रामों के प्रबन्ध के लिए ग्रामणी आदि को नियत करना है, वहाँ आमोद-प्रमोद के उत्सवों के लिए वीणावादक आदि को भी प्राप्त करना है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—राजेश्वरौ। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

अग्नि के लिए पीवा को

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय वꣳशनर्तिनं दिवे खलतिꣳ सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षꣳ रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्॥ २१॥

१६३. **अग्नये**=अग्नि के लिए, अग्नि के समीप कार्य करने के लिए **पीवानम्**=मोटे आदमी को प्राप्त करे। कार्य होने के साथ उसकी चरबी पिघलकर उसकी स्थूलता में भी उचित कमी आ जाएगी। १६४. **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिए, पृथिवी पर बैठे-बैठे कार्य करने के लिए **पीठसर्पिणम्**=पीठेन सर्पति=बैठे-बैठे सरकनेवाले को नियत करो, उस पंगु पुरुष को नियत करे जो उठकर इधर-उधर नहीं जा सकता। १६५. **वायवे**=वायु के लिए, अर्थात् प्रचण्ड वायु में कार्य करने के लिए **चाण्डालम्**=(चण्ड अलं=शक्ति) प्रचण्ड शक्तिवाले को प्राप्त करे १६६. **अन्तरिक्षाय**=अन्तरिक्ष के लिए, ऊपर आकाश देश में कार्य करने के लिए **वंशनर्तिनम्** =बाँस पर नाच सकनेवाले को प्राप्त करे, इसे उस ऊँचे स्थान में कार्य करते हुए भय नहीं लगता। १६७. **दिवे**=द्युलोक के निरीक्षण के लिए **खलतिम्**=आकाशस्थ गोलों (पिण्डों) की गति को जाननेवाले को नियत करे। १६८. **सूर्याय**=सूर्य के निरीक्षण के लिए **हर्यक्षम्**=हरे रंग की आँखवाले को नियत करे। हरे रंग के शीशे के साथ सूर्य

का वेध लेने से आँख को हानि नहीं होती। १६९. **नक्षत्रेभ्यः**=नक्षत्रों के लिए **किर्मिरम्**=धवल वर्ण के शीशे के साथ देखनेवाले को नियत करे। १७०. **चन्द्रमसे**=चन्द्रमा के लिए, चन्द्रमा के निरीक्षण के लिए **विलासम्**=श्वेत वर्ण के शीशे से निरीक्षण करनेवाले को नियत करे। १७१. **अह्ने**=दिन में कार्य करने के लिए **शुक्लम्**=गौरवर्णवाले **पिङ्गाक्षम्**=पिङ्गाक्ष को नियत करे। **रात्र्यै**=रात्रि में काम करने के लिए **कृष्णम्**=काले रंगवाले **पिङ्गाक्षम्**=पिङ्गाक्ष को नियत करे। उस-उस समय कार्य के लिए ये व्यक्ति अधिक उपयुक्त होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में प्रत्येक स्थान पर तदुपयुक्त पुरुषों को ही कार्यार्थ नियुक्त करना चाहिए।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**निचृत्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

विरूप पुरुष

अथैतानष्टौ विरूपाना लभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च। अशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः। मागधः पुँश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः॥ २२॥

१. **अथ**=अब विविध स्थानों पर उपर्युक्त पुरुषों की नियुक्ति के बाद **एतान्**=इन **अष्टौ**=आठ **विरूपान्**=परस्पर विरुद्ध रूपवाले व विकृत रूपवाले पुरुषों को **आलभते**=प्राप्त करता है। (क) **अतिदीर्घम्**=बड़े लम्बे कदवाले, (ख) **च**=और **अतिह्रस्वम्**=बहुत छोटे कदवाले=बौने को, (ग) **च अतिस्थूलम्**=और अत्यन्त स्थूलकाय को (घ) **च**=तथा **अतिकृशम्**=अत्यन्त दुर्बल शरीरवाले को (ङ) **च**=और **अतिशुक्लम्**=एकदम गौरवर्णवाले को **च**=तथा (च) **अतिकृष्णम्**=अत्यन्त काले रूपवाले को (छ) **च**=और **अतिकुल्वम्**=एकदम बालों से रहित को **च**=तथा (ज) **अतिलोमशम्**=सर्वत्र बालों से व्याप्त अङ्गवाले को। २. **अशूद्राः अब्राह्मणाः**=यदि ये विरूप पुरुष शूद्र व ब्राह्मण न हों तो **प्राजापत्याः**=प्रजापति के ही समीप रहने योग्य हैं। शूद्र तो श्रम में लगा रहकर लोगों की कृपा का ही पात्र रहेगा, और ब्राह्मण ज्ञान के कारण आदर का पात्र बनेगा, परन्तु ये आठ विरूप वैश्य व क्षत्रिय तमाशे का, लोगों की उत्सुकता का कारण बनेंगे और सामान्य कार्यक्रम में पर्याप्त विघ्न के कारण हो जाएँगे। ३. इसी प्रकार **मागधः**=भाट, **पुँश्चली**=असंयत जीवनवाली स्त्री **कितवः**=जुआरी **क्लीबः**=कमज़ोर—ये चारों भी **अशूद्राः**=शूद्र नहीं होते, शूद्र में मागध बनने की योग्यता नहीं होती; काम में लगे रहने व सादा भोजन मिलने से इनका जीवन असंयमवाला नहीं होता, जुए के लिए अवकाश व धन नहीं जुटा पाते, श्रम के कारण शक्तिसम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार ये **अब्राह्मणः**=ब्राह्मण भी नहीं होते। ज्ञानी होने तथा निर्लोभता के कारण व्यर्थ स्तुति करने की इनमें भावना नहीं होती, संयमी होते हैं, जुए से दूर रहते हैं और संयम के कारण निर्भीक व सशक्त होते हैं। **ते**=अशूद्र व अब्राह्मण मागध, पुँश्चली, कितव व क्लीब भी **प्राजापत्याः**=राजा के समीप रहने चाहिएँ। राजा को चाहिए कि इन्हें प्रजा में मिश्रित न होने दे। प्रजा में इन्हें मिश्रित होने का अवसर मिलेगा तो ये प्रजा-पतन का ही कारण बनेंगे।

भावार्थ—आठ विरूप पुरुषों को तथा मागध आदि चार को राजा प्रजा से दूर ही रखे, जिससे राष्ट्र का कार्य सुचारुरूपेण चलता रहे। न प्रजा तमाशा देखने में लग जाए और न ही आचरण से गिर जाए।

सूचना—राष्ट्र में सबको यथोचित कार्यों में लगाना ही 'पुरुषमेध' हैं (मेध=संगम)। 'पुरुषमेध' के ठीक होने पर ही राज्य का सारा ऐश्वर्य बढ़ता है।

इति त्रिंशोऽध्यायः॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सहस्रशीर्षा पुरुष

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥

१. वह पुरुष है (क) 'पुरि वसति' इति पुरुषः=ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करते हैं (ख) **पुरि शेते**=ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन करते हैं अथवा (ग) **पुनाति रुणद्धि स्यति**= इसे पवित्र करते हैं, आवृत किये हुए हैं और अन्त में इसका अन्त करते हैं (षोऽन्तकर्मणि)। योग के शब्दों में 'क्लेश, कर्म, विपाकाशय' से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर हैं।

२. **पुरुष का स्वरूप**—वे पुरुष **सहस्रशीर्षा**=अनन्त सिरोंवाले हैं। **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाले हैं, **सहस्रपात्**=अनन्त पाँववाले हैं। सहस्र शब्द अनन्तवाची है। यही भावना **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** इन शब्दों में भी कही गई कि उस प्रभु की सर्वत्र आँखें हैं, सर्वत्र मुख, बाहु व पाँव हैं। जैसे भौतिक सङ्ग से रहित मुक्तात्मा 'पश्यँश्चक्षुर्भवति'=देखता है तो आँख-ही-आँख हो जाता है, उसे कोई भौतिक आवरण भेदनेवाला नहीं होता, इसी प्रकार उस प्रभु का भी कोई भौतिक आवरण नहीं है, वे सर्वतः आँखों व श्रोत्रोंवाले हैं। ३. **सः**=वह पुरुष **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्मिन्) इस सारे ब्रह्माण्ड को चारों ओर से **स्पृत्वा**=(स्पृ=to protect) आवृत करके रक्षा करते हुए तथा इसके अन्दर निवास (स्पृ=to live) करते हैं।

४. **दशांगुलम्** (क) इस प्रकार वह पुरुष इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करते हुए तथा इसमें निवास करते हुए दस अंगुल परिमाणवाले इस ब्रह्माण्ड को **अत्यतिष्ठत्**=लाँघकर ठहर रहे हैं, अर्थात् इस ब्रह्माण्ड से परे भी वर्त्तमान हैं, यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में है। जैसे मातृगर्भ में बालक की स्थिति है, उसी प्रकार प्रभु के गर्भ में ब्रह्माण्ड की स्थिति है, वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं, ये सारे ज्योतिर्मय पिण्ड उनके गर्भ में हैं। प्रभु की तुलना में यह ब्रह्माण्ड दशांगुलमात्र ही तो है, चाहे हमारे गणित के परिमाण में यह ब्रह्माण्ड अनन्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु उस अनन्त प्रभु की तुलना में तो यह एकदम सान्त है। उसके यह एकदेश में ही है। (ख) 'दशांगुलम्' शब्द का अर्थ तरबूज़ 'watermelon' भी है, उस प्रभु की तुलना में यह सारा संसार 'तरबूज' ही है। 'तरबूज़' का अर्थ यहाँ इसलिए संगत प्रतीत होता है कि इससे ब्रह्माण्ड की अण्डाकृति का कुछ बोध भी हो जाता है, और साथ ही ऊपर ठोस और अन्दर कुछ जल की प्रतीति भी हो जाती है। (ग) **दशांगुलम्**=शब्द हृदयदेश के लिए भी प्रयुक्त होता है, वे प्रभु सबके हृदयों में निवास करते हुए उन सब हृदयों से ऊपर उठे हुए हैं। (घ) पञ्चस्थूलभूत व पञ्चसूक्ष्मभूतमय होने से भी इस ब्रह्माण्ड को 'दशांगुल' कहा जाता है। वे प्रभु इस भौतिक ब्रह्माण्ड को लाँघकर रह रहे हैं। इस सर्वव्यापक प्रभु को अनुभव करनेवाला व्यक्ति भी उस 'नारायण' को अपने अन्दर अनुभव

करता है और अपने को उस नारायण में। इस प्रकार यह स्वयं भी तन्मय होकर 'नारायण' ही हो जाता है।

भावार्थ—१. वे प्रभु अनन्त सिरों, आँखों व पाँवोंवाले हैं। २. इस ब्रह्माण्ड को आवृत करके इसकी रक्षा कर रहे हैं और इसके अन्दर निवास कर रहे हैं। ३. वे प्रभु इस दशांगुल जगत् से परे भी हैं।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**ईशानः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

त्रिविध जीवों का ईशान

पुरु॑षऽए॒वेद॑ꣳसर्व॒ यद् भू॒तं यच्च॒ भाव्य॑म्। उ॒ताम॑ृत॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति॥२॥

१. इस संसार में जन्म के दृष्टिकोण से जीव तीन भागों में विभक्त हैं (क) प्रथम तो वे जो 'यथाकर्म यथाश्रुतम्'=अपने ज्ञान व कर्म के अनुसार किसी शरीर को धारण कर चुके हैं, ये 'भूत' कहलाते हैं, जिनका जन्म हो चुका। (ख) दूसरे वे जीव हैं जो शीघ्र ही समीप भविष्य में जन्म ग्रहण करेंगे। ये 'भाव्य' कहलाते हैं, जिनका जन्म होगा। (ग) इन दोनों से भिन्न तीसरे वे हैं जो हृदयग्रन्थियों के भेदन से, संशयों के छेदन से और कर्मों की क्षीणता व दुर्बलता से ऊपर उठकर उस परावर प्रभु को देखकर 'अमृतत्व' का लाभ कर पाते हैं। ये अन्य जीवों की तरह जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसे रहते, अपितु इस जन्म-मरणचक्र से ऊपर उठकर अमर हो गये हैं। २. **पुरुषः**=ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन व निवास करनेवाला वह प्रभु **एव**=ही **इदम्**=इन **सर्वम्**=सारे **भूतम्**=कर्मानुसार ग्रहीत जन्मवाले भूतों को **यत् च**=और जो **भाव्यम्**=अब समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे उन भव्य प्राणियों को **उत**=और **अमृतत्वस्य**=जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठे मुक्तात्माओं को भी **ईशानः**=शासित कर रहे हैं। ये तीनों प्रकार के जीव उस प्रभु के अनुशासन में चल रहे हैं। ये अमर जीव वे हैं **यत्**=जो **अन्नेन**='अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' उस सबके आधारभूत अन्न नामक प्रभु के द्वारा, अर्थात् उस प्रभु के चिन्तन के द्वारा **अतिरोहति**=इस जन्म-मृत्यु के चक्र को लाँघ जाते हैं। ये तीनों ही प्रभु से शासित होते हैं, प्रभु इनके ईशान हैं। प्रभु की व्यवस्था के अनुसार ही ये सब उस-उस जन्म को धारण कर रहे हैं। मुक्तात्मा भी परामुक्ति के अन्तकाल में उस प्रभु के अनुशासन में होने के कारण ही जन्म ग्रहण करेंगे। इस अनुशासन के कारण ही वे मुक्त होते हुए भी नई सृष्टि के निर्माणादि कार्यों को नहीं कर सकते। ३. वे प्रभु अन्न हैं। उन्हीं के आधार से प्राणिमात्र अन्न को खा रहा है **'मया सोऽन्नमत्ति'**। प्रलय के समय वे प्रभु ही सबको निगल जाते हैं 'अत्ति च भूतानि'। **'आ+नम्'** (यास्क)=इसलिए भी वे प्रभु अन्न हैं, क्योंकि अन्त में सब ओर से प्राणी उसी के प्रति प्रणत होते हैं।

इस अन्न का जो भी आश्रय करता है वह अन्ततोगत्वा जन्म-मरण को लाँघ जाता है (अति-रोहति)। जन्म-मरण से ऊपर उठकर वह परमस्थान में स्थित होता है। ४. सामान्य अन्न से शरीर भूखा मरने से बचता है और इस प्रकार जीव-मृत्यु से ऊपर उठता है, परन्तु इस प्रभुरूप अन्न के सेवन से वह जन्म से भी ऊपर उठ जाता है। जन्म-मरणचक्र से अतिरूढ़ करनेवाला यह प्रभुरूप अन्न सचमुच अद्वितीय है।

भावार्थ—वे पुरुष प्रभु 'भूत, भाव्य व अमर' तीनों प्रकार के प्राणियों के ईशान हैं। उस समन्तात् सेवनीय (आनम्) अन्न नामक प्रभु की अनुकम्पा से जीव जन्म-मरण को लाँघ पाता है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

एकपात् व त्रिपात्

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

१. **अस्य**=इस पुरुष की **एतावान्**=इतनी **महिमा**=महिमा है। प्रथम मन्त्र में दशांगुल जगत् का संकेत है, पञ्चस्थूलभूत व पञ्चसूक्ष्मभूतों से बना हुआ यह दशांगुल जगत् उस प्रभु की ही महिमा है। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'**=ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। द्वितीय मन्त्र में 'भूत, भाव्य व अमृतत्व को प्राप्त' जीवों का वर्णन है। ये सब जीव भी प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। बुद्धिमानों की बुद्धि, बलवानों के बल व तेजस्वियों का तेज, वे प्रभु ही हैं। २. **च**='परन्तु वे प्रभु इन्हीं में समाप्त हो गये हों', ऐसी बात नहीं है, **अतः**=इस सारे ब्रह्माण्ड से **पूरुषः**=वे पुरुष **ज्यायान्**=बहुत अधिक बड़े हैं। ये सारा ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एकदेश में है। वेदमन्त्र इसी बात का प्रतिपादन इन शब्दों में करता है कि **विश्वा भूतानि**=सब भूत **अस्य पादः**=इस प्रभु के चतुर्थांश ही हैं। **अस्य त्रिपात्**=इस प्रभु के तीन पाद तो **दिवि**=अपने द्योतनात्मक प्रकाशमय रूप में **अमृतम्**=अमृत हैं। उन तीन पादों में किसी प्रकार का जन्म-मरण का व्यापार नहीं चल रहा है। यह जन्म-मरण या परिवर्तन तो इस चतुर्थांश में ही हो रहा है। शरीर के मरने पर जैसे 'व्यक्ति मर गया' ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार इस चतुर्थांश में परिवर्तन होने से इसे 'मृत' कह देते हैं, परन्तु शेष तीन अंश तो 'अमृत' हैं ही।

भावार्थ—सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में है, उस प्रभु का त्रिपात् द्योतनमय अमृतरूप में है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥४॥

१. **त्रिपात् पुरुषः**=यह तीन पादोंवाला पुरुष **ऊर्ध्वः उदैत्**=इस विविध हलचलवाले अशान्त संसार से ऊपर उठा हुआ है। यह सारे दृश्यमान ब्रह्माण्ड की हलचल उसके इस एक पाद में ही है। **अस्य**=इस प्रभु का **पादः**=एक पाद ही **पुनः**=तो **इह**=इस ब्रह्माण्ड में **अभवत्**=है। यह त्रिपात् और एकपात् का विचार कोई गणित के अंकों में नहीं गिनना। यह प्रभु की अनन्तता के प्रतिपादन के लिए कहने की एक शैलीमात्र है। २. यह सारा संसार दो भागों में बँटा हुआ है। इसमें कुछ 'साशन' है, अशनसहित है, खाता है और कुछ न खानेवाला है। इन्हीं को क्रमशः 'चराचर', जंगम-स्थावर' व 'चेतन-जड़' (जड़-चेतन) कहने की परिपाटी है। **साशनानशने**=इस चराचर संसार में **विष्वङ्**=(वि सु अञ्च) विविध दिशाओं व योनियों में उत्तमता से गति करनेवाला वह प्रत्येक पदार्थ **ततः**=उस संचालक त्रिपात् प्रभु से ही **व्यक्रामत्**=गति कर रहा है। सारी गति का स्रोत, प्रथम गति देनेवाले Prime mover, वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के अनुशासन में नदियाँ बह रही हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे—ये सब उसी से अपने-अपने चक्र में घुमाये जा रहे हैं। जीव भी उसी की व्यवस्था से विविध योनियों को ग्रहण कर रहे हैं। ३. **अभि**=ये सब जीव उसी की शक्ति

से गति कर रहे हैं और उसी की ओर जा रहे हैं। ठीक मार्ग पर जानेवाले तो उसकी ओर जा ही रहे हैं, ग़लत मार्ग पर जानेवाले भी भटक-भटकाकर, ठोकरें खाकर फिर प्रभु की ओर ही जाते हैं। दुःख पड़ने पर प्रभु का स्मरण हो ही जाता है। एवं, **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=वे प्रभु ही सब जीवों की अन्तिम शरण हैं।

भावार्थ—सारा चराचर संसार ब्रह्म की ओर जा रहा है, वे ब्रह्म ही गति के स्रोत हैं।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**स्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ऽअधि॒ पूरु॑षः।

स जा॒तोऽअत्य॑रिच्यत प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥५॥

१. **ततः**=उस पुरुष (निमित्तकारण) से **विराट्**=एक देदीप्यमान पिण्ड **अजायत**=उत्पन्न हुआ। सांख्यदर्शन में यही 'महत्' नाम से कहा गया है। जो प्रकृति के कणों का साम्यावस्था का पुञ्ज सर्वत्र समरूप से फैला हुआ था, वह सृष्टि के प्रराम्भ में प्रभु द्वारा गति दिये जाने पर केन्द्र की ओर खिंचने लगा, चारों ओर खाली स्थान हो गया। यही आकाश था। सारे कण थोड़े स्थान में आने से भारी हो गये तो ये 'महत्' कहलाये। प्रभु ने उस साम्यावस्थावाली प्रकृति को **महत्**=विराट् व एक हैम पिण्ड का रूप दे दिया। इस पिण्ड का उपादानकारण तो प्रकृति ही थी, निमित्त 'परमात्मा' था। २. **विराजः**=इस विराट् पिण्ड का **अधि**=अधिष्ठातृरूपेण **पूरुषः**=वह पुरुष था। इस महत्तत्त्व से अब अहंकारादिक्रमेण सृष्टि का निर्माण होगा। इस निर्माण में उपादानकारण निश्चय से यह विराट् ही है, परन्तु इस विराट् के अध्यक्ष वे प्रभु हैं। उनकी अध्यक्षता में ही इस चराचर जगत् का निर्माण होता है। ३. **सः**=यह विराट् **जातः**=उत्पन हुआ-हुआ **अत्यरिच्यत**=संसार के किसी भी पदार्थ से अधिक दीप्तिवाला हुआ। प्रारम्भ में यह पिण्ड अग्निमय था। ४. **पश्चात्**=इस विराट् पिण्ड के बन जाने के पश्चात् **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) प्राणियों के निवासस्थान भूत लोकों को उस अध्यक्ष ने बनाया। प्राणियों के सशरीर होने से पहले इन लोकों को बनना आवश्यक है। इन लोकों का ही अन्वर्थ नाम 'भूमि' है। भूमि से अभिप्राय केवल इस पृथिवी का नहीं। ५. **अथ**=और अब इन लोकों के बन जाने के पश्चात् **पुरः**=शरीर बनाये गये। शरीरों को 'पुरः' इसलिए कहा है कि 'पूर्यन्ते सप्त धातुभिः'=ये रस-रुधिर आदि सप्त धातुओं से पूर्ण हैं। 'पृ पालनपूरणयोः' धातु से बना यह शब्द इस भावना का भी सूचक है कि यह शरीर पालन व पूरण के योग्य है। असुरों की नगरियाँ भी वेद में 'पुर' कहलायी हैं। वहाँ 'पृ' का अर्थ अपने को मुक्त कराना deliver from या बाहर लाना bring out of है। हमें इनसे अपने को क्योंकि मुक्त करने का प्रयत्न करना है, अतः ये भी पुर हैं। अब लोकों व पुरों के बन जाने के बाद सृष्टिक्रम का वर्णन अगले मन्त्र में द्रष्टव्य है।

भावार्थ—यह संसार प्रभु द्वारा प्रराम्भ में एक विराट् पिण्ड के रूप में उत्पन्न किया जाता है। उस विराट् पिण्ड से ही इन लोकों व शरीरों की उत्पत्ति होती है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पृषादाज्य का संभरण

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हु॒तः सम्भृ॑तं पृषदा॒ज्यम्।

प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्याना॑र॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये॥६॥

१. अब तक प्रभु को 'पुरुष' नाम से स्मरण किया था। इसी पुरुष को अब 'यज्ञ' नाम से कहा गया है, क्योंकि वे (क) पूजनीय हैं (देवपूजा)। (ख) प्रकृतिकणों के संगतिकरण से ब्रह्माण्ड का निर्माण करनेवाले हैं। (ग) जीव को उसकी उन्नति के लिए सब-कुछ देनेवाले हैं (दान)। वे प्रभु सचमुच 'यज्ञ' हैं। 'सर्वहुत्' हैं-सब-कुछ देनेवाले हैं। २. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=यज्ञ नामक प्रभु से **सर्वहुतः** (हु=दान)=सब वस्तुएँ देनेवाले से **पृषदाज्यम्**='अन्नं वै पृषदाज्यम्', 'पयः पृषदाज्यम् श० २.८.४.८। 'पशवो वै पृषदाज्यम्-तै० १.६.३.२ अन्न, दूध तथा पशुओं का **सम्भृतम्**=सम्भरण किया गया। प्राणियों के लिए अन्न व दूध की आवश्यकता है उस अन्न व दूध के उत्पादन में पशु-पक्षी भी साधन हैं। दूध तो उनसे प्राप्त होता ही है। उनके बिना अन्न-उत्पादन भी सम्भव नहीं। (क) 'ट्रैक्टर्स' कभी बैलों के स्थानापन्न हो जाएँगे, इस बात की संभावना नहीं है। ऊबड़-खाबड़ भूमि को सम करने में उनकी उपयोगिता ठीक है, हल चलाने के लिए नहीं। ट्रेक्टर्स से जोते गये बड़े-बड़े खेतों में उपज को कृमि खा जाते हैं, छोटे-छोटे खेतों की मुंडेरों पर बैठी चिड़ियाँ उन कृमियों के संहार से उपज को बचाती थीं। ट्रेक्टर्स ने उन मुंडेरों को समाप्त कर इन पक्षियों के बैठने के स्थान ही समाप्त कर दिये। कितना कीटनाशक द्रव्य हम छिड़कते रहेंगे? (ख) बैलों से खेती में भूमि को खाद भी मिलता रहता था। ट्रेक्टर्स के कारण खाद के कारखाने खोलने भी आवश्यक हो गये। (ग) इस कृत्रिम खाद से भूमि अधिक उपज देकर शीघ्र बंजर होनी शुरू हो गई। इन सब विचारों का अन्तिम परिणाम यही है कि अन्न के उत्पादन में पशु-पक्षियों की उपयोगिता रहेगी ही, अतः ये भी यहाँ 'पृषदाज्य' शब्द से कहे गये हैं। उस प्रभु ने जीव के हित के लिए पृषदाज्य को प्राप्त कराया। ३. ये पशु सामान्यतः तीन भागों में विभक्त होते हैं। मन्त्र कहता है कि उस प्रभु ने **पशून् तान्**=उन पशुओं को **चक्रे**=बनाया जो **वायव्यान्**=वायु में उड़नेवाले थे, अर्थात् जिन्हें हम सामान्य भाषा में पक्षी कहते हैं, **च**=और **ये**=जो **आरण्या**=वन के पशु थे **ग्राम्याः च**=और जो ग्रामों में रहनेवाले थे। शेर आदि जंगली पशुओं का निर्माण किया तथा साथ ही गौ इत्यादि पालतू ग्राम्य पशुओं की भी सृष्टि की। 'तिर्यङ्' शब्द अब तक सामान्यरूप से 'पशु-पक्षी' दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। मनुष्येतर सभी चर प्राणी यहाँ पशु शब्द से विवक्षित है। वे पशु हैं (पश्यन्ति) देखते हैं, समझते नहीं। वे बुद्धि का विकास नहीं कर पाते। वासना के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ से अन्त तक चलते रहते हैं, इसीलिए उन्हें यहाँ 'पशु' इस सामान्य शब्द से कहा है। इन सब पशुओं की उपयोगिता है। शेर न होते तो मृग इतने अधिक बढ़ जाते कि हमारी खेतियों को ख़तरा पैदा हो जाता। मक्खी का मल वमन को रोकने में अचूक औषध का काम देता है। एवं, प्रत्येक प्राणी की उपयोगिता है, जिसको हम अपनी अल्पज्ञता के कारण पूर्णरूपेण समझते नहीं। सृष्टि में इन सब वायव्य, आरण्य व ग्राम्य पशुओं का अपना-अपना स्थान है।

भावार्थ-उस सर्वदाता यज्ञ नामक प्रभु ने अन्न व दूध का संभरण किया। उसके लिए ही पक्षियों, आरण्य व ग्राम्य पशुओं का निर्माण किया।

नोट-यहाँ 'वायव्य पशुओं' से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि किसी युग में कुछ उड़नेवाले पशु भी थे। उड़नेवाले पर्वतों की कल्पना से ऐसा भ्रम हो जाता है। वास्तव में न उड़नेवाले पर्वत थे और न उड़नेवाले पशु। पक्षियों को ही यहाँ 'उड़नेवाले पशु' कहा गया है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—स्त्रष्टेश्वरः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'वेद-ज्ञान' का प्रादुर्भाव

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥७॥

१. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=ज्ञान का दान करनेवाले अथवा हमारे साथ ज्ञान का सम्पर्क करनेवाले **सर्वहुतः**=सबके लिए ज्ञान देनेवाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ या ऋग्वेद के मन्त्र तथा **सामानि**=साम, अर्थात् सामवेद के मन्त्र **जज्ञिरे**=उत्पन्न हो गये। **तस्मात्**=उसी से **छन्दांसि**=रोगों व युद्धों से बचानेवाले अथर्व के छन्द **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुए। **तस्मात्**=उसी से **यजुः**=यजुर्वेद के मन्त्र **अजायत**=हो गये। २. (क) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दिया गया वेदज्ञान चार भागों में विभक्त है। प्रथम ऋग्वेद है, इसमें तृण से लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभी पदार्थों के गुण-धर्मों का स्तवन (कथन) है। इसी से इनका नाम 'ऋग्वेद' (ऋच स्तुतौ) हो गया है। (ख) इस प्रकृति का ज्ञान करते हुए हम प्रसंगवश कण-कण में प्रभु की महिमा का भी अनुभव करते हैं और उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। इसी नमन व उपासना का विषय 'सामवेद' में वर्णित है। (ग) यदि प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके उसका ठीक उपयोग करेंगे और प्रभु के अविस्मरण से विलास में न फँसेंगे तथा परस्पर प्रेम से चलेंगे तो रोगों व युद्धों से बचे रहेंगे, परन्तु मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण वे युद्ध व रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं, 'उनसे अपना छादन (रक्षण) कैसे करना' यही विषय अथर्व-मन्त्रों का है, इसी से उन्हें यहाँ 'छन्दांसि' शब्द से स्मरण किया है। (घ) अब स्वस्थ व शान्त बनकर हमने अपना जीवन जिन श्रेष्ठतम कर्मों में बिताना है, उन्हीं कर्मों का प्रतिपादन 'यजुर्वेद' में है। यह यजुर्वेद इसीलिए 'कर्मवेद' कहलाता है। मनुष्य को अपना जीवन इन्हीं यज्ञात्मक कर्मों में लगाना है। इनको करता हुआ ही वह 'यज्ञ' बनता है और 'यज्ञ' नामवाले उस प्रभु को पाता है। ३. मानव-उन्नति के लिए ज्ञान देना आवश्यक था। ज्ञान के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं, अतः प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में यह वेद-ज्ञान दिया।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त वेद-ज्ञान से हम प्रतिदिन उन्नति करते हुए प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

मनुष्य जीवन व पशुजीवन—दाएँ व बाएँ हाथ

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः॥८॥

१. पशुओं की उत्पत्ति का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कुछ पशुओं का विशेषरूप से उल्लेख है, जिनका हमारे साथ विशेष सम्बन्ध है, वे पशु निम्न हैं—२. **तस्मात्**=उस प्रभु से **अश्वाः**=घोड़े **अजायन्त**=प्रादुर्भूत किये गये, **ये के च**=और जो कोई **उभायादतः**=दोनों ओर दाँतवाले, घोड़े के स्थानापन्न 'खच्चर, गधा' आदि पशु थे, वे भी प्रादुर्भूत हुए। मैदान में जो स्थान घोड़े का है, वही पर्वतप्रदेश में खच्चर आदि का है। **तस्मात्**=उस प्रभु से **ह**=निश्चय से **गावः**=गौवें **जज्ञिरे**=उत्पन्न हुईं। **तस्मात्**=उसी प्रभु से

अजा-अवयः=बकरियाँ व भेड़ें **जाताः**=उत्पन्न हुईं। ३. इस प्रकार 'गौ, घोड़ा बकरी व भेड़' इन चार पशुओं का यहाँ उल्लेख है। इनमें गौ और घोड़ा मनुष्य के दाहिने हाथ हैं तो बकरी और भेड़ बायाँ हाथ हैं। **'तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः पुरुषो अजावयः'** इस मन्त्रभाग में मनुष्य मध्य में है, एक ओर गौ व घोड़ा दूसरी ओर अजा और अवि हैं। मानव जीवन से इन चारों की अत्यन्त घनिष्ठता है। गौ अपने दूध से उसकी बुद्धि को सात्त्विक बनाकर मनुष्य के ज्ञान को बढ़ाती है। घोड़ा व्यायामादि में सहायक होकर शक्ति-वृद्धि का कारण बनता है। बकरी का दूध 'सर्वरोगापह' होने से मनुष्य को नीरोग व धनार्जन के योग्य बनता है। भेड़ ऊन देकर सरदी से उसकी रक्षा करती है और उसे उचित श्रम के योग्य बनाती है। ४. इन चारों में भी **'स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते'** इस मन्त्र में 'गौ, मनुष्य व घोड़ा' इन शब्दों में गौ को मनुष्य का दायाँ हाथ माना है तो घोड़े को बायाँ।

भावार्थ—हम पशुओं की उपयोगिता को समझकर उनका भी ध्यान करनेवाले बनें 'गौ' को तो घर का अत्यन्त आवश्यक अङ्ग समझकर अवश्य ही पालें।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

प्रभु का प्रोक्षण

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये॥९॥

१. **तम्**=उस **यज्ञम्**=उपासनीय (पूजा) संगतिकरणयोग्य अथवा समर्पणीय (दान) प्रभु को **बर्हिषि**=उस हृदय में, जिसमें से वासनारूप घासफूँस का उद्बर्हण कर दिया गया है, **प्रौक्षन्**=सिक्त करते हैं। हृदय मानो क्षेत्र है और उस क्षेत्र को ये लोग प्रभु-चिन्तनरूप जल से सींचते हैं। इस क्षेत्र में से वे वासनाओं को उखाड़ डालते हैं और इसी वासनाओं के उद्बर्हण के परिणामस्वरूप इस खेत को यहाँ 'बर्हिः' नाम दिया गया है। वे प्रभु यज्ञ हैं। वे प्रभु पूजनीय हैं, संगमनीय हैं। हमें चाहिए कि हम अपने को उस प्रभु के प्रति दे डालें। यह 'दे डालना' ही समर्पण है। २. किस प्रभु का सेचन करते हैं? **पुरुषः**=उसका, जो इन शरीररूप पुरियों में निवास करते हैं (पुरि वसति, पुरि शेते वा)। उस प्रभु, का जो **अग्रतः**=पहले से ही **जातम्**=विद्यमान है। प्रभु हमारे हृदयों में पहले से हैं ही। हमें केवल हृदयों का शोधन करके, उन्हें बर्हि बनाकर प्रभु की ज्योति को देखने का प्रयत्न करना है। ३. **तेन**=उस प्रभु से **अयजन्त**=मेल करते हैं (संगतिकरण)। कौन? (क) **देवाः**=जो व्यक्ति अपने हृदयों से आसुरवृत्तियों का उद्बर्हण करके उन हृदयों को दैवीवृत्तियों से भरते हैं। दिव्यवृत्तियों को अपनाकर ही ये देव उस महादेव से मेल के अधिकारी होते हैं। (ख) **साध्याः**=(साध्नुवन्ति परकार्याणि) जो सदा परार्थ के कार्यों को सिद्ध करने में लगे हैं। जिनके हाथ सदा यज्ञों में व्यापृत हैं। 'देव शब्द उपासनाकाण्ड का संकेत करता था तो 'साध्य' शब्द कर्मकाण्ड को संकेतित कर रहा है। (ग) **ये च ऋषयः**=और जो तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी हैं। 'ऋषि' शब्द ज्ञानकाण्ड का प्रतीक है। प्रभु से मेल उन्हीं लोगों का होता है जो अपने जीवन में उपासना, कर्म व ज्ञान तीनों का सुन्दर समन्वय करते हैं।

भावार्थ—हम अपने हृदयों को पवित्र बना, वहाँ प्रभु की ज्योति को जगाएँ। देव, साध्य व ऋषि बनकर अर्थात् हृदय, हस्त व मस्तिष्क तीनों की उन्नति करके प्रभु से अपना मेल करें।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

एक प्रश्न

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादाऽउच्येते॥१०॥

१. **यत्**=जब **पुरुषम्**=उस पुरुष प्रभु से **व्यदधुः**=ये 'देव, साध्य व ऋषि' **व्यकल्पयन्**= (वि+कल्पय्=सामर्थ्य) अपने को विशिष्ट सामर्थ्यवाला बनाते हैं। प्रभु के धारण से यह परिणाम निश्चित है कि प्रभु की शक्ति इन उपासकों को प्राप्त होती है। यहाँ जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रभु के धारण करनेवाले को किस प्रकार का उत्कृष्ट सामर्थ्य प्राप्त होता है? २. इसी प्रश्न को जिज्ञासु कुछ विस्तार से इस प्रकार करता है कि (क) **अस्य**=इस प्रभु के धारण करनेवाले का **मुखम्**=मुख **किम् आसीत्**=क्या हो जाता है? (ख) **किं बाहू**=इसकी बाहुएँ क्या बन जाती हैं? (ग) **किम् ऊरू**=इसकी जाँघें क्या हो जाती हैं? (घ) **पादा**=इसके पाँव **किम् उच्येते**=कैसे कहे जाते हैं? ३. यहाँ प्रश्न है कि यह प्रभु का धारण करनेवाला कैसा होता है। एक समान्य व्यक्ति के और इसके मुख में क्या अन्तर होता है? इसकी बाहुएँ क्या बन जाती हैं? इसकी जाँघों व पाँवों का क्या नाम पड़ जाता है? सामान्य व्यक्ति के अङ्गों में क्या कमी होती है। जो इस प्रभु का पोषण करनेवाले में नहीं रहती! इतनी बात तो ठीक है कि उसके अङ्ग शक्तिशाली बन जाते हैं, परन्तु 'उनमें क्या शक्ति आ जाती है'? यह प्रश्न है, जिसका उत्तर अगले मन्त्र में देते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धारण करनेवाले मनुष्य के मुख आदि में एक विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो उसे सामान्य पुरुषों से विशिष्ट बना देती है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

प्रश्न का उत्तर

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रोऽअजायत॥११॥

१. **अस्य**=इस प्रभुभक्त का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण **आसीत्**=हो जाता है। यह प्रभुभक्त अपने मुख से सदा ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला (ब्राह्मण) बनता है, इसका मुख ज्ञान का प्रसार करता है। २. **बाहू**=इस प्रभुभक्त की भुजा **राजन्यः**=क्षत्रिय **कृतः**=कर दी गई हैं। **'स विशो अरज्यत ततो राजन्यो अजायत'**=प्रकृति का रञ्जन करने से ये राजन्य बनी हैं। इसकी भुजाएँ प्रजा के रक्षण में व्याप्त होने से प्रजा को आनन्दित करनेवाली हैं, अतः राजन्य हैं। ३. **यत्**=जो **अस्य**=इसकी **ऊरू**=जाँघें हैं **तत्** =वे ही **वैश्यः**=वैश्य हैं। अथर्व में यह पाठ 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' है। 'ऊरू' मध्यभाग का ही प्रतीक है, पेट भी उसमें समाविष्ट है। जिस प्रकार पेट रुधिरादि सब धातुओं का निर्माण करता है इसी प्रकार इस प्रभुभक्त की ऊरू भी निर्माण-कार्य में व्याप्त रहती हैं, कभी थकती नहीं। **'कृषिगोरक्ष-वाणिज्ये'**=कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य ही वैश्य के कर्म हैं। यह प्रभुभक्त भी इन्हीं जैसे निर्माण के कार्यों में लगा रहता है। ४. **पद्भ्याम्**=पाँवों से यह प्रभुभक्त **शूद्रः**=शूद्र **अजायत**=हो जाता है। 'शूद्र' अर्थात् शु-द्रवति=तीव्र गति करता है। यह प्रभुभक्त बड़ा क्रियाशील होता है। इसमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा स्थान नहीं कर लेती, यह अप्रमत्त होकर सब नियत कर्मों को शीघ्रता से करता है।

भावार्थ--प्रभुभक्त ज्ञान का प्रचारक, निर्बलों का रक्षक, सभी का पालक तथा शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला होता है, दूसरे शब्दों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र बनता है।

नोट—१. प्रस्तुत मन्त्र में प्रसंगवश वर्णव्यवस्था का भी संकेत हो गया है। समाज का शरीर ब्राह्मणरूप मुखवाला है, क्षत्रिय इसकी भुजाएँ हैं, इसका मध्यभाग ही वैश्य है और इसके पाँव शूद्र हैं। ब्राह्मण वही है जो मुख की भाँति ज्ञान का प्रसार करनेवाला है, क्षत्रिय भुजाओं की तरह रक्षक है। वैश्य ने पेट की तरह सब अन्नादि का उत्पादन करना है और शूद्र ने अतन्द्र होकर सेवा-कार्य में व्याप्त रहना है। एवं, वर्णव्यवस्था गुण—कर्मों पर ही आश्रित है। (क) मुख को सर्दी-गर्मी नहीं सताती, अन्य शरीरांगों की अपेक्षा यह अधिक तपस्वी है, ब्राह्मण को भी इसी प्रकार तपस्वी बनना है। मुख स्वादिष्ठ वस्तु को अपने पास न रखकर पेट में भेज देता है, इसी प्रकार ब्राह्मण अपरिग्रही बनाये हैं। भेंट में प्राप्त बहुमूल्य वस्तु को यह प्रजाहित के लिए दान कर देता है। (ख) भुजाओं का काम पालन है, ये शक्तिशाली होती हैं, इसी प्रकार क्षत्रिय ने शक्तिशाली बनकर प्रजा की रक्षा करनी है। वैश्य पेट की भाँति सभी को देकर स्वयं पतला बना रहता है। पेट का सौन्दर्य पतलेपन में ही है। वैश्य का सौन्दर्य भी, देकर निर्धन बनने में ही है। पाँव बिना असूया के चलते है, इसी प्रकार बिना किसी खीझ के शूद्र ने सेवा करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभुभक्त कैसा बन जाता है?

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥१२॥

१. यद्यपि मन्त्र संख्या १० में प्रश्न 'मुख, बाहु, ऊरु और पाद' के विषय में था और उसका उत्तर ११वें मन्त्र में ही दे दिया गया है तथापि प्रश्न का उत्तर विस्तार से देते हुए कहते हैं कि **मनसः**=मन से यह प्रभुभक्त **चन्द्रमा**=चन्द्र **जातः**=हो जाता है। 'चन्द्र' शब्द 'चदि आह्लादे' से बनकर आह्लाद व प्रसन्नता का संकेत करता है। इसका मन सदा प्रसन्न रहता है। मनःप्रसाद ही सर्वोत्कृष्ट तप है। संसार के सुख-दुःख इसके मन को क्षुब्ध नहीं करते। यह चन्द्रमा के समान सदा आह्लादमय रहता है। २. **चक्षोः (चक्षुषः)**=चक्षु से **सूर्यः**=सूर्य **अजायत**=हो जाता है। जैसे सूर्य से प्रकाश की किरणें निकलकर अन्धकार को नष्ट कर देती हैं, इसी प्रकार इसकी चक्षु से ज्ञान की किरणें प्रसृत होकर लोगों के अज्ञानान्धकार को समाप्त कर देती हैं। ऐसा ही व्यक्ति 'विलक्षण' कहलाता है। ३. **श्रोत्रात्**=श्रोत्र (कान) से यह **वायुप्राणश्च**=वायु और प्राण होता है। (क) श्रोत्र का प्रथम अर्थ है 'कान'। कान से वायु=गतिशील (वा गतौ) बनता है, अर्थात् इसे कोई बात कही जाती है तो उसे ध्यान से सुनता है और तदनुसार कार्य करता है, (does not turn a deaf ear to advice) एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल नहीं देता। 'सुनना और करना' यही श्रोत्र का वायु बनना है। (ख) श्रोत्र का दूसरा अर्थ है 'योग्यता' (Proficiency) 'उन्नति', 'विशेषतः ज्ञान की उन्नति'। इस ज्ञान की उन्नति से यह 'प्राण' बनता है, अर्थात् ज्ञान की उन्नति से यह प्राणों को उन्नत करता है। किसी एक इन्द्रिय की शक्ति के विकास के स्थान में यह प्राणों का विकास करता है, क्योंकि प्राणों के विकास से सभी इन्द्रियों का विकास हो जाता है। (ग) **मुखात्**=मुख से **अग्निः**=अग्नि **अजायत**=हो जाता है। अग्नि के दो कार्य होते हैं (क) योजन, (ख) भेदन। यह प्रभुभक्त भी योजन और भेदन की

शक्तिवाले मुखवाला हो जाता है। वर देकर यह किसी भी व्यक्ति का उत्तमता से योजन कर देता है तो शाप देकर यह भेदन भी कर पाता है। केवल मिलानेवाला है, नकि मिटानेवाला।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा प्रसन्न, प्रकाशमय, गतिशील-प्राणशक्तिसम्पन्न और अग्नि के समान योजक व भेदक बन जाता है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

लोक-कल्याण

नाभ्याऽआसीदुन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।

पुद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२॥ऽअकल्पयन्॥१३॥

१. **नाभ्या**=(नाभ्यै) नाभि के लिए अथवा नाभि के हेतु से **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **आसीत्**=होता है। नाभि केन्द्र है, सारी नस-नाड़ियाँ अन्त में यहीं बँधी हैं। इस केन्द्र के ठीक रखने से यह प्रभुभक्त मध्यमार्ग में चलनेवाला (अन्तरा+क्षि=बीच में चलना) होता है। शरीर के केन्द्र को ठीक रखने के लिए मध्यमार्ग में रहना आवश्यक है। २. **शीर्ष्णः**=मस्तिष्क से **द्यौः**=द्युलोक **समवर्त्तत**=हो जाता है। जिस प्रकार द्युलोक जगमगाता है, इसी प्रकार इस प्रभुभक्त का मस्तिष्क भी ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है। ३. **पद्भ्याम्**=पाँव से यह **भूमिः**=भूमि हो जाता है। पाँव (पद गतौ) गति के प्रतीक हैं। भूमि को भूमि इसलिए कहते हैं कि इसमें प्राणी होते हैं (भवन्ति भूतानि यस्याम्)। यह प्रभुभक्त अपनी गति के द्वारा सब प्राणियों के निवास का कारण बनता है। इसकी क्रिया रक्षक है, नकि नाशक। ४. **श्रोत्रात्**=श्रोत्र से **दिशः**=यह दिश् बन जाता है। श्रोत्र का दूसरा अर्थ वेद है। यह अपने जीवन के सब निर्देश (आदेश व सन्देश) वेद से ही प्राप्त करता है। इसका जीवन वेदानुकूल होता है। **'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'**=धर्म के लिए परमप्रमाण श्रुति ही है। ५. **तथा**=उस प्रकार—ऊपर कथित प्रकार से यह प्रभुभक्त **लोकान्**=इस पिण्ड के एक-एक लोक (Locality) को—अङ्ग-प्रत्यङ्ग को **अकल्पयन्**= शक्तिशाली बनाता है। शक्तिसम्पन्न बनकर यह प्रभुभक्त 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बन जाता है।

भावार्थ—यह प्रभुभक्त सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाला, जगमगाते मस्तिष्कवाला, निर्माणात्मक क्रियाओं में लगा हुआ, वेद के अनुसार जीवन-मार्ग पर चलता हुआ शक्तिशाली अङ्गोंवाला बनता है।

नोट—प्रस्तुत मन्त्रों में विराट् को पुरुष का शरीर मानकर यह भी संकेत दिया गया है कि उस विराट् शरीर की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पाँव से भूमि, श्रोत्र से दिशाएँ (१३) मन से चन्द्रमा, आँख से सूर्य, श्रोत्र से वायु व प्राण और मुख से अग्नि (१२) की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर अन्तरिक्ष ही हमारे शरीर में नाभि बनकर रहने लगा, द्युलोक सिर के रूप में, पृथिवी पाँव में, दिशाएँ श्रोत्र के रूप में आकर यहाँ रहे। चन्द्रमा ही मन बना, सूर्य आँख, वायु और प्राण श्रोत्र और अग्नि मुख बनकर शरीर में रहा। विराट् पिण्ड से आधिदैविक जगत् के दैवों की उत्पत्ति हुई और इन देवों से पिण्ड में उस-उस इन्द्रिय की उत्पत्ति हो गई।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सौन्दर्य, तेजस्विता, त्याग—एक महान् यज्ञ (संगम)

यत्पुरुषेण हुविषा देवा युज्ञमतन्वत।

वुसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइुध्मः शुरद्धुविः॥१४॥

१. **यत्**=जब **हविषा** (हु=दान)=हविरूप त्याग के पुञ्ज **पुरुषेण**=ब्राह्मण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु से **देवाः**=देवलोक—दैवीवृत्ति को धारण करनेवाले व्यक्ति **यज्ञम्**=संगतिकरण को, सम्बन्ध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं तब **अस्य**=इस प्रभु से मेल करनेवाले व्यक्ति के लिए **वसन्तः**=वसन्तऋतु **आज्यम्**=आज्य **आसीत्**=हो जाती है **ग्रीष्मः**=ग्रीष्मऋतु **इध्मः**=समिधाएँ और **शरत् हविः**=शरद्ऋतु हवि हो जाती है। २. दैवीवृत्तिवाले मनुष्य त्याग के पुञ्ज प्रभु से अपना मेल करते हैं। प्रभु से मेल बढ़ाने का परिणाम यह होता है कि इनका जीवन भी त्यागमय बनता है। इस अभौतिक वृत्ति का ही परिणाम होता है कि वसन्तऋतु इस त्यागमय जीवनवाले के लिए 'आज्य' हो जाती है। आज्य शब्द 'अञ्ज' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है 'व्यक्त करना'। वसन्तऋतु इस प्रभु के उपासक के लिए प्रभु की महिमा को व्यक्त करनेवाली बन जाती है। चारों ओर वनस्पतियों के नवपल्लव, पुष्प व फल इस प्रभु के उपासक के लिए प्रभु-दर्शन के द्वार बन जाते हैं। इसे ये सब प्रभु का गुणगान करते प्रतीत होते हैं। ४. ग्रीष्मऋतु इस त्यागी भक्त के लिए 'इध्मं'=दीप्ति का प्रतीक हो जाती है। जैसे ग्रीष्म में सूर्य अपने पूरे बल से प्रचण्डरूप में चमक रहा होता है, उसी प्रकार यह उपासक प्रभु की अत्यन्त ज्योतिर्मय ज्ञानदीप्ति की कल्पना करता है। सूर्यकिरणें कृमियों की ध्वंसक बनती हैं तो प्रभु की ज्योति की किरणें हृदयान्धकार को नष्ट करनेवाली होती हैं ५. इस प्रभु के संगी के लिए सब पत्तों को शीर्ण करती हुई शरद् भी हवि का संकेत बन जाती है। शरद् (autumn) में पत्ते शीर्ण हो जाते है। यह प्रभु-भक्त भी सर्वस्व का त्याग करता हुआ, शरत् से हविरूप बनना सीखता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त के लिए वसन्त प्रभु की महिमा को दिखाती है तो ग्रीष्म ज्ञानदीप्ति को और शरत् त्यागशीलता को। वसन्त सौन्दर्य को, ग्रीष्म ज्योति को, शरत् त्याग को संकेतित करती है।

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पशुबन्धन

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒नाऽअब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम्॥१५॥

१. **देवाः**=देवलोग **यत्**=जब **यज्ञम्**=प्रभु के साथ मेल को **तन्वानाः**=विस्तृत करते हुए **पुरुषम्**=पौरुषवाले **पशुम्**=इस काम-क्रोधरूप पशु को **अबध्नन्**=बाँधते हैं तब **अस्य**=इस यज्ञ का विस्तार व पशुबन्धन करनेवाले के **सप्त**=सात **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** कर्णादि ऋषि **परिधयः**=परिधिरूप, बड़ी मर्यादा में चलनेवाले **आसन्**=हो जाते हैं और **त्रिःसप्त**=शरीर की इक्कीस शक्तियाँ **समिधः**=अत्यन्त समृद्धि व दीप्तिवाली **कृताः**=की जाती हैं। २. प्रभुमेल करने योग्य हैं, अतः यज्ञ हैं। यज्ञ का अर्थ 'मेल' भी है। देव व समझदार लोग प्रभु से मेल करते हैं, नकि प्रकृति से। माधुर्यवाली वस्तु जैसे मधुर कहलाती है उसी प्रकार पौरुषवाले इस काम को यहाँ पुरुष कहा गया है। उपनिषद् में 'कामः पशुः क्रोधः पशु' इन शब्दों में काम-क्रोध को पशु कहा गया है। प्रभु से मेल का ही यह परिणाम होता है कि इस पशु को हम बाँध पाते है, अपना क़ैदी बना लेते हैं। यह वशीभूत काम हमारे वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग का साधन बनता है। इस प्रकार पशु मनुष्य का कार्यवाहक बन जाता है। ३. काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाले इस यज्ञमय पुरुष के दो कान, दो आँख, दो नासिका-छिद्र व मुखरूप सब इन्द्रियाँ परिधि बन जाती हैं। परिधि=मर्यादा, इसकी इन्द्रियाँ सदा मर्यादा में रहती हैं, उसका उल्लंघन नहीं करतीं। दूसरे शब्दों में इसके इन्द्रियरूप अश्व सन्मार्ग का ही आक्रमण करते हैं, मार्ग से रेखामात्र भी विचलित नहीं

होते। ४. इन्द्रियों के सदा सन्मार्ग पर चलने का यह परिणाम होता है कि इसकी इक्कीस शक्तियाँ सदा दीप्त रहती हैं। इसकी शक्तियाँ चमक उठती हैं। इन्द्रियों का मर्यादा में रहना और शक्तियों के दीपन में कार्यकारण भाव तो है ही।

भावार्थ—प्रभुभक्ति व प्रभु से मेल के तीन परिणाम हैं १. काम-क्रोध का वशीकरण २. इन्द्रियों का मर्यादा में रहना और ३. शक्तियों का वर्धन व दीपन।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मुख्य धर्म

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१६॥

१. '**यज्ञो वै विष्णुः**'=इन शब्दों में ब्राह्मणों ने विष्णु=सर्वव्यापक प्रभु को 'यज्ञ' कहा है। मनुष्य में भी जब 'देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की भावनाएँ आ जाती हैं तब यह भी यज्ञ को अपना रहा होता है। मनुष्य की उन्नति के लिए आवश्यक है कि (क) वह 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' इनको देव जानकर उनकी पूजा करे। इनके कथनों का आदर करता हुआ तदनुसार अपना आचरण बनाये। (ख) संसार में सदा सबके साथ मेल से चले। उसकी जिह्वा का माधुर्य सभी को उसकी ओर आकृष्ट करनेवाला हो। (ग) वह सदा दान देनेवाला बने। यज्ञशेष को खाये। त्यागपूर्वक उपभोग करे। ये तीन बातें ही मिलकर यज्ञ कहलाती हैं। यज्ञनामक विष्णु की उपासना इस यज्ञ से ही होती है। **देवाः**=देवलोग **यज्ञेन**=देवपूजा, संगतिकरण व दान से **यज्ञम्**=पूजनीय, संगतिकरणीय, समर्पणीय प्रभु को **अयजन्त**=पूजते हैं, उसके साथ अपना मेल बढ़ाते हैं। ३. **तानि**=ये देवपूजा, संगतिकरण और दान ही **धर्माणि**=धारणात्मक उत्तम कर्म हैं। ये **प्रथमानि**=मुख्य हैं और जीव का 'प्रथ-विस्तारे' विस्तार करनेवाले हैं। ३. **ते**=ये **महिमानः**=(मह पूजायाम्) प्रभु के सच्चे उपासक **ह**=ही **नाकम्**=जहाँ दुःख है ही नहीं (न अकं यत्र) उस आनन्दघन प्रभु को **सचन्त**=प्राप्त होते हैं, सेवन करते हैं। प्रभु ही मोक्षलोक है, मुक्त जीव प्रभु में ही विचरते हैं (सह ब्रह्मणा विपश्चिता)। यह मोक्ष-लोक वह है **यत्र**=जहाँ **पूर्वे**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा' आदि ऋषि, इन ऋषियों के ही समान अपने में ज्ञान का पूरण करनेवाले (पृ=पूरण) ज्ञानीलोग, **साध्याः**=सदा उत्तम कार्यों के द्वारा लोकहित का साधन करनेवाले कर्मठ लोग तथा **देवाः**=अपने मन में 'अद्रोह,' अनुग्रह व दान' की दिव्य भावनाओं को जगानेवाले भक्त-लोग **सन्ति**=निवास करते हैं, विद्यमान रहते हैं। इस नाकलोक के अधिकारी ये 'पूर्वे, साध्याः और देवाः' ही हैं। (क) देवपूजा से—माता-पिता व आचार्य आदि के आदर से इन्होंने अपने मस्तिष्क में ज्ञान व पूरण किया है अतएव **पूर्व**=पूरण करनेवाले कहलाये हैं। (ख) सबके साथ संगति व मेल से चलते हुए इन्होंने सर्वहितकारी यज्ञों का साधन किया है, अतः साध्य बने हैं, और (ग) अन्त में सदा दान-धर्म को अपनाने से ये (देवो दानात्) देव नामवाले हुए हैं। ये ही प्रभु-प्राप्ति के सच्चे अधिकारी हैं और इस जीवन के अन्त में परामुक्ति को प्राप्त करके प्रभु में स्थित होते हैं।

भावार्थ—'देवपूजा, संगतिकरण व दान' ही मुख्य धर्म हैं, इन्हें अपनानेवाला प्रभु को अपना पाता है।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अमैथुनी सृष्टि—आजान देवत्व

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य देव॒त्वमा॒जान॒मग्रे॑ ॥१७॥

१. 'मनुष्य का शरीर किस प्रकार बनता है' इसपर विचार करते हुए उपनिषद् के अनुसार जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञावाले होते हैं। (क) सर्वप्रथम श्रद्धा=जलीय कणों की धारकशक्ति की द्युलोक में आहुति देते हैं (जल वाष्पीभूत हो द्युलोक में पहुँचता है) इससे सोम की उत्पत्ति होती है। (ख) सोम की आहुति पर्जन्य में, इससे वृष्टि होती है, (ग) वृष्टि की आहुति पृथिवी में, उससे अन्न उत्पन्न होता है। (घ) अन्न की आहुति पुरुष में, उससे रेतस् उत्पन्न होता है। (ङ) इस रेतस् की आहुति स्त्री में, इससे गर्भ होता है। इस प्रकार जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञावाले हो जाते हैं। मन्त्र में कहा है कि **अद्भ्यः**=जलों से **सम्भृतः**=मनुष्य-शरीर का संभरण हुआ है। आजकल पाँचवीं आहुति रेतस् (आपः=रेतः) की स्त्री-शरीर में दी जाती है और वहाँ शरीर का निर्माण होता है, परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में जब ये शरीर न थे तब **अग्रे**=उस प्रथम समय में, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में **विश्वकर्मणः**=उस सारे संसार का निर्माण करनेवाले प्रभु से **पृथिव्यै**=इस पृथिवी से ही (पृथिव्याः) जो वृक्ष हुए, उन वृक्षों में ही एक फली में **रसात् च**=रस का सञ्चार करके प्रभु ने इस शरीर का पोषण किया। यह अमैथुनी सृष्टि कहलाती है। **अग्रे समवर्त्तत**=सृष्टि के प्रारम्भ में ऐसा ही हुआ। यह सृष्टि स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व से न होकर प्रभु से ही पैदा कर दी गई। २. जिस समय वृक्ष की फली में इस शरीर का पोषण हो रहा होता है उस समय वह **त्वष्टा**=देवशिल्पी प्रभु ही **तस्य**=उसमें **रूपम्**=रूप का **विदधत्**=निर्माण करते हुए **एति**=गतिशील होते हैं। यहाँ मनुष्य को आकृति अपने माता-पिता से मिलती हैं, परन्तु अमैथुनी सृष्टि में प्रभु उसे पिछले कर्मों के अनुसार उचित रूप देते हैं। ३. **तत्**=यही **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के द्वारा **मर्त्यस्य**=मनुष्य का **आजानम् देवत्वम्**=जन्म से देवत्व (आजान देवत्व) था । प्रभु की इस अमैथुनी सृष्टि में शुभ कर्मोंवाले लोगों की ही उत्पत्ति हुई। पीछे अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता तथा सांसारिक प्रलोभनों के प्रबल आकर्षण से यह जीव धीरे-धीरे आसुरी वृत्ति की ओर झुका और संसार में मनुष्य 'देव व असुर' इन दो भागों में बँट गये। ये ही अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण आर्य व दस्यु कहलाये।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम अपने आजनदेवत्व को स्थिर रख पाएँ। संसार के प्रलोभनों में फँसकर असुर न बन जाएँ।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अतिमृत्यु-अयन—मृत्यु के पार

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

१. **अहम्**=मैं **एतम्**=इस **महान्तम्**=महान्, पूजनीय **आदित्यवर्णम्**=सूर्य के समान वर्णवाले **तमसः परस्मात्**=अन्धकार से परे वर्तमान **पुरुषम्**=पुरुष को **वेद**=जानता हूँ। वह प्रभु पुरुष हैं, ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करनेवाले हैं (पुरि वसति), सर्वव्यापक हैं। महान् हैं, विभु हैं अथवा 'मह पूजायाम्' पूजा के योग्य हैं। उस प्रभु की तेजस्विता की कल्पना सूर्य के द्वारा ही हो सकती है, हज़ारों सूर्यों की दीप्ति के समान उस प्रभु की दीप्ति है। वे प्रभु तम से परे हैं, वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है, अन्धकार का वहाँ नाम ही नहीं। 'तमस्' प्रकृति को भी कहते हैं, वे प्रभु प्रकृति से भी परे हैं। प्रकृति से परे तो जीव भी है, प्रभु जीव से भी परे हैं। २. **तम्**=उस प्रकृति व जीव से परे अथवा सब अन्धकारों से परे वर्तमान उस ज्योतिर्मय प्रभु को **विदित्वा एव**=जानकर ही मुनष्य **मृत्युम् अतिएति**=मौत को लाँघ जाता है। 'आत्मतत्त्व का ज्ञान' जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य पर पहुँचे बिना मनुष्य

बारम्बार जन्म ग्रहण करता है। आत्मदर्शन हुआ, प्राकृतिक भोगों का रस फीका पड़ गया, उलझन समाप्त हुई और मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठा। ३. इस प्रभु के **अयनाय**=प्राप्त करने के लिए **अन्यः पन्थाः**=दूसरा मार्ग न **विद्यते**=नहीं है। प्रभु का ज्ञान ही हमें प्रभु की ओर ले-जाता है और प्रभु को प्राप्त करके हम जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को जानकर हम मृत्यु से ऊपर उठें और मोक्ष का लाभ करें।

ऋषिः—उत्तरनारायणः। देवता—आदित्यः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अजायमान-विजायमान—न होते हुए, होना

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।

तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

पिछले मन्त्र में कहा था कि 'मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ' प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि 'किस रूप में?' (क) **प्रजापतिः**=वे प्रभु प्रजा के पति हैं। सबके रक्षक हैं। मेरी भी वे प्रभु ही रक्षा कर रहे हैं। (ख) **अजायमानः**=(जनी प्रादुर्भाव) सबके अन्दर होते हुए भी वे अप्रादुर्भूत=अव्यक्त ही हैं। वे प्रभु कभी व्यक्त नहीं होते। वे तो शरीर धारण करते ही नहीं, वे शरीर में अवतीर्ण नहीं होते। (ग) **बहुधा विजायते**=शरीर धारण न करते हुए भी वे प्रभु नानारूपों में विशेषरूप से प्रादुर्भूत होते हैं। हिमाच्छादित पर्वतों में, अनन्त विस्तारवाले समुद्रों में, अनन्त भार का वहन करनेवाली इस पृथिवी में, आकाश को आवृत-सा कर लेनेवाले नक्षत्रों में उस प्रभु की ही महिमा दिख रही होती है। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की रचना में उस रचयिता का रचना-कौशल दिखाई दे रहा है। एक-एक फल व फूल उस रचयिता का गान करता प्रतीत होता है। एवं, कण-कण में वे प्रभु प्रकट हो रहे है। अजायमान वे प्रभु विजायमान बन रहे हैं, अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त हो रहे हैं। (घ) **तस्य**=उस अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त प्रभु के **योनिम्**=घर व आधार को **धीराः**=विचारशील लोग ही **परिपश्यन्ति**=सर्वत्र देखते हैं। **तस्मिन्**=उस आधार में **ह**=निश्चय से **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **तस्थुः**=ठहरे हैं। उस प्रभुरूप आधर में ये सारा ब्रह्माण्ड स्थित है **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**=उस आधार में क्या उस आधार के भी एक देश में ही यह सारा ब्रह्माण्ड रचा गया है। कितना व्यापक है वह आधार!

भावार्थ—प्रभु प्रजापति हैं, नानारूपों को वो जन्म दे रहे हैं, वही सब लोकों का धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—उत्तरनारायणः। देवता—सूर्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ब्राह्म-तेज

यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानां पुरोहितः।

पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥२०॥

गतमन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि 'उस प्रभु में ही ये सब लोक आश्रित हैं'। प्रस्तुत मन्त्र उन्हीं लोकों के वर्णन से प्रारम्भ होता है। सब लोक वैदिक साहित्य में 'देव' कहलाते हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक—सब देवता हैं, इनमें रहनेवाले अग्नि, वायु, सूर्य, भी देवता हैं। इन सब देवताओं को दीप्ति प्रभु से प्राप्त होती है। मन्त्र में कहते हैं कि उस **ब्राह्मये रुचाय**=ब्रह्म कान्ति के लिए, ब्रह्मसम्बन्धी तेज के लिए **नमः**=नमस्कार हो (क) **यः**=जो **देवेभ्यः**=सब देवों के लिए **आतपति**=चारों ओर दीप्त होता है। जैसे यहाँ सूर्य के तेज से चन्द्र, पृथिवी आदि तेजवाले प्रतीत हो रहे हैं, उसी प्रकार ये अग्नि, विद्युत् व

सूर्यादि तेज भी ब्रह्म के तेज से दीप्ति प्राप्त करते हैं। (ख) जैसे स्फटिक के सामने जपापुष्प (Rose flower) होता है तो जपापुष्प का गुलाबीपन स्फटिक में भी झलकता है, वह गुलाबीपन स्फटिक का अपना नहीं होता, इसी प्रकार वे प्रभु हैं। **यः**=जो **देवानाम्**=सब देवों के **पुरः**=सामने **हितः**=स्थापित है, उस प्रभु की दीप्ति इन देवों में झलक रही है, इन देवों की यह दीप्ति अपनी थोड़े ही है? जो प्रभु से ओझल होता है, वही दीप्ति-शून्य हो जाता है। (ग) यह प्रभु ही है **यः**=जो **देवेभ्यः**=सब देवों से **पूर्वः जातः**=पहले से हैं। पहले से ही होते हुए ये अन्य देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। **येन देवा देवतामग्र आयन्**=इसी से तो देव प्रथम देवत्व को प्राप्त हुए। जो जीव भी सदा प्रभु के सामने उपस्थित रहता है वह भी ब्रह्मतेज को प्राप्त कर देवों के समान चमकने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ही सब सूर्यादि देवों को दीप्ति देनेवाले हैं। उस ब्रह्मरुचि दीप्ति को प्राप्त करने के लिए मैं भी **नमस्**=नम्रता की भावना को धारण करता हूँ।

ऋषिः—उत्तरनारायणः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

देवों का वशीकरण

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे॥२१॥

गतमन्त्र की भावना यह है कि 'सूर्यादि सब देव उस ब्राह्मतेज से ही दीप्त हो रहे हैं।' उसी वाक्य से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **अग्रे**=इस सृष्टि के प्रारम्भ से ही **ब्राह्मं रुचम्**=ब्रह्म-सम्बन्धी कान्ति को **जनयन्तः**=प्रकट करते हुए **देवाः**=अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि ये सब देव **तत् अब्रुवन्**=इस बात को कहते हैं कि **यः ब्राह्मणः**=जो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **तु**=भी **एवं विद्यात्**=इस प्रकार जान लेता है **तस्य**=उसके **देवाः**=सब देव **वशे असन्**=वश में होते हैं।

सूर्यादि सब देव प्रभु की दीप्ति से ही तो दीप्त हो रहे हैं। ये चमकते हुए सूर्यादि देव सनातन काल से मानो यही उद्घोषणा कर रहे हैं कि जो भी ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस तत्त्व को समझ लेगा और ब्रह्म से अपने को ओझल न करेगा, वह भी ब्रह्म के तेज से तेजस्वी होगा।

भावार्थ—ब्रह्मवेत्ता को सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—उत्तरनारायणः। देवता—आदित्यः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

एक आदर्श ब्रह्मवेत्ता का जीवन

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण॥२२॥

'सब देव उसके अनुकूल होते हैं' इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि कोई भी प्राकृतिक शक्ति उसके प्रतिकूल नहीं होती, अर्थात् जल-वायु आदि सदा उसके अनुकूल होते हैं। परिणामतः वह स्वस्थ, सबल व सुन्दर शरीरवाला होता है, स्वस्थ शरीर में उसका मन व मस्तिष्क भी स्वस्थ होता है। शरीर का स्वास्थ्य उसे 'श्री'-सम्पन्न बनाता है और मन व मस्तिष्क का स्वास्थ्य ज्ञान की 'लक्ष्मी' से युक्त करता है। इसी श्री व लक्ष्मी का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—

१. 'श्री' स्वास्थ्यजनित सौन्दर्य का नाम है तथा 'लक्ष्मी' लक्ष दर्शनांकनयोः धातु से बनकर ज्ञान का वाचक है, ज्ञान की प्रक्रिया यही तो होती है कि हम दर्शन=देखते हैं और

हमारे मस्तिष्क पर उसका अंकन=छाप हो जाती है। इस प्रकार हमें उस वस्तु का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म अपने वेत्ता इस ब्राह्मण से कहते हैं कि **श्रीः च लक्ष्मीः च**=श्री और लक्ष्मी **ते**=तेरी **पत्न्यौ**=पत्नियाँ हैं। ये तेरे जीवन के अंग part and parcel बन गये हैं। (ख) 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस व्याकरणसूत्र के अनुसार ये श्री और लक्ष्मी यज्ञ के लिए तेरे साथ संयुक्त हुई हैं। तेरी शक्ति व तेरा ज्ञान दोनों यज्ञ में विनियुक्त होते हैं। २. **अहोरात्रे पार्श्वे**=अहन् और रात्रि ये तेरे जीवन के दो पहलू हैं। तेरे जीवन का पहला सिद्धान्त तो 'अहन्'=एक भी क्षण आलस्य में नष्ट न करना है। एक-एक क्षण तेरा कार्य में व्याप्त है। तेरे जीवन का दूसरा पहलू यह है कि तू इस कार्यव्यापृतता में रमण करता है (रात्रिः= रमयित्री)। तू कार्य में लगा रहता है और उसमें आनन्द का अनुभव करता है। तू कर्म को ही अपना क्षेत्र मानता है और उसी में लगा रहकर एक मस्ती को अपने जीवन में ला-पाता है। ३. **नक्षत्राणि रूपम्**=नक्षत्र तेरे रूप हैं 'न क्षीयते इति नक्षत्रम्' नक्षत्र इसलिए नक्षत्र हैं कि वे क्षीण नहीं होते। यह क्षीण न होना अक्षीणता ही तेरा रूप=Pattern, नमूना है। ये तेरे जीवन के आदर्श हैं, पुरोहित model हैं। मैं भी इन नक्षत्रों की भाँति अक्षीण चमक से चमकता रहूँगा। ४. (क) **अश्विनौ व्यात्तम्**=ये द्यावापृथिवी तेरे खुले मुख हैं। तेरा मुख ही तेरा मुख नहीं, अपितु द्युलोक व पृथिवीलोक में रहनेवाले सारे प्राणी ही तेरे मुख हैं। तूने अकेले नहीं खाना, सभी के साथ मिलकर खाना है अथवा (ख) **अश्विनौ**=श्रोत्र, ये तेरे कान तेरे खूब खुले मुख बन गये हैं। जैसे मुख से मनुष्य ग्रास को लेता है उसी प्रकार तेरे कान सदा ज्ञान के ग्रासों को खाने में लगे हैं, तू तो ब्रह्म (ज्ञान) चर्वण (भक्षण) करनेवाला ब्रह्मचारी हो गया है। (You have become a voracious reader) ५. इसी ज्ञानभक्षण में लगे रहने का परिणाम है कि तू **इष्णन्**=(to strike, to smite) वासनाओं पर चोट करनेवाला बना है। इस प्रकार सब वासनाओं पर चोट करता हुआ तू **इषाण**=सब लोगों को इस मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित कर। तेरा पवित्र जीवन औरों को भी उसे अपनाने के लिए प्रेरणा दे। ६. **मे**=मेरी **अमुम्**=उस ब्राह्मरुचि को, जो सब देवों को दीप्त कर रही है तू भी **इषाण**=(to promote) अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न कर और इस प्रकार ७. **मे सर्वलोकम्**= मेरी इस सारी दुनिया को तू **इषाण**=प्रेरणा देनेवाला बन। तू अपने जीवन की वासनाओं को समाप्त करके और ब्रह्मकान्ति को धारण करके ही औरों को उत्तम प्रेरणा दे पाएगा। इस प्रकार का बनकर ही तू 'उत्तर-नारायण'=नरसमूह का उत्कृष्ट शरणस्थान बनेगा।

भावार्थ—नर से नारायण बनने के लिए मन्त्र में वर्णित ७ बातों को अपनाना है।

इत्येकत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म। देवता—परमात्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

एकेश्वरवाद

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥१॥

१. **तत् एव अग्निः**=वह प्रभु ही 'अग्नि' नामवाले हैं, सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। **तत् आदित्यः**=वे प्रभु आदित्य हैं, सबका अपने अन्दर आदान करने के कारण आदित्य नामवाले हैं। **तत् वायुः**=वे प्रभु वायु हैं, सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं। **तत् उ चन्द्रमाः**=वे प्रभु ही चन्द्रमा हैं, आह्लादमय हैं, भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं। **तत् एव शुक्रम्**=वे प्रभु ही शुक्र हैं, शुचि व उज्ज्वल हैं। **तत् ब्रह्म**=वे प्रभु ब्रह्म हैं, बृहत् हैं, अधिक-से-अधिक बढ़े हुए हैं। **ताः आपः**=वे प्रभु ही **आपः**=आपः नामवाले हैं, सर्वव्यापक हैं (आप्=व्याप्तौ) **सः प्रजापतिः**=वह प्रभु ही प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति हैं। २. (क) पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक युग के व्यक्तियों को सभ्यता की प्रारम्भिक श्रेणी में स्थित मान लिया तब यह निश्चित ही था कि उस सभ्यता के लोगों में 'एकेश्वरवाद' के विचार का विकास नहीं हो सकता। **'विश्वानि देव सवितः'** मन्त्र में देव सविता का स्मरण है तो **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** मन्त्र में हिरण्यगर्भ का स्तवन है। **'प्रजापते न त्वदेता'** में प्रजापति की पूजा है तो **'अग्ने नय'** में अग्नि की उपासना है। एवं, वैदिक सभ्यता में बहुदेवतावाद तो था। (ख) एक और बात यह कि विद्वान् उस प्राकृतिक शक्ति को ही देव मान लेते थे, जो डर का कारण हो। गौ की पूजा तो नहीं, परन्तु सर्प यहाँ देवता हैं। बाढ़ आई तो ये जल व वरुण देवता की पूजा करने लगे, आग लगी तो अग्नि की उपासना प्रारम्भ हुई, आँधी ने वायु देवता की उपासना का उपक्रम किया और जब कभी ये इकट्ठे यहाँ आ गये। बाढ़, आग, आँधी सब इकट्ठे चलने शुरू हुए तो व्याकुलता से ये चिल्ला उठे **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**, परन्तु पाश्चात्यों ने जब यह मन्त्र पढ़ा तो सारी कल्पना समाप्त होती प्रतीत हुई, अतः उन्होंने इस मन्त्र को अर्वाचीन काल का कहकर बचाव कर लिया। बना बनाया सिद्धान्त छोड़ा कैसे जाए, परन्तु विद्वानों को आग्रह छोड़कर सत्य को देखना चाहिए। सत्य यही है कि वेद **'एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम्'** मनुष्यों के एक ही आराध्य देवता को स्वीकार करता है और 'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थः..., **स एष एक एव एकवृदेक एव'** इन शब्दों में प्रभु के एकत्व का प्रबल प्रतिपादन कर रहा है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'**, इन शब्दों में उपनिषद् कहती है कि ईश के नानात्व को देखनेवाला मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त होता है। ३. **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** एक ही परमात्मा को ज्ञानी लोग नाना नामों से कहते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में भी 'अग्नि' आदि भिन्न-भिन्न नामों से उस प्रभु का वर्णन किया है। इस स्तवन की सार्थकता इसी में है कि हम भी ऐसे बनें। अन्यथा आचार्य के शब्दों में हमारा यह स्तवन भाटों के समान हो जाएगा। (क) प्रथमाश्रम में हमें 'अग्नि व आदित्य बनना है'। एक ब्रह्मचारी के

जीवन का सूत्र यही होना चाहिए कि 'मैं आगे बढ़ूँगा, अग्नि बनूँगा' **'आरोहणमाक्रमणम्'**= ऊपर-और-ऊपर चढ़ता चलूँगा। इस आगे बढ़ने के लिए ही आदित्य=सूर्य की भाँति आदान करनेवाला बनूँगा। सूर्य गन्दे-से-गन्दे जोहड़ में से भी शुद्ध पानी को ले-लेता है और दुर्गन्ध को वहीं छोड़ देता है, मैं भी अच्छाई को ही लेनेवाला बनूँगा। (ख) गृहस्थ में मैं 'वायु व चन्द्रमा' बनने का प्रयत्न करूँगा। 'वा गतौ' सदा गतिशील रहूँगा। क्रियाशील बनकर 'श्री' का अर्जन करूँगा, जिससे मैं घर को भी श्रीसम्पन्न बना सकूँ और इस सुख-दुःखमय दुनिया में सदैव 'चदि आह्लादे' प्रसन्नतामय जीवन बिताने का प्रयत्न करूँगा। एवं, गृहस्थ का जीवनसूत्र है सदा क्रियामय, सदा प्रसन्न'। २. (ग) अब वनस्थ होकर हम अपने को 'शुक्र' बनाने में लगते हैं, 'शुक्र' अर्थात् शुचि, उज्ज्वल। गृहस्थ में जो थोड़ा बहुत राग-द्वेष का मल लग गया था उसे तपस्या व स्वाध्याय से धोकर वनस्थ शुक्र बनता है और पवित्र बनकर आज वह ब्रह्म-जैसा बना है। नैत्यिक स्वाध्याय ने उसे ज्ञान का पुञ्ज बना दिया है। ब्रह्म=ज्ञान, आज यह ज्ञानी बन गया है। एवं, वनस्थ का जीवन-सूत्र है 'पवित्रता व ज्ञान'। इन दोनों बातों ने ही उसे ब्रह्माश्रम (संन्यास) में प्रवेश का अधिकारी बनाना है। (घ) ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह 'आपः'=व्यापक बनने का प्रयत्न करता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के कारण इसका प्रेम सबके लिए हो गया है, इसका कोई ठिकाना Head Quarter नहीं, यह तो **'यत्र सायं गृहो मुनिः'** बन गया है। परिव्रजन करते-करते जहाँ पहुँचे, वहीं भिक्षा माँगी, उपदेश दिया और अगले दिन आगे। यह ज्ञान का प्रचार करता हुआ 'प्रजापति' बनता है, प्रजा की रक्षा करना ही इसका यज्ञ है, इसी यज्ञ में इसने अपने 'सर्ववेदस्' की आहुति दे दी है। एवं, एक संन्यासी का जीवन सिद्धान्त 'व्यापकता व प्रजापतित्व' है। यह लोकसंग्रह की दृष्टि से निरन्तर कर्मों में लगा है। इस प्रकार ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह स्वयं ब्रह्म-सा हो गया है, अतः इस मन्त्र का ऋषि 'स्वयम्भु ब्रह्म' बन गया है।

भावार्थ—हम अग्नि आदि नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए स्वयं अग्नि आदि बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म। देवता—परमात्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

वह सञ्चालक प्रभु

सर्वे॑ निमे॒षा ज॑ज्ञिरे वि॒द्युत॒ः पुरु॑षा॒दधि॑।
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत्॥२॥

१. **सर्वे**=सारे **निमेषाः**=आँखों के पलक गिरने आदि छोटे-से-छोटे व्यापार भी **विद्युतः**=उस विशेषरूप से देदीप्यमान **पुरुषात्**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले (पुरि वसतीति पुरुषः) पुरुष के **अधि जज्ञिरे**=अधिष्ठातृत्व में ही हो रहे हैं। उस अध्यक्ष से ही प्रकृति चराचर को जन्म दे रही है।' ब्रह्माण्ड की गाड़ी उस प्रभु से ही चलाई जाती है। २. प्रश्न होता है कि जीव की क्या स्थिति है? जीव की स्थिति वही है, जो यात्रियों की। गाड़ी ड्राइवर चला रहा है, चल गाड़ी रही है, यात्री नहीं, परन्तु यह सब किसलिए? यात्रियों के लिए। यदि यात्री न हों तो गाड़ियों की आवश्यकता ही न हो। यात्री की कितनी महिमा है! यह सब इस यात्री—जीव के लिए ही तो है। प्रकृति उसकी गाड़ी है, प्रभु उसके ड्राइवर, परन्तु क्या यात्री अपनी इस महिमा के अंहकार में ट्रेन के ड्राईवर को यह कह सकता है कि दिल्ली नहीं गाड़ी मथुरा ले-चलो। यह तो ठीक है कि हम मथुरा जानेवाली गाड़ी का टिकट लें और मथुरावाली गाड़ी में बैठें, परन्तु मथुरावाली टिकट लेकर दिल्ली नहीं आ

सकते। ३. उस प्रभु को **न एनम् ऊर्ध्वम्**=न इसको 'ऊपर' इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं। **न**=न ही **तिर्य्यञ्चम्**=टेढ़े crosswise एक ओर से दूसरी ओर किसी स्थानविशेष में ग्रहण कर सकते हैं और **न मध्ये**=न ही बीच में **परि जग्रभत्**=ग्रहण कर सकते हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं और इस सम्पूर्ण यन्त्रजाल को=ट्रेन के समूह को चला रहे हैं।

भावार्थ—पत्ता-पत्ता उस प्रभु के प्रशासन में हिल रहा है। वे प्रभु कण-कण में व्याप्त है, किसी देशविशेष में स्थित नहीं हैं, इसी से सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**हिरण्यगर्भः परमात्मा**। छन्दः—**द्विपदागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्रतिरूप—विनीतता+नामस्मरण

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः॥३॥

तस्य=उस प्रभु की **प्रतिमाः**=मूर्त्ति, नाप, सादृश्य, तुल्यता **न अस्ति**=नहीं है। २. प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **नाम**=नामस्मरण व जिनके प्रति नमन जीव के लिए **महद्यशः**=महान् यश का कारण है। नमन से जीव का जीवन यशस्वी बनता है। नामस्मरण से वैसा बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है, एक लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है जो हमें अत्यधिक उत्थान पर पहुँचाती है। सच्चा नामस्मरण तो है ही तदनुरूप बनना।

भावार्थ—ईश्वर की मूर्त्ति नहीं है। हम निराकार प्रभु का स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन बड़ा यशस्वी हो।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वतोमुख देव

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः।
सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥४॥

१. **एषः**=ये प्रभु **ह**=निश्चय से **देवः**=देव हैं। देव के अर्थ यास्कानुसार निम्न हैं—(क) **देवो दानात्**=वे प्रभु देनेवाले हैं। प्रभु ने जीव के हित के लिए उसे क्या नहीं दिया? वे सब शक्तियों के देनेवाले हैं। (ख) **देवो दीपनात्**=वे प्रभु देदीप्यमान हैं। उस सर्वतो देदीप्यमान देव की दीप्ति की कल्पना आकाश में चमकते हुए सहस्त्रों सूर्यों की चमक से ही हो सकती है। (ग) **देवो द्योतनात्**=वे प्रभु सारे पिण्डों को द्योतित कर रहे हैं। प्रभु की दीप्ति से ही ये सारे सूर्य, चन्द्र व तारे दीप्त हो रहे हैं। २. ये प्रभु **सर्वाः प्रदिशः**=इन सब विस्तृत दिशाओं में **अनु**=(व्याप्य तिष्ठति) व्याप्त होकर रह रहे हैं। कौन-सा स्थल है, जहाँ प्रभु नहीं है। कण-कण में उस प्रभु की व्याप्ति है। ३. **पूर्वो ह जातः**=वे प्रभु निश्चय ही पहले से हैं। **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'**=हिरण्यगर्भ प्रभु इस सृष्टि से पूर्व विद्यमान हैं। उनका कोई आदि नहीं, अनादि होते हुए वे सभी के आदि हैं। वे स्वयं तो 'स्वयम्भू'=खुदा हैं। ४. **सः उ गर्भे अन्तः**=वे प्रभु ही सब पदार्थों के गर्भ में हैं। सबके अन्दर स्थित हुए-हुए वे सबका नियमन कर रहे हैं। ५. **सः एव जातः**=वे प्रभु अनादिकाल से इन सृष्टियों को जन्म दे रहे हैं। 'माता प्रजाता' का अर्थ है 'माता ने बच्चे को जन्म दिया'। इसी प्रकार यहाँ **स एव जातः**=उस प्रभु ने ही सृष्टि को जन्म दिया। 'जातः' यह भूतकाल का प्रत्यय सूचित कर रहा है कि भूत में न जाने कितने कालों से वे इन सृष्टियों का निर्माण कर रहे हैं। वस्तुतः अनादिकाल से यह चक्र चल रहा है। **सः जनिष्यमाणः**=भविष्य में भी वे इन सृष्टियों को जन्म देंगे। अनन्तकाल तक यह चक्र चलता जाएगा। यह

सृष्टि-प्रलयचक्र न जाने कब से चल रहा है और न जाने कब तक चलता चलेगा। ६. इस सृष्टि में मनुष्य को जन्म देकर प्रभु ही उसको ज्ञान भी देते हैं। हे **जनाः**=मनुष्यो! वे प्रभु **प्रत्यङ्**=तुम्हारे आत्मा में ही **तिष्ठति**=स्थित हैं। वे एक साथ अग्नि को ऋग्वेद का, वायु को यजुर्वेद का, सूर्य को सामवेद का और अङ्गिरा को अथर्ववेद का उपदेश दे रहे हैं, क्योंकि वे **सर्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाले है। ७. उस प्रभु को ढूँढने के लिए तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं वे तो अन्दर ही हैं। सब विद्याएँ पढ़कर भी (ब्रह्मचारी), यज्ञादि करके भी (गृहस्थ) स्तुति व कीर्तन में लगकर भी (वानप्रस्थ) मनुष्य प्रभु को तभी देखेगा जब वह अपने अन्दर ध्यान करेगा। यह अन्तर्मुख यात्रा करनेवाला संन्यासी ही 'ब्रह्माश्रमी' बनता है, ब्रह्म को देखता है। ऋग्वेद से सब विज्ञानों का अध्ययन करके, यजुर्वेद के अनुसार सब यज्ञों का अनुष्ठान करके, सामवेद से उपासना करके जब मनुष्य (अथ) अपने अन्दर (अर्वाङ्) देखता है तभी ब्रह्म का दर्शन करता है। अथर्ववेद इसीलिए ब्रह्मवेद कहलाता है (अथ+अर्वाङ्)।

भावार्थ—हम देव, सब दिशाओं में व्याप्त, अनादि, अनन्त, सृष्टि-प्रलय-चक्र को चलानेवाले, हृदय में विद्यमान, सर्वतोमुख प्रभु का ध्यान करें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तीन ज्योतियाँ : रमण करता हुआ षोडशी

यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥५॥

१. **यस्मात्**=जिससे **पुरा**=पहले **किञ्चन एव**=कुछ भी न **जातम्**=नहीं हुआ, जो सबसे पहले से था। वे प्रभु अनादि है और सबके आदि है, अर्थात् सारे संसार का निर्माण कर रहे हैं। २. **यः**=जो **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **आबभूव**=समन्तात् व्याप्त कर रहे हैं। प्रभु ने लोकों का निर्माण किया और उन सबके अन्दर व्याप्त होकर रहने लगा। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** उसका सर्जन किया, उसमें प्रवेश किया। ३. **प्रजापतिः**=वे प्रभु सारी प्रजा के रक्षक हैं। ४. **सः षोडशी**=उस सोलह कला सम्पूर्ण प्रभु ने **प्रजया**=प्रजा के हेतु से, प्रजा के रक्षण के हेतु से **त्रीणि ज्योतींषि**=तीन ज्योतियों को **सचते**=धारण किया है। द्युलोक में सूर्य, अन्तरिक्षलोक में चन्द्र व विद्युत् तथा पृथिवीलोक पर अग्नि को प्रभु ने स्थापित किया है। प्रजा के रक्षण के लिए इन ज्योतियों की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है।

कितनी अद्भुत है यह सृष्टि! इसके निर्माता प्रभु 'षोडशी' हैं, सोलह कला सम्पूर्ण हैं, वे पूर्ण हैं तभी तो उनकी बनायी यह सृष्टि भी पूर्ण हैं। 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'=पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। उस षोडशी प्रभु ने जीव में भी 'प्राण, श्रद्धा' आदि सोलह कलाओं को जन्म दिया है। ५. **संरराणः**=सम्यक् रमण=क्रीडा करते हुए प्रभु इस संसार का निर्माण करते हैं। संसार को प्रभु की क्रीडा के रूप में देखना ही ठीक रूप में देखना है। यही तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानवाला व्यक्ति कष्टों से ऊपर उठ जाता है। खेल में लगी चोट क्रोध का कारण नहीं बनती। उस चोट के सहने में गौरव का अनुभव होता है। देव वही हैं जो प्रभु के साथ इस क्रीडा में सम्मिलित होते हैं 'दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः'। देव खेलते हैं। इससे वे खिझते नहीं। देव ही महादेव का सान्निध्य प्राप्त करते हैं। ये स्वयं उस ब्रह्म-जैसे

बन जाते हैं।

भावार्थ—संसार को प्रभु की क्रीड़ा के रूप में देखना ही तत्त्वज्ञान है। प्रभु ने जिन तीन ज्योतियों को धारण किया है, उन्हीं को धारण करना कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उग्रता व दृढ़ता, कर्म, अकर्म, विकर्म

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ढा येन॒ स्व॒ स्तभि॒तं येन॒ नाक॑ः।
योऽअ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मान॒ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥६॥

१. **येन**=जिसने **द्यौः**=द्युलोक को **उग्रा**=बड़ा तेजस्वी बनाया है। द्युलोक में सूर्य व सितारे चमक रहे हैं। उनकी ज्योति से यह जगमगा रहा है। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। इसे भी ब्रह्मज्ञान के सूर्य से तथा विविध विज्ञानों के नक्षत्रों से दीप्त करना है। २. **च**=और जिसने **पृथिवी**=पृथिवीलोक को **दृढा**=दृढ़ बनाया है। **'पृथिवी शरीरम्'**=यह शरीर ही पृथिवीलोक है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, इतने आघातों को सहती हुई यह पृथिवी कम्पित नहीं हो उठती, आकाश से होनेवाली बूँदों व ओलों के आघातों को शान्तिपूर्वक सहनेवाली यह 'क्षमा' है, 'धरा' है, सहनेवाली है, धारण करनेवाली है। ठीक इसीप्रकार हमारा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो। ३. **येन**=जिस प्रभु ने **स्वः**=स्वर्गलोक को **स्तभितम्**=थामा है, आधार दिया है। 'स्वर्गकामो यजेत'=इस स्वर्ग को शास्त्रनिष्ठ लोग वेदविहित यज्ञों के द्वारा प्राप्त किया करते है। इन यज्ञों के द्वारा **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा कर्मकाण्डी स्वर्ग प्राप्त करते है। 'आयुः, प्राणम्, प्रजाम्, पशुम्, कीर्तिम्, द्रविणम्, ब्रह्मवर्चसम्=ब्रह्मवेद के मन्त्र के अनुसार वहाँ स्वर्ग में दीर्घायुष्य है, प्राणशक्ति है, उत्तम गवादि पशु हैं, उत्तम प्रजा है, कीर्ति है, सम्पत्ति है, ब्रह्मतेज है। इन सब वस्तुओं के होने पर घर सचमुच स्वर्ग बन जाता है। ४. **येन**=जिस प्रभु ने **नाकः**=मोक्षलोक को **स्तभितम्**=थामा है। उन्हीं यज्ञों को जब ये लोग निष्काम होकर करते हैं तब ये यज्ञादि कर्म ही अकर्म हो जाते हैं। सङ्ग व फल को छोड़कर किये गये ये यज्ञ मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं। **ब्रह्म**=अथर्ववेद की समाप्ति पर कहा है कि इन 'आयु-प्राण' आदि को **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'**=मुझे लौटाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करलो। कामना से ऊपर उठकर किये गये कर्म ही अकर्म हो जाते हैं और इनसे मनुष्य मोक्ष=नाकलोक का लाभ करता है। ५. **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस अन्तरिक्ष में **रजसः**=लोक-लोकोन्तरों को **विमानः**=विविध उद्देश्यों से बना रहे हैं। शास्त्रविरुद्ध कर्म ही विकर्म हैं, इन विकर्मियों के लिए ही विविध लोकों का निर्माण किया गया है। कर्मानुसार उस-उस लोक में जीव को वे प्रभु जन्म देते हैं। ६. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=दिव्य गुणों के पुञ्ज व देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा** =दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। प्रभु आनन्दमय हैं, चूँकि देनेवाले हैं और दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं। आनन्द-प्राप्ति का उपाय दान व दिव्य गुणों को अपनाना ही है। उस प्रभु की पूजा का प्रकार भी उस प्रभु की भाँति देनेवाला बनना है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, शरीर दृढ़ हो, हम यज्ञादि कर्मों से स्वर्ग का लाभ करें, कामना से ऊपर उठकर मोक्ष को प्राप्त करें। कभी भी विकर्मों में फँसकर लोक-लोकान्तरों में भटकें नहीं। प्रभु की भाँति दानशील बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म। देवता—परमात्मा। छन्दः—अतिजगती। स्वरः—निषादः।

उपाय पंचक

यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूरऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥७॥

१. **यम्**=जिस प्रभु का **क्रन्दसी**=आह्वान करनेवाले—प्रभु को पुकारनेवाले, प्रभु के द्वार पर थपथपानेवाले (knock, and it will be opened to you) पति-पत्नी **अभ्यैक्षेताम्**=देखते हैं। संसार में मनुष्य विशेष आयु में आकर गृहस्थ में प्रवेश करता है, इसलिए कि किसी का सहारा लेकर वह इस अश्मन्वती नदीरूप संसार को तैर जाए। इस प्रलोभनमय संसार में बचे रहना बड़ा कठिन है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र से बना 'पत्नी' शब्द संकेत कर रहा है कि पति-पत्नी ने उस यज्ञप्रभु को अवश्य पुकारना, उसका अवश्य ध्यान करना, संध्या करनी। २. प्रभु का दर्शन वे ही पति-पत्नी कर पाते हैं जो **अवसा**=रक्षण के द्वारा **तस्तभाने**=अपनी इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकते हैं। इस प्रत्याहार से बहिर्मुख यात्रा को समाप्त कर मनुष्य अन्तर्मुख यात्रा करता है, और अन्तःस्थित प्रभु को देखता है। ३. फिर, उस प्रभु को वे पति-पत्नी देखते हैं, जो **मनसा रेजमाने**=मन से चमकते हैं। जिनके मन में राग-द्वेष का मालिन्य नहीं है (रेज्=to shine)। ४. 'क्रन्दसी व रेजमाने' का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क्रन्द=रोदन) जो अपने पापों के लिए क्रन्दन करते हैं और अन्त में उन पापों के भय से मन में काँप उठते हैं। वस्तुतः 'अपने पापों' को स्वीकार confession और प्रभु से भयभीत होना' भी अपने को पवित्र बनाने के लिए आवश्यक है। जो प्रभु से भयभीत होता है, उसे किसी दूसरे से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं रहती। ५. वे उस प्रभु को देखते हैं **यत्राधि**=जिसकी अध्यक्षता में **उदितः सूरः**=उदय हुआ-हुआ सूर्य **विभाति**=चमकता है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=प्रभु की ज्योति से ही सब चमक रहा है। उस **कस्मै देवाय**=आनन्दमय दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। (गतमन्त्र में विस्तार देखिए)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के उपाय निम्न हैं १. प्रभु को पुकारना, प्रभु की प्रार्थना करनी। २. इन्द्रियों का दमन। ३. मन को निर्मल करना। ४. दानपूर्वक अदन। ५. पापों का स्वीकार कर प्रभु से भय मानना।

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म। देवता—परमात्मा। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वेन का प्रभुदर्शन

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥८॥

१. 'वेन' शब्द वेन् धातु से बना है। इसके अर्थ हैं (क) क्रियाशील—to go, to move, (ख) ज्ञान प्राप्त करनेवाला—to know, (ग) प्रभु का पुजारी to worship। एवं, **वेनः**=क्रियाशील, ज्ञानी, प्रभुभक्त व्यक्ति **तत्**=उस प्रभु को **पश्यत्**=देखता है। प्रभु के दर्शन के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' का समन्वय आवश्यक है। २. वेन उस प्रभु को देखता है जो **गुहा निहितम्**=हृदयरूप गुहा में निहित हैं। प्रभु तक वही पहुँचता है जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमयकोशों को पार करके आनन्दमयकोश में पहुँचता है। यही अन्तर्मुख यात्रा हमें प्रभु तक ले-जाती है। वे प्रभु गुहा में विचरनेवाले हैं। उनको ढूँढने के लिए हमें

कहीं बाहर थोड़े ही भटकना है? ३. **सत्**=वे प्रभु सत् हैं। यद्यपि प्रकृति व जीव भी सत् हैं तथापि प्रकृति सदा विकृत होती रहती है और जीव भी विविध शरीरों को धारण करता है और इस प्रकार इनमें परिवर्तन है, प्रभु एकरस, निर्विकार, सत्-ही-सत् हैं। 'सत्' शब्द की भावना यह भी है कि हम प्रभु को मिलने जाते हैं तो वे सदा सत्=उपस्थित होते हैं, उनके अनुपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे सर्वव्यापक हैं, मेरे जाने की देर है, जाऊँगा दरवाज़ा थपथपाऊँगा तो प्रभु मिलेंगे ही, दरवाज़ा खुलेगा ही। ४. ये प्रभु वे हैं **यत्र**=जिनमें **विश्वम्**=यह सारा संसार **एकनीडम्**=एक घोंसलेवाला **भवति**=होता है। जैसे एक घर में परस्पर प्रेम का अनुभव होता है, इसी प्रकार प्रभु का अनुभव करने पर यह सारी वसुधा एक परिवार प्रतीत होने लगती हैं, हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं। ५. **तस्मिन्**=उस प्रभु में **इदं सर्वम्** =यह सारा जगत् प्रलयकाल के समय **सम् एति**=समा जाता है **च**=और सृष्टिकाल में **विएति**=विविध रूपों में गति करने लगता है। प्रलय में भी कारणरूप प्रकृति का आधार प्रभु है और सृष्टि में भी सब लोक-लोकोन्तरों का आधार वे प्रभु ही हैं। ६. **सः**=वे प्रभु **ओतः च प्रोतः च**=इस संसार में ओत-प्रोत हैं। संसार-वस्त्र के वे प्रभु ही ताने-बाने के सूत्र हैं। वे प्रभु **प्रजासु**=सब प्रजाओं के अन्दर **विभूः**=व्याप्त होकर रह रहे हैं।

प्रभु त्र्यम्बक है। 'त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य'=यह विग्रह की परिपाटी चली आ रही है। इसे 'त्रीणि अम्बकानि यस्मै' इस रूप में कर दें तो अर्थ का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उस प्रभु के देखने के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' रूप तीन आँखें हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए ज्ञान, क्रिया व भक्ति का समुच्चय आवश्यक है। वे प्रभु हृदय में ही निहित हैं, सर्वव्यापक हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'अमृत-धाम-सत्' : पिता का भी पिता

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥९॥

१. **विद्वान्**=जो ज्ञानी है, जिसका आगम अत्यन्त सुन्दर है, जिसने गुरुओं से स्वाध्यायादि करके खूब मनन किया है। **गन्धर्वः**=जो गाम्=वाणी को धारण करनेवाला है, वाक्शक्ति का ईश है, जो किसी भी बात का प्रतिपादन बड़ी सुन्दरता से कर सकता है। वह विद्वान् गन्धर्व **नु**=अब **तत्**=उस ब्रह्म का **प्रवोचेत्** =प्रवचन करे। २. किस प्रभु का? जो प्रभु (क) **अमृतम्**=अमृत हैं, प्रभु स्वयं जन्म-मृत्यु से ऊपर हैं। 'न मृतं यस्मात्'=प्रभु का स्मरण करनेवाला भी मृत्यु से ऊपर उठ जाता है। (ख) **धाम**=ये प्रभु तेज के पुञ्ज हैं (धाम=तेजस्) अथवा ये प्रभु सबके **धाम**=घर हैं। यही भावना गत मन्त्र में 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' शब्द से कही गई थी। वे प्रभु सबके अद्वितीय आधार हैं। (ग) **विभृतं गुहा**=ये प्रभु बुद्धिरूप गुहा में निहित हैं। यह हृदय-स्थली ही 'परम-परार्ध' कहलाती है। यहाँ प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवासस्थान है। विशेषकर इसलिए कि यहाँ प्रभु का दर्शन होना है। (घ) **सत्**=वे प्रभु पूर्ण निर्विकार हैं अथवा सदा उपस्थित हैं। मैं मिलने जाऊँ और वे घर पर न हों यह नहीं हो सकता। ३. एवं, वे प्रभु 'अमृत' हैं, 'धाम' हैं और 'सत्' हैं। **अस्य**=उस प्रभु के **त्रीणि पदानि**=ये तीन पद गुहा **निहिता**=गुहा में निहित हैं, अर्थात् अत्यन्त गुह्य=रहस्यमय हैं। **यः**=जो **तानि**=प्रभु के इन तीन पदों को, ज्ञेय बातों को

वेद=जानता है **सः**=वह **पितुः** =पिता का भी **पिता असत्**=पिता होता है। ज्ञान को देनेवाला 'पिता' कहलाता है। प्रभु के तीन पदों को जाननेवाला ज्ञानियों का भी ज्ञानी होता है, अतः इसे यहाँ पिता का भी पिता कहा है।

भावार्थ—उस 'अमृत, सत्, धाम' का प्रवचन ज्ञानी लोग करें। हम प्रभु के इन पदों को जानकर पिताओं के पिता—ज्ञानियों के भी ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तृतीय धाम

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥१०॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **बन्धुः**=बन्धु हैं। बन्धु शब्द में मौलिक भावना 'बन्धन' की है। रिश्तेदार भी 'बन्धु' इसीलिए कहलाते हैं कि वे हमें एक बन्धन में बाँध देते हैं। २. **जनिता**=वे प्रभु हमें जन्म देनेवाले हैं, पिता हैं। कर्मानुसार उस-उस योनि में जन्म देने के कारण वे प्रभु हमारे 'जनिता' हैं। ३. वे प्रभु **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों को तथा **धामानि**=उन लोकों में उस-उस घर को तथा तेज को वे प्रभु **वेद**=हमें प्राप्त कराते हैं (विद् लाभे) 'यथाकर्म यथा श्रुतम्'=हमारे कर्म व ज्ञान के अनुसार वे प्रभु हमें उस-उस लोक में तथा उस-उस योनि में जन्म देते हैं। ये सब लोक-लोकान्तर भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार जन्म देने के लिए ही प्रभु ने निर्मित किये हैं। उन-उन लोकों में दिये गये शरीर 'धाम' हैं और इन शरीरों में प्राप्त करायी गई शक्ति भी 'धाम' है। ५. **यत्र**=जिस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृतमानशानाः**=उस 'अमृत' प्रभु का सेवन करते हुए **तृतीये धामन्**=तृतीय स्थान में **अध्यैरयन्त**=विचरते हैं। (क) असुर लोग तमोगुण में विचरते हुए प्राकृतिक भोगों को ही परम ध्येय बनाते हैं। (ख) असुरों से ऊपर मनुष्य हैं। कुछ मनन-चिन्तन करने के कारण ये भोगों से कुछ ऊपर उठकर तमोगुण से ऊपर रजोगुण में विचरते हैं तथा शक्ति व यश को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये नाना प्रकार के लोकहितकारी कार्यों को करके यशोलाभ करते हैं। (ग) इनसे भी ऊपर देव लोग हैं, ये सत्त्वगुण में अवस्थित हुए-हुए उस प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये प्रभु ही तृतीय धाम हैं। देव सदा प्रभु में विचरते हैं। तृतीय धाम का चित्रण निम्न कोष्ठक से स्पष्ट है—

प्रथम : तमस्, असुर, प्रकृति, भोग व स्वार्थ
द्वितीय : रजस्, मनुष्य, जीव, यश, स्वार्थ, विरुद व परार्थ
तृतीय : सत्त्व, देव, परमात्मा, अमृतत्व व परार्थ

भावार्थ—इस शरीर में हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में विचरते हुए प्रकृति व जीव से परे उस तृतीय धाम प्रभु में विचरें। इसी से हम अमृतत्त्व का लाभ कर सकेंगे।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु में प्रवेश

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥११॥

१. **आत्मना**=मन से **आत्मानम् अभि सम् विवेश**=परमात्मा में प्रवेश करता है। सामान्यतः मनुष्य मन से संसार में विचरता रहता है, परन्तु जब मनुष्य अपने मन को प्रभु में लगाता है तब निम्न चार बातें करता है २. **भूतानि परीत्य**=प्राणियों को समझकर। जिस समय हम समाज में अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, उस समय यदि उनकी मनोवृत्ति को बिना समझे बात करते हैं तब झगड़े उठ खड़े होते हैं और चित्त अशान्त हो जाता है और 'अशान्त मनवाला प्रभु को पाएगा' यह तो सम्भव ही नहीं **'नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'**। सबकी मनोवृत्ति को हम समझें और तदनुसार वर्तते हुए अपने मनों को अशान्त न होने दें। समाजशास्त्र के नियमों के अनुसार वर्तते हुए अपने जीवन को शान्त रखें। ३. **परीत्य लोकान्**=सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रादि सब लोकों को अच्छी प्रकार समझकर। (परि+इ=to understand fully) (क) इन सब लोकों को व तत्रस्थ पदार्थों को अच्छी प्रकार समझकर ही तो हम इनका ठीक प्रयोग करेंगे और रोगों से बचे रहेंगे। (ख) साथ ही इन लोकों का ज्ञान हमें इनके अन्दर प्रभु की महिमा का भी दर्शन कराएगा। अणु की रचना का चमत्कार किस वैज्ञानिक को मुग्ध नहीं कर देता? नाममात्र स्थान परिवर्तन से खाँड का सीरा बन जाना किसको चकित नहीं कर देता? ४. **सर्वाः**=सब **प्रदिशः**=अवान्तर दिशाओं में तथा **दिशः**=पूर्वादि दिशाओं में **परीत्य**=खूब भ्रमण करके। (क) भ्रमण से मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक बनता है, ज्ञान बढ़ता है और मनुष्य कूपमण्डूक नहीं बना रहता। (ख) उस-उस प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को भी अनुभव करता है। ५. **ऋतस्य**=पूर्ण सत्य प्रभुकी **प्रथमजाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उच्चारण की गई वेदवाणी की **उपस्थाय**=उपासना करके, अर्थात् प्रतिदिन वेदवाणी का स्वाध्याय भी हमारे मनों व बुद्धियों को परिष्कृत करके हमें प्रभु के समीप पहुँचाने में सहायक होता है। एवं, प्रभु प्राप्ति के चार साधन हैं। १. जीव के मनोविज्ञान को समझना और तदनुसार व्यवहार करके झगड़ों से बचते हुए मन को शान्त रखना। २. प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन से वस्तुओं के गुण-धर्म को समझकर, उनके ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग बनाना। ३. व्यापक भ्रमण से दृष्टिकोण को व्यापक बनाना, उस-उस प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को अनुभव करना। बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनकर सर्वज्ञ प्रभु की समीपता में स्थित होना। ४. प्रभु की वेदवाणी के अध्ययन से शरीर-मन व बुद्धि का परिमार्जन करना।

भावार्थ—मनोविज्ञान व विज्ञान के अध्ययन, भ्रमण तथा स्वाध्याय से हम अपने मन को प्रभु की ओर जानेवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—परमात्मा। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दर्शन व तन्मयता

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं वितंतं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥१२॥

१. यहाँ पिछले मन्त्र के 'भूतानि' पद का स्थान 'द्यावापृथिवी' ने ले-लिया है। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले प्राणियों के मनोभावों को **सद्यः**=शीघ्र ही **परि+इत्वा**=खूब समझकर। २. **परि लोकान्**=सब लोकों को समझकर। इनको समझना इनके ठीक प्रयोग के लिए आवश्यक है। प्रभु की महिमा तो इन्हीं में दिखती है। ३. **दिशः परि**=सब दिशाओं में भ्रमण करके। भ्रमण से हम बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनेंगे। सृष्टि का वैविध्य हमें विविधता के निर्माता का स्मरण कराएगा। **स्वः परि**=इस स्वयं

देदीप्यमान ज्योति सूर्य (स्वयं राजते) को देखकर। सूर्य प्रभु की सर्वमहान् विभूति है। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (यजुः) यह आदित्य में दिखनेवाला पुरुष ही तो वह परमात्मा है। ५. वे प्रभु 'ऋत' हैं और उस प्रभु में ही ये सारे लोक-लोकान्तर पिरोये हुए हैं। एवं, यह ऋत का तन्तु सब लोकों में ओत-प्रोत है। इस **ऋतस्य तन्तुम्**=ऋत के तन्तु को जो **विततम्**=सारे लोकों में विस्तृत है, **विचृत्य**=विश्लिष्ट रूप से जानकर **'मुञ्जादिव इषीकाम्'**=मुञ्ज को हटाकर जैसे सींक को देखते हैं, उसी प्रकार अन्नमयादि कोशों को अलग करते हुए मनुष्य क्रमशः अन्न से प्राण में, प्राण से मन में, मन से विज्ञान में और विज्ञान से आनन्द में पहुँचता हुआ **तत् अपश्यत्**=उस प्रभु को देखता है। प्रभु को देखता क्या है? **तत् अभवत्**=प्रभु-जैसा ही हो जाता है। उस प्रभु की लाली मुझे भी लाल कर देती है। उस प्रभु की अग्नि में पड़कर मैं भी अग्नि के समान चमकने लगता हूँ। **तत् आसीत्**=उस प्रभु-जैसा ही तो वह जीव था। इसका साधर्म्य प्रकृति के साथ न होकर प्रभु के साथ ही तो था। प्रभु की तरह यह भी 'चित्' ही था। हाँ, अल्पज्ञता के कारण इसपर राग-द्वेषादि मलों का एक आवरण चढ़ गया था। आज प्रभु को देखकर यह उस आवरण को परे फेंककर उस-जैसा हो गया है। जीव प्रभु का ही तो छोटा रूप है। प्रभुरूप मणि तो अत्यन्त विशाल व महान् होने से मलिन ही नहीं होती, जीवरूप छोटी मणि अवश्य मलिन हो गई थी, परन्तु आज सब मल और भेद-भाव समाप्त होकर जीव प्रभु-जैसा दिखने लगता है।

भावार्थ—हम ठीक व्यवहार से मन को शान्त, वस्तुओं के ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग, भ्रमण से दृष्टि को विशाल, सूर्य-दर्शन से प्रभु-महिमा का दर्शन करके उस ऋत के वितत तन्तु का विश्लेषण करें और प्रभु का दर्शन कर प्रभु-जैसे ही बन जाएँ।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

बुद्धिवाद के परिणाम

सद॑स॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म्। स॒निं मे॒धाम॑यासिष॒ꣳ स्वाहा॑॥१३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है कि मैं **सदसः पतिम्**=ब्रह्माण्डरूप घर के पति, **अद्भुतम्**=अभूतपूर्व, आश्चर्यमय **इन्द्रस्य प्रियम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष को प्रीणित करनेवाले **काम्यम्**=चाहने में उत्तम (सभा में उत्तम 'सभ्य' की भाँति) **सनिम्**=संभजन, संविभाग करनेवाले उस प्रभु से **मेधाम्**=बुद्धि को **अयासिषम्**=माँगता हूँ। २. इस उल्लिखित अर्थ में आपाततः यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'तेजोसि तेजो मयि धेहि' में जैसे तेजस्वी प्रभु से तेज की याचना हुई, इस प्रकार यहाँ भी बुद्धि की याचना बुद्धि व ज्ञान के पुञ्ज प्रभु से करनी चाहिए थी न कि 'सदसस्पति व अद्भुत' प्रभु से। कपड़ेवाले से आलू माँगना मूर्खता नहीं तो और क्या है? इस शङ्का का निवारण यह सोचने से हो सकता है कि प्रभु को पाँच नामों से स्मरण करने की क्या आवश्यकता थी? क्या एक नाम से सम्बोधित करके बुद्धि नहीं माँगी जा सकती? ३. वस्तुतः वैदिक साहित्य की इस शैली को हमें समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'अमानित्वम् अदम्भित्वम्'=घमण्ड न करना, दम्भ से ऊपर उठना ही ज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान एक वृक्ष है जिसपर अमानित्व व अदम्भित्वरूप फल लगते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी मनुष्य बुद्धि को प्राप्त करके 'सदसस्पति' आदि विशेषणोंवाला बनता है। ५. बुद्धि को अपनाने का प्रथम परिणाम यह होता है कि मनुष्य 'स्वप्रेम, गृहप्रेम, प्रान्तप्रेम व राष्ट्रप्रेम से ऊपर उठकर

'विश्वप्रेम' की ओर बढ़ता है। यह विश्वप्रेम उत्पन्न होने पर ही मनुष्य **'न वियन्ति'**=विरुद्ध दिशाओं में न जाकर, मिलकर चलते हैं और युद्धों का अन्त हो जाता है। मनुष्य 'सदसस्पति' बनता है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मानने लगता है। ५. **अद्भुतम्**=बुद्धि को प्राप्त करके मनुष्य अद्भुत उन्नति करता है। अभूतपूर्व स्थिति को प्राप्त करता है, इतनी उन्नति करता है जितनी पहले कोई प्राप्त कर न पाये थे, अतः इसकी उन्नति आश्चर्यजनक होती है। ६. **इन्द्रस्य प्रियम्**=बुद्धिवादी मनुष्य विषयों की विषयता (बन्धन) को समझता हुआ उनमें फँसता नहीं और परिणामतः जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय होता है। ७. **काम्यम्**=प्रभु तो कामना में उत्तम हैं ही वे किसी से द्रोह व द्वेष करें, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। बुद्धिवादी देवलोग भी **'नो च विद्विषते मिथः'**=आपस में द्वेष नहीं करते। वे सदा सभी का भला चाहते है। शत्रुओं व अपकारियों का भी वे उपकार करते हैं और इस प्रकार उनके जीवन को बदलकर वे अपकारी को उपकारी बना डालते हैं। ८. **सनिम्**=वे प्रभु संविभाग करनेवाले है। प्रभु किसको भोजन नहीं देते? हाँ, कोई-कोई प्राप्त भोजन को गिरा बैठते हैं और परेशान होते हैं। मैं भी बुद्धिवाद को अपनाता हुआ बाँटना सीखूँ। एवं, बुद्धिवादी मनुष्य 'विश्वप्रेम' सीखता है, अभूतपूर्व उन्नति कर पाता है। जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय बनता है, सभी का भला चाहता है और सम्पत्ति का संविभागपर्वूक सेवन करता है। ९. **स्वाहा**=(क) (सु आह) यह बुद्धि की प्रार्थना बड़ी उत्तम हुई है, इससे उत्कृष्ट प्रार्थना हो ही क्या सकती है? (ख) (स्व-हा) इस बुद्धि को पाने के लिए स्व का त्याग आवश्यक है। १०. 'सदसस्पति' प्रभु की उपासना विश्वप्रेम के द्वारा ही हो सकती है, 'अद्भुत' प्रभु अभूतपूर्व उन्नति से ही उपस्थित होते हैं, 'इन्द्र के प्रिय' प्रभु को जितेन्द्रिय पुरुष ही प्रसन्न कर पाता है, 'काम्य' प्रभु की उपासना हम सबके भले की कामना करके ही कर पाते हैं और 'सनिम्' प्रभु हमारे संविभागपूर्वक खाने से ही प्रसन्न होंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन में बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप 'विश्वप्रेम, अद्भुत उन्नति, जितेन्द्रियता, अद्रोह-अद्वेष तथा संविभागपूर्वक खाने की प्रवृत्ति प्रवृत हो।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवगण व पितरों से उपासित बुद्धि—मेधावी

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥१४॥

१. **याम्**=जिस **मेधाम्**=बुद्धि की **देवगणाः**=देवगण **पितरः च**=और रक्षक लोग **उपासते**=उपासना करते हैं **तया मेधया**=उस मेधा से **माम्**=मुझे **अद्य**=आज **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **मेधाविनम्**=मेधावाला **कुरु**=कीजिए। **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करता हूँ। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को 'अग्ने' नाम से सम्बोधित करके संकेत किया है कि सारी उन्नति बुद्धि पर ही निर्भर है। यह बुद्धि 'मेधा' है, मेरा धारण करनेवाली है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'=बुद्धिनाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है। देवता जिसका नाश चाहते हैं, उसकी बुद्धि हर लेते हैं। ३. मेधा वही ठीक है जिसकी देवगण उपासना करते हैं न कि दानव। बुद्धि का ग़लत प्रयोग मनुष्य को दानव भी बना देता है। क्या अणुबम्बों को बनाकर मनुष्य दानव नहीं बन गया? इसी अणुशक्ति का प्रयोग यन्त्रों के सञ्चालन में होकर मानवहित की साधना भी हो सकती है, अतः मुझे वही मेधा चाहिए जिसकी देव

उपासना करते हैं। ४. बुद्धि वही ठीक है जो मुझे रक्षक बनाती है। मैं बुद्धि का प्रयोग औरों के ध्वंस में न करूँ। निज जीवन में जो बुद्धि मुझे 'देव' बनाती है, वही बुद्धि सामाजिक जीवन में मुझे 'पितर' बनाती है। ५. इस बुद्धि को मैं आज ही प्राप्त कर सकूँ। इस बुद्धि को जितना शीघ्र प्राप्त कर सकें उतना ही ठीक। इसमें जितनी देर होती है उतना ही हानिकारक है।

भावार्थ—प्रभु मुझे बुद्धि दें, जिससे मैं देव व 'पितर'=रक्षक बन पाऊँ। सदा उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाऊँ।

ऋषिः—मेधाकामः। देवता—परमेश्वरविद्वांसौ। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

धारण-मार्ग

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥१५॥

१. **मे**=मुझे **वरुणः**=वरुण **मेधाम्**=बुद्धि को **ददातु**=दे। वरुण का अर्थ है जो वरण करता है (one who elects) और इस प्रकार श्रेष्ठ (वरुण=वर=श्रेष्ठ) बनता है। संसार में 'प्रेय व श्रेय' में यदि मन्दबुद्धिता से मैंने प्रेय का वरण कर लिया तो लक्ष्य तक न पहुँच पाऊँगा। श्रेय का वरण करके श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर बनता चलूँगा। 'प्रातः उठना' व 'प्रातः सो लेना' इसमें मैं जागरण का ही वरण करूँ, सोने का नहीं। २. **अग्निः**=अग्नि नामक प्रभु मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दें। इस बुद्धि पर ही तो मेरी सारी अग्रगति व उन्नति निर्भर करती है। बौद्धिक प्रकर्ष ही उन्नति का मापक है। ३. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु मुझे बुद्धि दें। उन्नत होकर मुझे प्रजा की रक्षा में लगना है। ४. **इन्द्रः च**=और इन्द्र मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दे। मेरी बुद्धि मुझे जितेन्द्रियता की ओर प्रेरित करे। मैं अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ। ५. **वायुः च**=और वायु मुझे बुद्धि दे। 'वा गतौ' मैं सदा क्रियाशील बना रहूँ। क्रियाशीलता से ही तो इन्द्रियों की शक्ति बनी रहेगी और वे कुमार्ग में न जाएँगी। आलस्य ही सब व्यसनों का मूल है। ६. **धाता**=सर्वधारक प्रभु **मे**=मुझे **मेधाम्**=बुद्धि **दधातु**=धारण कराए। **स्वाहा**=इस बुद्धि के धारण के लिए मैं त्याग करता हूँ। बुद्धि के द्वारा ही मैं अपना धारण करनेवाला बनता हूँ। वस्तुतः प्रभु के उक्त नामों में धारण के मार्ग का संकेत है। (क) ठीक चुनाव करके (वरुण), आगे-और-आगे बढ़ते चलना (अग्नि), निजू उन्नति करके प्रजारक्षण कार्य में लगे रहना (प्रजापति), प्रजारक्षण की योग्यता-वृद्धि के लिए जितेन्द्रिय बनना (इन्द्र), और जितेन्द्रियता के लिए सदा क्रियाशील जीवन बिताना (वायु) यही धारण मार्ग है (धाता)। जो मनुष्य अपना धारण व अविनाश चाहता है, उसे उल्लिखित मार्ग ही अपनाना होगा। ७. धारण के लिए, विनाश से बचने के लिए प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधाकाम' मेधा की कामना करता है। मेधा प्राप्त करके यह योग्य मार्ग का वरण करता है, उसपर चलकर यह अधिकाधिक उन्नत होता चलता है और प्रजारक्षण के कार्य में व्याप्त रहकर यह जितेन्द्रिय बनता है, सदा क्रियाशील रहता है। इस प्रकार अपना धारण करता हुआ यह वास्तविक 'श्री' को प्राप्त करता है। इस 'श्री' का ही उल्लेख अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—मैं 'वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु व धाता' इन नामों से सूचित मार्ग को अपनाऊँ। मेरी बुद्धि श्रेष्ठ हो और ठीक मार्ग को अपनाकर मैं अपना धारण कर सकूँ।

ऋषिः—श्रीकामः। देवता—विद्वद्राजानौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

श्री त्रितय (ब्रह्मश्री, क्षत्रश्री, देवश्री) ज्ञान+बल+विनय (उत्–उत्तर–उत्तम) Head, Hand, Heart

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥१६॥

१. **इदम्**=यह **मे**=मेरा **ब्रह्म च**=ज्ञान **क्षत्रम् च**=और बल **उभे**=दोनों **श्रियम्**=श्री को **अश्नुताम्**=प्राप्त करें। 'ब्रह्म' शब्द बृहि वृद्धौ से बनकर 'बढ़ानेवाले' अर्थ का वाचक है। ज्ञान ही सब वृद्धियों का मूल है, अतः ब्रह्मशब्द 'ज्ञान' का वाचक हो जाता है। यही ज्ञान अन्ततः सदावृद्ध 'ब्रह्म' का दर्शन कराता है। 'क्षत्र' शब्द मूल में 'क्षत से त्राण' (चोट से रक्षा) की भावना को कहता है। चोट से रक्षा बल के द्वारा होती है, अतः क्षत्र शब्द बल का वाचक हो गया है। 'बल' कर्म से उत्पन्न होता है, अतः 'क्षत्र' कर्म का प्रतीक हो जाता है। 'क्षत्र' उस वृक्ष को कहते हैं जिसके फूल-फल तो 'चोट से रक्षण' हैं, तना व शाखाएँ बल हैं और मूल कर्म है। एवं ब्रह्म का अभिप्राय ज्ञान है, क्षत्र का अभिप्राय कर्म व बल है। मुझमें ये दोनों ही फूलें व फलें। मेरा ज्ञान भी बढ़े, मेरा बल व क्रियाशक्ति भी बढ़े। ज्ञान के विकास से मेरी श्री 'उत्' (उत्कृष्ट) होगी, बल व क्रिया के विकास से वह 'उत्तर' (अधिक उत्कृष्ट) हो जाएगी। केवल ज्ञान की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति बड़ी सुन्दर है, परन्तु हाथ कटे हैं। कर्म व बल की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति तो सुन्दर है ही, हाथ भी बड़े सुन्दर हैं। २. मुख भी सुन्दर हो, हाथ आदि भी सुन्दर हों, परन्तु यदि उसका हृदय काला हो तो वह युवति उस बेर से ही उपमा देने योग्य होती है, जो केवल बाहर से सुन्दर है। इससे तो कुरूप परन्तु उत्तम हृदयवाली युवति ही ठीक है जो नारियल के समान बाहर से सुन्दर न होती हुई भी अन्दर से मधुरजल से पूर्ण है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **मयि**=मुझमें **देवाः**=दिव्यगुण **उत्तमाम् श्रियम्**=उत्तम श्री को **दधतु**=धारण करें। मेरे हृदय में दिव्यता हो, दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा 'नातिमानिता' में है। मेरा हृदय अभिमान—घमण्ड से रहित हो। उसमें विनीतता हो। मस्तिष्क में ब्रह्म, हाथों में क्षत्र तथा हृदय में दिव्यता व विनय—यही जीवन का चरमोत्कर्ष है। मानव-जीवन की यात्रा की पूर्णता इस दिव्यता में ही है। मस्तिष्क Head की पूर्णता ज्ञान से, हाथ Hand की क्षत्र से व हृदय Heart की पूर्णता दिव्यता से होती है। इन तीनों के पूर्ण होने में ही पूर्णता है। ३. यह **श्री**=लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। विष्णु त्रिविक्रम हैं। यदि मनुष्य केवल **ब्रह्म**=ज्ञान को महत्त्व देता है तो वह **एक-विक्रम** होता है, **क्षत्र**=बल को भी अपनाने पर वह **द्वि-विक्रम** हो जाता है और दिव्यता को अपनाने पर वह **त्रिविक्रम** बनता है। वस्तुतः अब वह श्री-पति बन जाता है। ४. **तस्यै**=उस उत्तम श्री के लिए मैं **ते**=हे प्रभो! आपके प्रति **स्वाहा**=(स्व-हा) अपना समर्पण करता हूँ। प्रभु चित्रकार हैं, जीवरूप चित्र का अच्छा बनना इसी बात पर निर्भर करता है कि यह चित्रकार को चित्र बनाने दे, किसी प्रकार का विघ्न न करे तभी तो प्रभु उसे अपने अनुरूप बनाएँगे।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा हमारी श्री उत्कृष्ट हो, ज्ञान+बल के द्वारा वह उत्कृष्टतर हो, और ज्ञान+बल+दिव्यता से वह उत्कृष्टतम हो। इस श्री की प्राप्ति के लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। हम वह चित्र हों, जिसके चित्रकार प्रभु हों।

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

अथ त्र्यस्त्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्नयः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभुभक्त का जीवन

अस्याजरासो दमामरित्राऽअर्चद्धूमासोऽअग्नयः पावकाः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः॥१॥

१. **अस्य**=इस प्रभु के भक्त **अजरासः**=जीर्ण नहीं होते। मनुष्य जब प्रकृति की ओर झुकता है तब भोगप्रवण होकर क्षीण होने लगता है। प्रभुभक्त प्रकृति में न फँसकर अक्षीण बना रहता है। २. ये प्रभुभक्त अक्षीण इसलिए बने रहते हैं कि ये **दमाम्**=दमन करनेवाली वासनाओं में से **अरित्राः**=शत्रुभूत वासनाओं से अपना त्राण करते हैं। काम-क्रोधादि वासनाएँ मनुष्य की शत्रुभूत हैं, उनसे यह प्रभुभक्त अपने को बचाता है, अतएव अक्षीण बना रहता है।

३. इन शत्रुभूत वासनाओं से ये अपने को इसलिए बचा पाते हैं कि ये **अर्चत्**=प्रभु की अर्चना करनेवाले होते हैं और इस प्रकार **धूमासः**=वासनाओं को प्रकम्पित करके दूर भगा देते हैं (अर्चन्तः धूमासः, धूञ् कम्पने)। ४. वासनाओं को कम्पित करके ये **अग्नयः**= अग्नि बनते हैं, आगे बढ़ते हैं। ५. इस प्रकार उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हुए ये अपने को **पावकाः**=पवित्र कर लेते हैं। भटकने से ही अपवित्रता आती है। न ये भटकते हैं, न अपवित्र होते हैं। ६. **श्वितीचयः**='श्वितिं चिन्वन्ति'=ये शुद्धता का सञ्चय करते हैं अथवा 'श्वितिं अञ्चन्ति=शुक्लमार्ग से ही गति करते हैं। निष्कामता से यज्ञों को करना ही शुक्ल मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए ये ७. **श्वात्रासः**=कल्याणवाले होते हैं अथवा उस ज्ञानरूप धनवाले होते हैं जो 'श्वि'=वृद्धि का हेतु व 'त्र' त्राण-रक्षण का कारण बनता है। ८. इस प्रकार वैयक्तिक जीवन को उल्लिखित सप्त रत्नों से भरकर ये **भुरण्यवः**=सब लोगों का भरण करनेवाले बनते हैं। ९. **वनर्षदः**=(वन्=worshipping, a ray of light) अपने खाली समय को ये पूजा में या ज्ञान-प्राप्ति में व्यय करते हैं (वन्=पूजा या ज्ञानप्राप्ति, सद्=बैठना)। १०. **वायवः न**=ये वायुओं के समान सदा गतिशील होते हैं और वायु की भाँति ही ये प्रजा में प्राण का सञ्चार करते हैं। ११. इस स्थिति में स्वाभाविक है कि लोगों से इन्हें मान व पूजा प्राप्त हो, परन्तु इन्हें चाहिए कि उस पूजा से अपने मस्तिष्क को विकृत न होने दें और **सोमाः**=सौम्य बने रहें। अधिक-से-अधिक आदृत, परन्तु अधिक-से-अधिक विनीत। इस प्रकार बनने पर ही ये प्रभु के **वत्स**=प्रिय होते हैं। ये अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन (वद=बोलना) कर रहे होते हैं और इसी कारण प्रभु को प्रीणित=प्रसन्न कर पाते हैं और इस मन्त्र के ऋषि 'वत्सप्री' होते हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त ग्यारह बातें हमारे जीवन में आनूदित हों और हम सच्चे प्रभुभक्त बनें।

ऋषिः—विश्वरूपः। देवता—अग्नयः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभुभक्त=धूमकेतु

हरयो धूमकेतवो वातजूताऽउप द्यवि। यतन्ते वृथगग्नयः॥२॥

१. गतमन्त्र-वर्णित प्रभुभक्त **हरयः**=औरों के दुःखों को हरण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः ये औरों के दुःखों को अपना बना लेते हैं और उसे दूर किये बिना शान्ति अनुभव नहीं करते। २. **धूमकेतवः**=(धूम=वासनाओं को कम्पित करना, **केतु**=ज्ञानवाला) इनका ज्ञान वासनाओं को दूर करनेवाला होता है। इस ज्ञान को देकर वासना-विनाश के द्वारा ये लोगों को दुःखों से ऊपर उठाते हैं। ३. **वातजूताः**=अपने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में ये वायु से प्रेरित होते हैं। वायु से प्रेरणा प्राप्त करके ये निरन्तर ज्ञान-प्रसाररूप कार्य में लगे रहते हैं। ४. जिनका ये हित कर रहे हैं वे लोग सम्भवतः इनके कृतज्ञ न होकर इनका अपमान भी कर दें, परन्तु ये तो **वृथक्**=वृथा ही, अर्थात् किसी भी प्रकार की फलाशा को न लेकर **उपद्यवि**=उस द्योतनात्मक प्रभु के चरणों में स्थित हुए-हुए **यतन्ते**=उद्योग में लगे रहते हैं। यह 'सर्वभूतहित में लगना ही तो सच्ची प्रभुभक्ति है. और अन्ततः ५. **अग्नयः**='अग्रेणीः' औरों को भी आगे ले-चलनेवाले होते हैं। स्वयं अग्नि बनकर ये औरों को भी अग्नि बना पाते हैं। लोकहित में लगे हुए ये सबमें अपने को ही देखते हैं और इस कारण 'विश्वरूप' हो जाते हैं, सभी के सुख में ये सुख का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम स्वयं अग्नि बनकर औरों को भी अग्नि बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्रीः**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत की तैयारी

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ२॥ऽऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'अग्नि' बनने के लिए हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप अग्नि हैं, आपके सम्पर्क से हम भी अग्नि बन पाएँगे। आप **नः**=हमारे साथ **मित्रावरुणा**=प्राण और अपान का **यज**=मेल कीजिए (यज= सङ्गतिकरण)। रोगों से (मि) बचाने के कारण (त्र) प्राण ही 'मित्र' है और रोगों का निवारण (**वरुण**) करने से अपान 'वरुण' है। इस प्राणापान की शक्ति से सङ्गत होकर हम नीरोग बनेंगे। स्वस्थ शरीर से हम अपनी जीवन-यात्रा को सफलता से सिद्ध कर पाएँगे। २. हे अग्ने! आप हमें प्राणापान के द्वारा स्वस्थ बनाकर **देवान्**=दिव्य गुणों को **यज**=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से जहाँ हमारा शरीर स्वस्थ हो वहाँ हमारा मन भी पूर्णरूप से स्वस्थ हो। इस मन से राग-द्वेष-मोहरूप मल नष्ट हो जाएँ और उसमें दिव्य गुणों का विकास हो। **'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः'**=देव न परस्पर विरुद्ध गति करते हैं, न ही परस्पर द्वेष करते हैं। हम भी द्वेष से ऊपर उठकर देव बनें। ३. हे प्रभो! **ऋतम्**=ऋत को **यज**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। **ऋत**=right=ठीक—ठीक वह है जो ठीक स्थान पर हो और ठीक समय पर हो। प्रभो! हम आपके अनुग्रह से सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाले हों, क्योंकि यह ऋत ही **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि का कारण बनेगा। ४. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **स्वं दमम्**=आत्म-दमन को **यक्षि**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। हम अपना दमन करना सीखें। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाने के लिए चार प्रार्थनाएँ करता है—१. मुझे प्राणापान २. दिव्य गुण ३. वृद्धि का कारणभूत ऋत व ४. आत्मदमन की शक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु के स्वागत की तैयारी का स्वरूप यही है कि हम १. स्वास्थ्य के द्वारा शरीर को रोगरूप मलों से दूर करते हैं २. दिव्य गुणों के द्वारा द्वेषरूप मानसमल को दूर करते हैं ३. ऋत के द्वारा उन्नति के विघ्नों को समाप्त करते हैं और ४. आत्मदमन से अपने

सब मलों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ऽअश्वाँ२॥ऽअग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥४॥

१. हे **अग्ने!**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **रथीः इव**=उत्तम सारथि के समान **हि**=निश्चय से **देवहूत-मान्**=अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले **अश्वान्**=इन्द्रियरूप अश्वों को **युक्ष्व**=इस शरीररूप रथ में जोतिए। मेरे इस रथ के सारथि आप ही हैं। आपने ही यह रथ दिया है, उसमें घोड़े भी आपने ही जोतने हैं। २. अब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनकर सब प्रकार के मलों को दूर करके मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि (क) **होता**=आप सब पदार्थों के देनेवाले हैं (ख) **पूर्व्यः**=आप सबसे पूर्व स्थान में स्थित हैं, सबसे अग्रणी हैं, परमेष्ठी हैं। आप **निसदः**=यथाशक्ति पवित्र किये गये मेरे इस हृदय-मन्दिर में विराजमान हों। ३. संसार में हम किसी भी मान्य पुरुष को आमन्त्रित करते हैं तो अपने घर को साफ़-सुथरा करने का प्रयत्न करते हैं। आज प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'विश्वरूप' ने प्रभु को आमन्त्रित करना है, अतः उसने अपनी सभी इन्द्रियों को शुद्धतम करने का प्रयत्न किया है। शरीर, मन, आत्मा व इन्द्रियाँ—सभी को शुद्ध बनाकर वह प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! आइए और मेरे हृदयासन पर विराजिए। मैंने यथासम्भव अपने हृदय को द्वेषरूप मल से शून्य किया है। द्वेष से ऊपर उठकर सभी में आत्मभावना करके मैंने 'विश्वरूप' बनकर सच्चे 'विश्वरूप' आपका दर्शन करने की कामना की है। आप आइए, मेरे हृदय में आसन ग्रहण कीजिए, जिससे मैं आपके दर्शन से कृतकृत्य हो सकूँ।

भावार्थ—इन्द्रियों को परिशुद्ध करके हम अपने हृदयों में प्रभु का आह्वान करें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धात्रीद्वय स्तन्यपान

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थेऽअन्यान्या वत्समुप धापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रोऽअन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥५॥

१. ३१वें अध्याय की समाप्ति पर 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इन शब्दों में कहा था कि 'धन व ज्ञान' वे दो तेरी पत्नियाँ हैं। इसी बात को 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च' इन शब्दों में दुहराया गया है (क्षत्रमिति धननाम—नि० २।१०)। यहाँ 'ब्रह्म' ज्ञान का वाचक है और 'क्षत्र' धन का। ये दोनों ही मनुष्य के पालन करनेवाले हैं। यहाँ इनका पालक धात्रियों के रूप में चित्रण है। **द्वे**=ये 'श्री और लक्ष्मी' दोनों **विरूपे**=परस्पर भिन्न रूपवाली हैं—एक आन्तर है तो दूसरी बाह्य। अथवा ये दोनों ही विशिष्ट रूपवाली हैं। **चरतः**=(परिचरतः) ये दोनों इस प्रभुभक्त की परिचर्या=सेवा करती है। मानव-जीवन के लिए धन व ज्ञान दोनों सहायक हैं। **स्वर्थे**=(सु अर्थ) दोनों ही उत्तम प्रयोजनवाले हैं। **अन्यान्या**=दोनों अलग-अलग **वत्सम्**=उस प्रभु के प्रिय को अथवा अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले को (वदति) **उपधापयेते**=दूध पिलाती हैं, अर्थात् उसका पोषण करती हैं। २. इनमें से **अन्यस्याम्**=एक में तो यह वत्स=प्रभु का प्रिय पुत्र (क) **हरिः**=अपने दुःखों को दूर करनेवाला तथा (ख) **स्वधावान्**=अपना धारण करनेवाला **भवति**=होता है, अर्थात् धन के द्वारा ये दुःखों को दूर करने के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटा पाता है, रोगादि होने पर

औषधों के लिए धन का विनियोग करता है और अपने धारण के लिए आवश्यक भोजनादि सामग्री का संग्रह करने में समर्थ होता है। एवं, प्रभुभक्त के लिए श्री के दो ही उपयोग हैं १. दुःख दूर करने के लिए और २. धारण के लिए आवश्यक सामग्री का संग्रह। ३. **अन्यस्याम्**=दूसरी लक्ष्मीरूप धात्री में यह **शुक्रः**=ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल तथा **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् व तेजवाला **ददृशे**=दिखता है। शुक्र शब्द 'शुच् दीप्तौ' धातु से बना है। ज्ञानाग्नि से यह दीप्त होता है, क्योंकि ज्ञानाग्नि इसके मलों को नष्ट कर देती है। ज्ञान से काम-क्रोध अथवा राग-द्वेषादि के मल भस्म कर दिये जाते हैं। वासनारूप मल के नष्ट होने पर यह भी परिणाम होता है कि यह भोगविलास में न फँसने से उत्तम तेजवाला बना रहता है। एवं, प्रभुभक्त में ज्ञान के भी दो परिणाम दिखते हैं १. नैर्मल्य के कारण दीप्ति, तथा २. विलास से दूर रहने के कारण विशिष्ट तेजस्विता। अपने ज्ञान से व ज्ञानजन्य तेजस्विता से सब शत्रुभूत वासनाओं को समाप्त करनेवाला यह वत्स=प्रभुभक्त 'कुत्स' कहलाता है (कुथ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि का हिंसन करनेवाला।

भावार्थ—लक्ष्मी व श्रीरूप धात्रियों का दुग्धपान करके हम 'हरि, स्वाधावान्, शुक्र व सुवर्चाः' बनें। हम सब दुःखों से दूर हों, अपना धारण करने में समर्थ हों, देदीप्यमान व तेजस्वी हों।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभु के प्रिय कौन? (प्रभु का प्रकाश किनमें?)

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्रकार से धात्रीद्वय (श्री+लक्ष्मी) का स्तन्यपान करके जो अपना धारण करते हैं उन्हीं **धातृभिः**=उत्तम प्रकार से धारण करनेवालों से **इह**=इस मानव-जीवन में **अयम् प्रथमः**=यह चतुर्थ मन्त्र का 'पूर्व्य'=सबसे प्रथम होनेवाला परमेष्ठी प्रभु **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाता है जो शरीर को नीरोग रखता (हरि) है (ख) शरीर के धारण के लिए ही भोजनाच्छादन का प्रयोग करता (स्वधावान्) है (ग) ज्ञानाग्नि से मन के मैलों को जलाकर चमकता है (शुक्र) तथा विलास में न फँसने से तेजस्वी होता है। २. ये प्रभु ही (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। क्या धन और क्या ज्ञान ये प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। (ख) **यजिष्ठः**=ये सर्वोत्तम वस्तुओं का हमारे साथ सम्बन्ध करनेवाले हैं। हम अज्ञानवश ग़लत वस्तु की भी कामना कर सकते हैं, प्रभु हमें उत्तम ही वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। (ग) हम उत्तम साधनों को प्राप्त करके जो भी लोकसंग्रह व परोपकार के उत्तम कर्म कर पाते हैं, उन सब **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञों में **ईड्य**=वे प्रभु ही स्तुति के योग्य हैं। वस्तुतः सब उत्तम कर्म प्रभु की शक्ति व कृपा से ही हो रहे होते हैं। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले लोग तथा **भृगवः**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी ज्ञानी ही **विरुरुचुः**=प्रिय होते हैं। प्रभु का प्रिय बनने के लिए कर्म व ज्ञान का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि वैदिक गणित का यही समीकरण है—ज्ञान+कर्म=भक्ति। ४. ये प्रभु **वनेषु**=(वन=संभजन) अपने संभजन करनेवाले भक्तों में **चित्रम्**=ज्ञान को देनेवाले हैं। प्रभु अग्नि है, यह भक्त भी अग्नि-सा बन जाता है, इसकी ज्ञानाग्नि भी चमक उठती है। ५. जो व्यक्ति स्वार्थी न रहकर अपने जीवन को औरों के जीवन से जोड़ देता है वह 'विश' कहलाता है। **विशेविशे**=वसुधा को ही कुटुम्ब

समझनेवाले प्रत्येक ऐसे व्यक्ति में **विभ्वम्**=वे प्रभु (विभू=to become manifest in) प्रकाशित होते हैं। इनके जीवनों में प्रभु की शक्ति प्रकट होती है और सामान्य लोग ऐसे लोगों में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस शक्ति के अवतरण से ये सब शत्रुओं का संहार करके 'कुत्स' नामवाले हुए हैं। 'विभु' शब्द का अर्थ शक्तिशाली भी है। प्रभु को धारण करनेवाले ये प्रभु की शक्ति को धारण करके सचमुच शक्तिशाली हो गये हैं।

भावार्थ—हम कर्मनिष्ठ, तपस्वी, ज्ञानी बनकर प्रभु के प्रिय बनें, उपासक बनकर ज्ञान प्राप्त करें, सबके साथ अद्वैत का अनुभव करते हुए शक्तिशाली बनें, प्रभु की शक्ति का प्रकाश करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वमित्रः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

देवों की अनुकूलता

त्रीणि॑ श॒ता त्री स॒हस्रा॑ण्य॒ग्निं त्रि॒ꣳशच्च॑ दे॒वा नव॑ चासपर्यन्।
औक्ष॑न् घृ॒तैरस्तृ॑णन् ब॒र्हिर॑स्मा॒ऽआदिद्धोता॑रं॒ न्यसादयन्त॥७॥

१. **त्रीणि शता**=तीन सौ **त्री सहस्राणि**=तीन हज़ार **त्रिंशत् च**=और तीस **नव च**=और नौ **देवाः**=देव, अर्थात् कुल ३३३९ देव **अग्निम्**=इस उन्नति-पथ पर चलनेवाले की **असपर्यन्**=पूजा करते हैं, अर्थात् सब देव अग्नि के अनुकूल होते हैं। इनकी अनुकूलता का ही परिणाम होता है कि यह अग्नि पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। शतपथ ११।६।३। ४-५ में कहा है कि **'कतमे वै देवाः? त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति। स याज्ञवल्क्यो होवाच महिमान एवैषां देवानां एते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति'**=देव कितने हैं? तीन और तीन सौ, तीन और तीन हज़ार, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छह। इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता तो ३३ ही हैं यह ३३०६ या ३३३९ संख्या तो उनकी महिमा की सूचनमात्र है। वस्तुतः द्यौः, अन्तरिक्ष व पृथिवी, अर्थात् उनमें स्थित ३३ देवों की शान्ति व अनुकूलता पर ही मनुष्य का शारीरिक, मानस व मस्तिष्क का स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. ये अनुकूल बने हुए देव ही इस **अग्नि**=उन्नतिशील पुरुष को **घृतैः**=मलों के क्षरण=दूरीकरण तथा दीप्ति से **औक्षन्**=सिक्त करते हैं। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन व स्वस्थ मस्तिष्क तो होते ही हैं। देवों की अनुकूलता में शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, मन भी राग-द्वेष के मैल से रहित हो जाता है। इन मलों का दूरीकरण होकर मन प्रसादमय हो उठता है। मस्तिष्क भी स्वस्थ होता है। इन देवों ने शरीर में स्वास्थ्य, मन में नैर्मल्य तथा मस्तिष्क में दीप्ति को प्राप्त कराया है। ३. इस अग्नि के लिए इन देवों ने **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश) कर दिया गया है ऐसे हृदयासन को **अस्तृणन्**=बिछाया है। चतुर्थ मन्त्र में उस होता=सर्वप्रदाता प्रभु से हृदय में आसीन होने के लिए प्रार्थना की गई थी। अब सब प्रकार से तैयारी करके **आत् इत्**=ठीक समय बाद **होतारम्**=उस स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को देनेवाले प्रभु को **न्यसादयन्त**=इस पवित्र हृदयासन पर आसीन करते हैं। देवों की अनुकूलता हमें महादेव का भी प्रिय बना सकती है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है, सभी के साथ स्नेह करनेवाला है। यह किसी से द्वेष नहीं करता और इसी कारण यह प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर हमें स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति प्राप्त होती है और हमारा हृदय प्रभु का आसन बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

देवकृत अग्नि का विकास

मूर्द्धानं॑ दि॒वोऽअ॑र॒तिं पृ॑थि॒व्या वै॑श्वान॒रमृ॒तऽआ जा॒तम॒ग्निम्।
क॒विꣳ स॒म्राज॒मति॑थिं॒ जना॑नामा॒सन्ना पात्रं॑ जनयन्त दे॒वाः ॥८॥

प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर **देवाः**='माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव **अग्निम्**=इस उन्नतिशील पुरुष को **आजनयन्त**=सर्वथा बना देते हैं। कैसा?

१. **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान-दीप्ति का शिखर। **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** इस वचन के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाला पुरुष ज्ञानी बनता है। ज्ञान का ही परिणाम होता है कि वह २. **अरतिम् पृथिव्याः**=पार्थिव भोगों के प्रति रतिवाला नहीं होता। ज्ञान आसक्ति को नष्ट कर देता है। भोगों में लिप्त न होकर यह ज्ञानी ३. **वैश्वारनम्**=(विश्वनरहितम्) सब लोगों के हित में प्रवृत्त होता है। भोगप्रवण मनुष्य स्वार्थी हुआ करता है। ज्ञानी परमार्थ में ही आनन्द का अनुभव करता है ४. **ऋते आजातम्**=(ऋतम् एव अनुभवितुं जातम्) यह अपनी जीवन-यात्रा में सदा सत्य का पालन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ऋत का ही अनुभव लेने के लिए यह पैदा हुआ हो। असत्य से यह सदा दूर रहता है, इसलिए ५. **अग्निम्**=आगे-और-आगे बढ़ता चलता है, औरों को भी यह आगे ले-चलता है। ६. आगे ले-चलने के लिए **कविम्**=(कौति सर्वा विद्याः) सब विद्याओं का यह उपदेश करता है अथवा स्वयं आगे बढ़ने के लिए क्रान्तदर्शी बनता है, वस्तुओं की आपातरमणीयता से आकृष्ट नहीं होता। विषयों से आकृष्ट न होने के कारण ७. **सम्राजम्**=इसका जीवन बड़ा दीप्त व व्यवस्थित (regulated) होता है। ८. यह दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला 'विश्वामित्र'=सभी का स्नेही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि **जनानाम्**=लोगों का **अतिथिम्**=सातत्येन गमनवाला होता है। जहाँ भी दुःख देखता है वहीं पहुँच जाता है और उन लोगों का कल्याण करने का प्रयत्न करता है। ९. यह **आसन्**=मुख के द्वारा **पात्रम्**=रक्षा करनेवाला होता है, अर्थात् मुख के द्वारा दूसरों को ज्ञान देता हैं और उनमें उत्साह का सञ्चार करता है। यह सभी के हित में प्रवृत्त हुआ-हुआ व्यक्ति सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

प्रस्तुत मन्त्र में उन्नति के कारणों का संकेत बड़ी सुन्दरता से किया गया है कि १. **देवाः**=प्राकृतिक देवों की अनुकूलता तो चाहिए ही २. प्रशस्त माता-पिता व आचार्य का मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है। ३. और फिर **'अग्निम्'**=उस व्यक्ति के अन्दर आगे बढ़ने की भावना का जागना भी नितान्त अपेक्षित है। इस भावना के जागे बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं।

भावार्थ—देवों की कृपा से हमारा जीवन मन्त्र-वर्णित बातों से युक्त होकर नव (नवीन) ही बन जाए और सबका स्तुत्य (नू स्तुतौ) हो सके।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अग्नि का वृत्रहनन

अ॒ग्निर्वृ॒त्राणि॑ जङ्घनद् द्रविण॒स्युर्वि॑प॒न्यया॑। समि॑द्धः शु॒क्रऽआहु॑तः ॥९॥

१. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों के साधक वे प्रभु **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली कामादि वासनाओं को **जंघनत्**=नष्ट करते हैं। जीव स्वयं वासना के विजय में समर्थ नहीं।

प्रभु से मिलकर ही हम काम को जीत पाते हैं। २. यह वासना-विनाशरूप कार्य प्रभु करते तभी हैं जब **द्रविणस्युः**=द्रविण के चाहनेवाले प्रभु को हम अपने द्रविण की भेंट कर दें। अथर्ववेद का मन्त्र बड़ी सुन्दरता से कहता है कि यदि मोक्ष चाहते हो तो 'मह्यं दत्त्वा'=यह द्रविण मुझे लौटा दो। हमने धन लौटाया और वासना-वृक्ष का मूल कटा। ३. प्रभु को धन लौटाकर हम वासनाओं को जीत पाते हैं, यदि उस प्रभु का स्मरण करते रहें **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा। इसी विशिष्ट स्तुति का स्वरूप मन्त्र के उत्तरार्ध में व्यक्त किया गया है (क) **समिद्धः**=दीप्त किया गया (ख) **शुक्रः**=(शुक गतौ) जाया गया (ग) **आहुतः**=अर्पण किया गया। (क) हम उस प्रभु की भावना को अपने हृदयों में दीप्त करें, उसका चिन्तन करें। योग के शब्दों में 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=उसके नाम का जप और प्रणव के अर्थ का चिन्तन करें। (ख) इस प्रकार उस प्रभु का स्तवन करके उसकी ओर चलें, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को जीतकर उसकी ओर बढ़ते चलें। (ग) उसके समीप पहुँचकर उसके प्रति अपने को अर्पित कर दें। (घ) वासनाओं को नष्ट करके यह प्रभुभक्त अपने अन्दर शक्ति (वाज) का भरण (भरद्) करता है, अतः 'भरद्वाज' नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का प्रयत्न करें, इसी उद्देश्य से धनों का यज्ञों में विनियोग करें, जिससे प्रभु हमपर आक्रमण करनेवाले वृत्रों का विनाश करें।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सौम्य मधु का पान

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न॒ऽइन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ) निरन्तर प्रभु की ओर चलनेवाले। उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **मित्रस्य**=अपने मित्र प्रभु के **धामभिः**=तेजों के उद्देश्य से **सोम्यम् मधु**=सौम्य मधु को **इन्द्रेण**=इन्द्र से, अर्थात् इन्द्र बनकर और **वायुना**=वायु से अर्थात् प्राणों की साधना से **पिब**=पान कर। २. गतमन्त्र में 'भरद्वाज' ने प्रभु को समिद्ध किया, उसकी ओर चला और अन्त में उसके प्रति अपना अर्पण किया, इस प्रकार वह प्रभु का 'सयुज-सखा'=साथ रहनेवाला मित्र बन गया। 'इस मित्र के तेजों को यह भारद्वाज भी प्राप्त करना चाहे' यह स्वाभाविक ही है। प्रभुभक्त प्रभु-जैसा क्यों न बने? ३. इन तेजों को प्राप्त करने के लिए ही मन्त्र में 'सोम्य मधु' के पान का उल्लेख (विधान) है। वीर्यशक्ति (semen) ही सोम है। यह अन्न का सारभूत होने से मधु कहा गया है। मधु (शहद) भी पुष्परसों का सार होता है। यह शक्ति शरीर में सुरक्षित होने पर मनुष्य को 'सौम्य' बनाती है तथा उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके उसे (स+उमा) ब्रह्मज्ञानसहित करती है, इसी से इसका नाम 'सौम्य' पड़ गया है। ४. इस सोम का पान करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य 'इन्द्र' बने, जितेन्द्रिय हो। इन्द्रियों का अधिष्ठाता इन्द्र ही सोम का पान करता है। ५. इन इन्द्रियों के वशीकरण व निर्दोषता के लिए प्राणों की साधना अत्यन्त उपयोगी है। **वायुना**=प्राणों के द्वारा, प्राणायाम से ही इन्द्रियों के मल नष्ट होते हैं। साथ ही इस प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति भी सिद्ध होती है और मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन पाता है। यह रेतस् ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह साधक दीप्त बुद्धि को प्राप्त करके 'मेधातिथि' बन जाता है, निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व प्राणसाधना के द्वारा 'सोम्य मधु' (वीर्य) का पान

करनेवाले बनें, जिससे अपने मित्र उस प्रभु के तेजों से तेजस्वी बन सकें।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

जनन-सूदन

आ यदिषे नृपतिं तेजऽआनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानंꣳ स्वाध्यं जनयत्सूदयच्च॥११॥

१. संसार में मनुष्य प्रयत्न करता है, परन्तु शतशः प्रयत्नों के होते हुए भी कई बार वह ठीक मार्ग पर नहीं चल पाता। विघ्न प्रबल होते हैं, वह उन्हें नहीं जीत पाता, परन्तु प्रभु की **इषे**=प्रेरणा होने पर **नृपतिम्**=(ना चासौ पतिश्च) इस आगे बढ़नेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **तेजः**=तेज **यत्**=जब **आनट्**=समन्तात व्याप्त होता है तब **शुचि रेतः**=वह शुद्ध रेतस् (वीर्य) **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **अभीके**=समीप, अर्थात् ज्ञानाग्नि में **निषिक्तम्**=सिक्त होता है, यह वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह **नृपति**=जितेन्द्रिय मनुष्य उस **नृपतिः**=सब मनुष्यों के स्वामी प्रभु के दर्शन के योग्य बनता है। एवं, इस मन्त्र के पूर्वार्ध में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) उन्नति प्रभुकृपा से ही होती है जब मनुष्य प्रभुप्रेरणा को सुन पाता है तभी उसमें इन्द्रियों का स्वामी बनने की भावना जागती है। (ख) यह जितेन्द्रिय (नृपति) ही तेजस्वी बन पाता है। (ग) इसका यह वासनाओं से अदूषित, पवित्र तेज इसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. दीप्त ज्ञानाग्निवाला यह **अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष **जनयत्**=उस प्रभु के दर्शन करता है, हृदय में उसका प्रादुर्भाव कर पाता है, जो प्रभु (क) **शर्द्धम्**=तेज हैं, तेज के पुञ्ज हैं। (ख) **अनवद्यम्**=जिनमें किसी प्रकार का अवद्य पाप नहीं है, जो अपापविद्ध हैं। (ग) **युवानम्**=जो अशुभ को दूर करके शुभ के साथ हमें संपृक्त करनेवाले हैं। (घ) **स्वाध्यम्**=(सु आध्य) उत्तमता से सर्वथा ध्यान करने योग्य हैं।

इस प्रभु के प्रादुर्भाव से यह आत्मा भी तेजस्वी, निष्पाप व अशुभ से दूर व शुभ से युक्त होती है। ३. प्रभु का अपने हृदयान्तरिक्ष में प्रादुर्भाव करनेवाला यह अग्नि इस प्रभु का मित्र बनकर **सूदयत् च**=सब काम-क्रोधादि वासनाओं को नष्ट कर देता है (सूद to kill)। जब तक जीव अकेला था, वासनाओं का शिकार हो जाता था, परन्तु अब प्रभु से मित्रता करके यह वासनाओं को भस्म करने योग्य हो गया है।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा से जितेन्द्रिय बन हम ऊर्ध्वरेतस् बनें, ज्ञानाग्नि को दीप्त कर प्रभु-दर्शन करें। वासनाओं को सुदूर विशरण करनेवाला व्यक्ति ही 'पराशर' है।

ऋषिः—**विश्ववारा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का आशीर्वाद व आदेश

अग्ने शर्द्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यꣳ सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांꣳसि॥१२॥

प्रभु-दर्शन से पाप-प्रमथन करनेवाले अग्नि को प्रभु आशीर्वाद देते हैं कि १. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! तू **महते सौभगाय**=महान् सौन्दर्य के लिए **शर्ध**=(to strive) पूर्ण प्रयत्न करनेवाला हो। तेरा कोई भी काम असत् प्रकार से न किया जाए। तू अपने जीवन में संवेदनशीलता (Sensitiveness) तथा परिहास (Humour) का समन्वय करके अपने प्रत्येक कार्य व व्यवहार को सुन्दर बना सके। सौभग शब्द में निम्न छह भावनाएँ हैं—

ऐश्वर्य, धर्म, यशस्, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन सबको तू अपने जीवन में समन्वित करके इसे सुन्दर बनानेवाला हो। २. **तव**=तेरे **द्युम्नानि**=तेज, ज्योति (Splendour), बल (Power), धन Wealth, प्रेरणाएँ Inspiration=तथा यज्ञिय कर्म ये सबके-सब **उत्तमानि सन्तु**=उत्तम हों। बुद्धि व शरीर के स्वास्थ्य का साधन करके तू तेजस्वी व बलवान् हो। मस्तिष्क की उज्ज्वलता से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त कर। तेरा पवित्र हृदय सदा यज्ञिय कर्मों की ओर झुका रहे। ३. **संजास्पत्यम्**=अपने उत्तम दाम्पत्य को **सुयमम्** 'उत्तम यम, संयमवाला **आकृणुष्व**=कर। यह संयम ही गृहस्थ को स्वर्ग बनाता है। माता-पिता व सन्तान सभी का स्वास्थ्य इसी संयम पर निर्भर करता है। गृहस्थ होते हुए संयमी होना सर्वमहान् साधना है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ व संन्यासी तो परिस्थिति से संयमी बन ही सकते हैं, परन्तु सब सामग्रियों के बीच में भी तपस्वी रह जाना तो महत्त्व रखता है। ४. इस प्रकार संयम से शक्तिशाली बनकर तू **शत्रूयताम्**=तेरे प्रति शत्रुता का आचरण करनेवाले इन कामादि के **महाँसि**=तेजों को **अभितिष्ठ**=कुचल डाल। ५. प्रभु के आशीर्वाद से सब बातों का (विश्व) वरण करनेवाली आत्मा (वारा) 'विश्ववारा' कहलाती है। प्रभु के इस आशीर्वाद में ये चार प्रेरणाएँ निहित है। ये ही प्रभु के निर्देश व आदेश है। इनका पालन करनेवाला उस **विश्व**=सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का वरणीय होता है, इसलिए भी इसका नाम 'विश्ववारा' हो गया है।

भावार्थ—हम महान् सौभग के लिए प्रयत्न करें, हमारे द्युम्न उत्तम हों। हमारा दाम्पत्य संयमवाला हो और हम क्रोधादि के वेग को समाप्त कर दें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—**पञ्चमः**।

मन्द्रतम इन्द्र व वायु का आराधन

त्वाꣳहि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥१३॥

१. गत मन्त्र के आशीर्वाद को सुनकर अग्नि प्रभु से कहता है कि **मन्द्रतमम्**=अत्यन्त आनन्दमय (Delightful) और प्रशंसनीय (praise worthy) **त्वां हि**=निश्चय से तुझे ही **अर्कशोकैः**=(अर्च्, शुच्) पूजाओं व ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **ववृमहे**=हम वरते हैं। हमारी पूजा की वृत्ति व ज्ञान की दीप्तियों से प्रसन्न **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **महि**=महत्ता व बुद्धि (greatness व Intellect) **श्रोषि**=देने की प्रतिज्ञा करते हैं। (प्रतिश्रु=to promise, to give, सन्तुष्टि=a boon) उपर्युक्त कथन में तीन बातें स्पष्ट हैं—(क) प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं (ख) उस आनन्दमय प्रभु का आराधन **अर्कशोकैः**=अर्चना-मन्त्रों से तथा ज्ञान की दीप्तियों से होता है, (ग) प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें बुद्धि व महत्ता प्राप्त कराते हैं। यह समझदारी व उदार-हृदयता हमें भी आनन्दमय बनाती है। २. **इन्द्रं न**=सूर्य के समान देदीप्यमान **त्वा**=आपको **देवता**=दैवी सम्पत्तिवाले लोग **शवसा**=बल के द्वारा **पृणन्ति**=प्रसन्न व प्रीणित करते हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजुः०) वे प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। उस प्रभु की ज्योति की कल्पना तभी कुछ हो सकती है यदि हज़ारों सूर्यों की ज्योति आकाश में इकट्ठी उठ खड़ी हो। इस सूर्य के समान ज्योतिर्मय प्रभु को आराधित करने के लिए आराधक ने भी **देवता**=(दीपनाद्वा द्योतनाद्व) चमकने व चमकानेवाला बनना है। ज्ञान की ज्योति के साथ उसने (शवसा) बल का भी सम्पादन करना है। ३. **वायुम्**=(वा गतौ) वायु की भाँति निरन्तर गतिशील आपको, स्वाभाविक क्रियावाले आपको, **नृतमाः**=अपने

को अधिक-से-अधिक उन्नति करनेवाले लोग **राधसा**=(राध सिद्धौ) सिद्धि व सफलता के द्वारा **पृणन्ति**=प्रीणित करते हैं। क्रियाशील प्रभु को वही आराधित कर सकेगा जो पौरुष को अपनाकर मनुष्यों में उत्कृष्ट मनुष्य (नृतम) बनेगा। ४. अपने अन्दर **शवस्**=शक्ति का **भरद्**=भरनेवाला 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—(क) हम उपासना व ज्ञानदीप्ति से आनन्दमय प्रभु को आराधित करके हृदय की महत्ता व बुद्धि को प्राप्त करें। ये ही दो वस्तुएँ हमारे जीवन को आनन्दमय बनाती हैं। (ख) हम देव बनकर बल की साधना से उस सर्वशक्तिसम्पन्न इन्द्र का आराधन करें तथा (ग) सदा क्रियाशील प्रभु को पौरुषमय जीवन से प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु के प्रिय कौन?

त्वेऽअग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम्॥१४॥

हे **अग्ने**=सबके अग्रणी=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **स्वाहुत** (सु आ हुत)=अत्यन्त उत्तमता से सब ओर, सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **त्वे**=आपके **प्रियासः**=प्रिय **सन्तु**=हों। कौन? १. **सूरयः** =जो विद्वान् हैं। ज्ञानी पुरुष ही प्रभु को प्रिय है। **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**=ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है। २. **यन्तारः**=जो इस शरीररूप रथ के उत्तम सारथि बनते हैं। जो इन्द्रियरूप घोड़ों को मनरूप लगाम से काबू करने में कुशल हैं। ३. **ये**=जो **जनानाम्**=लोगों में **मघवानः**=उस ऐश्वर्यवाले हैं, जिसमें (मा अघ) पाप का लवलेश भी नहीं। या (मघ=मख) जो लोगों में यज्ञिय प्रवृत्तिवाले हैं। यज्ञमय जीवन बनाकर जो सदा अमृत का सेवन करते हैं तथा अन्त में ४. **गोनाम्**=(गाव इन्द्रियाणि) इन्द्रियों की **ऊर्वान्**=हिंसाओं को **दयन्त**=हिंसित करते हैं। काम सर्वप्रथम इन इन्द्रियों को अपना शिकार बनाता है, तभी यह 'पञ्चबाण' है। इसका एक-एक बाण एक-एक इन्द्रिय पर आक्रमण करता है। जो व्यक्ति इन्द्रियों के 'हिंसक काम को अपनी ज्ञानाग्नि से भस्म कर पाते हैं, वे ही प्रभु के प्रिय बनते हैं। जब मन्त्रार्थ 'राज' परक होता है तब अर्थ यह होता है कि 'जो गोहिंसकों के हिंसक होते हैं वे मुझे प्रिय हैं'। राजा ने **'यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसोऽवीरहा'**=गौ, अश्व व पुरुषों के हिंसकों से राष्ट्र की रक्षा करनी है।

अपने जीवन पर पूर्ण नियमन करनेवाला 'यन्ता' ही 'वसिष्ठ' है, वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला है। यह 'वसिष्ठ' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम 'सूरि, यन्ता, मघवा व इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले' बनकर प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

स्नेह, दान, यज्ञ

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रोऽअर्यमा प्रातर्यावाणोऽअध्वरम्॥१५॥

१. हे **श्रुत्कर्ण**=ज्ञान का विकीर्ण करनेवाले (श्रुत=ज्ञान, कर्ण=विकीर्ण करना) और इस प्रकार **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **श्रुधि**=आप हमारी प्रार्थना को सुनिए। प्रभु ज्ञान को सदैव

प्रसृत कर रहे हैं। उस प्रसृत होते हुए ज्ञान को ग्रहण वही कर पाता है जिसका हृदय पवित्र होता है। इस पवित्र हृदय की प्रार्थना का स्वरूप है—२. **वह्निभिः**=(वह to carry) आप तक प्राप्त करानेवाले तथा **सयावभिः**=सदा साथ-साथ प्राप्त होनेवाले **देवैः**=देवों के साथ **बर्हिषि**=मेरे उस हृदय में, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो (बृहि वृद्धौ) बढ़ा हुआ है, अर्थात् विशाल है, उस हृदय में **प्रातः**=प्रातः **आसीदन्तु**=आकर विराजें। कौन?—(क) **मित्रः**=स्नेह की भावना (ख) **अर्यमा**=देने की भावना (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) (ग) हृदय 'बर्हि' तब कहलाता है जब इसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंक दिया जाए और इसे तनिक विशाल बना लिया जाए। (घ) हमारे हृदयों में सभी के लिए स्नेह हो, परन्तु वह केवल शाब्दिक न होकर आर्थिक भी हो, अर्थात् हम दुःखी की सहायता के लिए कुछ-न-कुछ दें भी। प्रातः उठते ही हमारे अन्दर यज्ञिय कार्यों को करने की प्रवृत्ति हो। ४. उल्लिखित कामना करनेवाला ही 'प्रस्कण्व'=मेधावी है। बुद्धिमान् पुरुष सदा ऐसा ही बनना चाहता है और वस्तुतः वही प्रार्थना 'श्रुत्कर्ण' प्रभु को प्रिय लगती है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में स्नेह, दान व यज्ञोपस्थान की वृत्तियाँ हों।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अदिति, अतिथि, अविता

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामवऽआवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः॥१६॥

१. (क) गत मन्त्र में 'हम यज्ञों में जानेवाले हों', इन शब्दों से प्रार्थना समाप्त हुई थी। इन **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञियानाम्**=यज्ञ की वृत्तिवाले व्यक्तियों का वह प्रभु **अदितिः**=खण्डन न करनेवाला=शरीर को ठीक रखनेवाला है। वस्तुतः यज्ञिय भावना पुरुष को विलास से बचाकर स्वास्थ्य का धनी बनाती है। (ख) 'अदिति' शब्द का अर्थ 'अदीना देवमाता' भी है, न गिड़गिड़ानेवाली, अर्थात् आत्मसम्मान की भावना से युक्त और दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली। यज्ञिय वृत्ति होने पर दिव्य गुण पनपते हैं। २. वे प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों का हित करनेवालों के **अतिथिः**=मेहमान व प्राप्त होनेवाले हैं। प्रभुभक्त वे ही हैं जो 'सर्वभूतहिते रत' हैं। मनुष्य-मनुष्य की सहायता करता है तो प्रभु उसके हृदय में आसीन होते हैं। प्रभु को पाने का उपाय जन-सेवा भी है। ३. मानवहित में लगा हुआ व्यक्ति देव बन जाता है और **देवानाम्**=इन देवों का **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **अवः**=रक्षण **आवृणानः** =करते हैं ४. **जातवेदाः**=वे सर्वज्ञ प्रभु 'अदिति व मानुष' के लिए **सुमृडीकः भवतु**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले हों। यज्ञिय, मानुष व देव बननेवाला व्यक्ति प्रशस्तेन्द्रिय होने से 'गोतम' कहलाता है। वही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ=हम यज्ञिय बनेंगे तो प्रभु हमारे लिए 'अदिति' होंगे। हम मानुष बनें प्रभु अतिथि होंगे। हम देव बनें प्रभु हमारा रक्षण करेंगे। वे जातवेद प्रभु हमें सदा सुख देते हैं।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निष्पापता व कल्याण

महोऽअग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवोऽअद्या वृणीमहे॥१७॥

१. **महः अग्नेः**=उस महान्, अग्निवत् प्रकाशमय, दोषों के दहन करनेवाले प्रभु के

समिधानस्य=जिसे हमने अपने हृदयान्तरिक्ष में समिद्ध किया है, **शर्मणि**=शरण में **अनागाः**=हम निष्पाप बनते हैं। जिस समय हम प्रभु को अपने हृदयों में देखते हैं तो हमारा जीवन निष्पाप हो जाता है। क्या हम प्रभु के समीप पाप करेंगे? २. **मित्रे**=स्नेह की भावना होने पर, और **वरुणे**=द्वेष का निवारण करके हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होते हैं। मानवकल्याण तभी होता है जब द्वेष समाप्त हो जाए और प्रेम का प्रसार हो। ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य के मन को जलाते रहते हैं। ३. द्वेषों से ऊपर उठकर सदा प्रेम में रहने के लिए आवश्यक है कि हम **सवितुः**=प्रेरक प्रभु की **श्रेष्ठे सवीमनि**=श्रेष्ठ प्रेरणा में **स्याम**=हों। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे तो हम द्वेष से अवश्य दूर रहने का प्रयत्न करेंगे और सभी के साथ प्रेम से चल पाएँगे। ४. **तत्**=उस प्रेरणा को सुनने के द्वारा **देवानाम्**=देवों के **अवः**=रक्षण को **अद्य**=आज ही **वृणीमहे**=हम वरते हैं। जो प्रभु-प्रेरणा को सुनता है, वह सब वासनाओं से अपनी रक्षा कर पाता है। सब प्राकृतिक देव उसके अनुकूल होते हैं। ५. प्रभु की शरण में निष्पापता को सिद्ध करनेवाला, प्रेम व द्वेषाभाव से कल्याणी स्थितिवाला, सदा प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला और देवरक्षण का वरण करनेवाला, यह ऋषि अपने को सब वासनाओं से मुक्त करनेवाला (Loose=to release) और सद्गुणों से अपने को अलंकृत करनेवाला (लूष् to adorn) 'लुशः' नामवाला होता है और सब प्रकार से अपना धारण करनेवाला यह अपने में गुणों का आधान करता हुआ 'धानाकः' कहलाता है।

भावार्थ—हम निष्पाप बनें, कल्याण प्राप्त करें, प्रभु प्रेरणा में चलें, देवरक्षण को वरें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आप्यायन

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्तऽइन्द्र।
याहि वायुर्न नियुतो नोऽअच्छा त्वꣳ हि धीभिर्दयसे वि वाजान्॥१८॥

१. जब हम देववरण करके वासनाओं को दूर भगाते हैं तब **आपः**=रेतस् (आपः रेतो भूत्वा) **चित्**=निश्चय से **पिप्युः**=हमारा आप्यायन करते हैं। वीर्यशक्ति के द्वारा रोग कम्पित करके दूर भगा दिये जाते हैं। मन में दुर्भावनाएँ उत्पन्न नहीं होती। वीर्यरक्षा से सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं, परिणामतः **गावः**=हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ **न स्तर्यः**=(Sterilize) वन्ध्या नहीं होतीं, ये उपजाऊ होती हैं। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इस वीर्य के द्वारा ही समिद्ध होती है। २. हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! सुरक्षित वीर्यवाले ये व्यक्ति **ते जरितारः**=तेरे स्तोता बनते हैं और **ऋतं नक्षन्**=ऋत को प्राप्त होते हैं। प्रभु-स्तवन करनेवाले व्यक्ति में सदा ऋत का अधिकाधिक पोषण होता है, सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसका जीवन-मार्ग बड़ा नियमित हो जाता है। ३. **वायुः न**=वायु के समान **नियुतः**=निश्चय से ऋतमय कर्मों में लगे हुए **नः अच्छ**=हमारी ओर **याहि**=प्राप्त होओ। वायु जैसे निरन्तर चल रही है, इसी प्रकार यह प्रभु का स्तोता निरन्तर कार्यों में लगा रहता है। इन निरन्तर क्रियाशील व्यक्तियों को प्रभु प्राप्त होते हैं। ४. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **धीभिः**=प्रज्ञानों व कर्मों से **वाजान्**=धनों व शक्तियों को **विदयसे**=विशेषरूप से देनेवाले होते हैं। हम प्रज्ञानों को प्राप्त करके उत्तम कर्मों में लगते हैं तो हमें धन भी प्राप्त होते हैं और शक्तियाँ भी। एवं, धनों व शक्तियों को प्राप्त करके अपने जीवन को उत्तम बनानेवाला यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—हम रेतस्-रक्षा द्वारा अपना आप्यायन करनेवाले, शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रियोंवाले, ऋत को प्राप्त, वायु की भाँति नियत कर्मों में व्याप्त, प्रज्ञानों व कर्मों से शक्ति व धनों को

प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—पुरुमीढाजमीढौ। देवता—इन्द्रवायू। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्योतिर्मय कर्ण

गाव॒ऽउपा॑वताव॒तं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑। उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑॥१९॥

१. **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=हृदयान्तरिक्ष को, मेरी हृदयरूप गुहा को **उपावतम्**=(अव=भाग, वृद्धि) अपना भाग बनाओ—उसका सेवन करो और उसका वर्धन करो। वेदवाणियाँ हमारे हृदयों में स्फुरित हों। उनके स्फुरण से हमारे हृदय विशाल बनें। २. ये वेदवाणियाँ **मही**=महान् (पूजनीय) हैं अथवा हमारे हृदयों को महान् बनानेवाली हैं तथा **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **रप्सुदा**=उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उपदेश दिया गया है। ३. इन वेदवाणियों से **उभा कर्णा**=हमारे दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हो उठे हैं। कानों में ज्ञान की वाणियों के प्रवेश से हमारा अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है। इस अज्ञानान्धकार के नष्ट होने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि स्वार्थ-भावनाओं से ऊपर उठकर 'पुरुमीढ' बन गया है, बहुत का पालन-पोषण करनेवाला हो गया है। यह क्रियाशीलता के द्वारा सभी के सुखों को बढ़ानेवाला होने से 'अजमीढ' नामवाला बना है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में वेदवाणी का प्रादुर्भाव हो। इन वेदवाणियों से हमारे हृदय विशाल बनें व यज्ञिय भावनावाले हों। हमारे कान सदा इन वाणियों के श्रवण से पवित्र व हितकर हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—सविता। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान-सूर्योदय

यद॒द्य सूर॒ऽउदि॒तेऽना॑गा मि॒त्रोऽअ॑र्य॒मा। सु॒वाति॑ सवि॒ता भगः॑॥२०॥

गतमन्त्र में वेदवाणियों से दोनों कानों के ज्योतिर्मय होने का उल्लेख था। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि १. **यत्**=यदि **अद्य**=आज **सूरे उदिते**=इस ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर मैं **अनागाः**=निष्पाप बनता हूँ, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह की भावनावाला होता हूँ और **अर्यमा**=केवल शाब्दिक सहानुभूति न करके कुछ देनेवाला बनता हूँ (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) तो **सविता**=वह सब ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **भगः सुवाति**=धन को मेरी ओर प्रेरित करता है, सब सुन्दर व भजनीय वस्तुओं को मुझे देता है। २. वेदवाणियों के सुनने से मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य उदय होता है। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञानसूर्य के उदय होने पर मानस पटल से सब मालिन्यरूप अन्धकार भाग जाता है और वह मन अत्यन्त पवित्र हो जाता है। मन की पवित्रता मनुष्य को निष्पाप बना देती है (अनागाः)। ३. यह पाप-भावना से शून्य हृदय सबके प्रति स्नेहवाला होता है (मित्रः) इसमें किसी के प्रति द्वेष की भावना नहीं रहती। दुःखी व्यक्ति के साथ इस व्यक्ति की सहानुभूति केवल शाब्दिक नहीं होती। यह सहायतार्थ कुछ-न-कुछ देता ही है (अर्यमा)। इसकी सहानुभूति यथार्थ होती है। ४. सबकी सहायता के लिए धन का विनियोग करना होता है, अतः प्रभु इसको योग्य अधिकारी समझकर धन प्राप्त कराते हैं (सुवाति)। सब धन तो उस प्रभु का है, हमें तो उसका ठीक विनियोग करना होता है। करते हैं, तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं। यह धनादि के लोभ में न फँसनेवाला व्यक्ति ही उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' कहलाता है।

भावार्थ—ज्ञान-सूर्योदय से हम निष्पाप, स्नेहमय व दातृत्व की भावनावाले बनकर प्रभु से दीयमान भग के पात्र बनें।

ऋषिः—सुनीतिः। देवता—वेनः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वियोग-संयोग

आ सुते सिञ्चत श्रियः रोदस्योरभिश्रियम्। रसा दधीत वृषभम्॥२१॥

गतमन्त्र में भावना थी कि दो और पाओ। दोगे, प्रभु तुम्हें देंगे। वही भावना प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कही जा रही है कि **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में ऐश्वर्य का लाभ होने पर **श्रियम्**=इस श्री को **आसिञ्चत** =चारों ओर सिक्त करो। यह अपने जीवन को विलासमय बनाने के लिए तुम्हें नहीं दी गई, यह प्रभु से लोकहित के लिए दी गई है। इस सम्पत्ति के दान द्वारा तुम **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी में, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में **अभिश्रियम्**=दोनों ओर—जीवनकाल में भी और मृत्यु के बाद भी (अभि) श्री को, शोभा को, **सिञ्चत**=सिक्त करो। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**=दो और प्रतिष्ठा पाओ, यह प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं। मनुष्य श्री=धन का क्या सेचन करता है उसकी श्री=शोभा का ही सर्वत्र सेचन हो जाता है। अथवा द्युलोक व पृथिवीलोक में इस दान देनेवाले के लिए सर्वत्र धन की वर्षा होने लगती है। धन का त्याग करने से इसे और अधिक धन प्राप्त होता है।

३. धन-त्याग में एक अद्भुत आनन्द है। मनुष्य प्रकृति को छोड़ता है और प्रभु को पाता है। **रसाः** =हे आनन्द प्राप्त जीवो! तुम **वृषभम्**=उस शक्तिशाली व सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभु का **दधीत**=धारण करो। प्रभु को अपनाने की नीति को अपनानेवाला 'सुनीति' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—धन का दान देनेवाला व्यक्ति सर्वत्र यश प्राप्त करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मैं को विस्तृत करना—विश्वरूप बनना

आतिष्ठन्तं परि विश्वेऽअभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णोऽअसुरस्य नामा विश्वरूपोऽअमृतानि तस्थौ॥२२॥

१. **आतिष्ठन्तम्**=जो केवल अपने में स्थित न होकर सबमें स्थित है (one who is not self-centred), उस सबमें—विश्व में 'मैं' की भावना करनेवाले को, **विश्वे**=सब दिव्य गुण **परि अभूषन्**=समन्तात् अलंकृत करते हैं। स्वार्थ ही मनुष्य को 'असुर'=राक्षस बना देता है। **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**=ये अपने ही मुख में आहुति देने लगता है तो असुर बन जाता है। स्वार्थत्याग से दुर्गुणों का त्याग होता है और यह परार्थ में रत व्यक्ति दिव्य गुणों से सुभूषित हो जाता है। २. दिव्य गुणों से सुभूषित होकर यह **श्रियः वसानः**=श्री का धारण करनेवाला बनता है, इसका जीवन श्रीसम्पन्न होता है। पिछले मन्त्रों में यही तो कहा था कि यह अपनी श्री का दान करनेवाला बनता है तो इसके लिए द्युलोक व पृथिवीलोक श्रीसम्पन्न हो जाते हैं। ३. श्रीसम्पन्न बनकर यह आराम में नहीं फँस जाता। यह **चरति**=गतिशील होता है। इसका जीवन सदा पुरुषार्थमय बना रहता है। वस्तुतः पुरुषार्थ ने ही इसे श्रीसम्पन्न बनाया था। ४. **स्वरोचिः**=इस पुरुषार्थी व परार्थी पुरुष का जीवन स्व=आत्मा की रोचिः=कान्तिवाला होता है। इसे आत्मतेज प्राप्त होता है अथवा इसकी शोभा अपने जीवन (स्व) से ही होती है, यह अपने बन्धुओं व किन्हीं अन्य सम्बन्धों के कारण यशस्वी हो,

ऐसी बात नहीं होती। ४. इस **वृष्णः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **असुरस्य**=प्राणसाधना के द्वारा (असवः प्राणाः) सब वासनाओं को दूर फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) इस विश्वरूप बननेवाले का **तत् नाम**=यह यश **महत्**=महान् होता है। संसार में यह यश प्राप्त करता है। उस यश का यदि इसे कोई गर्व नहीं होता तो ५. **विश्वरूपः**=सारे संसार को ही 'मैं' के रूप में देखनेवाला 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनावाला यह **अमृतानि**=मोक्षसुखों में **आतस्थौ**=विराजमान होता है। आत्मा की दृष्टि से तो सब अमर हैं, यह बारम्बार जन्म न लेने से वस्तुतः ही अमर हो जाता है। सभी के साथ प्रेम करने के कारण यह इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

भावार्थ—हम अपनी 'मैं' को विस्तृत करके विश्वरूप बनें और परिणामतः अमर हो जाएँ।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विश्वरूप प्रभु की उपासना

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑माना॒यान्ध॒सोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑ख॒ꣳ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑॥२३॥

१. गतमन्त्र का विषय 'विश्वरूप' बनना था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि विश्वरूप बनने के लिए उस विश्वरूप प्रभु की उपासना करो। **वः**=तुम्हारे **महे**=महनीय, पूजनीय व महस्=शक्ति देनेवाले **मन्दमानाय**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप **विश्वानराय**=सब मनुष्यों के स्वामी (विश्वे नरा यस्य)=किसी व्यक्ति व जातिविशेष से प्रेम न करनेवाले **विश्वाभुवे**=सम्पूर्ण विश्व में चारों ओर व्याप्त उस प्रभु के लिए **अन्धसः** =सोम के द्वारा, सोम के रक्षण से **प्र अर्च**=खूब अर्चना करो। २. वे प्रभु (क) शक्ति देनेवाले हैं (ख) आनन्दमय होने से आनन्द प्राप्त करानेवाले हैं (ग) सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं (घ) सबमें व्याप्त होकर रह रहे हैं। इस प्रभु की उपासना से ही मनुष्य भी विश्वरूप बनता है। उपासना का साधन यह है कि हम प्रभु से दी गई सर्वोत्तम वस्तु सोम की रक्षा करें। इसकी रक्षा ही ब्रह्मचर्य है—'ब्रह्म की ओर चलना' है। ३. उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु की तू उपासना कर **यस्य**=जिसके **सुमखम्**=उत्तम यज्ञ—सृष्टिरूप यज्ञ को **सहः**=सहनशीलता को **महिश्रवः**=महनीय ज्ञान को **नृम्णम् च**=और बल को **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **सपर्य्यतः**=पूज रहे हैं। ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी, आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं। भक्त जीव भी अनुभव करते हैं कि वे प्रभु कितने सहनशील हैं और किस प्रकार उसके हृदय को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। एवं, सारा प्राकृतिक जगत् व सम्पूर्ण चेतन जगत् प्रभु की ही महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। इस विश्वरूप प्रभु की उपासना से उपासक भी 'विश्वरूप' बनता है और सभी के साथ प्रेम से वर्तता हुआ 'सुचीक'=प्रभु का उत्तम सम्पर्क करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम विश्वरूप प्रभु की उपासना करें और स्वयं विश्वरूप बनकर अमरता का लाभ करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

जिनके प्रभु मित्र हैं

बृहन्नि॑दि॒ध्मऽए॑षां॒ भूरि॑ श॒स्तं पृ॒थुः स्वरुः॑। येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑॥२४॥

१. **येषाम्**=जिनके **युवा**=दुरितों से दूर करके (यु=अमिश्रण) भद्रों से सम्पृक्त करानेवाले (यु=मिश्रण) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सखा**=मित्र होते हैं **एषाम्**=इनकी **इध्मः**=ज्ञानदीप्ति **इत्**=निश्चय से **बृहत्**=बहुत अधिक बढ़ी हुई होती है। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, प्रभु का मित्र भी इस ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठता है। प्रभु अग्नि हैं, उनका उपासक जीव भी अग्नितुल्य होकर दीप्त हो उठता है। २. इन प्रभु-सखाओं का **भूरिशस्तम्**=कर्म अत्यधिक प्रशस्त होता है। 'भृ=धारणपोषण', इनके कर्म सदा धारण- पोषणात्मक होते हैं। निर्माण के कार्यों में लगे रहने से इनकी सर्वत्र प्रशंसा होती है। ये हित करते हैं, लोक इनका गुणगान करता है। ३. इस प्रकार सदा लोकहित में लगे हुए इन लोगों का **स्वरुः**=त्याग (Sacrifice) **पृथुः**=अत्यन्त विशाल होता है। ये विश्वरूप होने से सारे विश्व के लिए त्याग करते हैं। ४. इस प्रकार ज्ञान से इसका मस्तिष्क उज्ज्वल हुआ है, कर्मों से हाथ पवित्र हो उठे हैं और त्याग ने इसके हृदय को चमका दिया है, वहाँ स्वार्थ का मालिन्य नहीं है, अतः मस्तिष्क, हाथ व हृदय—तीनों को दीप्त करके यह 'त्रिशोक' इस अन्वर्थ नामवाला हो गया है।

भावार्थ—ज्ञान से हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, पोषक कर्म हमारे हाथों को प्रशस्त करें और त्याग का भाव हमारे हृदयों को निष्कलंक बनाये।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सोम से सोम की प्राप्ति

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ२॥ऽअभिष्टिरोजसा॥२५॥

प्रभु जीव को उपदेश देते हैं कि १. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **इहि**=क्रियाशील बन और **अन्धसः**=सोम से, शरीर में सुरक्षित वीर्यशक्ति से **मत्सि**=आनन्द का अनुभव कर। वीर्यरक्षा के लिए यहाँ दो साधनों की सूचना हुई है (क) एक, इन्द्रियों को वश में करना। उपस्थ के संयम के लिए जिह्वा का संयम आवश्यक है। (ख) दूसरा, क्रिया में लगे रहना। ऐसे जितेन्द्रिय, क्रियाशील लोग ही सोम का पान कर पाते हैं। २. इन **विश्वेभिः**=सब **सोमपर्वभिः**=सोम के पूरणों से हे जीव! तू **महान्**=बड़ा बन 'मह पूजायाम्'। तू प्रभु की पूजा करनेवाला हो। ३. **अभिष्टिः**=इस सुरक्षित सोम के द्वारा **ओजसा**=शक्ति से शरीर में रोगों पर आक्रमण करनेवाला हो। 'वीर्य' का तो अर्थ ही 'वि ईर'=विशेष रूप से कम्पित करनेवाला है। यह 'रोगों' का सर्वोत्तम औषध है। ४. वीर्य की रक्षा करनेवाले के हृदय में अशुभ भावनाएँ कभी नहीं जागती। यह सदा सभी की शुभकामना करता हुआ मधुर इच्छाओंवाला सचमुच 'मधुच्छन्दा' कहलाने के योग्य है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला व्यक्ति सदा प्रफुल्लित वदन (Smiling face) होता है, यह महान् बनता है, इसका दिल छोटा नहीं होता तथा साथ ही यह प्रभु का पुजारी होता है और शक्ति से रोगों पर आक्रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

राजा के कर्तव्य

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन् व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेनाऽअकृणोद्राम्याणाम्॥२६॥

१. राजनीति में उन्नति के विघातक तत्त्वों को 'वृत्र' कहते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश

को रोकने से **बादल** 'वृत्र' है, जिस प्रकार ज्ञान पर पर्दा डालने से **वासना** 'वृत्र' है, उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति में रुकावट डालनेवाले तत्त्व 'वृत्र' कहलाते हैं। जातीय विद्वेष फैलाकर उन्नति को रोकनेवाले साम्प्रदायिक Communalists 'वृत्र' हैं। **शर्धनीतिः**=शक्तिशाली नीतिवाला **इन्द्रः**=राजा **वृत्रम्**=इस उन्नति-विघांतक तत्त्व को **अवृणोत्**=रोकता है। वस्तुतः साम्प्रदायिकता बढ़ने से राष्ट्र का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जाता है, अतः राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए राजा को शक्तिशाली नीतिवाला बनना चाहिए। ढिल-मिल नीतिवाला शासन नहीं कर सकता। राजा के मौलिक गुण 'शौर्यं तेजः' हैं। २. **वर्पणीतिः**=(वर्प=praise) प्रशंसनीय नीतिवाला राजा **मायिनाम्**=जादूगरों के तमाशे आदि कार्यों को **प्र अमिनात्**=बहुत कम कर देता है, क्योंकि ये तमाशे लोगों की उत्पादक शक्ति को या उत्पादक घण्टों को कम कर देते हैं और लोगों की जेबों पर बोझ बनते हैं। ३. **व्यंसम्**=धोखेबाजों को राजा **अहन्**=वध दण्ड देता है, चूँकि समाज के ये सबसे बड़े अभिशाप होते हैं। ४. **उशधक्**= (उश+धक्=वश्-दह) दूसरों की सम्पत्ति की कामना करनेवालों को यह जला देता है। चोर-डाकूओं को तो राजा ने समाप्त करना ही है। इनके कारण औरों का धन ही नहीं जीवन भी असुरक्षित हो जाता है। ५. उन्नति के विघातक तत्त्वों को समाप्त कर राष्ट्र में **वनेषु**=ज्ञान की किरणों के निमित्त **राम्याणाम्**=ज्ञान के प्रचार से लोगों को आनन्दित करनेवालों की **धेनाः**=वाणियों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है, अर्थात् प्रेमपूर्वक प्रचार करनेवाले लोगों के द्वारा राष्ट्र में ज्ञान-प्रसार करता है। ६. यह राजा प्रजामात्र का मित्र होता है, अतः 'विश्वामित्र' कहलाता है।

भावार्थ—राजा के पाँच कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों का पालन करनेवाला राजा ही राजा कहलाने के योग्य होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

राजा स्वच्छन्द नहीं

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं तऽइत्था।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्तेऽअस्मे॥२७॥

१. राजा कितना भी अच्छा हो, उसे पूर्ण स्वच्छन्दता प्राप्त नहीं। उसे मन्त्रियों से विचार करके ही कार्य करना चाहिए। **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक! **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली राजन्! **माहिनः सन्**=पूज्य होता हुआ या शक्तिशाली mighty होता हुआ भी **त्वम्**=तू **कुतः**=क्यों **एकः यासि**=अकेला चलता है, अर्थात् जो मन में आता है वही कर देता है, मन्त्रियों से विचार नहीं करता। **ते**=तेरा **इत्था**=इस प्रकार चलना **किम्**=कुत्सित है। (स किं सखा=वह कुत्सित मित्र है)। २. **समराणः**=उत्तम गति करता हुआ तू **शुभानैः**=शुभ चाहनेवाले मन्त्रियों से **संपृच्छसे**=जिज्ञासा किया कर, इस प्रकार दोषों की सम्भावना कम हो जाती है। ३. हे **हरिवः**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाले राजन्! **यत्**=जो **ते**=तेरा विषय **अस्मे**=हममें निहित है **तत्**=उसे **नः**=हमें **वोचेः**=कहिए। जो विषय जिस-जिस मन्त्री का हो उसकी चर्चा उस-उस मन्त्री से करनी ही चाहिए। ४. उल्लिखत प्रकार से चलनेवाला राजा ही 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है।

भावार्थ—राजा को कभी स्वच्छन्द न होना चाहिए। मन्त्रीपरिषद् से सलाह करके ही कार्य करना चाहिए।

ऋषिः—गौरीवीतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

जितेन्द्रियता व वेद-दोहन

आ तत्तऽइन्द्रायवः पनन्ताभि यऽऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीᳬं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्॥२८॥

'इन्द्र' शब्द का अर्थ राजा भी होता है, तो प्रसंगवश २६ व २७वें मन्त्र में राजा का उल्लेख करके फिर आत्मा के विषय में कहते हैं कि १. हे इन्द्र=सर्वशक्तिमन्, परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयवः**=गतिशील **ते**=वे मनुष्य **तत्**=तेरा **आपनन्त**=सर्वथा स्तवन करते हैं **ये**=जो **गोमन्तं ऊर्वम्**=इस इन्द्रियों के समूह को **अभि**=लक्ष्य करके **तितृत्सान्**=हिंसित करते हैं, अर्थात् जो इन्द्रियों को मार लेते हैं, वश में कर लेते हैं। इन्द्रियों को जीतना और प्रभु का स्तवन करना, इन दोनों बातों में भेद नहीं है। प्रभु इन्द्र हैं, हम भी इन्द्र=जितेन्द्रिय बनकर उस इन्द्र का स्तवन कर पाएँगे। २. हे प्रभो! आपकी स्तुति वे करते है जो **बृहतीम्**=वेदवाणी को, सर्वप्रकार की उन्नतियों के साधनभूत वेद को **दुदुक्षन्**=दोहते हैं। किस वेदवाणी को? (क) **सकृत्स्वम्**=एक ही बार जन्म देनेवाली को, या दूसरे शब्दों में पुर्नजन्म को रोकनेवाली को। इस वेदवाणी से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य बार-बार के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। (ख) **पुरुपुत्राम्**=यह वेदवाणी पालन व पूरण के द्वारा (पृ) पवित्र करती है (पूः) और इस प्रकार मनुष्य की रक्षा करनेवाली होती है (त्र)। (ग) **महीम्**=यह महनीय है। इसका अध्येता भी महान् हो जाता है। (घ) **सहस्रधाराम्**=सहस्रों प्रकार से धारण करनेवाली है। सब प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान देकर यह हमारा धारण करती है। इस वाणी के अध्ययन से 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु व कीर्ति—सभी कुछ जीव को मिलता है। ३. इस वेद का दोहन करनेवाले को 'गौरीवीति'= सात्त्विक भोजनवाला तो होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'जितेन्द्रियता' व 'वेद-दोहन' से हुआ करती है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

वेदवाणी का भरण

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्तऽआनजे।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु॥२९॥

१. हे **महः**=महान् प्रभो! **इमाम्**=इस **ते**=तेरी **महीम्**=महिमा को प्राप्त करानेवाली **धियम्**=बुद्धि को, प्रज्ञा व कर्मों की प्रतिपादक वेदवाणी को **प्रभरे**=मैं प्रकर्षेण अपने में भरता हूँ। गतमन्त्र में इस वेदवाणी के दोहन का उल्लेख हुआ था। 'दोहन' के स्थान में प्रस्तुत मन्त्र में 'भरण' शब्द आया है। बात एक ही है। दोहन प्रपूरण ही तो है (दुह प्रपूरणे)। २. **अस्य स्तोत्रे**=इस प्रभु के स्तोता के लिए **यत्**=जब **ते धिषणा**=तेरी बुद्धि **आनजे**=प्राप्त होती है। वेदवाणी को अपने अन्दर भरने का प्रथम परिणाम यह है कि प्रभु की वेदप्रतिपादित बुद्धि प्राप्त होती है। ३. **तम्**=उस **उत्सवे**=खुशी में **प्रसवे च**=और पीड़ा में भी **सासहिम्**=सहनेवाले, मन के स्वास्थ्य को न खोनेवाले **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **देवासः**=सब देव **शवसा**=शक्ति से **अनु**=निश्चय **अमदन्**=हर्षित करते हैं। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—वेदवाणी के दोहन से प्रभु की दी गई 'धी' को अपने में भरने से (क) मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है, (ख) सुख-दुःख में यह सम रहता

है, (ग) जितेन्द्रिय बनता है, (घ) देव इसके अनुकूल होते हैं, (ङ) इसे शक्ति प्राप्त होती है, (च) और इसका जीवन आनन्दमय होता है। ५. इस प्रकार वेदवाणी के दोहन से सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला यह 'कुत्स' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि सचमुच कुत्स बनता है। (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ—मैं वेदवाणी को अपने अन्दर भरनेवाला बनूँ, जिससे सम-दुःख-सुख बनकर आनन्दमय जीवनवाला हो सकूँ।

ऋषिः—**विभ्राट्**। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

ज्ञान-सूर्य

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो योऽअभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति॥३०॥

१. पिछले मन्त्र में वेदवाणी को अपने में भरने का वर्णन था। यह पुरुष **विभ्राट्**=विशिष्ट ज्ञान की दीप्ति से चमकता है (वि-भ्राज्) और इसका हृदय **बृहत्**=विशाल बनता है। 'विज्ञानमयकोश ज्ञान से जगमगाता हो और मनोमयकोश राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशाल बन गया हो' तो वह जीवन कितना सुन्दर होगा! २. इन दोनों कार्यों के लिए यह **सोम्यम् मधु**=सोम-वीर्यरूप मधुरतम वस्तु का **पिबतु**=पान करे। इस सोम की रक्षा से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हृदय संकुचित भावनाओं से ऊपर उठता है। यह ज्ञान के सूर्य से चमकनेवाला विशाल हृदय पुरुष ३. **आयुः**=अपने सम्पूर्ण जीवन को, जिसको इसने **'अविह्रुतम्'**=अकुटिल बनाया है **यज्ञपतौ**=यज्ञों के पति प्रभु में **दधत्**=धारण करता है। अपने सम्पूर्ण जीवन को प्रभु-अर्पण करता है। जब हम इस समर्पण की भावना से चलेंगे तब जीवन को अधिक-से-अधिक सरल बनाएँगे ही। **'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'** सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। ४. समर्पण के लिए यह **वातजूतः**=वायु से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ, वायु की भाँति सरलता से कार्य करता है, वायु की भाँति औरों को जीवन देनेवाला होता है। शरीर में वायु के पुञ्ज प्राणों की साधना करता हुआ **यः**=यह **त्मना**=स्वयं **अभिरक्षति**=चारों ओर से अपनी रक्षा करता है, अर्थात् वासनाओं से अपने को बचाता है। प्राणसाधना से सब इन्द्रिय-दोषों का दहन हो जाता है। ५. यह **प्रजाः पुपोष**=उत्तम सन्तानों का पोषण करता है अथवा प्रजाओं का पालन करता है और **पुरुधा**=बहुत प्रकार से **विराजति**=विशेषरूप से चमकता है। (क) ज्ञान के सूर्य से चमकता हो (विभ्राट्), (ख) मन की विशालता से शोभायमान हो (बृहत्), (ग) सोम्य मधु का पानकर यह नीरोग बनकर स्वास्थ्य की ज्योति से चमकता है। (घ) प्रभु के प्रति समर्पण से यह निराभिमानता के कारण सुशोभित हुआ, (ङ) प्राणसाधना से वासनाओं पर विजय से यह अलंकृत हुआ। (च) प्रजाओं के पोषण के कारण यह यश से उज्ज्वल हो उठा। एवं, सतत् उज्ज्वल होकर यह सचमुच 'विराट्' इस अन्वर्थक नामवाला बना।

भावार्थ—हम 'विराट्'=सर्वत्र दीप्तिवाले बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

विश्व-दर्शन

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥३१॥

पिछले मन्त्र का 'विराट्' यहाँ 'प्रस्कण्व' 'अत्यन्त मेधावी' इस नाम से कहा गया है।

यह १. **उत्**=निश्चय से प्रकृति से ऊपर उठता है। उत्=out। यह प्रकृति के अन्दर उलझा नहीं रहता। २. प्रकृति से ऊपर उठकर **केतवः**=ये ज्ञानी लोग **त्यम्**=उस अव्यक्त प्रभु को जो **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक (जाते विद्यते) हैं तथा **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं और **सूर्यम्**=सदा हृदयस्थरूपेण उत्तम कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं (सुवति), उस प्रभु को ये विराट् व प्रस्कण्व लोग **वहन्ति**=धारण करते हैं। जैसे शरीर में प्राणों के संयम से ज्ञान-सूर्य का उदय होता है, जैसे सूर्य में मन का संयम करने से सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उस सूर्यरूप प्रभु का धारण करने से सम्पूर्ण देवों का ज्ञान हुआ करता है। २. **दृशे विश्वाय**=सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करने के लिए ये ज्ञानी लोग प्रभु का धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु के ज्ञान में सब विज्ञान समा जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति से ऊपर उठें, प्रभु को धारण करें, जिससे विश्व का दर्शन कर पाएँ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

भुरण्यन् जन

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२॥ऽअनु। त्वं वरुण पश्यसि॥३२॥

१. प्रभु **पावक**=पवित्र करनेवाले हैं। गतमन्त्र में ब्रह्मज्ञान का उल्लेख था। यह ब्रह्मज्ञान मनुष्य के जीवन को पवित्र करता है। ब्रह्मदर्शन करने पर पाप सम्भव ही नहीं। पापों को दूर करके वे प्रभु अपने सखा जीव के जीवन को सुन्दर बनाते हैं, प्रभु वरुण हैं, क्योंकि द्वेषादि बुराइयों का वारण करके वे हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं। हे प्रभो! **येन चक्षसा**=जिस ज्ञान के द्वारा आप हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं, वह ज्ञान हमें प्राप्त कराइए। २. **भुरण्यन्तं जनान्**=इन औरों का भरण करनेवाले लोगों का हे **वरुण**=श्रेष्ठ व शरणीय प्रभो! **त्वम्**=आप **अनुपश्यसि**=पालन व पोषण Look after करते हो। मनुष्य साथी प्राणियों का ध्यान करता है तो प्रभु उस मनुष्य का ध्यान करते हैं। ३. मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व=अत्यन्त बुद्धिमान् है। वह वेद में आदिष्ट प्रभु की आज्ञाओं का पालन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता है। (क) ज्ञान प्राप्त करता है (ख) अन्यों का भरण-पोषण करता है। (ग) द्वेष का निवारण करता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप प्रभु उसका ध्यान करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से हम अपने जीवन को पवित्र करें, लोकधारण करनेवाले बनें। तब वह प्रभु हमारा उसी प्रकार धारण व ध्यान करेंगे जैसे माता पुत्र का।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—विद्वान्। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उपाय-चतुष्टय

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतः रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञः समञ्जाथे॥३३॥

पिछले मन्त्र में प्रस्कण्व ने प्रभु से प्रार्थना की है कि हे प्रभो! आप मेरा ध्यान कीजिए। प्रभु उसे कहते हैं कि १. **दैव्यौ**=तुम दोनों पति-पत्नी दिव्य गुणोंवाले बने हो। यहाँ द्विवचन से यह भी संकेत है कि मनुष्य ने अकेले ही मुक्त नहीं होना, पति-पत्नी दोनों ने ही सम्मिलित रूप से अच्छा बनने का प्रयत्न करना है। २. **अध्वर्यू**=तुम दोनों (अध्वर-यु) अहिंसात्मक यज्ञों से अपने को जोड़नेवाले बनो। तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम्हारा कोई कार्य किसी की हिंसा का कारण न बने। ३. **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के समान त्वचावाले

इस शरीररूप रथ से **आगतम्**=तुम मेरे समीप आओ। यदि शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है तो इस रथ की आवरणभूत त्वचा सूर्य के समान चमकने लगती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए जहाँ (क) दिव्यता (ख) यज्ञमयता आवश्यक हैं, वहाँ (ग) शरीर का स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है। ४. स्वस्थ शरीर के साथ माधुर्य भी अनिवार्य है। **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=यज्ञात्मक विष्णु को **समञ्जाथे**=तुम प्राप्त होओ (अञ्ज्=गति)। हमें दिव्य, अहिंसक, स्वस्थ बनकर पूर्ण मधुर बनना है, 'भूयासं मधुसंदृशः'=मैं मधु-जैसा ही हो जाऊँ।

सामान्यतः मनुष्य बाहर भागता रहता है, कोई विरला धीर पुरुष ही उस परमात्मा का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला ही 'वेन'=मेधावी है। इस वृत्ति के पति-पत्नी (क) दिव्य गुणों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं (ख) अहिंसात्मक कर्मों में लगे रहते हैं, (ग) स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करके अपने शरीर-रथ को सूर्यत्वच बनाते हैं और (घ) अत्यन्त मधुर व्यवहारवाले होते हैं।

भावार्थ—दिव्यता, अहिंसा, स्वास्थ्य व माधुर्य—मनुष्य को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—सविता। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानयज्ञों का प्रस्ताव

आ न॑ऽइडा॑भिर्वि॒दथे॑ सुश॒स्ति वि॒श्वान॑रः सवि॒ता दे॒वऽए॑तु।
अपि॒ यथा॑ युवानो॒ मत्स॑था नो॒ विश्व॒ं जग॑दभिपि॒त्वे म॑नी॒षा॥३४॥

१. **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **इडाभिः**=वाणियों के द्वारा **सुशस्ति**=(सप्तमी का लुक्) उत्तम शंसन होने पर **विश्वानरः**=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला **सविता**=सबका प्रेरक **देवः**=देव **नः**=हमें **आ** =सर्वथा **एतु**=प्राप्त हो। यदि हम घरों में ज्ञानयज्ञों की परिपाटी डालें, सब घरवाले उपस्थित होकर धर्मग्रन्थों का पाठ करें तो यह पाठ हमारी प्रवृत्ति को अवश्य प्रभु-प्रवण करेगा। २. इसका परिणाम **अपि**=यह भी होगा कि **नः युवानः**=हमारे नौजवान, तरुण **मत्सथा**=मत्त नहीं हो जाते। छोटी उमर में वासना का वेग होता ही नहीं, वृद्धावस्था में वह शान्तप्राय हो जाता है, यौवन ही क्षोभ की अवस्था है। इस ज्ञानयज्ञ के निरन्तर चलने से यौवन में भी जीवन-समुद्र क्षुब्ध न होकर शान्त रहता है। इस ज्ञानयज्ञ के होने पर ३. **विश्वं जगत् अभिपित्वे**=सम्पूर्ण जगत् की प्राप्ति में हम **मनीषा**=बुद्धि से चलते हैं। हमारी प्रत्येक वस्तु के लिए एक बुद्धिपूर्वक पहुँच wise approach होती है। हम किसी भी कार्य में नासमझी से प्रवृत्त नहीं होते। इसी का परिणाम होता है कि हम पापों में नहीं फँसते। यह पापों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही 'अगस्त्य' है।

भावार्थ—हम अपने घर के सदस्यों को ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त करें और उनमें प्रभु की, ऋषियों की वाणियाँ पढ़ें तो हमारा झुकाव १. प्रभु की ओर रहेगा २. जीवन में मद न हो पाएगा तथा ३. प्रत्येक स्थिति में हम समझ से चलेंगे।

ऋषिः—श्रुतकक्षसुकक्षौ। देवता—सूर्यः। छन्दः—पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रबल इच्छा

यद॒द्य कच्च॑ वृत्रहन्नु॒दगा॑ऽअ॒भि सू॑र्य। सर्वं॒ तदि॑न्द्र ते॒ वशे॑॥३५॥

१. प्रभु ज्ञानयज्ञों का विस्तार करनेवालों से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=वासना को नष्ट करनेवाले **सूर्य**=ज्ञान-सूर्य के समान चमकनेवाले! तू **यत्**=जो **अद्य**=आज **कत् च**=या कभी

भी, जब भी **उत्**=प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी=प्रभु की ओर चल सकता है। इच्छा होनी चाहिए, इच्छा होने पर रास्ता निकल आता है। प्रकृति से ऊपर उठना कठिन है, परन्तु सकंल्प कर लेने पर कुछ कठिन नहीं रह जाता। क्रम यह है १. संकल्प २. ज्ञान-प्राप्ति, ज्ञान के सूर्य का उदय ३. वासना का विनाश ४. प्रभु की ओर चलना व प्रभु को पाना। २. मन्त्रार्थ इस रूप में भी ठीक है—हे वासनाओं को नष्ट करनेवाले! ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले इन्द्र! आज या कल जब भी तू प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी ओर आता है **तत्**=तब **सर्वम्**=सब **ते वश**=तेरे वश में हो जाता है। जिसने प्रभु को पा लिया, उसने सभी कुछ पा लिया।

ज्ञान-विज्ञान के सूर्य को अपने में उदित करनेवाले 'श्रुतकक्ष व सुकक्ष' प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं। यह ज्ञान को ही अपनी शरण समझते है, श्रुत ही कक्ष है और यह ज्ञानरूप शरण कितनी उत्तम है? इसी से यह सुकक्ष है।

भावार्थ—हम अपनी इच्छा ज्ञानप्राप्ति की बनाएँ, उससे वासना का विनाश करके प्रभु की ओर चलें और प्रभु को पाकर ब्रह्माण्ड को वश में करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का आदेश

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥३६॥

१. गतमन्त्र में 'वृत्रहन्' व 'सूर्य' से प्रभु कहते हैं कि ब्रह्माण्ड तेरे वश में हो गया, दूसरे शब्दों में तूने सब-कुछ पा लिया, तूने अपने जीवन की साधना कर ली, परन्तु इतने से तू अपने को कृतकृत्य न समझ लेना। अपने आप सब-कुछ पाकर अब तूने—(क) **तरणिः**=नाव बनना है। नाव स्वयं तो पानी में डूबती ही नहीं, औरों को भी डूबने से बचाती है, तूने भी इसी प्रकार औरों को तारना है। अपने आप तर जाने में ही साफल्य नहीं है। (ख) **विश्वदर्शतः**=तूने सबको देखनेवाला बनना है, केवल अपने को नहीं। मोक्ष भीं केवल अपने लिए नहीं चाहना। (ग) सभी को मोक्षमार्ग पर ले-जाने के विचार से हे **सूर्य**=स्वयं ज्ञानसूर्य के समान चमकनेवाले! तू **ज्योतिष्कृत् असि**=ज्योति को फैलानेवाला है। तू ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ज्ञान के प्रकाश को विकीर्ण करता है (घ) इस ज्ञान के विकिरण से तू **विश्वम् आभासि**=सारे संसार को सब ओर से दीप्त करता है। इस ज्ञान-विकिरण की क्रिया में तू **रोचनम्**=बड़ी रोचकता से कार्य करता है। तू ज्ञान के प्रचार में मधुर, श्लक्षण वाणी का प्रयोग करता है।

भावार्थ—हम तरणि बनें, नाव वही ठीक जो स्वयं नहीं डूबती और परिणामतः औरों को तराने का कारण बनती है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उपसंहार=Retirement

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततꣳ सं जभार।

यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥३७॥

१. **तत्**=तभी **सूर्यस्य**=गतमन्त्र में वर्णित सूर्य का **देवत्वम्**=देवपन व **तत्**=तभी **महित्वम्**=बड़प्पन, महिमा होती है **यदा**=जब **मध्या कर्त्तोः**=कामों के बीच में **विततम्**=फैले हुए क्रिया-जाल को **संजभार**=मनुष्य संगृहीत करता है। संसार के कार्यभारों—व्यापार आदि

को समेटकर २. **यदा**=जब यह **इत्**=निश्चय से **सधस्थात्**=सदा साथ रहनेवाले प्रभु से **हरितः**=ज्ञान की रश्मियों को **अयुक्त**=अपने साथ जोड़ता है। मनुष्य कार्यों से निपटकर जब प्रभु के समीप बैठता है, तब उसे ज्ञानधन प्रभु की ज्ञानरश्मियाँ क्यों न दीप्त करेंगी? इन ज्ञानरश्मियों से द्योतित होकर ही यह 'देव'=चमकनेवाला बनता है। चमकने पर ही इसकी महिमा होती है। इस प्रकार यह देवत्व व महत्त्व को प्राप्त करता है। ३. **आत्**=अन्यथा, कार्यों का उपसंहार करके प्रभु की गोद में न बैठने पर **रात्री**=अज्ञानान्धकार **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः**=अन्धकारवस्त्र को **तनुते**=तान देती है, अर्थात् मनुष्य गरीब हुआ तो नमक-तेल-ईंधन की चिन्ता में और धनी हुआ तो रुपये-पैसे की चिन्ता में जीवन को बिता देता है। उसे ''कोऽहं कुत आजातः''='मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ' इन प्रश्नों के सोचने का समय ही नहीं मिलता। ४. इस अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला व्यक्ति ही 'कुत्स' है। यह 'कुथ हिंसायाम्' अज्ञान की हिंसा करने के लिए ज्ञान के सूर्य का अपने में उदय करता है। इस सूर्योदय के लिए ही लौकिक कार्यों से निवृत्त होकर प्रभु-चरणों में बैठता है।

भावार्थ—हम जीविका के कार्यों का उपसंहार करके सधस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करें, जिससे हमपर अज्ञान का पर्दा न पड़ा रहे।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्य व सन्तोष

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥३८॥

१. **सूर्यः**=ज्ञान-सूर्य को अपने अन्दर उदित करनेवाला यह व्यक्ति **द्योः**=उस प्रकाशमय प्रभु के **उपस्थे**=समीप, उसकी गोद में बैठता हुआ **मित्रस्य**=स्नेह की भावना को तथा **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की भावना को **अभिचक्षे**=एकत्व दर्शन के लिए **तत् रूपम्**=प्रकाश को अपने अन्दर **कृणुते**=करता है। (**रूपम्**=प्रज्ञानम्—नि० १०।१३)। ज्ञान का प्रथम परिणाम ही यह है कि मनुष्य द्वेष से ऊपर उठता है और स्नेह से वर्त्तता है। २. **अस्य**=ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान इस पुरुष का **पाजः**=बल **अनन्तम्**=बहुत अधिक होता है। **अन्यत्**=विलक्षण होता है और **रुशत्**=देदीप्यमान होता है। वस्तुतः प्रभु के सम्पर्क के कारण इसमें प्रभु की ही शक्ति काम करने लगती है, अतः इसकी शक्ति का असाधारण व विलक्षण प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। ३. **हरितः**=इसकी ये ज्ञानरश्मियाँ (इस सूर्य के ये अश्व) **अन्यत्**=एक विलक्षण ही **कृष्णम्**='कृषिर्भूवाचकः शब्द, णश्च निर्वृतिवाचकः' भू और निर्वृति, स्वास्थ्य और सन्तोष को **संभरन्ति**=सबके अन्दर भरती हैं। सूर्योदय होता है और उसकी किरणें सबमें प्राणशक्ति का सञ्चार करती हैं, इसीप्रकार इस कुत्स की जो ज्ञान का सूर्य बन गया है, ज्ञानकिरणें सभी को स्वास्थ्य व सन्तोष देनेवाली होती हैं। 'कृष्णम्' शब्द का अर्थ आकर्षण भी है। इसकी ये ज्ञानकिरणें बड़े आकर्षक ढंग से लोगों में ज्ञान भरती हैं। यही भावना ३६वें मन्त्र में 'रोचनम्' शब्द से कही गई थी।

भावार्थ—हम प्रभु का उपस्थान करते हुए ज्ञान प्राप्त करें और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनें। तेजस्वी बनें और औरों को भी ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

जगदग्नि का प्रभु-स्तवन=द्रष्टा व श्रोता

बण्महाँ२॥ऽअसि सूर्य बडादित्य महाँ२॥ऽअसि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२॥ऽअसि॥३९॥

१. जब प्रभु के चरणों में बैठकर ज्ञानप्राप्त करने का उपक्रम होगा, तब गतमन्त्र के अनुसार 'द्योरुपस्थे' अवश्य ही एक दिन हम प्रभु का साक्षात्कार करेंगे। साक्षात्कार करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'जमदग्निर्वै चक्षुः' इस वाक्य के अनुसार जमदग्नि चक्षु है, जो देखता है। उस प्रभु को देखने पर यह अनुभव करता है कि प्रभु कितने महान् है। उसके मुखसे निम्न वाक्य उच्चरित होने लगते हैं—२. **सूर्य**=हे सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं, अतएव पूजनीय हैं (मह पूजायाम्)। प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। ३. उस प्रकाशमय प्रभु ने इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ग्रहण किया हुआ है 'आदानात् आदित्यः'=इस आदान के कारण ही वे प्रभु आदित्य हैं। सारे ज्योतिर्मय पदार्थ उनके गर्भ में है, तभी तो वे 'हिरण्यगर्भ' कहलाये हैं। ब्रह्माण्ड ही अनन्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु इतना विशाल संसार प्रभु के एक देश में ही है **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'**। प्रभु कितने महान् हैं? जमदग्नि कहता है कि हे **आदित्य**=सभी को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभो! **बट्**=सचमुच आप **महान् असि**=बड़े हैं। ४. यह जमदग्नि उस प्रभु को, जो इन सूर्य आदि को भी तेजस्विता प्राप्त करा रहे हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) एक तेज के पुञ्ज के रूप में देखता है और कहता है कि **महः**=तेज के पुञ्ज के रूप में **सतः**=होते हुए **ते**=आपकी तेजस्विता से प्रभावित मेरी वाणी आपकी **महिमा पनस्यते**=महिमा की स्तुति करने लगती है। सूर्यादि सभी को तेजस्वी बनानेवाले वे सचमुच तेज के पुञ्ज ही हैं। यह तेज मुझे भी तेजस्वी बनाता है और मेरी वाणी आपका स्तवन करने लगती है। ५. हे **देव**=सब देवताओं को देवत्व प्राप्त करानेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **अद्धा**=सचमुच **महान् असि**=महान् है। सब देव महान् हैं, प्रभु तो देवों के भी देव, देवाधिदेव हैं। वे तो महतो महान् हैं। ६. एवं, जमदग्नि प्रभु को 'महान्' देखता है। वे प्रभु क्यों महान् हैं, क्योंकि वे (क) सूर्य हैं, (ख) वे आदित्य हैं, (ग) वे महस् हैं, (घ) वे देव हैं। वस्तुतः महान् बनने के ये ही चार उपाय हैं। हमें भी महान् बनने के लिए सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनना होगा।

(क) हम अपना खाली समय ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में बिताएँ और इस प्रकार अपने मस्तिष्करूप गगन में ज्ञान के सूर्य का उदय करने का प्रयत्न करें। (ख) हम अपनी 'मैं' को विशाल बनाएँ कि हमारी 'मैं' में परिवार, कुल, प्रान्त व देश ही नहीं, वसुधा भी समा जाए। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** हमारा जीवनध्येय बन जाए। (ग) हम मात्रा में भोजन का स्वीकार करते हुए संयमी जीवन बनाकर तेजस्वी बनें। और (घ) अन्त में हम देव बनें। देव बनने के लिए द्वेष को हृदय में आने से रोकें (वरुण) सबके साथ स्नेह करें (मित्र) तथा यथोचित आर्थिक सहानुभूति भी दर्शाएँ (अर्यमा)। इन तीन बातों से हम दिव्य गुणों को अवश्य अपना पाएँगे। एवं सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनकर हम प्रभु का सच्चा स्तवन कर पाएँगे।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें, उदार हृदय बनें, तेजस्विता की साधना करें, और दिव्य गुणों को अपनाने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—सूर्यः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अदाभ्य ज्योति

बट् सूर्य श्रवसा महाँ२॥ऽअसि सत्रा देव महाँ२॥ऽअसि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥४०॥

१. स्तवन करते हुए जमदग्नि कहते हैं कि हे **श्रवसा सूर्य**=ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं। २. **सत्रा**=सचमुच ही **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **महान् असि**=आप महान् हैं। ३. हे प्रभो! आप ही **मह्ना**=अपनी महिमा से **देवानाम्**=सब देवों के **असुर्यः**=(असून् राति, तेषु साधु) उत्तम प्राणशक्तिदाता हैं। सूर्यादि देवों में अपना देवत्व थोड़े ही है। इन सबका देवत्व इन्हें प्रभु से ही प्राप्त हो रहा है **'तेन देवा देवतामग्रमायन्'**। सूर्यादि सब देदीप्मान पिण्ड प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहे हैं। विद्वान्, बलवान् व तेजस्वी पुरुष भी प्रभु से ही बुद्धि, बल व तेजस्विता प्राप्त कर रहे हैं, ४. **पुरोहितः**=ये प्रभु पुरोहित हैं, सब देवों से पूर्व विद्यमान हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'। सबसे पूर्व विद्यमान होते हुए ही ये उन सब देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं। सब जीवों के लिए प्रभु एक पुरोहित (model=आदर्श) के रूप में हैं, जिनके अनुसार जीव ने अपने जीवन को बनाना होता है। ५. वे प्रभु **विभु ज्योतिः**=एक व्यापक प्रकाश हैं जोकि **अदाभ्यम्**=न दबने योग्य हैं। सूर्य निकलता है और तारों का प्रकाश दब जाता है। 'इस प्रकार प्रभु का प्रकाश किसी अन्य प्रकाश से दबेगा' यह बात नहीं है। वे प्रभु तो एक न दबनेवाला प्रकाश है। इसी अदाभ्य ज्योति को हमने भी प्राप्त करना है, इसको प्राप्त करके हम उस महान् प्रभु के सच्चे उपासक बनेंगे। ज्ञान जितना व्यापक (विभु) हो उतना ही ठीक। व्यापक ज्ञान ही उन्नति के मन्दिर की दृढ़ नींव बनता है।

भावार्थ—मैं देव बनूँ, जिससे प्रभु मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करें और मैं एक अदाभ्य ज्योतिवाला बन जाऊँ।

ऋषिः—नृमेधः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

साम्यवाद "In the sweat of thy labour"=स्वेदस्य

श्रायन्तऽइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमानऽओजसा प्रति भागं न दीधिम॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृ-मेध' है, जो सब नरों से मिलकर चलता है (मेध=संगम)। 'यह अकेला खाएगा' यह कैसे हो सकता है! इसका विचार है कि **सूर्यम् इव**=सूर्य की भाँति **श्रायन्तः**=(to sweat, to perspire) श्रम के कारण पसीने से तर-बतर होते हुए **विश्वा इत्**=सभी प्राणी **इन्द्रस्य**=उस प्रभु से दिये गये भोजन का **भक्षत**=भक्षण करें।

इस मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है—(क) सबने अधिक-से-अधिक श्रम करना है, और (ख) अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार सबने भोजन प्राप्त करना है। वस्तुतः राष्ट्र को इस प्रकार के नियम बना देने चाहिएँ कि कोई व्यक्ति बिना कर्म किये न खा सके और कोई भी कर्म करनेवाला अपनी आवश्यकताओं को न पा सके, यह न हो। २. हम **ओजसा**=शक्ति के द्वारा **जाते**=धनों के उत्पन्न होने पर और **जनमाने**=आगे उत्पन्न होनेवाले धनों में **वसूनि**=धनों को **भागं न**=सेवनीय भाग के अनुसार **प्रतिदीधिम**=प्रत्येक व्यक्ति के लिए धारण करें। अपनी शक्ति के अनुसार हम कमाएँ, परन्तु उसे सारा अपने पर व्यय करने के

स्थान में भाग के अनुसार सबको दें। घर में यह साम्यवाद कितना सुन्दर चलता है। पिता कमाता है, वह कम खाता है, परन्तु न कमानेवाला बच्चा सबसे अधिक खाता है। एवं, घर में ये दोनों सिद्धान्त कार्य करते दिखते हैं। (क) काम सब शक्ति के अनुसार करते हैं और (ख) खाते सब आवश्यकतानुसार हैं। यही दो सिद्धान्त सारे राष्ट्र में लागू हों तो न राष्ट्र निर्धन हो और ना ही कोई भूखा मरे।

भावार्थ—सूर्य की भाँति हम श्रमशील हों, उत्पन्न धनों को सबके साथ बाँटकर खाएँ, धनों को प्रभु का समझें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

चैक का कैश होना

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' है। यह वासनाओं को ('कुथ हिंसायाम्') कुचल डालता है, इसके जीवन का यही ध्येय बनता है। यह प्रार्थना करता है कि **देवाः**=हे देवो! अथवा हे दिव्य वृत्तियो! **अद्य**=आज **उदिता सूर्यस्य**=सूर्योदय होते ही **अंहसः**=कष्ट व पीड़ा से **निःपिपृत**=हमें पार ले-चलो। **निः अवद्यात्**=पीड़ा से दूर करने के लिए हमें निन्द्य पापों से बचाओ। (क) 'पीड़ा से दूर होना, (ख) पीड़ा से दूर होने के लिए पापों से ऊपर उठना' यह है कुत्स का निश्चय। इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए उसका मुहूर्त कल का नहीं है, आज ही और अभी सूर्योदय के समय ही। यह कुत्स कल-कल की उपासना नहीं करता।

२. **नः**=हमारे **तत्**=इस संकल्प को **मित्रः**=स्नेह का देवता **वरुणः**=द्वेषनिवारण का देवता **अदितिः**=अखण्डन व स्वास्थ्य का देवता **सिन्धुः**='एतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः'=जिससे ये पाँच भूत बद्ध (integrated) हैं, वह सोमशक्ति **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) विस्तार व उदारता **उत**=और **द्यौः**=दिव्=प्रकाश=मस्तिष्क की उज्ज्वलता व ज्ञान की देवता—ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें।

बैंक में जैसे एक चैक आदृत हो जाता है, अर्थात् केश कर दिया जाता है उसी प्रकार कुत्स का 'पीड़ा व पाप से दूर होने का निश्चय' ही एक चैक है। उस चैक का आदर मित्रादि देवों के बैंक ने करना है। इन देवों के बैंक में हमारा क्रेडिट=पूँजी होगी तभी चैक आदृत होगा, अतः हमें 'स्नेह व द्वेषराहित्य, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' इन गुणों का बैंक बनने का प्रयत्न करना है। इन्हीं का आदान-प्रदान करनेवाला होना है। इन पाँच का विकास करनेवाले ही 'पञ्चजन' हैं।

भावार्थ—कुत्स ऋषि वह है जो 'स्नेह व निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। इसी से वह 'पञ्जजन' कहलाएगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ऊर्ध्व रेतस् बनना=हिरण्यस्तूप

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपनी पाँच वस्तुओं का विकास करके, विकास ही नहीं

अपितु विकास के मूलभूत सोम की रक्षा करके प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप' बना है (हिरण्यं वीर्यम् स्तूप=to raise), शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला हुआ है। इसके जीवन में निम्न बातें होती है। १. यह **आकृष्णेन**=आकर्षक अथवा (कृषिर्भूवाचकः णश्च निर्वृतिवाचकः) स्वास्थ्य व सन्तोष का सञ्चार करनेवाले **रजसा**=(रजः कर्मणि) कर्मसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=वर्त्तमान होता है। इसका कार्य स्वास्थ्य व सन्तोष को फैलाना होता है, और अपने इस कार्य को यह बड़ी मधुरता से करता है। २. **अमृतं मर्त्यं च**=(क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते) अपने क्षरांश इस पाँचभौतिक शरीर को और अक्षरांश कूटस्थ आत्मतत्त्व को **निवेशयन्**=निश्चय से स्वस्थान में निविष्ट करनेवाला होता है। सामान्य भाषा में यह शारीरिक व आत्मिक दृष्टिकोण से स्वस्थ बनने का प्रयत्न करता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होता हुआ ही यह स्वास्थ्य का सञ्चार कर पाता है। मानस व आत्मदृष्टि से सन्तुष्ट यह सन्तोष को फैलाता है। स्वयं स्वस्थ व सन्तुष्ट ही तो औरों को स्वस्थ व सन्तुष्ट बना सकता है। ३. यह **सविता**=सबको प्रेरणा देनेवाला हिरण्यस्तूप ऋषि **देवः**=स्वयं दिव्य गुणोंवाला बनता है और **हिरण्येन रथेन**=ज्योतिर्मय रथ से चलता है। ज्ञान को बढ़ाकर स्वयं प्रकाशमय बनकर, यह औरों को भी मार्गदर्शन करने में समर्थ होता है। मन में दिव्यता और मस्तिष्क में ज्योति को लेकर जब यह प्रजा का नेतृत्व करने चलता है तब उनको भटकाने का कारण नहीं बन जाता। ४. स्वस्थ शरीर, दिव्य मन व उज्ज्वल मस्तिष्क को पाकर ही यह स्वयं को कृतकृत्य नहीं मान बैठता, अपितु यह **भुवनानि पश्यन्**=सब भूतों का ध्यान करता हुआ (Looking after all) **याति**=चलता है। अथवा **याति**=प्रभु की ओर बढ़ता है, सर्वभूतहिते रतः ही प्रभु का सच्चा भक्त होता है।

भावार्थ—हम हिरण्यस्तूप बनकर शरीर व आत्मा को स्वस्थ रखते हुए प्रजाओं में भी स्वास्थ्य को फैलाने का प्रयत्न करते हुए प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वसिष्ठ—उत्तम जीवन

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिटऽइयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्॥४४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, उत्तम निवासवाला। इसके जीवन की निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. **प्रवावृजे**=यह वासनाओं का स्वयं ही वर्जन करता है, काम-क्रोध आदि का अपने को शिकार नहीं होने देता। २. **सुप्रया**=इस उद्देश्य से यह सात्त्विक अन्नवाला होता है, अथवा उत्तम प्रयत्नवाला होता है (प्रयस्=अन्न, प्रयत्न) ३. **एषां बर्हिः**= इसी से इनका हृदय बर्हि बनता है, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो अत्यन्त बृंहित=बढ़ा हुआ, विशाल बना है। ४. **आविश्पती इव**=यह समन्तात् प्रजाओं का रक्षक-सा बनता है। विशाल व निर्वासन हृदयवाला बनकर यह सभी का हित साधन करता है। ५. ऐसे अच्छे, आकर्षक (आकृष्णेन, रोचनम्) ढंग से प्रचार करता है कि यह **विशाम्**=प्रजाओं के **बीरिटे**=हृदयान्तरिक्ष में **इयाते**=पहुँच जाता है (Touches their heart), उनको अपनी बात अच्छी प्रकार हृदयंगम करा देता है। ४. **अक्तोः**=रात्रि के तथा **उषसः**=उषाकाल के **पूर्वहूतौ**=प्रथम पुकार में, अर्थात् सायं व प्रातः की प्रार्थना में यह आराधना करता हुआ कहता है कि मैं (क) **वायुः**=वायु की भाँति सदा गतिशील बनूँ, **पूषा**=सूर्य की भाँति सब प्रजाओं में प्राण का सञ्चार करूँ (ग) **नियुत्वान्**='नियुत्' शब्द

वायु के घोड़ों के लिए प्रयुक्त होता है। जीवात्मा 'वायु' है **'वायुरनिलममृतम्'**। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं। मैं उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनूँ। यह उत्तम इन्द्रियाँश्वोंवाला ही अपनी जीवन-यात्रा उत्तम ढंग से पूर्ण कर पाता है। इसप्रकार मैं **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होऊँ। मेरा कल्याण हो, मैं औरों का कल्याण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन निर्वासन (वासनारहित), सात्त्विक व पवित्र हृदयवाला हो। मैं लोकसंग्रह करता हुआ लोगों के हृदयों तक पहुँचने का प्रयत्न करूँ। प्रातः-सायं यही आराधना करूँ कि—मैं क्रियाशील, पोषण करनेवाला व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर उत्तम स्थिति में होऊँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य गुणों का आराधन

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान्मारुतं गणम्॥४५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि रात्रि व उषा के प्रारम्भ में प्रथम पुकार (प्रार्थना) के समय 'वायु व पूषा' को पुकारते हैं। उसी प्रार्थना को कुछ विस्तार से प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। 'मेधातिथि' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—जीवन-यात्रा में समझदारी से चलनेवाला। यह प्रातः-सायं निम्न देवों का आराधन करता है १. **इन्द्रवायू**=मैं इन्द्र और वायु को पुकारता हूँ। 'इन्द्र', अर्थात् इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ, ऐश्वर्यशाली बनूँ (इदि परमैश्वर्ये) मेरे कर्म शक्तिशाली हों (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य) वायु बनूँ (वा गतिगन्धनयोः), निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा बुराई का संहार करनेवाला बनूँ। ३. **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारता हूँ। बृहस्पति ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति है। मैं भी उन्नति के शिखर पर पहुँचता हूँ। बृहस्पति देवगुरु हैं। मैं भी ज्ञानियों का गुरु, ज्ञानियों का भी ज्ञानी, उत्कृष्ट ज्ञानी बनता हूँ। ४. **मित्राग्निम्**=मित्र और अग्नि को पुकारता हूँ। (मित्रः प्रमीतेः त्रायते) अपने को मृत्यु व पाप से बचाता हूँ और इस प्रकार आगे बढ़ता हूँ (अग्निः अग्रेणीः)। मित्र शब्द की भावना (मिद् स्नेहने) स्नेह करने की भी है। उन्नति-पथ वस्तुतः प्रेम-पथ ही है। ५. **पूषणं भगम्**=मैं पूषा व भग को पुकारता हूँ। अपना पोषण करके औरों के भी पोषण के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। पोषण के लिए भग (ऐश्वर्य) को बाँटता हूँ। पोषण के लिए पर्याप्त धन से अधिक धन की कामना नहीं करता हूँ। ६. **आदित्यान्**=मैं आदित्यों को पुकारता हूँ। 'आदानात् आदित्यः' आदित्य वे हैं जो अपनी 'मैं' में सभी को समाविष्ट कर लेते हैं। उदार-हृदय बनकर मैं वसुधा को कुटुम्ब समझने का प्रयत्न करता हूँ। इस हृदय की विशालता के लिए ही ७. **मारुतं गणम्**=प्राणसमूह को पुकारता हूँ। वस्तुतः प्राणसाधना से ही हृदय निर्द्वेष व विशाल बनेगा।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना के द्वारा इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषन्, भग व आदित्य को अपने अन्दर धारण करता हूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

निर्वैरता व स्नेह=वरुण व मित्र द्वारा सुराधाः बनना

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः॥४६॥

१. 'वरुण' देवता वारण करती है, द्वेषादि को हृदयों में उत्पन्न नहीं होने देती। द्वेषादि को हृदय में आने से रोककर यह हमारे हृदय को मलिन होने से बचाती है। **वरुणः**=वरुण

प्राविता=रक्षक **भुवत्**=हो। २. 'मित्र' स्नेह करने की देवता है। 'हम द्वेष न करें' इतना ही नहीं, हम परस्पर प्रेम करनेवाले बनें। मित्र का अर्थ यास्क 'प्रमीतेः त्रायते' भी करते हैं, पापों व रोगों से बचाता है, अतः **मित्रः**=यह मित्र देवता **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब संरक्षणों के द्वारा हमें पाप व रोग से बचानेवाला हो। ३. 'वरुण और मित्र' ये दोनों देव एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। 'द्वेष न करना' एक पहलू है 'स्नेह करना' दूसरा। एवं, वरुण और मित्र मिलकर **नः**=हमें इस संसार में **सुराधसः**=उत्तम साफल्यवाला (राध=सिद्धि) **करताम्**=करें। ५. गतमन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' था। वही प्रस्तुत मन्त्र का भी ऋषि है। संसार में समझदारी से चलना (मेधया अतति) ही मेधातिथि बनना है। मन के स्वास्थ्य को न खोने के कारण यह अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करता है और सचमुच 'सुराधाः' बनता है।

भावार्थ—'वैर न करना और स्नेह से चलना' जीवन को सफल करना है।

ऋषिः—**कुसीदी**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराडार्चीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के साथ सजात्य

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतोऽअश्विना॥४७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी' (कौ सदति) पृथिवी पर स्थिरता से चलनेवाला है, हवा में उड़नेवाला नहीं, हवाईकिले बनानेवाला नहीं, और इसीलिए यह 'कुस संश्लेषणे' प्रभु से आलिंगन करनेवाला सचमुच 'कुसीदी' बन पाता है। यह कहता है—२. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **विष्णो**=हे सर्वव्यापक परमात्मन्! आप **नः**=हम **सजात्यानाम्**=समान जातिवालों के **अधि**=अधिष्ठाता हैं। हम आपके सजात्य हैं। आपकी भाँति हम भी चेतन हैं। आपमें और हममें बड़े-छोटे का ही अन्तर है, हम आत्मा हैं तो आप परमात्मा। हम सजात्यों के आप अधिष्ठाता हैं। २. कुसीदी की इस बात को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **मरुतः**=मितराविणः=अरे भाई! कम बोलनेवाले होकर, रिश्तेदारी की दुहाई न देते हुए, हम प्रभु के रिश्तेदार है, ऐसा घमण्ड न करते हुए **अश्विना**=प्राणापान की साधना के द्वारा **इत**=मुझे प्राप्त होओ। प्रभु के नाते का राग आलापने से यह उत्तम है कि हम शोर न मचाते हुए संयत वाणीवाले होकर प्राणसाधना करें और प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इस प्राणसाधना से ही असुर नष्ट-भ्रष्ट होंगे। अन्य इन्द्रियों को असुर पराजित कर लेते हैं, अतः उनसे प्रभु का उपासन नहीं चल पाता। प्रभु की उपासना प्राणों से ही होगी।

भावार्थ—हम प्रभु से अपना सजात्य अनुभव करें और वासनाओं में फँसने को अपनी शान के विरुद्ध समझें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चतुर्दश रत्न

अग्नऽइन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्द्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो।
उभा नासत्या रुद्रोऽअध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त॥४८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रतिक्षत्र' है—प्रत्येक अङ्ग को क्षत (हानि) से बचानेवाला। यह प्रार्थना करता है कि **प्रयन्त**=प्रकर्षेण प्राप्त हों, इसकी ओर आएँ। कौन-कौन? १. **अग्ने**=हे अग्ने! तुम मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो। मैं 'अग्रेणीः' होऊँ। 'उन्नति Progress' यह मेरे जीवन का मूलमन्त्र हो। २. **इन्द्र**=हे इन्द्र! तुम मुझे प्राप्त

होओ। (क) मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ (ख) मैं शक्तिशाली बनूँ, (ग) मैं ऐश्वर्य प्राप्त करूँ। उन्नति के लिए ये तीनों बातें आवश्यक हैं। धन के बिना भी उन्नति सम्भव नहीं होती। ३. **वरुणः**=मैं वरुण को प्राप्त करूँ। विघ्नों का वारण करनेवाला बनूँ। सबसे महान् विघ्न ईर्ष्या-द्वेष हैं, इन्हें मैं रोकूँ। मेरे हृदय में ईर्ष्या का प्रवेश न हो पाये। ४. **मित्र**=हे मित्र! आप मुझे प्राप्त होओ। मैं जीवन-यात्रा में सबके प्रति स्नेह से चलूँ। अपने को पापों से बचाऊँ (प्रमीतेः त्रायते), हिंसा की वृत्ति को दूर रक्खूँ। ५. **देवाः**=हे देवो! मेरी ओर आओ मैं दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **शर्धः**=शक्ति मुझे प्राप्त हो। दिव्य गुणों को शक्ति से ही पाऊँगा। वीरत्व ही Virtue है और वीर न बनना ही evil है। ७. **मारुत**=हे मारुत! मेरी ओर आओ। मैं मितरावी बनूँ। वस्तुतः दिव्य गुणों से अपने को परिपूर्ण करके मैं मितरावी बन जाऊँगा। ८. **विष्णो**=हे विष्णो! मेरी ओर आओ। दिव्य गुणों को अपने में भरकर मैं व्यापक व विशाल मनोवृत्तिवाला बनूँ। मेरी 'मैं' में सारी वसुधा समा जाए।

९. **उभा नासत्या**=दोनों अश्विनीदेव=प्राणापान **जुषन्त**=मेरा सेवन करें। मैं प्राणापान की साधना करूँ। इस साधना ही ने मेरे हृदय को निर्मल व विशाल बनाना है। १०. **रुद्रः**=रुद्र मेरा सेवन करें। मैं रुद्र की भाँति प्राणापान की साधना करके असुरों के लिए प्रलय करनेवाला हो जाऊँ। इस प्राणापान से टकराकर ही असुर नष्ट-भ्रष्ट हुए थे। 'रुत्+र' का अभिप्राय उपदेश देनेवाला भी है। वह हृदयस्थ प्रभु मुझे उपदेश दें। प्राणापान की साधना से निर्मलहृदय प्रभुवाणी को सुनेगा ही।

११. **अध ग्नाः**=अब देवपत्नियाँ अथवा वेदवाणियाँ मेरा सेवन करें। देवपत्नियाँ देवों की शक्तियाँ ही है। पत्नी=शक्ति। घर में भी पत्नी ही वस्तुतः पति की शक्ति होती है। १२. **पूषा**=पूषा, अर्थात् सूर्यदेव मेरा सेवन करें और प्राणशक्ति के पोषण का कारण बने। १३. **भगः**=(भज सेवायाम्) सेवनीय धन मुझे प्राप्त हो। सब प्रकार के पोषण के लिए धन की आवश्यकता होती है। १४. **सरस्वती**=ज्ञान की देवता मेरा सेवन करे। मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुतः ज्ञान ने ही मेरे ऐश्वर्य पर कुछ प्रतिबन्ध रखना है, अन्यथा ऐश्वर्य तो वासनासक्ति का कारण बन जाता है। यहाँ मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रथम देवता 'अग्नि' है और अन्तिम 'सरस्वती' दोनों को मिलाकर देखें तो भावना यह है कि उन्नति का मूलमन्त्र ज्ञान है। उन्नति की चरमावधि ज्ञान की परिनिष्ठा में ही है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं ज्ञानी बनूँ और इस ज्ञान से ऐश्वर्य का सदुपयोग करनेवाला होऊँ, तभी मुझे मन्त्रोक्त चौदह रत्नों की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—**वत्सारः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवताओं का आवाहन

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२॥ऽअपः।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳसवितारमूतये॥४९॥

मन्त्र का ऋषि 'अवत्सार' है, अवत्सार ही प्रथमाक्षर के उच्चारण न होने पर वत्सार भी कहा जाता है। यह सारभूत वस्तु सोम की रक्षा के कारण 'अवत्सार' हुआ है। यह अवत्सार **हुवे**=आवाहन करता है, पुकारता हैं, किनको—१. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को। इन्द्र बल की देवता है तो अग्नि प्रकाश की। मैं बल भी प्राप्त करूँ और प्रकाश भी। क्षत्र

भी, ब्रह्म भी। शक्ति व ज्ञान दोनों का मेरे जीव में समन्वय हो। २. **मित्रावरुणा**=मैं स्नेह की देवता को पुकारता हूँ और निर्द्वेषता व ईर्ष्या आदि के निवारण का प्रयत्न करता हूँ। मैं सभी के साथ स्नेह से चलूँ, किसी से द्वेष न करूँ। उन्नति के मार्ग में द्वेष सर्वमहान् विघ्न है। ३. **अदितिम्**=मैं अदिति को पुकारता हूँ। मेरे जीवन में खण्डन न हो। मैं स्वस्थ बनूँ। वस्तुतः स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है और स्वस्थ शरीर व मन में ही बल, ज्ञान, स्नेह व निर्द्वेषता का निवास होता है। ४. स्वास्थ्य के लिए मैं **स्वः**=स्वयं राजमानता, अदासता को पुकारता हूँ, मैं इन्द्रियों का दास नहीं बनता। इन्द्रियों की दासता ही हमें विलासमय बनाकर रोगाभिभूत कर देती है। ५. **पृथिवीं द्याम्**=मैं पृथिवी व द्यौ को पुकारता हूँ। पृथिवी (प्रथ विस्तारे) विशालता का प्रतीक है और द्यौ प्रकाश का। मेरा हृदय विशाल हो और मस्तिष्क ज्ञान से जगमगाता हो। ६. इस विशालता व प्रकाश को अपने में लाने के लिए **पर्वतान्** =पर्वतों को पुकारता हूँ (पर्व पूरणे अपने में शक्ति के भरने का प्रयत्न करता हूँ। यह शक्ति व ज्ञान को अपने में भरना ही 'ब्रह्मचर्य' है। इस ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को भी दूर किया जाता है। ८. ब्रह्मचर्य के लिए व शक्ति को व्यर्थ न होने देने के लिए मैं **अपः**=कर्मों को पुकारता हूँ। मेरा जीवन कर्ममय होता है। कर्म में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता। ९. शक्ति को भरके मैं **विष्णुम्**=विष्णु को पुकारता हूँ। विष्णु धारक देवता है। मैं धारण करनेवाला बनता हूँ। 'यज्ञो वै विष्णुः'=मेरा जीवन यज्ञमय होता है। १०. **पूषणम्**=पूषा को पुकारता हूँ। अपना पोषण करते हुए सभी का पोषण करता हूँ। सूर्य के समान सभी में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला बनता हूँ। ११. **ब्रह्मणस्पतिम्**=पोषण-क्रिया में ग़लती न हो जाए, अतः मैं ज्ञान के पति को पुकारता हूँ, अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता हूँ। १२. **भगम्**=इस लोकहित में परतन्त्र न हो जाने के लिए भग को, ऐश्वर्य की देवता को पुकारता हूँ। ऐश्वर्य के बिना मैं अपना भी धारण न कर सकूँगा औरों का हित कर सकने का प्रश्न ही नहीं रहता। १३. नु=अब मैं **शंसम्**=शंसन को पुकारता हूँ, सभी का शंसन करता हूँ। किसी के लिए निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करता। १४. **सवितारम्**=अन्त में सविता को पुकारता हूँ। सविता प्रेरक है। मैं भी प्रेरणा देनेवाला बनता हूँ और इस प्रकार अपने जीवन को इन देवताओं से युक्त करके **ऊतये**=रक्षा के लिए समर्थ होता हूँ।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि आदि देवताओं का आवाहन करता हुआ मैं अपने जीवन की रक्षा करनेवाला बनता हूँ।

ऋषिः—**प्रगाथः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

तप+धन

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः।
यः शंसते स्तुवते धायि पज्रऽइन्द्रज्येष्ठाऽअस्माँ२॥ऽअवन्तु देवाः॥५०॥

१. **अस्मे**=हममें **रुद्राः**=रुद्र **मेहना**=(धननाम—नि० ४.४) धन और **पर्वतासः**=शक्ति का पूरण हो। रुद्र तपस्या का प्रतीक है। रुद्र प्राण हैं। इनकी साधना करनेवाला भी रुद्र बनता है और शत्रुओं को रुलानेवाला होता है, परन्तु इस संसार में केवल तप से कार्य नहीं चलता। तपस्या यदि आत्मा व मन के बल को प्राप्त कराती है तो धन होने पर शरीर व मन दोनों सबल बन पाते हैं। दूसरे शब्दों में शक्तियों का पूरण तप व धन से साध्य हो जाता है। २. तप, धन व शक्ति का पूरण—ये **सजोषाः**=समानरूप से हमारा सेवन करनेवाले

होकर **भरहूतौ**=संग्राम की पुकार होने पर **वृत्रहत्ये**=वृत्र के विनाश में निमित्त बनते हैं। यह वृत्र और इन्द्र का संग्राम ही अध्यात्म व सात्त्विक संग्राम है। इसमें विजय पाने के लिए आवश्यक है कि हम तपस्वी हों, शरीररक्षा के लिए पर्याप्त धनवाले हों और अपने में शक्ति का सञ्चय करें। ३. **यः पज्रः**=जो बल **शंसते स्तुवते**=शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए होता है, वह बल हममें **धायि**=धारण किया जाए। हम किसी व्यक्ति की निन्दा न करें और प्रभु का सदा स्तवन करनेवाले बनें। ऐसा करने पर हमें बल की प्राप्ति होगी। **इन्द्र-ज्येष्ठाः**=इन्द्र है ज्येष्ठ जिनमें वे **देवाः**=सब देव **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। वस्तुतः सब देवों का रक्षण तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य किसी की निन्दा नहीं करता और खाली समय को प्रभु-स्तवन में बिताता है। अपने समय को प्रभु-स्तवन में बितानेवाला यह व्यक्ति 'प्रगाथ' इस अन्वर्थक नामवाला है। प्रकृष्ट-गायन करनेवाला। इस प्रभु-गायन से ही इसे वह शक्ति प्राप्त होती है जो इसे संग्राम में काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश करने के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम तपस्वी बनें। धन को एकदम हेय न समझ लें। धनी बनकर तप को न छोड़ दें (विलासी न बन जाएँ)। यह मार्ग हमें वह शक्ति प्राप्त कराएगा जिससे हम वासना का विनाश कर पाएँगे।

ऋषिः—**कूर्मः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

काम, क्रोध, लोभ व अभिमान का विजय

अर्वाञ्चोऽअद्या भवता यजत्राऽआ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्त्तादवपदो यजत्राः॥५१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कूर्म है—निरन्तर-क्रियाशील। क्रियाशीलता के कारण ही यह सबका धारण करनेवाला बनता है और स्वयं को शक्तिशाली बनाता है। यह सब देवों से प्रार्थना करता है—हे **यजत्राः**=यज्ञ के द्वारा त्राण करनेवाले देवो! **अद्य**=आज **अर्वाञ्चः**=हमारे समीप **भवत**=प्राप्त हानेवाले होओ। मनुष्य यज्ञशील होता है तो बुराइयों से बचा रहता है, जितना-जितना बुराइयों से दूर होता है, उतना-उतना देवों के समीप होता है। २. जब मनुष्य संसार में इस दिव्यता के मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग पर चलता है तब प्रारम्भ में कुछ चमक लगने पर भी पीछे अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है और यह 'कूर्म' देवों से कहता है कि मैं **भयमानः**=डरता हुआ-सा **हार्दि**=हृदय से **वः**=आपके प्रति **आ व्ययेयम्**=सर्वथा आता हूँ। देवशून्य संसार में आसुर राज्य चलता है और उसमें एक-से-एक बढ़कर बलवाले निर्बलों को समाप्त करते हुए चलते हैं। वहाँ घात-ही-घात दृष्टिगोचर होता है, अतः कल्पना करके भी डर लगता है, इसीलिए इन असुरों से घबराकर मनुष्य फिर देवों की शरण में चलता है। ३. हे **देवाः**=देवो! **नः**=हमें **निजुरः**=निश्चय ही जीर्ण करनेवाली इस कामवासना से **त्राध्वम्**=बचाओ। **वृकस्य**=(वृक आदाने) इस आदान-ही-आदान (ला-ला) की भावनावाली लोभवृत्ति से भी हमें बचाओं। ४. **कर्तात्**=अपने आधार को ही छिन्न-भिन्न करनेवाले इस क्रोध से **त्राध्वम्**=बचाओ और हे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनवाले देवो! **अवपदः**=नीचे की ओर ले-जानेवाले, अर्थात् पाँवों तले कुचलनेवाले इस अभिमान से भी **त्राध्वम्**=रक्षा कीजिए। अभिमान सदा पतनोन्मुख है pride goeth before a fall. इस अभिमान से आप हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः कूर्म=क्रियाशील व्यक्ति ही काम, क्रोध व अभिमान पर विजय पा सकता है।

भावार्थ—हम सदा यज्ञशील बनें और यज्ञों द्वारा वासनाओं से दूर रहें।

ऋषिः—लुशः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्राण, अग्नि, देव, धन व शक्ति

विश्वेऽअ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ऽऊ॒ती विश्वे॑ भवन्त्व॒ग्नय॒ः समि॑द्धाः।
विश्वे॑ नो दे॒वाऽअव॒सा ग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒ द्रवि॑णं॒ वाजो॑ऽअ॒स्मे ॥५२॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'लुश' है 'लुनाति, श्यति' वासना का छेदन-भेदन करता है और बुद्धि को बड़ा तीव्र बनाता है। यह प्रार्थना करता है—१. **अद्य**=आज **विश्वे मरुतः**=सब प्राण हमें प्राप्त हों। मुख्यरूप से प्राण के पाँच भेद हैं फिर उनके अवान्तर भेद होकर इनकी संख्या ४९ हो जाती है। ये सब-के-सब प्राण मेरे जीवन में ठीक कार्य करें। ये **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=(ऊत्या) रक्षा के हेतु से हमें प्राप्त हों। २. प्राणों के कार्य के ठीक होने पर **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः**=हममें समिद्ध **भवन्तु**=हों। (क) स्वास्थ्य की भी एक अग्नि है, शरीर का स्वास्थ्य एक विशेष तापमान पर आश्रित है। तापमान कम होने पर निर्बलता घेर लेती है। उचित से अधिक तापमान ज्वर का चिह्न है, उस समय यह अग्नि रोगकृमियों व मलों से युद्ध कर रही होती है। युद्ध में कुछ गर्मी बढ़ ही जाती है। (ख) दूसरी अग्नि हृदय की है, जो प्रेम के रूप में प्रकट होती है। यही मर्यादा से बढ़कर 'कामाग्नि' का रूप धारण कर लेती है। (ग) तीसरी अग्नि 'ज्ञानाग्नि' है यह कामना को भस्मकर, कर्मों को पवित्र किया करती है। ये सब-की-सब अग्नियाँ प्राणों का कार्य ठीक होने पर समिद्ध रहती हैं और हमारे जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क की दीप्ति का कारण बनती हैं। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'लुश' का नाम अन्वर्थक हो जाता है। ३. इन अग्नियों के समिद्ध होने पर हे **देवाः**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! **विश्वे**=सब देव **अवसा**= रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **गमन्तु**=प्राप्त हों। सब अग्नियों के ठीक होने पर हमारा शरीर देवों का निवास-स्थान बनता है। ४. अब **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन संसार के निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति (द्रविण=द्रु गतौ=जिससे कार्य सुचारुरूपेण चले) और **वाजः**=बल **अस्मे**=हमारे लिए हो। सम्पत्ति को प्राप्त करके हम 'कुबेर'=कुत्सित शरीरवाले व निर्बल न बन जाएँ। धन में आसक्त हो जाने पर निर्बल ही नहीं, मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता। उसकी सब अच्छाइयाँ समाप्त हो जाती है, अतः धन के साथ 'वाज' को जोड़ दिया गया है। 'वाज' शक्ति का वाचक तो है ही, इसका अर्थ त्याग भी है। हम इस धन को सदा त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्राणसाधना से प्रारम्भ करें, इससे हममें स्वास्थ्य, प्रेम व ज्ञान की अग्नियाँ समिद्ध होंगी। ये हमें दिव्य बनाएँगी और हम जीवन के लिए आवश्यक धन का अर्जन करते हुए उसमें आसक्त न होंगे।

ऋषिः—सुहोत्रः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मेरा हृदय देवासन बने

विश्वे॑देवाः शृणु॒तेमꣳ हवं॑ मे॒ येऽअ॒न्तरि॑क्षे॒ यऽउप॒ द्यवि॒ ष्ठ।
येऽअ॑ग्निजि॒ह्वाऽउ॒त वा॒ यज॑त्राऽआ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्वम् ॥५३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' है—सु-होत्र, जिसने उत्तम हवन किया है। इसने गत मन्त्र में 'लुश' के रूप में सभी वासनाओं को जला दिया और अब अपने जीवन-यज्ञ की

वेदि को पवित्र बनाकर यह देवों से कहता है—**विश्वेदेवाः**=सब देवो! **मे**=मेरी **इमम्**=इस **हवम्**=पुकार को **शृणुत**=सुनो। हे देवो! **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में हो **ये**=जो **उपद्यवि**=द्युलोक के समीप **स्थ**=हो **उत**=और **ये**=जो **अग्निजिह्वाः**=अग्नि को अपना वक्ता (Spokesman) बनाये हुए पार्थिव देव हो **वा**=अथवा **यजत्राः**=आप सब जो यज्ञों के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हो, वे **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=निर्वासन व विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=बैठकर **मादयध्वम्**=मेरे जीवन को आनन्दमय बनाओ। २. 'ये पृथिव्यां एकादशस्थ, ये अन्तरिक्ष एकादशस्थ, ये दिवि एकादशस्थ' इन शब्दों में वेद ३३ देवों का संकेत कर रहा है। ११ पृथिवीस्थ देव हैं, ११ अन्तरिक्षस्थ और ११ द्युलोक के देव हैं। द्युलोकस्थ देवों का मुखिया सूर्य है, अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु व विद्युत् है और पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि है। प्रस्तुत मन्त्र में अन्तरिक्ष व द्युलोक का तो स्पष्ट उल्लेख है, पृथिवीस्थ देवों को 'अग्निजिह्वा' शब्द से याद किया गया है, उनका अग्नि मानो वक्ता है। पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि ही तो है। ३. **बर्हिः**=वेद में स्थान-स्थान पर हृदय को बर्हिः नाम से सूचित किया गया है। इस शब्द में मूलभावनाएँ दो हैं। (क) जहाँ से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, वह वासनारहित हृदय ही 'बर्हिः' है। (ख) 'बृहि वृद्धौ' से बनकर यह शब्द यह भावना दे रहा है कि वह हृदय 'बर्हिः' है, जो विशाल है, बढ़ा हुआ है।

४. इस हृदय में हम सब देवों का आमन्त्रण करते हैं। वास्तव में तो वासनओं को निकाल देने पर देव उस खाली स्थान को भरने के लिए स्वयं आ ही जाते हैं। देवों के लिए पवित्रस्थान बनाने के लिए ही हृदय का मार्जन किया गया है। जब हृदय के अन्दर दिव्य भावनाएँ आती हैं तब वहाँ प्रकाश व आनन्द का होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—हम 'सुहोत्र' बनकर अग्निकुण्ड में सब वासनाओं को भस्म कर दें और अपने हृदय को देवासन बनाकर आनन्द का लाभ करें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वामदेव को प्रभु का प्रसाद

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वꣳ सुवसि भागमुत्तमम्।
आदिद्दामानꣳ सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार अपने हृदय को देवासन बनाकर सुहोत्र अब 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बन गया है। प्रभु 'सविता' हैं (षु प्रसवैश्वर्ययोः), सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले हैं और यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य उन्हीं प्रभु का ही है। हे **सवितः**=आप ही देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु इन देवों को क्या-क्या प्राप्त कराते हैं, यह देखिए। २. **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **हि**=निश्चय से **यज्ञियेभ्यः**=जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है **प्रथमम्**=सबसे पहले **अमृतत्वम्**=अमृतत्व, रोगराहित्य को **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। ये यज्ञमय जीवनवाले देव रोगों का शिकार नहीं होते। रोग का सम्बन्ध भोग के साथ है **'भोगे रोगभयम्'**। यज्ञमय जीवन के साथ तो अमरता का ही सम्बन्ध है। यज्ञिय जीवनवाले देव रोगाक्रान्त नहीं होते। २. जहाँ देवों को रोगशून्यता व उत्तम स्वास्थ्य मिलता है, वहाँ साथ ही उस उत्तम स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए **उत्तमं भागम्**=उत्तम भजनीय-सेवनीय धन **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। धन को 'भग' कहते हैं। समूचा धन यदि 'भग' है, तो उसमें से मुझे प्राप्त हानेवाला अंश ही मेरा 'भाग' है। वह सवितादेव इन यज्ञशील देवों को सात्त्विक, अकुटिल मार्ग से प्राप्त होनेवाला धन देते हैं।

३. **आत् इत्**=धन के साथ आप इन देवों को **दामानम् व्यूर्णुषे**=उदरबन्धन से आच्छादित करते हैं। इनका जीवन बड़ा संयत होता है। पेट पर मानो ये रस्सी बाँधे रखते हैं। ये दामोदर ही तो संयत जीवनवाले होते हैं। इन यज्ञिय देवों को प्रभु धन के साथ संयम शक्ति भी प्राप्त कराते हैं। ये धनों से भोगों के भोगने में नहीं लग जाते। उदर पर दाम बाँधे रखते हैं। ४. इस प्रकार **मानुषेभ्यः**=इन मनुष्यमात्र का हित करनेवाले संयमी जीवनवाले पुरुषों के लिए **जीविता**=जीवन के साधन (यैः जीवति तानि जीवितानि) **अनूचीना**=अनुकूल होते हैं। जब मनुष्य अपने जीवन को सुन्दर बनाने में लगता है तब प्रभु उसे अनुकूल जीवन-साधन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम वामदेव बनें ताकि प्रभु से प्रसाद के रूप में अमृतत्व=स्वास्थ्य, उत्तम धन, संयम व अनुकूल जीवन प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**ऋजिश्वः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

निःश्रेयस+अभ्युदय=धर्मः

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम्।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥५५॥

१. गतमन्त्र का वामदेव सदा सरल मार्ग से चलता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्रों में ऋजिश्वः=ऋजुमार्ग से गति करनेवाला हो जाता है। (ऋजु+श्वि=गति)। देवता धनार्जन न करते हों, यह बात नहीं, परन्तु ये धर्नाजन में कभी कुटिल उपायों का अवलम्बन नहीं करते, सदा सरलमार्ग से धन कमाते हुए ये धन तो प्राप्त करते ही हैं, परन्तु साथ ही ये प्रभु को भूल नहीं जाते। इनकी बुद्धि आत्मतत्त्वप्रवण रहती है। ये अपने जीवन में निःश्रेयस व अभ्युदय दोनों का ही साधन करते हैं। २. यह ऋजिश्व कहता है कि हे प्रभो! आपने हमें मनीषा=बुद्धि दी है। यह सचमुच 'मनसः ईष्टे'=मन की ईश बने, मन का शासन करनेवाली बने और इस प्रकार बृहती (बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि—सर्वतोमुखी उन्नति का कारण हो। ये मेरी **बृहती मनीषा**=वृद्धि के लिए दी गई बुद्धि **वायुम् अच्छ प्र** (सरतु) आत्मतत्त्व की ओर चले। 'आत्मा' शब्द अत सातत्यगमने से बना है तो 'वायु' शब्द=वा गतौ से बनकर उसी मूल भावना को व्यक्त कर रहा है। 'वायुः अनिलम् अमृतं, अथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्' इस मन्त्र में भी नश्वर शरीर के विरोध में अनश्वर आत्मा को वायु शब्द से स्मरण किया गया है। मेरी बुद्धि सदा प्राकृतिक वस्तुओं की ओर न भागती रहकर प्रभुप्रवण बने। यह आत्मा को कभी न भूले। यह आत्मतत्त्व को विस्मृत न करना ही धीर पुरुष का लक्षण है। यही प्रेयस् को महत्त्व न देकर श्रेयस् को अपनाना है। मैं प्रतिदिन आत्मचिन्तन अवश्य करूँ। यही निःश्रेयस का मार्ग है। ३. इस आत्मचिन्तन के साथ शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए **बृहद् रयिम्**=वृद्धि के कारणभूत धन की ओर मेरी बुद्धि जाए, अर्थात् मैं बुद्धि से धनार्जन भी करूँ। यह धन ऐसा सदुपयुक्त हो कि **विश्ववारम्**=सबसे चाहने योग्य हो। सब कहें कि धन हो तो ऐसा हो। यह धन **रथप्राम्**=हमारे इस शरीररूप रथ का पूरण (प्रा) करनेवाला हो। यह धनार्जन ही अभ्युदय है। ४. अभ्युदय व निःश्रेयस का अपने जीवन में समन्वय करता हुआ मैं अपने मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बनाऊँ। प्रभु कहते हैं कि तू **द्युतद्यामा**=ज्योतिर्मय मस्तिष्करूप द्युलोकवाला बन। इस मस्तिष्क में तू ज्ञान के सूर्य के उदय के लिए प्रयत्नशील हो। ५. वायु के घोड़े नियुत् कहलाते हैं। 'वायु' आत्मा का नाम है। ये इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इन्हें उसने सदा नियत

कर्मों में लगाये रखना है। नियत कर्मों में लगाने योग्य होने से ही इन्हें 'नियुत्' कहते हैं। इन **नियुतः**=इन्द्रियाश्वों को **पत्यमानः**=(पत् गतौ) तू सदा नियत कर्मों में लगा। जब ज्ञानपूर्वक कर्म होंगे तब वे पवित्र ही होंगे। ४. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी बनता है। वस्तुओं के तत्त्व को जानने के कारण यह उनमें फँसता नहीं। कहीं भी न उलझता हुआ यह आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। इसका जीवन न उलझने के कारण ही सदा पवित्र व यज्ञमय बना रहता है। यह लोकहित में सदा प्रवृत्त रहता है। हे **प्रयज्यो**=यज्ञमय स्वभाववाले जीव! तू **कविम्**=उस क्रान्तदर्शी, सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले प्रभु को **इयक्षसि**=प्राप्त होता है। कवि बनकर ही तो 'कवि' को तू प्राप्त कर पाएगा।

भावार्थ—हम 'ऋजिश्व' ऋजुमार्ग से चलनेवाले बनकर, आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले बनें। सुपथ से ही धन कमाएँ। ज्योतिर्मय बनकर, कर्त्तव्य पालन करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँ और कवि बनकर उस कवि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न व शारीरिक स्वास्थ्य

इन्द्र॑वायूऽइ॒मे सु॒ताऽउप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि॥५६॥

१. मन्त्र का सरलार्थ यह है—**इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु **इमे**=ये **इन्दवः**=सोमकण **सुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। ये सोमकण **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों—इन्द्र और वायु को **उशन्ति**=चाहते हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक अन्नों से **उप आगतम्**=इन्हें समीपता से प्राप्त होओ।

२. ये सोमकण अन्न का ही अन्तिम परिणाम हैं। यदि अन्न सात्त्विक होता है तो ये सोमकण भी सौम्य व शान्त होते हैं और शरीर में सुरक्षित रहते हैं। ये सोमकण 'इन्दवः' कहे गये हैं, क्योंकि सारी शक्ति का मूल ये ही हैं—इन्द to be powerful. इन्हीं से जीवन का धारण होता है, इनकी समाप्ति के साथ जीवन समाप्त हो जाता है। ३. 'प्रयस्' शब्द अन्न का वाचक है, साथ ही यह प्रयत्न का वाचक भी है। दोनों अर्थों को मिलाने से यह भावना प्रतीत होती है कि 'जो अन्न प्रयत्न से प्राप्त किया गया है'। वस्तुतः प्रयत्न-प्राप्त अन्न का सेवन शक्ति की रक्षा में सहायक है। ४. सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना आवश्यक है। जितेन्द्रिय पुरुष ही वीर्यरक्षा कर पाता है। इन्द्रियों का दास बनने पर सोमशक्ति की रक्षा का प्रश्न ही नहीं रहता। इन्द्रियों का वशवर्ती न होने के लिए वायु बनना चाहिए। 'वा गतौ'=निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिए। अच्छे कार्यों में लगे रहेंगे तो बुरी भावनाएँ उत्पन्न ही नहीं होगी। आलसी को ही ये वासनाएँ सताती हैं। ५. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है। इसने प्रस्तुत मन्त्र में निम्न मधुर इच्छाएँ की हैं (क) **इन्द्र**=मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँगा। (ख) **वायु**=मेरा जीवन सतत क्रियामय होगा। (ग) **प्रयस्**=मैं प्रयत्न से प्राप्त सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला बनूँगा। (घ) **इन्दवः**=सोमकण शक्ति के स्रोत हैं, इस बात को न भूलूँगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें तथा निरन्तर क्रिया में लगे रहने से सोम के प्रिय बनें, अर्थात् शक्ति की रक्षा करनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्नेह व अद्वेष—मानस स्वास्थ्य

मि॒त्रꣳ हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम्। धियं॑ घृ॒ताची॒ꣳ साध॑न्ता॥५७॥

१. सोमकणों की रक्षा के लिए 'मानस स्वास्थ्य' की अत्यन्त आवश्यकता है। मनुष्य का मन क्षुब्ध होगा तो सोमरक्षा सम्भव न होगी, अतः 'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि मैं **मित्रम्**=स्नेह की देवता को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो स्नेह की देवता **पूतदक्षम्**=मेरे बल को पवित्र बनाती है। जब हमारा स्नेह व्यापक बना रहता है तब वह पवित्र होता है और वीर्य में उष्णता उत्पन्न करने का कारण नहीं बनता। यही स्नेह संकुचित होकर जब वासना का रूप धारण कर लेता है तब यह 'काम' कहलाता है और तब सोमरक्षा सम्भव नहीं होती। एवं, 'स्नेह को व्यापक बनाना' सोमरक्षा का उत्तम उपाय है। २. **वरुणम् च**=(हुवे) मैं वरुण को पुकारता हूँ। जो वरुण **रिशादसम्** (रिश+अदस्) संहारक शत्रुओं का खा जानेवाला है। (वरुणः वारयतीति सतः) 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। द्वेष मनुष्यों की शक्ति को जलाने का हेतु बनता है। ईर्ष्यालु पुरुष अपने अन्दर जलता रहता है। एवं, सोमरक्षा के लिए 'द्वेष' से दूर रहना नितान्त आवश्यक है। द्वेष तो रिश् है (रिश हिसांयाम्), मनुष्य की हिंसा करनेवाला है। ३. ये मित्र और वरुण=स्नेह करना व द्वेष से दूर रहना, इसलिए भी आवश्यक हैं कि ये दोनों मनुष्य की **घृताचीं धियं साधन्ता**=क्षरण व दीप्ति को देनेवाली बुद्धि को सिद्ध करते हैं। घृ क्षरणदीप्त्योः=स्नेह व अद्वेष से हमारा मन स्वस्थ रहता है और हममें वह बुद्धि उत्पन्न होती है जो मलों का क्षरण कर हमें दीप्त बनाती है। जब स्नेह वासना का रूप ले-लेता है तब वह 'काम' मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर देता है। काम तो है ही 'मन्मथ'। (मनो मथः=ज्ञान का नष्ट करनेवाला)। द्वेष, ईर्ष्या व क्रोध मनुष्य के मन को नष्ट कर देते हैं। 'ईर्ष्योर्मृतं मनः', ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत होता है। क्रोध में बुद्धि अलसा जाती है। एवं, 'मित्रावरुण' बुद्धि के नैर्मल्य के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' की मधुर इच्छाएँ निम्न शब्दों में व्यक्त हुई हैं—(क) **मित्र**=मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ। (ख) **वरुण**=मैं द्वेष का सदा वारण करनेवाला होऊँ। (ग) मलों के 'क्षरण' से मैं दीप्त बुद्धि को सिद्ध करूँ (घृताचीं धियं) और (घ) सब के प्रति स्नेहवाला बनकर द्वेष से सदा दूर रहता हुआ मैं सोमरक्षक बनूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्राण-साधना

दस्रा॑ युवाक॑वः सु॒ता नास॑त्या वृ॒क्तब॑र्हिषः। आ या॑तꣳ रुद्रवर्त्तनी॥५८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' प्राणापान हैं। प्राणापान 'अश्विनौ' इसलिए कहलाते हैं कि '**न श्वः**'=आज हैं और कल नहीं। अथवा 'अश् व्याप्तौ' ये सदा कार्यों में व्याप्त रहते हैं। प्राणापान कभी सोते नहीं। प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'दस्रा, नासत्या व रुद्रवर्त्तनी' कहा गया है। ये (दसु उपक्षपे) सब मलों को उपक्षीण करनेवाले हैं। शरीर के मलों को क्षीण करके शरीर को नीरोग बनाते हैं। मन से राग-द्वेष को दूर भगाकर मानस शान्ति देते हैं और बुद्धि की मन्दता को नष्ट करके बुद्धि को सूक्ष्म करते हैं। ये 'नासत्या'= नासिका में रहनेवाले हैं। इनका व्यापार घ्राणेन्द्रिय में चलता है अथवा 'न असत्यौ' ये असत्य नहीं हैं, ये सत्य-ही-सत्य हैं। इनकी साधना मनुष्य के शरीर, मन व मस्तिष्क को सत्य व निर्मल बनाती है। ये प्राणापान 'रुद्रवर्त्तनी' हों, (रुद्र इति स्तोतृनाम-निघण्टौ) स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले हों, अर्थात् इनसे प्रभु के नामों का जप चले। मैं अपने श्वासोच्छ्वास के साथ प्रभु के नामों का स्मरण करूँ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **दस्रा**=दोषों

का उपक्षय करनेवाले **नासत्या**=नासिका में होनेवाले व सदा सत्य **रुद्रवर्त्तनी**=स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले प्राणापानो! तुम इन सोमकणों को जो **सुताः**=तुम्हारे शरीर में उत्पन्न हुए हैं **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणसाधना 'सोमरक्षा' का सर्वोत्तम साधन है। प्राणापान के अभ्यास से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है। ३. प्राणसाधना से सुरक्षित सोमकण **'युवाकवः'** हैं (यु=मिश्रण-अमिश्रण), ये हमें मलों से पृथक् करके नीरोगता, शान्ति व बुद्धि की सूक्ष्मता से युक्त करते हैं। सब दुरितों से दूर करने और भद्र से मिलानेवाले ये ही हैं। दुरितों से दूर करते हुए ये सोमकण **'वृक्तबर्हिषः'** हैं (वृक्त=purified वृक्तं बर्हिः यैः) ये हृदय को पवित्र करनेवाले हैं। हृदय की पवित्रता से ये सुरक्षित होते हैं। सुरक्षित हुए-हुए ये हृदय को और अधिक निर्मल बनाते हैं।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में मधुच्छन्दा की मधुर इच्छा यह है कि मेरे प्राण प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कुशिकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श पत्नी के कर्तव्य—आदर्श गृहिणी का गुणदशक

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यः सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥५९॥

१. मन्त्र का ऋषि कुशिक है (कुशा+इक) **कुशा**=घोड़े की लगाम, **इक**=वाला। इन्द्रियरूपी घोड़ों की लगामवाला। जिसने मनरूपी लगाम से इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में किया हुआ है। यही व्यक्ति घर का उत्तम सञ्चालन कर सकता है। घर की साम्राज्ञी पत्नी होती है, वह स्वयं अपना उत्तम सञ्चालन करती हुई घर को उत्तम मार्ग से ले-चलती है। उसके कर्त्तव्यों को निम्न शब्दों में देखिए। २. **यत्**=जो **ई**=निश्चय से **सरमा**=पति के साथ ही रमण करनेवाली, जिसके सब आनन्द पति के साथ हैं **अद्रेः**=पर्वततुल्य विघ्नों के भी **रुग्णम्**=(रुजो भंगे) तोड़ने-फोड़ने को **विदत्**=जानती है, अर्थात् पत्नी का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह घर में उपस्थित होनेवाले विघ्नों को स्वयं नष्ट-भ्रष्ट कर सके। प्रसंगवश 'सरमा' शब्द ने यह भी व्यक्त कर दिया कि पति से अलग संसारिक आनन्दों का वह स्वप्न भी लेनेवाली न हो। ३. यह **सध्र्यक्**=(सह अञ्चति) पति के साथ मिलकर **पाथः**=मार्ग को **कः**=बनाती है 'घर का सञ्चालन किस प्रकार करना है' इस बात का निश्चय यह पति के साथ मिलकर करती है और दोनों एकमत से विचारपूर्वक जिस मार्ग को बनाते हैं उसकी दो विशेषताएँ होती हैं—(क) **महि**=प्रथम तो वह (मह पूजायाम्) पूजावाला है। घर के सब व्यक्ति प्रातः प्रभुपूजा से दिन को प्रारम्भ करते है और सायं पूजा के साथ ही दिन की समाप्ति करते हैं, इस प्रकार इनका मार्ग पूजामय हो जाता है। (ख) **पूर्व्यम्**=यह मार्ग ऐसा होता है कि (पृ पालनपूरणयोः) इसमें घर के सब व्यक्तियों के स्वास्थ्य का ध्यान किया गया है, यह मार्ग उनका पालन करनेवाला है और साथ ही यह उनके मनों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने देता। १. पति-पत्नी मिलकर मार्ग न बनाएँगे तो बच्चे माता न मानेगी तो पिता से बात मनवा लेंगे। पिता न माने तो माता से मनवा लेंगे। इस प्रकार घर में 'द्वैध शासन'-सा चलेगा, जो कभी हितकर नहीं होगा, अतः **सध्र्यक्**=मिलकर ही रास्ते का निर्माण करना है। ४. पत्नी का तीसरा कर्त्तव्य है कि वह **अग्रं नयत्**=घर के सब व्यक्तियों को आगे-और-आगे ले-चलती है। सब सन्तानों की उन्नति का पूरा ध्यान करती है। ५. **सुपदी**=(पद गतौ) पत्नी स्वयं सदा उत्तम गतिवाली होती है। स्वयं सोयी हुई पत्नी बच्चों को 'जगाकर पढ़ने के लिए' प्रेरणा नहीं दे सकती। ६. माता के लिए यह भी

आवश्यक है कि वह **अक्षराणाम्**=प्रत्येक अक्षर के **अच्छा रवं जानती**=शुद्ध उच्चारण को जाननेवाली हो। माता से बच्चे ने उच्चारण सीखना है। ७. अन्तिम बात यह है कि माता **प्रथमा** (प्रथ विस्तारे)=उदार हृदयवाली हो। संकुचित हृदयवाली माता बच्चे को भी संकुचित हृदयवाला बना देगी। इस प्रकार उदार हृदयवाली बनकर **गात्**=यह गृहिणी घर में चलती है।

भावार्थ—आदर्श पत्नी वह है जो १. **सरमा**=पति के साथ आनन्द का अनुभव करती है। २. विघ्नों से न घबराकर उन्हें दूर करती है (विदत् रुग्णमद्रेः) ३. घर की नीति का निर्धारण पति के साथ विचार कर करती है (सध्र्यक्) ४. इसकी नीति में पूजा को प्रथम स्थान दिया जाता है (महि), ५. इसका प्रत्येक कार्य पालन व पूरण के लिए होता है (पूर्व्य)। इसकी नीति से घर में सबके शरीर स्वस्थ रहते हैं, मन व मस्तिष्क में कोई न्यूनता पैदा नहीं होती। ६. यह घर की उन्नति का कारण बनती है (अग्रं नयत्), ७. स्वयं उत्तम आचरणवाली होती है, ८. शुद्ध उच्चारणवाली होती है। ९. उदार हृदयवाली होती है (प्रथमा) १०. गतिशील होती है, आलस्य से दूर (गात्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्गदर्शक प्रभु

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरऽएतारमग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृताऽअमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः॥६०॥

१. **अमृताः देवाः**=देव अमृत हैं, अमर हैं। ये किसी भी सांसारिक वस्तु के पीछे भागते नहीं, वस्तुओं का उचित प्रयोग करते हुए ये ज्ञानीलोग उन वस्तुओं में आसक्त नहीं होते। २. ये देव **क्षैत्रजित्याय**=इस संसाररूप रणक्षेत्र में विजय पाने के लिए उस **अमर्त्यम्**=पूर्णरूप से अनासक्त एवं **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **एनम्**=इस प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **आ अवर्धन्**=सर्वथा बढ़ाते हैं। उस प्रभु का स्तवन करते हैं। इस संसार-संग्राम में विजयी होने का एकमात्र उपाय प्रभु-स्तवन ही है। प्रभु ने ही हमारे लिए 'काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को जीतना है। इस शत्रु-विजय के द्वारा वे प्रभु हमारा हित साधते हैं, इसीलिए ३. **अस्मात्**=इस **वैश्वानरात्**=सर्व नरहितकारी **अग्नेः**=अग्रेणी उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को छोड़कर **अन्यम्**=किसी और को **पुर एतारम्**=आगे ले-चलनेवाला **स्पशम्**=मार्गदर्शक **नहि अविदन्**=नहीं जानते। देवलोग प्रभु को ही मार्गदर्शक समझते हैं। वस्तुतः 'अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनना और उसके अनुसार कार्य करना', इससे बढ़कर धर्मज्ञान का और साधन नहीं है। जब मनुष्य प्रभु को अपना नेता बनाता है तब भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता। ४. प्रभु को ही मार्गदर्शक बनानेवाला व्यक्ति सभी को प्रभु का पुत्र जानता है, उसमें सभी के प्रति प्रीति की भावना होती है। सभी के साथ स्नेह करने के कारण इसका नाम 'विश्वामित्र' होता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना मार्गदर्शक बनाएँ। ऐसा करने पर हम भटकेंगे नहीं। संसार-संग्राम में पराजित नहीं होंगे और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पति-पत्नी, राजा-रानी अथवा राजा व सेनापति

उग्रा विघनिना मृधऽइन्द्राग्नी हवामहे। ता नो मृडातऽईदृशे॥६१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'इन्द्राग्नी' हैं। 'इन्द्र' पति है उसने शक्तिशाली होना है और धन कमाना है। इन्द्र असुरों का संहार करता है, पति ने भी आसुरवृत्ति का संहार करते हुए चलना है। पत्नी ने 'अग्नि' बनना है। मन्त्र संख्या ५९ में इसके लिए 'अग्रं नयत्' तो कहा ही गया है। गृहिणी वही जो घर को आगे ले-चलती है—अग्नि है। २. ये दोनों **उग्रा**=उदात्त स्वभाव के हैं। इनके शील में कहीं भी कमीनापन नहीं होता। ये उदार होते हैं। ५९ में पत्नी को 'प्रथमा'=विशाल हृदयवाली कहा ही गया है। इनकी उदात्तता पर घर की उदात्तता निर्भर करती है। इनके दिल छोटे होते हैं तो घर भी छोटा बन जाता है। ३. ये **इन्द्राग्नी**=पति-पत्नी **मृधः**=हमारा वध करनेवाले जो काम-क्रोधादि शत्रु हैं, उनका **विघनिना**=विशेषरूप से हनन करनेवाले होते हैं। काम-क्रोध पर विजय ही संसार-संग्राम में सच्चा विजय है। इसी में गृहस्थ की सफलता है। ४. ऐसे इन्द्राग्नी को ही **हवामहे**=हम पुकारते हैं, अर्थात् प्रभु से यही आराधना करते हैं कि हमारे राष्ट्र में प्रत्येक घर में ऐसे पति-पत्नी हों तभी राष्ट्र का एक-एक घर उत्तम बनकर राष्ट्र का उत्थान होगा। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा-रानी लें तो अर्थ होगा हमारे राष्ट्र के प्रमुख पुरुष शासक व शासिकाएँ उदात्त व शत्रुनाशक हों। वे काम-क्रोध के वशीभूत न हों। इन्हीं का अनुकरण शेष प्रजा ने करना है। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा व सेनापति लें तो बाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करने की भावना भी 'मृधः विघनिना' शब्दों से सूचित होती है। ये राष्ट्र-शत्रुओं को कुचल डालनेवाले हों। ५. **ता**=ऐसे पति-पत्नी ही **नः**=हम सबको **ईदृशे**=इस प्रलोभनमय संसार में **मृडातः**=सुखी करनेवाले होते हैं। जिस राष्ट्र में पति-पत्नी 'इन्द्राग्नी' होंगे उस राष्ट्र में न कोई भूखा मरेगा (इन्द्र=ऐश्वर्य), न ही कोई मूर्ख होगा (अग्नि=प्रकाश)। कितना सुखमय व सुन्दर होगा वह राष्ट्र! यह राष्ट्र 'भरद्वाजों' का होगा। उन लोगों का जिन्होंने काम-क्रोध को जीतकर अपने में शक्ति का भरण किया है (भरद्+वाज=भरद्=भरता है, वाज=शक्ति को)।

भावार्थ—पति-पत्नी उदात्त स्वभाव के व काम-क्रोध को जीतनेवाले हों।

ऋषिः—**देवलः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपासना के तीन लाभ

उपा॑स्मै गायता नरः॒ पव॑माना॒येन्द॑वे। अ॒भि दे॒वाँ२॥ऽइय॑क्षते ॥६२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि देवल है—देवों का लेनेवाला—दिव्य गुणों को अपने अन्दर बढ़ानेवाला। यह अपने को दिव्य गुणों का पुञ्ज बना पाया है, क्योंकि इसने प्रभु का उपासन किया है। यह कहता है कि २. हे **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर (नृ नये) ले-चलनेवाले लोगो! **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **उपगायत**=समीपता से गायन करो। घर में सब मिलकर बैठें और उस प्रभु का स्तवन करें। यही एकमात्र उपाय है जिससे कि हमारा जीवन बुराइयों से बचा रहता है। हम गुणों से युक्त होकर अपने जीवन को प्रभु-गुणगान से ही सुन्दर बना पाते हैं, अतः उस प्रभु के लिए गायन करो जो ३. **पवमानाय**=पवित्र करनेवाले हैं। प्रभु गुणगान से हमारा जीवन पवित्र बनेगा। प्रातः प्रभु के समीप बैठ, हम उसका गुणगान करें। ४. **इन्दवे**=शक्तिशाली प्रभुके लिए गुणगान करो। प्रभु का गुणगान हममें शक्ति भरेगा। ५. उस प्रभु का गान करो जो हमें **देवान् अभि इयक्षते**=देवों की ओर ले-चलनेवाले हैं। प्रभु का गुणगान हमें प्रेरणा देगा और हमारे जीवन को दिव्य गुणों से भर देगा। दिव्य गुणों को प्राप्त करके हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवल' बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु-उपासन के तीन लाभ हैं—'पवित्रता, शक्ति व दिव्यता'।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विप्र का लक्षण—विप्र बनने का उपाय

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः॥६३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से प्रेम करता है। यह विश्वामित्र पहला काम 'अहि-हत्या' के रूप में करता है। 'अहि' वृत्र है। ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वृत्र कामवासना का नाम है, क्योंकि यह हमारे ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इसे 'अहि' नाम इसलिए दिया कि यह 'आहन्ति'=मनुष्य का विनाश करती है। इस अहि-हत्या के लिए विप्र प्रभु का वर्धन करते हैं। **ये**=जो **त्वा**=तुझे **अहि-हत्ये**=इस वृत्र व कामवासनाओं के नाश के निमित्त **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। हे प्रभो! आप **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले हैं (मा+अघ) अथवा यज्ञमय (मघ=मख) हैं। यह विप्र भी आपकी यज्ञमयता का स्तवन करता है और यज्ञमय बनता हुआ वासना को विनष्ट करता है। २. 'शंबर' ईर्ष्या का नाम है, यह मनुष्य की मानस शान्ति को समाप्त कर देती है। इस शंबर के साथ युद्ध को यहाँ 'शांबर' कहा गया है। विप्र लोग वे हैं **ये**=जो **शाम्बरे**=ईर्ष्या के साथ युद्ध में आपका स्मरण करते हैं और ईर्ष्या से ऊपर उठ जाते हैं। ३. हे प्रभो! आप 'हरिवान्' हैं, दुःखनाशक (हृ हरणे) ज्ञान की किरणोंवाले (हरयः रश्मयः) हैं। विप्र वे हैं **ये**=जो हे **हरिवः**=ज्ञान रश्मियोंवाले प्रभो! आपको **गविष्टौ**=(गो+इष्ट) ज्ञानयज्ञों में बढ़ाते हैं, अर्थात् स्तुत करते हैं। प्रभु मूल आचार्य हैं, गुरुओं के भी गुरु हैं। ५. फिर **विप्राः**=विप्र वे हैं **ये**=जो **नूनम्**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अनुमदन्ति**=प्राप्त करने के बाद प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। आपकी प्राप्ति में ही जिन्हें आनन्द होता है, जो सभी प्राकृतिक भोगों के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं रखते। ६. एवं, विप्र वह है जो (क) काम और ईर्ष्या पर विजय पाता है, (ख) ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है और (ग) प्रभु-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा विप्र बनने के लिए मन्त्र की समाप्ति पर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सगणः**=ज्ञानेन्द्रिय पंचक, कार्मेन्द्रिय पंचक व पाँच प्राणों के गण से युक्त हुआ-हुआ **मरुद्भिः** (मरुतः=प्राण) प्राणों के द्वारा **सोमं पिब**=सोम का पान कर। जब जीव प्राणसाधना करता है तब उसके वीर्य की ऊर्ध्वगति उसे श्रीसम्पन्न बनाती है। उसी समय काम व ईर्ष्या का नाश होता है, ज्ञानयज्ञ चलता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—विप्र वह है जो काम पर विजय पाता है, ईर्ष्या को नष्ट करता है, ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है, प्रभु-प्राप्ति में आनन्दानुभव करता है। विप्र बनने के लिए वह जितेन्द्रिय बनकर प्राणसाधना के द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऋषिः—गौरीवितिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

माता का वीर पुत्र

जनिष्ठाऽउग्रः सहसे तुराय मन्द्रऽओजिष्ठो बहुलाभिमानः।
अवर्द्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा॥६४॥

१. **यत्**=जब **वीरम्**=वीर सन्तान को **धनिष्ठा**=उत्तम धनोंवाली, अर्थात् स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति-रूप सभी धनोंवाली अथवा (धन to sound) सदा उत्तम शब्दों को

बच्चे के कान में डालनेवाली, बच्चे का निर्माण करनेवाली माँ **दधनत्**=बच्चे का पालन-पोषण करती है तब वह **उग्रः**=उदात्त **जनिष्ठाः**=बनता है।

माता (क) स्वस्थ हो, पवित्र मनवाली हो, ज्ञानकी दीप्तिवाली हो (ख) वह बालक के कान में सदा **'वेदोऽसि'**=तू ज्ञानी है, **'अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव'**=तू शरीर को पत्थर-जैसा मज़बूत बना, मन की वासनाओं के लिए कुल्हाड़े के समान बन और अविच्छिन्न ज्ञान की ज्योतिवाला हो' इस प्रकार के उत्तम शब्दों को ही डालनेवाली हो, (ग) सन्तान को सदा 'वीर' शब्द से स्मरण करती हुई उसमें वीरता का सञ्चार करे, (घ) बच्चे का संकल्पपूर्वक निर्माण करे, तभी बच्चा मन्त्र के शब्दों के अनुसार निम्न गुणों के विकासवाला बन पाएगा। २. **उग्रः**=उदात्त, उत्कृष्ट स्वभाववाला, जिसकी मनोवृत्ति में कमीनापन नहीं है। **सहसे**=यह सहस् के लिए **जनिष्ठाः**=होता है। सहस् में ही शक्ति का पर्यवसान है। लोग अपमान करते हैं, परन्तु यह तैश में नहीं आता। **तुराय**=यह शत्रुओं के संहार के लिए होता है। काम-क्रोध आदि के वशीभूत नहीं होता। **मन्द्रः**=यह सदा आनन्दमय, प्रसन्न मनवाला रहता है। मनःप्रसाद इसकी सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति होती है। **ओजिष्ठः**=यह अत्यन्त ओजस्वी होता है। ओज वह शक्ति है जो इसके सर्वांगीण विकास का कारण होती है। **बहुलाभिमानः**=यह अत्यधिक उत्कर्ष की भावनावाला होता है। अपनी महिमा का आदर करता है। निराशावाद की बातें नहीं करता रहता। हिम्मत नहीं हार जाता। सदा उत्साहमय मनवाला होता है **'अहमिन्द्रः, न पराजिग्ये'**='मैं इन्द्र हूँ, पराजित थोड़े ही होता हूँ?' यह इसकी भावना होती है। ४. **अत्र**=इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **मरुतः**=प्राण **इन्द्रम्**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता को **अवर्धन्**=वृद्धि को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् यह प्राणसाधना करता है और प्राणसंयम से सब प्रकार की उन्नति करता हुआ यह आगे-ही-आगे बढ़ता है। ५. इस सबके लिए वह गौरिवीति=सात्त्विक भोजनवाला होता है। सात्त्विक भोजन से इसका अन्तःकरण शुद्ध होता है।

भावार्थ—दीप्त ज्ञानवाली माता बच्चे को सदा उदात्त, सहनशील, वासनाओं का विजेता, आनन्दमय, ओजस्वी, उत्साह-सम्पन्न व प्राणसाधना का अभ्यासी बनाए। यही वृद्धि का मार्ग है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वामदेव का प्रभु-आराधन

आ तू नऽइन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः ॥६५॥

१. धनिष्ठा माता से निर्माण किया गया बालक बढ़ता हुआ 'वामदेव' बनता है, सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। इन्हीं गुणों का गतमन्त्रों में उल्लेख हुआ है। उन गुणों से युक्त बनना प्रभु की मित्रता में ही सम्भव होता है, अतः वामदेव प्रार्थना करता है २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे **तु**=तो **आ**=सर्वथा आप ही हो। हे **वृत्रहन्**=वृत्रों को नष्ट करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **अर्द्धम्**=वृद्धि को **आगहि**=आप प्राप्त कराइए अथवा (अर्द्धम्=side) हमारे पार्श्व में आप उपस्थित होइए। आपके द्वारा ही हमने इन वृत्रादि शत्रुओं पर विजय पानी है। ३. हे प्रभो! **महान्**=आप महान् हैं, बड़े हैं, पूज्य हैं। **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के द्वारा आप हमें प्राप्त हों। आपसे रक्षित होकर ही हम अपने देवत्व को स्थिर रख सकते हैं। वस्तुतः वामदेव बनना सम्भव ही तब होता है जब प्रभु अपने रक्षणों से हमारे समीप विद्यमान हों। प्रभु से असुरक्षित जीव

वासनाओं का शिकार हो जाएगा। हम वृत्रों=वासनाओं को थोड़े ही मारते हैं 'वृत्रहन्' तो वे प्रभु ही हैं। प्रभु की महिमा से ही हमें भी महिमा प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु इन्द्र हैं, वृत्रहन् हैं, महान् हैं। वे प्रभु हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—नृमेधः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्र=जितेन्द्रियता

त्वमिन्द्र प्रतूर्त्तिष्वभि विश्वाऽअसि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य्य तरुष्यतः॥६६॥

१. वामदेव ने गतमन्त्र में प्रभु से वृत्र-विनाश की याचना की थी। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध' है जो अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर चलता है। वस्तुतः 'सबके प्रति प्रेम होना' ही वृत्र के नाश का उपाय है। प्रेम ही संकुचित होते-होते 'वृत्र' बन जाता है। २. प्रभु जीव से कहते हैं—**इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वम्**=तू **प्रतूर्त्तिषु**=संग्रामों में **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अभि असि**=(अभि भवसि) अभिभूत कर लेता है। मनुष्य जितेन्द्रिय बने, यह जितेन्द्रिय बनना उसे सब शत्रुओं का विजेता बना देगा। ३. इस जितेद्रियता से सब शत्रुओं की समाप्ति होगी। परिणामतः तू **अशस्तिहा**=सब अप्रशंसनीय, अशुभ बातों का ध्वंस करेगा और **जनिता**=अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाला बनेगा। इन शत्रुओं ने ही तो हमारे सब विकास को रोका हुआ था। अब यह इन्द्र **विश्वतूः असि**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाला हो गया है। हे इन्द्र! **त्वम्**=तू **तरुष्यतः**=तेरी हिंसा करनेवालों को **तूर्य**=हिंसित कर डाल। वस्तुतः जब मनुष्य इन्द्रियों को जीत नहीं पाता तब उनका दास बन जाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें और अशुभ को दूर करके अपने जीवन को श्रीसम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—नृमेधः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

जितेन्द्रिय के लिए सब अनुकूल

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥६७॥

१. मनुष्य कई बार प्रतिकूलता की शिकायत करता है और कहता है कि 'ये लोग मेरे विरोधी हैं' या 'यहाँ की जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं'—ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। मनुष्य जब इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तब प्रभु कहते हैं कि **क्षोणी**=द्यावापृथिवी **ते**=तेरे **तुरयन्तं शुष्मम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले शोषक बल के **अनु ईयतुः**=अनुकूल गतिवाले होते हैं। उसी प्रकार अनुकूल गतिवाले होते हैं **न**=जैसे **शिशुं मातरा**=बच्चे के अनुकूल माता-पिता होते हैं। माता-पिता कभी बच्चे के प्रतिकूल नहीं हो सकते, इसी प्रकार द्यावापृथिवी तो मनुष्य के अनुकूल ही हैं, बशर्ते कि वह स्वयं अपने प्रतिकूल न हो जाए। यदि हम स्वयं इन्द्रियों के दास बनकर अन्तः शत्रुओं के शिकार हो जाते हैं तब तो सब प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल है। हम अपने स्वामी हैं तो सब अनुकूल-ही-अनुकूल है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब **वृत्रम्**=काम को **तूर्वसि**=तू नष्ट करता है तब **ते**=तेरे **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रु **श्नथयन्त**=नष्ट हो जाते हैं। वृत्र=कामवासना का नाम है, क्योंकि यह मन्मथ है, मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर डालती है, उसके ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव इसका विनाश

करता है। यह वृत्र सब शत्रुओं का मुखिया है। 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, व मत्सर'— ये छह शत्रु हैं। 'काम' जब ज्ञान पर पर्दा डालता है तब यह मोह (वैचित्य) का जनक होता है। किसी वस्तु का मद (शक्ति, धन व ज्ञान का मद) क्रोध को जन्म देता है और औरों की सम्पत्ति देखकर मात्सर्य होने पर लोभ बढ़ता है। एवं, ये 'काम-क्रोध-लोभ' ही नरक के द्वार हैं। इनमें भी काम-क्रोध दो ही इसके प्रमुख शत्रु हैं। इनमें भी सबसे बड़ा शत्रु काम ही है। यही शत्रु-सैन्य का सेनापति है। इसके ध्वंस होने पर ज्ञान का सूर्य ऐसे चमकने लगता है जैसे बादलों के हटने पर आकाश में सूर्य। उस ज्ञान-सूर्य के प्रकाश में सब शत्रु विलीन हो जाते हैं। मनुष्य देव बन जाता है, इसका जीवन यज्ञमय हो जाता है और इस प्रकार इसका 'नृ-मेध' यह नाम अन्वर्थक होता है।

भावार्थ—हम वृत्र का विनाश करें, हमारे ज्ञान का सूर्य चमके और सब शत्रु नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—आदित्याः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ=सुख

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्॥६८॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवानाम्**=देवों के प्रति=ओर **सुम्नम्**=सुख के रूप में होकर **एति**=वापस आ जाता है, अर्थात् यज्ञ का परिणाम जीवन का सुखी होना है। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'**=यज्ञ के अभाव में न इस लोक का कल्याण है, न परलोक का। **'स्वर्गकामो यजेत'**=सुख की कामनावाला यज्ञ करे। यज्ञ सुख के रूप में लौट आता है। देवों का जीवन यज्ञमय होता है, परिणामतः वे सुखी होते हैं। २. ये देव आदित्य होते हैं। सब अच्छी वस्तुओं का आदान करने के कारण ये आदित्य हैं। प्रभु कहते हैं कि **आदित्यासः**=हे आदित्यो! **मृडयन्तः**=सभी के जीवनों को सुखी बनाते हुए **भवत**=होवो। अपने जीवन को सुन्दर बनाकर ही सन्तुष्ट न हो जाओ औरों को भी सुखी करनेवाले होओ। ३. **वः**=तुम्हारी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची** (अर्वाङ् अञ्चति=अन्दर आती है)—हृदय तक पहुँचनेवाली **आववृत्यात्**=सर्वथा हो, अर्थात् आप ऐसे ढंग से लोगों को उपदेश दो कि तुम्हारी सुमति उनके हृदयों में बैठ जाए, हृदयंगम हो जाए। तुम्हारा उपदेश उनके हृदय को प्रभावित करनेवाला हो। ४. यह मति ऐसी हो कि **या**=जो **'अंहोःचित्'**=पापी को भी **वरिवोवित्तरा**=अधिक-से-अधिक पूजा को प्राप्त करानेवाली **असत्**=हो। आपकी इस मति को सुनकर पापी का हृदय भी इस प्रकार प्रभावित हो कि वह पूजा में प्रवृत्त हो जाए। ५. इस प्रकार अपने उपदेश से सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला 'कुथ हिंसायाम्' यह आदित्य 'कुत्स' कहलाता है। इसने पाप को समाप्त कर डाला है।

भावार्थ—किया हुआ यज्ञ सुख के रूप में परिवर्तित होकर यज्ञकर्ता के प्रति लौट आता है।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—सविता। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

आदर्श उपदेशक

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नोऽअघशꣳसऽईशत॥६९॥

१. 'आदित्य ब्रह्मचारी लोगों को कल्याणी मति प्राप्त करानेवाले हों', इन शब्दों पर पिछला मन्त्र समाप्त हुआ था। वह आदित्य ब्रह्मचारी स्वयं अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सवितः**=सारे संसार के जन्मदाता व प्रेरक प्रभो! **त्वम्**=आप **अदब्धेभिः**=हिंसित न होनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षण के उपायों से **अद्य**=आज **नः**=हमारे **गयम्**=शरीर को **परिपाहि**=सर्वतः रक्षित कीजिए। जो स्वयं अस्वस्थ है वह औरों में स्वास्थ्य का प्रसार नहीं कर सकता। स्वास्थ्य के नियमों को भंग न करते हुए हम स्वस्थ बनें। २. हे प्रभो! आप **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं। आपकी वेदवाणी का एक-एक मन्त्र हमारा हितकर व रमणीय है। **रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, जिससे हम **सुविताय**=सु-इत=सदा उत्तम आचरण के लिए हों और **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) सदा स्तुति करनेवाले हों। हमारा जीवन उपासनामय हो। आप 'हिरण्यजिह्व' हैं, आपका उपासक मैं भी हितरमणीय जिह्वावाला बनूँ। ३. हे प्रभो! **नः**=हमपर **अघशंसः**=बुराइयों का शंसन करनेवाला **माकिः ईशत**=शासन करनेवाला न हो जाए, अर्थात् हम किसी अघशंस की बातों में न आ जाएँ। ४. प्रभु की कृपा से व्यसनों से बचकर अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भरद्वाज' है। यह अपने जीवन में निम्न बातें लाता है—(क) स्वास्थ्य, (ख) मधुरभाषण व दीप्ति (ग) उत्तम आचरण, (घ) स्तवन, (ङ) बुराइयों के प्रति आकृष्ट न होना।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में शक्ति भरके औरों में भी शक्ति का सञ्चार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

लक्ष्य की ओर

प्र वीरया शुचयो दद्रिरे वामध्वर्युभिर्मधुमन्तः सुतासः।
वह वायो नियुतो याह्यच्छा पिबा सुतस्यान्धसो मदाय॥७०॥

१. पिछले मन्त्र में भारद्वाज ने प्रभु से प्रार्थना की थी कि प्रभु उसकी रक्षा करे। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु उसे रक्षा का उपाय बताकर वसिष्ठ=इस शरीररूप गृह में निवासवाला बनने की प्रेरणा देते हैं। २. प्रभु एक गृहस्थ से कहते हैं कि **वाम्**=पति-पत्नी तुम दोनों के मलों को **वीरया**=बड़ी वीरता के साथ **प्रदद्रिरे**=खूब ही विदीर्ण कर दें, नष्ट-भ्रष्ट कर दें। कौन? (क) **शुचयः**=पवित्र सोमकण। पवित्र सोमकण वे हैं जो सात्त्विक भोजन से उत्पन्न हुए हैं। (ख) **मधुमन्तः**=जो सोमकण हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं। इन्हीं के द्वारा शरीर स्वस्थ बनता है, मन निर्मल होता है, और मस्तिष्क उज्ज्वल बनता है, परिणामतः जीवन में माधुर्य बना रहता है। (ग) **अध्वर्युभिः सुतासः**=जो सोमकण अध्वर्युओं से पैदा किये गये हैं 'अ-ध्वर्-यु=अपने साथ हिंसा को न जोड़नेवालों से, अर्थात् न तो वे मांसाहार करते हैं और न उनकी कमाई किसी प्रकार की हिंसा से की जाती है। वस्तुतः इस प्रकार हिंसाशून्य अन्न से ही सात्त्विक सोमकण उत्पन्न होते हैं। ऐसे सोमकण सब प्रकार के मलों को समाप्त कर देते हैं। ३. प्रभु कहते हैं कि **वायो**=हे क्रियाशील जीव! तू **नियुतः वह**=इन इन्द्रियरूप घोड़ों को सञ्चालित कर। इन्द्रियाँ अश्व हैं, तू इनको अपने वश में रख और इनको मार्ग पर चला और ४. **अच्छ याहि**=लक्ष्य प्राप्त होनेवाला हो। घोड़े तेरे काबू में हों और तू निरन्तर आगे बढ़ता चल। इसी जीवन में लक्ष्य पर पहुँचने का निश्चय रख। ५. इस सबके लिए तू **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम का **पिब**=पान कर

और **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिए हो। इस सोमपान ने ही तेरे जीवन में मिठास व उल्लास को भरना है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा हम सब मलों का विदीर्ण करनेवाले बनें तथा उल्लासयुक्त होकर लक्ष्य की ओर बढ़ते चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वेदवाणी का महत्त्व

गावऽउपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥७१॥

वसिष्ठ वेदवाणियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=मेरे हृदयरूप गुहा को (गर्त को) **उपावत**=समीपता से रक्षित करो, अर्थात् मेरा हृदय वेदवाणियों का अधिष्ठान बने, जिससे वहाँ वासनाओं का कूड़ा-कर्कट जमा हो न जाए। ये वेदवाणियाँ **मही**=महनीय हैं, पूजा की वृत्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं। इनके अध्ययन से हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। **यज्ञस्य रप्सुदा**=ये वेदवाणियाँ यज्ञों के 'रप-सु-दा' व्यक्त प्रतिपादन को उत्तमता से देनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उत्तमता से प्रतिपादन है। वेदों में नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। इस वेदवाणी को सुनने से हमारे **उभा कर्णा**=दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हों। इनसे हमारा ज्ञान दीप्त हो।

भावार्थ—वेदवाणियों के अध्ययन से निम्न लाभ हैं—(क) हृदय वासनारूप मलों का स्थान नहीं बनता, (ख) मन प्रभु-प्रवण होता है, (ग) यज्ञमय कर्मों में रुचि बढ़ती है, (घ) कान ज्योतिर्मय होते हैं, अर्थात् ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर—दक्ष का दुरोण

काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे। रिशादसा सधस्थऽआ॥७२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में घर के लिए 'दुरोण' शब्द आया है, जिसकी भावना है 'जिसमें से **'दुर्'**=बुराई को (ओणृ अपनयने) दूर किया गया है। वस्तुतः पति-पत्नी ने बुराइयों को दूर करके घर को अच्छाइयों से युक्त करना है। **सधस्थे**=सहस्थे=यह मिलकर रहने की जगह है। परस्पर वैर-विरोध होने पर तो घर की इतिश्री हो जाती है। यह घर **दक्षस्य**=चतुर पुरुष का है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'=कर्मों में कुशलता का नाम योग है, अतः यह गृहपति योगी है। यह अपने घर को अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाने का ध्यान करता है। इस घर की अच्छाइयाँ ये हैं—(क) यह घर बुराइयों से दूर है, (ख) इसमें सब मिलकर प्रेम-से रहते हैं, (ग) इसमें सब कार्य दक्षता से किये जाते हैं। किसी कार्य में भद्दापन नहीं होता। २. (क) 'वेद' प्रभु का काव्य है—**'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**=प्रभु के इस काव्य को देखो, जो कभी न नष्ट होता है, न जीर्ण होता है। (ख) सृष्टि भी प्रभु का काव्य ही है। इसकी रचना अत्यन्त कलापूर्ण है। **काव्ययोः**=इन दोनों काव्यों में वेदरूप काव्य के **आजानेषु**=समन्तात् ज्ञान प्राप्त करने व सृष्टिरूप काव्य में **आजानेषु**=लोकहित के कार्यों के करने में **क्रत्वा**=क्रिया-संकल्प व प्रज्ञान से **रिशादसा**=(रिश+अदस्)=सब हिंसाओं को खा जानेवाले, अर्थात् समाप्त कर देनेवाले पति-पत्नी उल्लिखित घर में **आ** (आगतम्)=आएँ ३. (क) पति-पत्नी प्रभु के वेदरूप काव्य को (आजान) अच्छी प्रकार समझने का प्रयत्न करें। इसके लिए उनमें पुरुषार्थ हो, उनके हृदयों में वेदाध्ययन का संकल्प हो और

इसप्रकार वे वेद का ज्ञान प्राप्त करें। (ख) ये पति-पत्नी इस सृष्टि को भी प्रभुकाव्य की कलामयी कृति के रूप में देखें। वे इसमें सब लोगों के हित के लिए (आ-जान=जनहित) कर्म करने के संकल्पवाले हों, (ग) ये पति-पत्नी सब प्रकार की हिंसा से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम अपने सधस्थ=घर को 'दक्ष का दुरोण' बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—दक्षः। देवता—अध्वर्यू। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पति-पत्नी

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतुः रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा युज्ञः समञ्जाथे॥७३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भी 'दक्ष' है। पिछले मन्त्र के पति-पत्नी का ही यहाँ भी उल्लेख है। वे १. **दैव्यौ** =देवस्य इमौ=प्रभु के हों, अर्थात् इनका झुकाव प्रकृति की ओर न हो। २. **अध्वर्यू**=ये दोनों **अ-ध्वर्-यु**=अपने साथ हिंसा का सम्पर्क न होने दें। इनका जीवन यज्ञमय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'** इस उपनिषद्वाक्य को ये अपने जीवन में मूर्त्तरूप देनेवाले हों। ३. ये दोनों **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के संवरण-(त्वच् संवरणे)-वाले रथ से आएँ। जैसे सूर्य चमकता है, इसी प्रकार इनका यह शरीररूप रथ भी स्वास्थ्य के तेज से तेजस्वी लगे। इसके अन्दर सूर्य के समान प्रकाश का संस्पर्श हो (त्वच्=touch), अर्थात् यह शरीररूप रथ बाहर स्वास्थ्य के प्रकाशवाला व अन्दर ज्ञान के प्रकाशवाला हो। ४. ऐसे ये पति-पत्नी **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने जीवन-यज्ञ को **समञ्जाथे**=सम्यक् अलंकृत करते हैं। इनके जीवन में कटुता व द्वेष को स्थान नहीं होता।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने कर्त्तव्यों को समझें और उनका पालन करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सूर्यः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रजापति के दो पुत्र

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधाऽआसन्महिमानऽआसन्त्स्वधाऽअवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥७४॥

१. **एषाम्**=इन प्रजाओं की, जिनके लिए गत मन्त्र में 'दैव्य व अध्वर्यु' बनने का उल्लेख है, **रश्मिः**=वासना, सांसारिक वस्तुओं के प्रति रस **तिरश्चीनः विततः**=आर-पार (crosswise) फैला हुआ है। किसी की किसी लोक को प्राप्त करने की कामना है और किसी की किसी वस्तु को प्राप्त करने की। २. इनकी यह वासनारूप रश्मि **अधः स्वित् आसीत्**=नीचे भी थी और **उपरि स्वित् आसीत्**=ऊपर भी थी। कुछ ने ब्रह्मलोक-प्राप्ति की कामना की तो कई सांसारिक धन-दौलत की वासना से ऊपर न उठ सके। ३. प्रजापति के एक पुत्र तो वे थे, जो सद्गृहस्थ बनकर **रेतोधाः**=सन्तान-निर्माण के लिए वीर्य का आधान करनेवाले **आसन्**=हुए और दूसरे वे **आसन्**=थे, जो **महिमानः**=प्रभु की पूजा करनेवाले हुए (मह पूजायाम्) ४. इनमें पहले 'रेतोधाः' तो **स्वधा**=अपना ही धारण करनेवाले थे। इन्हें अपनी मृत्यु के भय ने प्रजा के द्वारा अमर बनने के लिए प्रेरित किया। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**=प्रजाओं के द्वारा अमरता को प्राप्त करें। यह इनकी कामना हुई, ये **अवस्तात्**=नीचे ही रह गये, अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त न कर सके। ५. परन्तु दूसरे तो **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमी जीवनवाले बनकर, प्रकृष्ट यति हुए और ये **परस्तात्**=उन सब अन्धकारों से परे उस प्रभु को पानेवाले बने।

'रेतोधाः' प्रेयमार्ग के पथिक हैं तो 'प्रयति' श्रेयमार्ग का अवलम्बन करनेवाले हैं।

पहले अपराविद्या को महत्त्व देते हैं तो दूसरे अपराविद्या से ऊपर उठकर पराविद्या को प्राप्त करते हैं। इस पराविद्या के द्वारा ये प्रजापति को प्राप्त कर सचमुच स्वयं भी प्रजापति-से बन जाते हैं। रेतोधा भी छोटे पैमाने पर प्रजापति हैं ही, एवं मन्त्र का ऋषि भी प्रजापति है।

भावार्थ—हमारी वासनाएँ नीचे की ओर न जाकर ऊपर उठें और हम प्रजापति बन पाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—विद्वान्। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

विश्वामित्र का स्वर्ग-निर्माण—प्रेम+कर्म=स्वर्ग

आ रोदसीऽअपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसोऽअधारयन्। सोऽअध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥७५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से स्नेह करता है, इसका किसी से भी द्वेष नहीं। **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी प्राणियों को **आ**=सर्वथा **अपृणत्**=यह सुखी करता है। यह किसी का बुरा नहीं चाहता। किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता। २. इसी का परिणाम है कि इसके लिए **महत् स्वः**=महनीय स्वर्ग **आजातम्**=उत्पन्न हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष मानव-जीवन को नरक बनाते हैं। इनसे ऊपर उठे और नरक की समाप्ति हुई। विश्वामित्र का जीवन इसलिए स्वर्गमय रहता है कि ३. **यत्**=जो **एनम्**=इसको **अपसः**=कर्म **अधारयन्**=धारण करते हैं। 'अपस्' उन कर्मों का नाम है जो व्यापक हैं (अप् व्याप्तौ), जो केवल स्वार्थ के लिए नहीं किये गये। ४. यहाँ एक ओर विश्वप्रेम है, दूसरी ओर व्यापक कर्म हैं, इन दोनों के बीच में स्वर्ग है। वस्तुतः प्रेम हो, जीवन क्रियामय हो तो फिर स्वर्ग-ही-स्वर्ग होता है। स्वर्ग के निर्माण के लिए हाथों में कर्म व हृदय में प्रेम को धारण करना आवश्यक है। कर्मों की पवित्रता के लिए 'कवि'=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी बनना आवश्यक है। इसका उल्लेख अभी आगे करेंगे। ५. **सः**=वह विश्वामित्र **अध्वराय**=अहिंसामय कर्मों के लिए **परिणीयते**=ले-जाया जाता है। सब देव तथा देवाधिपति प्रभु इसे अहिंसामय कर्मों में लगाते हैं। ६. यह विश्वामित्र **कविः**=कवि बनता है, क्रान्तदर्शी होता है। इसकी दृष्टि वस्तुतत्त्व को देखनेवाली होती है। ७. **अत्यः न**=निरन्तर क्रियाशील घोड़े की भाँति यह **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए होता है। जिस प्रकार अश्व (अश्नुते अध्वानम्) निरन्तर मार्ग का व्यापन करता है, अतः शक्तिशाली बना रहता है। ८. विश्वामित्र की अन्तिम विशेषता यह है कि यह 'चनोहितः' अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन 'शाकाहारी' होता है। यह परमांस से अपना मांस बढ़ाने का स्वप्न नहीं लेता। मांसाहार मनुष्य को क्रूर बनाता है, परन्तु यह तो सबसे प्रेम के मार्ग पर चलता है, अतः इसके जीवन में मांस का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सदा **चनः**=अन्न पर **हितः**=रक्खा हुआ होता है। यह अपने शरीरधारण के लिए अन्य शरीरों को समाप्त करने का विचार नहीं करता।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रेम व कर्म के समन्वय से स्वर्ग का निर्माण करनेवाला हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

संयमी गृहस्थ : वसिष्ठ+अरुन्धती

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा। आङ्गूषैराविवासतः॥७६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वशिष्ठ है जो वशियों में श्रेष्ठ है, अतएव उत्तम निवासवाला है। जिस घर में पति-पत्नी का जीवन बड़ा संयमवाला होता है, वह घर 'वशिष्ठ' का घर कहलाता है। इस घर में पति-पत्नी दोनों-२. **उक्थेभिः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **वृत्रहन्तमा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के अधिक-से-अधिक नाश करनेवाले होते हैं। जहाँ प्रभु का नामोच्चारण है, जहाँ महादेव का वास है, वहाँ कामदेव तो भस्म हो ही जाते हैं। इस घर में काम का सेवन नहीं होता, काम की भस्म का ही प्रयोग चलता है। जैसे स्वर्ण विष है, परन्तु स्वर्ण-भस्म अमृत हो जाती है, इसी प्रकार महादेव काम की भस्म बना देते हैं और वह भस्म प्रजा-निर्माण द्वारा मनुष्य को अमर कर देती है। ३. ये पति-पत्नी वे हैं **या**=जो **चित् आ**=निश्चय से, सर्वथा **गिरा**=वेदवाणी से, ज्ञान की वाणियों से **मन्दाना**=आनन्द अनुभव करते हैं। इन्हें स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में आनन्द क़ा अनुभव होता है। ४. ये पति-पत्नी **आंगूषैः**=उच्च स्वर से गाये जानेवाले (आघोष) स्तोत्रों से **आविवासतः**=प्रभु की परिचर्या करते है। जिस घर में मिलकर इस प्रकार प्रभु-स्तवन होता है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। वह घर अधिक-और-अधिक सुन्दर बनता जाता है। इस घर के पति-पत्नी 'इन्द्र+अग्नि' होते हैं। पति धन कमानेवाला व शक्तिशाली 'इन्द्र' होता है तो पत्नी घर को सदा प्रकाशमय रखनेवाली और आगे ले-चलनेवाली 'अग्नि' होती है।

भावार्थ-आदर्श गृह में पति 'इन्द्र' होता है और पत्नी 'अग्नि'।

ऋषिः-सुहोत्रः। देवता-विश्वेदेवाः। छन्दः-निचृद्गायत्री। स्वरः-षड्जः।

पुत्रों के लिए पवित्र कामना

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये। सुमृडीका भवन्तु नः॥७७॥

पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि-**ये**=जो **नः**=हमारे **सूनवः**=पुत्र हैं, वे **गिरः**=वाणियों को **उपशृण्वन्तु**=समीपता से सुननेवाले हों। उन शब्दों को, जो **अमृतस्य**=उस अमर प्रभु के हैं। पिछले मन्त्र में पति-पत्नी के वेदाध्ययन का उल्लेख है। वे वेदवाणियों में आनन्द लेते थे। वस्तुतः स्वाध्याय का आनन्द अनुपम है। वे यह चाहते हैं कि उनकी सन्तान भी उन्हीं की भाँति ज्ञान की वाणियों में रुचिवाले हों। जिस समय सन्तान पढ़ने-पढ़ाने में रुचिवाले होते हैं, उस समय उनका जीवन संयमी व उत्तम बना रहता है। माता-पिता चाहते हैं कि ये सदा उत्तम, अमृत वाणियों को सुनें और **नः**=हमारे लिए **सुमृडीकाः**=उत्तम सुख देनेवाले **भवन्तु**=हों। माता-पिता का सुख सन्तान की उत्तमता में ही निहित है। माता-पिता सन्तान को उत्तम बनाते हैं तो अपने ही जीवन को सुखी करते हैं। एवं, सन्तान-निर्माण के लिए किया गया स्वार्थत्याग उत्तम त्याग है। इस उत्तम त्याग को करनेवाला 'सुहोत्र' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है, वस्तुतः स्वाध्याय सब दिव्य गुणों को जन्म देगा ही।

भावार्थ-हमारी सन्तान स्वाध्याय-रुचि बने, जिससे उनके जीवन उत्तम रहें।

ऋषिः-अगस्त्यः। देवता-इन्द्रामरुतौ। छन्दः-विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः-धैवतः॥

अगस्त्य की कामना

ब्रह्माणि मे मतयः शꣳसुतासः शुष्मऽइयर्ति प्रभृतो मेऽअद्रिः।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नोऽअच्छ॥७८॥

१. **मे**=मेरी **मतयः**=मतियाँ, इच्छाएँ, विचारपूर्वक निश्चित की गई कामनाएँ **ब्रह्माणि**

(ब्रह्म वेदः, तपः, तत्त्वम्)=वेद, तप व तत्त्व (वास्तविक सत्ता) को **आशासते**=चाहती हैं (आशास्=इच्छायाम्), अर्थात् मेरी कामना यह होती है कि (क) मैं वेदाध्ययन करूँ, (ख) मेरा जीवन तपस्वी हो, (ग) और तत्त्व तक पहुँच सकूँ, वास्तविकता (Reality) को पहचानूँ। 'आत्मतत्त्व को छोड़कर और सब कुछ नश्वर है', इसको अनुभव करूँ। ऐसा करने पर **शुष्मः**=शत्रुओं का शोषकबल **इयर्ति**=मुझे प्राप्त होता है। मैं प्रभु के समीप पहुँचता हूँ और उस शक्ति को प्राप्त करता हूँ जो मेरे अन्तःस्थित वासनारूप शत्रुओं का शोषण कर देती है। महादेव मेरे हृदय में हैं तो कामदेव को वहाँ आने में भय लगता है। २. **सुतासः**=शरीर में रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न सोमकण मुझे **शम्**=शान्ति की **प्रति** ओर **हर्यन्ति**=ले-चलते हैं, अर्थात् इन सोमकणों की रक्षा होने पर मेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता। इसी का परिणाम है कि **मे**=मेरा **अद्रिः**=यह अन्नमयकोश (अद्रिः कस्मात्? अत्ति-नि० ४।४)=जो खाता है, **प्रभृतः**=प्रकर्षेण पोषित होता है। सोम के धारण से नीरोगता के कारण यह वज्रतुल्य बन जाता है। **(अद्रिः वज्रम्)** अथर्व के **'यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे'** इस मन्त्रभाग में शरीर को 'वज्र' कहा गया है, ३. अब **इमा हरी**=ये मेरे ज्ञानेन्द्रियपञ्चक व कर्मेन्द्रियपञ्चकरूप घोड़े **उक्था**=प्रभु के स्तोत्रों को **वहतः**=धारण करते हैं, अर्थात् मेरी इन्द्रियों से सदा प्रभु का स्तवन चलता है। इन इन्द्रियों ने अब अन्य बोझों को परे फेंककर स्तवनरूप बोझ को ही ढोया है और इस प्रकार **ता**=वे इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अच्छ**=अपने लक्ष्य की ओर ले-चल रहे हैं। जो मनुष्य प्रभु का स्तवन करता है, वह मार्गभ्रष्ट न होने से लक्ष्य पर पहुँचता है। मार्गभ्रष्ट न होने से ही यह 'अगस्त्य' बना रहता है, पाप-पर्वत (अग) का संहार करनेवाला (स्त्यै संघाते)। इस अगस्त्य की कामना यह होती है—(क) उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर हो, (ख) उसका शरीर सोम से नीरोग व शान्तिवाला हो (ग) उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन करती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती चलें।

भावार्थ—अगस्त्य=पाप-समूह का संहार करनेवाला बनने का उपाय यह है कि हम बुद्धि को ज्ञानोपार्जन में लगाएँ, शरीर को सोमरक्षा से नीरोग बनाएँ और इन्द्रियों को प्रभु-स्तवन में प्रेरित करें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अगस्त्य का प्रभुवन्दन

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ२॥ऽअस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥७९॥

१. अगस्त्य प्रयत्न करता है कि उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन में लगी रहें, उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर चले, परन्तु जब वह अनुभव करता है कि संसार का प्रलोभन भी अत्यन्त प्रबल है तब व्याकुल हो उठता है और प्रभु से कहता है कि हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ**=चारों ओर, सर्वत्र **ते अनुत्तम्**=आपसे अप्रेरित **नकिः नु**=निश्चय से कुछ भी नहीं है। एक-एक पत्ता आपकी प्रेरणा से हिल रहा है। आपकी प्रेरणा मुझे भी प्राप्त हो और मैं मार्गभ्रष्ट होने से बचा रह सकूँ। २. **त्वावान्**=आपके समान **विदानः**=ज्ञानी **देवता**=देव **न अस्ति**=नहीं है। ३. हे **प्रवृद्ध**=सदा से पूर्ण वृद्धि को प्राप्त प्रभो! आप **यानि**=जिन कार्यों को करेंगे अथवा **कृणुहि**=कर रहे हैं, उन कार्यों को न **जायमानः**=न तो उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति **न जातः**=न ही उत्पन्न हो चुका व्यक्ति **नशते**=व्याप्त करता है, अर्थात् आपके समान

निर्माण की शक्ति न किसी में थी और न ही किसी में हो पाएगी। क्या बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक एक छोटे से फल को बना सकता है? क्या बिना पँखों को गति दिये, चील की भाँति शान्तभाव से मनुष्य का वायुयान उड़ सकता है?

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रेरक हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वमहान् हैं। उनका स्तवन करता हुआ मैं अपने जीवन-निर्माण का भार भी उन्हीं पर छोड़ता हूँ।

ऋषिः—बृहद्दिवः। देवता—महेन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

त्वेषनृम्ण (दीप्त बलवाला)

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञऽउग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥८०॥

१. **तत्**=वह दूर-से-दूर भी वर्त्तमान, (तत्=that) सर्वव्यापक प्रभु (तनु विस्तारे) **इत्**=निश्चय से **भुवनेषु**=सारे लोकों में **ज्येष्ठम्**=बड़े **आस**=हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, सर्वमहान् हैं। सब गुणों की चरम सीमा प्रभु हैं। २. प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे जीव भी **उग्रः**=उदात्तस्वरूपवाला व **त्वेषनृम्णः**=दीप्तबलवाला (नृम्ण=Power, Courage) **जज्ञे**=हो जाता है। अग्नि के सम्पर्क में आकर जैसे लोहशलाका अग्निमय हो जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सम्पर्क में जीव उग्र व दीप्त हो उठता है। ३. इस प्रकार उग्र, तेजस्वी **जज्ञानः**=होता हुआ यह उपासक **सद्यः**=झटपट **शत्रून्**=ध्वंसकशक्तियों को **निरिणाति**=निश्चय से नष्ट कर देता है। प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर वह सुगमता से शत्रुओं का संहार कर पाता है। ४. इस प्रकार प्रभु वे हैं **यम् अनु**=जिनके पीछे चलकर, जिनके अनुयायी बनकर **विश्वे**=सब **ऊमाः**=शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। काम-क्रोध की पूर्ण विजय में ही आनन्द है। इस विजय के पश्चात् ही कामरूप आवरण के दूर होने पर हमारा ज्ञान चमकता है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'बृहद्दिव'=महान् ज्ञानवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ज्येष्ठता को अनुभव करें, प्रभु के सम्पर्क से दीप्तबलवाले बनें, शत्रुओं का संहार करें, आनन्द का लाभ करनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्रभु के सच्चे उपासक
पावकवर्ण, शुचि, विपश्चित्

इमाऽउ त्वा पुरूवसो गिरो वर्द्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥८१॥

१. 'मेधातिथि' वह व्यक्ति है जो इस संसार में बुद्धिपूर्वक चलता है। समझदार व्यक्ति सर्वत्र प्रभु की शक्ति को अनुभव करता है और निम्न शब्दों में प्रभु का स्तवन करता है—हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा या मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपका **वर्धन्तु**=वधर्न करें, अर्थात् मैं अपनी वाणी से सदा आपका स्तवन करनेवाला बनूँ। जब हम अपनी बागडोर प्रभु के हाथ में सौंपते हैं, पूर्णरूप से उसके कहने पर चलते हैं, तब हमारे शरीर स्वस्थ रहते हैं और हमारे मन में किसी प्रकार के विकार नहीं आते। २. मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि **स्तोमैः**=स्तुतियों से, स्तोत्रों द्वारा **अभ्यनूषत**=मेरा स्तवन वे व्यक्ति करते हैं जो (क) **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान वर्णवाले हैं—स्वास्थ्य के कारण जिनके चेहरे पर ज्योति टपकती है, जो अग्नि के समान

चमकते हैं। (ख) **शुचयः**=जिनका मन शुचि, पवित्र है। जिनके मन 'राग-द्वेष व मोह' रूप मलों से मलिन नहीं हैं। (ग) स्वस्थ्य व मानस पवित्रता से इसकी बुद्धि बड़ी उज्ज्वल व सूक्ष्म बनती है और यह सभी वस्तुओं को बड़ी बारीकी से, विशेषरूप से (वि) देखता हुआ (पश्) उनका ठीक रूप में ही चिन्तन करता है (चित्) इसीलिए 'विपश्चित्' कहलाता है। **विपश्चितः**=ये ज्ञानीलोग प्रभु के सच्चे उपासक हैं, इसीलिए हे मेधातिथे! तू 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बन।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्तवन करनेवाले हों। हमारी कोई भी क्रिया प्रभु को भूलकर न हो तो हम स्वस्थ बनेंगे, निर्द्वेष होंगे और तीव्र बुद्धि का सम्पादन कर पाएँगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

सबमें प्रभु की ज्योति

यस्यायं विश्वऽआर्यो दासः शेवधिपाऽअरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सोऽअज्यते रयिः॥८२॥

१. मेधातिथि 'विपश्चित्' बनकर अनुभव करता है कि प्रभु तो वे हैं **यस्य**=जिसका **अयम् विश्वः**=यह सारा संसार है, चाहे वे **आर्यः**=ब्राह्मण हैं (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) **दासः**=शूद्र हैं, **शेवधिपा**=खज़ानों के रक्षक वैश्य हैं अथवा **अरिः** (to attack)=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले क्षत्रिय हैं। सारा समाज चार भागों में बँटा है। यह सारा समाज उस प्रभु का प्रिय है। 'ब्राह्मण' ही प्रभु के विशेष प्यारें हों ऐसी बात नहीं। वे प्रभु सर्वत्र समवस्थित हैं, सबके अन्दर उनका निवास है। मेधातिथि का दृष्टिकोण यही बनता है कि सबमें प्रभु की सत्ता को अनुभव करना ही प्रभु का सच्चा उपासक बनना है। २. 'अर्य'= पुरुष वह है जो (अर्यः=स्वामी) अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इन्द्रियों का दास न होने से ही अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाया है, वह जीर्णशक्तिवाला नहीं हो गया। 'रुशम' वह है जिसके अन्दर ज्ञान की ज्योति जगमगा रही है तथा 'पवीरवान्' वह है जो अपने शरीर को सात्त्विक अन्न व व्यायाम से वज्रतुल्य बना पाया है। इन सबके अन्दर एक 'रयि'=सम्पत्ति विद्यमान है, एक विभूति का अंश विद्यमान है। मन्त्र में कहते हैं कि **'अर्ये'**=जितेन्द्रिय में **रुशमे**=दीप्त ज्ञानवाले पुरुष में तथा **पवीरवि**=वज्रतुल्य शरीरवाले पुरुष में **तिरः चित्**=छिपी हुई **रयिः**=जो सम्पत्ति व विभूति है **सः**=वह **तुभ्य इत् अज्यते**= आपकी ही तो प्रकट हो रही है। ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपनी 'जितेन्द्रियता, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक बल' का कभी गर्व नहीं करता, क्योंकि वह इस सबको प्रभु की ही महिमा के रूप में देखता है।

भावार्थ—सभी व्यक्ति प्रभु के हैं। सर्वत्र प्रभु की ज्योति ही दीप्ति का कारण बन रही है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्सतः पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु ही सत्य

अयः सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रऽइव पप्रथे।
सत्यः सोऽअस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥८३॥

१. संसार में कभी-कभी इस प्रकार के व्यक्ति भी दिख जाते हैं, जिनके लिए वेद कहता है कि **'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्'**=लोगों के अपशब्दों को मुस्कराते हुए सह

लेते हैं। 'ऐसा वे क्यों कर पाते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में इन शब्दों में दिया है कि **ऋषिभिः**=इन तत्त्वदर्शी लोगों ने **सहस्त्रम्** (स+हस्)=मुस्कराहट के साथ **अयम्**=यह प्रभु **सहस्कृतः**=अपना बल बनाया है। प्रभु का स्मरण करनेवाला वाग्बाणों से घायल नहीं होता। २. वे प्रभु **समुद्रः इव**=अन्तरिक्ष की भाँति **पप्रथे**=विस्तृत हैं। जहाँ आकाश, वहाँ प्रभु। वे प्रभु सर्वत्र है। सबमें विद्यमान हैं। ३. **सत्यः सः**=वे प्रभु ही सत्य हैं। प्रभु के अंतिरिक्त सभी अस्थिर हैं, एकमात्र प्रभु ही स्थिर व एकरस हैं। संसार परिवर्तनशील है, स्थल जल बनता है तो जल स्थल। जीव आज घोड़ा बना है तो कल हाथी और परसों मनुष्य। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। ४. **अस्य**=इसकी **महिमा**=महिमा **गृणे**=मुझसे स्तुत होती है। मैं इस प्रभु की ही महिमा का स्तवन करता हूँ। **यज्ञेषु**=सब श्रेष्ठ कर्मों में **शवः**=वे प्रभु ही बल हैं। प्रभुकृपा से ही सब यज्ञपूर्ण होते हैं। सब यज्ञों के होता प्रभु ही हैं। **विप्रराज्ये**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवालों के जीवन की राज्ये=(राज्=दीप्तौ) दीप्ति में वस्तुतः उस प्रभु का ही **शवः**=बल है। जो भी व्यक्ति जितने अंश में चमकता है, यह सब चमक उस प्रभु की है। एवं, हमें अपने यज्ञों व दीप्तियों का गर्व न कर प्रभु के प्रति नतमस्तक होना है।

भावार्थ—प्रभु को हम अपनी ढाल बनाएँ। प्रभु को धारण करके यज्ञशील व दीप्तिमय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु ही रक्षक

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नोऽअघशꣳसऽईशत ॥८४॥

१. पिछले मन्त्र में कहा गया था कि ऋषि लोग प्रभु को ही अपना सहस्=बल मानते हैं। प्रभु को अपनी शक्ति बनानेवाला यह 'भरद्वाज' बनता है, अपने में शक्ति को भर लेता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **सवितः**=हे सर्वप्रेरक सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अद्य**=आज **अदब्धेभिः**=न हिंसित होनेवाले, न दबनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षणों से **नः**=हमारे **गयम्**=इस शरीररूप घर को व प्राणों को **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही हमारा जीवन उत्तम बन पाता है, प्रभु के रक्षण अहिंसित व शिव हैं। उनसे मैं स्वस्थ, निर्मल व दीप्त बनता हूँ। २. वे प्रभु **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं, उनकी एक-एक प्रेरणा जीवन के हित का साधन करनेवाली व अत्यन्त सुन्दर है। उस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति **सुविताय**=सदा **सु इत**=उत्तम आचरण के लिए होता है, कभी दुरितों में नहीं फँसता। **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) यह प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होता है, यह प्रकृति के आकर्षण का शिकार नहीं हो जाता। प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे प्रभु का स्तवन करते ही प्रतीत होता है। ३. यह 'भरद्वाज' प्रभु से आराधना करता है कि **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकिः ईशत**=ईश न हो जाए, अर्थात् उसकी बातों से प्रभावित होकर हम पाप में प्रवृत्त न हो जाएँ। पाप-प्रशंसकों की बातों में न आकर ही हम अपनी शक्ति को स्थिर रखनेवाले 'भरद्वाज' बने रह सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण अदब्ध व शिव है। प्रभु की प्रेरणा हितरमणीय है। उसका सुननेवाला शुभमार्ग से विचलित नहीं होता और दुष्टों की बातों से बहक नहीं जाता।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—वायुः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

जमदग्नि

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः।
अन्तः पवित्रऽउपरि श्रीणानोऽयं शुक्रोऽअयामि ते॥८५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **वायो**=निरन्तर क्रियाशील जीव! (वा=गति) तू **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यजुर्वेद में प्रतिपादित इस यज्ञरूप कर्म को **आयाहि**=सर्वथा प्राप्त हो। यह यज्ञरूप कर्म **दिविस्पृशम्**=तुझे द्युलोक को स्पर्श करानेवाला है। यज्ञों से तू स्वर्ग को प्राप्त करेगा। इन यज्ञों को तूने **सुमन्मभिः**=उत्तम ज्ञानों के साथ प्राप्त होना (मन्=अवबोध)। ज्ञानशून्य यज्ञों में तो अपवित्रता के आने की आशंका है। वायु ऋषि को प्रभु ने यजुर्वेद का ज्ञान दिया और कहा कि इस ज्ञान के साथ चलनेवाले 'दिविस्पृश' यज्ञों को तू निरन्तर करनेवाला बनना। २. अब वायु प्रभु को उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे पितः! मैं (क) **अन्तः पवित्रः**=अन्दर से पवित्र बनता हुआ (ख) **उपरि श्रीणानः**=बाहरी जीवन को कुछ तपस्वी बनाता हुआ, परिपक्व करता हुआ (ग) **अयम्**=यह मैं **शुक्र**=(शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील बनता हुआ और परिणामतः (शुच् दीप्तौ) दीप्त होता हुआ **ते आयामिः**=आपके समीप (अय गतौ, व्यत्यय से परस्मैपद) आता हूँ।

प्रभु ने जीव को ज्ञानपूर्वक यज्ञों को अपनाने के लिए कहा था, जीव उसका बड़ी सुन्दरता से उत्तर देता हुआ कहता है कि मैं पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति का समन्वय करता हुआ अवश्य आपके समीप प्राप्त होनेवाला बनूँगा। अन्दर की पवित्रता के लिए बाह्य तप आवश्यक है। उसके बिना जीवन विलासी बनेगा न कि पवित्र। दीप्ति के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। यहाँ 'शुक्र' शब्द में दोनों का भाव निहित है। इस प्रकार के जीवनवाला व्यक्ति अन्त तक **'जमदग्नि'**=जीमनेवाली अग्निवाला, अर्थात् ठीक जठराग्निवाला बना रहता है। इसका शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता नहीं।

भावार्थ—जमदग्नि के जीवन में यज्ञ, ज्ञान, पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति की साधना निरन्तर चलती है।

ऋषिः—तापसः। देवता—इन्द्रवायू। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

नीरोगता+निर्मलता अनमीव+सुमनाः=तापस=जितेन्द्रियता+क्रियाशीलता

इन्द्रवायू सुसन्दृशा सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्वऽइज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमनाऽअसत्॥८६॥

१. 'इन्द्र' वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, दूसरे शब्दों में जितेन्द्रिय है। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं, वह उनपर दृढ़ता से आरूढ़ है। आत्मवश्य इन्द्रियों से वह इस विषयात्मक संसार में विचरता है, इसी कारण वह विषयों की दलदल में नहीं फँसता। इन्हीं इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य त्रिभुवन का विजेता बनता है, सिद्धि को प्राप्त करता है। २. 'वायु' शब्द क्रियाशीलता के द्वारा सब मलों के हिंसन का सूचन करता है (वा गतिगन्धनयोः, गन्धनं=हिंसनम्) जबतक क्रिया में लगे रहते हैं किसी प्रकार के अवाञ्छनीय विचार मन में उत्पन्न नहीं होते। खाली हुए और बुराइयाँ आईं। खाली मन ही अशुभ विचारों का पात्र बनता है। ३. **इन्द्रावायू**=जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता **सुसन्दृशा**=जब (सम्) एक ही (दृश्) दिखती हैं तो बड़ी ही (सु) उत्तम प्रतीत होती है। अकेली जितेन्द्रियता भी पर्याप्त

नहीं, अकेली क्रियाशीलता भी अधूरी है। ये दोनों इकठी ही मानव-जीवन को सुन्दर बनाती हैं। अतएव **सुहवा**=उत्तमता से पुकारने योग्य हैं। **इह**=इस अपने जीवन में हम दोनों की ही **हवामहे**=आराधना करते हैं। प्रभुकृपा से हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र) और क्रियाशील (वायु) हों। ४. इन दोनों तत्त्वों का होना इसलिए आवश्यक है कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **सर्व इत् जनः**=सभी मनुष्य **अनमीवः**=नीरोग हों और **संगमे**=मिलकर चलने में **सुमनाः**=सदा उत्तम मनवाले **असत्**=हों। स्वास्थ्य के लिए जितेन्द्रियता सर्वमहान् साधन है। चरक कहते हैं कि 'हिताशी स्यात्' मिताशीस्यात्, कालभोजी, जितेन्द्रियः'=यदि स्वस्थ बनना चाहते हो तो (क) पथ्य का, परिमित मात्रा में, समय पर सेवन करो और (ख) जितेन्द्रिय बनो। पथ्य भी हो, मात्रा भी ठीक हो, समय पर भोजन चले, परन्तु जितेन्द्रियता के अभाव में यह सब व्यर्थ हो जाता है। एवं, इन्द्र ही स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील रहता है वही राग-द्वेष आदि से ऊपर उठ पाता है। उसका मन सदा निर्मल बना रहता है। जितेन्द्रियता नीरोगता का कारण है तो क्रियाशीलता निर्मलता का। जितेन्द्रियता शरीर को दीप्त करती है तो क्रियाशीलता मन को। ५. यह जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता ही सच्चा तप है। इस तप के जीवनवाला 'तापस' इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में जितेन्द्रियता के साथ क्रियाशीलता हो, जिससे कि हम 'अनमीव व सुमन', नीरोग व निर्मल बन पाएँ।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जमदग्नि का रोग व क्रोध शमन

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये।

यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टयऽआचक्रे हव्यदातये॥ ८७॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि—हम 'इन्द्र और वायु' इन दोनों तत्त्वों को अपने जीवन में अपनाएँ। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का सूचक है, तो 'वायु' क्रियाशीलता का। **इत्था**=इस प्रकार इन दोनों को अपनाने से **ऋधक्**=सचमुच **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य '**शशमे**=अपने शरीर में रोगों को शान्त करता है और मन में क्रोध को है। इस प्रकार यह अपने शरीर व मन को स्वस्थ करके **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिए अपने को तैयार करता है। वस्तुतः स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन दिव्य गुणों के लिए एक उर्वरा भूमि है। २. ऐसा कर वह पाता है **यः**=जो **नूनम्**=निश्चय से **मित्रावरुणौ**=प्राणापान को **अभिष्टये**=शरीर व मानस रोगों पर आक्रमण के लिए **आचक्रे**=नियत कर देता है, अर्थात् जो व्यक्ति प्राणसाधना करता है उसका शरीर भी स्वस्थ रहता है, मन भी निर्मल बना रहता है। इस प्रकार यह व्यक्ति **हव्यदातये**=कर्मफल के काटने के लिए होता है (दा लवने), अर्थात् कर्मबन्धन से ऊपर उठ पाता है। अभिष्टि=आक्रमण। प्राणापान शरीर के पहरेदार हैं, ये शरीर में आनेवाले रोग व मलों पर आक्रमण करते हैं। असुरों ने आक्रमण किया, परन्तु प्राणापान से टकराकर वे मिटी के ढेले के समान पत्थर से टकराकर चकनाचूर हो गये। ये मित्रावरुण 'प्राणापान' है, साथ ही ये 'स्नेह व द्वेष-निवारण' की देवता हैं, ये मनुष्य को 'काम' से ऊपर उठाकर कर्मबन्धन से भी मुक्त करते हैं, अतः इन्हें 'हव्यदातये' कर्मबन्धन के विच्छेद के लिए सदा पहरेदार के रूप में नियुक्त करना उपयुक्त है। 'हव्यदातये' का अर्थ शतपथ के अनुसार 'यजमान' के लिए है। प्राणसाधना से काम पर विजय पाकर हम सच्चे यजमान बनते हैं। ३. ८५वें मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है, ८६वें का 'तापस' है और ८७ का 'जमदग्नि'। एवं

जमदग्नि से प्रारम्भ है और जमदग्नि पर समाप्ति है, बीच में 'तापस' है। एवं, संकेत स्पष्ट हैं कि जमदग्नि ने यदि जमदग्नि बने रहना है तो आवश्यक है कि वह 'तापस' बना रहे, बच्चा जमदग्नि है, तीव्र जाठराग्निवाला है। यदि वह जीवन में तपस्वी बना रहेगा तो अन्त तक इसकी जठराग्नि भी बनी रहेगी। अन्यथा आराम का जीवन बिताता हुआ यह अपने विलास से जठराग्नि का विनाश तो कर ही बैठेगा और तब कितने ही रोग इसे आ घेरेंगे एवं, 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' यह कितना सुन्दर क्रम है। जमदग्नि ऋषि के मन्त्रों को इकठा कर देने पर इस क्रम का महत्त्व विनष्ट हो जाता है, अतः वेद मन्त्रों का क्रम भी अपरिवर्तनीय-सा ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' का जीवन हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणापान की साधना

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना।

दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम्॥८८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्वनौ' प्राणापान हैं। इनकी साधना करके इनको अपने वशमें करनेवाला 'वशिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—२. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **आयातम्**=सर्वत्र प्राप्त होवो। 'अशूङ् व्याप्तौ' से अश्विनी शब्द बना है। सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले। 'प्राणापान' का उद्देश्य इन्हीं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचने से है, जिस-जिस अङ्ग में ये प्राणापान पहुँचते हैं, वहाँ-वहाँ की मलिनता को भस्म करके ये उस-उस अङ्ग को पूर्ण नीरोग बनाते हैं। वस्तुतः किसी स्थानविशेष में इनके ठीक-ठीक न पहुँचने से उस-उस स्थान के अङ्ग मृत होना आरम्भ हो जाते हैं, शायद यही केंसर का मूल हो। प्राणसाधना से उस अङ्ग का जीवित किया जा सकना सम्भव है। एवं, एक योगी केन्सर का शिकार नहीं होता, हुए-हुए केंसर को भी यह दूर कर सकता है। २. इस प्रकार हे प्राणापानो! मेरे अङ्गों को नीरोग करके उन्हें **उपभूषतम्**=स्वस्थ्य व अपने-अपने कार्य में कुशलता से अलंकृत करो। मेरी आँख दृष्टिशक्ति से सुशोभित हो, तो कान सुनने की शक्ति से अलंकृत हो जाएँ। इस प्रकार हे प्राणापानो! तुम मेरे सारे शरीर को सुशोभित कर दो। ३. **मध्वः पिबतम्**=इस अलंकरण प्रक्रिया के लिए तुम अन्न के सारभूत् मधु, अर्थात् सोम का पान करो। तुम्हारी साधना से मेरे अन्दर सुत (उत्पन्न हुआ) सोम मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रविष्ट होकर उसे स्वस्थ बनाये। यह वीर्यशक्ति ही (वि=विशेषरूप से ईर=) रोगों व विकारों को कम्पित करनेवाली हो। इसी से सब अङ्ग नीरोग होकर सुशोभित होंगे। ४. इस वीर्यरक्षा के द्वारा **पयः**=अप्यायन को **दुग्धम्**=मुझमें प्रपूरित करो (दुह प्रपूरणे)। 'पयः' शब्द दूधके लिए भी इसी कारण प्रयुक्त होता है कि यह अप्यायन करनेवाला है। (ओप्यायी वृद्धौ)। यदि शरीर में वीर्य सुरक्षित होता है तो यह एक-एक अङ्ग के अप्यायन का कारण बनता है। ५. **वृषणा**=हे प्राणापानो! आप 'वृषणा' हो, मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हो। ६. **जेन्यावसू**=मेरे लिए सब वसुओं को जीतनेवाले हो। निवास के लिए आवश्यक तत्त्व ही वसु हैं। इस प्राणसाधना से वे सब वसु प्राप्त होते हैं। ७. **नः**=हमें **मा**=मत **मर्धिष्टम्**=हिंसित करो। ये प्राणापान हमें नीरोग व शक्तिशाली बनाकर पूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाला बनाएँ। ८. **आगतम्**=ऐसे ये प्राणापान मुझे प्राप्त हों। मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में इनकी गति हो। मन्त्र का प्रारम्भ 'आयातम्' शब्द से था, समाप्ति 'आगतम्' पर है। दोनों की भावना एक ही है

(या=गम)। वस्तुतः प्राणापान का लाभ तभी है जब ये शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचे। एक गहरा श्वास लेकर सारे शरीर में प्राण को पहुँचाने का प्रयत्न करें। अपान के समय उसे पूरे रूप से बाहर फेंकें। वस्तुतः पूरक व रेचक तो आनुपातिक ढंग से ही चलते हैं। जितना रेचक ठीक होगा उतना ही पूरक भी ठीक हो जाएगा। इस मन्त्र का ऋषि इस प्राणापान को वशवर्ती करनेवाला वशिष्ठ है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम पूर्ण नीरोगता का लाभ करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कण्व का संग्रह—मस्तिष्क, हृदय, हाथ—ज्ञान, सत्य, यज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।

अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥८९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला वसिष्ठ कण-कण करके उत्तमताओं का संग्रह करता है। इसी कारण 'कण्व' कहलाता है। वह कहता है—२. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता, ज्ञान का पति **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। (ब्रह्म=वेद) मेरा मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त हो। वह ब्रह्मणस्पति का अधिष्ठान बने। ३. **देवी**=सब दिव्य गुणों की जननी **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली सत्यवाणी **प्र एतु**=हमें खूब प्राप्त हो। मेरा हृदय इस 'सूनृता देवी' का निवासस्थान बने। मैं सत्य वाणी ही बोलूँ। सत्य को भी इस उत्तमतासे बोलूँ कि वह औरों के दुःखों का परिहरण करनेवाला हो। ४. **देवाः**=सब देव, सत्य के द्वारा प्राप्त हुए-हुए सब दिव्य गुण **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **अच्छ**=आभिमुख्येन **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् हमारी रुचि यज्ञों की ओर हो। हमारा मस्तिष्क ज्ञान का अधिष्ठान बने, हृदय सत्यवाणी का और इसी प्रकार हमारे हाथ यज्ञों में व्याप्त रहें जो यज्ञ **वीरम्**=(वि+ईर) हमारे से बुराइयों को कम्पित करके दूर भगा देते हैं। **नर्यम्**=जो यज्ञ नरहित को साधनेवाले हैं तथा **पंक्तिराधसम्**=पाँचों को सिद्ध करनेवाले हैं (राध=सिद्ध करना)। यहाँ पाँच शब्द कर्मेन्द्रिय पञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, अन्तःकरण का अवयव पञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) तथा प्राणपञ्चक के लिए है। यज्ञ इन सबके लिए हितकर है। यज्ञ से वृत्ति सुन्दर होती है, वृत्ति के सुन्दर हो जाने पर ये सब सुन्दर हो जाते हैं। एवं, कण्व कण-कण करके सब दिव्य गुणों का संग्रह कर लेता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना द्वारा वसिष्ठ बनकर हम कण-कण करके अच्छाइयों का संग्रह करनेवाले बनें। हमारा मस्तिष्क ब्रह्मणस्पति का निवास-स्थान हो, हृदय सूनृता देवी का तथा हाथ यज्ञों के आश्रय बनें।

ऋषिः—**त्रितः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

कर्म, ज्ञान, स्तुति—'त्रित' का जीवन

चन्द्रमाऽअप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।

रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत्॥९०॥

१. पिछले मन्त्र का कण्व 'ज्ञान, सत्य व यज्ञ' का विस्तार करके 'त्रीन् तनोती इति त्रितः' प्रस्तुत मन्त्र का त्रित बन जाता है। इस त्रित का जीवन निम्न प्रकार का होता है। २. **चन्द्रमा**=इसका सदा आह्लादमय रहनेवाला मन **अप्सु**=व्यापक कर्मों के **अन्तरा**=बीच

में रहता है, अर्थात् यह अपने मन को व्यापक कर्मों में लगाये रखता है। मन को यहाँ चन्द्रमा शब्द से स्मरण किया है। मन चन्द्रमा है ही। **'चन्द्रमा मनसो जातः'**=विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है और चन्द्रमा से पिण्ड में मन की। मन सदा आह्लादमय होना चाहिए और वह सदा व्यापक कर्मों में लगा रहे। वही मन शुद्ध रहता है जो कर्मव्यापृत रहता है। ३. **सुपर्णः**=शोभन (सु) पालनादि कर्मों में लगा हुआ (पृ पालनपूरणयोः) यह 'चित्त' **दिवि**=ज्ञान में **धावते**=(धाव्=शुद्धि) अपने को शुद्ध करता है। अपने को सदा ज्ञान में शुद्ध करते रहने से ही इसके कर्मों की पवित्रता बनी रहती है। ४. यह त्रित ज्ञान से सब मलों को दूर करके 'हरि' बना है, मलों का अपहरण करनेवाला अथवा इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करने के कारण यह 'हरि' है। यह हरि **रयिम्**=उस ज्ञान की सम्पत्ति को **एति**=प्राप्त होता है जो (क) **पिशंगम्**=दीप्त है (Bright), चमकीली है, जिसमें मलों का सम्पर्क नहीं। (ख) **बहुलम्**=जो ज्ञान की सम्पत्ति (बहून् लाति) अपनी 'मैं' में बहुतों का समावेश कर लेती है, अपनी 'मैं' को व्यापक बना लेती है। ज्ञानी पुरुष सभी में प्रभु की सत्ता को देखता है, अतः सभी को अपने से अभिन्नरूप में देखता है। (ग) **पुरुस्पृहम्**=यह ज्ञान-धन पालन व पूरण करनेवाला है, अतएव स्पृहणीय है। इस ज्ञानधन को यह 'हरि' पाता है। इसको पाकर वह सदा ५. **कनिक्रदत्**=उस प्रभु के नामों का खूब उच्चारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में प्रभु का उपासन सतत चलता है।

भावार्थ—इस त्रित के जीवन में तीन बातें हैं—(क) यह प्रसन्नतापूर्वक कर्मों में लगा रहता है (ख) ज्ञान में अपना शोधन करता है, ज्ञान-सम्पत्ति को बढ़ाता है (ग) सदा प्रभु-स्मरण करता है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

देवों का आह्वान

दे॒वंदे॑वं वो॒ऽव॑से दे॒वं दे॑वम॒भिष्ट॑ये।

दे॒वंदे॑वꣳ हुवेम॒ वाज॑सातये गृ॒णन्तो॑ दे॒व्या धि॒या॥९१॥

१. **वः**=आपमें से **देवं देवम्**=प्रत्येक देव को **अवसे**=रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं। शरीर में रोगों का प्रवेश तभी होता है जब वहाँ दिव्य गुणों का स्थान विषय-वासनाएँ ले-लेती हैं। भोगवृत्ति आते ही रोग आने लगते हैं। एक समझदार व्यक्ति=मनु इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कहीं विलास उसके विनाश का कारण न बन जाए। २. **देवं देवम्**=हम प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **अभिष्टये**=(क) वासनाओं पर आक्रमण के लिए और (ख) वासनाओं पर आक्रमण करके अभीष्ट की प्राप्ति के लिए। वासनाओं को दूर करने का उपाय 'प्रतिपक्षभावनम्'=वासना विरोधी दिव्य गुणों का भावन ही है। झूठ को दूर करने के लिए हमें उस स्थान पर सत्य को लाकर बिठाना चाहिए। प्रकाश को लाएँगे, अन्धकार तो भाग ही जाएगा। ३. हम **देवम् देवम्**=प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए। दिव्य गुणों के निवास से शक्ति बढ़ती है, इनके ह्रास में शक्ति का ह्रास है। ४. इस प्रकार देवों को प्राप्त करने से शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता, मन वासनाओं से अभिभूत नहीं होता और हमारा जीवन सशक्त बना रहता है, परन्तु इन देवों का आह्वान होता कैसे है—**देव्या धिया गृणन्तः**=दिव्य बुद्धि से प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए। जब हमारी वाणी प्रभु के नामों का उच्चारण करेगी और हम

दिव्य गुणों की कामनावाली बुद्धि से उन नामों का भावन व चिन्तन करेंगे तभी ऐसा हो पाएगा।

भावार्थ—'मनु'=एक समझदार व्यक्ति दिव्यगुणों को धारण करता है, जिससे उसका शरीर नीरोग हो पाए, उसका मन वासनाओं पर आक्रमण कर, उन्हें पराजित कर सके और वह शक्ति का धारण कर पाए। इसी उद्देश्य से वह बुद्धिपूर्वक प्रभु नाम-स्मरण में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—मेधः। देवता—वैश्वानरः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

एक आदर्श प्रचारक

दि॒वि पृ॒ष्टोऽअ॑रोचता॒ग्निर्वै॑श्वान॒रो बृ॒हन्।
क्ष्मया॑ वृधा॒नऽओज॑सा॒ चनो॑हितो॒ ज्योति॑षा बाधते॒ तमः॑॥९२॥

१. पिछले मन्त्र का मनु इस मन्त्र में 'मेध' (मेधृ संगमे) लोगों से सम्पर्क करनेवाला बनता है। अपना परिपाक करके ही प्रचार-क्षेत्र में उतरना ठीक है। दिव्य गुणों की आराधना करनेवाला ही दिव्यता का प्रसार कर सकता है। इस 'मेध' का जीवन निम्न शब्दों में द्रष्टव्य है—२. **दिवि पृष्टः**=यह प्रकाश में स्थित होता है, प्रकाश से संस्पृष्ट। यह अपने जीवन का आधार ज्ञान को बनाता है। इसकी श्रद्धा भी ज्ञानमूलक होती है। ३. **अरोचत**= इस ज्ञान के कारण ही यह (रुच दीप्तौ) दीप्त होता है। वस्तुतः ज्ञान से इसका जीवन पवित्र होता है, और पवित्रता में ही चमक है। ४. **अग्निः**=यह अपने जीवन को अग्रस्थान में प्राप्त कराता है, औरों को भी आगे ले-चलनेवाला होता है। ५. **वैश्वानरः**=(विश्व नरहितः) सब मनुष्यों के हित की भावना इसके मस्तिष्क में रहती है। ६. **बृहन्**=(बृहि वृद्धौ) इसका मन महान् होता है। संकुचित हृदय में ही रागद्वेष रहते हैं। हृदय की विशालता के कारण यह रागद्वेष से ऊपर उठा होता है। ७. **क्ष्मया वृधानः**=लोकहित में प्रवृत्त होने पर जब लोग इसका अपमान व बुरा करते हैं, तो यह क्षमा से बढ़ा होता है। यह उनको क्षमा करना जानता है। इसे उनकी अज्ञानता पर करुणा उत्पन्न होती है। ८. **ओजसा**=यह 'ओज' से युक्त होता है। वस्तुतः ओजस्वी होने के कारण ही क्षमाशील होता है। निर्बलता चिड़चिड़ेपन का कारण बन जाती है। ९. **चनोहितः**=यह अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन वनस्पति भोजन पर निर्भर करता है। यह अपने शरीर के पोषण के लिए परहिंसन को पाप समझता है। मांसभोजन के मूल में ही क्रूरता, निर्दयता व स्वार्थ है। एक प्रचारक को इनसे ऊपर उठना आवश्यक है। १०. ऐसे जीवनवाला यह 'मेध' **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति से **तमः**=अन्धकार को **बाधते**, पीड़ित करता है, दूर करता है। यह लोगों के अज्ञान को दूर करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को 'मेध' का जीवन बनाएँ और संसार में प्रकाश फैलानेवाले बनें।

ऋषिः—सुहोत्रः। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

एक आदर्श पत्नी

इन्द्रा॑ग्नीऽअ॒पादि॒यं पूर्वागा॑त्प॒द्वती॑भ्यः।
हि॒त्वी शिरो॑ जि॒ह्वया॒ वाव॑द॒च्चर॑त्त्रि॒ꣳशत्प॒दा न्य॑क्रमीत्॥९३॥

१. 'इन्द्राग्नी' शब्द द्विवचन है, परन्तु मन्त्रके अगले 'अपात्', 'इयं' आदि सब शब्द

एकवचन हैं, अतः 'इन्द्र और अग्नि' अर्थ न करके हम 'इन्द्र की अग्नि' अर्थ लेंगे। घर में पुरुष ने 'इन्द्र' होना, अर्थात् पति को सदा जितेन्द्रिय होना। इसकी पत्नी अग्नि है, घर की सब प्रकार की उन्नति का कारण है। गृहिणी ने घर को सब दृष्टिकोणों से उन्नत करना है। इससे एक बात तो सुव्यक्त है कि उसका स्थान घर में हैं, उसने इधर-उधर नहीं घूमना। घूमती हुई पत्नी ठीक नहीं मानी जाती, अतः मन्त्र को इस भावना से प्रारम्भ करते हैं २. **इयम्**=यह 'अग्नि' घर की उन्नतिसाधक पत्नी **अपात्**=बिना पाँववाली है, अर्थात् यह व्यर्थ में इधर-उधर नहीं घूमती। 'अपात्' यह कितनी सुन्दर काव्यमय भाषा है, बाहर जाने के लिए उसके पाँव ही नहीं हैं। ३. 'अपात्' होती हुई भी यह घर में बड़ी क्रियाशील है। **पद्वतीभ्यः**=उत्तम पाँववालियों से भी **पूर्वा अगात्**=पहले पहुँची होती है, अर्थात् यह अधिक-से-अधिक क्रियामय जीवनवाली होती है। घर के कार्यों में बड़ी स्फूर्तिवाली होती है। ४. यह अपनी प्रत्येक क्रिया को पूर्ण समझदारी के साथ करती है **शिरः हित्वी**=सिर को धारण (दधातेर्हिः) करके चलती है। इसका मस्तिष्क सदा सन्तुलित रहता है। इसी कारण यह अपने कार्यों को कुशलता से कर पाती है। ५. यह अपने कार्यों को करती हुई **जिह्वया**=जिह्वा से **वावदत्**=निरन्तर प्रभु के पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करती है। ६. **चरत्**=उन नामों के अनुसार यह अपनी क्रिया को भी बनाती है। उन नामों को आचरण में लाती है। 'प्रभु दयालु हैं' तो यह भी दयालु बनने का ध्यान करती है और इस प्रकार इसका जीवन प्रभु के गुणों को अपने में धारण कर रहा होता है। जिस पत्नी का जीवन इस प्रकार प्रभु के गुणों को धारण करके प्रभु का ही छोटा रूप हो जाता है, वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। यही बात यहाँ निम्न शब्दों में कहते हैं—७. यह पत्नी **त्रिंशत् पदा**=तीस (पद गतौ) कदमों से **न्यक्रमीत्**=निश्चयपूर्वक चलती है, अर्थात् अपने घर में तीस देवों के निवास के लिए प्रयत्नशील होती है। पति 'इन्द्र' देवता है, पत्नी भी 'अग्नि' देवता ही है, अतः इनका सन्तान भी देव क्यों न होगा? एवं, 'पति, पत्नी व सन्तान' तीन मुख्य देव तो ये हुए, इनके अतिरिक्त तीस देवों, अर्थात् सब अच्छाइयों को अपने घर में लाने का पत्नी ने प्रयत्न करना है। जब ये अपने प्रयत्न में सफल होकर घर को तैंतीस देवों का निवासस्थान बना पाती है तब वहाँ ३४वें महादेव का निवास तो होता ही है। वही घर प्रभु का घर बनता है जहाँ देवों का निवास हो, ऐसा घर देवगृह बनकर 'स्वर्ग' बन जाता है।

भावार्थ—पत्नी घर में रहकर निरन्तर क्रियाशीलता से घर को बड़ा सुन्दर बना पाती है। यह समझदारी से प्रत्येक काम को करती है। प्रभु को नहीं भूलती। प्रभु का अनुकरण करने का प्रयत्न करती है और अपने घर को देवों का निवासस्थान बनाकर प्रभु को आमन्त्रित करती है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वरिवोवित् देव

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः।

ते नोऽअद्य तेऽअपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः॥१४॥

१. **मनवे**=मनु के लिए **विश्वे देवासः**=सब देव **साकम्**=साथ मिलकर **सरातयः**='राति'-वाले **हि**=निश्चय से **स्म**=हों। राति अर्थात् देना। देवों ने देवत्व ही तो देना है। गतमन्त्र में कहा गया था कि आदर्श पत्नी सब देवों को घर में लाने का प्रयत्न करती है। जो व्यक्ति

समझदार होता है, उसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि सभी देव देवत्व प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। ये देव कैसे हैं? **समन्यवः**=समान मन्युवाले। समान ज्ञानवाले–परस्पर एकमतवाले। यदि घर में माता–पिता 'समन्यु' न हों तो बालक पर ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। शिक्षणालय में अध्यापक 'समन्यु' न हों तो विद्यार्थियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र के, मन्त्रिमण्डल में ऐक्य न हो तो राष्ट्र की व्यवस्था बिगड़ जाती है, अतः सभी देवों का एक ही संकल्प है, और वह यह कि मनु को अपना देवत्व प्राप्त कराकर उन्नत बनाना। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'=उत्तम माता, पिता व आचार्यवाला व्यक्ति ही विद्वान् बनता है। २. **ते**=वे विद्वान् **अद्य**=आज **नः**=हमें **वरिवोविदः**=ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले **भवन्तु**=हों **तु**=और **अपरम्**=अपरकाल में (afterward) **ते**=वे विद्वान् **नः** **तुचे**=हमारे सन्तानों के लिए भी **वरिवोविदः**=इस ज्ञान–धन को प्राप्त करानेवाले हों।

जैसे हमें ज्ञानियों ने ज्ञान प्राप्त कराया, इसी प्रकार हमारी सन्तानों को भी ज्ञानियों का सम्पर्क मिले और वे भी ज्ञान–धन के धनी बन पाएँ। वस्तुतः सन्तानों के लिए इससे उत्तम और क्या प्रार्थना हो सकती है? ३. प्रस्तुत मन्त्र में देवताओं के लिए जहाँ **'समन्यवः'**=ज्ञानसहित तथा समान ज्ञानवाले और **सरातयः**=देने की वृत्ति से युक्त–ये दो बातें कही गई हैं, वहाँ लेनेवाला भी **मनुः**=समझदार होना चाहिए। उसकी वृत्ति भी लेनेवाली हो। उसके अन्दर 'प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा की भावना' हो, जिससे कि देव सचमुच मिलकर उसके जीवन का सुन्दर निर्माण कर पाएँ। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ऐसा निर्माण किये जाने की योग्यता रखनेवाला 'मनु' ही है।

भावार्थ—हमें देवताओं का सम्पर्क प्राप्त हो और हम ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—नृमेधः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

हिंसा से दूर

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याभवत्।
देवास्तऽइन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण॥९५॥

१. गत मन्त्र का मनु देवों से देवत्व प्राप्त करके अब नृमेध बनता है, औरों के सम्पर्क में आकर उनके हित में प्रवृत्त होता है। २. यह नृमेध **अभिशस्तीः**=सब प्रकार की हिंसाओं को **अपाधमत्**=अपने से दूर फेंकता है, इन वृत्तियों को समाप्त करके अपने से दूर करके चमक जाता है। ३. यह केवल हिंसा से ही दूर नहीं होता। हिंसा तो यहाँ सब अवगुणों का प्रतीकमात्र है। यह नृमेध **अशस्तिहा**=सब अप्रशस्त बातों का नाश करनेवाला होता है। ४. **अथ**=अब–सब बुराइयों को दूर करके **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता नृमेध **द्युम्नी**=ज्योतिरूप धनवाला **आभवत्**=सब प्रकार से हो जाता है। अधिक–से–अधिक व्यापक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार–५. हे **बृहद्भानो** =वृद्ध (बढ़ी हुई) ज्ञान की दीप्तिवाले **मरुद्गण**=प्राणों के गण से युक्त नृमेध! **देवाः**=सब देव हे **इन्द्र**=इन्द्र! **सख्याय**=प्रभु से मित्रता केलिए **ते**=तेरे जीवन को **येमिरे**=नियमित बनाते हैं। प्राणों की साधना से सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है और यह नृमेध प्रकृति की आसक्ति से ऊपर उठकर प्रभु का मित्र बन पाता है।

भावार्थ—हम हिंसा से दूर रहें, बुराइयों को नष्ट करें, ज्ञानधन को प्राप्त करें, प्राणसाधना से देवों की अनुकूलता का सम्पादन करके प्रभु के सखा बनें।

ऋषिः—नृमेधः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्राणों का ब्रह्मार्चन—शतपर्व वज्र

प्र वऽइन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।

वृत्रꣳ हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा॥९६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=अपने **बृहते**=ज्ञान का वर्धन करनेवाले **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता आत्मा केलिए **ब्रह्म प्रार्चत**=उस ब्रह्म की प्रकर्षेण अर्चना करो। प्राणों के संयम से ही प्रभु का ठीक आराधन सम्भव है। २. प्रभु का आराधन करके यह इन्द्र **'वृत्रहा'**=वृत्र का नाश करनेवाला बनता है। आत्मा के ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली वासना ही वृत्र है। इस **वृत्रम्**=कामरूप वृत्र को यह प्राणों द्वारा ब्रह्मार्चन करनेवाला **हनति**=नष्ट कर डालता है। काम 'प्रद्युम्न' है=प्रकृष्ट बलवाला है। इसे मारना सुगम नहीं, परन्तु जब ब्रह्म की आराधना सम्पन्न होती है, तब यह काम 'भस्मीभूत' हो जाने के भय से वहाँ आता ही नहीं। ३. काम से ऊपर उठकर जीव 'शतक्रतु' बनता है। **शतक्रतुः**=यज्ञकर्त्ता जीव **शतपर्वणा वज्रेण**=सौ पर्वोंवाले वज्र से वृत्र को मार गिराता है। शतक्रतु के इस 'शतपर्व वज्र' का अभिप्राय **शत**=सौ-के-सौ वर्ष, अर्थात् जीवनपर्यन्त पर्व=(पूरणे) अच्छाइयों को अपने में पूरण करनेवाली (वज् गतौ) क्रियाशीलता ही है। मनुष्य जब तक क्रियाशील रहता है तब तक उसमें बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। अकर्मण्यता आई और बुराइयों का आक्रमण हुआ। एवं, अभिप्राय स्पष्ट है कि मनुष्य ने पूर्ण आयुष्यपर्यन्त क्रियामय बने रहना है। यह क्रिया लोकहित के लिए होती हुई यज्ञरूप हो जाती है। सब यज्ञ कर्म से ही होते हैं। यह क्रियाशीलता इन्द्र का 'शतपर्व वज्र' है, इसी से वह वृत्र का विनाश करता है।

भावार्थ—हमारे प्राण ब्रह्मार्चन में लगें। ब्रह्म की मित्रता से शक्तिशाली बनकर हम वृत्र का विनाश करें। 'सतत क्रियाशीलता' वृत्र-विनाश के लिए हमारा साधन बने।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—महेन्द्रः। छन्दः—स्वराट् सतोबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

इन्द्र का वर्धन

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यꣳ शवो मदे सुतस्य विष्णवि।

अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा॥९७॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **अस्य इत्**=निश्चय से इस प्रभु का होता है। यह प्रकृति में आसक्त नहीं होता। प्रकृति का प्रयोग करता हुआ भी यह उसका उपभोग नहीं करने लग जाता और इसी का परिणाम होता है कि यह २. **वृष्ण्यं शवः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाली शक्ति को **वावृधे**=अपने अन्दर बढ़ाता है। भोग शक्ति को जीर्ण करते हैं। ३. इस शक्तिवृद्धि का रहस्य इस बात में है कि यह उत्पन्न सोम को शरीर के अन्दर ही व्याप्त करता है। भोगों में अनासक्त व्यक्ति ही ऐसा कर पाता है। **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम के **विष्णवि**=(विश् व्याप्तौ) शरीर में व्याप्त होनेवाले **मदे**=उल्लास के होने पर यह इन्द्र अपने में शक्ति का वर्धन करता है। ४. **अद्य**=आज, जब ये भोगों का शिकार न होकर सोमरक्षा कर पाएँ हैं तब **अस्य**=इस प्रभु की **तम् महिमानम्**=उस प्रसिद्ध महिमा को **आयवः**=क्रियाशील होते हुए (एति इतिं आयुः) **अनुष्टुवन्ति**=गाते हैं, उसी प्रकार **पूर्वथा**=जैसेकि प्रकृति का रंग चढ़ने से पूर्व यह प्रभुकी उपासना करता था।

३३वें अध्याय की समाप्ति **'वावृधे वृष्ण्यं शवः'**=इसका सुखवषर्क बल बढ़ता है।

यह शक्तिशाली बनता है, इसकी शक्ति औरों को सुखी करनेवाली होती है, पीड़ित करनेवाली नहीं, पर होती है (क) इस ३३वें अध्याय का प्रारम्भ 'अस्याजरास्य' शब्दों से हुआ था कि 'इस प्रभु के भक्त जीर्ण नहीं होते' समाप्ति पर भी वही बात कही—इनकी शक्ति बढ़ती है। एवं, यह ३३वाँ अध्याय सब प्रकार की 'शक्ति' के वर्धन का अध्याय है। (ख) दूसरी ध्यान देनेवाली बात यह है कि यह–अध्याय ३३ संख्या पर है, देव भी तैतीस हैं। इन तैतीस देवों को अपने में धारण करने का इस अध्याय में कई बार उल्लेख है। इस अध्याय के ३३वें मन्त्र को 'दैव्यौ' शब्द से प्रारम्भ किया गया है, पति–पत्नी ने अपने में देवों की स्थापना करनी है। ६६वें मन्त्र में अपने में सब देवों की स्थापना करनेवाले असुरों का संहार करनेवाले 'देवराट् इन्द्र' का वर्णन है। अपने में इन देवों की स्थापना करनेवाला 'मेधातिथि'=निरन्तर समझदारी से चलनेवाला इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनें, शक्तिशाली हों, प्रभु का स्तवन करें और उन्नत हों।

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः। देवता—मनः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

दूरंगम मन

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति 'प्रभु का बनकर अपने में शक्तिवर्धन' के शब्दों में हुई थी। इस अध्याय को उसी शक्तिवर्धन के लिए मन को शिवसंकल्पवाला बनाने की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं। इस प्रार्थना के कारण ऋषि का नाम ही 'शिवसंकल्प' हो गया है। यह मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। 'कौन-से मन को?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्रों में दिया गया है, अतः इन मन्त्रों का देवता=विषय 'मन' है। २. शिवसंकल्प ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शिवसंकल्पवाला **अस्तु**=हो। मन के अन्दर अद्भुत शक्ति है, यह वैद्युत व चान्द्रमस है, अतः इसमें विद्युत् के समान बल व चन्द्रमा के समान ओज विद्यमान है। मन की वृत्तियाँ विकीर्ण होने पर सामार्थ्य शून्य होती हैं, इसी से वे 'विकल्प'=विगत सामर्थ्यवाली कहलाती हैं, अतः प्रार्थना करते हैं कि हमारा मन विकल्पों से दूर होकर 'संकल्पों'वाला, सम्यक् सामर्थ्यवाला हो और साथ ही वह शक्ति 'शिव'=कल्याणकर हो, उसका उपयोग ध्वंस में न हो। कौन-सा मेरा मन ३. **यत्**=जो **जाग्रतः**=जागते हुए का **दूरम्**=दूर-दूर **उत्**=बाहर (out) **आ**=चारों ओर **एति**=जाता है। ऋग्वेद के 'मनोजगाम दूरकम्' इस सूक्त में १२ बार इन शब्दों को दुहराया गया है, यह मन तो दूर-दूर समुद्रों, पर्वतों व विविध दिशाओं में भटकता फिरता है। **दैवम्**=(देवस्य इदम्) यह मन इस शरीर के सम्राट् देवराट् इन्द्र का प्रमुख साधन था। प्रभु-प्राप्ति के लिए यह सर्वमहान् उपकरण था। जैसे आँख रूप का उपकरण है, उसी प्रकार यह मन परमात्मादर्शन का उपकरण है, परन्तु यह तो इधर-उधर भटक रहा है, अपने उद्दिष्ट कार्य में नहीं लगा। जागरित अवस्था में ही इधर-उधर जाता हो यह बात भी नहीं। **तत्**=वह मन **उ**=निश्चय से **सुप्तस्य**=सोते हुए का भी तथा एव जागते हुए की भाँति उसी प्रकार दूर-दूर तक जाता है। **दूरङ्गमम्**=दूर-दूर जाना जिसका स्वभाव है। **ज्योतिषम्**=ज्योतियों की **एकम्**=एकमात्र **ज्योतिः**=ज्योति है।

भावार्थ—मेरा मन सदा शिवसंकल्प करनेवाला हो।

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः। देवता—मनः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अपूर्व मन

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२॥

हे सर्वान्तर्यामिन् परमेश्वर! **येन**=जिस मन से **अपसः**=कर्म करनेवाले, **धीराः**=धैर्ययुक्त **मनीषिणः**=मन के विजेता विद्वान् लोग **यज्ञे**=यज्ञ में, श्रेष्ठतम कर्मों में और **विदथेषु**=संघर्षों

में, युद्धादि में **कर्माणि**=कर्मों को **कृण्वन्ति**=करते हैं, **यत्**=जो **अपूर्वम्**=अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, विलक्षण, अद्‌भुत, **यक्षम्**=अत्यन्त पूजनीय **प्रजानां अन्तः ओतम्**=यह मन प्रजाओं के अन्दर है। शरीर के ठीक मध्य में इसकी स्थिति है। यह कहलाता ही 'अन्तःकरण' है। पञ्चकोशात्मक शरीर में दो कोश एक ओर हैं और दो कोश दूसरी ओर और ठीक मध्य में है यह 'मनोमयकोश'। ६. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम् अस्तु**=शुभ संकल्पोंवाला हो। जब यह विकल्पात्मक होता है तब निर्बल होकर मृत्यु का कारण बनता है, संकल्पात्मक होकर सशक्त होता है और जीवन का हेतु बनता है।

भावार्थ—हम मन की अद्भुत शक्ति को पहचानें और उसे वश में करके शिवसंकल्पात्मक बनाकर कल्याण का साधन करें।

नोट—पण्डितजी की पाण्डुलिपि में एक पृष्ठ लुप्त है। पृष्ठों की क्रम संख्या ठीक है। प्रथम और द्वितीय दोनों मन्त्र खण्डित हैं। हमने उन्हें पूरा कर दिया है। —**जगदीश्वरानन्द**

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अमृत मन

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥

१. वह मेरा मन **यत्**=जो **प्रज्ञानम्**=प्रकृष्ट ज्ञान का साधक है। लौकिक ज्ञान में आँख इत्यादि इन्द्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आँख रूप को देखती है तो कान शब्द को सुनता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों को ग्रहण करती हैं, परन्तु वे सब उस अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर पातीं। यह दर्शन तो मन से ही होता है। लौकिक ज्ञान में भी मन हो तो शीघ्र व सम्यक् ज्ञान होता है। मन की अनुपस्थिति में ज्ञान होता ही नहीं, उसकी विक्षिप्तावस्था में अधकचरा-सा ज्ञान होता हैं। २. **उत्**=और **चेतः**=यह मन स्मरण का साधन है। मन के ठीक होने पर 'मैं कौन हूँ' यह स्मृति बनी रहती है। पाठ में मन हो तो जल्दी याद होता है। ३. **च**=और यह मन **धृतिः**=धैर्य व दृढ़ता का साधन है। ४. यह मन वह है **यत्**=जो **प्रजासु**=प्रजाओं के अन्दर **अमृतम् ज्योतिः**=अमर ज्योति है। इन्द्रियाँ ज्योति हैं, परन्तु उनका भी प्रकाशक मन ही है, अतः यह मन ही वस्तुतः ज्योति है और चूँकि शरीर के नष्ट होने पर भी साथ ही जाता है, अतः इसकी मृत्यु नहीं होती। एवं, यह मन 'अ-मर' है। ५. **यस्मात् ऋते**=इस मन के बिना **किञ्चन कर्म**=कोई छोटा-सा भी कार्य **न**=नहीं **क्रियते**=किया जाता। **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसङ्कल्पम्**=शिवसङ्कल्पवाला **अस्तु**=हो। प्रत्येक कार्य का सौन्दर्य व साफल्य मन के शिवसंकल्पमय होने पर ही निर्भर करता है।

भावार्थ—हमारा यह मन अमर ज्योति है। इसके महत्त्व को समझकर हम इसकी शक्ति के विकास के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वग्राहक मन

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

१. **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पोंवाला **अस्तु**=हो, **येन अमृतेन**=जिस

अमर मन से **इदम्**=यह **भूतम्**=भूतकाल की सब बात **भुवनम्**=वर्त्तमान की बात और **भविष्यत्**=आगे होनेवाली बातें **सवर्म्**=सब **परिगृहीतम्**=ग्रहण की जाती हैं। यह मन अमर है, आत्मा के साथ अगले-अगले शरीर में जाता है। इसमें सब जन्म-जन्मान्तर के संस्कार निहित होते हैं, वर्त्तमान की बातें इसपर अपने संस्कार डाल रही हैं और आनेवाली बातों का इसपर प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाता है तथा आगे होनेवाली सब कल्पनाओं का उद्गम इसी में है। एवं, यह मन भूत, भविष्य व वर्त्तमान तीनों का ही ग्रहण करनेवाला है। ३. यह मन वह है **येन** =जिससे **सप्तहोता**=सात होताओंवाला **यज्ञः**=यज्ञ **तायते**=विस्तृत किया जाता है। ये सात होता शरीर के सात ऋषि हैं—**'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख, ये सात ऋषि प्रत्येक शरीर में विद्यमान हैं **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**। यह इस शरीर में स्थित होकर ज्ञानयज्ञ को चलाया करते हैं, परन्तु इनका यह ज्ञानयज्ञ मनोयोग के होने पर ही चलता है। मन के बिना ये सब अशक्त हैं। ये ज्योति हैं, तो मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है। जिस समय साधक इस मन को वश में कर लेता है तब इस मन का जहाँ भी वह संयम करता है, झट उसी का ज्ञान कर लेता है। **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**=सूर्य में संयम करने से यह सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान कर लेता है। पवित्र मन पर आगे आनेवाली घटनाओं का प्रतिबिम्ब पहले से ही पड़ जाता है। इस प्रकार वह मन 'भूत-भुवन-भविष्यत्' सभी का ग्रहीता है और सम्पूर्ण ज्ञानयज्ञ को चलानेवाला है। यह शिवसंकल्प हुआ तो फिर कल्याण-ही-कल्याण है।

भावार्थ—हम अपने मन को बड़ा शुद्ध बनाएँ, जिससे हमारा ज्ञानयज्ञ बड़ी सुन्दरता से चले।

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः। देवता—मनः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ऋग्-यजु-साम का आधार मन

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

१. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पवाला **अस्तु**=हो, **यस्मिन्**=जिसमें और **यस्मिन्**=जिससे ही **ऋचः**=सम्पूर्ण विज्ञान (ऋग्वेद=विज्ञानवेद) **साम**=उपासना व **यजूंषि**=यज्ञात्मक कर्म में **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित हैं **इव**=जैसे **रथनाभौ**=रथ के पहिये की नाभि में **अराः**=अरे प्रतिष्ठित होते हैं। नाभि के हिलते ही सब अरे हिल जाते हैं, इसी प्रकार मानसविकार होते ही सारा विज्ञान, सारी उपासना व सारा कर्मकाण्ड समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिकों ने प्रकृति-तथ्यों का निरीक्षण पूर्ण मनोयोग से करना होता है। उपासना तो चलती ही तब है जब मन से अन्य सब विषयों को निकाल दिया जाए। सब यज्ञ मन से ही होते है। क्या वेदाधिगम=(वेद पढ़ना) और क्या वैदिक कर्मकाण्ड—ये सब मन के न होने पर नहीं चलते। मनोनिरोध करके मनुष्य वैज्ञानिक तथ्यों का विचार कर पाता है, मनोनिरोध का ही नाम उपासना हो जाता है (ध्यानं निर्विषयं मनः), मन की एकाग्रता से किया गया कर्म सुन्दर होता है। २. यह मन वह है **यस्मिन्**=जिसमें **प्रजानाम्**=प्रजाओं का **सर्वम् चित्तम्**=सारा चित्त, सम्पूर्ण स्मरण **ओतम्** =ओत-प्रोत है, व्याप्त है। जब यह इन्द्रिय द्वारों से बहार जाकर संसार के विषयों के साथ रम जाता है तब मनुष्य को **'कोऽहं कुत आयातः'**=मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ? यह सब भूल जाता है। आत्मविस्मरण से बचने के लिए मन को वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**=चित्तवृत्ति-

निरोध ही योग है और **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**=तभी द्रष्टा स्वरूप में स्थित होता है, अपने को पहचानता है, भूलता नहीं।

भावार्थ—मन ही विज्ञान, उपासना व कर्म का आधार है। आत्मस्मृति का मूल मन ही है। वह एकाग्र रहा तो मनुष्य अपने स्वरूप को देख पाता है।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हृदय में प्रतिष्ठित मन

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥६॥

१. **इव**=जैसे **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वान्**=घोड़ों को **अभीशुभिः इव**=जैसे लगामों से **नेनीयते**=खूब इधर-उधर ले-जाता है, उसी प्रकार मन मनुष्यों को न जाने कहाँ-कहाँ ले-जाता है। एक ही क्षण में पूर्व में है, तो अगले ही क्षण में पश्चिम में पहुँच जाता है, प्रथम क्षण में समुद्र तल में विचर रहा है तो अगले ही क्षण में पर्वत-शिखर पर पहुँचा होता है। चारों दिशाओं में भटकता है। यहाँ 'सु-सारथि' शब्द का उल्लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उत्तम सारथि घोड़ों को लक्ष्य की ओर ले-जाता है, इसी प्रकार यह उत्तम बना हुआ मन मनुष्य को अवश्य लक्ष्य तक पहुँचानेवाला होता है। २. **हृत् प्रतिष्ठम्**=यह मन हृदय में प्रतिष्ठित है। 'हृदय' श्रद्धा का निवासस्थान है और श्रद्धा होने पर ही मन स्थिर होता है। जिस विषय में श्रद्धा होगी, उसी विषय में मन स्थिर हो पाएगा। आत्मतत्त्व में श्रद्धा हुई तो मन वहीं एकाग्र होगा। वृक्ष जैसे भूमि में प्रतिष्ठित है, भूमि से जड़ बाहर हुई और वृक्ष गिरा, इसी प्रकार मन श्रद्धा में प्रतिष्ठित है, श्रद्धा से रहित हुआ कि भटका। ३. यह मन **यत्**=जो **अजिरम्**=(agile) अत्यन्त क्रियाशील है **जविष्ठम्**=अत्यन्त वेगवान् है **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**=वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। मन सचमुच 'चञ्चल'=अत्यन्त चञ्चल है 'वायोरिव सुदुष्करम्'=इसका स्थिर करना वायु को मुट्ठी में पकड़ने के समान है, परन्तु श्रद्धा होने पर स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—हम अपने इस नितान्त चञ्चल मन को श्रद्धा द्वारा नियन्त्रित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अन्नम्**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पालक अन्न को

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥७॥

१. गत छह मन्त्रों में मन को शिवसंकल्प बनाने का वर्णन है। मन की शिवसंकल्पता बहुत कुछ अन्न पर निर्भर है। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक होता है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'** यह उपनिषद्वाक्य कह रहा है कि आहार के शुद्ध होने पर मन भी शुद्ध होता है। इसी सारी बात का संकेत वेद में मन के मन्त्रों के बाद अन्न का मन्त्र देकर कर दिया गया है। २. अन्न 'पितु' है (पा रक्षणे) शरीर की रक्षा करनेवाला है। शरीर का नाम ही अन्नमयकोश है। अन्न से ही इसकी रक्षा होती है। जब तक यह अन्नमयकोश अन्न को खाता है, तब तक शरीर स्वस्थ बना रहता है, परन्तु जिस दिन इस अन्न को मन खाने लगा उसी दिन स्वाद में पड़कर यह अन्न अतिमात्र सेवित होता है और हमें ही खा जाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **नु**=अब, शिवसंकल्प की प्रार्थना की समाप्ति पर **पितुम्**=रक्षक अन्न की **स्तोषम्**=स्तुति करता हूँ। यह अन्न **महः**=तेजस्विता है, मुझे तेजस्वी बनानेवाला है।

धर्माणम्=यह मेरा धारक है। **तविषीम्**=बल है। वस्तुतः मात्रा में सेवित किया हुआ सात्त्विक अन्न मनुष्य को तेजस्वी बनाता है, यह हमारे शरीरों को धारण करता हुआ उन्हें बलयुक्त करता है। ४. यह अन्न वह बल है **यस्य**=जिसके **विओजसा**=विशिष्ट ओज से **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाला व्यक्ति अथवा शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियों का विकास करनेवाला व्यक्ति **वृत्रम्**=सब प्रकार की उन्नतियों की विघ्नभूत वासनाओं को **विपर्वम्**=एक-एक पोरी को विकीर्ण करके **अर्दयत्**=नष्ट करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से कामना सभी रूपों में समाप्त हो जाती है, न काम सताता है, न क्रोध, न लोभ। उत्तेजक भोजन ही वासनाओं की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। यहाँ मन्त्र में पालक व सौम्य भोजन के सेवन का संकेत है, यही भोजन 'पितु' है। एवं, स्पष्ट है कि त्रित सौम्य-भोजनों का ही प्रयोग करता है और इसी कारण वह वृत्र का विनाश करके पाप के मूल को ही समाप्त करता हुआ प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अगस्त्य'=पापसंहार करनेवाला कहलाता है। इस प्रकार के अन्न के सेवन का ही यह भी परिणाम है कि यह संसार में 'अनुकूल मति' से चलता है, वैर-विरोध को बढ़ानेवाला नहीं होता। इसी अनुमति का उल्लेख अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से मन को शिवसंकल्प बनाएँ, उसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंकें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अनुमतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अनुमति

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।

क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र णऽआयूंषि तारिषः॥८॥

सात्त्विक अन्न के सेवन से मनुष्य के अन्दर सदा 'अनुमति'=अनुकूल मति=उन्नति के लिए योग्य विचार उत्पन्न होते हैं। राजस् व तामस् अन्नों का परिणाम विरोधी विचारों का उत्पन्न होना, लड़ाई-झगड़े के विचारों का उत्पन्न होना है। सात्त्विक अन्न 'अनुमति' को जन्म देता है तो उससे भिन्न अन्न 'विमति' को जन्म देता है। विमति से परस्पर विरोध-विद्वेष बढ़ता है और उसका परिणाम मानस अशान्ति है। मानस अशान्ति के होने पर 'विषाद' उत्पन्न होता है, मनुष्य के मन में कर्मसंकल्प नहीं उठता, किसी काम को जी करता ही नहीं। ऐसी स्थिति उन्नति के लिए व बल-वृद्धि के लिए विघातक है, और दीर्घजीवन की विरोधी है ही। इस सारी बात को ध्यान में करके मन्त्र में 'अगस्त्य' ऋषि जिनका उद्देश्य सब प्रकार की **'अ-ग'**=अगतिता को **स्त्य**=समाप्त करना है, कहते हैं कि हे **अनुमते**=अनुकूलमते! **त्वम्**=तू **इत्**=निश्चय से **अनुमन्यासै**=हमपर अनुकूलमतिवाली हो, अर्थात् हम तेरे 'कृपापात्र' बने रहें। तू हमसे कभी दूर न हो **च**=और **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति को **कृधि**=कर। **नः**=हमें शान्त बनाकर **क्रत्वे**=सदा उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए तथा **दक्षाय**=उन्नति के लिए **हिनु**=प्रेरित कर। इस प्रकार हमें शान्त, कर्ममय, उन्नतिशील जीवनवाला बनाकर **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषः**=खूब लम्बा करना, हमें दीर्घ जीवनवाला बनाना।

भावार्थ—यदि हम शुष्क वैर-विवाद से दूर रहकर अनुकूलितमति से चलते हैं तो हमें 'शान्ति, कर्मसंकल्प (कर्मसामर्थ्य), उन्नति तथा दीर्घजीवन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अनुमतिः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अनुमति और अग्नि

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः॥९॥

पिछले मन्त्र में कहा गया था कि अनुमति के होने पर 'शान्ति' रहती है। जिस घर में पति-पत्नी में अनुमति है, वह घर स्वर्ग बन जाता है। इसी 'अनुमति' का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **अनुमतिः** =शान्ति व उन्नति की साधनभूत यह 'अनुमति'=(प्रेम का विचार) **अद्य**=आज **नः**=हमारे **देवेषु यज्ञम्** =देवताओं में निवास करनेवाला जो यज्ञ है, उसका **अनुमन्यताम्**=अनुकूल बोध दे, अर्थात् हमारे विचारों को 'अनुमति' यज्ञानुकूल बनाये। देवता लोग यज्ञमय जीवन बिताते हैं, वही यज्ञ 'अनुमति' की कृपा से हमें प्रिय हो। हमारी मनोवृत्ति आज से यज्ञ-प्रवण हो जाए। 'यज्ञ' का पूर्ण अर्थ यह है कि हम (क) सदा बड़ों का आदर करें (देवपूजा), (ख) सब साथियों के साथ बड़े प्रेम से मिलकर चलनेवाले बनें (संगतिकरण) तथा (ग) सदा ही कुछ-न-कुछ देनेवाले बने रहें (दान), (घ) इस दान को ही जब हमें इन वायु आदि देवों के लिए करना होता है तब हम इन देवों के मुखरूप अग्नि में हव्य पदार्थों को डालते हैं। यही अग्निहोत्र कहलाता है और यज्ञ का अर्थ संकुचित रूप में यही लिया जाता है। देव लोग तो यज्ञमय जीवनवाले हैं ही, हम भी अनुमति की कृपा से यज्ञमय जीवनवाले बनें, **च**=और **अग्निः**=देवों का मुख यह अग्नि **हव्यवाहनः**=हमारे द्वारा दिये गये हव्य पदार्थों को देवों में ले-जानेवाला बने। इस प्रकार हे अनुमते और अग्ने! आप दोनों **दाशुषे**=इस दाशवान् के लिए **मयः**=कल्याणकर **भवतम्**=होओ। 'दाशवान्' पुरुष वह है (दाशृ दाने) जो देनेवाला है और अन्त में जो अपने को प्रभु के प्रति दे डालता है, यह समर्पण की वृत्तिवाला पुरुष दाश्वान् कहलाता है। प्रभु-प्रवण व्यक्ति कभी किसी से लड़ता नहीं, यह सदा सबके साथ प्रेम से चलता है, यज्ञशील तो होता ही है। 'अनुमति व अग्नि की कृपा से यह 'अगं पापं संहन्ति=स्त्यायति'=पाप को नष्ट करके अगस्त्य बन जाता है।

भावार्थ—हम सदा अनुमतिवाले हों और हमारे जीवन यज्ञमय बन जाएँ।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—सिनीवाली। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सिनीवाली (आदर्श पत्नी)

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥१०॥

'गत दो मन्त्रों में वर्णित 'अनुमति' को गृहिणी अपने सन्तानों में 'कैसे जन्म देती है', इस विषय को स्पष्ट करने के लिए दो मन्त्रों में 'आदर्श पत्नी' के क्रियाक्रम का उल्लेख करते हैं १. यह आदर्शपत्नी **सिनीवालि**=(सिनमन्नम्, वालं=पर्व=पूरण—नि० ११।३।३२) अन्न के द्वारा सब न्यूनताओं को दूर करती है तथा मनों में अनुमति व उससे जनित यज्ञिय वृत्तियों का पूरण करती है। यह घर में सदा सात्त्विक अन्नों का ही व्यवहार रखती है, कभी भी राजस् व तामस् भोजनों को घर में नहीं आने देती। इसी का यह परिणाम होता है कि यह स्वयं तो अनुमतिवाली होती ही है, अपनी सन्तानों में भी इस अनुमति को उत्पन्न कर पाती है। २. जीवन में ग़लती न हो जाए' इस विचार से सदा प्रभु का स्तवन करनेवाली

बनती है। मन्त्र में इसे **पृथुष्टुके**=(पृथुष्टुते—नि० ११।३।३२) हे खूब स्तुतिवाली! इस प्रकार कहा गया है। 'प्रथ विस्तारे'=इसके जीवन में सदा स्तुति का विस्तार रहता है, जब ज़रा समय खाली हुआ या अन्य कार्य से थकी कि 'प्रभु नाम जपन' करने लगी। ३. इस प्रकार **या**=जो तू **देवानां स्वसा**=देवों की बहिन **असि**=है। जिस तूने दिव्य गुणों को धारण किया है। माता को यही चाहिए कि जिन-जिन बातों को वह बच्चों में चाहे उन्हें स्वयं धारण करे 'स्वयं सरति इति स्वसृ'। स्वयं सोई हुई माता बच्चों को जगाकर पढ़ाई में प्रवृत्त नहीं कर सकती। ४. **आहुतम् हव्यम् जुषस्व**=अग्नि में आहुति दिये जा रहे हव्य पदार्थों का तू प्रीतिपूर्वक सेवन कर, अर्थात् तू नित्य अग्निहोत्र करनेवाली हो। यह प्रतिदिन का यज्ञ सन्तानों के जीवन को अवश्य यज्ञमय बना देगा। माता को अग्निहोत्र करते देखकर बालकों के लिए भी यज्ञ एक सुन्दर खेल हो जाएगा। ५. इस प्रकार अपने जीवन को दिव्य गुणों से भरनेवाली आदर्श गृहिणी सचमुच देवी है। इससे कहते हैं कि हे **देवि**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाली आदर्श गृहिणी! तू **नः**=हमें **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=दे—प्राप्त करा। 'इस पत्नी की सन्तान इसी के समान उत्तम जीवनवाली होगी', इस बात में तो शक है ही नहीं। ६. इस उत्तम जीवनवाली पत्नी को पाकर पति का जीवन भी आनन्दमय होता है और वह उत्तम साथी प्राप्त कराने के लिए प्रभु का सदा आभारी रहता है। गृणाति माद्यति=प्रभु-स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है और 'गृत्समद' इस अन्वर्थ नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—पत्नी १. सात्त्विक अन्न के व्यवहार से न्यूनताओं को दूर करनेवाली हो। २. निरन्तर स्तुतिमय जीवनवाली हो। ३. स्वयं दिव्य गुणों को धारण करे ४. यज्ञशीला हो। ५. ऐसी पत्नी सुसन्तान का निर्माण करती है।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सरस्वती का 'पंचधा सरित्' होना

पञ्च॑ न॒द्यः॑ सर॑स्वती॒मपि॑ यन्ति॒ सस्रो॑तसः।

सर॑स्वती॒ तु प॑ञ्च॒धा सो दे॒शेऽभ॑वत्स॒रित्॥११॥

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानवाहिनी नदियाँ है। चक्षु से प्रवाहित होनेवाली ज्ञाननदी रूप-जल से भरी है तो श्रोत्र से चलनेवाली शब्दरूप जल से। एवं, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से एक-एक विषय का ग्रहण होकर यह सम्पूर्ण पाँच भौतिक संसार हमारे ज्ञान का विषय बन जाता है और इस प्रकार ज्ञान जलवाहिनी सरस्वती नदी पूर्ण जलौघ के साथ बह चलती है। ज्ञानजलौघ से युक्त गृहिणी को भी यहाँ 'सरस्वती' ही नाम दिया गया है। गतमन्त्र में यह सिनीवाली=अन्न से दोषों को दूर कर अपना पूरण करनेवाली थी, और वस्तुतः उस सात्त्विक अन्न के सेवन ने ही इसे 'सरस्वती' बनने की क्षमता प्राप्त कराई है। **सरस्वतीम्**=इस सरस्वती को **पञ्च**=पाँच **सस्रोतसः**=समान स्रोतवाली **नद्यः**=ये ज्ञान-जलवाहिनी नदियाँ **अपियन्ति**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् यह उत्तम गृहिणी सदा अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न में लगी रहती है। वेद का यह उपदेश कि 'पंचौदनः पंचधा विक्रमताम्'=पञ्चौदन जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहे, कभी उत्तम पत्नी भूलती नहीं तभी तो वस्तुतः वह सचमुच **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बन पाई है। **सा तु**=यह पत्नी तो **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बनकर उ=निश्चय से **देशे**=जिस गृह में व क्षेत्र में काम करती है उस प्रदेश में **सरित्**=कार्य को सुन्दर रूप से चलानेवाली (सृ

गतौ) **अभवत्**=होती है। अज्ञान में क्रिया ग़लत होती है, ज्ञान क्रिया में पवित्रता व कुशलता को ले-आता है। एवं, 'सरस्वती' अपने घर का सञ्चालन ऐसे अच्छे ढंग से करती है कि **पञ्चधा**=पाँचों प्रकार से, अर्थात् अन्नमयादि पाँचों कोशों के दृष्टिकोण से **सरित्**=सब सन्तानों को आगे बढ़ानेवाली बनती है। अपने सन्तानों के अन्नमयकोश को नीरोग बनाती है, प्राणमय को सबल, मनोमय को निर्मल, विज्ञानमय को दीप्त और आनन्दमयकोश को सदा सोल्लास बनानेवाली होती है। यह है 'सरस्वती' का 'पञ्चधासरित्' होना=पाँच प्रकार से बच्चों को आगे बढ़ाना।

भावार्थ—माताएँ सरस्वती हों, बच्चों की सर्वांगीण उन्नति की साधिका हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप

त्वम॑ग्ने प्रथमोऽअङ्गि॑राऽऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑।

तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॑सोऽजायन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः॥१२॥

सरस्वतीरूप माता से शिक्षित होकर एक युवक बड़े संयत जीवनवाला बनता है। यह प्रभु को निम्न शब्दों में आराधित करता है १. हे **अग्ने**=हमारी सब प्रकार की उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=सबसे प्रथम होनेवाले हो, गुरुओं के भी गुरु हो (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे)। आप अत्यन्त विस्तारवाले हो (प्रथ विस्तारे), सर्वव्यापक हो, सबमें आप हो, सब आपमें ही स्थित हैं। २. **अङ्गिराः**=(अङ्ग, रस) हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आप ही रस का सञ्चार करनेवाले हो। सभी को शक्ति देनेवाले आप ही हो। आपकी दीप्ति से ही वस्तुतः सारा संसार दीप्त है। ३. **ऋषिः**=आप सर्वद्रष्टा हैं, सर्वज्ञ हैं। ४. **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं, सब देवताओं को भी देवत्व देनेवाले आप ही हैं। ४. **देवानाम्**=दिव्य गुणों को अपनाकर देव बननेवालों के **शिवः सखा**=कल्याणकर मित्र **अभवः**=होते हो। प्रभु देव हैं तो देव बननेवाले उन्हें क्यों न प्रिय हों? ४. देव बनने के लिए जो व्यक्ति **तव व्रते**=आपके व्रत में चलते हैं, अर्थात् अपना लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति बनाते हैं, वे व्यक्ति (क) **कवयः**=क्रान्तदर्शी बनते हैं, तात्त्विक ज्ञान को प्राप्त करके वस्तुओं की ऊपरली चमक से मुग्ध हो जानेवाले नहीं होते। (ख) **विद्मनापसः**=ज्ञानपूर्वक होने के कारण ही इनके कर्म पवित्र बने रहते हैं। (ग) **मरुतः**=ये मितरावी होते हैं, बोलते कम हैं, करते अधिक हैं, वाग्वीर न होकर कर्मवीर होते हैं तथा (मरुतः प्राणाः)=प्राणों की साधना करनेवाले होते हैं। (घ) इस प्राणसाधना से ही वस्तुतः ये **भ्राजदृष्टयः**=देदीप्यमान ज्ञानरूप दर्शनवाले **अजायन्त**=होते हैं। इनकी ज्ञानाग्नि खूब चमक उठती है।

भावार्थ—वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' प्रभु को 'अग्नि, अङ्गिरा, ऋषि, देव व देवसखारूप' में देखता है और प्रभु-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बनाकर 'कवि=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला, मरुत व भ्राजदृष्टि' बन जाता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुरक्षा का पात्र

त्वं नो॑ऽअग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॒श्च वन्द्य।

त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेषँ॒ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते॥१३॥

हे **अग्ने**=उन्नति के साधक! **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे

मघोनः=(मा अघ) पाप के अंश से शून्य ऐश्वर्यवालों को तथा (मघ=मख) यज्ञशील लोगों को **तव पायुभिः**=अपने रक्षणों से **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए। प्रभु रक्षा करते हैं, उनकी जो (क) **मघ**=ऐश्वर्य का उपार्जन करते हैं, उस ऐश्वर्य का जोकि कुटिलता व पाप से नहीं कमाया गया। (ख) जो ऐश्वर्य का उपार्जन करके उस ऐश्वर्य का विनियोग यज्ञों (मघ=मख) में करते हैं, (ग) इस प्रकार जो साधनों को जुटाकर और साधनों का सदुपयोग करके उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं (अग्नि) और (घ) धीरे-धीरे दिव्य गुणों के पुञ्ज बन जाते हैं (देव)। हे **वन्द्य**=हे वन्दन व स्तवन के योग्य प्रभो! **नः तन्वः च**=और हमारे शरीरों की भी **रक्ष**=आप रक्षा कीजिए। हे प्रभो! आप ही **तोकस्य त्राता**=हमारे सन्तानों के भी रक्षक हैं। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही माता-पिता सन्तानों का निर्माण कर पाते हैं। हमारे **तनये**=पौत्रों के विषय में भी (तनुते वंशम्) आप ही **त्राता**=रक्षक हैं। हमारी इन सन्तानादि की रक्षा के लिए ही **गवाम्**=हमारे गौ आदि पशुओं के भी आप **त्राता असि**=रक्षक हैं। यहाँ वंश-विस्तार के लिए गोरक्षा का स्पष्ट संकेत है। हे प्रभो! वास्तव में **तव व्रते**=आपके व्रत में चलनेवालों के आप **अनिमेषम्**=प्रमादशून्यता से, पूर्ण सावधानी से **रक्षमाणः**=रक्षा करनेवाले हैं। जो प्रभु-प्राप्ति को अपना ध्येय बना लेते हैं प्रभु स्वयं उनके रक्षक बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षा का पात्र बनने के लिए हम (क) सदा सुपथ से धन कमाएँ, (ख) धन का विनियोग यज्ञों में करें, (ग) उन्नत होने का सतत प्रयत्न करें, (घ) दिव्यता को धारण करें, (ङ) प्रभु के प्रति वन्दनशील हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इडा पुत्र—अक्रोधी—संयमी

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाजऽइडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥१४॥

पिछले दोनों मन्त्रों में 'तव व्रते' ये शब्द आये हैं। प्रभु की रक्षा के पात्र वे होते हैं जो प्रभु के व्रत में स्थित हों। प्रभु-प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चयवाले ये लोग सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हैं, इस सात्त्विक अन्न से इनकी बुद्धि भी सात्त्विक व सूक्ष्म बनती है। इस **उत्तानायाम्**=(उत्+तन) उत्कृष्ट विस्तारवाली बुद्धि में **चिकित्वान्**=समझदार पुरुष **अवभर**=वेदवाणी को भरता है। जैसे पृथिवी में बीज बोते हैं, उसी प्रकार समझदार व्यक्ति उत्कृष्ट विकसित बुद्धि में वेदवाणी का बीज बोते हैं। यह वेदवाणीरूप बीज **सद्यः**=कुछ ही समय बाद **प्रवीता**=प्रजाता=अंकुरित हुआ-हुआ उस बोनेवाले को **वृषणम्**=बड़ा शक्तिशाली **जजान**=बना देता है। वेदवाणी मानवजीवन को सबल बनाती है। उसकी प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ मनुष्य काम-क्रोधादि वासनाओं से पराजित नहीं होता और संसार के विषय अत्यन्त प्रबल आकर्षण रखते हुए भी उसे बाँध नहीं पाते। यह **इडायाः**=वेदवाणी का **पुत्रः**=पुत्र बन गया है। वेदवाणी ने ही इसके जीवन को बनाया है। यह वेदवाणी का 'पुत्र' इसलिए भी है कि यही वाणी इसे 'पुनाति'=पवित्र करती है और त्रायते=बचाती है। यह वेदवाणी का पुत्र **अरुषस्तूपः**=(अरुषश्चासौ स्तूपः) क्रोध से एकदम शून्य और शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला (स्तूप् to raise) होता है। मनुष्य दो कारणों से निर्बल होता है, एक यह कि शक्ति का अपव्यय हो जाए, और दूसरा यह कि क्रोध के कारण वह अन्दर-ही-अन्दर जल जाए। यह 'इडापुत्र' क्रोधशून्य है और साथ ही शक्ति को नष्ट न

होने देनेवाला है। परिणामतः **अस्य पाजः**=इसकी शक्ति **रुशत्**=देदीप्यमान है। यह शारीरिक स्वास्थ्य व मानस प्रसाद के कारण प्रफुल्लित प्रतीत होता है। यह **वयुने**=उत्कृष्ट विज्ञान में **अजनिष्ट**=विकसित हुआ है। शरीर व मन के विकास के साथ इसका मस्तिष्क भी विज्ञान की दीप्ति से चमक उठा है।

भावार्थ—वेदवाणी (ज्ञान की वाणी) मानव-जीवन को सबल बनाती है। यह उसे अक्रोधी, संयमी, दीप्तशक्तिवाला व ज्ञाननिष्ठ बना देती है।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवश्रवदेववात

इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्याऽअधि।
जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोढवे॥१५॥

पिछले तथा प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवश्रवदेववात' (भारत) हैं। ये माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों से ज्ञान प्राप्त करके 'देवश्रव' नामवाले हुए हैं। इन्हीं देवों से सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने के कारण इनका नाम 'देववात' (वा=ईर=प्रेरण) हो गया। इन्होंने वेदवाणी को अपने में भरा, अतः ये 'भारत' हैं। ज्ञान प्राप्त करके, यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रेरणा लेकर ये सदा यज्ञादि में लगे रहते हैं, सबके साथ मिलकर चलते हैं और दान की वृत्ति को कभी अपने से दूर नहीं करते। यही दान की वृत्ति नैत्यिक अग्निहोत्र के रूप में भी प्रकट होती है और यह कहता है कि हे **जातवेदः**=प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त करानेवाले (जातं वेदयति) **अग्ने**=हव्य पदार्थों को आगे-और-आगे ले-जानेवाले अग्ने! **हव्याय वोढवे**=हव्य पदार्थों को ढोने के लिए **वयम्**=हम **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः नाभौ अधि**=इस पृथिवी की यज्ञरूप नाभि में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **निधीमहि**=स्थापित करते हैं। यज्ञ के अभाव में किसी का कल्याण नहीं, यह पृथिवीलोक तो यज्ञजनित पर्जन्यों से ही प्रीणित होता है। **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः'** अन्न की उत्पत्ति करनेवाला पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है। यह अग्नि 'जातवेद' है, इसमें डाले हुए हव्य पदार्थ को यह प्रत्येक देव को प्राप्त कराता है। अग्नि जलायी और हव्य पदार्थ डाले' इतना ही नहीं, यह उन हव्य पदार्थों को **इडायाः**=वेदवाणी के **पदे**=शब्दों के उच्चरित होने पर डालता है, अर्थात् मन्त्रोच्चारणपूर्वक यह यज्ञों को करनेवाला बनता है। इस प्रकार इन यज्ञों के प्रसङ्ग से यह वेदवाणी की भी रक्षा करनेवाला बनता है। वेदवाणी इसकी माता है, उसी ने इसका निर्माण किया, उसकी रक्षा करना इसका कर्त्तव्य है।

भावार्थ— यह 'देवश्रवदेववात' यज्ञमय जीवनवाला होता है। मन्त्रोच्चारपूर्वक जातवेद अग्नि में हव्य पदार्थों को डालता है।

ऋषिः—**नोधाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्तुत्य जीवन

प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसेऽअङ्गिरस्वत्।
सुवृक्तिभिः स्तुवतऽऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय॥१६॥

१. **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सब ओर बल के पुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को **प्रमन्महे**=चाहते हैं, इसके लिए वासनाओं के शोषक बल की कामना करते हैं। यदि एक बलवान् पुरुष में कामादि

वासनाओं के शोषण की शक्ति न रहे तो उसका बल अत्यन्त दुरुपयुक्त होने लगता है। जितना-जितना हमारा बल बढ़े उतनी-उतनी हमारी वासना-शोषणशक्ति भी प्रवृद्ध हो, जिससे हम बढ़े हुए बल के कारण कहीं अधिक वासनाओं के शिकार न हो जाएँ। २. **गिर्वणसे**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले के लिए **आङ्गूषम्** (=आघोषम् स्तोमम्)=उच्च स्वर से उच्चारण योग्य स्तुतिसमूह को उसी प्रकार (प्रमन्महे)=चाहते हैं **अङ्गिरस्वत्**=जैसेकि यह स्तुतिसमूह अङ्गिरा को प्राप्त हुआ। अङ्गिरा को अथर्ववेद=ब्रह्मवेद मिला, इस गिर्वण के लिए भी हम इसे चाहते हैं। वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला जब **ऋग्वेद**=विज्ञानवेद को पढ़ेगा तो इन अङ्गिरा के आंगूषों=ब्रह्ममन्त्रों के बिना वह विज्ञान का हिंसात्मक प्रयोग करनेवाला बन जाएगा। वैज्ञानिक उन्नति के साथ ब्रह्म के **आङ्गूष**=(उच्च स्वर में गेय स्तोत्र) चलेंगे तो यह संकट जाता रहेगा। विज्ञान के साथ ब्रह्म-स्मरण जुड़ा तो विज्ञान निर्माण में ही नियुक्त होगा, ध्वंस में नहीं। ३. **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों से, अर्थात् बुराइयों को पूरी तरह त्यागने से **स्तुवते**=उस प्रभु का स्तवन करनेवाले के लिए, असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करनेवाले के लिए तथा **ऋग्मियाय**=ऋचाओं को प्रशस्तता से प्राप्त करनेवाले के लिए **अर्चाम्**=पूजा को **प्रमन्महे**=चाहते हैं। लोक में आदर उसी को दिया जाए जो बुराइयों को छोड़ता है तथा उत्तम विज्ञान को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति मन व मस्तिष्क दोनों की उन्नति करता है वही लोगों के आदर का पात्र बने। ४. लोग तो इसका आदर करें, परन्तु यह कहीं गर्वयुक्त न हो जाए, अतः हम इस **विश्रुताय**=दूर-दूर तक विशिष्ट प्रसिद्धि को प्राप्त **नरे**=मनुष्य के लिए **अर्कम्**=प्रभु-स्तवन को **आप्रमन्महे**=खूब ही चाहते हैं। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रकर्षेण प्रभुस्मरण में लगा रहेगा तो यह लोगों से दिये गये अर्चन=सत्कार से अभिमान में न आएगा। व्यक्ति साधना करके प्रायेण संसार में ऊँचा उठता है, लोग उसका आदर करने लगते हैं, आदर में अतिशय वृद्धि को वह ठीक पचा नहीं पाता, अतः गर्वित हो जाता है और एक पन्थ का प्रवर्तक बन जाता है। यह स्वयं ही प्रभु के साथ पुजने लग जाता है। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रभु-स्मरण में लगा रहेगा तो अपनी तुच्छता को लोकसम्मान के भुलावे में आकर भूल न जाएगा और इस प्रकार अभिमान का शिकार भी न होगा।

भावार्थ—(क) बलवान् पुरुष वासनाओं की शोषण-शक्ति से सम्पन्न हो, (ख) उच्च विज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्रभु-स्तोमों को भी प्राप्त करनेवाला बने, (ग) लोगों का आदरणीय वही हो जिसने पापों का पूर्ण वजर्न करके प्रभु के उपासक के साथ ऊँचे विज्ञान के अध्ययन को जोड़ दिया है, (घ) यह लोगों से आदर को प्राप्त 'विश्रुत' (Well-known) नर सदा प्रभु-स्तवन में लगा रहे, जिससे अभिमान का शिकार न हो जाए। यही जीवन स्तुत्य जीवन है। इस स्तुत्य=नव (नू स्तुतौ) जीवन को धारण करनेवाला 'नवधा'=नोधा प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इसी का वर्णन १७वें मन्त्र में भी है।

ऋषिः—**नोधाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गो-विन्द

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॑ꣳ शवसा॒नाय॒ साम॑।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञाऽअर्च॑न्तो॒ऽअङ्गि॑रसो॒ गाऽअ॑विन्दन्॥१७॥

१. नोधा ऋषि कहते हैं कि **वः**=तुम्हारी **महे**=(महसे) तेजस्विता के लिए **महि नमः**=पूज्य नमन की भावना को **प्रभरध्वम्**=अपने अन्दर खूब धारण करो। मनुष्य

प्रभु-प्रवण बनता है तभी विषयों से बचकर शक्ति की रक्षा करता हुआ तेजस्वी बन पाता है। २. तेजस्वी बनकर **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सर्वतः बलपुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए आवश्यक है कि वह **आङ्गूष्यम् साम**=ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य उपासना-मन्त्रों को अपने में धारण करे, जिससे उस शक्ति की वृद्धि के कारण उसका आचरण वासनामय न हो जाए। ३. सामान्य क्रम यह है कि (क) वासना-विजय से शक्ति प्राप्त होती है, (ख) शक्तिवृद्धि होने पर वासनाओं के बढ़ने की आशंका हो जाती है, अतः शक्ति-प्राप्ति के लिए भी प्रभु-नमन आवश्यक है और शक्तिप्राप्ति के बाद भी उस शक्ति को नाश से बचाने के लिए प्रभु-नमन और अधिक आवश्यक हो जाता है। ४. 'शक्तिप्राप्ति के लिए प्रभु-नमन और शक्ति के रक्षण के लिए प्रभु-नमन' यह मार्ग है **येन**=जिस मार्ग से **नः**=हमारे (क) **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, (ख) **पितरः**=रक्षण व पालन करनेवाले, (ग) **पदज्ञाः**=वेदशब्दों के रहस्य को समझनेवाले, (घ) **अर्चन्तः**=उपासक, (ङ) **अङ्गिरसः**=एक-एक अङ्ग के रस-(शक्ति)-वाले लोग **गाः**=इन्द्रियों को **अविन्दन्**=प्राप्त करते थे, अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय बनते थे। **गाः**=का अर्थ 'वेदवाणियों को' भी किया जा सकता है, ये लोग वेदवाणियों को पूर्णरूप से प्राप्त करनेवाले होते थे। यह एक नवीन जीवन होता है, अतः ये 'नवधा' या नोधा नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन का प्रारम्भ प्रभु-नमन से हो और हमारे जीवन का अन्त भी प्रभु-नमन से हो।

ऋषिः—देवश्रवदेववातौ भारतौ। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-प्राप्ति का अभिलाषी

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांꣳसि।
तितिक्षन्तेऽअभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः॥१८॥

हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इच्छन्ति**=चाहते हैं, कौन? जो १. **सोम्यासः**=विनीत, निरभिमान हैं। प्रकृति की ओर जानेवाले, प्रकृति में आसक्त हुए-हुए असुर लोग तो स्वयं अपने को ही 'ईश्वर' मानने लगते हैं **'कोन्योऽस्ति सदृशो मया'**='मेरे-जैसा दूसरा कौन है?' इन शब्दों में उनका अभिमान व्यक्त होता है। २. **सखायः**=ये मित्र होते हैं। प्रभु के चाहनेवाले परस्पर मित्रता के भाव से वर्तते हैं। ३. **सोमम् सुन्वन्ति**=अपने में सोम=शक्ति का अभिषव—उत्पादन करते हैं। प्रभु की व्यवस्था के अनुसार आहार का अन्तिम परिणाम सोम है, इस सोम को ये अपने अन्दर ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। इस सोम ने ही इनकी ज्ञानाग्नि का समिन्धन करना है और इनकी बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु-दर्शन योग्य बनाना है। ४. **प्रयांसि दधति**=त्यागमय प्रयत्नों को (प्रयस्=प्रयत्न, sacrifice=त्याग) ये धारण करते हैं, अर्थात् ये प्रयत्नशील तो होते ही हैं, परन्तु इनके सब प्रयत्न त्याग की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। ५. इस प्रकार त्याग व यत्न को मिलाकर जब ये लोगों के हितसाधन में लगे होते हैं उस समय वे लोग, अपनी नासमझी के कारण इन्हें बुरा-भला कहते हैं, गालियाँ देते हैं, परन्तु ये प्रभु-प्रवण लोग **जनानाम्**=उन मनुष्यों के **अभिशस्तिम्**=दुर्वचनों को ले-नहीं लेते, उन्हीं के पास रहने देते हैं। ये लोग सामान्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठे होते हैं, ये मनुष्य नहीं देव प्रतीत होते हैं। वेद कहता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वत् हि**=आपका ही **कश्चन**=कोई अवर्णनीय-सा **प्रकेतः**=प्रकाश **आ**=सब ओर इन व्यक्तियों में दिखता है। वस्तुतः इन लोगों का यह असामान्य मनःप्रसाद इनमें प्रभु के

प्रकाश के ही कारण होता है। ये लोग सदा प्रभु के प्रिय देवों के साथ उठते-बैठते हैं, उन्हीं की ज्ञान-चर्चाओं को सुनते हैं, अतः 'देवश्रव' कहलाते हैं, उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, अतः 'देववात' नामवाले होते हैं। ये लोग पत्थरों का उत्तर पुष्पों से देते हैं, घृणा का प्रेम से।

भावार्थ—हम सौम्य, स्नेहवाले, सोम (शक्ति) का पान करनेवाले, सात्त्विक कर्मों का सेवन करनेवाले, सहनशील बनकर प्रभु-प्राप्ति के अभिलाषी बनें।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय

न ते॑ दू॒रे प॑र॒मा चि॒द्रजा॑ᳬस्या तु प्र या॑हि हरिवो॒ हरि॑भ्याम्।
स्थि॒राय॒ वृष्णे॒ सव॑ना कृ॒तेमा यु॒क्ता ग्रावा॑णः समिधा॒नेऽअ॒ग्नौ ॥१९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु 'देवश्रव' से कहते हैं—१. हे देवश्रव! वे उत्कृष्ट लोक, जिन्हें तूने प्राप्त करना है, **ते दूरे न**=तुझसे दूर नहीं हैं। सौम्य, सखा, सोमपायी, सत्त्वस्थ व सहनशील बनकर तू उन लोकों के समीप पहुँच गया है। हे **हरिवः**=उत्कृष्ट इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले! **हरिभ्याम्**=अपने इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों से **तु चित्**=निश्चय से **परमा रजांसि**=उत्कृष्ट लोकों में **आप्रयाहि**=सवर्था आ। प्रभु ने हमारे इस शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप घोड़े जोते तो इसीलिए हैं कि हम इनके द्वारा उत्कृष्ट लोकों में पहुँच सकें, परन्तु सामान्यतः हीनाकर्षण के कारण हम उत्कर्ष के मार्ग पर न चलकर अपकर्ष के मार्ग पर भागे चले जाते हैं, परन्तु 'देवश्रवदेववात' उत्तम ज्ञान व प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उत्कृष्ट लोकों की ओर ही बढ़ता है। २. इस देवश्रव की बुद्धि विषयों से आन्दोलित नहीं होती, यह स्थितप्रज्ञ बना रहता है। **स्थिराय**=इस स्थिर बुद्धिवाले **वृष्णे**=शक्तिशाली पुरुष के लिए **इमा सवना कृता**=ये यज्ञ बनाये गये हैं। उस 'अक्षर ब्रह्म' (प्रभु) ने वेदों में यज्ञों का प्रतिपादन किया है, जिससे ये स्थिर बुद्धिवाले शक्तिशाली पुरुष इन यज्ञों के करने में अपने समय का सद्व्यय कर पाएँ। ३. ये यज्ञों में लगे हुए 'देवश्रव' लोग **अग्नौ समिधाने**=यज्ञों में अग्नि के दीप्त होने पर **युक्ताः**=योगयुक्त होते हैं तथा **ग्रावाणः**=उत्कृष्ट वेदगिरा (वेदवाणी) के उपदेष्टा बनते हैं। ये केवल यज्ञों में ही अपने जीवन को समाप्त नहीं कर देते। यज्ञों के साथ ये योग का अभ्यास करते हैं, अपने मन की वृत्तियों को प्राणनिरोध द्वारा केन्द्रित करके ये उस प्रभु में अपने को युक्त करते हैं तथा इस निरुद्ध चित्तवृत्ति को ज्ञानोपार्जन में लगाके, स्वयं ऊँचे ज्ञानी बनकर, उस ज्ञान का उपदेश देनेवाले होते हैं। इस प्रकार ये अपने जीवन में 'कर्म, भक्ति व ज्ञान' तीनों ही बातों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। केवल यज्ञों से ये अपने को कृतकृत्य नहीं मान बैठते।

भावार्थ—'देवश्रव' का जीवन 'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय करके चलता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गोतम के दश गुण

अषा॑ढं यु॒त्सु पृत॑नासु पप्रि॑ᳬ स्व॒र्षाम॒प्सां वृ॒जन॑स्य गो॒पाम्।
भ॒रे॒षु॒जाᳬसु॑क्षि॒तिᳬसु॒श्रव॑सं॒ जय॑न्तं॒ त्वामनु॑ मदेम सोम॥२०॥

१. **युत्सु अषाढम्**=युद्धों में पराभूत न होनेवाले मनुष्य की हृदयस्थली पर दैवी व आसुरी वृत्तियों का सतत युद्ध चलता है। इस निरन्तर चल रहे देवासुर संग्राम में न पराजित

होनेवाले पुरुष को ही हम **अनुमदेम**=अनुमोदित करते हैं, अर्थात् 'आदमी' तो हम इसे ही मानते हैं। २. **पृतनासु पप्रिम्**=(पृतना संग्रामनाम—नि० २।१७) संग्राम में अपना पालन व पूरण करनेवाले। अध्यात्मसंग्राम तो निरन्तर चलता है। समाज में भी संघर्ष आ जाते हैं। इन संघर्षों में यह अपना रक्षण करता है, जिससे कहीं रोगों व ईर्ष्यादि का शिकार न हो जाए। 'संघर्ष शक्ति पैदा करता है' 'Resistance creates power' इस नियम का ध्यान करता हुआ यह संग्रामों का स्वागत करता है। ३. **स्वर्षाम्**=(स्वः सन्) यह प्रकाश का सेवन करनेवाला होता है। 'स्वः' का अभिप्राय 'स्वर्ग' भी है, परन्तु यहाँ प्रकाश अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। यह अपने अन्दर ज्ञान के प्रकाश को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है। ४. **अप्साम्**=(अप् सन्) उस ज्ञानप्रकाश के कारण ही यह सदा (आप्=व्याप्ति) व्यापक, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए कर्मों का सेवन करनेवाला बनता है। ज्ञान इसे स्वार्थमय कामनाओं से ऊपर उठाता है और यह परार्थ की भावना से प्रेरित होकर व्यापक हित के कार्यों में लगा रहता है। ५. **वृजनस्य गोपाम्**=इस प्रकार परार्थ के कामों में लगा हुआ यह व्यक्ति कभी विषयासक्त नहीं बनता और बल का रक्षक होता है। (वृजनम्=बल—नि० २।९) ६. इसी सुरक्षित बल के कारण **भरेषुजाम्**=(भरणीयेषु संग्रामेषु जेतारम् द०) यह संग्रामों में सदा विजयी होता है। (भरेषु जनयति) संग्रामों में यह अपनी शक्ति का प्रादुर्भाव करनेवाला होता है, कभी निराश नहीं होता। ७. **सुक्षितिम्**=(क्षि निवासगत्योः)=संग्रामों में विजयी बनकर यह उत्तम निवास व गतिवाला होता है। ८. **सुश्रवसम्**=उत्तम कीर्तिवाला होता है ९. **जयन्तम्**=जीतता-ही-जीतता है, यह हारता नहीं। १०. इतना कुछ होने पर भी यह अभिमानी नहीं हो जाता, विनीत ही बना रहता है, अतः कहते हैं कि हे **सोम** =सब दिव्य गुणों से युक्त होकर भी विनीत बने हुए प्रशस्ततम इन्द्रियोंवाले 'गोतम' **त्वाम् अनुमदेम**=हम तुझे अनुमोदित करते हैं। (We cheer you up) आपके जीवन की हम प्रशंसा करते हैं।

सूचना—अधिभौतिक अर्थ में 'ऐसे राजा को हम अनुमोदित करते हैं' यह अर्थ होगा। जो राजा युद्धों में पराजित नहीं होता, संग्रामों में सैनिकों की रक्षा करता है, राष्ट्र को स्वर्ग बनाता है, प्रजा को प्राप्य होता है, राष्ट्र की शक्ति की रक्षा करता है, संग्राम विजयी, उत्तम भूमिवाला, कीर्तिमान व सदा विजयी होता है। ऐसा होता हुआ भी अंहकार से दूर होता है।

भावार्थ—'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष के जीवन में उपर्युक्त दस बातें अवश्य होती हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्तम सन्तान

सोमो धेनुꣳसोमोऽअर्वन्तमाशुꣳसोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यꣳसभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥२१॥

पिछले मन्त्र में वर्णित उत्कृष्ट जीवनवाले व्यक्तियों का निर्माण घरों में ही होगा। घरों में प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तान को उत्तम बनाए। वस्तुतः 'माता-पिता की प्रवृत्ति प्रभु-प्रवण होगी, वे प्रकृति में फँसे हुए न होंगे' तभी वे सन्तानों को अच्छा बना पाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः**=वे सोम प्रभु उन माता-पिता को उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं **यः**=जो **अस्मै**=इनके लिए **ददाशत्**=अपना समर्पण करते हैं, अर्थात् अन्तःस्थित उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार जीवनयापन करने पर प्रभु हमारे सन्तानों को बड़ा अच्छा बना देते हैं। **सोमः**=वे सोम सन्तान **ददाति**=देते हैं। कैसे सन्तान को? १. **धेनुम्**=(धेट् पाने) अपने अन्दर उत्पन्न हुई-हुई सोम-(वीर्य)-शक्ति का पान करनेवाले को। यह सोमशक्ति का पान

आगे आनेवाली सारी उन्नतियों का मूल है, अतः सर्वप्रथम इसी का उल्लेख है। २. **अर्वन्तम्**=(अर्व हिंसायाम्) सोमरक्षा के द्वारा शरीर में सब रोगकृमियों को तथा मन में सब ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाओं की हिंसा करनेवाले को। सुरक्षित सोम ही वह मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र है जो सब रोगों को दूर करता है। सोमी पुरुष ईर्ष्या-द्वेषादि से ऊपर उठा रहता है। ३. **आशुम्**=(अश् व्याप्तौ) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले को। इसका जीवन स्फूर्तिमय होता है। आलस्य इसे कभी नहीं घेरता। ४. वे **सोमः**=सोम **वीरम्**=वीर सन्तान को **ददाति**=देते हैं। संसार में यह कभी कायर नहीं बनता। संसार-संघर्ष में घबरा नहीं जाता। आनेवाले विघ्नों का वीरता से मुक़ाबला करता है। ५. **कर्मण्यम्**=उत्तम कर्मवाले को। प्रभु-प्रवण पति-पत्नी की सन्तान सदा क्रियाशील होती है। ६. **सादन्यम्**=यह सदन=घर का उत्तम निर्माण करनेवाला होता है। ७. **विदथ्यम्** =यह सन्तान ज्ञानयज्ञों में शोभावाला होता है। ८. **सभेयम्**=सभा में सभ्योचित व्यवहारवाला होता है, और ९. **पितृश्रवणम्**=माता-पिता की आज्ञा सुननेवाला होता है, उनका आज्ञाकारी बनता है।

यहाँ मन्त्र में प्रभु का 'सोम' नाम से स्मरण किया है। इसका अर्थ (स उमा)=पूर्ण ज्ञानवाला, शान्त व शक्ति का पुञ्ज है। वस्तुतः सन्तान में यही गुण इष्ट हैं कि वे ज्ञानी हों, शान्त हों, सशक्त हों।

भावार्थ—गृहस्थ प्रभुभक्त होंगे तो उत्तम सन्तान का निर्माण कर पाएँगे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बाल-प्रभु-भजन

त्वमिमाऽओषधीः सोम विश्वास्त्वमपोऽअजनयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वुन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥२२॥

प्रभुभक्त माता-पिता सन्तानों को भी प्रभु-भजन में सम्मिलित करते हैं और उनसे प्रतिक्षण प्रयुक्त होनेवाले फूल-फल के विषय में—पानी व गौ आदि पशुओं के विषय में प्रश्न करते हैं कि 'इन्हें बनानेवाला कौन है?' वे धीमे-धीमे उन बालकों का ध्यान प्रभु की ओर लाने का प्रयत्न करते हैं, फिर निम्न शब्दों में बालकों का प्रभु-भजन चलता है।

हे **सोम**=शान्त प्रभो! जिन आपकी क्रिया अत्यधिक व महान् होती हुई भी बड़ी शान्ति से चल रही है, ऐसे **त्वम्**=आप ही **इमाः विश्वाः ओषधीः**=इन सब ओषधियों को **अजनयः**=उत्पन्न करते हैं, **त्वम्** =आप ही **अपः**=इन (शान्त-निर्मल) जलों को उत्पन्न करते हैं। **त्वम्**=आपने ही हमारे दूध आदि पदार्थों के लिए **गाः**=गौ आदि पशुओं को बनाया है। ठीक बात तो यह है कि **त्वम्**=आपने ही इस विशाल **अन्तरिक्षम्**=आकाश को **आततन्थ**=चारों ओर अनन्त-सी दूरी तक विस्तृत किया है और **त्वम्**=आप ही **ज्योतिषा**=इन सूर्य, चन्द्र व तारों आदि के प्रकाश से **तमः**=अन्धकार को **विववर्थ**=दूर करते हैं।

समझदार माता-पिता प्रश्नोत्तर के द्वारा अपने सन्तानों के मस्तिष्क में उल्लिखित बातों को अंकित करते हैं—वे फूल-फल, नदियों, पर्वतों के दृश्यों से प्रभावित सन्तानों को उनके निर्माता के विषय में सोचने के लिए प्रेरित करते हैं और जब सन्तानें प्रभु का कुछ आभास देखने लगती हैं तब उल्लिखित स्वाभाविक स्तवन उनके मुख से उच्चारित होता है। जिन घरों में इस प्रकार प्रभु-भजन चलेगा वहाँ सन्तान सद्गुणी, पिछले मन्त्र में वर्णित विशेषताओंवाले क्यों न बनेंगे?

भावार्थ—माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तानों में भी प्रभु-भक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न करें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इहलोक व परलोक का साधक—'उभय'

दे॒वेन॑ नो॒ मन॑सा देव सोम रा॒यो भा॒गꣳ स॑हसावन्न॒भि यु॑ध्य।

मा त्वा तन॒दीशि॑षे वी॒र्य॑स्यो॒भये॑भ्यः प्र चि॑कित्सा॒ गवि॑ष्टौ ॥२३॥

प्रस्तुत मन्त्र में घर के बड़े व्यक्ति, जो घर के सञ्चालन के लिए धनार्जन के कार्य में लगे हैं, प्रार्थना करते हैं कि हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! **सहसावन्**=हे शक्तिशाली प्रभो! **नः**=हमें **देवेन मनसा**=दिव्य गुणों से युक्त मन के साथ **रायः भागम्**=धन के सेवनीय अंश को **अभियुध्य**=सब ओर से प्राप्त कराइए। इस प्रार्थना में प्रभु को जिन नामों से सम्बोधन किया है वे नाम स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि हम अपने धनार्जनादि लौकिक कार्यों में (देव) दिव्य बने रहें, अच्छे गुणों को तिलाञ्जलि न दे दें। हम धन को देवोचित मार्गों से ही कमाएँ, (सोम) इन कार्यों में कभी मानस शान्ति को न खो बैठें। (सह स्तवन) धन को अपने बल व पुरुषार्थ से ही कमानेवाले बनें। धनादि के व्यवहारों में चलते समय हमारा मन 'देव-मन' बना रहे। ये धनादि का अर्जन करनेवाला व्यक्ति हे प्रभो! **त्वा**=आपको **मा तनत्**=मत पतला कर दे (तन्=to make thin), अर्थात् आपके स्मरण को ढीला न कर दे। यह अपना प्रत्येक दिन आपके स्मरण से ही प्रारम्भ करे और आपके स्मरण के साथ ही समाप्त करे, क्योंकि **वीर्यस्य ईशिषे**=सब शक्ति के ईश तो आप ही हैं। आपके सम्पर्क से ही इसे शक्ति मिलनी है। हे प्रभो! ये व्यक्ति जो दिन में दिव्य मनों के साथ धनादि के अर्जन में लगे रहते हैं और प्रातः-सायं आपके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने में यत्नशील होते हैं और इस प्रकार अभ्युदय व निःश्रेयस—इहलोक व परलोक दोनों का ही ध्यान करते हैं। इन **उभयेभ्यः**=लोक-परलोक का ध्यान करनेवालों के लिए **गविष्टौ** (गो इष्टि, गावः इन्द्रियाणि)=इन्द्रियों से चल रहे इस जीवन-यज्ञ में **प्रचिकित्सा**=आनेवाले रोगादि विघ्नों का प्रकर्षेण निवारण कीजिए। विघ्नों व न्यूनताओं के दूर होने से इन्द्रियाँ अधिक प्रशस्त हो उठती हैं और यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष सचमुच 'गो-तम' इस नामवाला होता है।

भावार्थ—हम मन को पवित्र रखते हुए सुपथ से धनादि का अर्जन करें और प्रभु-स्मरण की भावना को ढीला न होने दें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविताः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

वरणीय रत्नों का आधान

अ॒ष्टौ व्य॑ख्यत्क॒कुभः॑ पृथि॒व्यास्त्री धन्व॒ योज॑ना स॒प्त सिन्धू॑न्।

हि॒र॒ण्या॒क्षः स॑वि॒ता दे॒वऽआगा॒द्दध॒द्रत्ना॑ दा॒शुषे॒ वार्या॑णि॥२४॥

१. **सविता देवः**=सबको कर्म में प्रेरित करनेवाला—देदीप्यमान व प्रकाश देनेवाला सूर्य **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अष्टौ**=आठों **ककुभः**=दिशाओं को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। चार पूर्वादि दिशाएँ हैं, चार उपदिशाएँ हैं, इस प्रकार आठ दिशाओं की कल्पना हुई है। यह पृथिवी वेद के अनुसार 'देवयजनी'=देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है, देवयज्ञशाला है। इसी के अनुकरण में यज्ञशालाओं को प्रायः अष्टकोण बनाने की परिपाटी हो गई है। २.

यह सविता देव **त्री योजना धन्व**=तीनों (प्राणिनः स्वस्वभोगेन योजयितॄन्) प्राणियों को विविध भोग प्राप्त करानेवाले अन्तरिक्षों को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। तीन अन्तरिक्षलोकों का उल्लेख निम्न मन्त्रों में स्पष्ट है–(क) **तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीः उपराः षड् विधानाः** (ऋ० ७।८७।५) (ख) **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्** (ऋ० २।२७।८)। (ग) **तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति** (ऋ० १।१६४।१०) (घ) **एष लोकः त्रिवृत् योऽयमन्तरा** (तां० ११।१०) (ङ) **अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्** (जै०उ० १।५५।३) (च) **अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः** (ष० १।५)। यजुर्वेद भी तीन भागों में बँटा हुआ है, उसी प्रकार अन्तरिक्षलोक। यजुर्वेद का पहला भाग ३८ अध्याय तक है, इसमें विविध यज्ञों का प्रतिपादन है। दूसरा भाग ३९वाँ अध्याय है, इसमें यज्ञ करनेवाले को गर्व न होने देने के लिए अन्त्येष्टि का वर्णन है। तीसरा भाग ४०वाँ अध्याय है, इसमें कहते हैं कि हे जीव! सब-कुछ करनेवाले वे प्रभु ही हैं, उन्हीं के आधार में स्थित होकर तेरे माध्यम से भी कर्म चल रहे हैं। इसी प्रकार अन्तरक्षि भी तीन भागों में बँटा है और उन सबको वह सविता देव प्रकाशित कर रहा है। (छ) **सप्त सिन्धून्**=सातों समुद्रों को भी वह सविता देव प्रकाशित करते हैं। यह **हिरण्याक्षः**=ज्योतिर्मय आँखोंवाला सविता देव **आगात्**=आया है और **दाशुषे**=हवि देनेवाले के लिए **वार्याणि रत्ना**=वरणीय उत्तम रत्नों को **दधत्**=धारण करता है। स्पष्ट है कि सूर्योदय के समय घर पर अग्निहोत्र करना चाहिए। ऐसा करने पर यह सूर्य इस दाश्वान् को स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ–'सूर्योदय के समय अग्निहोत्र करना और इस प्रकार स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त करना' हमारा महान् कर्त्तव्य है।

ऋषिः–हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता–सविता। छन्दः–निचृज्जगती। स्वरः–निषादः॥

स्वर्ण की सुइयाँ (Gold Injections)

हिर॑ण्यपाणिः सवि॒ता विच॑र्षणिरु॒भे द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरी॑यते।
अपामी॑वां॒ बाध॑ते॒ वेति॒ सूर्य॑म॒भि कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ द्याम्ऋ॑णोति॥२५॥

१. **हिरण्यपाणिः**=स्वर्ण है हाथ में जिसके, ऐसा **सविता**=सबका प्रेरक **विचर्षणिः**=विश्वद्रष्टा (सर्वप्रकाशक) सूर्य **उभे द्यावापृथिवी अन्तः**=इन दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ईयते**=गति करता है। सूर्य की किरणें ही सूर्य के हाथ हैं। इन किरणरूप हाथों में सूर्य हिरण्य=स्वर्ण को लेकर आता है, जिस प्रकार एक वैद्य क्षय-पीड़ित को स्वर्ण के इंजैक्शन देता है, उसी प्रकार यह सूर्य अपनी किरणों से स्वर्ण को शरीर में प्रविष्ट करता प्रतीत होता है। यह सबको कर्म में प्रवृत्त करने से 'सविता' है। सबको प्रकाशित करने से 'विचर्षणि' है। २. उदय होता हुआ सूर्य जब इन किरणरूप हाथों से स्वर्ण के इंजैक्शन लगाता है तब **अमीवाम्**=रोगकृमियों को **अपबाधते**=सुदूर नष्ट कर देता है। **'उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः'**=(अथर्व०) उदय और अस्त होता हुआ सूर्य किरणों से कृमियों का संहार करता है। ३. **सूर्यम्**=ज्योति तथा वर्च को (सूर्यो ज्योतिः, सूर्यो वर्चः) **वेति**=(वी=प्रजनन) उत्पन्न करता है। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आने से मस्तिष्क में ज्योति का उदय होता है तो शरीर वर्चस्वी बनता है। ४. यह सविता देव **कृष्णेन**=अन्धकार के निवर्तक **रजसा**=तेज से **द्याम्**=द्युलोक को **अभिऋणोति**=समन्तात् व्याप्त करता है, अथवा **अभिकृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा**=लोकसमूह के साथ

द्याम् ऋणोति=द्युलोक में गति करता है। सूर्य अपने आकृष्ट लोकसमूह के साथ आकाश में आगे-और-आगे चल रहा है।

भावार्थ—सूर्य की किरणें स्वर्णमय हैं, उनके सेवन से सब रोग दूर होते हैं। ज्योति व वर्चस् की उत्पत्ति के लिए सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहना आवश्यक है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्यरूप धन की प्राप्ति

हिर॑ण्यहस्तो॒ऽअसु॑रः सुनी॒थः सु॑मृडी॒कः स्ववाँ॑ यात्व॒र्वाङ्।
अ॒प॒सेध॑न्र॒क्षसो॑ यातु॒धाना॒नस्था॑द्दे॒वः प्र॑तिदो॒षं गृ॑णा॒नः॥२६॥

१. **हिरण्यहस्तः**=सुवर्णमय हाथवाला। यही भावना पिछले मन्त्र में 'हिरण्यपाणिः' शब्द से व्यक्त हुई है। पाणि शब्द में रक्षा करने की भावना थी तो हस्त शब्द में (हस्तो हन्तेः) नष्ट करने का भाव है। सूर्य अपनी किरणों में विद्यमान स्वर्ण के प्रभाव से हमारे शरीरों की रक्षा करता है और रोगों का नाश करता है। २. **असुरः**=(असून् राति) यह प्राणशक्ति देनेवाला है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**= यह सूर्य क्या उदय होता है, प्रजाओं का प्राण ही उदय होता है। ३. **सुनीथः**=सर्वत्र प्रकाश फैलाने के कारण उत्तम मार्गों से ले-चलता है। ४. **सुमृडीकः**=उत्तम मार्ग से ले- चलकर हमारे जीवनों को उत्तम सुख प्राप्त कराता है। ५. **स्ववान्**=यह उत्तम धनवाला है। स्वास्थ्य ही सर्वोत्तम धन है और उसे प्राप्त कराने में यह सूर्य सर्वमहान् सहायक है। ६. यह सूर्य **यातुधानान्**=शरीर में शतशः पीड़ाओं का आधान करनेवाले **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमिरूप राक्षसों को **अपसेधन्**=दूर करता हुआ **अर्वाङ् यातु**=हमें अभिमुखता से प्राप्त हो। हम सूर्याभिमुख होंगे तो रोगकृमियों का संहार होकर हमें स्वास्थ्यरूपी धन की प्राप्ति होगी। ७. उल्लिखित कारणों से ही 'हिरण्यहस्त, असुर, सुनीथ, सुमृडीक व स्ववान्' होने से ही यह **देवः**=दिव्य गुणोंवाला प्रकाशमय सूर्य **प्रतिदोषम्**=प्रतिरात्रि, अर्थात् सदा **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **अस्थात्**=ठहरता है, अर्थात् सूर्य के महत्त्व को समझनेवाले लोग सदा सूर्य का स्तवन करते हैं। उसके गुणों का प्रतिदिन स्मरण करते हैं।

भावार्थ—रोगकृमियों के संहार के लिए प्रातः-सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान करना अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्ग कैसे हों? सविता का उपदेश

ये ते॒ पन्था॑: सवितः पू॒र्व्यासो॑ऽरे॒णव॑: सुकृ॑ताऽअ॒न्तरि॑क्षे।
तेभि॑र्नोऽअ॒द्य प॒थिभि॑: सु॒गेभी॒ रक्षा॑ च नो॒ऽअधि॑ च ब्रूहि देव॥२७॥

हे **सवितः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्यदेव! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्थाः**=मार्ग **अन्तरिक्षे**=इस विशाल आकाश में **सुकृताः**=उतम प्रकार से बनाये गये हैं जो **पूर्व्यासः**=हमारी सब आवश्यकताओं का पूरण करनेवाले हैं और **अरेणवः**=धूलिरहित हैं **तेभिः**=उन **सुगेभिः**=सुगमता से गति के योग्य **पथिभिः** =मार्गों से **नः**=हमें **अद्य**=आज **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए, **च**=और हे **देव**=दिव्य प्रकाश देनेवाले सूर्य! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=खूब उपदेश दीजिए। 'हमारे जीवन का मार्ग क्या हो?' यह हम आपसे जान सकें।

'रास्ते कैसे हों?' इस प्रश्न का उतर यह है कि १. **पूर्व्यासः**=पूरण करनेवाले, आवश्यतओं को पूरा करनेवाले हों। जैसे पैदल के चलने का मार्ग, गाड़ियों का मार्ग ये सब अलग-अलग हों। २. **अरेणवः**=उन मार्गों पर धूल न हो। धूलवाले मार्ग फेफड़ों की बीमारियों के कारण बनेंगे? ३. **सुकृताः**=ये मार्ग अच्छे प्रकार बने हुए हों—ठोकरें न लगती रहें। ४. मार्ग ऊबड़-खाबड़ न होकर **'सु-ग'** हों।

मनुष्य प्रतिदिन उदय होते हुए सूर्य से उपदेश ग्रहण करे। १. जैसे सूर्य बड़े नियम से उदय होता है उसी प्रकार मनुष्य नियमित जीवनवाला हो, उसका जीवन clock-wise नहीं sun-wise चले **'स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'**। २. सूर्य सभी को प्रकाश देता है, सूर्य के व्यवहार में पक्षपात नहीं। मनुष्य भी सबमें समभाव रक्खे। ३. सूर्य निर्लेपभाव से अपना कार्य करता चलता है, किसी की स्तुति-निन्दा से वह अपमानित नहीं होता। मनुष्य को भी चाहिए कि अपने कर्त्तव्यकर्म को करता चले, अकर्त्तव्य को कभी न करे। इस प्रकार सूर्य से उपदेश लेकर कोई कभी हिंसित नहीं होता। सूर्य का सर्वमहान् उपदेश यह इस रूप में लेता है कि जैसे सूर्य पानी की ऊर्ध्वगति का कारण बनता है, उसी प्रकार यह अपने शरीर में वीर्य (हिरण्य) की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्य-स्तूप' हो जाता है। वीर्य की ऊर्ध्वगति के कारण ही यह शक्तिशाली अङ्गोंवाला 'आङ्गिरस' बन जाता है।

भावार्थ—सूर्य से हम अपने जीवन के मार्ग का निश्चय करें। नियमित, निष्पक्ष, निर्लेप जीवनवाले हों और वीर्य की ऊर्ध्वगति का पूर्ण ध्यान करें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

आश्विनों का सोमपान

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः॥२८॥

१. पिछले चार मन्त्रों में सविता की आराधना थी। सविता की अराधना का अभिप्राय इतना ही है कि इस समय मुख्यरूप से प्राणसाधना होनी चाहिए। उस प्राणसाधना का ही प्रस्तुत तीन मन्त्रों में उल्लेख है और इसके बाद फिर ३१वें मन्त्र में हिरण्यस्तूप ऋषि सविता का स्तवन करेंगे। इन मन्त्रों में प्राणसाधना के द्वारा कण-कण करके अभद्रता को दूर करके भद्र वस्तुओं को अपने अन्दर भरनेवाला 'प्रस्कण्व' कहलाता है। यह प्रस्कण्व ही मेधावी=समझदार है। प्राणसाधना को जीवन का मूलाधार समझना चाहिए। २. प्रस्कण्व कहता है—हे **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापानो! **पिबतम्**=तुम सोम का पान करो। वस्तुतः प्राणसाधना का सर्वप्रथम लाभ यही है कि शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति शरीर में ही व्याप्त हो जाती है। इसी शक्ति ने शरीर को रोगों के आक्रमण से बचाना है। इस शक्ति के होने पर मन ईर्ष्या-द्वेष आदि से बचा रहता है, इसी शक्ति ने ही बुद्धि की कुण्ठा को दूर करना है। ३. इस प्रकार सोमपान के द्वारा हे प्राणापानो! आप **उभा**=दोनों **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण व सुख **यच्छतम्**=दीजिए। वास्तविक सुख 'शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य' में ही है। ४. हे प्राणापानो! **अविद्रियाभिः**=(द्रा=निन्दित) अनिन्दित, प्रशस्त अथवा (दृ=विच्छेद) अविच्छिन्न **ऊतिभिः**=गतियों, क्रियाओं के द्वारा आप हमें सुखी कीजिए। प्राणसाधना के ठीक चलने पर सोमरक्षा द्वारा हमारा मन अशुभ विचारोंवाला होगा ही नहीं और परिणामतः हमारी क्रियाएँ भी उत्तम होंगी। शरीर के स्वास्थ्य के कारण 'आलस्य' न होगा, मन के स्वास्थ्य के कारण 'अशोभा' नहीं होगी और बुद्धि के स्वास्थ्य के कारण उन कर्मों में 'औचित्य' होगा। इस प्रकार ये प्राणापान हमारे जीवनों को कल्याणमय कर रहे होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की रक्षा होकर सब कार्य पवित्र होते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कर्मवीर

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे निह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥२९॥

प्राणसाधना के मुख्य लाभ का गतमन्त्र में वर्णन हुआ था। जीवन में होनेवाले अगले परिणामों को प्रस्तुत मन्त्र में दिखलाते हैं १. ये प्राणापान **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं, परिणामतः प्राणसाधक कर्मशील होता है। पिछले मन्त्र में कर्मों के प्रशस्त होने और अविच्छिन्न रूप से चलने का उल्लेख था। यहाँ कहते हैं कि हे प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **वाचम्**=वाणी को **अप्नस्वतीम्**=व्यापक कर्मोंवाला **कृतम्**=कर दीजिए। प्राणसाधक वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है। इसके कर्म भी व्यापक, स्वार्थ की भावना से भरे हुए नहीं होते। २. ये प्राणापान **दस्रा**=(दसु उपक्षये) सब रोगकृमियों व मलों का संहार करनेवाले हैं और **वृषणा**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। इनसे प्रस्कण्व प्रार्थना करता है कि बुराइयों का संहार कर हमें शक्तिशाली बनानेवाले हे प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **मनीषाम्**=(मनसः ईष्टे) मन का शासन करनेवाली बुद्धि को **कृतम्**=कीजिए। सामान्य शब्दों में कहें तो यह कहेंगे कि ये प्राणापान हमें वह बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो मन का शासन करनेवाली होती है, अर्थात् हमारी सब इच्छाएँ विवेकपूर्वक होने से औचित्यवाली होती हैं। इसी से हम धनादि के अर्जन में कभी भी अनुचित साधनों का प्रयोग नहीं करते। ३. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपको मैं **अद्यूत्ये**=द्यूत से उत्पन्न न होनेवाले **अवसे**=धन के लिए **निह्वये**=पुकारता हूँ। प्राणसाधक कभी सट्टे आदि के द्वारा धन कमाने की कामना नहीं करता, वह श्रमार्जित धन को ही धन समझता है। ४. **च**=और **वाजसातौ**=शक्ति की प्राप्ति में अथवा संग्रामों में **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **भवतम्**=होओ। इन प्राणापान से शक्ति तो बढ़ती हीं है, वासनाओं के साथ संग्राम में हम विजयी भी होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक १. वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है, २. इसका मन बुद्धि के अनुशासन में चलता है, ३. यह श्रम से ही धनार्जन करता है, ४. वासना-संग्राम में सदा विजयी होता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

छह देवों द्वारा आदरण

द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवीऽउत द्यौः॥३०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **द्युभिः**=दिनों में **अक्तुभिः**=रात्रियों में, अर्थात् दिन-रात **अस्मान्**=हमारी **परिपातम्**=रक्षा कीजिए। दिन में हम आलस्यशून्य होकर विवेकपूर्वक शुभ भावनाओं से युक्त होकर कार्यों में लगे रहें, रात्रि में गाढ़ी नींद में जाकर अशुभ स्वप्नों की आशंका से बचे रहते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **अरिष्टेभिः**=न हिंसित होनेवाले **सौभगेभिः**=सौभगों के द्वारा हमारी रक्षा कीजिए। 'भग' शब्द में 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति (वैराग्य)' की भावना है। इन सब सुन्दर भगों को प्राप्त करानेवाले ये प्राणापान हैं। इनसे हम सब प्रकार से सुरक्षित होकर हिंसित होने से बचे रहते हैं। ३. कुत्स कहता

है कि इस प्रकार प्राणसाधना से अपनी रक्षा व सौभग प्राप्ति के **तत्**=उस **नः**=हमारे संकल्प को **मित्रः वरुण अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः**=मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ—ये सब देवता **मामहन्ताम्**=आदृत करें। जैसे बैंक चेक को आदृत (Honours) करता है, अर्थात् उसे कैश कर देता है, उसी प्रकार ये देव हमारे इस सङ्कल्प को आदृत करें, पूर्ण करें। जिस समय ये देवता मेरे इस संकल्प को आदृत करेंगे तब मैं इन देवों को अपने में प्रतिष्ठित हुआ-हुआ पाऊँगा। उस दिन (क) **मित्रः**=मैं सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनूँगा। (ख) **वरुणः**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँगा। (ग) **अदितिः**=(दो अवखण्डने) सब प्रकार के खण्डनों से रहित पूर्ण स्वस्थ होऊँगा। (घ) **सिन्धुः**=(स्यन्दन्ते, अर्थात् बहनेवाले जल=शरीर में रेतस्) मेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का सञ्चार होगा। (ङ) **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) मेरा हृदय विस्तार को लिये हुए होगा और (च) **द्यौः**=(दिव=प्रकाश) मस्तिष्क ज्योतिर्मय होगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से हममें मित्रादि देवों का निवास होता है। हम 'स्नेहमय, निर्द्वेष, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न, विशाल हृदय व दीप्तमस्तिष्क' बनते है। एवं, ये छह देव हमारा आदर करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सूर्य का पालकत्व Looking after by the sun

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥३१॥

सविता देवः=सबका प्रेरक दिव्य गुणोंवाला सूर्य **आ**=चारों ओर **कृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा** =लोकसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=विद्यमान होता हुआ **अमृतम्**=अमर आत्मतत्त्व को **मर्त्यं च**=और इस मरणधर्मा शरीर को **निवेशयन्**=विशेषरूप से स्वस्थ करता हुआ **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय, सुनहरे रथ से **भुवनानि पश्यन्**=सब लोकों को देखता हुआ **याति**=चल रहा है। सूर्य के आकर्षण से कितने ही पिण्ड सूर्य के चारों ओर अपने मार्ग पर आक्रमण कर रहे हैं। इन सब पिण्डों के साथ गति करता हुआ यह सूर्य एक सौरलोक कहलाता है। यह सारा सौरलोक प्रति सैकिण्ड बारह मील की गति से अन्तरिक्ष में आगे-और-आगे चल रहा है (याति)। सूर्य का रथ हिरण्यय है। चमकने से यह हिरण्यय कहलाता है और इसकी किरणों में हिरण्य है ही। पिछले मन्त्रों में इसे 'हिरण्यपाणि' व 'हिरण्यहस्त' कहा था। यह अपने इस हिरण्य से सब लोकों का पालन करता है (पश्यन्=Looking after)। शरीर व मन के स्वास्थ्य का यह कारण बनता है। यह सूर्य, मर्त्य व अमृत, क्षर व अक्षर, शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ करता है (निवेशयन्)। दोनों को अपने स्थान में (स्व) स्थित (स्थ) करता है। सूर्याभिमुख बैठने से शरीर ही नहीं अपितु मन भी स्वस्थ बनता है। एवं, यह सूर्य अपने तेज से हमारे रोगों व मलों को नष्ट करता हुआ हमारा रक्षण करता है, इसी से अगले मन्त्र में यह 'पिता' कहा गया है।

भावार्थ—हिरण्ययरथवाले सूर्य का सेवन करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' ऋषि हिरण्य का धारण करके 'शरीर व मन' दोनों के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**रात्रिः**। छन्दः—**पथ्याबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

रात्रि का दीप्त-तम (अन्धकार)

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठसऽआ त्वेषं वर्त्तते तमः॥३२॥

सूर्य के प्रकाश के बाद रात्रि आती है, रात्रि की समाप्ति पर उषाकाल आता है। ठीक इसी प्रकार सूर्यदेव के ३१वें मन्त्र के पश्चात् यहाँ रात्रि देवता का ३२वाँ मन्त्र है और इसके पश्चात् उषा का ३३वाँ मन्त्र आएगा और ३४ से ४० तक प्रातःकाल की प्रार्थना के मन्त्र चलेंगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आरात्रि**=रात्रि तक, रात्रि के आने तक **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक **पितुः**=उस पालक सूर्य के **धमाभिः**=तेजों से **अप्रायि**=परिपूर्ण किया जाता है। (एषा वै पिता य एष सूर्यस्तपति। —शत० १४।१।४।१५)। दिनभर सूर्य अपनी हिरण्यय किरणों से तेजस्विता का प्रसारण करता है। सूर्य प्रजाओं का प्राण है। सारा पार्थिवलोक—क्या वनस्पतियाँ और क्या प्राणी सभी सूर्यकिरणों के सम्पर्क में जीवित हो उठते हैं। धीरे-धीरे पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य की ओर पीठ-सी कर लेती है और उस समय हमारे **दिवः**=आकाश के **सदांसि**=स्थानों में **बृहती**=बढ़ती हुई यह **रात्रि**=रात **वितिष्ठसे**=विशेषरूप से स्थित होती है। रात्रि का राज्य चारों ओर फैल जाता है और उस समय **त्वेषम् तमः**=यह चमकता हुआ रात्रि का अन्धकार **आवर्तते**=सर्वत्र वर्त्तमान होता है। हम रात्रि के अन्धकार से घिर-से जाते हैं। हमारा क्षितिज अत्यन्त संक्षिप्त हो जाता है। इन्द्रियों का बाह्य प्रसार रुक जाता है। इतना ही नहीं इन्द्रियाँ बन्द-सी होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। उस सयम कभी-कभी स्वप्न में प्रभु-दर्शन हो जाता है, इसीलिए योगदर्शन में **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'**=स्वप्न में दृष्ट प्रभुज्ञान को न भूलने का प्रयत्न करने के लिए कहा है। सुषुप्ति में तो 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' इस सांख्यसूत्र के अनुसार हम कुछ ब्रह्मरूप में हो जाते हैं। एवं, यह रात्रि का अन्धकार भी हमारे लिए **त्वेषम्**=दीप्तिवाला हो जाता है। दिन के 'प्रकाश' में हमने सांसारिक वस्तुएँ देखी, तो रात्रि के उस अन्धकार में हमें प्रभु-दर्शन हुआ, अतः यह अन्धकार **'त्वेषम्'**=दीप्तिवाला तो हुआ ही। उस ब्रह्मरूपता को प्राप्त करनेवाला यह ऋषि 'कुत्स' है, जिसने सब बुराइयों को समाप्त कर दिया है (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ—दिनभर सूर्य के प्रकाश से तेजस्विता को धारण करके खूब क्रियाशील रहकर हम रात में सुषुप्ति का अनुभव करें और ब्रह्म के प्रकाश को देख पाएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**उषः**। छन्दः—**निचृत्परोष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

उषा का वर्णन

उष॒स्तच्चि॒त्रमा भ॑रा॒स्मभ्यं॑ वाजिनीवति। येन॑ तो॒कं च॒ तन॑यं च॒ धाम॑हे॥३३॥

हे **वाजिनीवति**=अन्नादि ऐश्वर्ययुक्त **उषः**=प्रातःकाल की सौन्दर्यमयी वेला **चित्रम्**=तू आश्चर्यरूप धारण करनेवाली है। प्रातःवेला में पक्षी चहचाहने लगते हैं, शीतल, सुगन्ध समीर बहने लगता है, सर्वत्र सौन्दर्य छा जाता है **तत्**=उस रूप को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आभर**=अच्छी प्रकार पुष्ट कर **येन**=जिससे हम लोग **तोकम्**=सुयोग्य पुत्रों को **च**=और **तनयम्**=पौत्रों को **च**=भी **धीमहि**=धारण करें, प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभात-समय में हम पुत्र और पौत्रों के साथ आनन्द प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अग्नि आदि देवों का आह्वान

प्रा॒तर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्र॑ꣳ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रꣳ हु॑वेम॥३४॥

प्रातः=प्रभातवेला में **अग्निम्**=प्रकाश और गर्मी देकर आगे ले-जानेवाले सच्चे अग्नि=अग्रेणी-नेता, भगवान् को, जीवन में आगे बढ़ने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशाली और विघ्नों को विदीर्ण करनेवाले इन्द्ररूप परमात्मा को-जीवन में ऐश्वर्यशाली, धन-धान्य से समृद्ध होने की भावना को **हवामहे**=पुकारते हैं, बुलाते हैं, स्मरण करते हैं, अपने जीवन में धारण करते हैं। **प्रातः**=प्रभातवेला में **मित्रावरुणा**=सबसे स्नेह करनेवाले मित्ररूप, सबसे वरणीय, किसी से द्वेष न करनेवाले, न्यायकारी, दण्डदाता, वरुणरूप प्रभु को, सबसे स्नेह करने, किसी से द्वेष न करने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **अश्विना**=प्राण और अपानरूप, दाता और प्रतिग्रहीता, सब तक पदार्थों को पहुँचानेवाले तथा सबसे पदार्थों को लेनेवाले अश्विनीरूप परमेश्वर को **हवामहे**=अपनी सहायता के लिए पुकारते हैं। **प्रातः**=इस उषाकाल में **भगम्**=सौभाग्य प्रदान करनेवाले, धन-सम्पत्ति के भण्डार, भजनीय, सेवनीय भगरूप भगवान् को **पूषणम्**=सबकी पुष्टि करनेवाले पूषारूप भगवान् से उतने धन के लिए प्रार्थना है जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो, परन्तु पारिवारिक जीवन केवल खान-पान के पर्याप्त होने से ही सुन्दर नहीं बन जाता, अतः कहते हैं ६. कि **ब्रह्मणस्पतिम्**=हम प्रातः बृहस्पति=ज्ञान की देवता का आह्वान करते हैं। स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। स्वाध्यायशील पति-पत्नी छोटी-छोटी बातों में उलझ नहीं जाते। उनका मापक ऊँचा बना रहता है। वे संसार को ठीक रूप में देख पाते हैं, अतः उनकी क्रियाएँ भी ठीक होती हैं। ७. अपने सामाजिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए **प्रातः सोमम्**=इस प्रातःकाल में हम सोम को पुकारते हैं। सौम्य=नम्र बनने का निश्चय करते हैं। अभिमान सबसे महान् सामाजिक दोष है। इससे हम सबकी घृणा के पात्र बन जाते हैं। नम्रता सद्गुणों से युक्त करती है, वह सबका प्रिय भी बनाती है, परन्तु एक सौम्य-ही-सौम्य राजा प्रजा का ठीक शासन नहीं कर पाता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ८. **उत रुद्रम् हुवेम**=सौम्यता के साथ रुद्रता को भी हम पुकारते हैं। यह रुद्रता नियन्त्रण के लिए आवश्यक होती है। इसी प्रकार हम संसार में सौम्य हों, परन्तु उसमें उचित मात्रा में रुद्रता का सम्पर्क हो। ऐसा होने पर ही हम समाज में, जिस किसी भी स्थिति में होंगे, सफल ही होंगे।

भावार्थ—हम प्रातः उन्नति, जितेन्द्रियता, स्नेह, निर्द्वेषता, प्राणसाधन, पोषण के लिए पर्याप्त धन, ज्ञान (स्वाध्याय), सौम्यता व उचित रुद्रता (गम्भीरता) को अपने में धारण करने का संकल्प करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—भगः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कैसा धन ?

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥३५॥

संसार-यात्रा धन के बिना चलनी सम्भव नहीं, परन्तु अन्याय से कमाया धन मनुष्य के पतन का कारण हो जाता है। वसिष्ठ प्रभु से कहता है कि १. हम **प्रातः**=उत्तम भावनाओं को अपने में भरने के समय (प्रा पूरणे) **जितम् भगम्**=उस सेवनीय धन को, जिसे हमने अपने पुरुषार्थ से जीता है, **हुवेम**=पुकारते हैं, बिना पुरुषार्थ के पाया धन मनुष्य के पतन का कारण बनता है। २. हम उस धन को पुकारते हैं जो **उग्रम्**=उदात्त है (High, noble), जिसे प्राप्त करके हम घमण्डी व कमीने नहीं बन जाते। **उग्रम्**=(Industrious)=जो

धन हमें श्रमशील बनाये रखता है। ३. **वयम् पुत्रम् (भगम् हुवेम)**=हम उस धन को पुकारते हैं जो (पुनाति+त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है और वासना से सुरक्षित करता है। ४. फिर हमें वह धन चाहिए **यः**=जो **अदितेः**=अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य का **विधर्त्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला है। अस्वस्थ बना देनेवाला धन हमें नहीं चाहिए। 'अदिति' का अर्थ निरुक्त में 'अदीना देवमाता' दिया है। हमें वह धन चाहिए जो हमें अदीन बनाए, जिसके कारण हमें किसी के सामने गिड़गिड़ाना न पड़े और हमारे हृदयों में दिव्य गुणों का विकास हो। ५. हमें वह धन चाहिए **यम् भगम्**=जिस धन को (क) **आध्रः**=आधार देने योग्य, अर्थात् लूला-लँगड़ा **चित्**=भी **भक्षि इतिआह**='मैं खाता हूँ' ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में इन सहारा देने योग्य अपाहिज लोगों को भी हिस्सा मिलता है। (ख) **मन्यमानः तुरः चित्**=आदरणीय, समाज की अज्ञानादि बुराइयों की हिंसा करनेवाला भी 'मैं खाता हूँ' इस प्रकार कहता है, अर्थात् हमारे धनों में समाजहित के कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों को भी भाग मिलना चाहिए। जो व्यक्ति **मन्यमानः**=आदरणीय माने हुए हैं। यह 'मन्यमानः' विशेषण यहाँ इसलिए है कि कहीं धन 'अपात्र' में न पहुँच जाए। जिन व्यक्तियों को हम धन दें वे समाज के आदर के पात्र हों, जिससे कि उस धन के सद्व्यय का हमें निश्चय रहे। (ग) **राजा चित् यं भगं भक्षि इतिआह**=और अन्त में हमें वह धन चाहिए जिस धन को राजा भी 'मैं खाता हूँ', ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में से राजा को उचित कर दिया जाता है। राजा नें इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की रक्षा व व्यवस्था करनी है। यदि हम कर नहीं देते तो राष्ट्र की चोरी ही करते हैं, अतः हमारे धन में अनाथों, समाज-सेवकों व राजा का भाग होना ही चाहिए।

भावार्थ—धन पुरुषार्थ से कमाया जाए, वह हमें उदात्त बनानेवाला हो, हमारी पवित्रता व वासनाओं से रक्षा का कारण हो, हमें स्वस्थ व अदीन तथा दिव्य गुणोंवाला बनाये। हमारे धन में दीनों, मान्य समाज-सेवियों तथा राजा को अवश्य अपना-अपना भाग मिले।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—भगवान्। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—**धैवतः**॥

जीवन-यात्रा में धन का महत्त्व

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।

भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥३६॥

१. हे **भग**=ऐश्वर्य **प्रणेतः**=तू प्रकृष्ट नेता है, जीवन-यात्रा को उत्तमता से ले-चलनेवाला है। यह धन २. **सत्यराधः**=सत्य को सिद्ध करनेवाला है। यहाँ 'सत्य' सब उत्तम कर्मों का प्रतीक है, प्रत्येक उत्तम कार्य धन से ही सिद्ध होता है। यज्ञों के लिए, स्वध्याय के लिए, अन्य सभी उत्तम कार्यों के लिए धन की आवश्यकता है। ३. हे नेतृत्व देनेवाले, सत्य को सिद्ध करनेवाले **भग**=ऐश्वर्य! **नः**=हमारी **इमाम् धियम्**=इस बुद्धि की **ददत्**=हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हुए **उदव**=रक्षा कर। जिस समय गरीबी के कारण नमक, तेल, ईंधन की चिन्ता सताती है तब यह बुद्धि को लुप्त कर देती है। ऐश्वर्य हमें इन चिन्ताओं से मुक्त करके स्वस्थ बुद्धिवाला करता है। ४. हे **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमारा **गोभिः अश्वैः**=उत्तम गौवों व घोड़ों से **प्रजनय**=प्रकृष्ट विकास कर। धन के द्वारा हमारे घर गौवों व घोड़ोंवाले हो सकते है। ५. हे **भग**=ऐश्वर्य! तेरे द्वारा हम **प्रनृभिः**=उत्तम मनुष्यों से **नृवन्तः**=मनुष्योंवाले **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। सामान्यतः हम संसार में देखते हैं कि हम सम्पन्न हैं तो हमारा घर बन्धु-बान्धवों से भरपूर रहता है, निर्धनता आई और सब गये और घर

उजड़ा-सा प्रतीत होने लगता है। (ख) सम्पन्न होने की स्थिति में मैं आये-गये मान्य अतिथियों का ठीक स्वागत कर पाता हूँ और वे मेरे यहीं निवास करते हैं। मैं गरीब हूँ तो उनके आतिथ्य की मुझे सुविधा नहीं होती और मेरा घर ऐसे मनुष्यों का निवासस्थान नहीं बनता।

भावार्थ—धन नेतृत्व करता है, सत्य को सिद्ध करता है, बुद्धि को स्थिर रखता है, हमारी शक्ति व ज्ञान के विकास का कारण बनता है और हमारे घर को उत्तम पुरुषोंवाला बनाता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—भगः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रारम्भ, मध्य व अन्त में

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्वऽउत मध्येऽअह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाᳬ सुमतौ स्याम॥३७॥

१. **इदानीम् उत**=इस समय भी **भगवन्तः स्याम**=भगवाले हों। **उत प्रपित्वे**=और अन्तकाल में भी ऐश्वर्यवाले हों। **उत अह्नाम् मध्ये**=और दिनों के मध्यभाग में भी हम ऐश्वर्यवाले हों। **उत**=और हे **मघवन्**=हे ऐश्वर्यशाली प्रभो! **वयम्**=हम **सूर्यस्य उदिता**=सूर्य के उदय होते ही **देवानाम् सुमतौ स्याम**=देवों की कल्याणी मति में हों। २. भग शब्द के छह अर्थ हैं **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीयर्स्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा'**=(क) समग्र ऐश्वर्य, वस्तुतः ऐश्वर्य प्राप्ति का साधनभूत विज्ञान, (ख) वीर्य, (ग) यश, (घ) श्री, (ङ) ज्ञान, और (च) वैराग्य—ये छह अर्थ भगशब्द के हैं। जीवन के प्रातः काल में, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में हम विज्ञान व वीर्य का सम्पादन करनेवाले हों। साथ ही इस जीवन के प्रातःकाल में व्यक्ति अपने में विज्ञान=ऐश्वर्य और शक्ति को भरें। इस शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्ति की योग्यता से अपने को परिपूर्ण करके सद्गृहस्थ बनता है। ३. यह सद्गृहस्थ अपने जीवन के मध्याह्न में चल रहा होता है। इसने अपने जीवन में यश और श्री का सम्पादन करना है। एक गृहस्थ को सदा ऐसे ही कर्म करने चाहिएँ जो उसके यश का कारण बनें, उसके जीवन को शोभावाला करें। ४. अब यशस्वी व श्री-सम्पन्न गृहस्थ को बिताकर मनुष्य को चाहिए कि वह आगे बढ़े और अपने जीवन के सायंकाल में ज्ञान और वैराग्य की साधना करे। यह 'श्रेयोज्ञान' (ब्रह्मज्ञान=ब्रह्म का दर्शन) पातञ्जलयोग के अभ्यास से ही होगा, अतः वानप्रस्थ को प्रातः-सायं कम-से-कम एक-एक घण्टा ध्यान करना ही चाहिए, अधिक हो सके तो अच्छा ही है। शेष समय स्वाध्याय में बिताने का प्रयत्न करना है। स्वाध्याय से श्रान्त होने पर लोकहित के कार्यों में आमोद-प्रमोद को अनुभव करना है। ये कार्य उसके आमोद-प्रमोद (Amusements) बन जाएँ। इस ज्ञान को प्राप्त करने से वैराग्य व अनासक्ति (Detachment) की भावना का उदय होगा और इस प्रकार इसका जीवन पूर्ण भगवाला हो सकेगा। ५. इस भग के क्रमिक विकास को सिद्ध करने के लिए हम सूर्योदय से ही, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही देवों की कल्याणी मति में हों। प्रातःकाल में 'मतृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'=माता-पिता व आचार्य हमें सुमति देनवाले हों। मध्याह्न में 'अतिथिदेवो भव'=विद्वान् व व्रतमय जीवनवाले अतिथि हमें समय-समय पर सुमति देते रहें। जीवन के पूर्णता के काल में (सायंकाल में) अन्तर्मुख-यात्रा के अभ्यास से आभासित उस महादेव की कल्याणी मति को सुननेवाले हम बनें, अर्थात् आत्मा की आवाज़ को हम सुन पाएँ। इस

प्रकार देवों की कल्याणी मति से हम जीवन में पृथक् न होंगे तो अवश्य अपने अन्दर भग की वृद्धि करते हुए भगवान् के दर्शन कर पाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन भग की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए भगवान् के समीप पहुँचने में ही व्यतीत हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगवान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु ही हमारा ऐश्वर्य हो

भगऽएव भगवाँ२॥ऽअस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।

तं त्वा भग सर्वऽइज्जोहवीति स नो भग पुरऽएता भवेह॥३८॥

१. हे **देवाः**=देवो! आप ऐसी कृपा करो कि **भगवान् एव**=प्रभु ही **भगः अस्तु**=हमारे ऐश्वर्य हों, अर्थात् हम भगवान् को ही अपना भग बनाएँ, प्रभु-प्राप्ति को ही सच्चा ऐश्वर्य समझें। **तेन**=उस प्रभु से ही **वयम्**=हम **भगवन्तः**=भगवाले **स्याम**=हों। प्रभु ही हमारा धन हों। हम 'आत्मक्रीड व आत्मरति' बन पाएँ। हम 'आत्मन्येव च संतुष्टः'=आत्मतत्त्व को पाकर ही सन्तुष्ट हों। २. हे **भग**=सब ऐश्वर्यों के पुञ्ज प्रभो! **तम् त्वा**=उस आपको **सर्व इत्**=सर्व ही **जोहवीति**=पुकारता है। प्रभु की सच्ची आराधना वही करता है जो 'सर्व' बनता है। सर्व बनने का अभिप्राय 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की उन्नति करने से है। केवल स्वस्थ पुरुष, केवल बुरी भावना से रहित पुरुष, किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला पुरुष तथा ज्ञान से भरे मस्तिष्कवाला पुरुष भी प्रभु का सच्चा उपासक नहीं। सच्चा उपासक तो वही है जो तीनों उन्नतियों की साधना करके 'सर्व' बनने का प्रयत्न करता है। ३. हे **भग**=सेवनीय, उपासनीय प्रभो! **सः**=वे आप **इह**=इस मानव-जीवन में **नः**=हमारे **पुर एता**=आगे चलनेवाले **भव**=होओ। आप हमारे नेता हों, हम आपके अनुयायी हों। हमारे पथ-प्रदर्शक आप ही हों।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपना सच्चा धन मानें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—भगः। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दधिक्रावा बनना

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।

अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिनऽआ वहन्तु॥३९॥

१. **उषसः**=उषाःकाल **अध्वराय**=अध्वर के लिए **संनमन्त**=सन्नत हों। हम प्रातःकाल ही विनीत बनकर अध्वर मार्ग पर चलने का निश्चय करें। 'न ध्वरति कुटिलो भवति, अध्वानं सत्पथं राति इति वा'=विनीत बनकर कुटिलतारहित सन्मार्ग पर चलें। विनीतता का परिणाम कुटिलता-त्याग है। जब नम्रता नष्ट होकर मद आ जाता है तभी जीवन कुटिलता व हिंसावाला हो जाता है। दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा विनीतता ही है 'नातिमानिता'। २. **दधिक्रावा इव**=दधिक्रावा के समान **शुचये पदाय**=पवित्र मार्ग के लिए अथवा उस पूर्ण शुद्ध प्रभु को प्राप्त करने के लिए यह उषाःकाल हो। (क) 'दधत् क्रामतीति दधिक्रावा'=शक्ति को धारण करके चलता है, हम शक्तिशाली बनकर पवित्र मार्ग पर चलें। संसार निर्बलों के लिए नहीं है। निर्बलता में मनुष्य पाप कर बैठता है। **'वि शक्रः पापकृत्यया**—अ० ३।३१।२' शक्तिशाली पाप से दूर रहता है, इसीलिए उपनिषद् कहती है कि **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। (ख) 'दधत् क्रन्दति इति वा दधिक्रावा'=शक्तिशाली बनकर प्रभु को

पुकारता हुआ मैं पवित्र मार्ग पर चलूँ। **दधत्**=धारणात्मक कर्मों को करता हुआ मैं प्रभु की प्रार्थना करूँ। निर्बल बन प्रभु को पुकारने से कुछ लाभ नहीं। धारणात्मक कर्मों को करता हुआ ही प्रभु-प्रार्थना का अधिकारी है। ३. **इव**=जैसे **वाजिनः अश्वाः**=शाक्तिशाली घोड़े **रथम्**=रथ को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाते हैं उसी प्रकार **वाजिनः**=शाक्तिशाली व ज्ञानसम्पन्न **अश्वाः**=इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अर्वाचीने**=(अवरे देशे अञ्चति न तु परे) अन्दर ही विद्यमान **वसुविदम्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले **भगम्**=ऐश्वर्यपुञ्ज, सेवनीय प्रभु को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। यहाँ इन्द्रियों का विशेषण 'वाजिनः' है, वे शक्तिशाली हों तथा ज्ञानप्राप्ति का उचित साधन हों। उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए इन इन्द्रियरूप घोड़ों की अन्तर्मुखयात्रा चाहिए, वे प्रभु 'अर्वाचीन' हैं, अन्दर ही मौजूद है, वे सब वसुओं के स्वामी हैं, अतः प्रभु-प्राप्ति में 'योगक्षेम' ठीक प्रकार से चलता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यह है कि (क) हम विनीतता को अपनाकर अहिंसा व अकुटिलता के मार्ग पर चलें, (ख) अपने को शक्तिशाली बनाते हुए पवित्र मार्ग का आक्रमण करें तथा धारणात्मक कर्मों में लगे हुए प्रभु की प्रार्थना करें, (ग) प्रभु को ऐश्वर्य का पुञ्ज, सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला जानते हुए अपनी इन्द्रियों को निरुद्ध कर उसी का ध्यान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**उषाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'विश्वतः प्रपीत'—सर्वांगीण उन्नति

अश्वावतीर्गोमतीर्नऽउषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥४०॥

नः=हमारे लिए **उषासः**=उषःकाल **सदम्**=सदैव (ऋ० १।१०६। पर द०, सदम्=संवत्सरम्=वर्षभर, अर्थात् सारे साल—यास्क) **उच्छन्तु**=प्रकाशित हों। कैसी उषाएँ? १. **अश्वावतीः**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली। अश्व शब्द 'अश्नुवते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से कर्मेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले हों। पिछले मन्त्र में वर्णित प्रकार से हम 'अध्वरों' में अपना समय बिताएँ। धारणात्मक कर्म करते हुए जीवन-यात्रा में चलें (दधिक्रावा)। २. **गोमतीः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से यह शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में स्वाध्याय को अपना भोजन बनाएँ और अपने मस्तिष्क का ठीक पोषण करनेवाले बनें। ३. **वीरवतीः**=ये उषःकाल वीरोंवाली हों। हम पवित्र मार्ग पर (शुचये पदाय) चलते हुए वासनाओं से दूर रहकर शक्ति को अपने में सञ्चित करनेवाले हों। ५. **भद्राः**=(भदि कल्याणे सुखे च) ये उषःकाल हमारे लिए कल्याणकर व सुखकारी हों। हम इनमें सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने का निश्चय करें। ५. **घृतम्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को **दुहानाः**=(दुह प्रपूरणे) हममें वे भरनेवाले हों। प्रत्येक उषःकाल (उष दाहे) हमारे दोषों का दहन करके हमें निर्मल बनाये और हमारे ज्ञानों को दीप्त करनेवाला हो। ६. **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **प्रपीता**=खूब बढ़े हुए, अर्थात् हमारी वृद्धि करनेवाले ये उषःकाल हों। इनमें हम शरीर के स्वास्थ्य, मन के नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता के लिए प्रयत्नशील हों। हमारी उन्नति सर्वांगीण हो, एकांगी उन्नति वस्तुतः उन्नति ही नहीं। 'विश्वतः प्रपीता' का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'सब स्थानों से प्रकृष्ट पानवाले', हम जहाँ से भी अच्छाई मिल सके उसका ग्रहण

करनेवाले बनें। सूर्य जिस प्रकार सब स्थानों से जल ले-लेता है, इसी प्रकार हम भी सब स्थानों से अच्छाई को लेने का निश्चय करें। हे ऐसे उषःकालो! **यूयम्**=तुम **सदा**=हमेशा **नः**=हमारा **स्वस्तिभिः**=उल्लिखित बातों के द्वारा उत्तम स्थितियों से (सु+अस्ति) **पात**=पालन करो। उत्तम स्थिति यही है कि (क) हम उत्तम कर्मों में लगे रहें (अश्वावतीः) (ख) उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक है कि हम उत्तम विचारों व ज्ञानवाले हों (गोमतीः) (ग) इस ज्ञान की उत्तमता के लिए वीर्यरक्षा आवश्यक है। वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन है। हम वीर्यवान् हों (वीरवतीः)। (घ) ये बातें होने पर हमारा मार्ग कल्याण-ही-कल्याणवाला होगा (भद्राः)। (ङ) हमारा नैर्मल्य व ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता-ही-बढ़ता जाएगा (घृतं दुहानाः), (च) इस प्रकार हमारी सर्वांगीण उन्नति होगी (विश्वतः प्रपीताः)। हमारे उषःकाल सदा हमारी इस उत्तम स्थित को प्राप्त करानेवाले (लाने) हों।

भावार्थ—हमारा प्रत्येक उषःकाल उत्तमकर्म, उत्तमज्ञान, शक्ति, भद्रता, नैर्मल्य व वृद्धिवाला हो।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पूजा के मार्ग पर

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्तऽइह स्मसि॥४१॥

'सुहोत्र' ऋषि का यह मन्त्र है। (हु=आदान) यह **सु**=उत्तम वस्तुओं का **होत्र**=आदान करता हुआ अपना त्राण करता है। यह कहता है कि हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले सूर्यदेव! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में चलते हुए **कदाचन**=कभी भी न **रिष्येम**=हिंसित न हों। इसी उद्देश्य से **इह**=इस मानव-जीवन में हम **ते**=तेरे **स्तोतारः**=स्तुति करनेवाले **स्मसि**=होते हैं। स्तुति का अभिप्राय यही है कि हम तेरे गुणों का स्मरण करते हुए अपने जीवन के लिए भी एक लक्ष्यदृष्टि स्थिर करते हैं। १. जैसे सूर्य 'पूषा' है, सबका पोषण करनेवाला है, इस प्रकार हम भी 'पोषण' का व्रत लेते हैं। हम धारणात्मक कर्म ही करेंगे, ध्वंसात्मक नहीं। वस्तुतः यही तो 'दधिक्रावा' (संख्या ३९) बनना है। २. यह पूषा 'आदित्य' है सभी स्थानों से जल का आदान करता है, परन्तु इस ग्रहण में यह जल को ही लेता है, उस स्थान की दुर्गन्ध व मलिनता को नहीं लेता। हमारा भी यह व्रत हो कि हम औरों की अच्छाई को ही देखें और उसी को लें। ३. सूर्य (सरति) निरन्तर चल रहा है। यह आराम के लिए कभी कहीं रुक नहीं जाता। ४. सूर्य की चौथी बात यह है कि यह लोगों की स्तुति-निन्दा से अपने तापन व प्रकाशनरूप कार्य से कभी विचलित नहीं होता। हमें भी अपना आदर्श यही रखना है कि **'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'** स्तुति, निन्दा, ऐश्वर्य व निर्धनता तथा जीवन व मरण हमें अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न कर सकेंगे। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' इन 'पोषण, उत्तमता का आदान, सतत क्रियाशीलता व कर्तव्यपथ से अविचलता' रूप उत्तम बातों का आदान करता हुआ सूर्य के व्रत में चलता है, सूर्य का सच्चा स्तोता बनता है और इस प्रकार अपने जीवन में हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—हम सूर्य से शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन में (क) धारणात्मक कर्म ही करें, (ख) सब जगह से अच्छाई को लेनेवाले हों, (ग) क्रियाशील रहें, (घ) स्तुति-निन्दा हमें कर्त्तव्यपथ से विचलित न कर सकें।

ऋषिः—ऋजिश्वः। देवता—पूषा। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मार्गों का भी मार्ग

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतोऽअभ्यानडर्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा॥४२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार सूर्य का उपासक, उसके गुणों का स्तोता बनकर सरल मार्ग से (ऋजु) निरन्तर आगे बढ़नेवाला (श्वि गति) 'ऋजिश्वा' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह इस मार्ग पर चलने के लाभ को कुछ अनुभव कर चुका है, अतः यह उस मार्ग पर **कामेन**=इच्छा से चलता है। यह सूर्य के प्रकाश की भाँति अपने को प्रकाशमय बनाने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करता है और **वचस्या**=इस वेदवाणी से **कृतः**=संस्कृत (accomplished) हुआ-हुआ **अर्कम्**=उस सूर्य को **अभ्यानट्**=शिष्यरूपेण प्राप्त होता है जो सूर्य **पथस्पथः**=मार्गों के भी मार्ग का, अर्थात् सर्वोत्तम मार्ग का **परिपतिम्**=पूर्णरूप से रक्षक है, अर्थात् सदा एक आदर्श मार्ग पर चलनेवाला है। सूर्य के इस मार्ग का कुछ वर्णन ४१वें मन्त्र में हुआ है। इस मार्ग पर चलनेवाला 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **सः**=वह पूषा (सूर्य) **नः**=हमें **चन्द्राग्राः**=(चदि आह्लादे)=आह्लाद व प्रसन्नता को बढ़ानेवाली **शुरुधः**=(शुग् रुधः) शोक व दुःख को दूर करनेवाली सम्पत्तियों को **रासत्**=दे। वस्तुतः सूर्य के मार्ग पर **कामेन**=बड़ी इच्छा से उत्साहपूर्वक चलने से हमें शारीरिक स्वास्थ्य की, मानस नैर्मल्य की और बौद्धिक दीप्ति की सम्पत्ति प्राप्त होती है। ये सम्पत्तियाँ क्रमशः आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक शोकों को दूर करनेवाली हैं। नीरोगता से आध्यात्मिक कष्टों की इतिश्री हो जाती है, राग-द्वेष के क्षय से आधिभौतिक कष्ट नहीं होते और ज्ञानदीप्ति हमें आधिदैविक कष्टों से बचाती है। इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ 'ऋजिश्वा' कहता है कि प्रभु ऐसी कृपा करे कि यह **पूषा**=सूर्य **धियम् धियम्**=हमारे प्रत्येक प्रज्ञान व कर्म को अथवा प्रज्ञापूर्वक किये जानेवाले कर्म को **प्रसीषधाति**=प्रकर्षेण सिद्ध करे। वस्तुतः मार्गों का मार्ग, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट मार्ग तो वही है जिस मार्ग से कि **पूषा**=सूर्य चल रहा है। 'पोषणात्मक कर्मों को करना, अच्छाई को लेना, क्रियामय जीवन बिताना और स्तुति-निन्दा से विचलित न होना' ही सर्वात्तम जीवन-यात्रा का मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाले पुरुष के सभी कर्म प्रज्ञापूर्वक होते हैं और इन कर्मों को करता हुआ वह अपने लक्ष्य-स्थान पर अवश्य पहुँच जाता है। उसकी जीवन-यात्रा पूर्ण होती है और वह सबके पोषण करनेवाले प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अध्ययन से अपने जीवन को संस्कृत बनाएँ। बड़ी इच्छा व उत्साह के साथ मार्गों के भी मार्ग के पति सूर्य के उपासक बनें, उसी के व्रत में चलें। आनन्दप्रद, दुःखद्राविणी सम्पत्तियों को प्राप्त करने का व कर्मसाफल्य का यही मार्ग है।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तीन कदम

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपाऽअदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥४३॥

पिछले मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा'=सरल मार्ग से चलता हुआ पूषा के उपदिष्ट मार्ग पर चलता है। इस मार्ग पर चलते हुए यह **त्रीणि पदा**=तीन कदमों को **विचक्रमे**=विशेषरूप से रखता है। १. यह **विष्णुः**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक, उदार अन्तःकरणवाला बनता है।

अपनी बुद्धि को विशाल बनता है। २. यह **गोपाः**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों का रक्षक होता है। इन्द्रियों को विषयों में भटकने से बचाता है। इसी से इसकी इन्द्रियाँ विषयासक्त होने से बची रहती हैं, दूसरे शब्दों में इसके इन्द्रियाश्व मार्गभ्रष्ट नहीं होते और यह अपनी जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। ३. **अदाभ्यः**=(दभ्=हिंसायाम्) यह अपने शरीर में रोगों से हिंसित नहीं होता। रोगकृमियों से यह दब नहीं जाता। सदा स्वस्थ शरीरवाला बना रहता है। ४. चूँकि यह 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' के रूप में 'व्यापक मानस उन्नति, इन्द्रियों की सुरक्षा व शरीर के स्वास्थ्य' रूप तीन कदमों को रखता है, अतः **धर्माणि**=देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप मुख्य धर्मों का **धारयन्**=धारण करनेवाला बनता है। ३१वें अध्याय के १६वें मन्त्र में 'तानि धर्माणि प्रथमान्यसान्' इन शब्दों में यज्ञान्तर्गत इन तीन बातों को प्राथमिकता देनी है। देवपूजा से ज्ञान बढ़ता है, संगतिकरण हमें राग-द्वेष से ऊपर उठाता है, दान हमें विषय-वासनाओं से बचाकर स्वस्थ बनता है। ये ही तीन कदम हैं, जिन्हें कि प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' अपने जीवन में रखने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में तीन कदम रखनेवाले त्रिविक्रम बनें। 'विष्णु बनें, गोपा बनें और अदाभ्य हों'।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विप्र, विपन्यु व जागृवान्

तद्विप्रा॑सो विप॒न्यवो॑ जागृ॒वांस॒: समि॑न्धते। विष्णो॒र्यत्प॑र॒मं प॒दम्॥४४॥

व्यापक उन्नति करनेवाला जीव भी विष्णु है, परन्तु सदा से पूर्णोन्नत प्रभु ही वस्तुतः विष्णु हैं, उस विष्णु की उपासना जीव विष्णु बनकर ही करता है 'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'। उस महान् **विष्णोः**=विष्णु का **यत्**=जो **परमम् पदम्**=उत्कृष्ट स्थान है **तत्**=उसे **समिन्धते**=अपने अन्दर दीप्त करते हैं। कौन? १. **विप्रासः**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले। आत्मालोचन के द्वारा जहाँ भी कमी दिखी, उसे उन्होंने दूर करने का प्रयास किया। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को ये इसी प्रकार स्वस्थ रख पाते हैं। २. **विपन्यवः**=(पण् स्तुतौ) विशिष्ट स्तुतिवाले। ये अपने मन को सदा प्रभु के स्तवन में लगाते हैं, इसी कारण मन में मलिनता उत्पन्न नहीं होती। प्रभु-प्रवण मन सदा पवित्र बना रहता है। प्रभु-स्तुति में न लगा हुआ मन विषयों में चला जाता है और शत्रु बन जाता है। ३. **जागृवांसः**=जो सदा जागते हैं। जिनका बुद्धिरूप सारथि सदा सचेत है। मन को विषय जाल में फँसने से बचाने के लिए ये **विपन्यवः**=विशिष्टरूप से प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं, इस शरीर-रथ की सारथिभूत बुद्धि को सदा जागरित रखते हैं। बुद्धिपूर्वक चलनेवाले ये सचमुच 'मेधातिथि' (मेधया अतति) होते हैं। इस मेधातिथि के ये ही तीन विक्रम हैं 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनना।

भावार्थ—'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनकर हम विष्णु के परमपद को प्राप्त करें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

द्यावापृथिवी—शरीर व मस्तिष्क

घृ॒तव॑ती॒ भुव॑नानामभि॒श्रियो॒र्वी पृ॒थ्वी म॑धु॒दुघे॑ सु॒पेश॑सा।
द्याव॑पृथि॒वी वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा॒ विष्क॑भिते॒ऽअ॒जरे॒ भूरि॑रेतसा॥४५॥

आधिदैविक जगत् में 'द्यावापृथिवी' का अभिप्राय द्युलोक व पृथिवीलोक है। यही अध्यात्म में मस्तिष्क व शरीर हैं। वस्तुतः यह पिण्ड (शरीर) क्या है? यह एक छोटा ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्ड क्या है? यह एक बड़ा पिण्ड है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह उक्ति नितान्त सत्य है। 'हमारे इस पिण्ड में गत मन्त्र के 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' के शरीर व मस्तिष्क कैसे बनते हैं', इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार है १. **घृतवती**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) ये **द्यावापृथिवी**=शरीर व मस्तिष्क घृतवाले—क्षरण व दीप्तिवाले होते हैं। शरीर में से मलों का क्षरण होकर शरीर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इस स्वस्थ शरीर में मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है (Sound mind in a sound body)। २. **भुवनानाम् अभिश्रिया**=इस प्रकार स्वस्थ शरीर और दीप्त मस्तिष्क मनुष्य के बाहर व अन्दर दोनों ('अभि') को श्रीसम्पन्न बनाते हैं। शरीर का स्वास्थ्य बाह्य श्री का कारण बनता है तो मस्तिष्क की उज्ज्वलता अन्तःश्री का कारण होती है। ३. **उर्वी**=(ऊर्णु आच्छादने) ये श्रीसम्पन्न शरीर व मस्तिष्क मनुष्य का आच्छादन करनेवाले होते हैं। जैसे छत मनुष्य को सर्दी, गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, उसी प्रकार ये मस्तिष्क व शरीर भी मनुष्य को रोगों व मलिनविचारों से बचाते हैं, उसकी रक्षा करते हैं। ४. **पृथ्वी**=(प्रथ विस्तारे) ये द्यावापृथिवी उसकी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले होते हैं। ५. **मधुदुघे**=ये उसमें 'मधु' का, सारभूत वस्तु का पूरण करनेवाले होते हैं (दुह प्रपूरणे)। वस्तुतः सोम=वीर्य ही सर्वोत्तम सारभूत वस्तु है। इस सोम का विनाश न कर ये जागृवान् लोग इसका अपने में पूरण करते हैं। इसी से तो वस्तुतः वे शरीर में शक्ति को (वाज=शक्ति) तथा मस्तिष्क में ज्ञान (वाज=गति=ज्ञान) को भरनेवाले 'भरद्वाज' बनते हैं। भरद्वाज ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ये ६. **सुपेशसा**=उत्तम निर्माण करनेवाले (पेश=shape, पेशः=रूपम्) होते हैं। शक्तिसम्पन्न शरीर व ज्ञानोज्ज्वल मस्तिष्क मनुष्य को बड़ा सुन्दर रूपवाला बनाते हैं। ७. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **वरुणस्य धर्मणा**=वरुण की धारकशक्ति से **विष्कभिते**=थामे जाते हैं। वस्तुतः द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण प्रभु ही कर रहे हैं। यहाँ अध्यात्म में भी शरीर व मस्तिष्क वरुण की धारकशक्ति से धारित होते हैं। यहाँ 'वरुण' का अभिप्राय है, 'द्वेष का निवारण करनेवाला'। जो व्यक्ति अपने मन में ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि को नहीं जलने देता वही स्वस्थ शरीर व मस्तिष्कवाला होता है। ईर्ष्या-द्वेष से शरीर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, मन का स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। **'ईर्ष्योर्मृतं मनः'**=ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत हो जाता है, परन्तु जब हम **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले बनते हैं तब हमारे शरीर व मस्तिष्क ८. **अजरे**=न जीर्ण होनेवाले होते हैं। ९. **भूरिरेतसा**=ये बहुत रेतस्वाले होते हैं। 'भूरि' का अर्थ, भरण-पोषण करनेवाला भी है। ये उस रेतस् शक्तिवाले होते हैं जो इनका भरण करती है, इनमें किसी प्रकार की कमी नहीं आने देती।

भावार्थ—भरद्वाज वरुण='द्वेष को दूर करनेवाला' बनकर अपने मस्तिष्क व शरीर को अजर=न जीर्ण होनेवाला, सदा सबल बनाता है।

ऋषिः—**विहव्यः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विहव्य की विशिष्ट प्रार्थना

ये नः सपत्ना॒ऽअप॒ ते भ॑वन्त्विन्द्रा॒ग्निभ्या॒मव॑ बाधामहे॒ तान्।
वस॑वो रु॒द्राऽआ॑दि॒त्याऽउ॑परि॒स्पृशं॑ मो॒ग्रं चेत्ता॑रमधिरा॒जम॑क्रन्॥४६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विहव्य' है—विशिष्ट प्रार्थनावाला। इसकी प्रार्थना इस प्रकार है—१. **ये**=जो **नः** =हमारे **सपत्नाः**='शत्रु' हैं **ते**=वे **अपभवन्तु**=दूर हों। शरीर का पति वस्तुतः मैं हूँ, यह मुझे जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए दिया गया है, परन्तु रोगकृमि इसमें घर कर लेते हैं और वे इसका पति बनना चाहते हैं, अतः वे मेरे 'सपत्न' कहलाते हैं। इसी प्रकार ईर्ष्या-द्वेष के अशुभ विचार मेरे मस्तिष्क के पति बनने का प्रयत्न करते हैं, अतः वे भी मेरे 'सपत्न' हैं। इन सबको दूर करने के लिए यह 'विहव्य' प्रार्थना करता है। इसका प्रयत्न यही होता है कि यह नीरोग व निर्द्वेष बना रहे। २. **तान्**=उन रोगों व ईर्ष्या-द्वेष के विचारों को **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र व अग्नि से **अवबाधमहे**=दूर ही रोक देते हैं, उन्हें अपने पास नहीं फटकने देते। द्युलोक की देवता 'इन्द्र' है और पृथिवीलोक की प्रमुख देवता 'अग्नि' है। जैसे द्युलोक में इन्द्र=सूर्य चमकता है उसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमके और शरीर में अग्नि हो, शक्ति की उष्णता हो। जब यह शक्ति की उष्णता नहीं रह जाती तब मनुष्य ठण्डा पड़ जाता है, अर्थात् मृत हो जाता है। शरीर की शक्ति और मस्तिष्क का ज्ञान दोनों मिलकर हमसे रोगों व मलिन विचारों को दूर रखते हैं। ३. **वसवः रुद्राः आदित्याः**=वसु, रुद्र व आदित्य, अर्थात् सब देवता **मा**=मुझे **उपरिस्पृशम्**=उपरले-और-उपरले लोक का स्पर्श करनेवाला, अर्थात् उत्कर्ष की ओर चलनेवाला **उग्रम्** =उदात्त, कमीनेपन व छोटे दिल से ऊपर उठा हुआ **चेत्तारम्**= संज्ञानवाला (चिती संज्ञाने) तथा **अधिराजम्** =सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता **अक्रन्**=बनाते हैं।

भावार्थ—विहव्य की प्रार्थना तीन भागों में बँटी हुई है। १. हमारे सपत्न दूर हों, २. ज्ञान व शक्ति से हम सब सपत्नों को दूर रखने में समर्थ हों, ३. देवों की कृपा से हम उत्कर्ष की ओर चलनेवाले, उदात्त, आत्मस्मृतिमान्=चेतन, व अधिराट्=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बन पाएँ।

नोट—'वसवः' वे देवता हैं जो हमारे निवास में साक्षात् कारणभूत हैं। 'रुद्राः' वे देव हैं जो हमारे जीवनों को नीरोग व शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। 'आदित्याः' उन देवों का नाम है जो हमें सद्गुणग्रहणक्षम व ज्ञान से देदीप्यमान करते हैं। (वासयन्ते इति वसवः, रुद्राः मरुतः प्राणाः, आदानात् आदित्याः)।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप की आराधना तैतीस देवों का आगमन

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांꣳसि मृक्षतꣳ सेधतं द्वेषो भवतꣳ सचाभुवा॥४७॥

देवता तैतीस हैं, चौंतीसवाँ इनका अधिष्ठाता महादेव है। ग्यारह द्युलोक के देवता, ग्यारह अन्तरिक्षलोक के देवता और ग्यारह पृथिवीस्थ देव हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन सब देवों का शरीर में उत्तम निवास होता है। ये प्राणापान वस्तुतः सत्य हैं, ये हमारे जीवन की सत्ता के कारण हैं। इसी से इन्हें 'नासत्या' कहते हैं जोकि 'न असत्या' असत्य नहीं हैं। इन प्राणापान की साधना करनेवाला ऋषि अपने वीर्य की ऊर्ध्वगति को सिद्ध करने के कारण 'हिरण्यस्तूप' कहलाता है। यह हिरण्यस्तूप प्रार्थना करता है कि १. **नासत्या**=हे सत्यस्वरूपवाले अश्विनीदेवो=प्राणापानो! आप **इह**=इस मेरे पार्थिव शरीर मे **त्रिभिः एकादशैः**=तीन गुणा ग्यारह, अर्थात् तैतीस **देवेभिः**=देवों के साथ **आयातम्**=आओ। प्राणापान की साधना से सब आसुरवृत्तियों का, दोषों का संहार होकर इस शरीर में देवों

व दिव्य गुणों का निवास होता है। सूर्यादि देव चक्षु आदि का रूप धारण करके अक्षि आदि स्थानों में ठीक प्रकार से निवास करते हैं और हमारी शरीररूप गौशाला देवरूप गौओं से परिपूर्ण हो जाती है। २. हे **अश्विना**=सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले अथवा कर्मों में उत्तमता से व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! आप **मधुपेयम्**=शहद के समान सारभूत वस्तु सोम के पान के लिए **आयातम्**=प्राप्त होवो। प्राणापान की साधना से सोम की शरीर में खपत होती है, यही अश्विनी देवों का सोमपान है। ३. इस सोमपान के द्वारा **आयु**=जीवन को **प्रायुस्तारिष्टम्**=खूब बढ़ा दीजिए—हम दीर्घजीवी बनें। ४. **रपांसि**=दोषों को **निर्मृक्षतम्**=पूर्णरूप से झाड़ू लगाकर साफ़ कर दो। ५. **द्वेषः सेधतम्**=द्वेष को हमसे दूर करो। प्राणसाधक चित्तवृत्ति को वशीभूत कर लेने से द्वेष में नहीं फँसता। ६. हे प्राणापानो! आप **सचाभुवा**=साथ होनेवाले **भवतम्**=होओ। प्राणसाधक की चित्तवृत्ति ऐसी बन जाती है कि वह सबके साथ मिलकर चलता है। Live and let live. यह उसका जीवन सिद्धान्त हो जाता है। वह सबकी दृष्टि में 'देव' बन जाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करें, जिससे १. देवों के निवासस्थान बनें २. वीर्य की ऊर्ध्वगति कर पाएँ। ३. दीर्घ जीवन प्राप्त करें ४. दोषों को दूर करें। ५. द्वषे से ऊपर उठें ६. मिलकर चलने के स्वभाववाले हों।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**मरुतः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पापों से दूर

एष व स्तोमो मरुतऽइयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र में प्राणसाधना का वर्णन है। प्राणों को वैदिक साहित्य में 'मरुतः' भी कहते हैं। इनकी साधना करनेवाले भी 'मरुतः' कहलाते हैं। ये प्राणसाधक 'मितराविणः'=कम बोलनेवाले होते हैं। यह प्राणसाधना ही वस्तुतः प्रभु-स्तवन है। हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **एषः वः स्तोमः**=यही तुम्हारा स्तुतिसमूह है। प्राणसाधना से हम दोषों का दहन करते हैं, इससे उत्तम प्रभु का स्तवन और क्या हो सकता है? २. **इयं गीः**=यह वेदवाणी **मान्दार्यस्य** (मन्दतेः ईयतेश्च)=सदा प्रसन्न रहनेवाले गतिशील पुरुष की है। यह वाणी **मान्यस्य**=बड़ों का आदर करनेवाले देवपूजक (respectful) की है, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन का मानव जीवन पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह (क) सदा प्रसन्न, (ख) गतिशील, (ग) बड़ों का आदर करनेवाला तथा (घ) क्रियाओं को सुन्दरता से करनेवाला होता है। यदि उसका जीवन ऐसा नहीं बना तो यही समझना कि उसने वस्तुतः वेदवाणी का अध्ययन नहीं किया। ३. **एषा**=यह वेदवाणी **तन्वे**=(शरीरवृद्ध्यै) शरीर की सब शक्तियों के विस्तार के लिए **यासीष्ट**=तुम्हें प्राप्त हो। वेदवाणी हमारे जीवन का अङ्ग बनती है तो हमारी शक्तियों का सब प्रकार से वर्धन होता है। ४. **वयाम्** (वयम्)=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम (वेञ् तन्तुसन्ताने) **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पापवर्जन को और परिणामतः **जीरदानुम्**=जीवनौषध को **विद्याम**=प्राप्त हों। वेदवाणी के अन्दर निहित प्रभु-प्रेरणा को आलसी व्यक्ति प्राप्त नहीं करता। वह प्रेरणा क्रियाशील को ही प्राप्त होती है, उस प्रेरणा से हम पापों को दूर फेंकते हैं और अपने जीवन को सर्वथा नीरोग बना पाते हैं। शरीर में रोग नहीं, मन में पाप नहीं, बुद्धि में कुण्ठा नहीं। इस प्रकार **अग**=(अ ग) आगे न बढ़ने देनेवाले (पातक) गिरावट के कारणभूत सब पापों का (स्त्या) संहार

करनेवाला यह 'अगस्त्य' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना ही प्रभु-स्तवन है। वेदाध्येता सदा प्रसन्न, क्रियाशील, देवपूजक व दक्ष बनता है। वेदवाणी हमारी शक्तियों का विस्तार करती है। हम वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करके पापों से ऊपर उठें और जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**प्राजापत्यो यज्ञः**। देवता—**ऋषयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पितर=पूर्वजों का आदर्श जीवन

स॒हस्तो॑माः स॒हच्छ॑न्दसऽआ॒वृतः॑ स॒हप्र॑मा॒ऽ ऋष॑यः स॒प्त दैव्याः॑ ।
पूर्वे॑षा॒ं पन्था॑मनु॒दृश्य॒ धीरा॒ऽअ॒न्वाले॑भिरे र॒थ्यो॒॑ न र॒श्मीन्॥४९॥

पिछले मन्त्र में वेदाध्येता के लक्षणों में एक लक्षण यह भी था कि वे मान्य=बड़ों का आदर करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं बड़ों के जीवन का चित्रण है। १. **सहस्तोमाः**=ये स्तोमवाले होते हैं, इनका जीवन प्रभुस्तुति के साथ चलता है। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते ये सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। इसी से उन्हें जीवनमार्ग का दर्शन होता है। इस स्तवन से उन्हें विघ्नों व बाधाओं में व्याकुल न होने की शक्ति प्राप्त होती है। २. **सहच्छन्दसः**=ये छन्दोंवाले होते हैं, ये सप्तछन्दोरूप वेदवाणी के ज्ञाता बनते हैं। यह ज्ञानाग्नि वासनाओं का विध्वंस करके इनके कर्मों को पवित्र कर देती है। ३. **आवृतः**=ये आवृत होते हैं। इनके दिन का सारा कार्यकलाप ठीक आवर्तन में चलता है, उतने आवर्तन में, जितने में कि 'सूर्य और चन्द्रमा'। इस कार्यनियमितता से इनका स्वास्थ्य ठीक रहकर इन्हें दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। ५. **सहप्रमाः** =प्रमा शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्टमाप'। इनका जीवन प्रकृष्टमापवाला होता है। ये प्रत्येक क्रिया को माप-तोलकर करते हैं। सब क्रियाओं में 'युक्तचेष्ट' होते हैं, परिणामतः ये सदा स्वस्थ रहते हैं। ५. **ऋषयः**=' ऋष गतौ' से बनकर यह शब्द गति की सूचना देता है। ये अपने जीवन में सदा क्रियाशील रहते हैं। इसी कारण ये वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते। वासनाओं के शिकार अकर्मण्य पुरुष ही हुआ करते हैं ६. **सप्तदैव्याः**=इनकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ये सातों दैव्य होते हैं। ये इनसे 'देव' की ओर चल रहे होते हैं। इनसे ये प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, प्रकृति के स्वादों को भोगने नहीं लग जाते। ७. ये **धीराः**=स्थिर वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष **पूर्वेषाम्**=अपनों से पहले के **पन्थाम्**=मार्ग को—जीवन-यात्रा को **अनुदृश्य**=बारीकी से देखकर **अनु आलेभिरे**=उनके पदचिह्नों पर चलते हुए सर्वतः गुणों को ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे **रथ्यः**=एक उत्तम रथवाहक **रश्मीन्**=लगामों को। जिस प्रकार एक उत्तम सारथि रश्मि-नियमन में नाममात्र भी प्रमाद नहीं करता, उसी प्रकार ये धीर पुरुष भी गुणग्रहण में प्रमादशून्य होते हैं। अपने जीवन को अधिकाधिक गुणों से अलंकृत करते हुए ये सचमुच पितर पदवी को प्राप्त करते हैं। इन पूर्वजों का जीवन हमें भी प्रेरणा देता है और उस प्रेरणा को प्राप्त करके हम भी अपने जीवनों को उदात्त बनाते हैं। लोकहितकारी जीवन होने से ये पितर 'प्राजापत्य'=प्रजा के रक्षक कहलाते हैं और यज्ञमय जीवन होने के कारण 'यज्ञ' नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को स्तुतिमय, ज्ञानप्रधान, नियमित आवर्तनवाला, मपी-तुली क्रियाओंवाला, गतिमय, दिव्य व महाजनानुगामी बनाने का प्रयत्न करें। इस शरीररूप रथ पर आरूढ़ होकर बागडोर को अपने काबू में रक्खें।

ऋषिः—दक्षः। देवता—हिरण्यन्तेजः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

हिरण्य का प्रवेश

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदꣳहिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥५०॥

गतमन्त्र के सुन्दर जीवन के निर्माण का रहस्य 'हिरण्य'=तेज='वीर्य' की रक्षा में है। प्रस्तुत मन्त्र में उस हिरण्य की महिमा का वर्णन करते हैं। इसकी रक्षा के द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेवाला 'दक्ष' (दक्ष् to grow) मन्त्र का ऋषि है। दक्ष कहता है कि **इदम् हिरण्यम्**=यह वीर्य १. **आयुष्यम्**=दीर्घजीवन का कारण है। **'मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**=इस हिरण्यबिन्दु के नाश से नाश है, रक्षा से जीवन है। २. **वर्चस्यम्**=यह वर्चस्य है। उस वर्चस्वाला है जो शरीर में रोगों के मूल पर ही कुठाराघात करता है, शरीर को (वर्च्=to shine) पूर्ण नीरोग करके यह अपने धारक के जीवन को चमका देता है। ३. **रायस्पोषम्**=यह ज्ञान की सम्पत्ति का पोषण करता है। वेद में वेदों को 'रायः समुद्राँश्चतुरः'=चार सम्पत्ति-समुद्र कहा है। वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। उस ज्ञानाग्नि के दीप्ति होने से हमारे ज्ञान-समुद्र का जल बढ़ता है। ४. **औद्भिदम्**=यह वीर्य (उद्भित्) हमें रोगों से ऊपर उठाकर सब विघ्न-बाधाओं का विदारण करके आगे बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदम्**=यह **हिरण्यम्**=(हितरमणीयम्) अधिक-से-अधिक हमारा हित करनेवाला व रमणीय है। ४. यह **वर्चस्वत्**=वर्चस्वाला, दीप्ति को देनेवाला वीर्य **जैत्राय**=सब प्रकार की विजयों के लिए और अन्त में संसार का भी विजय करके मोक्षसाधन के लिए **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **आविशतात्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में, सारे शरीर में प्राप्त हो। मैं इस सोम (वीर्य) का पान करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं हिरण्य के महत्त्व को समझूँ और उसके अन्तःप्रवेश के लिए पूर्ण प्रयत्नवाला होऊँ।

ऋषिः—दक्षः। देवता—हिरण्यन्तेजः। छन्दः—भुरिक्छक्वरी। स्वरः—धैवतः।

हिरण्य का धारण

न तद्रक्षांꣳसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥५१॥

गतमन्त्र के 'हिरण्य' का ही परिचय इन शब्दों में देते हैं कि १. **तत्**=इस हिरण्य= वीर्य को **न रक्षांसि**=न तो रक्षस् और **न पिशाचाः**=न ही पिशाच **तरन्ति**=तैर पाते हैं। 'रक्षस्' वे कृमि हैं जो अपने रमण के लिए हमारा क्षय करते हैं। ये कृमि नाना प्रकार के रोगों का कारण बनते हैं और 'पिशितम् अश्नन्ति' जो हमारे मांस को ही खा जाते हैं और हमें निर्बल (Emaciated) कर देते हैं—ये 'पिशाच' कहलाते हैं। शरीर में हिरण्य के होने पर ये रक्षस् व पिशाच हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाते। वीर्य शब्द का अर्थ ही 'विशेषरूप से कम्पित करके इन्हें दूर भगानेवाला' है, इसीलिए तो यह हिरण्य=हित व रमणीय है। २. **देवनाम् ओजः**=यह देवताओं का ओज है। देवों की वृद्धि का कारण है (ओज् to increase)। असुर इसे भोगों का साधन बना विनष्ट हो जाते हैं। देव इसकी रक्षा करते हैं। **एतत्**=यह **हि**=निश्चय से **प्रथमजम्**=प्रथामाश्रम में, ब्रह्मचर्याश्रम में होनेवाला देवताओं का तेज सचमुच प्रथमजम्=(प्रथ विस्थारे) अत्यन्त विस्तृत शक्तियोंवाले पुरुष को जन्म

देनेवाला है। ३. **यः**=जो कोई भी इस **दाक्षायणम्**=(to grow) वृद्धि के कारणभूत (to kill) रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **बिभर्ति**=धारण करता है। **सः**=वह **देवषु**=देवों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुते**=करता है, **सः**=वह **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन **कृणुते**=कर लेता है, अर्थात् इस वीर्य को धारण करनेवाला व्यक्ति देव=दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है और मनुष्य मननशील ज्ञानी बनता है। दिव्य व ज्ञानी बनकर यह दीर्घ जीवनवाला होता है, एवं, इस दाक्षायण हिरण्य के तीन लाभ हैं—(क) शरीर में नीरोगता से दीर्घ जीवन, (ख) मन में दिव्यगुण, (ग) मस्तिष्क में अवबोध (मनु अवबोध)। इसी कारण इसे दाक्षायाण सुनहला आभूषण a golden ornament कहा गया है।

भावार्थ—हम दाक्षायण हिरण्य को धारण करके दीर्घजीवी, दिव्य व दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्य का बन्धन

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्मऽआ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम्॥५२॥

पिछले मन्त्र में 'दाक्षायण हिरण्य' के धारण की महिमा का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उस 'दाक्षायण हिरण्य' के बाँधने का निश्चय करता हुआ 'दक्ष' कहता है कि **यत्**=जिस **दाक्षायणाः**=वृद्धि के कारणभूत, रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय तेज को **सुमनस्यमानाः**=उत्तम विचार करते हुए लोग **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्ति के (अन प्राणने) स्थिर रखने के लिए **आबध्नन्**=अपने अन्दर बाँधते हैं **तत्**=उस तेज को **मे**=अपने लिए **आबध्नामि**=बाँधता हूँ **यथा**=जिससे **आयुष्मान्**= उत्कृष्ट जीवनवाला **जरदष्टिः**=वृद्धावस्था तक पूर्ण आयुष्य को व्याप्त करनेवाला **शतशारदाय**=सौ-के-सौ वर्ष के लिए **आसम्**=होऊँ। उल्लिखत अर्थ में 'सुमनस्यमानाः' शब्द से हिरण्य के अपने मे बन्धन के साधन का सङ्केत हुआ है। मनुष्य मन में सदा उत्तम विचारों का करनेवाला बनेगा तो इस वीर्य को अवश्य सुरक्षित कर पाएगा। अशुभ विचार ही इसके नाश के महान् कारण बनते हैं। इसे अपने में बाँधने से होनेवाले लाभ इस रूप में हैं—१. **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्तिसम्पन्न बने रहेंगे। २. **शतशारदाय**=सौ वर्ष के आयुष्य तक हम अवश्य चलेंगे। ३. **आयुष्मान्**=उत्तम जीवनवाले होंगे। ४. **जरदष्टिः**=पूर्ण वृद्धावस्था तक चलेंगे। नौजवानी में ही हमारा जीवन समाप्त न हो जाएगा। ५० से ५२ तक तीन मन्त्रों में 'हिरण्य'=वीर्य की महिमा का वर्णन है। इसका हम अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करें (५०) अपने में धारण करें (५१) और इसे अपने में ही बाँधनेवाले हों (५२)। जो व्यक्ति इस हिरण्य के प्रवेश, धारण व बन्धन को कर पाता है वह 'दक्ष'=उन्नतिशील (to grow) स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला (to act quickly), रोगकृमियों व द्वेषादि मलों का ध्वंसक (to hurt, kill), कार्यकुशल (to be competent), क्रियाशील व निरालस्य (to go, move) होता है।

भावार्थ—हम हिरण्य का अपने में प्रवेश, धारण व बन्धन करके दीर्घ व उत्तम जीवनवाले बनें। यह हिरण्य सचमुच हमारा सुनहला आभूषण बन जाए।

ऋषिः—ऋजिश्व। देवता—लिङ्गोक्ताः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

आदर्श जीवन

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजऽएकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वेदेवाऽऋतावृधो हुवाना स्तुता मन्त्राः कविशस्ताऽअवन्तु॥५३॥

गतमन्त्र में हिरण्य के बन्धन से 'आयुष्मान्'=उत्तम जीवनवाला होने का उल्लेख था। उसी उत्तम जीवन का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में है। इस मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा' है। 'ऋजुना श्वयति'=सरल मार्ग से चलता है और आगे बढ़ता है (श्वि गतिवृद्ध्योः), एवं उत्तम जीवन वह है जिसमें (क) सरलता है, (ख) गतिशीलता है और (ग) शक्तियों का वर्धन है, १. यह 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारी प्रार्थना को **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन मूलवाला (अग्निर्वा अहिर्बुध्न्यः—कौ० १६।७) अग्नि **उत**=और **अजः एकपात्**=(सूर्यं देवमजमेकपादम् —तै० ३।१।२।८) सूर्य, **पृथिवी**=पृथिवी, **समुद्रः**=समुद्र—ये देव **शृणोतु**=सुनें। इन सब देवों की मुझपर कृपा हो। मैं इन देवों की विशेषताओं को अपने जीवन में धारण करनेवाला बनूँ। (क) अग्नि के समान सब मलों का जलानेवाला बनूँ (ख) मलों का नाश होकर यह तेजस्विता के दृष्टिकोण से सूर्य-जैसा बनता है। (ग) तेजस्वी होने के कारण यह पृथिवी के समान क्षमाशील होता है। पृथिवी का तो नाम ही 'क्षमा' पड़ गया है। हम उसपर कूदते-फाँदते हैं, गड्ढे करते हैं, परन्तु पृथिवी सब सहती है। यह तेजस्वी पुरुष भी सहनशील बनता है। (घ) यह क्षमाशील पुरुष समुद्र के समान गम्भीर होता है। २. अग्नि को 'अहिर्बुध्न्य' कहा है, अहीन मूलवाला। जब तक शरीर में यह अग्नितत्त्व है तब तक जीवन का मूल क्षीण नहीं होता। अग्नि गई और मूल नष्ट हुआ। सूर्य 'अज एकपात्' है। 'अज गतिक्षेपणयोः'=सूर्य निरन्तर क्रिया से मलों को दूर फेंक रहा है और एक बार इसने कदम रखा तो फिर रुकने का नाम नहीं लिया। ३. 'अग्नि, सूर्य, पृथिवी और समुद्र' तो हमारी प्रार्थना को सुनें ही, अन्य सब देव भी **हुवानाः**=परस्पर स्पर्धा करते हुए **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत को बढ़ानेवाले हों। सब देव अपनी दिव्यता को मुझमें भरनेवाले हों। मैं सब देवों का ऐसा प्रिय बनूँ कि वे एक-दूसरे से बढ़कर मुझे अच्छा बनाने की कामना करें। मैं सब देवों की दिव्यता का पात्र बन जाऊँ। ४. **स्तुताः**=प्रभु की स्तुति का प्रतिपादन करनेवाले **कविशस्ताः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों से उच्चारण किये गये **मन्त्राः**=मन्त्र (ज्ञान-प्रतिपादकवाक्य) **अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम विद्वानों से सदा प्रभु की महिमा की प्रतिपादिका उत्तम ज्ञानवाणियों को सुनें, जिससे हमारे जीवन सुन्दर और सुन्दरतर बनते जाएँ।

भावार्थ—उत्तम जीवन वह है जो (क) सरलता, गतिशीलता व शक्तिवर्धनवाला है (ऋजिश्वा)। (ख) अग्नि के समान मलों का दाहक, सूर्य के समान तेजस्वी, पृथिवी के समान क्षमाशील व समुद्र के समान गम्भीर है। (ग) जिसमें सब दिव्य गुणों ने ऋत व सत्य का वर्धन किया है। (घ) जो विद्वानों से ज्ञानवाणियों को सुनने में व्यतीत होता है।

ऋषिः—कूर्म गार्त्समदः। देवता—आदित्याः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु का छोटा रूप

इमा गिरऽआदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रोऽअर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षोऽअꣳशः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र में 'कविशस्त मन्त्रों के श्रवण' का वर्णन है। उसी बात को कुछ

विस्तार से कहते हैं कि **इमाः गिरः**=इन वाणियों को जो **घृतस्नूः**=ज्ञानदीप्ति का स्रवण करनेवाली हैं, **सनात्**=नित्य **राजभ्यः**=ज्ञानदीप्ति से देदीप्यमान **आदित्येभ्यः**=चारों वेदों का ग्रहण करनेवाले आदित्यसंज्ञक विद्वानों की **जुह्वा**=वाणी से (जुहू इति वाङ्नाम) **जुहोमि**=आहूत करता हूँ। चारों वेदों के विद्वान् 'आदित्य' हैं। इन आदित्य विद्वानों से मैं सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता हूँ। उन वाणियों का उच्चारण करता हुआ उन ज्ञानवाणियों को हृदय में धारण करता हूँ। २. इन ज्ञानवाणियों को सुनने का परिणाम यह हो कि निम्न देव **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुनें। मैं इन देवों का कृपापात्र बनूँ, इन देवों का मुझमें निवास हो (क) **मित्रः**=स्नेह की देवता। हम सदा सबके साथ स्नेह करनेवाले बनें। (ख) **अर्यमा**=(अरीन् गच्छति) हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें, 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=हम सदा कुछ देनेवाले हों। (ग) **भगः**=ऐश्वर्य की देवता। 'भज सेवायाम्'=हम भजनीय धन को प्राप्त करनेवाले बनें। (घ) **तुविजातः**=महान् विकासवाला **वरुणः**=द्वेष के निवारणवाला वरुणदेव हमारी प्रार्थना को सुने। हम किसी से द्वेष न करें। द्वेष व ईर्ष्या से ऊपर उठना ही विकास का मार्ग है। (ङ) **दक्षः**=हम 'दक्ष' के प्रिय बनें। दक्ष (to grow)=अपनी शक्तियों के विकासवाले हों। दक्ष (to act quickly, to go)=हम स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले हों। दक्ष (to hurt, to kill)=रोगकृमियों के ध्वसंक हों। दक्ष (to be competent)=हम कार्यकुशल बनें। (च) **अंशः**=उल्लिखित सब बातों को अपने जीवन में लाकर हम प्रभु के 'अंश'=छोटे रूप बन पाएँ अथवा 'अंश्' to divide=हम अपने धनों का उचित विभाग करनेवाले हों, सारे का सारा स्वयं न खा जाएँ। वस्तुतः प्रभु बाँटते हैं तो सब बाँट देते हैं, अपने लिए कुछ रखकर जीव भी अधिक-से-अधिक बाँटने का प्रयत्न करे, अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का प्रयत्न करे। यही परमेश्वर का 'छोटा रूप' बनने का उपाय है। ३. इस प्रकार जीवन बनानेवाला व्यक्ति 'कूर्म गार्त्समद' है। 'कूर्म'=क्रियाशील, **गृत्स**=प्रभु का स्तोता **मद**=आनन्दमय। वस्तुतः नित्य ज्ञानयज्ञ करता हुआ यह व्यक्ति अपने जीवन को प्रभु के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानावाणियों को सुनें। स्नेह, दान, सेवनीय धन, द्वेषनिवारण व दक्षता को धारण करें और प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**अध्यात्मं प्राणाः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ऋषि का आश्रम, सात ऋषि, अस्वप्नज देव

सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥५५॥

१. **सप्त ऋषयः**=सात ऋषि **प्रतिशरीरे**=प्रत्येक शरीर में **हिताः**=रक्खे गये हैं। प्रभु ने 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'='दो कान, दो नासिका (छिद्र), दो आँखें व एक मुख' इस प्रकार सात ऋषि—तत्त्वज्ञान प्राप्त करानेवाले देव (ज्ञानेन्द्रियाँ) अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि—ये सात ज्ञानसाधक देव हम सबके शरीर में स्थापित किये हैं। २. **सप्त**=ये सात ऋषि **सदम्**=इस तेतीस देवों के निवासस्थान को **अप्रमादम्**=बिना किसी प्रकार के प्रमाद के **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं। जब तक ये ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप ऋषि ठीक कार्य करते हैं तब तक नाश का भय नहीं होता। ३. इन सातों ऋषियों से ज्ञान के प्रवाह निरन्तर चलते हैं। इन ज्ञानप्रवाहों के चलने से ही इन्हें 'आपः' नाम से यहाँ स्मरण किया गया है। जैसे जल बहता है, उसी प्रकार इनसे ज्ञान के प्रवाह चलते हैं, वृत्तियाँ

इधर-उधर फैलती हैं, परन्तु जिस समय जीवात्मा, इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र'-देव मस्तिष्करूप कार्यालय को छोड़कर हृदयरूप घर में जाता है ('स्वम् अपि इतो भवति'=अपने घर की ओर गया होता है=स्वपिति) तब **स्वपतः**=हृदयरूप घर की ओर जाते हुए इन्द्र के **लोकम्**=स्थान व दर्शन को (लोक्=to look) **सप्त आपः**=ये सात इन्द्रियवृत्तियों के प्रवाह **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। जागरितावस्था में तो ये प्रवाह बाहर की ओर चल रहे थे। अब स्वप्नावस्था में ये बाहर की ओर न जाकर उस आत्मा के ही लोक में पहुँच जाते हैं। इसलिए स्वप्न में कई बार हमें आत्मा का आभास होता प्रतीत होता है। इसी आभास को दृढ़ता से पकड़ लेने के लिए योगदर्शन के **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'** इस सूत्र में कहा गया है। ४. **तत्र**=उस स्वप्नावस्था में भी **अस्वप्नजौ**=(स्वप्नक्=शयालु) न सोने के स्वभाववाले **देवौ**=सदा अपनी क्रीडा को स्थिर रखनेवाले, दिव्य गुणोंवाले 'प्राणापान' **सत्रसदौ**=इस जीवन-यज्ञ में सदा स्थित होनेवाले **जागृतः**=जागते रहते हैं। सब सो जाएँ, पर ये प्राणापान तो यज्ञ के रक्षक हैं, ये सोते नहीं। ये सोने लगें तो सब समाप्त न हो जाए? इससे इन प्राणापान का महत्त्व स्पष्ट है। इनकी साधना पर इसीलिए अत्यधिक बल दिया गया है। इनकी साधना करनेवाला 'कण्व'=मेधावी बनता है। यह कण्व ही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस शरीर को ऋषि-आश्रम के रूप में देखें। इसके दिन-रात चलनेवाले ज्ञानयज्ञ का ध्यान करें और यज्ञ के रक्षक प्राणापानों की साधना को महत्त्व दें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्मणस्पति का उत्थान

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।

उप प्र यन्तु मरुतः सुदानवऽइन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥५६॥

१. हमारे जीवनों में सामान्यतः सांसारिक भावनाएँ प्रबल रूप से उठती रहती हैं। कभी काम की वासना उठ खड़ी हुई, कभी क्रोध प्रबल हो गया या लोभ ने हमें आ घेरा। इन वासनाओं के उठ खड़े होने पर दिव्य-भावनाओं का तो हमारे हृदयों से कूच हो ही जाता है। इनके जाने पर 'देव' वहाँ से चले जाते हैं, अतः 'कण्व' प्रार्थना करता है कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **उत्तिष्ठ**=हमारे हृदयों में आपका ही भावन उठे। हम आपका ही चिन्तन करें। हमें आपकी कभी विस्मृति न हो। २. जिस प्रकार राजा के आने पर अन्य अधिकृत पुरुष उसके पीछे-पीछे स्वयं आ जाते हैं उसी प्रकार उस महान् देव के आने पर अन्य देव उसके साथ आएँगे ही, अतः **देवयन्तः**=देवों को अपनाने की कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **ईमहे**=चाहते हैं, प्राप्त करने की कामना करते हैं। मेरे हृदय में प्रभुभावना उठ खड़ी होगी तो 'आसुर भावनाएँ लुप्त हो जाएँगी'। इतना ही नहीं, प्रत्युत सब दिव्य-भावनाएँ मेरी हृदयस्थली में अंकुरित हो उठेंगी। 'कण्व' की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ३. **उपप्रयन्तु**=मेरे समीप आएँ। कौन? (क) **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाले (मरुतः प्राणाः) परिमित बोलनेवाले (मितराविणः) तथा (ख) **सुदानवः**=उत्तम दान देनेवाले। वस्तुतः प्रभुभावना को जागरित करने के ये तीन साधन हैं—'प्राणसाधना, कम बोलना और दानशील बनना।' पुनः प्रभु कहते हैं कि (ग) **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू (घ) **प्राशूः**=(प्र अश व्याप्ति) प्रकर्षेण कर्मों में व्याप्त होनेवाला हो। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस आदेश को भूल नहीं। 'एवं त्वयि, न अन्यथा इतः अस्ति'='यही मार्ग है, दूसरा नहीं' इस बात को भूलना नहीं और (ङ) फिर **सचाभवा**=सबके साथ मिलकर

चलनेवाला हो। तूने मोक्ष भी अकेले पाने की कामना नहीं करनी। सभी के कल्याण में अपना कल्याण समझना। इस जीवन-यात्रा में वैर-विरोध से नहीं चलना। मुझे तो तू तभी प्राप्त करेगा जब सबके साथ तेरा प्रेमभाव होगा।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभुभावना को हृदय में सदा जागरित करता है, जिससे कि हृदय देवों का निवासस्थान बने। प्रभु-प्राप्ति के उपाय इस प्रकार हैं १. प्राणसाधना करना, कम बोलना (मरुतः) २. प्रकृति में न फँसना, ख़ूब देनेवाला बनना (सुदानवः) ३. जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना (इन्द्र) ४. सदा उत्तम कर्मों में लगे रहना (प्राशुः) ५. मिलकर चलना (सचा) **'सं गच्छध्वम्'**, इस उपदेश को क्रियान्वित करना।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ब्रह्मणस्पति का मन्त्रोच्चारण

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽअर्यमा देवाऽओकाꣳसि चक्रिरे॥५७॥

पिछले मन्त्रों में कण्व की प्रार्थना थी कि 'ब्रह्मणस्पति का मेरे हृदय में उत्थान हो, मेरे हृदय में प्रभुभावना जागरित हो'। इसपर प्रभु ने कहा था कि 'मरुत्, सुदानु, इन्द्र, प्राशू सचा' बनकर तू मेरे समीप आ। यदि हम प्रभु के आदेशानुसार ऐसे बनकर प्रभु के समीप आते हैं तो हमारे हृदयस्थ वे **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान के पति प्रभु **नूनम्**=निश्चय से **उक्थ्यम्**=ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य प्रशंसनीय **मन्त्रम्**=मननीय, ज्ञान से परिपूर्ण वेदवाक्यों का **प्रवदति**=खूब ही उच्चारण करते हैं। हम न सुनें तो यह हमारा दोष है, प्रभु तो उच्चारण कर ही रहे हैं। ये मन्त्र वे हैं **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा देवाः**=इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यया तथा अन्य सभी देव **ओकांसि**=अपने गृहों को **चक्रिरे**=बनाते है। इस मन्त्र में यह शक्ति है कि जहाँ यह मन्त्र होगा वहाँ देवों का भी निवास होगा। जहाँ हम हृदयस्थ प्रभु के मन्त्रों का ग्रहण करनेवाले बनते है, वहाँ हमारा जीवन इन देवों का निवास स्थान बन जाता है। ज्ञान की वाणियों के अध्ययन का यह परिणाम है कि मनुष्य १. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। उसकी इन्द्रियाँ विषयों में आसक्तिवाली नहीं होती। वे विषय-रस की तुच्छता को जानकर 'रसरूप' प्रभु की ओर चलनेवाली होती हैं। २. **वरुणः**=यह व्यक्ति द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। ३. **मित्रः**=यह सबके प्रति स्नेह की वृत्ति से चलता है। ४. **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) यह 'काम, क्रोध व लोभ' रूप शत्रुओं का नियमन करनेवाला होता है। ५. **देवाः**=(देवो दानाद्वा दीपनाद्वा) यह दान की वृत्ति को अपनाता है, ज्ञान की दीप्ति से दीप्त होता है औरों को ज्ञान की दीप्ति से द्योतित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हृदयस्थ ब्रह्मणस्पति प्रभु के उच्चरित मन्त्रों को सुनें, ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त हों, जिससे हमारा जीवन दिव्य गुणों की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो, हम 'दैवी सम्पद्' को अपने में बढ़ा पाएँ।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—ब्रह्मणस्पतिः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

गृत्समद द्वारा ब्रह्मणस्पति-स्तवन

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥५८॥

पिछले मन्त्र में कण्व ऋषि ब्रह्मणस्पति के मन्त्रोच्चारण को सुनकर अपने जीवन को देवों का निवासस्थान बनाता है और प्रभु-स्तवन करनेवाला 'गृत्स' तथा प्रसन्न रहनेवाला 'मद' बनता है। यह गृत्समद ब्रह्मणस्पति का निम्न प्रकार से स्तवन करता है १. हे **ब्रह्मणस्पते**=सब ज्ञान के पति प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्य सूक्तस्य**=इस उत्तमता से (सु) उच्चारण किये गये (उक्त) मन्त्र के **यन्ता**=देनेवाले हैं (यच्छति=देता है) **बोधि**=इस मन्त्र को देकर आप हमें ज्ञान दीजिए। हमें ही नहीं, **तनयम् च**=हमारे सन्तानों को भी **जिन्व**=इस ज्ञान से प्रीणित कीजिए। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही हम देवों के निवासस्थान बनेंगे और **यत्**=जब **देवाः अवन्ति**=देव किसी पुरुष की रक्षा करते हैं **तत्**=तब **विश्वम् भद्रम्**=सब कल्याण-ही-कल्याण होता है। दिव्य गुण हमारा रक्षण करते हैं, असुरवृत्तियाँ हमें अशुचि नरक में ले-जानेवाली होती हैं (पतन्ति नरकेऽशुचौ), इसलिए हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों **में बृहद् वदेम**=उस सदा वर्धमान ब्रह्म की चर्चा करें। इस प्रभु के चिन्तन से हम **सुवीराः**= उत्तम वीर बनें। संसार में शक्तिशाली बनकर वासनाओं के जीतनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु मुझे ज्ञान दें। मैं धन के संग्रह में न फँस जाऊँ प्रत्युत प्रभु का स्तवन करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताऊँ।

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—आदित्या देवाः। देवता—पितरः। छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री[क], प्राजापत्याबृहती[र]।
स्वरः—षड्जः[क], मध्यमः[र]॥

सुतावान् का लोक

[क]अपे॒तो य॑न्तु प॒णयो॒ऽसु॑म्ना देवपी॒यव॑ः। अ॒स्य लो॒कः सु॒ताव॑तः।

[र]द्यु॒भि॒रहो॑भिर॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्वव॒सान॑मस्मै॥१॥

१. **इतः**=यहाँ से **पणयः**=केवल व्यवहार व व्यापार का ध्यान करनेवाले वणिक् वृत्ति के लोग, जिनका धन ही सब-कुछ है, वे **अपयन्तु**=दूर हों। ये लोग **असुम्ना**=(सुम्न=Hymn) प्रभु के स्तवन से रहित होते हैं, (सुम्न=Sacrifice) इनके जीवन में त्याग की वृत्ति नहीं होती। परिणामतः ये **देवपीयवः**=दिव्य गुणों की हिंसा करनेवाले होते हैं। देवत्व का मूल 'देवो दानात्' दान है, दान से पृथक् होकर ये देवत्व की समाप्ति कर डालते हैं। परिणामतः सब आनन्द व सुरक्षा (सुम्न=Joy, protection) की समाप्ति हो जाती है। यह लोक अयज्ञिय पुरुष के लिए नहीं है यह **लोकः**=लोक तो **अस्य सुतावतः**=इस यज्ञशील पुरुष का है, (सुतः=यज्ञ) उस पुरुष का है जो वणिक् वृत्ति का नहीं बनता, जो **'असुम्ना'**=प्रभु-स्तवन से दूर नहीं हो जाता, त्याग की वृत्ति को नष्ट नहीं कर देता, **देवपीयु**=दिव्यगुणों की समाप्ति कर देनेवाला नहीं हो जाता। जब लोग 'परिग्रह को छोड़कर प्रभुप्रवण, त्यागशील बनकर देवत्व की वृद्धि करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँगे तभी यह लोक उनके लिए समृद्ध हो पाएगा। २. **अस्मै**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए **यमः**=वे सर्वनियन्ता प्रभु **अवसानम्**=(Residence=जगह, अवकाश) घर को **ददातु**=दें। जो घर **द्युभिः**=प्रकाशमय **अहोभिः**=दिनों तथा **अक्तुभिः**=रात्रियों से **व्यक्तम्**=विशेषरूप से कान्तिमय हो। जिस घर में दिन शास्त्रों के स्वध्याय से प्रारम्भ होने के कारण प्रकाशमय हो तथा रात्रि भी इतिहास व महापुरुषों के जीवन-चरित्रों के श्रवण से ज्योतिर्मय हो, अर्थात् प्रातः शास्त्रीय अध्ययन और सायं इतिहास-श्रवण इस घर की शोभा को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—जो व्यक्ति (क) पणिवृत्ति से दूर रहते हैं, (ख) प्रभु-स्तवन को अपनाते हैं, (ग) देवत्व की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील होते हैं, (घ) जो दिन व रात्रि को स्वाध्याय से ज्योतिर्मय बनाये रखते हैं, ये लोग उत्तमताओं का निरन्तर आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते है और देवत्व की वृद्धि करने से 'देव' होते हैं। ये 'आदित्या देवाः' ही इन मन्त्रों के (१ से ६ तक) ऋषि हैं। 'इनके घर कैसे हों।' इस विषय को अगले मन्त्र में देखिए—

ऋषिः—आदित्या देवाः। देवता—सविता। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सूर्य-किरणें

स॒वि॒ता ते॒ शरी॑रेभ्यः पृथि॒व्यां लो॒कमि॑च्छतु। तस्मै॑ युज्यन्तामु॒स्रिया॑ः॥२॥

'घर में सब लोग स्वस्थ हों, घर का विकास (प्रसव व उत्पत्ति) हो तथा ऐश्वर्य की कमी न हो' इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि घर में सूर्यकिरणों का सम्पर्क

अविच्छिन्न हो। सूर्य का नाम सविता है, यह 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' सब प्रसव (Growth) व ऐश्वर्य का करनेवाला है। मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=यह सूर्य **ते**=तेरे **शरीरेभ्यः**=शरीरों के लिए **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **लोकम्**=आलोक=प्रकाश को **इच्छतु**=चाहे। **तस्मै**=उस तेरे लिए **उस्त्रियाः**=सूर्यकिरणें **युज्यन्ताम्**=युक्त हों, सदा उपयोग की वस्तु बनें (युज्=use) जिस घर में सूर्यकिरणों का प्रवेश ठीक प्रकार से होता है उस घर में रोग नहीं घुस पाते, इसलिए हमारे घर ऐसे ही बनने चाहिए जिनमें सूर्यकिरणें सदा आ सकें।

भावार्थ—'घरों में रोगों का प्रवेश न हो', इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें सूर्य की किरणों का प्रवेश अव्याहतरूप से हो।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

वायु, सूर्य, अग्नि व गौवें

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा। वि मुच्यन्तामुस्त्रियाः॥३॥

१. स्वस्थ गृहों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **वायुः पुनातु**=वायु पवित्र करे **सविता पुनातु**=सूर्य पवित्र करे। 'वायु घरों को पवित्र करे' का अभिप्राय स्पष्ट है कि घरों में शुद्ध वायु का प्रवेश होता रहे। इसी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक लोग गृहनिर्माणकला में वायु के आर-पार 'Cross ventilation' आ-जा सकने को महत्त्व देते हैं। **अग्नेः भ्राजसा**=अग्नि की दीप्ति से वायु हमारे घरों को पवित्र करे। घर में जब अग्निहोत्र आदि में अग्नि प्रज्वलित की जाती है तब वहाँ की वायु उष्ण होकर फैलती है और ऊपर उठती है, उसका स्थान लेने के लिए बाहर से वायु आती है और इस प्रकार वायु का प्रवाह चल पड़ता है। इस वायु में अम्लजन की मात्रा अधिक होने से यह घर स्वास्थ्यप्रद बना रहता है। अग्नि की दीप्ति रोगकृमियों के संहार में उपयोगी होती है। विशेषतया तब जब हव्य पदार्थों में उत्तमोत्तम औषध द्रव्यों का समावेश हो। उस समय तो **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=अग्नि में डाले गये इन हव्य पदार्थों से ज्ञात-अज्ञात सभी रोग दूर हो जाते हैं। २. **सूर्यस्य वर्चसा**= प्राणशक्ति के साथ **उस्त्रियाः**=सूर्यकिरणें **विमुच्यन्ताम्**=विशेषरूप से इन घरों में पड़ें (pour forth=विमुच्)। सूर्यकिरणों के द्वारा प्राणशक्ति का सञ्चार होता है। वनस्पतियों में भी जीवनीशक्ति के तत्त्व सूर्य-किरणों से ही रक्खे जाते हैं। सम्पूर्ण प्राणशक्ति का स्रोत ये सूर्य-किरणें ही हैं। ३. **उस्त्रिया**=शब्द का अर्थ 'गौ' भी है। सूर्य की प्राणशक्ति के उद्देश्य से (सूर्यस्य वर्चसा) ये **उस्त्रियाः**=गौवें **विमुच्यन्ताम्**=बाहर खुले में घूमने के लिए छोड़ी जाएँ। वस्तुतः उन गौवों के दूध में ही प्राणदायी तत्त्व अधिक होता है, जो गौवें खुले में सूर्य-किरणों के सम्पर्क में दिनभर रहती हैं। इन गौवों का दूध घर के लोगों को स्वास्थ्य देनेवाला होगा।

भावार्थ—हमारे घरों में वायु का प्रवाह ठीक बहे, सूर्य-किरणें हमारे घर के वातावरण को प्राणतत्त्व से परिपूर्ण करनेवाली हों, हमारे घर की गौवें प्रतिदिन सूर्य-किरणों के सम्पर्क के हेतु खूँटे से खोलकर बाहर भ्रमण के लिए भेजी जाएँ।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽइत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥४॥

दूसरे व तीसरे मन्त्र में वर्णित स्वास्थ्यप्रद घरों में निवास करते हुए हम संसार की वास्तविकता को कभी भूल न जाएँ। यह नश्वर है, परन्तु जब हम नश्वरता को भूल जाते हैं तब प्रायः हमारा जीवन विषयासक्त होकर पतन की ओर चला जाता है, अतः प्रभु कहते हैं कि १. **वः**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना, रहना **अश्वत्थे**=(न श्वः तिष्ठति) कल ही न रहनेवाले, अर्थात् नश्वर संसार में है। इस संसार में तुम्हें सदा नहीं रहना। इस नश्वरता को तुम न भूलोगे तो इस शरीर में भी तुम्हें बहुत आसक्ति न होगी। इसकी रक्षा के लिए तुम औरों का घात-पात न करोगे। २. मैंने **वः**=तुम्हारा **वसतिः**=निवास **पर्णे कृता**=इन पत्तों पर किया है। तुम्हें इन वनस्पतियों का ही प्रयोग करना है, मांस का नहीं। ३. तुम जिह्वा के स्वादों में न पड़कर **किल**=निश्चय से **गोभाजः इत्**=वेदवाणियों के सेवन करनेवाले ही **असथ**=होओ। तुम्हारा जीवन भोगप्रधान न बनकर ज्ञानप्रधान बने। ४. **यत्**=जिससे तुम **पूरुषम्**=उस संसार-नगरी में शयन करनेवाले पुरुष-प्रभु को **सनवथ**=प्राप्त करो। 'प्रभु को प्राप्त करना' ही मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है कि हमारी बुद्धि शुद्ध व सात्त्विक बने। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए भोजन का सात्त्विक होना आवश्यक है, अतः मांसरूप राजस् व तामस् भोजन को तो छोड़ना ही होगा। हम इस भोजन के स्वाद से ऊपर उठने के लिए संसार की नश्वरता व शरीर के अस्थायित्व को भूल न जाएँ। ये न भूलनेवाले ही ठीक मार्ग पर चलते हुए, अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाले 'आदित्य व देव' बन पाते हैं।

भावार्थ—संसार नश्वर है, मांस खाना हमें जीवन व स्वाद में आसक्त करता है, अतः इसे छोड़कर वेदवाणियों का सेवन करें और प्रभु को प्राप्त करें।

सूचना—गीता के 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इन शब्दों के अनुसार संसारवृक्ष के पर्ण=पत्ते छन्द=वेदमन्त्र है। उन्हीं में प्रभु ने हमारा निवास निश्चय किया है, अर्थात् हमें जीवन का खाली समय उन्हीं के अध्ययन के लिए अर्पित करना चाहिए और उनके अनुसार ही जीवन बिताना चाहिए।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

माता की गोद में

सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ ऽआ वपतु। तस्मै पृथिवि शं भव॥५॥

जब हम पिछले मन्त्र के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं तब हमारा जीवन बड़ा सुन्दर व शान्त बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=सूर्य **ते**=तेरे **शरीराणि**='स्थूल, सूक्ष्म व कारण' सभी शरीरों को **मातुः**=इस पृथिवी माता की (भूमिमाता पुत्रोऽहं पृथिव्याः'=भूमि माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ—अथर्व०) **उपस्थे**=गोद में **आवपतु**=ठीक ढंग से स्थापित करे (Fit in, instill=वप्) और हे **पृथिवि**=मातृस्थानापन्न भूमे! **तस्मै**=उस सूर्य द्वारा तुझमें स्थापति पुरुष के लिए तू **शम् भव**=शान्ति देनेवाली हो। सूर्य के द्वारा रोगकृमियों का संहार होकर स्थूलशरीर नीरोग बनता है। स्वास्थ्य के ठीक होने पर मन की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, मन की प्रसन्नता से मस्तिष्क ठीक काम करता है। इस प्रकार यह सूर्य सूक्ष्मशरीर का स्वास्थ्य देता है। आनन्दमयता की उत्पत्ति से कारणशरीर तो ठीक हो ही जाता है, स्थूल व सूक्ष्मशरीर भी अधिक स्वस्थ हो जाते हैं और उस समय हमें सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्क से हमारे सब शरीर प्रफुल्लित हों और हमें शान्ति

प्राप्त हो।

ऋषिः—आदित्या देवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

रहने योग्य लोक

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम् ॥६॥

पिछले मन्त्र में 'शान्त जीवन' का संकेत किया है। जीवन में अशान्ति के तीन बड़े-बड़े कारण हैं १. राष्ट्र में अराजकता हो, मात्स्य-न्याय चल रहा हो, 'शक्ति ही अधिकार है' Might is right इस सिद्धान्त को लेकर बलवान् निर्बल को ग्रस रहे हों। २. जहाँ हम रहते हैं उसके आस-पास आसुरवृत्ति के लोगों का निवास हो, परस्पर झगड़नेवाले लोग वहाँ रहते हों, उनका शोर सारे वातावरण को क्षुब्ध किये रक्खे। ३. तीसरी बात यह कि आस-पास पानी सुलभ न हो। अन्न तो कई दिनों के लिए संग्रह करके भी रक्खा जा सकता है, परन्तु पानी के लिए ऐसी बात नहीं है और पानी की आवश्यकता पग-पग पर बनी रहती है, यह जन्म से लय तक उपयुक्त होने से ही 'जल' कहलाया है। अशान्ति के इन तीन कारणों को दूर करना आवश्यक है, अतः मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **लोके**=उस लोक में **निदधामि**=रखता हूँ जो ४. (क) **प्रजापतौ**=प्रजापतिवाला है, अर्थात् जिसमें प्रजा का रक्षक राजा विद्यमान है। राजा है और वह प्रजा का रक्षक है, अतः इस लोक में किसी प्रकार की अराजकता का भय नहीं। (ख) **देवतायाम्**=जो देवताओंवाला है। जिस लोक में देववृत्ति के लोग रहते हैं। ये किसी के साथ शुष्क वैर-विवाद नहीं करते, परस्पर मिलकर चलते हैं, अतः इनका प्रेम सारे वातावरण को बड़ा स्निग्ध बना देता है। (ग) **उपोदके**=जो समीप पानीवाला है। यह नदी के किनारे स्थित है, अतः पानी के अकाल का यहाँ भय नहीं है। वर्षा भी यहाँ न होती हो वह बात भी नहीं। कुओं का पानी भी बहुत गहरा न होकर समीप ही है (उप+उदक), एवं, प्रभु ने रहने योग्य लोक का तीन शब्दों में उल्लेख किया है ऐसे ही लोक की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हुए मन्त्र के ऋषि 'आदित्यदेव' प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **असौ**=(लोकः) वह लोक **नः**=हमारे **अघम्**=पापों व शोकों (Sins and griefs), को, दौर्भाग्यों (Mishap) को, अपवित्रताओं (Impurity), वासनाओं व पीड़ाओं (pains) को **अप**=दूर ले-जाकर **शोशुचत्**=(शुच=to burn, consume) अच्छी प्रकार जला दे, भस्म कर दे और इस प्रकार हमारे जीवनों को धार्मिक, प्रसादपूर्ण, सौभाग्यशाली, पवित्र, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ और कल्याणमय बना दे।

भावार्थ—'आदित्यदेव' प्रजापतिवाले, देवताओं के पड़ौसवाले, समीप जलवाले लोक में निवास करते हैं और इस लोक में रहते हुए पापों व पीड़ा से परे हो जाते हैं।

ऋषिः—सङ्कुसुकः। देवता—यमः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मृत्यु का (पर पन्थाः) उत्कृष्ट मार्ग

परं मृत्यो॒ऽअनु॒ परे॑हि॒ पन्थां॒ यस्ते॒ऽअ॒न्यऽइत॑रो देव॒याना॑त्।

चक्षु॑ष्मते शृण्व॒ते ते॑ ब्रवीमि॒ मा नः॑ प्र॒जाᳬरी॑रिषो॒ मोत वी॒रान्॥७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **मृत्यो**=यम-अपने जीवन को नियन्त्रित करनेवाले जीव! अथवा पुराने ढर्रे को छोड़कर जीवन को नवमार्ग पर ले-चलनेवाले (to turn a new leaf) जीव! बुराइयों को समाप्त करके अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले मृत्यो! तू **परम् पन्थाम्**

अनु=उत्कृष्ट मार्ग को लक्ष्य करके **परा इहि**=इन विषय-वासनाओं से परे होकर चल। 'कौन-से उत्कृष्ट मार्ग का लक्ष्य करके?' **यः**=जो **ते**=तेरा **इतरः देवयानात्**=देवयान से भिन्न मार्ग से **अन्यः**=भिन्न है। 'देवयान से भिन्न मार्ग से भिन्न है', अर्थात् जो तेरा देवयान मार्ग है। 'द्वौ नञे प्रकृतार्थं गमयतः'=दो 'न' मिलकर मूल अर्थ को ही बतलाते हैं। जीवात्मा को चाहिए कि वह अपने देवयानमार्ग का ध्यान करके सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसने से बचे। जीव का वास्तविक मार्ग तो देवयान है, जब भटकता है तब अन्य मार्गों पर चला जाता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश यह है कि हे मृत्यो! संयमी जीव! **चक्षुष्मते**=आँखोंवाले **शृण्वते**=कानों से सुननेवाले **ते**=तेरे लिए **ब्रवीमि**=मैं यह कहता हूँ कि **नः प्रजाम्**=हमारी सन्तान को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कर **उत**=और **वीरान्**=हमारी वीर सन्तान को **मा**=मत **रीरिषः**=हिंसित करना। जब मनुष्य देवयानमार्ग को छोड़कर भोगमार्ग की ओर चलता है तब असंयम व अब्रह्मचर्य के कारण उसकी सन्तानें दीर्घजीवी नहीं होती, जीती भी हैं तो दुर्बल रहती हैं। भोगमार्ग पर चलनेवाला अपनी ही शक्तियों को क्षीण नहीं करता, वह आनेवाली सन्तान की भी हानि करनेवाला होता है और एक विचारशील पुरुष कभी भी उस मार्ग का आक्रमण न करेगा जो न उसके अपने हित में है और न ही आगे आनेवाली पीढ़ियों के। ३. मनुष्य को यह भी भ्रम न होना चाहिए कि सन्तान उसी के तो हैं। प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं कि ये सब आनेवाले व्यक्ति प्रभु के पुत्र हैं, मनुष्य तो उन्हें जन्म देने का माध्यम मात्र है। मनुष्य क्षणिक भोगवृत्ति के कारण अपना ही नहीं आनेवाली सन्तान की भी कितनी हानि करता है। प्रभु कहते हैं कि तू तो 'चक्षुष्मान्' है, क्या इतना भी तुझे नहीं दिखता कि यह भोगवृत्ति कितनी हेय है? तू तो शृण्वन् है, तुझे क्या मेरी बात सुनाई नहीं पड़ती, इसीलिए तू निश्चय कर कि 'देवयान से इतर मार्ग पर नहीं चलना'। तभी तू दीर्घजीवी, अदुर्बलेन्द्रिय सन्तान को जन्म देनेवाला होगा। ४. इस प्रकार देवयानमार्ग से चलनेवाला यह व्यक्ति उत्तम गतिवाला होने से 'संकसुक' है। (कस् to go, to move सम्=सम्यक्)। इस उत्तम मार्ग से चलता हुआ यह उस प्रभु तक पहुँचता है। (कस् to approach)। यदि वह शब्द 'संकुसुक' हो तो अर्थ होगा 'यह प्रभु का आलिंगन करनेवाला बनता है' (कुस to embrace)।

भावार्थ—हम जीवन के मार्ग को उत्तम करें, देवयान मार्ग से चलें। सन्तानों को प्रभु की सन्तानें समझते हुए उत्तम बनाने का प्रयत्न करें। हमारे असंयम से वे नष्ट न हों।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

आधिदैविक शान्ति

शं वातः शꣳहि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन्॥८॥

गतमन्त्र के अनुसार जब मनुष्य देवयानमार्ग पर चलता है तब उसे किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति प्राप्त नहीं होती। उसके लिए सब प्राकृतिक देव अनुकूल होते हैं। इस विषय को आठवें व नौवें मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **वातः शम्**=वायु तेरे लिए शान्ति देनेवाली हो। २. **घृणिः**=(घृ=दीप्ति, A ray of light, sunshine, the sun) सूर्यकिरणें, धूप तथा स्वयं सूर्य **ते**=तेरे लिए **हि**=निश्चयपूर्वक **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। ३. **घृणिः**=(A wave, water) जलतरंगें तथा जल तेरे लिए शान्तिदायक हो। ४. **इष्टकाः**=यज्ञवेदी में चयन की गई ईंटें अथवा दिन तथा रात्रि (अहोरात्राणि वा इष्टकाः —श० ९।१।२।१९) **ते**=

तेरे लिए **शं भवन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। ५. **ते**=तेरे लिए **पार्थिवासः अग्नयः**=ये पृथिवीलोक की अग्नियाँ **शम् भवन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। यहाँ 'अग्नयः' यह बहुवचन पृथिवी के ग्यारह देवों का ध्यान करके रखा गया है। अग्नि इनका मुखिया है, अतः सभी को 'अग्नि' कह दिया है। ६. ये सबके सब **त्वा**=तुझे **मा**=मत **अभिशूशुचन्**=शोकयुक्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सातवें मन्त्र के अनुसार मन को मार लेने-(पूर्णरूप से काबू कर लेने)-वाले मृत्यु बनेंगे और देवयानमार्ग को अपनाएँगे तो सब देव हमारे लिए शान्तिकर होंगे।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

दिशाओं की सामर्थ्यप्रदता

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षःशिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥९॥

१. **ते**=तेरे लिए **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों (कृपू सामर्थ्ये) २. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **आपः**=जल **शिवतमाः**=अत्यन्त कल्याणकर हों। ३. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सिन्धवः**=नदियाँ व समुद्र **शिवतमाः भवन्तु**=कल्याणकर हों। ४. **अन्तरिक्षम्**=द्यावापृथिवी का मध्यवर्ती सम्पूर्ण लोक **तुभ्यम्**=तेरे लिए **शिवम्**=कल्याणकर हो। ५. और अन्त में **ते**=तेरे लिए **सर्वाः दिशः**=ईशानादि सब विदिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों। इस प्रकार देवयानमार्ग पर चलनेवाले देवत्व का आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते हैं। ये धीमे-धीमे 'देव' ही बन जाते हैं। अथवा देवमाता 'अदिति' है, इसके पुत्र बनने से ये 'आदित्यदेव' कहलाने लगते हैं। इनके लिए सब दिशा-विदिशाएँ, जल, समुद्र और अन्तरिक्ष शान्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम धर्माचरण करेंगे तो आधिदैविक आपत्तियों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्मन्वती नदी का सन्तरण

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥१०॥

१. यह संसार एक नदी के समान है, जिसमें नानाविध प्रलोभन नुकीले पत्थरों के समान है। यह **अश्मन्वती**=प्रलोभनमय पाषाणोंवाली संसार-नदी **रीयते**=तीव्र गति से चल रही है। इसको हमें पार करना है, इस संसार-नदी में डूबना नहीं है। प्रभु कहते हैं कि २. **संरभध्वम्**=सम्यक् क्रिया को प्रारम्भ करो। आलसियों की भाँति पड़े न रहो। ३. **उत्तिष्ठत**=उठ खड़े होओ। आलस्य से ऊपर उठकर प्रयत्न करो और ५. **सखायः**=सबके साथ मित्रता के भाव से वर्त्तते हुए **प्रतरत**=इस नदी को तैर जाओ। अकेले व्यक्ति के लिए इस नदी को तैरना कठिन है। कदम-कदम पर विषयों के नुकीले पत्थर शरीर को छलनी कर देनेवाले हैं, ज़रा फिसले कि गये। २. इस नदी को तैर जाने के लिए आवश्यक है कि **अत्र**=यहाँ ही **जहीमः**=हम उन वस्तुओं को छोड़ देते हैं **ये**=जो **अशिवाः**=अमङ्गलकारी **असन्**=हैं। बोझ को लादे तैरना सम्भव नहीं होता। बोझ उन्हीं वस्तुओं का हुआ करता है जो हमारी अङ्गभूत नहीं हैं। जो भी वस्तुएँ हमारा अङ्ग बन जाती हैं उनका भार नहीं हुआ करता। इस सिद्धान्त के अनुसार 'ज्ञान, मानस पवित्रता व प्राणशक्ति' हमारे अङ्गभूत होने से उपादेय हैं और बाह्य सम्पत्ति बाह्य होने से भारभूत है। उसका संग्रह तैरने में विघातक

होता है। उसका बोझ उतारना ही ठीक है, अतः **वयम्**=हम **शिवान्**=कल्याणकर **वजान्**=वाजों को, शक्तियों तथा धनों को **उत्तरेम**=इस नदी को तैर कर प्राप्त होंगे। अशिव को छोड़ेंगे तो शिव को प्राप्त करेंगे ही। इस किनारे को छोड़कर उस किनारे को छूनेवाला यह **'सुचीक'**=उत्तम स्पर्श करनेवाला कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम उत्तम कार्यों को प्रारम्भ करें, आलस्य छोड़ उठ खड़े हों, मित्रता की भावना को अपनाकर इस अश्मन्वती नदी को तैर जाएँ। अशिव को छोड़ शिव को प्राप्त करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अपामार्ग

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः। अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यं सुव॥११॥

१. (अप=away, दूर तथा मार्ग (मृजू शुद्धौ) शोधन करनेवाला) **अपामार्ग**=हमसे पापों को दूर करके हमें शुद्ध करनेवाले हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अघम्**=हिंसादि पापों को **अस्मत्**=हमसे **अपसुव**=दूर कीजिए। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं तब सभी प्राणियों के प्रभु-सन्तान होने की कल्पना से विश्वबन्धुत्व की भावना जागती है और हम हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठते हैं। ३. हे प्रभो! **किल्बिषम्**=उस मन की मलिनता को जो हमें विषय-वासनाओं में ही क्रीड़ा कराती रहती है **अप** =हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से मन से वासना भाग ही जाती है और मन विषयप्रवण नहीं रहता। ३. **कृत्याम्**=औरों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से जो जादू-टोना आदि दुष्ट क्रियाएँ हैं, उन्हें **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-भावन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, अतः हृदय में ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहते और उनकी परिणामभूत कृत्याएँ भी समाप्त हो जाती हैं। ४. **उ**=और **रपः**=जो भाषण-सम्बन्धी दोष हैं, उन कटु भाषणादि को **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से भ्रातृभाव का उदय होता है, कटुभाषण का प्रसङ्ग ही नहीं रहता। ५. हे अपामार्ग प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों की कारणभूत सब बुराइयों को **अपसुव**=दूर कीजिए। सब पापों को दूर करके जीवन में सुख का निर्माण करनेवाला **शुनःशेप**=(शुनम्=सुखम्, शेप=to make) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह 'अपामार्ग' ओषधि के प्रयोग को समझकर जिस प्रकार शरीर को नीरोग बनाता है, उसी प्रकार उस **अपामार्ग**=प्रभु के स्मरण से यह अपने मन को निर्दोष बनाता है।

भावार्थ—प्रभु अपामार्ग हैं, वे हमारे अघों, किल्बिषों, कृत्याओं और रपस् को हमसे दूर करते हैं। संक्षेप में बुरे स्वप्नों की कारणभूत सब बातों को वे प्रभु हमसे दूर करते हैं।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सुमित्रिय आप् और ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१२॥

छठे मन्त्र में उत्कृष्ट मार्ग पर चलने का उल्लेख था और परिणामतः आधिदैविक कष्टों के न होने का वर्णन आठवें व नववें मन्त्र में था। ग्यारहवें मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख करके इस बारहवें मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=हमारे लिए, जिन हम लोगों ने 'अघ, किल्बिष, कृत्या व रपस्' को दूर करने का निश्चय किया है, **आपः**=जल और

ओषधयः=ओषधियाँ **सुमित्रयाः सन्तु**=उत्तम स्नेह करनेवाली हों (ञिमिदा स्नेहने), अर्थात् हमारे लिए हितकारी हों। ये जल व ओषधियाँ हमारे रोगों को दूर करके मृत्यु से बचानेवाली हों (प्रमीतेः त्रायते) **तस्मै**=उस व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः सन्तु**=दुर्मित्रिय हों **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **यं च**=और परिणामतः जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति के योग्य नहीं समझते। यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो सारे समाज से सदा वैर-विरोध करता रहता है, समझाने से भी समझता नहीं तो वह फिर अवाञ्छनीय हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर न हों। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह बात है भी ठीक। जो व्यक्ति सदा ईर्ष्या-द्वेष व लड़ाई-झगड़े में चलता है उसकी इस मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो इन जलों व ओषधियों का परिणाम हितकर नहीं होने देते।

जो व्यक्ति सब स्थानों से अच्छाई को ही लेने का अभ्यास करते हैं और इस प्रकार देववृत्तिवाले होते हैं वे 'आदित्यदेव' ही प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं, इनका मन ईर्ष्या-द्वेषादि से सदा ऊपर रहता है। इस मनःप्रसाद के कारण इनके खान-पान का इनके जीवन में उत्तम प्रभाव होता है। सर्पवृत्ति के कुटिल व औरों का घात-पात करनेवाले लोग दुग्धामृत भी पीएँ तो उसका परिपाक विष के रूप में होता है।

भावार्थ—पापों को दूर करके हम देवों के प्रिय हों, जलौषधि हमारे लिए हितकर हों।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**कृषीवलाः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'वह अनड्वान्'

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳस्वस्तये।

स नऽइन्द्रऽइव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव॥१३॥

दसवें मन्त्र में 'अश्मन्वती नदी' के तैरने का उल्लेख था। उसी सन्तरण के लिए प्रभु से शक्तियोग का निश्चय करते हैं कि **अनड्वाहम्**=इस संसार-शकट (अन=गाड़ी) के वहन (वाह) करनेवाले प्रभु को **आरभामहे**=अपना आधार (to rely on) बनाते हैं, उनपर अपनी जीवन-यात्रा की सफलता के लिए पूर्ण आस्था (to reach or attain to) रखते हैं। उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए (to seize, to grasp) पूर्ण प्रयत्न करते हैं। उस प्रभु को समझने के लिए कोई कमी उठा नहीं रखते। वे प्रभु **सौरभेयम्**=सुरभियों में उत्तम हैं, हमारे जीवन को सुगन्धित कर देते हैं। प्रभु का आश्रय करने पर हमारे जीवन पवित्र हो जाते हैं, उनमें पापमय कर्मों की दुर्गन्ध नहीं रहती। ऐसा हम **स्वस्तये**=उत्तम जीवन की स्थिति के लिए करते हैं (सु+अस्)। वे प्रभु 'वह्नि' हैं, हमारी जीवन-यात्रा को पूरा करनेवाले हैं। हमें लक्ष्यस्थान पर ले-जाते हैं (वह्नि to carry)। हे प्रभो! आप हमारे लिए **सन्तारणः**=इस संसार-नदी को तैरने के साधन **भव**=होओ, **इव**=उसी प्रकार जैसेकि **इन्द्रः**=देवराट् **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए सन्तरण हुआ करता है। इस शरीर में 'इन्द्र' आत्मा है और सब इन्द्रियाँ 'देव' हैं। जब इन्द्र इन देवों पर आक्रमण करनेवाले असुरों का संहार करता है तब देव, अर्थात् इन्द्रियाँ सब मलिनताओं को पार कर जाती हैं। मलिनताओं से ऊपर उठकर देव चमक उठते हैं। इसी प्रकार प्रभु का आश्रय करने पर जीव चमक उठता है। प्रभु का आश्रय करनेवाले ये लोग अच्छाइयों का ग्रहण करने के कारण 'आदित्य' होते हैं, दिव्य गुणोंवाले होने से 'देव' होते हैं। वे देव उस प्रभु को ही **'अनड्वान्'**=संसार-शकट का सञ्चालक समझते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को ही जीवन-सञ्चालक जानें। वे हमारे जीवन को पवित्र बनाएँगे, वे हमें इस संसार-नदी को तैरने के योग्य करेंगे।

ऋषिः—आदित्या देवाः। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

उत्तम ज्योति को प्राप्त करना

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'आदित्यदेव' निश्चय करते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट व सुन्दर, अत्यन्त आकर्षक **तमसः**=पूर्ण अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **उत्तरम्**=प्रकृति के साथ तुलना में अधिक उत्कृष्ट, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है और यह जीवात्मा चेतन है, **स्वः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए **देवत्रा देवम्**=देवों के भी देव, वस्तुतः सब देवों के प्रकाशक **उत्तमम्**=सर्वोत्कृष्ट **ज्योतिः**=प्रकाशरूप उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को (सुवति कर्मणि) **अगन्म**=प्राप्त होते हैं। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रकृति, जीव व परमात्मा का उल्लेख 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द से हुआ है। प्रकृति **उत्**=उत्कृष्ट है। जीव की उन्नति के लिए प्रत्येक साधन उसमें निहित है। ३. हाँ, जीव उससे अधिक उत्कृष्ट है चूँकि प्रकृति जीव के हित के लिए ही है और प्रकृति जहाँ पूर्ण जड़ है वहाँ जीव चेतन है, अतः यह 'उत्तर' है। ४. परमात्मा जीव से भी उत्तम है चूँकि जीव का ज्ञान जहाँ अल्प है प्रभु का ज्ञान पूर्ण है। ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** (योगदर्शन)=जहाँ ज्ञान के तारतम्य की विश्रान्ति होती है वही तो प्रभु हैं। ये देवों के भी देव हैं, सूर्यादि के भी ये ही प्रकाशक हैं। वे गुरुओं के भी गुरु हैं **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**। ये प्रभु सारे संसार के सञ्चालक तो हैं ही, हृदयस्थरूपेण जीवों को भी ये कर्म की प्रेरणा दे रहे हैं, अतः सूर्य हैं।

भावार्थ—हम 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्दों से व्यक्त होनेवाले प्रकृति, जीव व परमात्मा के रूप को समझें।

ऋषिः—सङ्कसुकः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रेरणा-पञ्चक—पाँच प्रेरणाएँ

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥१५॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि हम उत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त करते हैं, जो प्रभु 'सूर्य' हैं, हमें कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रेरणा का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। १. **जीवेभ्यः**=जीवों के लिए **इमम् परिधिम्**=इस परिधि को, मर्यादा को **दधामि**=धारण करता हूँ। जीव को सर्वप्रथम तो यह चाहिए कि वह मर्यादा में चले। उसका प्रत्येक कार्य सीमा में हो। २. दूसरी प्रेरणा प्रभु की यह है कि **एषाम्**=इन जीवों के **एतम् अर्थम्**=इस धन को, उपार्जित सम्पत्ति को **अपरः**=दूसरा व्यक्ति **मा नु गात्**=निश्चय से न प्राप्त करे, अर्थात् सब कोई अपने पुरुषार्थ से ही धनार्जन का विचार करे। ३. प्रेरणा का तीसरा अंश यह है कि जीव **शरदः शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **जीवन्तु**=जीएँ। सौ वर्ष तक जीने को भी वह अपना धर्म समझें। दीर्घजीवन के दृष्टिकोण से उनका आहर-विहार हो। ४. इस जीवन में प्रजाएँ **पुरूचीः** (पुरु अञ्चु)=पालन व पूरणात्मक गतिवाले होते हुए प्रभु की पूजा करनेवाले हों (पृ पालनपूरणयोः, अञ्चु गतिपूजनयोः) प्रभु-पूजा वस्तुतः यही है

कि हमारे कर्म पालन व पूरण करनेवाले हों, विनाश व ह्रास का कारण न बनें। ५. ये जीव **पर्वतेन** (पर्व पूरणे)=इस पूरण के हेतु से, कमियों को न आने देने की लिए, **अन्तः**=अपने हृदयों में **मृत्युम्**=उस सर्वत्र यन्ता यमरूप प्रभु को **दधताम्**= धारण करें। रुद्ररूप में उस प्रभु का स्मरण हमारे जीवनों में न्यूनताओं को नहीं आने देता। यह 'मृत्यु' का स्मरण हमारी जीवन की गाड़ी को पथभ्रष्ट नहीं होने देता, हम प्रकृति में नहीं फँसते। बस, इस प्रकृति में न फँसने के कारण ही हम उत्तम गतिवाले होते हैं (सम्=उत्तम, कसु गतौ) अन्त में हम प्रभु को प्राप्त करते हैं (कस् to approach), इसीलिए हमारा नाम 'सङ्कसुक' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा इस रूप में है कि १. मर्यादा में चलो, २. पुरुषार्थ से कमाओ, ३. सौ वर्ष अवश्य जीना है, ४. तुम्हारी प्रत्येक क्रिया पालन व पूरणवाली हो, ५. पूरण के दृष्टिकोण से ही प्रभु के 'रुद्र' रूप को हृदयस्थ करना, मृत्यु को नहीं भूलना।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'आदित्यदेवों' की प्रार्थना

अग्न॒ऽआयू॑ᳬषि पवस॒ऽआ सु॒वोर्ज॒मिषं॑ च नः।
आ॒रे बा॑धस्व दु॒च्छुना॑म्॥१६॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था कि 'अपनी उत्तमता व दिव्यता के पूरण के हेतु से रुद्र प्रभु को हृदयों में धारण करो।' वे हृदयस्थ प्रभु सुननेवाले को जो प्रेरणा देते हैं उसका वर्णन गत मन्त्र में विस्तार से है। प्रस्तुत मन्त्र में दिव्यता का आदाता 'आदित्यदेव' जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब बुराइयों को भस्म करनेवाले अग्निदेव! आप ही हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र बनाते हैं। काम-क्रोधादि आसुर वृत्तियों से युद्ध में जीतने का सामर्थ्य हममें नहीं है। यह तो आपकी शक्ति से ही होगा। २. **नः**=हमें **इषम्**=प्रेरणा को **ऊर्जम् च**=और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए प्राणशक्ति को **आसुव**=प्राप्त कराइए। जीवनों को पवित्र करने के लिए यही मार्ग है कि हम प्रेरणा को सुनें और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने की शक्ति हममें हो। ३. हे प्रभो! **दुच्छुनाम्** (शुन गतौ)=सब दुर्गमनों, दुरितों को **आरे**=हमसे दूर **बाधस्व**=रोक दीजिए। हे प्रभो! यह सब आपने ही करना है, हमारी शक्ति से यह साध्य नहीं।

भावार्थ—हमारे जीवन पवित्र हों, हमें प्रेरणा व शक्ति प्राप्त हो, दुरित हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुन्दर प्रेरणाएँ

आयु॑ष्मानग्ने ह॒विषा॑ वृधा॒नो घृ॒तप्र॑तीको घृ॒तयो॑निरेधि।
घृ॒तं पी॒त्वा मधु॒ चारु॒ गव्यं॑ पि॒तेव॑ पु॒त्रम॒भि र॑क्षतादि॒मान्त्स्वाहा॑॥१७॥

गतमन्त्र में अच्छाई का आदान करने की वृत्तिवाले 'आदित्यदेव' ने प्रभु से कहा था कि 'मुझसे दुरित को दूर रोक दीजिए'। इन शब्दों में वस्तुतः उसने यही निश्चय किया था कि मैं इन सब बुराइयों का विशेषरूप से समूल उत्खात (जड़ से उखाड़ देनेवाला) कर देनेवाला बनूँगा। इसी से उसका नाम '**वैखानस**'='विशिष्ट खनन करनेवाला' हो गया है, यही मन्त्र का ऋषि है। इससे प्रभु कहते हैं कि १. हे **अग्ने!**=बुराइयों को भस्म करनेवाले जीव! **आयुष्मान्**=तू उत्तम जीवनवाला बन, उत्तम जीवन वही है जो मलों से रहित है।

शरीर के मल 'रोग' हैं, मन के मल 'राग-द्वेष' हैं, बुद्धि का मल 'कुण्ठा' (dullness) है, अतः तू रोगों, द्वेषों व कुण्ठा से दूर होकर अपने जीवन की उत्तमता को सिद्ध कर। २. **हविषा**=(हु दान+अदन) दानपूर्वक अदन करता हुआ तू **वृधानः**=वृद्धि के स्वभाववाला बन। दानपूर्वक अदन ही हवन व यज्ञ है। यही तेरे फूलने-फलने का मौलिक रहस्य है। ३. **घृतप्रतीकः**=ज्ञान की दीप्ति से दीप्त मुखवाला तू हो। (घृ दीप्तौ) तेरे चेहरे पर अन्तःस्थ ब्रह्मज्ञान की आभा दिखे, तू ब्रह्मवर्चस्वी लगे। ४. **घृतयोनिः**=(घृ क्षरण) मलों के उत्तम क्षरणवाले घर-(योनि)-वाला **एधि**=तू हो। तेरे इस शरीररूप गृह में मलों का सञ्चय न हो जाए। मलों का क्षरण इसमें से ठीकरूप में होता रहे। ५. 'घृतप्रतीक' व 'घृतयोनि'=ज्ञानदीप्त मुखवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनने के लिए तू **मधु**=अत्यन्त मधुर व ओषधियों के सारभूतम् **चारु**=सुन्दर **गव्यम् घृतम्**=गोदुग्ध से आज ही निकाले गये घृत को **पीत्वा**=पीकर **इमान्**=इन दिव्य गुणों को (आयुष्मत्ता, यज्ञ द्वारा वृद्धि, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक स्वास्थ्य को) **अभिरक्षतात्**=अपने में उसी प्रकार सुरक्षित करनेवाला बन **इव**=जैसे **पिता**=पिता **पुत्रम्**=पुत्र को। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, तू इन दिव्य गुणों की अपने में रक्षा कर।

भावार्थ—मलों को भस्म करके हम उत्तम जीवनवाले बनें, यज्ञ के द्वारा वृद्धि करके ज्ञान दीप्त हों, शरीर स्वस्थ हो। गोघृत का प्रयोग करनेवाला तू बन। दिव्य गुणों की अपने में तू रक्षा कर।

ऋषिः—**भरद्वाजः शिरिम्बिठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अधर्षण—अजेयता

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत। देवेष्वक्रत श्रवः कऽइमाँ२॥ऽआ दधर्षति॥१८॥

पिछले मन्त्र का वैखानस=काम-क्रोधादि को उखाड़कर शक्तिशाली बना है, अतः 'भरद्वाज' है। इसका (हृदयान्तरिक्ष) शिरि=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला हुआ है, अतः यह 'शिरिम्बिठ भरद्वाज' नामवाला ऋषि है। १. **इमे**=ये ऋषि वे हैं जिन्होंने कि **गाम्**=वेदवाणी का **परि अनेषत**=परिणय किया है, वेदवाणी के साथ विवाह किया है। २. **अग्निम्**=अग्नि को **परि अहृषत**=सब ओर से धारण किया है (हृ=to have, to possess), अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि को इन्होंने अपने घर में बुझने नहीं दिया है। इन्होंने ज्ञान की वाणियों के सतत अध्ययन से जहाँ अपने मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण किया, वहाँ इनके हाथ सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों में लगे रहे हैं ३. इस प्रकार इन्होंने **देवेषु**=देवों में **श्रवः**=यश को **अक्रत**=सम्पादित किया है, अर्थात् इनके हृदय दिव्य गुणों से परिपूर्ण हुए हैं। **इमान्**=इनको **कः**=कौन **आदधर्षति**=धर्षित कर सकता है (धृष्=Dare to attack, challenge, defy)। इन व्यक्तियों को कोई वासना आक्रान्त नहीं कर पाती। दूसरे शब्दों में, वासनाओं से अपराजित होने का प्रकार यही है कि (क) मनुष्य अपने मस्तिष्क को सतत अध्ययन में व्याप्त रक्खे। (ख) उसके हाथ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगे रहें और (ग) वह अपने हृदय को सदा दिव्य गुणों से परिपूर्ण करने के लिए यत्नशील हो। वस्तुतः इन्हीं के कारण उसका चारों ओर यश हो। इन लोगों के 'ज्ञान' ने काम पर विजय पाई है, 'यज्ञ' ने लोभ पर (यज्ञ=दान), तथा 'दिव्यता' ने क्रोध पर। काम की चिता पर ज्ञान इनके जीवन में दीप्त हुआ है, लोभ की चिता पर यज्ञों का मन्दिर बना है, और क्रोध को भस्म कर ये दिव्य बने हैं।

भावार्थ—हम अध्ययन-व्यापृत, यज्ञशील व दिव्यता के धारण से यशस्वी बनकर वासनाओं से अपराजित बन जाएँ।

ऋषिः—**दमनः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार बातें

क्र॒व्याद॑म॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॒मरा॑ज्यं गच्छतु रिप्रवा॒हः।
इ॒हैवायमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन्॥१९॥

१. **क्रव्यादम्**=कच्चे मांस (क्रव्य) को खानेवाले (अद) **अग्निम्**=अग्नि को **दूरम्**=दूर **प्रहिणोमि**=भेजता हूँ, अर्थात् हमारे घरों में कोई भी अपरिपक्व अवस्थावाला व्यक्ति मृत्यु का ग्रास नहीं होता। 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'='सस्य की भाँति मनुष्य परिपक्व होता है' ये उपनिषद् के शब्द परिपक्व की भावना को व्यक्त कर रहे हैं। 'इसके बाल पक गये हैं' यह हिन्दी का प्रयोग भी पकने का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं, अर्थात् हमारे घरों में पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व कोई भी व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। 'जरदष्टिं त्वा कृणोभि'=प्रभु ने मनुष्य को पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेवाला बनाया है। २. यह **रिप्रवाहः**=मलों व दोषों (रिप्र) को धारण करनेवाला (वह्) **यमराज्यम्**=यम के राज्य को **गच्छतु**=जाए। **'आचार्यो मृत्युर्वरुणः'**=इस अथर्व-वाक्य के अनुसार आचार्य ही मृत्यु व यम है। यम=आचार्य उसे बड़े नियम में रक्खेगा। बालकों में 'स्वार्थ, जिद' इत्यादि की भावना बड़ी प्रबल होती है, शिक्षणालयों में उन्हें 'औरों के साथ मिलकर चलना', 'अपने को ही सबसे महत्त्वपूर्ण न समझना' इत्यादि भावनाओं की शिक्षा मिलती है। यहीं इन गुणों का विकास होता है और ये शिक्षित व सभ्य बनते हैं। ३. जहाँ हम चञ्चल बच्चों को आर्चायकुल में भेजते हैं, वहाँ यह भी चाहते हैं कि **अयम्**=यह **इतरः**=उस चञ्चल बच्चे से भिन्न, **देवेभ्यः**=आचार्यकुल में विद्वान् उपाध्यायों से **जातवेदाः**=उत्पन्न हुए-हुए ज्ञानवाला **इह एव**=यहाँ हमारे मध्य में ही, अर्थात् आचार्यकुल से शिक्षित हो समावृत होकर घरों में आये। ४. वह **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला ब्रह्मचारी **हव्यम्**=ग्रहण करने योग्य विज्ञान को **वहतु**=औरों तक ले-जानेवाला हो। यह लोगों में अपने प्राप्त किये हुए ज्ञान को फैलानेवाला हो।

भावार्थ—(क) हमारे घरों में कोई छोटी उम्र में न चला जाए, (ख) हमारा प्रत्येक बालक आर्चायकुल में शिक्षा प्राप्त करे (ग) विद्वान् उपाध्यायों से शिक्षित होकर वह यहाँ ही हो, अर्थात् घर का निर्माण करनेवाला हो, (घ) अपने जीवन के अन्तकाल में औरों में उस ज्ञान को फैलानेवाला बने।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**जातवेदाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वपा (चरबी) पितरों के लिए

व॑ह व॒पां जा॑तवेदः पि॒तृभ्यो॒ यत्रै॑ना॒न्वेत्थ॒ निहि॑तान् परा॒के।
मेद॑सः कु॒ल्याऽउप॒ तान्त्स्र॑वन्तु स॒त्याऽए॑षामा॒शिषः॒ सं न॑मन्ता॒ꣳ स्वाहा॑॥२०॥

पिछले मन्त्र का 'दमन' एक सद्गृहस्थ बनता है। यह सद्गृहस्थ ही जीवन के अन्तकाल में आदित्य के समान ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाला देव=ज्ञान के प्रकाश से सभी को द्योतित करनेवाला होता है। इसके 'आदित्यदेव'='सूर्य के समान चमकनेवाला' बन सकने का रहस्य इस बात में है कि इसने आचार्यों की खूब सेवा की है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **जातवेदः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारिन्! तू **पितृभ्यः**=ज्ञान के दान द्वारा

रक्षा करनेवाले इन पितरों के लिए **वपाम्**=अपनी चरबी को दे डाल, उनकी सेवा में तेरी चरबी ढल जाए। **यत्र**=जहाँ कहीं भी **एनान्**=इनको **पराके**=विषयों से दूर देश में **निहितान्**=स्थित हुए हुओं को **वेत्थ**=तू जानता है वहाँ भी **तान् उप**=उनके समीप तेरी **मेदसः**=चरबी की **कुल्याः**=नहरें **स्रवन्तु**=बह पड़ें, अर्थात् तू विषयों से ऊपर उठे हुए विद्वान् आचार्यों की सेवा में अपने पसीने को बहानेवाला हो। पूर्ण परिश्रम से तू उनकी सेवा करनेवाला बन। इनकी सेवा में तेरी सारी चरबी इस प्रकार ढल जाए जैसेकि बर्फ पिघलकर नदी के रूप में बह चलती है। बर्फ जल के रूप में और तेरी चरबी पसीने के रूप में होकर आचार्य-चरणों में यह स्वेद-सरित्=पसीने की नदी बहने लगे और तब **एषाम्**=इस शुश्रूषा से प्रसन्न आचार्यों के **सत्याः आशिषः**=सच्चे आशीर्वचन **संनमन्ताम्**=तेरी ओर झुकें, तुझे प्राप्त हों। इन आशीर्वादों को प्राप्त करने के लिए तू **स्वाहा**=स्व का त्याग (हा) करनेवाला हो। स्वार्थ को छोड़कर, तन, मन व धन से आचार्यों की सेवा करनेवाला बनकर ही तो तू इन आशीर्वादों को प्राप्त कर सकेगा।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त विद्वान् आचार्यों की सेवा में श्रम से हमारी चरबी ढल जाए और हम उनके सत्य आशीर्वादों के पात्र हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**[क], **प्रजापत्यागायत्री**[र]। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर

[क]स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।

यच्छा नः शर्म सप्रथाः। [र]अप नः शोशुचदघम्॥२१॥

'हमारा प्रारम्भिक जीवन 'विद्वान्, व्रती आचार्यों की सेवा में, उनके चरणों में बीते' यह गतमन्त्र का विषय था। यदि यही नियम व्यापकरूप धारण कर ले, सभी बालक आचार्य- चरणों में उत्तम शिक्षा प्राप्त करें तो यह पृथिवी सचमुच हमारे लिए पूर्ण सुखकर हो जाए। इसी मार्ग से चलनेवाला और परिणामतः मेधाबुद्धि की ओर चलनेवाला 'मेधातिथि' (अत्=निरन्तर चलना) कहता है कि १. **पृथिवि**=हे अत्यन्त विस्तारवाली भूमे! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुख देनेवाली हो। वस्तुतः जिस राष्ट्र में, आचार्यकुलों में विद्यार्थियों का निर्माण होता है, उस राष्ट्र में उत्तम मनुष्यों का निवास होने से राष्ट्र फूला-फला व सुखमय होता है। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=मनुष्यों का नाश न करनेवाली हो (अ नृ क्षरा)। लोगों का परस्पर व्यवहार इतना सुन्दर हो कि लड़ाई-झगड़ों के कारण मनुष्यों में घात-पात न होते रहें। 'नृक्षर' काँटे को भी कहते हैं। तब 'अनृक्षरा' का अर्थ होगा 'कण्टकरहित'। निवासस्थान बननेवाली भूमि कण्टकरहित होनी चाहिए। ३. यह भूमि **निवेशनी**=हमें उत्तम निवेश देनेवाली हो, अर्थात् इसपर हमारे घर बड़ी सुन्दरता से बने हों। वे निवेशवाले (Spacious), खुली जगहवाले हों। ४. **सप्रथाः**=हे विस्तारवाली भूमे! तू **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण **यच्छ**=प्राप्त करा। यहाँ पृथिवी की विशालता का ध्यान कराने का उद्देश्य यह है कि लोग मकानों को खुला बनाएँ, गलियाँ, बाजार तंग न हों। साथ ही कई मंजिलों के मकान बनाकर सूर्यकिरणों व वायु का सहज प्रवेश न होने देना भी स्वास्थ्य के लिए हानिकर ही है। पृथिवी बड़ी विशाल है, अतः मकान आदि को खुला ही बनाना ठीक है। ५. ऐसी स्थिति होने पर **अघम्**=पाप व उसकी परिणामभूत पीड़ा **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक करनेवाली हो, अर्थात् उसे हमारे राष्ट्र में कहीं रहने का स्थान प्राप्त न हो।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में लोग मेधातिथि=समझदार Sensible होते हैं, वे राष्ट्र को बड़ा सुखद बनाते हैं, उनमें परस्पर घात-पात नहीं होते रहते, उनके मकान विशाल होते हैं और खुले स्थानों में बने होते हैं। इन घरों में पाप व पीड़ा का प्रवेश नहीं होता।

ऋषिः—आदित्या देवाः। देवता—पृथिवी। छन्दः—स्वराड्गायत्री स्वरः—षड्जः।

स्वर्ग

अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥२२॥

इस अध्याय की समाप्ति पर कहते हैं कि **त्वम्**=तू **अस्मात्**=इस प्रभु से **अधिजातः**=प्रादुर्भूत **असि**=हुआ है। प्रभु ने तुझे यह शरीर दिया है। उसमें उन्नति के लिए विविध इन्द्रियाँ प्रभु ने तुझे प्राप्त कराई हैं। **पुनः**=अब फिर **अयम्**=यह प्रभु **तत्**=तुझसे **जायताम्**=प्रादुर्भूत किया जाए। प्रभु से तेरा प्रादुर्भाव हुआ है, तुझसे प्रभु का प्रादुर्भाव हो। जो व्यक्ति प्रभु का अपने हृदय में प्रादुर्भाव करने का प्रयत्न करता है उसकी वृत्ति सुन्दर बनती है इसमें कोई शक नहीं है। प्रभु की अनुभूति हुई और मानव-जीवन की सब मलिनता समाप्त हुई। **असौ**=यह प्रभु-अनुभव लेनेवाला व्यक्ति **स्वर्गाय लोकाय**=स्वर्गलोक के लिए समर्थ होता है। यह अपने ऐहिक निवास को सुखमय बना पाता है। इसी उद्देश्य से यह **'स्वाहा'**=(स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता है। जितना-जितना स्वार्थ का त्याग करता जाता है उतना-उतना यह स्वर्गमय जीवनवाला होता जाता है। जो पुरुष परमात्मा के प्रादुर्भाव का प्रयत्न करते हैं और स्वार्थ-त्यागवाले होते हैं उनका जीवन सुखमय हो जाता है। ये स्वर्ग में निवास करनेवाले 'आदित्यदेव' कहलाते हैं, ये उत्तमता व दिव्यता का आदान करते हुए सचमुच स्वर्ग-सुख के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु की भावना को जागरित करें, स्वार्थ-त्यागवाले हों, जिससे स्वर्ग का निर्माण कर सकें।

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—अग्निः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

चार व्रत

ऋचं॒ वाचं॒ प्रप॑द्ये॒ मनो॒ यजुः॒ प्रप॑द्ये॒ साम॑ प्रा॒णं प्रप॑द्ये॒ चक्षुः॒ श्रोत्रं॒ प्रप॑द्ये।
वागोजः॒ स॒हौजो॒ मयि॑ प्राणापा॒नौ॥१॥

१. **वाचम्**=वाणी का आश्रय करके **ऋचम्**=ऋचाओं की, ऋग्वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ। वाणी को ऋग्वेद के अर्पित करता हूँ। ऋग्वेद का स्वरूप 'मण्डल' व 'सूक्त' हैं। (क) मैं अपनी वाणी को शुभ ज्ञान से मण्डित करता हूँ और (ख) वाणी से सूक्तों को ही बोलता हूँ। यदि हम यह व्रत लेते हैं तो **वाग् ओजः**=वाणी का बल प्राप्त होता है। २. **मनः**=मन का आश्रय करके **यजुः**=यजुर्वेद की शरण में **प्रपद्ये**=जाता हूँ, अर्थात् मन को यज्ञों के प्रति अर्पित करता हूँ। मन को वश में करने का उपाय इसे यज्ञों में लगाये रखना ही है। यज्ञों में लगा हुआ मन वासनाओं में नहीं फँसता। यजुर्वेद अध्यायात्मक है। इसे सदा स्वाध्याय में लगाये रखना चाहिए। स्व-अध्याय=अपना अध्ययन करना नकि औरों की मीन-मेख निकालते रहना। ऐसा करने पर मनुष्य को अपने पर गर्व नहीं होता तथा औरों से घृणा नहीं होती। परस्पर प्रेम बढ़कर **सह ओजः**=एकता का बल बढ़ता है। परस्पर एक होकर हम शक्तिशाली हो जाते हैं। ३. **प्राणम्**=मैं अपने प्राण, जीवन का आश्रय करके **साम**=सामवेद, उपासना वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ, जीवन को उपासनामय बना देता हूँ। मैं सदा प्रभु का स्मरण करता हूँ और कार्यों में लगा रहता हूँ। इस प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करने से जहाँ मेरे कार्य पवित्र होते हैं वहाँ मैं शक्ति का अनुभव करता हूँ। प्रभुशक्ति मुझमें प्रवाहित होती है और **मयि प्राणः**=मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार हो जाता है। ४. **श्रोत्रम्**=कान का आश्रय करके **चक्षुः**=ज्ञान अथवा ब्रह्मवेद (अर्थववेद) की शरण में जाता हूँ। अथर्ववेद हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है, अतः उसका नाम ही 'चक्षुः' हो गया है। श्रोत्र से इसकी शरण में जाना, अर्थात् सदा ज्ञान-श्रवण में लगे रहना ही चौथा व्रत है। इस व्रत के धारण से **मयि अपानः**=मुझमें अपान, अर्थात् दोषों को दूर करने की शक्ति होगी। ज्ञान ही दोषों का निराकरण करके जीवन को पवित्र बनानेवाला है। इन चार व्रतों का सदा ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' है, अपने व्रतों पर स्थिर रहने से यह 'आथर्वण' है। यह 'दध्यङ् आथर्वण' निश्चल होकर प्रभु का ध्यान भी इसीलिए करता है कि इन व्रतों का पालन कर पाये।

भावार्थ—हमारे जीवन के चार व्रत हों १. वाणी को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखकर इससे मधुर शब्द ही बोलेंगे २. मन को सदा उत्तम कर्मों में लगाये रखकर कभी पराये दोषों को देखने में न लगाएँगे। ३. जीवन में प्रभु को कभी विस्मृत न करेंगे। ४. श्रोत्र से सदा ज्ञान का श्रवण करेंगे।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

दोषदहन—शान्तिप्राप्ति

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥२॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **चक्षुषः**=आँख का, **हृदयस्य**=हृदय का **मनसो वा**=या मन का **अतितृण्णम्**=बहुत फटा हुआ (बहुत त्रुटियुक्त) **छिद्रम्**=दोष है, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे **तत्**=उस छेद को **दधातु**=भर दे। मेरे उस दोष को दूर करदे। 'मेरे दोष को दूर कर दे' इस प्रार्थना में कुछ स्वार्थ-सा लगता है, सभी के दोष क्यों दूर न हों—मेरे ही क्यों? परन्तु वस्तुतः यहाँ स्वार्थ नहीं है, हम दूसरों के दोषों की कल्पना ही क्यों करें। हमें तो अपने ही दोष देखने हैं। इन दोषों के दूर हो जाने पर जो कल्याण व शान्ति होगी उसकी प्राप्ति में स्वार्थ न होना चाहिए, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **भुवनस्य**=सारे संसार का **यः पतिः**=जो पालक है, वह प्रभु **नः**=हमें **शम् भवतु**=शान्ति व कल्याण का देनेवाला हो। २. पूर्वार्ध व उत्तरार्ध को मिलाकर देखा जाए तो कार्य-कारण के सिद्धान्त से स्पष्ट करते हैं कि (क) दोषों के दूर होने पर ही शान्ति होगी। (ख) दोष अपने-अपने दूर करो तभी सबका कल्याण हो सकेगा। औरों के दोष दूर करने पर ध्यान दिया तो परिणाम में अशान्ति-ही-अशान्ति होगी। वेद का यही तो सौन्दर्य है कि 'दोष अपने दूर करो, कल्याण सबका चाहो।' ३. दोष भी किसका 'आँख का, हृदय का व मन का।' यहाँ शरीर के व्याधिरूप दोष का उल्लेख नहीं हैं। (क) उसे तो एक सामान्य चिकित्सक भी दूर कर सकता है, (ख) आँख आदि का दोष न होने पर शरीर का दोष तो होगा ही नहीं। प्रभु हमारे आँख के दोष को दूर करें, मेरा दृष्टिकोण ठीक हो। ४. हृदय का दोष श्रद्धा का न होना व ग़लत श्रद्धा का होना है। श्रद्धा न होने पर तो जीवन बन ही नहीं सकता। **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** जैसी श्रद्धा होती है वैसे ही हम बनते हैं। इस श्रद्धा का ठीक होना भी आवश्यक है। अन्धश्रद्धा से जीवन भी कुछ अन्ध-सा हो जाता है। ५. तीसरा मन का दोष है। यह मन अत्यन्त प्रबल है और बहकाकर प्रभु की आज्ञा तुड़वाता रहता है। इसको काबू करना अत्यन्त आवश्यक है। काबू हुआ-हुआ यह हमारे मोक्ष का कारण बनता है, और बेकाबू बन्ध का कारण होता है, अतः मन को निर्दोष रखने के लिए इसे कार्यों में लगाये रखना तथा प्रभु का चिन्तन करना ही साधन है। बुद्धि ही मनीषा है, मन की शासिका है। ६. हमारे सारे दोष दूर करेंगे बृहस्पति, ज्ञान के स्वामी प्रभु। दूसरे शब्दों में ज्ञान से ही दोषों का विनाश होगा, अतः हम निरन्तर ज्ञानवृद्धि में लगे रहें।

भावार्थ—हम सब अपने-अपने दोषों को दूर करने का ध्यान करें। यही सबके कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—सविता। छन्दः—दैवीबृहती[क], निचृद्गायत्री[र]।
स्वरः—मध्यम[क], षड्जः[र]॥

नव-जीवन

[क]भूर्भुवः स्वः । [र]तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३॥

१. 'मानव-जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए' इसका निर्देश प्रभु ने इन तीन महाव्याहृतियों द्वारा किया है (क) **भूः**=(भू सत्तायाम् to be)=स्वास्थ्य, होना अर्थात्

'स्वस्थ' होना। 'अपने में स्थित न होना', यह बात न हो, अर्थात् 'अस्वस्थ' न हों। (ख) **भुवः**=ज्ञान (भुवो अवकल्कने, अवकल्कनम्=चिन्तनम्) ज्ञानी बनें। (ग) **स्वः**=स्वयं राजमानता, अपरतन्त्रता, अर्थात् जितेन्द्रियता। एवं, इन तीन शब्दों में मनुष्य जीवन का ध्येय इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि 'शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनो, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से ज्ञानी बनो तथा आत्मिक दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय बनो। इन्द्र वही है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता हो। २. उल्लिखित ध्येय को प्राप्त करने के लिए हम सदा इस बात का ध्यान करें कि 'प्रभु के तेज को प्राप्त करना' ही हमारी रट हो, यही हमारा जप हो। इस तेज को प्राप्त करने के लिए मुझे अपना जीवन अधिकाधिक सुन्दर बनाना होगा, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तत् सवितुः**=(तनु विस्तारे—तत्) उस विस्तृत, अनन्त विस्तारवाले सर्वव्यापक प्रभु के **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज परमात्मा के **वरेण्यम्**=वरने के योग्य श्रेष्ठ **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करें, उसे ही अपनी आँखों के सामने रक्खें और धारण करने का प्रयत्न करें। किस प्रभु को? उस प्रभु को **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। जिस व्यक्ति ने प्रभु के तेज को धरण करने का ही जप किया वह व्यक्ति सदा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। ३. यह प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति सभी का मित्र होता है, यह 'विश्वामित्र' होता है। जिसका ध्यान प्रभु की ओर जाता है, वह सब-में प्रभु को देखता है। ४. यह मन्त्र वेदों का सारभूत मन्त्र समझा जाता है। प्रसिद्धि तो यह है कि ब्रह्मा ने वेदों का दोहन किया। ऋचाओं के दोहन से 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस चरण का दोहन हुआ, यजुः मन्त्रों के दोहन का परिणाम 'भर्गो देवस्य धीमहि' है तथा साम-मन्त्रों का सार 'धियो यो नः प्रचोदयात्' निकाला।

नोट्—गायत्री मन्त्र वस्तुतः तीन प्रश्नों का उत्तर है—'क्या, क्यों, कैसे'?

प्रश्न : क्या करें? **उत्तर** : प्रभु के तेज का ही नित्य ध्यान करें।

प्रश्न : क्यों करें? **उत्तर** : देवस्य=देव और सवितु=सविता=ऐश्वर्यशाली बनने के लिए, वास्तविक ऐश्वर्य को पाने के लिए।

प्रश्न : कैसे करें? **उत्तर** : उस प्रभु से दी जा रही प्रेरणा को सुनें।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज को अपने जीवन में धारण करें, जिससे प्रभु हमारी बुद्धियों को प्रेरित करते रहें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वह सदा का साथी

कया नश्चित्रऽआभुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥४॥

१. वे **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=जीव के मित्र **चित्रः**=अद्भुत शक्ति व ज्ञानवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=कल्याणमय रक्षण के द्वारा **आभुवत्**=चारों ओर विद्यमान हैं। जब मैं प्रभु से आवृत हूँ, तब मुझे भय किस बात का? यह अभय प्राप्त उसी को होता है जो इस कल्याणमय रक्षण का अनुभव करता है। २. प्रभु **सदावृधः**=सदा जीव को बढ़ानेवाले हैं। 'फिर भी जीव क्यों नहीं बढ़ पाता?' इसका कारण यह है कि यह क्रोधादि से सड़ता रहता है। प्रभु तो हमें सदा बढ़ा रहे हैं, परन्तु ये द्वेष, घृणा व असन्तोष हमें पनपने नहीं देते। २. वे **सखा**=सदा साथ रहनेवाले हैं, परन्तु मुझे इस बात का ध्यान नहीं, अतः अपने को अकेला समझ घबरा जाता हूँ। ४. वे प्रभु **चित्रः**=ज्ञान देनेवाले हैं, ज्ञान देकर ही वे सब वस्तुओं को हमारे लिए कल्याणकर बना रहे हैं। ५. वे प्रभु **कया**=कल्याणकर

शचिष्ठया=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन के द्वारा हमारे चारों ओर विद्यमान हैं (नः आभुवत्)। यह ऋतुओं का चक्र व दिन-रात का चक्र और इसी प्रकार अन्य सब चक्र हमारी शक्ति को बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं। ६. इसलिए हमें यही चाहिए कि इस प्रभु के कल्याणमय आवर्तन से अपने शरीरों को सबल बनाते हुए उस प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करते हुए निर्भीक बनें। उस प्रभु की ज्ञानमयी रक्षा में दुर्गुणों से बचते हुए हम दिव्य गुणों का सदा अपने में समन्वय करें।

भावार्थ—मैं उस सदा के साथी, मेरी सतत वृद्धि के कारणभूत प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करूँ, जो प्रभु अत्यन्त शक्तिप्रद आवर्तन से मेरी रक्षा कर रहे हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

त्रिपुर-दहन व देव-मन्दिर-निर्माण

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मꣳहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः। दृ॒ढा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑॥५॥

१. हे जीव! **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों के सर्वाधिक दाता (मंहतेर्दानकर्मणः) प्रभु **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। इस सोम को वे तुझे इसलिए भी प्राप्त कराते हैं कि **दृढाचित्**=बड़े दृढ़ भी **वसु**=लोकों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न करने के लिए तू समर्थ हो सके। २. वे प्रभु आनन्दमय हैं। जीव आनन्द की उपलब्धि प्रभु के सम्पर्क में ही कर पाएगा, क्योंकि प्रकृति में स्वयं आनन्द नहीं, वह हमें कहाँ से आनन्द दे पाएगी। २. वे प्रभु सत्यस्वरूप हैं। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। जीव के व्यवहार में कुछ-न-कुछ असत्य आ ही जाता है, अतः हममें परस्पर कमियों के लिए उपेक्षावृत्ति को अपनाने की क्षमता होनी ही चाहिए, औरों के दोष ही देखते रहने की वृत्ति से दूर ही रहना चाहिए। ४. प्रभु आनन्द देनेवाले हैं। हम पञ्चकोशों में रहते हैं और पञ्चकोशों में आनन्द उत्तरोत्तर अधिक-और-अधिक सुन्दर हैं। स्वास्थ्य का भी एक आनन्द है तो प्राणसाधना का आनन्द उससे अधिक है। शुद्ध मन के आनन्द की तुलना में वह भी अल्प हो जाता है तो विज्ञान का आनन्द मानस आनन्द को भी अभिभूत कर लेता है। सर्वत्र एकत्वदर्शन से होनेवाला आनन्दमयकोश का आनन्द तो सर्वाधिक सत्यता को लिये हुए है। ये सब आनन्द अध्यात्म आनन्द हैं। इनके अतिरिक्त बाह्य आनन्द भी अपने स्थान में बड़ें महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु ने खाने के लिए अद्भुत कन्दमूल तथा फल उपजाये हैं, सभी में एक विचित्र स्वाद है। परस्पर मिलकर बैठने में मित्रता का आनन्द आता है। धन की भी एक गर्मी व उत्साह होता ही है। ५. इन सब आनन्दों का अनुभव जीव तभी कर पाता है जब वह अपने में उत्पन्न होनेवाले इस अन्धस् की रक्षा करता है। यह अन्धस् अन्न का सप्तम स्थान में सार होने से कितना महत्त्वपूर्ण है। अन्न का सार रस, रस का रुधिर, रुधिर का मांस, मांस का अस्थि, अस्थि का मज्जा, मज्जा का मेदस् और मेदस् का यह अन्धस्=सोम=वीर्य सार है। एवं, यह कितना अधिक आध्यायनीय है? इस सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर ही स्वास्थ्य आदि के आनन्द का अनुभव कर पाते हैं। यही प्राणों को सबल बनाता है, मन को निर्मल और बुद्धि को तीव्र। इस सोम की रक्षा से ही अन्त में हम तीव्र बुद्धि द्वारा उस सोम (प्रभु) का दर्शन करते हैं और एकत्व के अनुभव से परम आनन्द Supreme bliss का अनुभव करते हैं। ६. इस सोम से ही हम असुरों के दृढ़ निवास-स्थानों को छिन्न-भिन्न कर पाते हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान हैं। काम इन तीन स्थानों में अपने किले बनता है और हमारा शिकार करता

है। सोम की रक्षा के द्वारा हम असुरों के इन किलों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। इन किलों को तोड़कर ही देव-मन्दिर की स्थापना होती है। महादेव जी त्रिपुरारि हैं। हम भी असुरों के इन तीन पुरों को तोड़कर महादेव के समान उत्तम दिव्य गुणोंवाले 'वामदेव' बन पाएँगे। इस वामदेव का सर्वमहान् कार्य यही है कि त्रिपुर का ध्वंस करके उसके स्थान में देव-मन्दिर का निर्माण करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें यह सोम दिया है, जिससे हम अपने जीवन में वास्तविक आनन्द का अनुभव कर पाएँ और इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आसुरवृत्तियों का अधिष्ठान न बनने दें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सखा, जरिता, ऊतियुक्त

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः॥६॥

हे प्रभो! आप **अभि**=दोनों ओर **सु**=उत्तमता से **नः**=हम **सखीनाम्**=समान ख्यानवाले, समान ज्ञानवाले **जरितॄणाम्**=स्तोताओं का **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा **अविता**=रक्षक **भवासि**=होते हैं। १. वे प्रभु रक्षक हैं। **अभि**=अन्दर और बहार दोनों स्थानों में वे प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हैं। मातृगर्भ में भी उन्होंने किस सुन्दरता से हमारे निर्माण व धारण की व्यवस्था की और हमारे बाहर आने पर भी उस व्यवस्था में किसी प्रकार की कमी नहीं है। पहले मातृस्तनों से दूध मिल जाता है, फिर फल-मूल, कन्दों के रूप में सब भोजन प्राप्त हो जाता है। २. इस रक्षा की व्यवस्था से उत्तम व्यवस्था की कल्पना सम्भव नहीं है। सूर्यकिरणों से समुद्र जल का अन्तरिक्ष में पहुँचना और बादलों के रूप में होकर उसका फिर से पर्वत-शिखरों पर पहुँच जाना कितना महान् चमत्कार है! इस अद्भुत कार्य के द्वारा वे प्रभु कितनी उत्तमता से हमारे प्राणों की रक्षा कर रहे हैं। दिन-रात तथा ऋतुओं के चक्र द्वारा यह रक्षा कितनी उत्तमता से हो रही है। ३. प्रभु रक्षक हैं, परन्तु किनके? (क) **सखीनाम्**=समान ख्यान व ज्ञानवालों के। जो ज्ञानी बनते हैं, प्रभु के बनाये पदार्थ उन्हीं के लिए हितकर होते हैं। बिना ज्ञान के वे पदार्थ कल्याण के स्थान में अकल्याण के हेतु हो जाते हैं। ज्ञान विष को भी अमृत बना देता है तो अज्ञान अमृत को भी विष कर देता है। (ख) **जरितॄणाम्**=स्तोताओं की आप रक्षा करते हो। प्रभु का उपासक सदा जीवन के लक्ष्य को देखता है और इसी कारण उस लक्ष्य की ओर चलने से कल्याण प्राप्त करता है। लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्ति का सारा जीवन असुरक्षित हो जाता है। (ग) प्रभु रक्षा तो करते हैं, परन्तु **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा। यदि हम क्रियाशील होंगे तभी प्रभु की रक्षा के पात्र हो सकेंगे। अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु की रक्षा का पात्र नहीं होता, एवं जो व्यक्ति अपने जीवन में 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' का समन्वय करता है, वही रक्षा का पात्र होता है। प्रभु की रक्षा ज्ञानी, भक्त व कर्मशील को ही प्राप्त होती है। ४. **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त। मनुष्य ने सौ वर्षों तक जीवन का सङ्कल्प करके ही चलना है और सदा कर्ममय जीवन बिताना है। वैदिक परिभाषा में **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ने सदा कर्ममय रहकर अपने 'शतक्रतु' नाम को सार्थक करना है। इस शतक्रतु के लिए प्रभु 'शतकृप' बने रहते हैं। सदा प्रभु की कृपा को प्राप्त करके यह अपने जीवन को पूर्ण सुरक्षित कर पाता है और आसुरवृत्तियों के आक्रमण से बचकर उत्तम दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी, भक्त व क्रियामय जीवनवाले बनकर प्रभु-रक्षा के अधिकारी बनें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—वर्द्धमानागायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का प्रवेश व प्रसाद

कया त्वं नऽऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्यऽआभर॥७॥

१. **वृषन्**=हे शक्तिशालिन्! हे सब सुखों के वर्षक प्रभो! जो निर्बल है वह तो दूसरे का कल्याण कर ही नहीं सकता। सबल होते हुए भी जिसे हमसे प्रेम नहीं वह हमारी सहायता नहीं करता। आप सबल भी हैं, जीव के प्रिय मित्र होने से सुखों की वर्षा करनेवाले भी। हे वृषन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **कया ऊत्या**=(अव्=प्रवेश) कल्याणकारक प्रवेश से **अभिप्रमन्दसे**=आनन्दित व हर्षित करते हो। जैसे एक छोटा बच्चा पिताजी के घर आने पर प्रसन्न होता है, इसी प्रकार प्रभुभक्त प्रभु के हृदय में प्रवेश करने पर आह्लाद का अनुभव करता है। २. प्रभु के प्रवेश से हममें दिव्यता का पोषण होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **कया** (ऊत्या)=इस आनन्ददायक प्रवेश से और इसके द्वारा दिव्यांश के दोहन से **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **आभर**=दिव्यता को धारण कीजिए। आपके स्तोताओं का जीवन दिव्यता से भर जाए। स्तोता 'दध्यङ्' है, प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह सांसारिक विषयों के प्रति डाँवाँडोल मनोवृत्तिवाला न होने के कारण 'अथर्वण' है। यह 'दध्यङ्-आथर्वण' स्थिर मनोवृत्ति के कारण प्रकृति के पीछे नहीं भटकता, अतः प्रभु का ध्यान कर पाता है। इस ध्यान के परिणामरूप ही उसका जीवन अधिकाधिक दिव्यतावाला होता है। यह दिव्य जीवन वास्तविक प्रसाद व उल्लास को जन्म देता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, जिससे प्रभु की दिव्यता को अपने में भरकर सदा उल्लासमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—द्विपाद्विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

एकशासन—विश्वशान्ति व विश्वनागरिकता

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥८॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान्, सब असुरों को दूर भगानेवाला प्रभु **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का तथा इस संसार में प्रविष्ट (विश्) सब प्राणियों का **राजति**=शासन व व्यवस्था करता है। जिस दिन हम प्रभु के अध्यात्मशासन का अनुभव करेंगे, उस दिन **नः**=हम **द्विपदे**= दो पाँवों से गति करनेवाले मनुष्यों के लिए **शम्**=शान्ति होगी तथा **चतुष्पदे शम्**=चौपयों, अर्थात् पशुओं के लिए भी शान्ति होगी। वस्तुतः इस अध्यात्मशासन में मनुष्यों के परस्पर संघर्ष का तो प्रश्न ही नहीं, पशुओं से उनका किसी प्रकार का द्वेष न होगा, अर्थात् सिंहादि पशु भी मनुष्य के साथ शान्ति से चलेंगे। वन्य न रहकर वे भी पालतू हो जाएँगे, चिड़िया घर की वस्तु हो जाएँगे। योगदर्शन का '**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः**' यह सूत्र स्थूलरूप धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होगा, २. परन्तु इस अध्यात्मराज्य को ला वही व्यक्ति सकता है जो 'दध्यङ्'=प्रभु का ध्यान करनेवाला है, जो 'आथर्वण'=स्थिरवृत्ति का होने से सभी को समान राज्य में रहनेवाला अपना साथी समझता है।

भावार्थ—हम उस ईश के साम्राज्य का सर्वत्र अनुभव करें और सब प्राणियों के साथ शान्ति से चलने की मनोवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

साधनसप्तक

शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शन्नो॑ भवत्वर्य॒मा।

शन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः॥९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को मित्रादि सात नामों से स्मरण करके शान्ति-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। भिन्न-भिन्न नामों से शान्ति की प्रार्थना का स्वारस्य इसमें है कि इन नामों के द्वारा शान्ति-प्राप्ति के सात साधनों का वर्णन हुआ है। १. सबसे प्रथम साधन 'मित्रः' शब्द से सूचित हो रहा है। **मित्रः नः शम्**=मित्र नामक प्रभु हमें शान्ति देनेवाले हों। वस्तुतः जब हम परस्पर मित्रभाव से चलेंगे तभी शान्ति प्राप्त होगी। स्नेह के अभाव में शान्ति का प्रश्न ही नहीं। ईर्ष्या-द्वेष हमें सदा सन्तप्त किये रहते हैं। इनसे हम जलते रहते हैं। २. **वरुणः शम्**=वरुण हमें शान्ति दे। 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'=श्रेष्ठ बनना ही शान्ति देनेवाला है। श्रेष्ठ वह है जो न दबता है, न दबाता है, न खुशामद करता है, न कराता है। कभी बदले की भावना से आन्दोलित नहीं होता। ३. **अर्यमा नः शम् भवतु**=अर्यमा हमें शान्ति दे। 'आर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=अर्यमा देनेवाला है। प्रभु निरपेक्ष (Absolute) अर्यमा है। हम भी देने की वृत्तिवाले बनें, हमारे जीवनों में भी शान्ति होगी। दान हमें धन के बन्धन से ऊपर उठा शान्ति प्राप्त कराता है। ४. **इन्द्रः नः शम्**=इन्द्र नामक प्रभु हमें शान्ति दे। इन्द्र बनकर हम भी शान्ति-लाभ कर सकेंगे। इन्द्र असुरों का संहार करनेवाला है। आसुरवृत्तियों का संहार करके ही हम शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यही शान्त होता है, इन्द्रियों का गुलाम वासना-समुद्र में डूब जाता है। ५. **बृहस्पतिः नः शम्**=बृहस्पति हमें शान्ति दे। बृहस्पति 'ब्रह्मणस्पति' है, वेदज्ञान का स्वामी है। ज्ञान के अनुपात में ही हमारे जीवन शान्त होते हैं। ६. **विष्णुः नः शम्**=विष्णु हमें शान्ति दे। 'विष् व्याप्तौ' से बना हुआ विष्णु शब्द व्यापक मनोवृत्ति का संकेत कर रहा है। जितना हमारा हृदय विशाल होगा उतना ही शान्त होगा। संकुचित हृदय औरों के उत्कर्ष को देखकर जला करता है, उसमें शान्ति का अवकाश नहीं। ७. **उरुक्रमः**=(क) महान् पराक्रमवाला प्रभु हमें शान्ति दे। अकर्मण्य व्यक्ति के जीवन में मालिन्य भर जाता है और वह शान्त नहीं हो पाता (ख) 'उरुक्रम' का अर्थ महान् व्यवस्थावाला भी है। व्यवस्थित जीवन सदा शान्त होता है। घर में वस्तुएँ अव्यवस्थित-सी पड़ी हों तो उठने-बैठने को भी जी नहीं करता। नियम या व्यवस्था शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—मित्रादि सात साधनों से सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—वातादयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

वायु, सूर्य व पर्जन्य

शन्नो॒ वातः॑ पवता॒ᳬ शन्न॑स्तपतु॒ सूर्यः॑।

शन्न॒ः कनि॑क्रदद्दे॒वः प॒र्जन्यो॑ऽअ॒भि व॑र्षतु॥१०॥

नः=हमारे लिए **वातः**=वायु **शम्**=शान्तिकर होकर **पवताम्**=बहे, **नः**=हमारे लिए **सूर्यः**=सूर्य **शम्**=शान्तिवाला होकर **तपतु**=तपे। **नः**=हमारे लिए **कनिक्रदत्**=गर्जना करता हुआ **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **पर्जन्यः**=बादल **शम्**=शान्तिवाला होता हुआ **अभिवर्षतु**=बरसे। मन्त्र में उल्लिखित शब्दों के द्वारा संसार की सर्वमहान् घटना का उल्लेख हुआ है।

घटनाचक्र का नाम ही संसार है। प्रत्येक घटना अपना-अपना महत्त्व रखती है। सर्वमहान् घटना यह वर्षण की घटना ही है। इसमें त्रिलोकी के तीनों लोक ही भाग लेते हैं। द्युलोक का सूर्य तपता है और इस ताप से पृथिवीलोक के जल का वाष्पीकरण होता है। यह वाष्पीभूत जल अन्तरिक्ष में घनीभूत होकर बादल के रूप में परिणत होकर पर्वत-शिखरों पर वर्षता है। इस प्रकार समुद्र का जल पर्वत-मस्तक पर पहुँच जाता है और वहाँ से प्रवाहित होकर नदियों के रूप में फिर से समुद्र की ओर जाना प्रारम्भ होता है। एवं, एक चक्र की स्थापना होती है। समुद्र का जल फिर समुद्र में आ मिलता है। यदि यह घटना न होती तो इस भूमण्डल पर जीवन सम्भव न रहता। ये ही देवता अध्यात्म में भी भिन्न-भिन्न रूपों से कार्य कर रहे हैं। वायु अध्यात्म में प्राण है। इस प्राण की साधना के लिए प्राणायाम का विधान है। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**=प्राणायास से क्या शरीर, क्या मन व क्या बुद्धि सभी के दोष दग्ध हो जाते हैं। ये दोष दग्ध होकर शरीर स्वस्थ हो जाता है, मन प्रसन्न व बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करने में समर्थ हो जाती हैं। एवं, शरीर में वायु का महत्त्व है ही। सूर्य शरीर में चक्षुरूप से रह रहा है। इस चक्षु को निर्दोष रखने के लिए भी प्राणसाधना आवश्यक ही है। ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर हृदयान्तरिक्ष में करुणा का मेघ उठता है। ज्ञानी का हृदय अवश्य ही करुणापूर्ण होता है। यह परातृप्ति की जनक होने से सचमुच 'पर्जन्य' है। इसे 'कनिक्रदत्' इसलिए कहा गया है कि दयार्द्र हृदय में ही प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, पाषाण हृदय में प्रभु की गर्जना नहीं सुन पड़ती। एवं, हम प्राणसाधना को महत्त्व दें। इससे हमारी ज्ञानचक्षु भी खुलेगी और हृदय में दया के मेघ की भी उत्पत्ति होगी। कितना दिव्य व शान्त होगा उस दिन हमारा जीवन!

भावार्थ—वशीभूत प्राण, देदीप्यमान ज्ञानचक्षु तथा हृदयस्थ करुणा की भावना हमें शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

चातुर्वर्ण्यम्

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳरात्री॒ः प्रति॑धीयताम्।

शन्न॑ऽइन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ः शन्न॒ऽइन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।

शन्न॑ऽइन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑साता॒ै शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः॥११॥

१. **अहानि**=दिन **नः**=हमारे लिए **शम् भवन्तु**=शान्तिकारक हों। **रात्रीः**=रात्रियाँ **शम्**=शान्तिकारक होकर **प्रतिधीयताम्**=धारण की जाएँ। दिन और रात दोनों हमारे लिए शान्तिकर हों। दिन 'अहन्' है, अ+हन्=न नष्ट करने योग्य है। दिन का एक-एक क्षण हमारे लिए क्रियामय होना चाहिए। रात्रि 'रमयित्री' है, आराम देनेवाली है। 'दिन में कार्य, रात्रि को आराम' यह हमारा जीवनसूत्र होना चाहिए तभी हमारा स्वास्थ्य ठीक रहकर जीवन शान्त होगा। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **अवोभिः** (अव्=दीप्ति) ज्ञान की दीप्तियों से **नः**=हमारे लिए **शम् भवताम्**=शान्ति देनेवाले हों। **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण **रातहव्या**=हव्यों को, आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होकर **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति दें। **इन्द्रापूषणा**=इन्द्र और पूषा **वाजसातौ**=अन्न-प्राप्ति के निमित्त **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **इन्द्रासोमा**=इन्द्र और सोम **सुविताय**=(सु इताय) सुगमता से कार्य सञ्चालन के

लिए होकर **शम्**=शान्ति दें और **शंयोः**=हमारे जीवनों में शान्ति हो तथा भयों का यावन, दूरीकरण हो। ३. उल्लिखित मन्त्रार्थ में **'अग्नि'** ब्राह्मण है। समाज व राष्ट्र में यह ज्ञान की दीप्ति को फैलाता है और इस प्रकार सामाजिक शान्ति का कारण बनता है। यह ज्ञान मनुष्यों को मिलकर चलना सिखाता है, ४. **'वरुण'**=क्षत्रिय हैं, राजपुरुष हैं, राजा की रक्षा के लिए इनका वरण होता है और ये प्रजाओं का उत्पथ पर जाने से निवारण करते हैं। वरण किये जाने व निवारण करने से ही ये 'वरुण' कहलाते हैं। इनका मुख्य कार्य यह होता है कि ये राष्ट्र में इस प्रकार की व्यवस्था करें कि प्रत्येक व्यक्ति को हव्य-पदार्थ प्राप्त होते रहें। शरीर-रक्षा के लिए जिन पदार्थों की आहुति देनी आवश्यक है वे 'हव्य' हैं। ५. **'पूषन्'**=वैश्य हैं ये **वाजसाति**=अन्न प्राप्त करानेवाले हैं। 'कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य' ये वैश्यों का व्यापार है। अन्न का उत्पादन इन्होंने ही कराना है। गोरक्षा और अन्न को मण्डियों में पहुँचाना—ये सब वैश्यों के कार्य हैं। इनमें कमी आते ही सारे राष्ट्र में अशान्ति छा जाती है। ६. इसके बाद **'सोम'** शूद्र हैं। ये अत्यन्त विनीत होकर 'ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों' के लिए उनके कार्यों में सहायक होते हैं। इनके बिना कोई भी कार्य सुगमता से नहीं चलता। इन्हीं शूद्रों में मेहतर भी हैं, जिनके कार्य के अभाव में मल-दुर्गन्ध व रोगकृमियों की वृद्धि होकर बीमारियों का प्रकोप हो जाता है। एवं, ये सोम **योः**=रोगों को दूर करने में सहायक होते हैं। ७. इन 'अग्नि, वरुण, पूषन् व सोम' के साथ 'इन्द्र' शब्द जुड़ा हुआ है। यह राजा व राजशक्ति का वाचक है। यह अग्नि इत्यादि अपना-अपना कार्य तभी कर सकते हैं जबकि इनमें राजशक्ति कार्य करे। राजशक्ति के बिना 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कोई भी कार्य नहीं कर सकता। राजशक्ति के द्वारा ही शिक्षणालय, प्रबन्ध, कृषि, व्यापार व श्रम आदि सब ठीक चलते हैं और सर्वत्र शान्ति का प्रसार होता है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में ब्राह्मणादि अपने-अपने कार्यों को राजव्यवस्था द्वारा ठीक-ठीक करनेवाले हों, जिससे सर्वत्र शान्ति का विस्तार हो। लोगों के जीवन का सूत्र 'दिन में कार्य व रात में आराम हो'।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जल व स्वास्थ्य

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शँयोर॒भिस्र॑वन्तु नः॥१२॥

१. **आपः** शब्द सर्वव्यापक (आप्=व्याप्तौ) प्रभु के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये दिव्य गुणोंवाले प्रभु (देवीः) **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए तथा **पतिये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। ये प्रभु **शंयोः**=शान्ति देनेवाले तथा मलों को दूर करनेवाले **नः**=हमारे **अभि** =दोनों ओर अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=गतिवाले हों। इस प्रकार मन्त्र का यह अर्थ प्रभुपरक है। जब **'आपः'** शब्द जलवाचक होकर प्रयुक्त होता है तब मन्त्रार्थ निम्न प्रकार से होता है। २. **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल **नः**=हमें **शम्**=शान्ति देनेवाल हों। **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण के लिए और **पीतये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। **शंयोः**=शान्ति को देनेवाले तथा रोगों को दूर करनेवाले ये जल **नः**=हमारे **अभि**=अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=बहें। ३. जलों के अन्दर अद्भुत दिव्यगुण हैं। ये सब रोगों को दूर करनेवाले हैं। **'आपः सर्वस्य मेषजीः'**=जल सब रोगों के औषध हैं। **'अप्सु मे सोमो अब्रवीत्, अन्तः विश्वानि भेषजा'**=मुझे सोम ने यह बतलाया है कि जलों में सब औषध हैं। जलों का नाम ही 'भेषजम्' है। ये वारि हैं **निवारयन्ति रोगान्**=रोगों को दूर करते हैं। ४. ये जल

आपः=व्यापक हैं। प्रत्येक पदार्थ में इनकी सत्ता है। प्राण के साथ इनकी सत्ता अनिवार्य है। प्राण अपोमय ही हैं। ५. ये रोगों पर आक्रमण के लिए होकर हमारी मृत्यु से रक्षा करते हैं। जल के प्रयोग से जलचिकित्सक रोगमात्र को दूर कर देता है। ६. इनका अन्दर व बाहर प्रयोग हमारे लिए शान्तिकर हो। 'अन्दर के लिए गरम व बाहर के लिए ठण्डा' यह सामान्य नियम है, जिसकी सामान्यतः मनुष्य सदा अवहेलना करता है, हम पीने में बर्फ का प्रयोग करते हैं, स्नान के लिए पानी को गरम करते हैं। ये दोनों ही बातें हानिकर हैं।

भावार्थ—जलों के ठीक प्रयोग से हम स्वस्थ बनकर शान्ति-लाभ करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

खुले मकान, खुले कमरे, सुखदा पृथिवीमाता

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः॥१३॥

१. हे **पृथिवि**=विस्तारवाली भूमिमातः! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुखदा **भव**=हो। यहाँ 'प्रथ विस्तारे' धातु से बने 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग संकेत कर रहा है कि जितना विस्तृत व खुला हमारा निवासस्थान होगा उतना ही वह हमारे स्वास्थ्य आदि के लिए हितकर होगा। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=(ऋक्षर=कण्टक) कण्टकरहित हो। हमारे ग्रामों के मार्ग कण्टकादि की बाधा से रहित होने ही चाहिएँ तथा 'अनृक्षरा'=यह पृथिवी मनुष्यों का विनाश करनेवाली न हो। (क) विषम गर्तों से युक्त प्रदेश पानी के खड़े हो जाने से व मच्छरों की उत्पादक भूमियाँ बन जाने से स्वास्थ्य के लिए कभी हितकर नहीं हो सकता। (ख) वृक्षों की कमीवाला प्रदेश भी अम्लजन की मात्रा की कमी के कारण स्वास्थ्यप्रद नहीं होता। (ग) किसी ग्राम में टी०बी० के अधिक बीमारों के कारण यह बीमारी औरों को भी दबा सकती है, वह स्थान मनुष्यों का नाशक होने से रहने योग्य नहीं रहता। ३. **निवेशनी**=हे पृथिवि! तू विशाल निवासोंवाली हो। मकानों के कमरों का खुला होना भी आवश्यक है। छोटे-छोटे कमरे हमारे स्वास्थ्य को ही ख़राब नहीं करते ये हमारे दिलों को भी छोटा बनाते हैं। ४. **सप्रथाः**=अत्यन्त विस्तार-सहित भूमिमातः! तू **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख **यच्छ**=दे। यह खुलापन स्वास्थ्य के लिए हितकर होकर हमें सुखी बनाता है। तङ्ग स्थानों में सूर्यकिरणों का प्रवेश न होने से बीमारियों का प्रवेश हो जाता है। स्वास्थ्यप्रद वायु भी उन मकानों को पवित्र नहीं कर पाती। ५. यहाँ प्रारम्भ में 'पृथिवी' शब्द है और समाप्ति पर 'सप्रथाः'। एवं, सर्व महत्त्वपूर्ण बात तो विस्तार की है। ये शब्द यदि मकानों के खुले-खुले बने होने का संकेत कर रहे हैं तो 'निवेशनी' शब्द मकान के कमरों के भी खुलेपन पर बल दे रहा है। इन खुले मकानों में ही मस्तिष्क का ठीक विकास होता है और मनुष्य बुद्धि को बढ़ाता हुआ अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे मकान खुले-खुले स्थानों में हो। मकानों के कमरे भी बड़े खुले-खुले हों।

नोट—वेद में ग्रामों का उल्लेख है, बड़े-बड़े नगर वेद को प्रिय नहीं। खुलापन ग्राम-सभ्यता में अधिक सम्भव है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

कल्याणकर जल

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥१४॥

१. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=(मी हिंसायाम्) रोगों के नाश के द्वारा कल्याण करनेवाले **ष्ठाः** (स्था)=हैं। जल रोगों को दूर करके कल्याण प्राप्त कराते हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=(ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राणशक्ति के लिए **दधातन**=धारण करें। इन जलों से हमारा बल तो बढ़ता ही है, प्राणशक्ति की भी वृद्धि होती है। वस्तुतः 'आपोमयाः प्राणाः'=प्राण तो हैं ही जलरूप। 'आपः रेतो भूत्वा'=जल ही रेतस् रूप से शरीर में रहते हैं। ३. **महे**=ये जल **महस्**=तेज के लिए हमें धारित करें। जल नीरोगता के द्वारा हमें तेजस्वी बनाते हैं अथवा **मह**=महत्त्व के लिए, भार के लिए धारण करें। जल से शरीर पतला-दुबला न रहकर उचित स्थूलता को प्राप्त करता है। ४. **रणाय**=(रमणीयतायै) जल हमें नीरोग बनाते हैं, तेजस्वी बनाते हैं, इस प्रकार ये जल हमें रमणीयता के लिए धारण करते हैं। इनसे हमें स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त होता है। 'रणाय' शब्द 'रण शब्दे' धातु से बनकर इस भावना को भी व्यक्त करता है कि ये जल हमारी वाणी की शक्ति को बढ़ाते हैं। इनके उचित प्रयोग से संभवतः गूँगेपन की चिकित्सा भी सम्भव हो। ५. **चक्षसे**=ये जल हमें दृष्टिशक्ति के लिए धारण करें। 'जल आँखों की शक्ति को बढ़ाते हैं' इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। शुद्ध जल से परिपूर्ण बालटी में आधे सिर को डालकर आँखों को उसमें खोलने से दृष्टिशक्ति की निश्चय से वृद्धि होती है।

भावार्थ—जल नीरोगता, बल व प्राणशक्ति, महत्त्व, रमणीयता व वाक्शक्ति तथा दृष्टिशक्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जल-रस-सेवन—पीने का प्रकार

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥१५॥

१. इन मन्त्रों के ऋषि 'सिन्धुद्वीप' हैं। 'स्यन्दन्ते इति सिन्धवः'=बहने से जल 'सिन्धु' हैं। ये जल जिसके अन्दर व बाहर उपयुक्त हुए हैं, वह 'द्विर्गता आपो यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से 'द्वीप' है। यह सिन्धुद्वीप कहता है कि हे जलो! **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=उसका **नः**=हमें **इह**=इस मानव-शरीर में **भाजयत**=सेवन कराइए। उसी प्रकार **इव**=जैसे **उशती**=हित चाहती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को दूध का सेवन कराती हैं। २. जल हमारे लिए उसी प्रकार हितकर हैं जैसे बच्चे के लिए माता। बच्चा जिस प्रकार मातृस्तन से दुग्ध का धीमे-धीमे पान करता है, इसी प्रकार हमें धीमे-धीमे जल का रस लेना है। ३. जैसे हाथी तो गन्ना खा जाता है, परन्तु मनुष्य गन्ने का रस लेता है इसी प्रकार हमें जल नहीं पी जाना अपितु जल का रस लेना है। 'कुल्ला करते जाएँ', थोड़ा-थोड़ा पानी अपने आप अन्दर जाएगा। यह जल के रस को लेना है। एकदम गिलास-का-गिलास पेट में नहीं उलट देना। बाहर भी वस्तुतः स्पञ्जिंग के ढंग से पानी का रस लेना है, बालटियाँ नहीं उलटाते चलना। हम सन्तरा नहीं खा जाते, उसका रस ही लेते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जल के रस के सेवन का विधान है। जल को सदा धीमे-धीमे पीना ही हितकर है, इसी को आचमन करना कहते हैं, sipping न कि Drinking। आचमन के रूप में पिया हुआ जल रोगों का आचमन (चमु भक्षणे) कर जाता है। यह रस हमें नीरोगता व दीर्घायु प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम सदा जलों का सेवन आचमनरूप से करते हुए उनके रस का ग्रहण करें।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—आपः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विकास व बन्ध्यत्व-निवृत्ति

तस्माऽअरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥१६॥

१. **वः तस्मा** (तस्मै)=हे जलो! आपके उस रस को हम **अरम्**=पर्याप्त रूप से **गमाम**=प्राप्त हों, **यस्य**=जिस रस के कारण (यस्य हेतोः) आप हमें **क्षयाय**=(क्षि=निवासगत्योः) निवास व गति के लिए **जिन्वथ**=प्रीणित करते हो, बढ़ाते हो। जलों में एक रस है, रस ही जलों का गुण है। यह रस रोगों को नष्ट कर शरीर में हमारे निवास को उत्तम बनाता है और हममें स्फूर्ति का सञ्चार करता है। हम नीरोग व बड़े क्रियाशील बने रहते हैं। २. **आपः**=हे जलो! आप **नः**=हमें **जनयथा च**=सब प्रकार से आविर्भूत, विकसित करते हो। आपके प्रयोग से हमारी सब शक्तियों का ठीक विकास होता है। 'जनयथा' शब्द का संकुचित अर्थ यह है कि जननशक्ति से युक्त करते हो। ये जल बन्ध्या को अबन्ध्या बना देते हैं। जैसे ये मरुभूमि को उर्वरा बना देते हैं, उसी प्रकार ये पुरुष व नारी को भी अबन्ध्यता प्राप्त कराते हैं। इनके शास्त्र-विहित प्रयोग से बन्ध्यात्व नष्ट हो जाता है। ये जल अन्य सब शक्तियों का विकास करते हुए बन्ध्यापन को भी दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—इस जल-रस सेवन से हम उत्तम निवासवाले हों, गतिशील हों और हमारी सब शक्तियों का विकास होकर हमारा बन्ध्यापन दूर हो।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—भुरिक्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

शान्ति-पाठ

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥१७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र 'शान्ति-पाठ' का मन्त्र कहलाता है। सब यज्ञ-कार्यों की समाप्ति पर इस मन्त्र का पाठ किया जाता है। प्रारम्भ में लोकत्रयी से शान्ति की याचना इस प्रकार है— **द्यौः शान्तिः**=द्युलोक शान्ति देनेवाला हो, **अन्तरिक्षम् शान्तिः**=अन्तरिक्ष शान्ति दे और **पृथिवी शान्तिः**=पृथिवीलोक शान्ति प्राप्त कराए। तीनों ही लोक हमारे साथ शान्ति में हो, हमारी इनसे प्रतिकूलता न हो। द्युलोक का सूर्य शान्ति-कर होकर तपे, अन्तरिक्षलोक का पर्जन्य अतिवृष्टि व अनावृष्टि का कारण न बनता हुआ हमें शान्ति दे और यह दृढ़ पृथिवीलोक हमारा धारण करनेवाला हो। अध्यात्म में ये ही तीनों लोक क्रमशः मस्तिष्क, हृदय व शरीर हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता हुआ हमें शान्ति दे, हमारा हृदय करुणा के पर्जन्य से युक्त हुआ-हुआ हमारे स्वभाव को शान्त बनाये तथा यह हमारा पृथिवीरूप शरीर अत्यन्त दृढ़ हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि सच्ची शान्ति के लिए दीप्तमस्तिष्क, करुणाद्र चित्त तथा दृढ़ शरीर की आवश्कयता है। २. **आपः शान्तिः**=जल हमें शान्ति दें। इस पृथिवी पर सर्वप्रथम तत्त्व जल ही है। ये नीरोगता के द्वारा हमें शान्ति देनेवाले हैं। ये जल ही शरीर में 'आपो रेतो भूत्वा'=वीर्यशक्ति के रूप में रहते हैं। यह वीर्य सब रोगों को कम्पित कर, दूर भगाकर हमें शान्ति प्राप्त कराता है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न यह सोम सचमुच ही हमें 'सौम्य' बनाता है। ३. इन जलों से ओषधि-वनस्पतियों का जन्म होता है, अतः कहते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **शान्तिः**=शान्ति दें। **वनस्पतयः शान्तिः**=

वनस्पतियाँ शान्ति दें। ओषधि व वनस्पति में यह अन्तर है कि ओषधियाँ फलपाकान्त होती हैं जबकि वनस्पतियाँ अगले-अगले वर्षों में भी फल देती हैं। सब अन्न ओषधि हैं और शाक-फल 'वनस्पति' हैं। अन्न ओषधि की भाँति ही प्रयुक्त होगा तो क्यों शान्ति न देगा? अन्न को क्षुधा-रोग का औषध समझना, तब यह औषधवत् मात्रा में प्रयुक्त हुआ-हुआ कल्याण ही करेगा। वनस्पतियाँ भी (वन=शरीर, पति=रक्षक) शरीर की रक्षक हैं। शरीर की रक्षा के उद्देश्य से ही इनका सेवन होना चाहिए। ओषधियाँ, वनस्पतियाँ अध्यात्म में 'लोम' हैं, ये लोम शरीर के रक्षक हैं। नासिका छिद्र के बाल श्वास के साथ धूल आदि को अन्दर नहीं जाने देते, एवं ये लोम शरीर की शान्ति के कारण बनते हैं। ४. **विश्वेदेवाः शान्तिः**=प्रकृति के ये सभी देव मुझे शान्ति देनेवाले हों, परन्तु ये शान्ति देनेवाले तभी होंगे जब मुझे इनका ज्ञान होगा, अतः अगली प्रार्थना करते हैं—**ब्रह्म शान्तिः**=ज्ञान मुझे शान्ति दे। जिस पदार्थ के गुण-धर्म का ज्ञान नहीं होता वही हानिप्रद हो जाता है। प्रायः उसका ग़लत प्रयोग हो जाता है? इस ज्ञान को प्राप्त कर **सर्वम् शान्तिः**=सब पदार्थ हमें शान्ति देनेवाले हों। ५. **शान्तिः एव शान्तिः**=शान्ति भी शान्ति ही हो। कहीं मेरी शान्ति अशान्ति का कारण न बन जाए। वस्तुतः शान्ति के लिए शरीर का अत्यन्त अशान्त, अर्थात् क्रियाशील होना आवश्यक है। सामने आग लगी हो और मैं शान्त बैठा हुआ हाथ-पैर न हिलाऊँ तो ऐसी शान्ति महान् अनर्थ का हेतु बन अशान्ति को ही पैदा करेगी। मेरे सामने कोई मेरे पिताजी से दुर्व्यहार करता है और मैं शान्त बैठा रहूँ, यह शान्ति मुझे पापभाक् बनाकर अशान्त ही करेगी। 'शरीर अधिक-से-अधिक अशान्त और मन पूर्ण शान्त' ऐसी शान्ति तो शान्ति है, परन्तु जिसमें 'शरीर शान्त है और मन अशान्त' वह शान्ति का आभास है, शान्ति नहीं। **सा शान्तिः**=वह सच्ची शान्ति **मा**=मुझे **एधि**=प्राप्त हो ६. इस प्रकार शान्त वातावरण में निवासवाला व्यक्ति ही ध्यान लगा सकता है और 'दध्यङ्' नामवाला बनता है। इसका मन विह्वल व डाँवाँडोल नहीं, अतः यह 'आथर्वण' है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देव मेरे अनुकूल हों, वे मेरे साथ शान्ति में हों। उनके ठीक ज्ञान से मेरा उनके साथ सम्बन्ध मधुर हो। मैं उनके प्रति आसक्त न होकर सदा उनका ठीक उपयोग करूँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मित्र-दृष्टि

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥१८॥

१. **दृते**=हे विदारण करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **दृंह**=दृढ़ बनाइए। किसी भी वस्तु को दृढ़ बनाने का प्रकार यही है कि उसकी कमियों का विदारण कर दिया जाए। हे प्रभो! आप मुझे भी, मेरी कमियों का विदारण करके दृढ़ बनाइए। जब कमियों को दूर करके हमारा जीवन कुछ अच्छा बनता है तब हम चाहते हैं कि—२. **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत **मा**=मुझे **मित्रस्य चक्षुषा**=स्नेह की दृष्टि से **समीक्षन्ताम्**=देखें। ३. धीमे-धीमे इस इच्छावाला व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मेरी यह इच्छा तभी पूर्ण होगी जब **'अहम्'**=मैं **सर्वाणि भूतानि**=सब भूतों को **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=आँख से **समीक्षे**=देखूँगा। प्रेम पारस्परिक है, मैं प्रेम से देखूँगा तो लोग भी मुझे प्रेम से देखने लगेंगे और यह अनुभव करेंगे कि कल्याण तभी होगा जब हम **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=दृष्टि से **समीक्षामहे**=देखेंगे। 'सभी

प्रेम से देखने लगें' समाज का कल्याण इसी में है। मानव-समाज की सबसे बड़ी कमी परस्पर स्नेह का न होना ही है। स्नेह ही समाज को दृढ़ बनाता है। इसका अभाव समाज को तोड़-फोड़ देता है। प्रभु का ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' सभी में प्रभु का दर्शन करता है, अतः सभी से स्नेह करता है। यह इस 'स्नेह करने' के सिद्धान्त से कभी डगमगाता नहीं, यह 'आथर्वण' न विचलित होनेवाला होकर इसका पालन करता है।

भावार्थ—मैं सभी को प्रेम से देखूँ और सभी सबको प्रेम से देखें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—पादनिचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

संदर्शन—संजीवन

दृते दृꣳह मा। ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्॥१९॥

हे **दृते!**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! **मा दृंह**=मुझे दृढ़ बनाइए। मेरी कमियों को दूर करके मेरे जीवन को सुदृढ़ कीजिए। मैं कमियों से बचा रहूँ इसके लिए मैं **ज्योक् ते**=सदा आपके **संदृशि**=सन्दर्शन में **जीव्यासम्**=जीवन धारण करूँ। (संदर्शनम्= संदृक्) और **ज्योक्**=सदा दीर्घकाल तक **ते संदृशि**=आपके संदर्शन में ही **जीव्यासम्**=जीऊँ। एक ही बात को दो बार कहना दृढ़ता के लिए होता है। प्रभु के संदर्शन में जीना अत्यन्त आवश्यक है। २. 'प्रभु मेरे समीप हैं, वे मेरे प्रत्येक कार्य को देख रहे हैं', इस भावना के उदित रहने से मैं कोई ग़लत कार्य नहीं करूँगा। मेरा जीवन कमियों से न भरे। २. साथ ही सर्वत्र प्रभु-दर्शन से हम परस्पर प्रेम से चलने का पाठ भी पढ़ेंगे। हमें परस्पर एक बन्धुत्व का भी अनुभव होगा। पिछले मन्त्र की प्रार्थना को जीवन में अनूदित करने के लिए प्रभु की आँख से ओझल न होना, अपने को उसकी आँख से ओझल न होने देना अत्यन्त आवश्यक है।

सदा प्रभु के संदर्शन में जीनेवाला व्यक्ति 'दध्यङ्' प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह धर्म के मार्ग से विचलित न होने के कारण 'आथर्वण' भी है। यह यही कह सकता है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

भावार्थ—मैं सदा प्रभु के संदर्शन में जीवन धारण करूँ, जिससे मेरा जीवन कमियों से न भरकर मैं सभी के साथ स्नेह कर सकूँ।

ऋषिः—लोपामुद्रा। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

रोग, लोभ व अज्ञान का लोप

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥२०॥

गतमन्त्र में दीर्घकाल तक प्रभु के सन्दर्शन में जीवन-यापन का उल्लेख था। ये प्रभु से कहते हैं। **हरसे**=सब रोगों का हरण करनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। संस्कृत में रोग का हरण करनेवाले वैद्य का नाम 'रोगहारी' है। वही 'हृ' धातु 'हरस्' शब्द में है। प्रभु के स्मरण से हम स्वादादि में नहीं फँसते, परिणामतः अधिक नहीं खाते और रोगों से बचे रहते हैं, एवं प्रभु सचमुच रोगों का हरण करनेवाले हैं। २. **शोचिषे**=(शुच् दीप्तौ) हमारे जीवनों को शुचि व दीप्त बनानेवाले **नमः**=आपके लिए नमस्कार है। प्रभु-स्मरण हमारे शरीरों को नीरोग बनाता है तो प्रभु-स्मरण से हमारे मन निर्मल व पवित्र होते हैं। प्रभु

के सान्निध्य में हम पाप थोड़े ही करेंगे? वासना स्मर' है, तो प्रभु 'स्मरहर' हैं। जहाँ प्रभु-स्मरण होता है वहाँ वासना का विनाश हो जाता है। ३. **अर्चिषे**=हमें ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान करनेवाले **ते नमः**=तेरे लिए नमस्कार हो। प्रभु हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त कर देते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत वे प्रभु ही हैं। ४. वह व्यक्ति जो प्रभुकृपा से शरीर से नीरोग, मन से पवित्र तथा मस्तिष्क से दीप्त बना है, वह अब चाहता है कि **ते**=तेरी **हेतयः**=ज्ञानदीप्तियाँ **अस्मत्**=हमसे प्रवाहित होकर **अन्यान्**=दूसरों को भी **तपन्तु**=दीप्ति प्राप्त कराएँ। हम आपसे प्राप्त इन ज्ञान की किरणों को औरों तक पहुँचाएँ। ५. ब्रह्मचर्याश्रम में हम प्रभु को 'हरस्' के रूप में स्मरण करें और सोमशक्ति की ऊर्ध्वगति करके सब **रोगों का हरण व लोप करनेवाले** बनें। गृहस्थ में हमारा स्मरणीय प्रभु 'शोचिष्' है। वह हमारे मनों को शुचि बनाता है। **'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः'** (मनु)। धन की दृष्टि से शुचि व्यक्ति ही तो शुचि है। एवं, प्रभु-स्मरण हमारे मनों से **लोभ का लोप** करनेवाला हो। वानप्रस्थ में हमारा प्रभु 'अर्चिष्' हो जाता है। यह ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान है। यह हमारे मस्तिष्क से अज्ञानान्धकार का लोप करता है। वानप्रस्थ तो **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**=सदा स्वाध्याय में लगा होता है। इसके बाद संन्यास में यह अपने आराम आदि का त्याग कर प्रजा के अज्ञानान्धकर को लुप्त करने में लगा है, एवं इसका नाम ही 'रोग, लोभ व अज्ञान' को लुप्त करने के कारण 'लोपा' हो गया है। इसका चित्त इस रोग, लोभ व अज्ञान को लुप्त करके बड़ा प्रसन्न है, अतः वह 'मुद्रा' है। यह 'लोपामुद्रा' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ४. यह ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पावकः**=हे प्रभो! आप पवित्र करनेवाले हो। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाले **भव**=होओ। 'लोपामुद्रा' अपने जीवन के निर्माण का ध्यान करता है और कल्याण के लिए याचना करता है।

भावार्थ—हमारे शरीर नीरोग हों, मन शुचि हों, मस्तिष्क उज्ज्वल हों। हम सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाएँ। प्रभु हमारा कल्याण करें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'विद्युत्, स्तनयित्नु व भगवान्'

नम॑स्तेऽअस्तु वि॒द्युते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑। नम॑स्ते भगवन्नस्तु य॒तः स्वः॒ स॒मीह॑से॥२१॥

१. **विद्युते**=विशेषरूप से चमकनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। वे प्रभु सर्वतो देदीप्यमान हैं, वे तो ज्योतिर्मय-ही-ज्योतिर्मय हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजुः) वे प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। हज़ारों सूर्यों के सामन उस प्रभु की आभा है। जीव की चमक सूर्य की चमक की भाँति अपनी चमक नहीं है। जीव का ज्ञान तो नैमित्तिक है। सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा भी प्रकाशवाला होता है, इसी प्रकार प्रकार प्रभु की ज्योति प्राप्त करके जीव भी ज्योर्तिमय होता है। जब कभी सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथिवी आ जाती है तब चन्द्रग्रहण हो जाता है, चन्द्रमा का उतना भाग चमकता नहीं। जीव को भी यह ब्रह्मज्योति इन पार्थिव भोगों के बीच में आ पड़ने से प्राप्त नहीं होती। पार्थिव भोग हटे, और जीव ज्ञानज्योति से जगमगा उठा। २. **स्तनयित्नवे ते नमः**=मेघ के समान गर्जना करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो। प्रभु ज्ञान की ज्योति से परिपूर्ण तो हैं ही। वे उस ज्ञान का शब्दों में उच्चारण भी कर रहे हैं। धीमे-धीमे नहीं, मेघ की गर्जना के समान, परन्तु उस गर्जना को भी हम नहीं सुन पाते, क्योंकि हमारे मानस पटल के द्वार ही बन्द हो रहे हैं। मौज-मस्ती में, संसार के आमोद-प्रमोद में प्रभु की आवाज़ सुनाई नहीं देती। हम मौजों

से उपर उठेंगे, तो प्रभुदर्शन करेंगे, उनकी आवाज़ को सुनेंगे। भोज (Feast) में उसकी आवाज़ दब जाती है, भूख (fast) में स्पष्ट सुनाई पड़ती है। सुख-सम्पत्ति में "God is nowhere" लगता है, तो विपत्ति में 'God is now here' हो जाता है। सुख में हम प्रभु को भूल जाते हैं-दुःख में ही स्मरण होता है। ३. बीच के आवरण के हटते ही हम कह उठते हैं कि हे **भगवन्**=भगवाले प्रभो। **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। 'भग' की इच्छा से हमें उस भगवान् के पास ही जाना होगा। भग का अभिप्राय 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य' है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति में 'ऐश्वर्य व वीर्य' धन व शक्ति चाहता है, ज़रा ऊँचा उठने पर उसका ध्येय यश व श्री हो जाते हैं और अन्त में उसका झुकाव ज्ञान व वैराग्य की ओर जो जाता है। मनुष्य उन्नति की किसी भी स्थिति में हो वह इन ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए उस 'भगवान्' के पास ही जाएगा। ४. हे प्रभो! यह 'भग' वह है **यतः**=जिसके द्वारा **स्वः**=हमारे सुख को **समीहसे**=आप सम्यक्तया करना चाहते हैं। प्रारम्भ में ऐश्वर्य व वीर्य से ही जीवन-यात्रा चलती है। इनमें से किसी एक के भी आभाव में जीवन-यात्रा चलना सम्भव नहीं। मनुष्य इन्हें प्राप्त करके यश व श्री की कामनावाला होता है और अन्त में ज्ञान व वैराग्य में शान्ति-लाभ करता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन सुख से व्यतीत हो पाता है। वैराग्य की-अनासक्ति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचकर जीव सचमुच **दध्यङ् आथर्वण**=प्रभु का ध्यान करनेवाला निश्चल मनोवृत्तिवाला बन जाता है।

भावार्थ=प्रभु विद्युत् है, स्तनयित्नु हैं, भगवान् हैं। भग को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः-दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता-ईश्वरः। छन्दः-भुरिगुष्णिक्। स्वरः-ऋषभः।

दैव व आसुर, प्रजा व प्रभु (Civil and Military)

यतोयतः समीहसे ततो नोऽअभयं कुरु।

शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥२२॥

यतः यतः=जिस-जिस वस्तु से हे प्रभो! आप हमारा (स्वः) **समीहसे**=सुख करना चाहते हैं **ततः**=उस-उस वस्तु के द्वारा **नः**=हमें **अभयं कुरु**=निर्भय कीजिए। जीवन के प्रारम्भ में अर्थात् गृहस्थ में प्रभु 'ऐश्वर्य व शक्ति' के द्वारा हमारा कल्याण करते हैं, वानप्रस्थ में इसका स्थान 'यश व श्री' ले-लेते हैं, और संन्यास में 'ज्ञान और वैराग्य' उसके सम्बल होते हैं। गृहस्थ में ही ये ज्ञान और वैराग्य आ जाएँ तो गृहस्थ बिगड़ जाए और यदि संन्यास में अचानक ऐश्वर्य और शक्ति का विचार आ जाए तो वह संन्यास ही न रहे। एवं, प्रत्येक स्थिति में जिस-जिस गुण व द्रव्य से हे भगवन्! आप हमारा कल्याण चाहते हैं हमें उस-उस वस्तु के द्वारा निर्भय कीजिए।

२. (क) समाज में लोग दो भागों में बँटे हैं। एक दैव हैं, दूसरे आसुर। दैव लोग विकास व गुणों के प्रादुर्भाव के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वैज्ञानिकों ने औषधों के आविष्कार से रोगों को दूर किया तो कृषि की उन्नति से अकाल को समाप्त कर दिया और इस प्रकार मनुष्य के प्रादुर्भाव व विकास में सहायक होने से 'प्रजा' कहलाये। इन्होंने एटम बम्ब आदि से संहार का भी पोषण किया, परन्तु वह तो सब राजनीतिज्ञों के दबाव के कारण ही हुआ। हे प्रभो! आप इन **प्रजाभ्यः**=विकास के कारणभूत दैववृत्तिवाले लोगों से **नः**= हमारे लिए **शम् कुरु**=शान्ति कीजिए। (ख) इनके विपरीत वे लोग भी हैं जो पशुओं की तरह बिलकुल स्वार्थी हैं, जिन्हें अपने से मतलब है, जिनको लोकहित का ज़रा भी

ध्यान नहीं। ये पशुओं की भाँति ही खूँखार हैं। हे प्रभो! इन **पशुभ्यः**=पशुओं से **नः**=हमें **अभयम्**=निर्भय कीजिए। राष्ट्र में एक सिविल विभाग होता है, यह शान्त स्वभाव का होता है, यही प्रजा के अन्दर शान्ति स्थापित करने का कार्य करता है। दूसरा मिलिटैरी का विभाग है, यह लड़ने के लिए तैयार किया जाता है। इसे नगरों से दूर ही रखते हैं, क्योंकि इनके नगरों के समीप आने पर नगरवासियों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इनसे भी हमें अभय प्राप्त हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि लोगों को इनसे भय प्राप्त न हो।

भावार्थ—हम उस-उस समय 'ऐश्वर्य-शक्ति, यश-श्री, ज्ञान-वैराग्य' से सुख को प्राप्त करें। दैवी प्रवृत्ति के लोग हमारी शान्ति का कारण बनें और आसुर-पशुवृत्ति के लोगों से हमें भय प्राप्त न हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च=भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है—**आपः ओषधयः**=जल तथा ओषधियाँ, अर्थात् खान-पान की वस्तुएँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली (ञिमिदा स्नेहने) उत्तम मेदस् (Fat) को बढ़ानेवाले (मिद्=मेदस्) अथवा उत्तम औषध के गुणोंवाली (मिद्=Medicine) और इस प्रकार (मित्रः=प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से बचानेवाली **सन्तु**=हों, परन्तु **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=अप्रीति करता है, **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=नहीं चाहते **तस्मै**=उसके लिए ये जल और ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली हों, उन्हें ये रोगों से बचानेवाली न हों। २. प्रस्तुत मन्त्र में भोजन के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है कि 'भोजन सदा प्रसन्नता-पूर्वक खाना चाहिए'। मनुजी ने लिखा है कि भोजन सामने आये तो '**दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च**'=देखकर हर्षित और प्रसन्न हो। प्रसन्नतापूर्वक खाया हुआ भोजन हमारे शरीरों में रुधिरादि उत्तम धातुओं को पैदा करता है। द्वेष की भावना से भरा हुआ चित्त हो और पौष्टिक-से-पौष्टिक पदार्थ खाएँ, तो वे कभी हमारे शरीर का आप्यायन न करेंगे। वे भोजन हमारा पालन करनेवाले ही न होंगे। ऐसी स्थिति में कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो भूख को भी समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। हमारा भोजन 'आपः ओषधयः' हैं, न कि मांस।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अदीनता

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतः शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥२४॥

१. **तत्**=वह **चक्षुः**=सब पदार्थों के तत्त्व का दर्शक वेदज्ञान, जो **देवहितम्**=देवों में निहित होता है और देवों के लिए हितकर होता है, जो **शुक्रम्**=(शुच् दीप्तौ) सर्वतः देदीप्यमान है—शुद्ध है—निर्भान्त है, वह वेदज्ञान **पुरस्तात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में **उच्चरत्**=उच्चारण

किया गया। **पुरस्तात्**=वेदज्ञान के सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाने की आवश्यकता स्पष्ट है। मनुष्य का ज्ञान नैमित्तिक है–'यदि उसे ज्ञान न दिया जाए तो वह उसे स्वयं विकसित कर लेगा' ऐसी सम्भावना नहीं है। गूँगी–बहरी दासियों से वन में पाले गये बच्चे केवल मैं–मैं करना ही सीखे, क्योंकि उनके समीप बकरियाँ बँधी थी। वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन दोनों तथ्यों से यही परिणाम प्राप्त होता है कि 'वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया'। **देवहितम्**=(क) प्रभु ने इस वेदज्ञान को देवों के हृदय में स्थापित किया। **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'** जो श्रेष्ठ व निर्दोष थे, उन्हीं के हृदयों में वेदज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। (ख) यह वेदज्ञान देवों का ही हितकर होता है। जो इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं–उन्हीं देवों को इसका लाभ प्राप्त होता है। हम **शरदः शतम्**=सौ–के–सौ वर्ष–पर्यन्त **पश्येम**=इस वेदज्ञान को देखें। हम वेदों को पढ़ें, इनका नियमित स्वध्याय करें। **शरदः शतम्**=सौ–के–सौ वर्षपर्यन्त **जीवेम**=इन वेदों को ही जीने का प्रयत्न करें, अर्थात् अपने जीवन को वेदानुसार बनाने के लिए यत्नशील हों। वेद को अपने जीवन में घटाने की कोशिश करना ही अपने जीवन को वेद पढ़ाना है। वेद को जीने का प्रयत्न करेंगे तभी लाभ होगा।

शरदः शतम्=सौ वर्षपर्यन्त **शृणुयाम**=हम इन वेदों को सुनें तथा **शरदः शतम्**=सौ वर्ष पर्यन्त इन वेदों का ही **प्रब्रवाम**=प्रवचन करें, अर्थात् वेदोपदेश ही सुनें और सुनाएँ। शुभ की कथा शुभ प्रभाव को उत्पन्न करेगी ही। आचार्य ने इन्हीं शब्दों को ध्यान में रखते हुए इसे परमधर्म माना कि वे वेद पढ़ें (पश्येम) पढ़ाएँ (जीवेम) सुनें (शृणुयाम) सुनाएँ (प्रब्रवाम) ३. इस प्रकार वेदज्ञान का हमारे जीवनों पर यह परिणाम हो कि हम **शरदः शतम्**=सौ–के–सौ वर्षपर्यन्त **अदीनाः स्याम**=अदीन हों। हममें हीनता की भावना न हो। हम कृपण व अनात्मज्ञ न हों। अपनी महिमा को अनुभव करें। व्यावहारिक जगत् में न दबें न दबायें, न खुशामद करें और न ही खुशामद पसन्द हों। **शरदः शतात् भूयः च**=सौ से अधिक वर्ष भी हमारे जीवन इसी प्रकार वेद के पढ़ने–पढ़ाने व सुनने–सुनाने में व्यतीत हों और हम अदीन बने रहें। हमें सच्ची शान्ति इसी प्रकार प्राप्त होगी। वेदज्ञान ही मौलिक शान्ति देनेवाला है।

भावार्थ–प्रभु ने सृष्टि–आरम्भ में इस वेदज्ञान का उच्चारण किया है। हमें इसी के पढ़ने–पढ़ाने व सुनने–सुनाने में लग जाना चाहिए और सदा अदीनतापूर्वक वर्त्तना चाहिए।

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—सविता। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

वस्तुओं के ग्रहण में तीन बातें

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॑ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आ द॑दे॒ नारि॑रसि॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'दध्यङ् आथर्वण' है; ध्यान करनेवाला, डाँवाँडोल न होनेवाला। यह संसार में विचरता है, संसार की वस्तुओं का प्रयोग करता है। वह कहता है कि **आददे**=मैं वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ, १. परन्तु प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करते हुए वह कहता है कि **त्वा**=तुझे ग्रहण तो करता हूँ, **सवितुः देवस्य** =उस प्रेरणा करनेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में स्थित होता हुआ, अर्थात् उस प्रभु की आज्ञानुसार। प्रभु का आदेश है **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोग करो, अतः यह 'दध्यङ्' प्रत्येक वस्तु का त्यागपूर्वक उपयोग करता है। इस प्रकार किसी भी वस्तु के 'अयोग तथा अतियोग से बचता हुआ यह 'दध्यङ्' उस-उस वस्तु का यथायोग ही करता है। २. साथ ही यह कहता है कि अश्विनोः=प्राणापान के बाहुभ्याम्=(बाह्ट प्रयत्ने) प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। यह आवश्यक वस्तु का उपार्जन अपनी प्राणापान की शक्ति से करता है। यह कभी दूसरे के उपार्जित धन को प्राप्त करने की कामना नहीं करता। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् मेरे पोषण के लिए जितने धन की व जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उसी का मैं ग्रहण करता हूँ। स्वाद के लिए मैं वस्तुओं का ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार वस्तुओं के ग्रहण में यह तीन बातों का ध्यान करता है (क) उस सवितादेव के आदेश के अनुसार हो, (ख) अपनी प्राणशक्ति से अर्जित हो, (ग) पोषण के उद्देश्य से, न कि स्वाद के लिए उसका ग्रहण हो। इस प्रकार इन बातों का ध्यान करने से यह प्रत्येक पदार्थ के लिए यह कह पाता है कि **न अरिः असि**=तू मेरा शत्रु नहीं है। प्रत्येक पदार्थ हमारा हित ही करता है, यदि मन्त्रवर्णित इन तीन बातों का ध्यान किया जाए।

भावार्थ—हम प्रभु के आदेश के अनुसार वस्तुओं का ग्रहण करें, स्वयं पुरुषार्थ से अर्जित वस्तु को ही लें। पोषण के लिए जितनी पर्याप्त है उतनी ही लें। ऐसा करने पर सब वस्तुएँ हमारी मित्र होंगी।

ऋषिः—श्यावाश्वः। देवता—सविता। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

मनो निरोध

यु॒ञ्जते॒ मन॑ऽउ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ऽइन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः॥२॥

पिछले मन्त्र में संसार के पदार्थों के ग्रहण में तीन बातों का ध्यान करने के लिए कहा गया था। इस मनोवृत्ति को बनाने के लिए अपेक्षित अभ्यास का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में

करते हैं १. **विप्रः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग **मनः**=अपने मनों को **युञ्जते**=प्रभु के ध्यान में केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं **उत**=और **धियः**=अपनी-अपनी बुद्धियों को भी उसी के विचार में **युञ्जते**=युक्त करते हैं। किस प्रभु के? (क) **विप्रस्य**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले के, अर्थात् जो प्रभु हमारी सब कमियों को दूर करते हैं, (ख) **बृहतः**=जो सदा वर्धमान हैं (बृहि वृद्धौ) (ग) **विपश्चितः** (वि पश् चित्)=जो विशिष्ट द्रष्टा व पूर्ण ज्ञानवाले हैं। उस प्रभु में हम अपने मनों व बुद्धियों को केन्द्रित करेंगे तो हमारे शरीर भी सब न्यूनताओं से ऊपर उठकर पूर्ण स्वस्थ होंगे, हमारे हृदय विशाल होंगे तथा हमारे मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल बनेंगे। २. वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में ही **होत्रा**=(होत्रा इति वाङ् नाम —नि १.११) इस वेदवाणी को **विदधे**=विशेषरूप से **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'**=श्रेष्ठ व निर्दोष ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। वस्तुतः इस वेदवाणी के द्वारा प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही हमें कर्त्तव्य का ज्ञान दे दिया है, सब पदार्थों का ज्ञान उस वाणी में विद्यमान है। उसका ठीक-ठीक ग्रहण करने से हम ज्ञानी बनकर अपने कर्त्तव्य पथ पर निरन्तर आगे बढ़नेवाले हो सकते हैं। ३. **वयुनावित्**=(वयुनम्=प्रज्ञानाम—नि० ३.९) वे प्रभु हमारे सब प्रज्ञानों को जाननेवाले हैं। हमने सोचा और प्रभु ने जाना। ४. **एकः**=वे एक ही हैं। इस सारे ब्रह्माण्ड के निर्माण-धारण व प्रलयरूप कार्यों को करने में उस प्रभु को किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं होती। वे अद्वितीय प्रभु सब जीवों को उनके कर्मानुसार उस-उस स्थिति में रखनेवाले हैं। ४. इस **देवस्य सवितुः**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रेरक प्रभु की **इत्**=निश्चय से **मही परिष्टुतिः**=यह महान् महिमा है, संसार का एक-एक पदार्थ उस प्रभु की महत्ता को व्यक्त कर रहा है। ५. एवं, अपने मनों व बुद्धियों को प्रभु में लगाकर हम इस संसार में प्रत्येक पदार्थ का 'यथायोग' करनेवाले बनते हैं। उस समय संसार का प्रत्येक पदार्थ हमारा मित्र होता है। अपने इन्द्रियरूप अश्वों को सदा उत्तमता से गतिमय (श्यै) रखनेवाला 'श्यावाश्व' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इसके इन्द्रियाश्व विषयों में विचरण करते हैं, परन्तु वेद में दिये गये प्रभु के निर्देशों के अनुसार। इसी कारण यह आत्मवशी इन्द्रियों से विषयों में विचरता हुआ भी उनमें उलझता नहीं और 'प्रसाद' को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम मन व बुद्धियों को प्रभु में लगाएँ, जिससे इस योग से—चित्तवृत्तिनिरोध से इस संसार में विचरें, परन्तु उलझें नहीं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**द्यावापृथिव्यौ**। छन्दः—**ब्राह्मीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

द्यावापृथिवी=दीप्त मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर

देवी॑ द्यावापृथिवी मु॒खस्य॑ वाम॒द्य शिरो॑ राध्यासं देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः।
म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे॥३॥

'द्यावापृथिवी' का अर्थ अध्यात्म में मस्तिष्क और शरीर है। 'मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्'। ये दोनों 'देवी'=दिव्य गुणोंवाले तब होते हैं जब शरीर तो नीरोग हो और मस्तिष्क सूक्ष्म विषयों के ग्रहण में समर्थ हो। **वाम्**=इन दिव्य गुणोंवाले शरीर व मस्तिष्क के द्वारा **अद्य**=आज **मखस्य**=यज्ञ के **शिरः**=शिर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान में मैं **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। 'दध्यङ् आथर्वण' प्रभु का ध्यान करनेवाला, डाँवाँडोल न होनेवाला निश्चय करता है कि

मैं अपने नीरोग शरीर व ज्ञान से दीप्त मस्तिष्क के द्वारा अपने जीवन को यज्ञमय बनाऊँ। मैं प्रत्येक वस्तु को इसीलिए ग्रहण करूँ कि उसके द्वारा मैं यज्ञ को सिद्ध करनेवाला होऊँ, यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए मेरी प्रत्येक शक्ति हो। मख शब्द का अर्थ यज्ञ है। गोपथ (उ.२.५) में मख की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है 'मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात् छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः मा यज्ञम् छिद्रं करिष्यतीति।' अर्थात् मख यह यज्ञ का नाम है, छिद्र के प्रतिषेध की शक्ति के कारण। 'ख' का अर्थ है—छिद्र, दोष, उसका 'मा' से प्रतिषेध हो रहा है। यज्ञ दोष का निवारण करेगा। एवं, मैं अपनी प्रत्येक शक्ति को यज्ञ के प्रति अर्पित करने का प्रयत्न करूँगा तो मेरा जीवन निर्दोष बनेगा। इसी विचार से 'दध्यङ्' इन्हें यज्ञ में लगाये रखने का ध्यान करता है और यज्ञ के मार्ग से डाँवाँडोल नहीं होता, इसीलिए तो यह 'आर्थवण' है।

भावार्थ—मेरा शरीर व मस्तिष्क मुझे यज्ञ के शिखर पर पहुँचाएँ।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

दिव्य इन्द्रियाँ=उत्तम अपानशक्तियाँ

देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥४॥

'वम्री' शब्द वम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है उद्गिरण=बाहर फेंकना। शरीर में वह शक्ति जो मल को शरीर से बाहर फेंकती है, 'वम्री' कहलाती है। यही अपानशक्ति है। वह अपानशक्ति ठीक काम करती रहती है तो पसीने के द्वारा व मल-मूत्र के शोधन के द्वारा यह शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखती है। इनके ठीक कार्य करने पर ही अन्य शक्तियों का विकास निर्भर है, अतः 'दध्यङ्' कहता है कि **देव्यः**=दिव्य गुणोंवाली **वम्र्यः**=उद्गिरणशक्तियो! जो तुम **भूतस्य**=प्राणिमात्र के **प्रथमजा**=सर्वाधिक विकास (जन्) का कारण हो, **वः**=तुम्हारे द्वारा मैं **अद्य**=आज **मखस्य शिरः**=यज्ञ के शिखर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान पर **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य**=यज्ञ के **शीर्ष्णे**=शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। हम अपानशक्ति को ठीक रखें तभी तो पिछले मन्त्रों में वर्णित दीप्तमस्तिष्क व स्वस्थ शरीर को पा सकेंगे। ये अपान-शक्तियाँ दिव्य हैं, बड़ी सुन्दर हैं, ये हमारे जीवन को स्वस्थ बनाती हैं, हमारी सब शक्तियों के विकास का कारण बनती हैं। इनके द्वारा मैं अपने जीवन में यज्ञ को सिद्ध करनेवाला बनूँ, यज्ञ के शिखर पर पहुँच जाऊँ।

भावार्थ—मेरी अपानशक्तियाँ मुझे स्वस्थ बनाकर यज्ञ में समर्थ करें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीगायत्री। स्वरः—षड्जः।

सर्वप्रथम कर्त्तव्य

इयत्यग्रऽआसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥५॥

इयति=इतनी ही **अग्रे**=सबसे प्रथम स्थान में **आसीत्**=मनुष्य की साधना थी। यह यज्ञ ही मनुष्य का मौलिक कर्त्तव्य था। यज्ञान्तर्गत 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' ही मुख्य धर्म थे, इसलिए 'दध्यङ्' कहता है कि **अद्य**=आज **ते मखस्य**=तुझ यज्ञ के **शिरः**=शिखर को

राध्यासम्=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान में मैं **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ही ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह यज्ञ ही है। यज्ञ एक पर्वत है जिसका मूल 'देवजपूजा' है, इस पर्वत का मध्य 'सङ्गतिकरण' है और इसका शिखर 'दान' है। हमें इस मानवजीवन को प्राप्त करके देवपूजा से जीवन प्रारम्भ करना है। हम माता, पिता, आचार्य व अतिथियों को देव समझें और उनकी आज्ञा में चलते हुए उनका आदर करनेवाले बनें। हमारा व्यावहारिक जीवन 'सङ्गतिकरण'वाला हो। हम सबके साथ मिलकर चलना सीखें। हमारा परस्पर विरोध न हो। हम अपने न्ययार्जित धन में से कुछ-न-कुछ देनेवाले बनें। इसी को यज्ञशेष व अमृत का सेवन कहते हैं। इस दान की प्रवृत्ति को अपनाकर मैं यज्ञपर्वत के शिखर पर पहुँच जाता हूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन सदा इस बात का ध्यान करके चले कि 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' ही मेरे सबसे प्रथम व मुख्य कर्त्तव्य हैं। ये ही कर्त्तव्यों के अग्रभाग में स्थित हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

इन्द्र के ओज

इन्द्रस्यौजः स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥६॥

इन्द्रस्य=जितेन्द्रिय पुरुष के **ओजः**=ओज (शक्ति) **स्थ**=हो। **वः**=तुम्हारे द्वारा **अद्य**=आज **मखस्य**=यज्ञ के **शिरः**=शिखर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए **त्वा**=तुझे ग्रहण करता हूँ। सचमुच, यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ही मन्त्र में तीन बार इस बात को दोहराया गया है कि 'यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए मैं ओज का ग्रहण करता हूँ। 'ओज' नाम है शक्ति का। यह शक्ति इन्द्र की है, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष को ही प्राप्त होती है। अजितेन्द्रियता शक्ति को क्षीण करनेवाली है। मैं जितेन्द्रिय बनकर शक्ति प्राप्त करूँ और उस शक्ति का यज्ञों की सिद्धि के लिए विनियोग करूँ। जीवात्मा की चौबीस शक्तियाँ हैं। ये चौबीस-की-चौबीस मुझे यज्ञ के शिखर पर पहुँचानेवाली हों। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र की चौबीस शक्तियाँ हैं और चौबीस बार ही 'मखाय त्वा मखास्य त्वा शीर्ष्णे' यह वाक्य आवृत्त हुआ है, 'यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए' यह बात चौबीस बार दुहराई गई है, एवं इन्द्र ने अपनी एक-एक शक्ति को यज्ञ की सिद्धि के लिए ही विनियुक्त करना है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष की शक्तियाँ यज्ञ की सिद्धि के लिए विनियुक्त होती हैं।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ज्ञान, सूनृतवाणी व यज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कण्व' मेधावी है। इसकी प्रार्थना है कि १. **ब्रह्मणःपतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु हमें **प्रएतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। इस ज्ञान के स्वामी की प्राप्ति से हमारा ज्ञानभण्डार समृद्ध हो। २. **देवी** =दिव्यगुणोंवाली **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली ठीक वाणी **प्रएतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो, अर्थात् हम प्रिय सत्यवाणी को बोलनेवाले हों। ३. **देवाः**=सब देव **नः**=हमें **वीरम्**=वीर बनानेवाले **नर्यम्**=नरहित के कार्यों में प्रेरित करनेवाले **पङ्क्तिराधसम्**=कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक व अन्तःकरणपञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) की उत्तमता को सिद्ध करनेवाले **यज्ञम् अच्छ**=यज्ञ की ओर **नयन्तु**=ले-चलें। संक्षेप में, हमारे मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हों, हमारी जिह्वा सूनृत वाणी का उच्चारण करनेवाली हो और हमारे हाथ यज्ञों में व्यापृत रहें। मैं **त्वा**=ज्ञान को, सूनृत वाणी को व उत्तम कर्मों को **मखाय**=सब दोषों का निवारण करनेवाले यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=इन ज्ञान आदि को इसलिए अपनाता हूँ कि **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँच सकूँ। यज्ञ के लिए, यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए। यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ही।

भावार्थ—मेरा ज्ञान, मेरी सूनृतवाणी, मेरे उत्तम कर्म—ये सभी मुझे यज्ञमय बनाएँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराडतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ का शिखर

मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥८॥

'दध्यङ्' आत्मप्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **मखस्य शिरः असि**=तू यज्ञ का शिखर है, अर्थात् तूने यज्ञ के पर्वत पर आरोहण किया है, तराई में बैठा नहीं रह गया। मेखला तक पहुँचकर तू शिखर तक पहुँचा है। तुझमें यज्ञ ने पूर्णरूप से मूर्त्तरूप धारण किया है। यह दध्यङ् किसी भी वस्तु का ग्रहण करते हुए कहता है कि मैं **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य**=यज्ञ के **शीर्ष्णे**=शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों के दृष्टिकोण से उल्लिखित बात को कहने के लिए उल्लिखित वाक्य को यहाँ तीन बार कहा गया है और इस वाक्य को कहने के बाद यज्ञ के तीन अंशों 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' के दृष्टिकोण से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए, **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—(क) हमें शरीर के दृष्टिकोण से यज्ञ के शिखर पर पहुँचना है, अर्थात् अपनी शारीरिक शक्ति को निर्बलों की रक्षा के लिए विनियुक्त करना है। (ख) मन के दृष्टिकोण से भी यज्ञ के शिखर पर पहुँचना है, अर्थात् मन में कभी भी किसी का द्रोह-चिन्तन न करके सबके लिए मङ्गल की कामना करनी है। (ग) हमें बुद्धि के दृष्टिकोण से भी यज्ञ के शिखर पर जाना है, अर्थात् हमारी बुद्धि सदा सबके भले की योजनाओं के बनाने में विनियुक्त हो।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—विद्वान्। छन्दः—अतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

पिता, माता व पुत्र

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥१॥

गृहस्थ में पिता, माता व सन्तान तीन का समावेश होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्दों में 'पिता उत्तरपक्षः, माता दक्षिणपक्ष, पुत्रः सन्धानम्'=एक ओर पिता है, दूसरी ओर माता है और पुत्र उन्हें जोड़नेवाला है। इन तीनों को ही अपने जीवन को सुन्दर बनाना है तभी गृहस्थ स्वर्ग बनेगा। 'कैसा जीवन बनाना है?' इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है १. **त्वा**=तेरे द्वारा **अश्वस्य**=(अश्नुते कर्मसु) कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वृष्णः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले पुरुष की **शक्ना** ('शक्यना' में य का लोप होकर शक्ना) शक्ति से **धूपयामि**=अपने जीवन को सुगन्धित करता हूँ, अर्थात् मेरा जीवन कर्ममय, सबका भला करनेवाला व शक्तिसम्पन्न हो। हाथों में कर्म हों, मन में सब के लिए स्नेह की भावना हो तथा शरीर शक्तिसम्पन्न व स्वस्थ हो। **त्वा**=तुझे मैं **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ **त्वा**=तझे इसलिए ग्रहण करता हूँ कि मैं **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने में समर्थ होऊँ। इस **पृथिव्याः**=पृथिवी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में मैं प्रत्येक वस्तु का स्वीकार यज्ञ के लिए करता हूँ, मेरा जीवन यज्ञिय बने। मैं यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्मों में लगा रहूँ (अश्व=अश व्याप्तौ), सबपर सुखों की वर्षा करूँ (वृष् बरसना) तथा शक्तिशाली बनूँ (शक्ना) उत्तम कर्मों से, सबका भला चाहने व करने से तथा स्वास्थ्य व शक्ति से मेरा जीवन सुगन्धित हो उठे। २. इसी प्रकार गृहस्थ में विविध वस्तुओं का उपादान करती हुई माता कहती है कि मैं **त्वा**=तुझे ग्रहण करके **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वृष्णः**=सुखों के वर्षक व्यक्ति की **शक्ना**=शक्ति से **धूपयामि**=अपने जीवन को सुगन्धित करती हूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथ्वी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए और **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करती हूँ। ३. तीसरी बार इसी मन्त्रभाग का उच्चारण करता हुआ पुत्र इसी बात को दुहराता है और निश्चय करता है कि कर्मों में सदा व्याप्त रहता हुआ, सबका भला चाहता हुआ वह शक्तिशाली बनेगा। प्रत्येक पदार्थ को यज्ञियवृत्ति से ग्रहण करेगा और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करेगा। ४. इस प्रकार सङ्कल्प करके पिता, माता व पुत्र तीनों ही तीन बार इस सङ्कल्प को फिर से आवृत्त करते हैं कि **मखाय त्वा**=तुझे यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—जिस घर में पिता, पुत्र व माता सभी 'उत्तम कर्मोंवाले तथा भद्र मनोवृत्तिवाले, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न तथा यज्ञप्रवृत्त' होते हैं, वही घर स्वर्ग बन पाता है।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सरलता, साधुता व सुस्थिति

ऋजवे त्वा साधवे त्वा सुक्षित्यै त्वा। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥१०॥

प्रस्तुत मन्त्र के देवता 'विद्वांसः'=ज्ञानी हैं। ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **त्वा**=तुझे हम ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रातः-सायं आपका स्मरण करते हैं। किसलिए? **ऋजवे**=ऋजुता के लिए, सरलता के लिए। हमारा जीवन सरल बना रहे, हमारे मनों में कुटिलता का प्रवेश न हो जाए। २. हे प्रभो! **त्वा**=आपको हम ग्रहण करते हैं **साधवे**=साधुता के लिए। 'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'=दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाला साधु होता है, अर्थात् परोपकार की वृत्तिवाला। 'हम भी परोपकार की वृत्तिवाले बनें' इसी लक्ष्य से हम हे प्रभो! आपको ग्रहण करते हैं, आपका ध्यान करते हैं। ३. **त्वा**=आपको **सुक्षित्यै**=(क्षि=निवासगत्योः) उत्तम निवास व गति के लिए ग्रहण करते हैं। आपके स्मरण से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से पूर्ण करते हुए सदा उत्तम गतिवाले होंगे। ४. इस प्रकार उत्तम जीवन बनाकर हम **त्वा**=आपको **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करते हैं। **त्वा**=आपको ग्रहण करते हैं **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए। इस अन्तिम वाक्य को यहाँ तीन बार फिर आवृत्त किया है, इसलिए कि 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैवकि' तीनों दृष्टिकोणों से हमारा यज्ञ चले। हमें तीनों दृष्टिकोणों से शान्ति प्राप्त हो। यह पहले कहा ही जा चुका है कि यहाँ तक चौबीस बार इस मन्त्र को दुहराया है कि हमारी चौबीस-की-चौबीस शक्तियाँ हमें यज्ञप्रवृत्त करनेवाली हों। इसी में समझदारी है। विद्वान् लोग ऐसा ही करते हैं। उनका जीवनसूत्र होता है 'ऋजुता, साधुता व उत्तमता'। इस जीवनसूत्र को बनाकर ये सदा यज्ञरूप पर्वत के आरोहण में तत्पर रहते हैं।

भावार्थ—हम कुटिलता को अपने से दूर रक्खें, दुर्जनता से दूर रहें और संसार में हमारा निवास व क्रियाएँ उत्तम हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

संयम, यज्ञ व तप

य॒मार्य त्वा म॒खार्य त्वा॒ सूर्य॑स्य त्वा॒ तप॑से। दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु पृ॒थि॒व्याः स॒ꣳ स्पृश॑स्पाहि। अ॒र्चिर॑सि शो॒चिर॑सि॒ तपो॑ऽसि॥११॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'दध्यङ्' से प्रभु कहते हैं कि १. **त्वा**=तुझे मैंने इस संसार में **यमाय**=संयम के लिए रक्खा है। तेरा जीवन आत्मसंयमवाला हो। संसार के विषय तेरी इन्द्रियों व मन को सदा अपनी ओर आकृष्ट करेंगे, तूने उनमें आसक्त नहीं हो जाना। २. **त्वा**=तुझे मैंने **मखाय**=यज्ञ के लिए इस संसार में भेजा है। तूने अपना जीवन यज्ञमय बनाने का प्रयत्न करना। यज्ञ 'मख' है (मा+ख) यह तेरे सब दोषों को दूर करेगा। यज्ञ करने पर दोष तुझमें आएँगे ही नहीं। ३. **त्वा**=तुझे **सूर्यस्य तपसे**=सूर्य के तप के लिए मैंने निश्चित किया है। तूने सूर्य के समान ही तपस्वी होना है। सूर्य ने एक बार घोड़े रथ में जोते, तो खोले ही नहीं। यह सूर्य निरन्तर क्रियाशील है, यह आराम नहीं करता। तूने भी सतत क्रियाशील बनना है, आराम नहीं करने लगना, क्रियाशीलता ही तप है, यह तुझे दीप्त करेगी, सूर्य की तरह चमकानेवाली होगी ४. **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्यता का पुञ्ज प्रभु **त्वा**=तुझे **मध्वा**=माधुर्य से **अनक्तु**=अलंकृत करे। तेरा जीवन 'संयत, यज्ञमय व क्रियाशील' होने के साथ माधुर्य से परिपूर्ण हो। तू किसी के प्रति कटु शब्दों का प्रयोग करनेवाला न हो। ५. **पृथिव्याः**=पृथिवी के **संस्पृशः**= संस्पर्श से **पाहि**=अपने को तू बचा। तू इन पार्थिव भोगों में आसक्त न हो जा। ये भोग तुझे भोगनेवाले प्रमाणित होंगे। तू इनमें आसक्त हुआ कि इनका शिकार हुआ। ५. यदि तू इस प्रकार पार्थिव भोगों में न फँसा तो सचमुच तू **अर्चिः**

असि=(अर्च पूजायाम्) सच्चा पुजारी है। प्रभु की उपासना का सबसे प्रबल प्रमाण पार्थिव पदार्थों में प्रसक्त न होना ही है। **शोचिः असि**=(शुच्) तू अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला है। पार्थिव भोगों में आसक्ति ही सब अपवित्रता का मूल है। **तपः असि** =पार्थिव भोगों में न फँसा तो तू सचमुच तपस्वी है। भोगासक्ति से ऊपर उठना महान् तपस्या है। 'तपस्वी होना' भोगासक्ति के अभाव का स्वरूप है, इसका परिणाम पवित्रता है और इससे स्वतः हो जानेवाली क्रिया प्रभुपूजा है।

भावार्थ—हम 'संयमी, यज्ञमय, क्रियाशील, माधुर्य से परिपूर्ण, पार्थिव भोगों के प्रति अनासक्त तथा प्रभुपूजक, पवित्र व तपस्वी बनें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—पृथवीः। छन्दः—स्वराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः।

पत्नी के जीवन की पाँच बातें।

अनाधृष्टा पुरस्ताद्ग्नेराधिपत्यऽआयुर्मे दाः पुत्रवती दक्षिणतऽइन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः। सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाऽआश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः। विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्यऽओजो मे दा विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि॥१२॥

पति पत्नी से कहता है १. **पुरस्तात्**=इस आगे बढ़ने की (पुरः=आगे) पूर्व दिशा में **अनाधृष्टा**=किसी भी प्रकार से धर्षित, वासनाओं से पराजित न होती हुई तू **अग्नेः**=अग्नि के **आधिपत्ये**=आधिपत्य में, अर्थात् अग्नि-तुल्य पतिवाली होती हुई **मे**=मेरे लिए **आयुः**=उत्तम दीर्घजीवन **दाः**=देनेवाली हो। पत्नी को अनाधृष्ट बनना, वासनाओं से कभी पराजित नहीं होना तो पति ने अग्नि बनना, सदा आगे बढ़ने की भावनावाला होना। पूर्व दिशा का दोनों के लिए यही पाठ है। आगे-और-आगे जैसे सूर्य इस दिशा में बढ़ रहा है, इसी प्रकार पति-पत्नी ने आगे-और-आगे चलना है। वासनाओं से अपराजित, आगे बढ़ने की भावना से परिपूर्ण तभी उत्तम दीर्घजीवन की प्राप्ति होगी। ३. **दक्षिणतः**=अब दाक्षिण्य=उदारता व कुशलता की दक्षिण दिशा में **पुत्रवती**=उत्तम सन्तानोंवाली तू **इन्द्रस्य आधिपत्ये**=इन्द्र के आधिपत्य में, अर्थात् जितेन्द्रिय व धन कमानेवाले पतिवाली तू **मे**=मेरे लिए **प्रजाम्**=शक्तियों के विकासवाली उत्तम सन्तान दे। पति-पत्नी दोनों ने दक्षिण दिशा में दाक्षिण्य=उदारता व कर्मकुशलता का पाठ पढ़ना है। पत्नी ने अपना मुख्य कार्य सन्तानों का निर्माण समझना है, उसे उत्तम पुत्रोंवाली—पुत्रवती बनना है। पति ने **इन्द्र**=जितेन्द्रिय व धन कमानेवाला होना है। ऐसा होने पर ही इनकी सन्तानें **प्रजा**=प्रकृष्ट विकासवाली होंगी। ३. **पश्चात्**=अब पश्चिम दिशा में **सुषदा**=घर में उत्तमता से निवास करनेवाली **देवस्य सवितुः**=सवितादेव के आधिपत्य में, अर्थात् कमानेवाले (सविता षु=प्रसव=पैदा करना=धन कमाना) तथा उदार (देवो दानात्) पतिवाली तू **मे**=मुझे **चक्षुः**=प्रकाश को **दाः**=देनेवाली हो, अर्थात् संघर्ष व समस्या आने पर उत्तम सलाह देनेवाली हो, मार्ग को सुझानेवाली हो। पत्नी ने मुख्यरूप से घर में ही अपना स्थान समझना है, उसने घर को उत्तम बनाना है। कमाना काम पति का है, वह निकम्मा न हो, सदा श्रम से धनार्जन करे तथा पत्नी को उदारता से घर के व्यय के लिए धन देनेवाला हो। घर में पूर्ण स्वास्थ्य के साथ निवास करती हुई पत्नी सदा नेक सलाह देनेवाली होती है। समस्याओं में पति के लिए सहायक होती है। पत्नी पति की आँख बनती है। ४. **उत्तरतः**=इस ऊपर उठने की उत्तर दिशा में **आश्रुतिः**=समन्तात्, सब ओर से ज्ञान की बातों को श्रवण करनेवाली तू **धातुः आधिपत्ये**=धाता के

आधिपत्य में, अर्थात् धारण करनेवाले पतिवाली होती हुई **मे**=मेरे लिए **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **दाः**=देनेवाली हो। वस्तुतः पति ने तो कमाना ही है, उसका बुद्धिमत्तापूर्वक व्यय पत्नी ने ही करना है। विवाह संस्कार में इसी दृष्टिकोण से वधू का एक व्रत यह भी होता है कि मेरा सारा व्यवहार घर के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है 'समृद्धिकरणम्'। पत्नी की यह विशेषता होनी चाहिए कि वह 'आश्रुति' हो, खूब सुननेवाली। 'बोलना कम, सुनना अधिक' यही आदर्श गृहिणी का आदर्श वाक्य हो। पति 'धाता' धारण करनेवाला हो, पोषण के लिए पर्याप्त धन न कमानेवाला पति 'पति' होने योग्य नहीं है। पत्नी ने उस कमाये हुए धन का उचित व्यय करते हुए घर पर कभी ऋण का बोझ नहीं आने देना। ५. **उपरिष्टात्**=इस ऊर्ध्वा दिशा की ओर देखते हुए **विधृतिः**=विशिष्ट धैर्यवाली, कभी भी मानस सन्तुलन को न खोनेवाली तू **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **आधिपत्ये**=आधिपत्य में, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले पतिवाली तू **मे**=मेरे लिए **ओजः**=ओज को, वृद्धि की कारणभूत शक्ति को **दाः**=देनेवाली हो। पत्नी में धैर्य व दृढ़ता हो, पति में उत्कृष्ट ज्ञान हो तो घर में वह शक्ति बनी रहती है जो सब उन्नतियों का कारण है। तभी घर उन्नति के शिखर पर पहुँचता है, यही ऊर्ध्वा दिशा में स्थित होना है। ६. इस प्रकार के जीवनवाली बनकर तू **मा**=मुझे **विश्वाभ्यः**=सब **नाष्ट्राभ्यः**=नाशक शक्तियों से **पाहि**=बचा। जिस समय पत्नी **'अनाधृष्ट'** न होकर वासनाओं का शिकार होने से मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है, सन्तानों का ध्यान न करने से उत्तम पुत्रोंवाली 'पुत्रवती' नहीं होती, घर में उत्तमता से रहनेवाली 'सुषदा' न बनकर कुलटा=इधर-उधर जानेवाली हो जाती है, 'आश्रुति' न होकर बहुत बोलती है, बोल-बोलकर पति के लिए उबाऊ-सी हो जाती है, 'विधृति'=दृढ़ धैर्यवाली न होकर झट क्रोध में आ जाती है तो पति का जीवन कड़वा हो जाता है और वह भी अपना आमोद-प्रमोद ग़लत स्थानों पर ढूँढता है, व्यभिचारणियों की खोज में रहता है और उनमें फँसकर अपने जीवन को विनष्ट कर लेता है। 'अनाधृष्टा, पुत्रवती, सुषदा, आश्रुति व विधृति' पत्नी पति को इस विनाश से बचा लेती है। ७. हे पत्नि! तू **मनोः**=ज्ञान-सम्पन्न-समझदार पुरुष की **अश्वा**=सदा कार्यों में व्यापृत रहनेवाली पत्नी **असि**=है। 'पति ने समझदार होना, पत्नी ने घर के कार्यों में व्याप्त रहना' यह मूल मन्त्र है घर को स्वर्ग बनाने का।

भावार्थ—पति-पत्नी कर्त्तव्यों को समझेंगे तो घर क्यों न स्वर्ग बनेगा?

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पति की कामना

स्वाहा मरुद्भिः परि श्रीयस्व दिवः सꣳस्पृशस्पाहि। मधु मधु मधु॥१३॥

पिछले मन्त्र में पति के 'अग्नि' तुल्य होने का उल्लेख है। अग्नि की पत्नी 'स्वाहा' है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी को 'स्वाहा' कहा गया है। पति कहता है कि तू १. **स्वाहा**=(स्व+हा) अपना उत्तम त्याग करनेवाली है। पत्नी के जीवन का प्रारम्भ ही त्याग से होता है। वह अपने सारे घर-बार को छोड़कर एक नये घर का निर्माण करने के लिए पग उठाती है। सामान्यतः सबको खिला-पिलाकर खाने का ध्यान करती है। अपने लिए बचे या न बचे, वह बच्चों का पूरा ध्यान करती है। माता बच्चे के पोषण के लिए अपने सारे आराम को समाप्त कर देती है। वस्तुतः माता के त्याग पर ही घर का निर्माण होता है। २. **मरुद्भिः**=प्राणों से **परिश्रीयस्व**=तू सेवित हो, अर्थात् तू प्राणशक्ति से युक्त हो। माता निर्बल हो तो सन्तान भी निर्बल होगी। माता के स्वास्थ्य पर ही बच्चों का स्वास्थ्य निर्भर

करता है। ३. **दिवः**=(दिव्=स्वप्न) दिवास्वप्न के **संस्पृशः**=सम्पर्क से **पाहि**=तू अपने को बचानेवाली हो, चूँकि **'दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः'** इस ब्राह्मणवाक्य के अनुसार दिन में सोनेवाली माता का बच्चा भी सोंदू ही होगा। 'दिव्' शब्द द्यूत, जूए की प्रवृत्ति का भी संकेत करता है। माता के अन्दर नाममात्र भी जूए से धन-प्राप्ति की कामना न हो, वह सदा पुरुषार्थजन्य धन को ही चाहे। माता में द्यूत प्रवृत्ति होने पर बच्चा भी कुछ जुआरी व सट्टेबाज ही बनेगा। ४. सबसे बढ़कर आवश्यक बात यह है कि **मधु मधु मधु**=तूने मधुर बनना, शहद के समान मधुर वचनोंवाली होना, तेरा व्यवहार माधुर्य से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—आदर्श पत्नी में त्याग, प्राणशक्ति, पुरुषार्थ व माधुर्य का निवास होता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

बच्चों का पिता

गर्भो॑ दे॒वानां॑ पि॒ता म॑ती॒नां पतिः॑ प्र॒जाना॑म्।
सं दे॒वो दे॒वेन॑ सवि॒त्रा ग॑त॒ सꣳ सूर्ये॑ण रोचते॥१४॥

पिता के जीवन पर ही बहुत कुछ बच्चों का जीवन निर्भर करता है, अतः आदर्श पिता के जीवन का चित्रण करते हैं १. **गर्भो देवानाम्**=बच्चों के पिता को 'देवों का गर्भ' होना चाहिए, अर्थात् दिव्य गुणों को अपने में धारण करनेवाला बनना चाहिए। पिता की ये सब अच्छाइयाँ ही पुत्र में अवतीर्ण होंगी। जैसा पिता होगा, वैसा ही पुत्र बनेगा। कहा तो यह जाता है कि जाया (पत्नी) को 'जाया' इसलिए कहते हैं कि 'यदस्यां जायते पुनः'=इसमें पति फिर जन्म लेता हैं, एवं पिता ही पुत्ररूप में उत्पन्न होता है, अतः दिव्य गुणोंवाले पिता का पुत्र भी दिव्य गुणोंवाला होगा। २. **पिता मतीनाम्**=यह सब मतियों, ज्ञानों का रक्षक (पा रक्षणे) बनता है। ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह ऊँचा ज्ञान उसे अभिमान की भावना से बचानेवाला होगा, क्योंकि ज्ञान की कमी सदा हमारे अभिमान का कारण बनती है। ३. **प्रजानाम् पतिः**=यह अपने सन्ताओं का रक्षक होता है, उनका अति सुन्दरता से पालन व निर्माण करता है। सन्तान का पालन ही वस्तुतः पिता का मौलिक कर्त्तव्य है। इसी में सफलता से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। ४. इसी प्रकार **देवः**=बड़े उत्तम व्यवहारवाला यह (दिव् व्यवहार) पिता **सवित्रा**=जन्मदाता (षू=प्रसव=जन्म देना) **देवेन**=उस दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से सङ्गत, प्रातः-सायं मेल करनेवाला **सूर्येण**= ब्रह्मज्ञान के प्रकाश से **सम् गत**=सङ्गत होता है और **सम् रोचते**=सम्यक्तया रोचमान होता है। वस्तुतः अपनी दिव्यता को स्थिर रखने के लिए प्रातः-सायं उस प्रभु के चरणों में स्थित होना आवश्यक है। उससे दूर हुए, और हमने अपनी दिव्यता खोई। प्रभु के सामीप्य में हमारी ज्ञानदीप्ति सूर्य के समान चमकती है।

भावार्थ—आदर्श पिता वह है जो १. दिव्य·गुणों को धारण करता है २. ज्ञान को महत्त्व देता है ३. सन्तान-निर्माण को अपना प्रारम्भिक कर्त्तव्य समझता है ४. प्रभु से मेल को टूटने नहीं देता और ५. इसी कारण सूर्य के समान चमकता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पति-पत्नी के कर्त्तव्य

सम॒ग्निर॒ग्निना॑ गत॒ सं दैवे॑न सवि॒त्रा सꣳसूर्ये॑णारोचिष्ट।
स्वाहा॒ सम॒ग्निस्तप॑सा गत॒ सं दैव्ये॑न सवि॒त्रा सꣳसूर्ये॑णारूरुचत॥१५॥

मन्त्र संख्या १२ में पति को 'अग्नि' तथा १३ में पत्नी को 'स्वाहा' शब्द से स्मरण किया गया है। मूल अग्नि तो प्रभु ही हैं जो संसार में सभी उन्नतियों के साधक हैं (**अग्निः**=अग्रेणीः)। घर में पति भी अग्नि है, उसने घर को आगे ले-चलना है। १. (क) यह **अग्निः**=घर का मुखिया **अग्निना**=उस ब्रह्माण्ड के सञ्चालक प्रभु से **संगत**=मेलवाला हो। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते प्रभु को भूले नहीं। (ख) पृथिवीस्थ देवों का मुखिया भौतिक 'अग्नि' है—अन्य सब देवों का यह मुखस्थानीय है। सब देवता इसी के द्वारा हवि खाते हैं। गृहपति को चाहिए कि वह इस अग्नि से संगत हो। इसमें प्रातः-सायं हव्य पदार्थ डालने का अवश्य ध्यान करे। इस देवयज्ञ को कभी भूले नहीं। जिस घर में यह देवयज्ञ नियम से चलता है, वहाँ रोग तो आते ही नहीं, अकेले खा लेने की वृत्ति भी नहीं बनती। मनुष्य यज्ञशेष को खाने के स्वभाव का विकास कर पाता है। (२) इस गृहपति को चाहिए कि वह **दैवेन सवित्रा**=देवों के प्रकाशक उस सवितादेव से **संगत**=संगत हो। प्रभु के चरणों में बैठकर हम उत्तम प्रेरणा प्राप्त करते हैं और अपने में देवत्व को विकसित करते हैं। (३) यह गृहपति **सूर्येण**=ब्रह्मज्ञान के सूर्य से **सम् अरोचिष्ट**=दीप्त हो, अर्थात् गृहपति ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

संक्षेप में, उसके हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे हों, उसका हृदय प्रभु के स्मरण से दूर न हो और उसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से दीप्त हो। इसी भावना को दुहराते हुए कहते हैं कि—(१) **स्वाहा अग्निः**=त्याग की भावना से ओत-प्रोत पत्नीवाला, घर की उन्नति की भावना से भरा हुआ यह गृहपति **तपसा संगत**=तप से युक्त हो। तप का सामान्य भाव आलस्य में न फँसकर सदा क्रिया में लगे रहने से है। गृहपति व गृहपत्नी की क्रियाशीलता पर ही सम्पूर्ण उन्नति निर्भर है। वे तपस्वी न होकर आरामपसन्द जीवनवाले हो गये तो घर का ह्रास अवश्यंभावी है। (२) यह पत्नीसहित पति **दैव्येन सवित्रा**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हितकर उस प्रेरक प्रभु से **संगत**=युक्त हो। पति-पत्नी दोनों ही प्रभु के उपासक हों—प्रभु से अपना सम्बन्ध टूटने न दें। इसी से उनमें सम्पूर्ण दिव्यता का विकास होना है। सन्तानों को उत्तम बनाना भी इस प्रभु के सम्पर्क में बैठने पर निर्भर है। (३) यह प्रभु के उपासक पति-पत्नी ही **सूर्येण**=ज्ञान के प्रकाश से **सम् अरूरुचत**=सम्यक् देदीप्यमान होते हैं।

भावार्थ—गृहपति व गृहपत्नी का यह कर्तव्य है कि (१) वे आलस्य को छोड़कर तपस्वी जीवन बनाएँ और यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें (२) प्रभु के साथ अपना सम्पर्क अवश्य बनाएँ। (३) ज्ञान के सूर्य से दीप्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

'स्वाहा' और 'अग्नि' का प्रभु-चिन्तन

धर्त्ता दि॒वो वि भा॑ति॒ तप॑सस्पृथि॒व्यां ध॒र्त्ता दे॒वो दे॒वाना॒मम॑र्त्यस्तपो॒जाः।
वाच॑म॒स्मे नि य॑च्छ देवा॒युव॑म्॥१६॥

१४ तथा १५ मन्त्र में **'अग्नि व स्वाहा'**=पति+पत्नी का प्रभु के सम्पर्क में आने के प्रयत्न का वर्णन है। वे प्रभु का स्मरण निम्न रूप में करते हैं—(१) **दिवः धर्त्ता**=वे प्रभु प्रकाशक का धारण करनेवाले हैं—सारा प्रकाश उन्हीं से प्राप्त होता है। प्रकाश के स्रोत वे प्रभु हैं। पवित्र हृदयों में उस प्रकाश का दर्शन होता है। (२) **विभाति तपसः**=वे प्रभु तप के कारण विशेषरूप से दीप्त हो रहे हैं। प्रभु के इस तीव्र तप से ही सृष्टि के प्रारम्भ में

'ऋत व सत्य' की उत्पत्ति होती है। अपने तप के कारण ही प्रभु अपने परम स्थान से पतित नहीं होते। (३) **पृथिव्यां धर्त्ता**=हे प्रभो! आप ही इस पृथिवी पर सबके धारण करनेवाले हो। वस्तुतः प्रभु जिसका धारण करना ठीक समझते हैं उसे कोई मार नहीं सकता और जिसे प्रभु समाप्त करना चाहें उसे कोई बचा नहीं सकता। सबके धारण के लिए प्रभु की शतशः, सहस्त्रशः क्रियाएँ चल रही हैं। (४) **देवानां देवः** सूर्यादि प्रकाशकों के प्रकाशक आप ही हैं (देवो द्योतनात्) **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=प्रभु की दीप्ति से ही सब ज्योतिर्मय पिण्ड दीप्त हो रहे हैं। (५) **अमर्त्यः**=वे प्रभु अमर हैं। वैसे तो आत्मतत्त्व भी अमर है, परन्तु जीव कर्मनुसार विविध योनियों में जन्म लेता है और शरीरों के छोड़ने से मर्त्य कहलाता है। प्रभु का शरीरधारण व शरीरत्याग से कोई सम्बनध नहीं है। (६) **तपोजाः**=वे प्रभु तप से प्रादुर्भूत होते हैं, अर्थात् कोई भी उपासक तप से अपने हृदय को पवित्र करता है तो वहाँ हृदयस्थ प्रभु के दर्शन कर पाता है। (७) प्रभु-दर्शन करनेवाला तपस्वी प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अस्मे**=हमारे लिए **देवायुवम्**=(यु=मिश्रण) सब दिव्य गुणों का सम्पर्क करानेवाली **वाचम्**=वाणी को **नियच्छ**=निश्चितरूप से हमें दीजिए। यह वेदवाणी पढ़ी व समझी जाकर तथा अनुष्ठित होकर सचमुच हमारे जीवनों को दिव्य बनाती है।

भावार्थ—प्रभु प्रकाश के पुञ्ज हैं। उनके सम्पर्क में हम उस प्रकाश को पानेवाले हों।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

जगदीश-दर्शन

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानऽआ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः॥१७॥

प्रभु का चिन्तन करता हुआ स्वाहा के साथ अग्नि (अपनी पत्नी के साथ पति) कहता है कि (१) मैं **गोपाम्**=सब वेदवाणियों के रक्षक उस प्रभु को **अपश्यम्**=देखता हूँ। वे प्रभु 'गोपा' हैं—रक्षक हैं। वे गौओं के पालक हैं तो मैं उनकी गौ हूँ (२) **अनिपद्यमानम्**=वे प्रभु कभी नीचे लेट नहीं जाते। सदा सावधान हैं। वे अप्रमत्त होकर हमारी रक्षा कर रहे हैं। (३) **आ च**=चारों ओर तथा समीप वर्त्तमान **परा च**=और दूर-दूर भी वर्त्तमान **पथिभिश्चरन्तम्**=मार्गों से विचरण करते हुए उस प्रभु को मैं देखता हूँ। वे प्रभु सर्वत्र हैं। हम सबके हृदयों में भी विद्यमान हैं, वहाँ स्थित हुए-हुए ही वे **गोपा**=सब वेदवाणियों के रक्षक है। हमें वेद का ज्ञान देते हैं, परन्तु इस वेदवाणी को सुन वे ही पाते हैं जिनका हृदय निर्मल होता है। ज्ञान की वाणियों से वे प्रभु हमारे जीवन को प्रकाशमय करके हमारी इन्द्रियों को निर्मल बनाते हैं—इन्हें आसुरी आक्रमणों से बचाते हैं, इसलिए भी वे प्रभु **गो-पा**=इन्द्रियों के रक्षक हैं। (४) **सः**=वे प्रभु **सध्रीचीः**=(सह अञ्चन्ति) मिलकर चलनेवाले लोकों के तथा **विषूचीः**=(वि-सु-अञ्च) विविध मार्गों में उत्तमता से चलनेवाले लोकों को **वसानः**=अच्छादित कर रहे हैं, अर्थात् अपने गर्भ में धारण कर रहे हैं। जैसे सूर्य के चारों ओर कुछ पिण्ड घूम रहे हैं, सूर्य उन्हें अपने आकर्षण से खेंचे हुए आकाश में आगे-आगे चला रहा है। ये लोक 'सध्रीची' कहलाते हैं, परन्तु कुछ पिण्ड ऐसे भी हैं जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में अलग-अलग गति कर रहे हैं, ये 'विषूची' हैं। प्रभु इन सबको धारण किये हुए हैं।

यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट हो गया कि 'लोक दो भागों में बटे हुए हैं—कुछ समुदाय

में चलनेवाले व कुछ अलग-अलग चलनेवाले। (५) वे प्रभु इन सब **भुवनेषु अन्तः**=लोक-लोकान्तरों के अन्दर **आवरीवर्त्ति**=चारों ओर अपनी सत्ता से वर्त्तमान है। देखनेवाले के लिए प्रत्येक पिण्ड में प्रभु की सत्ता के चिह्न विद्यमान हैं। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा' है। इसने अपने तम-अज्ञानान्धकार का विद्रावण किया है (दॄ विदारणे) अन्धकार के दूर होने पर ही यह उस प्रभु को देख पाया है (अपश्यम्)।

भावार्थ-वे प्रभु ही रक्षक हैं, सब लोकों को अपने में धारण किये हुए हैं, सर्वत्र वर्त्तमान हैं।

ऋषिः-**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता-**ईश्वरः**। छन्दः-**अत्यष्टिः**। स्वरः-**गान्धारः**।

प्रभु का अनुगमन

विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते। देवश्रुत्त्वं देव घर्म देवो देवान् पाह्यत्र प्रावीरनु वां देववीतये। मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्याम्॥१८॥

पति-पत्नी प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि (१) **विश्वासां भुवां पते**=हे प्रभो! आप सब भूलोकों के पति हो। वे सब लोक जिनमें प्राणी हैं वे, 'भू' कहलाते हैं-**'भवन्ति भूतानि यस्याम्'**=इन सब लोकों की रक्षा प्रभु द्वारा ही की जा रही है। (२) इनमें रहनेवाले प्राणियों के मनों की रक्षा प्रभु द्वारा ही होती है **विश्वस्य**=सबके **मनसः**=मनों के **पते**=रक्षक प्रभो! आप ही हमारे मनों को वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। (३) **विश्वस्य वचसःपते**=सम्पूर्ण वचनों के पति प्रभो! सम्पूर्ण वेदवाणी के स्वामी आप ही हैं। हृदयस्थरूप से **सर्वस्य वचसःपते**=सम्पूर्ण वचनों के आप ही पति हैं। हृदय में आपकी वाणी उच्चरित हो रही है, परन्तु उस वाणी को सब नहीं सुन पाते! कारण यही है कि (४) **देवश्रुत्**=आपकी वाणी को देवपुरुष ही सुनते हैं, क्योंकि **त्वम्**=आप **देव**=देव हो। मनुष्यों की वाणी को जैसे मनुष्य सुनता है, इसी प्रकार उस महान् देव की वाणी को देव ही सुन पाते हैं। सामान्य लोग तो **'उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्'**=सुनते हुए भी उसे सुनते नहीं। (५) **घर्म**=हे प्रभो! आप ही शक्ति हो। प्रभु का उपासक भी इस शक्ति से शक्तिसम्पन्न हो जाता है। (६) हे प्रभो! **देवः देवान् पाहि**=आप देव हैं और देवों की रक्षा करते हैं। जो भी देव बनने का प्रयत्न करता है वह उस महादेव की रक्षा का पात्र होता है। (७) हे प्रभो! **अत्र**=इस मानव-जीवन में **पाहि**=आप हमारी विशेषरूप से रक्षा कीजिए। प्रायः इस जीवन में आकर हमें विविध विषयों की खाज-सी हो जाती है। हमारा आहार-विहार सब दूषित-सा हो जाता है। प्रभु की कृपा ही हमारी रक्षा करेगी!

यह सुनकर प्रभु कहते हैं (८) **अनु**=मेरे पीछे आओ, **वाम्**=तुम दोनों को मैं **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चलता हूँ। प्रभु के पीछे चलेंगे तो उत्तरोत्तर हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होगी। हमारे जीवन सुन्दर, मंगलमय होकर संसार को सुखमय बनानेवाले होंगे (९) **माध्वीभ्याम्**=(मधुरगुणयुक्ताभ्याम्) माधुर्य के गुण से युक्त तुम दोनों के लिए **मधु**=मैं सब ज्ञानों में श्रेष्ठ 'मधुविद्या' को प्राप्त कराता हूँ (**'मधु'**=मधुरविज्ञान-द०) प्रकृति का ज्ञान ही जब आश्चर्य को जन्म देकर उन भौतिक पिण्डों व पदार्थों के निर्माता की ओर मनुष्य के ध्यान को ले-जाते हैं तब वह ज्ञान 'मधु' हो जाता है (१०) **माधूचीभ्याम् (मधु+अञ्च्)**=माधुर्य के साथ गति करनेवाले तुम दोनों के लिए **मधु**=मैं माधुर्य को प्राप्त कराता हूँ। **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'** के अनुसार तुम्हारा

आना-जाना भी मधुर हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुगमन के तीन लाभ हैं १. दिव्य गुणों की प्राप्ति, २. मधुविद्या का ग्रहण, ३. माधुर्य का सञ्चार।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अध्वर का धारण

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा। ऊर्ध्वोऽअध्वरं दिवि देवेषु धेहि॥१९॥

'दध्यङ्'='ध्यान के मार्ग पर चलनेवाला' प्रभु से कहता है कि (१) **हृदे त्वा**=मैं अपने हृदय के लिए आपका स्मरण करता हूँ। प्रभु-स्मरण से हृदय प्रसादमय व सब दुःखों से दूर रहता है। (२) **मनसे त्वा**=मैं अपने मन के शोधन के लिए आपका ग्रहण करता हूँ। प्रभु-चिन्तन से मन एकाग्र होता है और विकल्पों से ऊपर उठकर शिवसंकल्पवाला हो जाता है। (३) **दिवे त्वा**=प्रकाश के लिए मैं आपका स्मरण करता हूँ। प्रभुस्मरण से जीवन में कभी अन्धकार नहीं आता, मार्ग स्पष्ट दिखता है। वस्तुतः हृदयस्थ प्रभु ही उस समय हमारा सञ्चालन करते हैं। वहाँ ग़लती का प्रश्न ही नहीं रहता (४) **सूर्याय त्वा**=प्रभो! मैं सूर्य की भाँति निरन्तर नियमित गति के लिए आपका स्मरण करता हूँ। प्रभु के बनाये संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं, सभी क्रियाशील हैं, संसार का अर्थ ही 'संसरणशील' है, 'जगत्' का अर्थ है—'गतिशील। जीव का भी नाम आत्मा है—'सतत गतिशील' (अत सातत्यगमने) (५) हे प्रभो! आप **ऊर्ध्वः**=सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं। परमेष्ठी हैं। इस परम स्थान में स्थित हुए-हए आप **दिवि** ज्ञान का प्रकाश होने पर **देवेषु**=दिव्य गुणोंवाले हम लोगों में **अध्वरम्**=यज्ञ को **धेहि**=धारण कीजिए। हम किसी प्रकार की हिंसा न करें। वस्तुतः नैतिक मार्ग में सर्वोच्च स्थान अहिंसा का ही है। मैं सभी के साथ प्रेम से चलूँ, किसी की हिंसा न करूँ। जो व्यक्ति द्वेष से ऊपर उठ पाता है, वही प्रभु को पाने का अधिकारी होता है।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु का स्मरण करे, मन प्रभु का चिन्तन करे, हमारा मस्तिष्क प्रकाशमय हो, जीवन क्रियाशील हो, हम ज्ञानी बनकर यज्ञ को अपने जीवन का अङ्ग बनाएँ, संसार में किसी से द्वेष न करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसीः। त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून् मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाहꣳसह पत्या भूयासम्॥२०॥

गृहपत्नी विशेषरूप से प्रभु-प्रार्थना करती है कि (१) हे प्रभो! **पिता नः असि**=आप ही हमारे पिता—रक्षक हैं। (२) **पिता नः बोधि**=हमारे पिता आप हमें ज्ञान दीजिए। पिता का पहला काम पुत्र को योग्य बनाना है। (३) **नमः ते**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह धृष्ट न हों। (४) **मा मा हिंसीः**=आप हमें हिंसित मत कीजिए। ज्ञान के अभाव में ही हमारी हिंसा होती है। खान-पान में अज्ञानवश गलतियों से स्वास्थ्य बिगड़ता है तो अज्ञानवश परस्पर द्वेष से लड़ाई-झगड़े बढ़कर हिंसा होती है। (५) **त्वष्टृमन्तः**=वेदवाणीवाले (वाग्वै त्वष्टा। ऐ० २।४), ज्ञान की वाणियों को प्राप्त होनेवाले हम **त्वा**=आपकी **सपेम**=पूजा करें (To honour, to worship), आपकी आज्ञा का पालन करें (to obey) और आपको प्राप्त करें (to obtain) (६) **मयि**=आपके वेद के आदेश

के अनुसार चलनेवाली मुझमें **पुत्रान् पशून्**=पुत्रों को व पशुओं को **धेहि**=स्थापित कीजिए। आपकी कृपा से हमें उत्तम सन्तान प्राप्त हों और उनके पालन के लिए हमें उत्तम पशु भी प्राप्त हों। गौवों के दूध से उनके मस्तिष्क का सुन्दर पोषण हो और घोड़ों से व्यायाम के द्वारा उनके शरीर सबल हों। (७) **अस्मासु**=हमारे जीवनों में भी **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को **धेहि**=धारण कीजिए। हमारी शक्तियों का उत्तम विकास हो और (८) अन्त में **अहम् पत्या सह**=अपने पति के साथ **अरिष्टा**=अहिंसित **भूयासम्**=होऊँ। मेरा शरीर रोगों से हिंसित न हो और मन द्वेष से आविष्ट न हो। हम पति-पत्नी परस्पर हाथ पकड़कर सुविधा से इस भवसागर को पार कर जाएँ।

भावार्थ—प्रभु को पिता जानते हुए हम उससे ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञानवाले होकर प्रभु के उपासक बनें। इहिलौकिक साफल्य के साथ हम इस भवसागर को तैरने का भी ध्यान करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।
रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा॥२१॥

अध्याय की समाप्ति पर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि (१) **अहः**=दिन **केतुना**=प्रज्ञा से—प्रकाश से **जुषताम्**=सेवित हो। हमारा दिन प्रकाशमय बीते। सारा दिन नाना क्रियाओं में व्यापृत होते हुए भी हम कभी उलझन में न पड़ें। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों। दिन हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। अवकाश के समय को स्वाध्याय में बिताते हुए हम अपनी ज्ञान की ज्योति को बढ़ानेवाले बनें। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु से **स्वाहा**=हम स्वार्थ त्यागवाले बनते हैं। स्वार्थ की भावनाएँ हमारे जीवन को कुछ भोगप्रवण बनाकर अन्ततः अन्धकारमय कर देती हैं, अतः प्रकाश के हेतु हम स्वार्थ को छोड़ते हैं। (२) **रात्रिः**=दिनभर के काम के बाद विश्राम देकर रमयित्री—आनन्द देनेवाली यह रात भी **केतुना**=प्रज्ञा व प्रकाश से **जुषताम्**=सेवित हो। स्वप्न में सब इन्द्रिय-वृत्तियों के केन्द्रित हो जाने से हम प्रभु-दर्शन करनेवाले बनें। **सुज्योतिः**=रात्रि के समय भी हम उत्तम ज्योतिवाले हों। ज्योतिवाले होते हुए हम स्वप्न में भी अभद्र को अपने में प्रविष्ट न होने दें, स्वप्न में भी पाप न कर बैठें। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु से ही हम **स्वाहा**=स्वार्थ को छोड़ते हैं। स्वार्थ से ऊपर उठने पर हमारे दिन-रात चौबीसों घण्टे प्रकाशमय होंगे। (३) इस प्रकाश में निवास करनेवाला व्यक्ति कभी भी न्यायमार्ग से विचलित नहीं होता है, **न थर्वति**=डाँवाँडोल नहीं होता। बड़े-से-बड़े प्रलोभन भी इसे डिगानेवाले नहीं होते। न डिगने के कारण यह 'आथर्वण' कहलाता है।

भावार्थ—क्या दिन और क्या रात, हम सदा प्रकाश में विचरनेवाले बनें। उत्तम ज्योतिवाले होते हुए सदा न्यायमार्ग से चलें।

इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥

अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आ द॑दे॒ऽदित्यै॑ रास्ना॑सि॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र से ही सैंतीसवें अध्याय का प्रारम्भ हुआ था। अन्त के **'अदित्यै रासनासि'** के स्थान पर वहाँ **'नारिरसि'** ये शब्द थे। 'संसार की प्रत्येक वस्तु हमारी शत्रु नहीं है' के स्थान में यहाँ शब्द ये हैं कि **अदित्यै**=अखण्डन व पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू **रास्ना**=कमरबन्ध है, अर्थात् तू हमारे पूर्ण स्वास्थ्य की साधिका है, परन्तु कब? जब १. **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस सविता—सबके प्रेरक, देव—दिव्य गुणों के पुञ्ज व सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश देनेवाले प्रभुके **प्रसवे**=प्रेरणा व आज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु का आदेश संक्षेप में यह है कि **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोग करो, अतः हम प्रत्येक वस्तु का सेवन करते हुए उसमें उलझें नहीं। हम वस्तु का ग्रहण करें—वस्तु हमारा ग्रहण न कर ले। स्वाद में पड़े और वस्तु के शिकंजे में फँसे। २. जब तुझे **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाई वस्तु का ही हम ग्रहण करते हैं, बिना श्रम के हम कुछ भी नहीं लेते। ३. तुझे **पूष्णः**=पूषा के **हस्ताभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ। जब पोषण के दृष्टिकोण से हम प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करते हैं तब वह हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करनेवाली बनती है। वेद के शब्दों में वह **'अदिति'** की 'रास्ना' हो जाती है। 'अदितिः अदीना देवमाता' निरुक्त के शब्दों के अनुसार (क) प्रभु की आज्ञा में त्यागपूर्वक वस्तुओं के ग्रहण से (ख) प्राणापान के प्रयत्न से—पुरुषार्थपूर्वक अर्जन करने से और (ग) पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं के लेने पर हम अदीन बनेंगे और अपने जीवन में दिव्य गुणों का निर्माण कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन के तीन सूत्र हों—हम १. प्रभु की आज्ञा में २. प्रयत्न से ३. पोषण के ही लिए वस्तुओं का ग्रहण करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

इड॒ऽएह्यदि॑त॒ऽएहि॒ सर॑स्व॒त्येहि॑। अस॒ावेह्यस॒ावेह्यस॒ावेहि॑॥२॥

संसार-यात्रा का सुखमय बीतना बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर करता है। प्रस्तुत मन्त्र में पति कहता है कि १. **इडे एहि**=हे इडे! तू मुझे प्राप्त हो। 'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' तै० १। १। ४।४। इडा का अभिप्राय है **'मानवी'**=मनु की पुत्री=समझदार की सन्तान, अर्थात् पूरी समझदार तथा **'यज्ञानूकाशिनी'**=अपने जीवन से यज्ञ को प्रकाशित करनेवाली। **अनूकाश**=(reflection of light)। मुझे वह पत्नी प्राप्त हो जो (क) समझदार हो और (ख) यज्ञिय वृत्तिवाली हो। **असौ**=वह 'मानवी' और 'यज्ञानुकाशिनी' तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। २. **अदिते एहि**=हे अदिते! तू मुझे प्राप्त हो। अदिति का अभिप्राय है **अदीना देवमाता**=न क्षीण होनेवाली तथा देवों का निर्माण करनेवाली। मुझे पत्नी वह प्राप्त हो जो उचित आत्म-सम्मान की भावनावाली हो तथा दिव्य गुणोंवाली सन्तानों का निर्माण

करनेवाली हो। 'अदिति' शब्द की व्युत्पत्ति शतपथ ७.४.२.७ में 'इयं हि सर्वं ददते' की गई है, अतः पत्नी वही ठीक है जो सब-कुछ देने की वृत्ति रखती हो। **असौ**=वह (क) अदीन व देवों की निर्मात्री तथा (ख) सब-कुछ दे सकनेवाली तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। ३. **सरस्वति**=हे विज्ञानवति एवं सुशिक्षिते! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। पत्नी उत्तम ज्ञानवाली तथा सुशिक्षित और परिष्कृत जीवनवाली हो। **असौ एहि**=उत्तम शास्त्रीय ज्ञानवाली (Learned) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सभ्य व सुशिक्षित (cultured) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सदाचारिणी पत्नी मुझे प्राप्त हो। ऐसी पत्नी को प्राप्त करके यह दृढ़ता से अपने पथ पर चलता हुआ 'आथर्वण' संसार-यात्रा में डाँवाँडोल नहीं होगा।

भावार्थ—पत्नी के अन्दर ये गुण होने चाहिएँ : (क) समझदारी, (ख) यज्ञियवृत्ति, (ग) अदीनता व दिव्यता, (घ) उदारता और (ङ) शिक्षा।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**भुरिक्साम्नीबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अदित्यै रास्नासीन्द्राण्याऽउष्णीषः। पूषासि घर्माय दीष्व॥३॥

गतमन्त्र के विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=स्वास्थ्य के लिए **रास्ना**=कमरबन्ध (हपतकसम) **असि**=है। पत्नी 'धर्म-पत्नी' है। वह पति का यज्ञों से संयोग करनेवाली है, स्वयं यज्ञियवृत्तिवाली होती हुई पति के जीवन को भी यज्ञिय बनाती है। इस प्रकार विलास के मार्ग से हटाकर यह स्वास्थ्य को सिद्ध करती है। २. **इन्द्राण्यै**=इन्द्र की प्रिय पत्नी की तू **उष्णीषः**=पगड़ी है। **'इन्द्राणी व इन्द्रस्य प्रिया पत्नी, तस्या उष्णीषः विश्वरूपतम**—श० १४।२।१।८। इन्द्र की प्रिय पत्नी इन्द्राणी है। उसकी उष्णीष का अभिप्राय है सब वस्तुओं को सुन्दररूप देनेवाली'=पति ने 'इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, अर्थात् जितेन्द्रिय बनना है, उसको प्रीणित करनेवाली पत्नी 'इन्द्राणी' कहलाती है। यह घर में सब वस्तुओं को एक सुन्दर रूप देनेवाली होती है, अर्थात् इसके आने पर सारा घर सुव्यवस्थित हो जाता है। सब वस्तुएँ ठीक आकार में आ जाती हैं। ३. **पूषा असि**=तू सबको पोषण प्राप्त करानेवाली है। वस्तुतः घर में भोजनादि की ठीक व्यवस्था का भार पत्नी पर ही होता है। यह उस व्यवस्था को ठीक रखती हुई ठीक ढंग से सबका पोषण करनेवाली बनती है। ४. **घर्माय**=शक्ति के लिए **दीष्व**=(to soar, to fly) तू ऊँची उड़ानवाली बन। उच्च लक्ष्य का ध्यान ही हमें हीन आकर्षणों से बचाता है और हमारी शक्ति को नष्ट नहीं होने देता है।

भावार्थ—पत्नी यज्ञिय जीवनवाली हो, जिससे विलास से स्वास्थ्य को समाप्त न कर दे। घर में सब वस्तुओं को सुव्यवस्थित प्रकार से रखकर घरको सुन्दर बनाये। भोजन की ठीक व्यवस्था से सबके स्वास्थ्य को सिद्ध करे और उच्च लक्ष्यवाली बनकर शक्ति को नष्ट न होने दे।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व।
स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत्॥४॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों के लिए **पिन्वस्व**=तू अपने को प्रीणित कर, उत्साहित कर, अर्थात् प्राणापान की साधना करने के लिए (**पिन्व्**=**जिन्व्**=to urge on) तू अपने को उत्साहित करनेवाली हो। २. **सरस्वत्यै**=ज्ञान व शिक्षा के लिए **पिन्वस्व**=तू उत्साह-सम्पन्न हो। ज्ञान में तेरी रुचि हो—सुशिक्षित होने की तेरी प्रबल कामना हो। ३. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय

बनने के लिए **पिन्वस्व**=तुझमें सदा उत्साह हो। वस्तुतः 'प्राणसाधना, ज्ञान व शिक्षा तथा जितेन्द्रियता' ही में अध्यात्म-उन्नति की मौलिक बात है। प्राणसाधना से शरीर पूर्णतया नीरोग रहता है। ज्ञान व शिक्षा हमारे मस्तिष्क को स्वस्थ बनाते हैं तथा जितेन्द्रियता मानस-पवित्रता का मूल बनती है। ४. (क) इस प्रकार हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनते हैं। इस प्राणशक्ति के सम्पादन करनेवाले को प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे प्राण-शक्तिसम्पन्न (प्राण एवेन्द्रः-श० १२।९।१।१४) तू **स्वाहा**=स्वार्थ के त्यागवाला बन। (ख) जब हम सरस्वती की साधना करके ज्ञान व शिक्षा का सम्पादन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्यागवाला बन। (ग) जितेन्द्रियता को सिद्ध करके 'इन्द्र' बननेवाले इस साधक से प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**= (हृदयमेवेन्द्रः-श० १२।९।१।१५) हे उत्तम मन व हृदयवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्याग करनेवाला बन। वस्तुतः स्वार्थत्याग के बिना प्राणापान व जितेन्द्रियता का साधन नहीं हो सकता।

भावार्थ—हम प्राणसाधना, ज्ञान, व जितेन्द्रियता के लिए सदा उत्साह धारण करें

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वाक्**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥५॥

१. पिछले मन्त्र में प्राण, ज्ञान व जितेन्द्रियता की साधना का उल्लेख हुआ है। उस साधना में सर्वप्रमुख सहायक वेदवाणी है। वेदवाणी को 'गौ' भी कहते हैं। इस वेदवाणीरूप गौ से मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा' कहता है कि **यः**=जो **ते**=तेरा **स्तनः शशयः**=(शशयः शिश्यानः-नि०) हमारे जीवनों को प्लुतगतिवाला बनानेवाला है **तम्**=उसको **इह**=यहाँ **धातवे**=हमारे पीने के लिए **अकः**=कर, अर्थात् तेरा ज्ञान हमें क्रियाशील बनाये। २. हमें तू उस ज्ञान का पान करा जो **मयोभूः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाला है। वस्तुतः क्रियाशीलता का ही परिणाम मंगल है। 'मंगल' शब्द 'मगि गतौ' धातु से बना है। गति में ही कल्याण है। अकर्मण्यता अकल्याण का कारण है। ३. उस स्तन को पिला **यः**=जो **रत्नधा**=हममें रमणीय वस्तुओं का धारण करनेवाला है। इस ज्ञान की वाणी को पीकर हमारे जीवन से सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और हमारा जीवन रमणीय बन जाता है। ४. हमें उस स्तन का पान करा जो **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान की वाणी से हम वसुओं को प्राप्त करने की क्षमतावाले होते हैं। ५. यह वेदवाणी का स्तन तो हमारे लिए **सुदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं को (सु) देकर (द) हमारी रक्षा करनेवाला है (त्र)। ६. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवि! **येन**=जिस अपने स्तन से तू **विश्वा**=सब **वार्याणि**=वरणीय, उत्तम वसुओं का **पुष्यसि**=पोषण करती है उस स्तन को तू हमें पिलानेवाली हो। ७. तेरे इस स्तन का पान करके मैं **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। इस ज्ञान से मेरा सारा व्यवहार विशाल हृदय के अनुकूल होता है, मेरे व्यवहार में संकुचित-हृदयता नहीं टपकती।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ के स्तन का पान करके मैं 'क्रियाशील, मंगलमय, ज्ञनसम्पन्न, व वसुमान्' बनता हूँ। सब वरणीय वसुओं को प्राप्त करता हूँ और विशाल हृदय बनता हूँ।

सूचना—वेद की शिक्षा मनुष्य को कहती है १. 'मनुर्भव' तू मनु बन, समझदार बन २. 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' भूमि को अपनी माता समझ। भूमि के एकदेश को अपनाकर तू देशभक्ति के नाम पर भी संकुचित-हृदय मत बन। वस्तुतः यही मनुष्य **दीर्घतमा**=अज्ञान को विदीर्ण करनेवाला होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णाम्यन्तरिक्षेणोप यच्छामि। इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट्। स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये ॥६॥

उसी वेदवाणी से कहते हैं कि १. **गायत्रं छन्दः असि**=तू गायत्र छन्द है, **त्रैष्टुभं छन्दः असि**=तू त्रैष्टुभ छन्द है। यद्यपि वेदवाणी केवल इन दों छन्दों की बनी हुई नहीं है तो भी यहाँ दो ही छन्दों का उल्लेख इसलिए है कि ''**एते वाव छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री त्रिष्टुप् च**'' (तां० २०. १६) छन्दों में गायत्री और त्रिष्टुप् अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, ये अधिक शक्तिशाली हैं यह वेदवाणी 'गायन्तं त्रायते' अपने गान करनेवाले का त्राण करती है। जो भी वेदवाणी को पढ़ते हैं, वे इसके द्वारा सुरक्षित होते हैं तथा यह वेदवाणी 'त्रि+ष्टुप' तीनों 'काम-क्रोध व लोभ' को रोकनेवाली होकर त्रिविध कष्टों को दूर करती है। २. मैं **त्वा**=तुझे **द्यावापृथिवीभ्यां**=मस्तिष्क व शरीर (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) के स्वास्थ्य के लिए **परिगृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। अथवा ''**प्राणापानौ वै द्यावापृथिवी**''—(श० १४.२.२.३६) मैं अपने प्राण व अपान को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए तेरा ग्रहण करता हूँ। ३. **अन्तरिक्षेण**=**'मनोऽन्तरिक्षलोकः'** (श० १४.४.३.११) मन के उद्देश्य से **उपयच्छामि**=मैं तुझे अपनाता हूँ (उपयच्छा=स्वीकरण)। वेद का अध्ययन हमें सदा मन को मध्यमार्ग पर चलने का उपदेश देता है। 'अन्तरिक्ष' शब्द का प्रयोग ही 'अन्तरा क्षि' मध्य में निवास का संकेत करता है। 'मेरा मन सब अतियों (Extremes) से बचकर मध्य में ही चले' इस बुद्धि से मैं वेदवाणी को स्वीकार करता हूँ। ४. **इन्द्राश्विना**=हे जीव! तू इन प्राणापान के साथ **सारघस्य मधुनः**=मधु-तुल्य सोमरस की **घर्म**=शक्ति को **पात**=सुरक्षित करनेवाला बन। 'इन्द्र' शब्द से सूचित जितेन्द्रियता व प्राणसाधना शरीर में सोमरक्षा के लिए आवश्यक है। यह शरीर में उत्पन्न होनेवाला सोम, भक्ष्य ओषधियों का सारभूत है, इसी बात को स्पस्ट करने के उद्देश्य से यहाँ सोम के लिए 'मधु' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे शहद (सारघ) मधुमक्षिकाओं से पुष्परस के द्वारा ही तो बनाया जाता है, उसी प्रकार शरीर का सोम भी ओषधिरस का ही सार होना चाहिए। शरीर में इसका सुरक्षित होना ही शरीर की सारी उष्णता व शक्ति का आधार है। ५. इस शक्ति के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा शरीर में निवास उत्तम होता है और हम **वसु**=उत्तम निवासवाले बन जाते हैं। इस सोमपान से शरीर ही नीरोग नहीं होता, मन भी निर्दोष बनता है। इन वसुओं से कहते हैं कि **वसवः**=सोमरक्षा द्वारा वसुत्व सिद्ध करनेवालो! **यजत** =तुम यज्ञशील बनो। यज्ञशीलता विलासमय जीवन की विरोधी भानवा को व्यक्त करती है। सोमरक्षा के लिए इस यज्ञिय जीवन की अत्यन्त आवश्यकता है। ६. **वाट्**=(वट्=बाँटना) तू अपने धन को बाँटनेवाला बन। संविभाग ही मनुष्य को पवित्र बनाता है ७. **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग करनेवाला बन ताकि तू **सूर्यस्य रश्मये**=सूर्य की रश्मियों को प्राप्त कर सके, अर्थात् तेरी ज्ञान की रश्मियाँ दीप्त हों—तू ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बने तथा **वृष्टिवनये**=अन्त में धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा का अनुभव कर।

भावार्थ—वेदाध्ययन से मनुष्य का जीवन वासनाओं से बचता है, उसके अन्दर बाँटकर खाने की वृत्ति उत्पन्न होती है, ज्ञान बढ़ता है और आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वातः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

क्रियाशील पति

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा सरिराय त्वा वाताय स्वाहा।
अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा।
अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहाशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा॥७॥

आचार्य दयानन्द लिखते हैं कि प्रस्तुत मन्त्रों का विषय है 'विवाह किये स्त्री-पुरुष क्या करें?' प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी कहती है कि मैं १. **समुद्राय**=सदा प्रसन्न रहनेवाले **त्वा**=आपके प्रति **वाताय**=वायु के समान अविच्छिन्न गतिवाले के प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ, अपने पिता के घर को छोड़कर आपके समीप होती हूँ। २. **सरिराय (सरिर= सलिल=जल)** जल के समान शान्त **वाताय त्वा**=वायु के समान क्रियाशील आपके लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ। ३. **अनाधृष्याय**=वासनाओं से धर्षित न होनेवाले **वाताय त्वा**=गतिशील आपके लिए **स्वाहा**=अपने को सौंपती हूँ। ४. **अ-प्रति-धृष्याय**=प्रत्येक का धर्षण न करनेवाले, अर्थात् औरों को व्यर्थ ही अन्यायरूप से न दबानेवाले **वाताय**=आलस्यशून्य आपके लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करती हूँ। ५. **अवस्यवे**= संसार की सब विषय-वासनाओं से रक्षा चाहनेवाले **वाताय त्वा**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आपके लिए **स्वाहा**=(सु आह) मैं शुभ शब्दों का उच्चारण करनेवाली होती हूँ। ६. **अ-शिमि-दाय**=(शिमिति कर्मनाम शामयतेर्वा=शक्नोतेर्वा—नि० ५।१२) कर्मों को न छोड़नेवाले के लिए **वाताय**=क्रियाशील के लिए **स्वाहा**=मैं सदा शुभ शब्दों को बोलनेवाली बनती हूँ। **'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्'** माधुर्यवाली, शान्तिप्रद वाणी बोलनी ही चाहिए। ७. एवं प्रस्तुत मन्त्र में पति की विशेषताएँ इस रूप में दर्शाई गई हैं—(क) वह सदा प्रसन्न रहनेवाला हो—क्रोध न करे, (ख) जल की भाँति शान्त स्वभाववाला हो, (ग) दबे नहीं, (घ) दबाये नहीं, (ङ) वासनाओं से अपनी रक्षा करना चाहे, (च) कभी कर्मों को न छोड़े, क्योंकि कर्म ही शान्ति देते हैं, वासनाओं से बचाते हैं तथा शक्ति की वृद्धि करते हैं। उन कर्मों पर बल देने के लिए ही छह बार 'वाताय' कहा गया है, अर्थात् मनुष्य सदा पाँचों इन्द्रियों व छठे मन को अकर्मण्य न होने दे। एवं, पति का सर्वमहान् गुण 'क्रियाशीलता' ही है।

भावार्थ—पति 'प्रसन्न—शान्त, न दबनेवाला, न दबानेवाला, वासनाओं से ऊपर उठ कर्मों को कभी न छोड़नेवाला, वायु की भाँति सदा क्रियाशील' होना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने स्वाहा। सवित्रे त्वऽऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा॥८॥

१. **इन्द्राय** जितेन्द्रिय **वसुमते रुद्रवते त्वा**=वसुमान् और रुद्रवान् आपके लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग करती हूँ। वसुमान् वह है जिसने अपने शरीर में उस-उस स्थान पर देवों के उत्तम निवास की व्यवस्था की है। सूर्य चक्षु का रूप धारण करके आँख में रह रहा है, अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में रह रहा है, इसी प्रकार सब देवों का शरीर में निवास है। उन सब देवों को उत्तमता से निवास देनेवाला यह वसुमान् है, अर्थात् यह

पूर्ण स्वस्थ है। 'रुद्र' शब्द का अर्थ है **'रोरूयमाणो द्रवति'**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ कार्यों में लगा रहता है। एवं 'रुद्रवान्' वह है जो खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते सदा प्रभु का स्मरण करता है और इसी कारण वासनाओं के लिए प्रलयंकर रुद्र बना रहता है। इस प्रकार यह रुद्रवान् पूर्ण निर्मल मनवाला है। इसका मन वासनाओं से मलिन नहीं हुआ। २. **इन्द्राय त्वा**=तुझ जितेन्द्रिय **आदित्यवते**=आदित्यवान् के लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। सब विद्याओं का आदान करके ज्ञान के सूर्य से चमकनेवाला यह आदित्यवान् है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमक रहा है। ३. **इन्द्राय त्वा**=तुझ इन्द्रियों के अधिष्ठाता **अभिमातिघ्ने त्वा**=ऊँचा उठकर भी जो अभिमान का नाश करनेवाला है, उस तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। दैवी सम्पत्ति की पराकष्ठा 'नातिमानिता' पर है। यह पूर्ण स्वस्थ है, निर्मल मनवाला है, दीप्त मस्तिष्कवाला है। एवं, शरीर, मन व मस्तिष्क की सम्पत्ति से युक्त होकर भी यह अभिमानी नहीं हो गया। रोगों पर, वासनाओं पर, अज्ञानान्धकार पर विजय पाकर भी यह अपने मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ रख पाया है, अभिमानी नहीं हो गया। ४. यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक वाक्य में 'इन्द्राय' को रक्खा गया है। यह संकेत करने के लिए कि सबसे महत्त्वपूर्ण 'जितेन्द्रियता' है। ५. **सवित्रे त्वा**=तुझ सविता के लिए—धन का उत्पादन करनेवाले के लिए, परन्तु **ऋभुमते (ऋतेन भान्ति)**=सत्य से चमकनेवाले के लिए, अर्थात् धन को सम्यग्मार्ग से कमानेवाले के लिए। (**ऋभवः**=Skilful, artist, smith) ऋभु का अर्थ शिल्पी भी है, अतः ऋभु वे हैं जो कुशलता से कोई-न-कोई हाथ का कार्य करते हैं। **विभुमते**=व्यापकतावाले तेरे लिए, धन कमाने के साथ हृदय की उदारता (व्यापकता) आवश्यक है **वाजवते**=शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग करती हूँ। एवं, पति कमानेवाला हो। पुरुषार्थ व शिल्प में कुशलता से धनार्जन किया जाए, हृदय विशाल हो, शरीर शक्तिशाली हो। ६. **बृहस्पतये त्वा**=तुझ ब्रह्मणस्पति के लिए—वेदज्ञान के पति के लिए—ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाले, **विश्वदेव्यावते**=सब दिव्य गुणोंवाले जितेन्द्रिय के लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय, पूर्ण स्वस्थ, प्रभुभक्त, ज्ञान का आदान करनेवाला, निरभिमानी, धन का सत्य व पुरुषार्थ से अर्जन करनेवाला, उदार हृदय, शक्तिशाली, ब्रह्मनिष्ठ व दिव्य गुणोंवाला हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वायुः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा। स्वाहा घर्माय स्वाहा घर्मः पित्रे॥९॥

१. **यमाय**=सब इन्द्रियों का नियमन करनेवाले **अङ्गिरस्वते**=एक-एक अङ्ग में रसवाले **पितृमते त्वा**=उत्तम पितृत्व की शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। जितेन्द्रियता ही मनुष्य को अङ्गिरस बनाती है—उसके अङ्ग रसमय बने रहते हैं। जो अङ्गिरस नहीं वह उत्तम सन्तानों को जन्म कैसे देगा? अङ्गिरस ही पितर बन पाते हैं। इसीलिए मन्त्र में यह क्रम है—'यम-अंगिरस्-पितर' २. **घर्माय**=तुझ शक्ति की उष्णतावाले के लिए मैं **स्वाहा**=समर्पण करती हूँ। वस्तुतः जो भी 'यम' बनता है, वह घर्म=शक्ति का पुञ्ज होता ही है। ३. **घर्मः**=यह शक्ति का पुञ्ज व्यक्ति ही **पित्रे**=पिता के लिए होता है, अर्थात् इसी में पिता बनने की योग्यता होती है—यही पितृत्व के लिए होता है।

४. प्रस्तुत मन्त्र में 'यम-अंगिरा-पिता' वह क्रम बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन सातवें-आठवें

व नौवें मन्त्र के देवता भी क्रमशः 'वात-इन्द्र-वायु' हैं। बीच में इन्द्र है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता। दोनों ओर होनेवाले वात व वायु शब्द पर्यायवाची हैं और गतिशीलता के द्वारा बुराई के हिंसन की सूचना देते हैं। जिसने भी पिता बनना है उसके लिए यह नितान्त आवयश्क है कि वह क्रियामय जीवनवाला होकर सब बुराइयों को अपने से दूर रक्खे और जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रिय के सन्तान ही उत्तम जीवनवाले हो सकेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन नियमित हो जिससे हमारे एक-एक अङ्ग में शक्ति के कारण रस हो। हम शक्तिशाली बनें तभी हम योग्य पिता बन पाएँगे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

यज्ञरूप भोजन

विश्वाऽआशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों में पति-पत्नी का उल्लेख हुआ है। उन्हें इन मन्त्रों में 'अश्विनौ' शब्द से स्मरण किया है। 'अश्विनौ' का अर्थ आचार्य ने 'सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ' और 'भूगर्भविद्याविदौ स्त्रीपुरुषौ' दिया है। ऐतरेय० १।१८। में 'अश्विनौ' अध्वर्यू' इन शब्दों में स्पष्ट किया है कि हिंसाशून्य (अध्वर) यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत स्त्री-पुरुष 'अश्विनौ' हैं।

२. ये पति-पत्नी कुटिलता से दूर तथा सरल मनोवृत्ति से कार्यों में व्यापृत होने से 'दक्षिण' हैं। **विश्वाः आशाः**=सब दिशाएँ **दक्षिणसद्**=(दक्षिणे सीदन्ति) इन सरल स्त्री-पुरुषों में निषण्ण होती हैं, अर्थात् इनकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। ये ग़लत इच्छाएँ नहीं करते इनकी इच्छाएँ शुभ होती हैं, अतः इनकी वे इच्छाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। ३. **अयाट् इह**=इस मानव-जीवन में यही पुरुष **विश्वान् देवान्**=सब देवों को, अर्थात् सब दिव्य गुणों को अपने साथ (यज्ञ संगतिकरण)=सङ्गत करता है। ४. इन पति-पत्नी को प्रभु आदेश देते हैं कि **'स्वाहाकृतस्य'**=पेट की जाठराग्नि में (वैश्वानर=अग्नि में) भोजन को यज्ञ का रूप देकर खाते हुए **घर्मस्य**=शक्तिप्रद अन्न के (**घर्म**=अन्न-नि० १।९) **मधोः**=सारभूत सोम का **पिबतम्**=पान करो। अन्न को यज्ञरूप में खाया जाए तो यह 'स्वाहाकृत' हो जाता है। इसे स्वाद के लिए नहीं, अपितु इस देव-मन्दिर की रक्षा के लिए ही खाया जाता है। 'शक्तिप्रद अन्न का ही सेवन करना चाहिए' यह भावना 'घर्म शब्द से व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—हम भोजन को भी यज्ञ का रूप दे दें। परिणामतः हम 'दक्षिण' बनेंगे, हमारी सभी आशाएँ पूरी होंगी, दिव्य गुणों से हमारा मेल होगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

ज्ञान व यज्ञ

दिवि धाऽइमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः। स्वाहाग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः॥११॥

१. हे प्रभो! **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले इस पुरुष में **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **धाः**=धारण कीजिए। ज्ञानी पुरुष यज्ञशील बने। यदि दुर्भाग्यवश ज्ञानी पुरुष यज्ञ की भावनावाला, संगतिकरण व मेल की भावनावाला नहीं होता तो वह संहारक अस्त्रों के निर्माण में अपने ज्ञान का विनियोग करता है। परिणामतः वह मानव के लिए अशान्ति की वृद्धि का कारण होता है। ऐसे ही पुरुषों को 'ब्रह्मराक्षस' कहा गया है। सामान्य भाषा में ज्ञानी को 'साक्षर' (**स अक्षर**=literate) कहते हैं। यदि यह यज्ञिय भावनावाला नहीं रहता तो विपरीतवृत्ति होना आवश्यक है। २. साथ ही **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले में ही

धाः=धारण कर। जिस समय ये यज्ञ अज्ञानियों के हाथों में चले जाते हैं, तब इनमें रीतियों rituals का प्राधान्य हो जाता है और यज्ञ की भावना समाप्त ही नहीं हो जाती अपितु अत्यन्त विकृतरूप धारण करती है। उस समय यज्ञों में पशुबलि व सुरा-सेवन भी चल पड़ता है। संक्षेप में यज्ञ 'अयज्ञ' हो जाते हैं। ३. प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि हमारे जीवन में **यज्ञियाय अग्नये**=यज्ञ की अग्नि के लिए **स्वाहा**=कुछ-न-कुछ स्वार्थ का त्याग होता ही रहे। हमारा जीवन एकदम विलासमय न होकर यज्ञिय बन जाए। हम 'केवलादी' न रहें, अपञ्चयज्ञ व मलिम्लुच चोर न हो जाएँ। ४. **यजुर्भ्यः**=यजुओं के द्वारा 'देवपूजा-संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ के द्वारा **शम्**=हमारे जीवनों में शान्ति हो। वास्तविक शान्ति का मूलमन्त्र यज्ञ ही है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान व यज्ञ दोनों का सुन्दर समन्वय हो। हम यज्ञिय अग्नि के लिए अपना त्याग करें। 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ हमारे जीवन को शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोमपान

अश्विना घर्मं पातꣳहार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः।

तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥१२॥

१. हे **अश्विना**=कर्मों में शीघ्रता से व्यापनेवाले पति-पत्नियो। **अहर्दिवाभिः ऊतिभिः**=दिन-रात के रक्षणों से इस **हार्द्वानम्**=(**हृदं वनति**=Which wins the heart) हृदय को जीतनेवाले—हृदयगति को कभी बन्द (Heart failure) न होने देनेवाले **घर्मम्**=सोमरस को—शरीर में उष्णता को रखनेवाली शक्ति को **पातम्**=सुरक्षित करो। यहाँ तीन बातें ध्यान देन योग्य हैं—(क) शरीर में वीर्यरक्षा के लिए। इस अर्थ में दिन-रात सावधानी की आवश्यकता है। वह सावधानी यह है कि सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहें। (ख) इस सोमपान से शरीर में गर्मी=शक्ति बनी रहती है (ग) सोमपान करनेवाले का हृदय ठीक काम करता है, कभी फ़ेल नहीं होता। यह सोमपायी औरों के हृदयों को जीत पाता है अर्थात् औरों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला बनता है।

२. **तन्त्रायिणे**=(एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष हीमाँल्लोकान्तन्त्रमिवानुसंचरति —श० १४।२।२।२२) संसार-तन्त्र में विचरनेवाले सूर्य के लिए तथा **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए **नमः**=नमस्कार हो। मैं इनके प्रति सन्नत होऊँ। मेरा पृथिवीरूप शरीर पूर्ण स्वस्थ हो, मस्तिष्करूप द्युलोक अन्धकार के आवरण से रहित हो तथा उस मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हो।

एवं, यह स्पष्ट है कि उस घर्मपान का ही यह परिणाम है कि (क) शरीर स्वस्थ बनता है (ख) मस्तिष्क ज्ञानग्रहण के लिए उपयुक्ततम बनता है (ग) हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है।

सूचना—घर्म का अर्थ 'यज्ञ' भी है। यज्ञ की रक्षा से भी द्युलोक, पृथिवीलोक व सूर्य आदि सब देव अनुकूल होते हैं।

भावार्थ—हम सदा सावधानी से कर्मों में लगे रहकर सोम का पान करें। यह हमें हृदयों का विजेता, स्वस्थ और बुद्धि व विद्या से सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

ब्रह्माण्ड की अनुकूलता

अपातामश्विना घर्ममनु द्यावापृथिवीऽअमंस्साताम्। इहैव रातयः सन्तु॥१३॥

१. **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पति-पत्नी **घर्मम्**=शरीर में शक्ति को बनाये रखनेवाले सोम का **अपाताम्**=पान करें व सुरक्षित करें। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सारे पदार्थ—सब देवता—**अनुअमंसाताम्**=उनके अनुकूल विचारवाले हों, अर्थात् सोम की शरीर में रक्षा करने पर संसार के सभी पदार्थ हमारे अनुकूल होते हैं। सोमपान करनेवाले के लिए सारा ब्रह्माण्ड अनुकूल-ही-अनुकूल होता है। शरीर में शक्ति न हो तभी इनकी प्रतिकूलता लगने लगती है। २. इस सोमपान के लिए आवश्यक है कि **इह एव**=इस गृहस्थ जीवन में ही **रातयः**=दान **सन्तु**=सदा होते रहें। दानशील पति- पत्नी का जीवन विलासमय नहीं बनता। परिणामतः वे वीर्य की रक्षा सरलता से कर पाते हैं। दान बुराइयों का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाला है और हमारे जीवन को शुद्ध बनानेवाला है (दैप् शोधने)। जीवन की शुद्धता वीर्यरक्षा में सहायक होती है और तब सब पदार्थ हमारे लिए अनुकूल होते हैं। जीवन आशावाद से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। यह सारे ब्रह्माण्ड को हमारे अनुकूल बनाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—द्यावापृथिवी। छन्दः—अतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय॥१४॥

१. **इषे**=प्रेरणा के लिए **पिन्वस्व**=(To urge on) अपने को उत्साहित कर, अर्थात् तुझे प्रबल इच्छा हो कि मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ। २. **ऊर्जे पिन्वस्व**=बल और प्राणशक्ति के लिए उत्साह को धारण कर। तुझमें यह भावना हो कि मैं प्रभु की प्रेरणा को सुनूँ और उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए शक्तिशाली होऊँ। मुझमें प्रेरणा के अनुसार कार्य करने का सामर्थ्य हो। ३. **ब्रह्मणे पिन्वस्व**=ज्ञान के लिए उत्साहित हो, और ४. **क्षत्राय**=बल के लिए **पिन्वस्व**=उत्साहित हो। तेरी प्रार्थना का स्वरूप ही यह हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**=मेरे ब्रह्म व क्षत्र दोनों ही फूलें-फलें, परन्तु इस संसार में केवल ज्ञान और बल जीवन-यात्रा के संचालन के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए भौतिक वस्तुओं की भी उतनी ही आवश्यकता है, अतः कहते हैं कि ५. **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक इन भौतिक वस्तुओं के लिए भी **पिन्वस्व**= उत्साह धारण कर। यही भावना मन्त्र की समाप्ति पर 'विशं धारय' इन शब्दों से व्यक्त हो रही है। वस्तुतः संसार-यात्रा में धन का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इस धन को अन्याय मार्ग से नहीं कमाना है, अतः कहते हैं कि ६. **धर्म असि**=हे जीव! तू मूर्त्तिमान् धर्म है, धर्म ही नहीं **सुधर्म असि**=तू उत्तम धर्म है, अतः तूने सुपथ से ही धन कमाना है। **अमेनि असि**=तू अहिंसक है औरों की हिंसा करके कभी भी धनार्जन नहीं करता।

इस प्रेरणा को सुनकर 'दीर्घतमा' मन्त्र का ऋषि जिसने अज्ञान का विद्रावण किया है, प्रभु से प्रार्थना करता है—७. **अस्मे**=हमारे लिए **नृम्णानि**=धनों को **धारय**=धारण कीजिए ८. **ब्रह्म धारय**=ज्ञान को धारण कीजिए ९. **क्षत्रं धारय**=बल को धारण कीजिए १०. और

विशं धारय='कृषिगोरक्षा व वाणिज्य' रूप वैश्यकर्म को भी धारण कीजिए, जिससे ज्ञान प्राप्त करके और शक्तिशाली बनकर हम न्याय-मार्गों से ही धनार्जन करें।

भावार्थ—हम प्रभु प्रेरणा को सुनकर, उस प्रेरणा को क्रिया में परिणत करने की शक्तिवाले बनें, ज्ञान-बल व धन तीनों का अपने में सुन्दर समन्वय करके अपने जीवन को सुखी व सफल बनाएँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**पूषादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

स्वाहा॑ पू॒ष्णे शर॑से॒ स्वाहा॒ ग्राव॑भ्यः॒ स्वाहा॑ प्रति॒रवे॑भ्यः। स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ऽऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्यो घर्म॒पाव॑भ्यः॒ स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳬ स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्यः॑॥१५॥

ब्रह्मचर्य—१. **पूष्णे**=पूषा के लिए, अर्थात् पोषण की देवता के लिए **स्वाहा**=हम अपना त्याग करते हैं। वस्तुतः स्वाद आदि का त्याग होने पर ही ठीक ढंग से पोषण होता है। (ख) **शरसे स्वाहा**=(शॄ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि वासनाओं के विनाश के लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करता हूँ। कामादि पर विजय के लिए विश्राम आदि की सब भावनाओं को त्यागकर तपस्वी जीवन बिताना आवश्यक है। (ग) **ग्रावभ्यः**=(गॄ=गृणाति उपदिशति)=ज्ञान का उपदेश देनेवाले गुरुओं के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। गुरु के प्रति अर्पण से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरु के प्रति अत्यन्त विनीत बनने से। (घ) **प्रतिरवेभ्यः**=गुरु के उच्चारण किये हुए मन्त्रों को अनूदित करनेवाले विद्यार्थीयों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। वस्तुतः वे ही विद्यार्थी ठीक हैं जो गुरु के मुख से निकले प्रत्येक शब्द को ध्यान से सुनकर उसका उच्चारण करते हैं।

एवं ब्रह्मचर्याश्रम की मूलभूत बातें दो हैं—प्रथम बात तो यह कि शरीर में शक्ति का पोषण करना है और इसी उद्देश्य से वासनाओं को समाप्त करना है (पूष्णे-शरसे)। दूसरी बात यह कि उत्तम गुरुओं को प्राप्त करके उनके मुख से उच्चरित प्रत्येक शब्द को महत्त्व देना है, उसको प्रत्युच्चरित reproduce करना है और इस प्रकार निरन्तर ज्ञानवृद्धि के लिए प्रयत्नशील होना है।

गृहस्थ—२. **पितृभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वाहा**=उत्तम वाणी का उच्चारण करते है (स्वाहा इति वाङ्नाम—नि० १।११) जो **ऊर्ध्वबर्हिभ्यः**=उत्कृष्ट प्रजाओंवाले हैं। (प्रजा वै बर्हिः—को० ५।७) जिन्होंने उत्तम सन्तानों का निर्माण किया है और इसी उद्देश्य से **घर्मपावभ्यः**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाले बने हैं। वस्तुतः संयमी जीवन से शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले माता-पिता ही उत्कृष्ट सन्तानों को जन्म दे पाते हैं। इस प्रकार गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वे संयमी जीवनवाले बनकर उत्तम सन्तान का निर्माण करें।

वनस्थ—३. गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ में प्रवेश करके व्यक्ति फिर से अपने मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय में लगता है **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** यह वानप्रस्थ सब ग्राम्य आहारों (मिठाई आदि) को छोड़कर वन्य कन्द-मूल, फलों पर जीवन बिताता हुआ शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाता है। मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए **द्यावापृथिवीभ्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी के प्रति **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। इनकी उन्नति को ही मैं अपना ध्येय बना लेता हूँ। इनको स्वस्थ करने के बाद संन्यासी होकर मैं प्रचारकार्य को ठीक प्रकार से कर पाऊँगा।

संन्यास—४. अब 'द्यावापृथिवीभ्यां' का ठीक विकास करके व्यक्ति 'देव' बनता है।

इसके शरीर व मस्तिष्क दोनों ही चमकते हैं। इन **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब देवों के लिए हम **स्वाहाः**=प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं। इन संन्यासियों का उचित आदर हमारे जीवन को सदा सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा देनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम शरीर को पुष्ट बनाने के लिए वासनाओं का संहार करें, आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें। द्वितीय आश्रम में शक्ति की रक्षा के द्वारा, ब्रह्मचर्य-पालन के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म दें। तृतीयाश्रम में शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ बनाएँ और चौथे आश्रम में ज्ञान की दीप्ति को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—रुद्रादयः। छन्दः—भुरिगतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

प्रभु-स्तोताओं का सङ्ग व प्रभु-प्राप्ति

स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः। अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। मधु हुतमिन्द्रतमेऽअग्नावश्याम ते देव घर्म नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः॥१६॥

१. **रुद्राय**=(रुद्र इति स्तोतृनाम—नि० ३।१६) स्तोता के लिए हम **स्वाहा**=अपना अर्पण करते हैं, **रुद्रहूतये**=(रुद्रस्य हूतिर्यस्य) प्रभु को पुकारनेवाले के लिए **स्वाहा**=हम अपने को सौंपते हैं। प्रभु के उपासकों के संग बैठने से हमारा जीवन भी भौतिक वासनाओं से ऊपर उठकर प्रभु-प्रवण बनता है। **ज्योतिषा सम्** (गत्य) **ज्योतिः**=उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के साथ मिलकर हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है। **'अग्निनाग्निः समिध्यते'** जैसे अग्नि से दूसरी अग्नि समिद्ध की जाती है उसी प्रकार उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के सम्पर्क में हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है।

इस प्रकार प्रभु कृपा करें कि **अहः केतुना जुषताम्**=हमारा सारा दिन प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु ही **स्वाहा**=हम स्वार्थ त्याग करें—सब आराम व मौज को समाप्त कर दें। इसी प्रकार **रात्रिः**=रात भी **केतुना जुषताम्**=प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों, **ज्योतिषा**=इस ज्योति के दृष्टिकोण से **स्वाहा**=हम स्वार्थ-त्याग करते हैं।

२. ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति की रक्षा करनेवाले बनें। इसी सोम को 'मधु' कहते हैं। यह सब ओषधियों का सारभूत होता है। यह **मधु**=सोम **हुतम्**=आहुत होता है—समर्पित होता है। किसमें? (क) **इन्द्रतमे**=अधिक-से-अधिक जितेन्द्रिय पुरुष में और (ख) **अग्नौ**=आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष में। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, वही सोम की रक्षा कर पाता है। इन्द्रिय-विषयों में फँसते ही सोम की रक्षा सम्भव नहीं रहती। साथ ही जो जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ने की भावना रखता है, वही व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में फँसने से बच सकता है, अतः हम 'इन्द्रतम व अग्नि' बनकर हे **देव**! सब दिव्यता के पुञ्ज प्रभो! **ते**=आपके **घर्म**=तेज को **अश्याम**=प्राप्त करें।

३. हे प्रभो! **ते नमः अस्तु**=आपके प्रति हम नतमस्तक हों। आपकी विनय ही हमें इस योग्य बनाएगी कि हम इन्द्रियों के दास बनने से बचे रहेंगे, और हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहेगी। इस प्रकार हे प्रभो! **मा मा हिंसीः**=आप मेरी हिंसा मत होने दीजिए। प्रभु-विनय ही हमें जितेन्द्रिय बनने की क्षमता प्रदान करती है और विनाश से बचाती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग में रहकर मैं अपने ज्ञान को बढ़ाऊँ और अन्ततः प्रभु का सङ्गी बनकर सब प्रकार के विनाश से ऊपर उठ जाऊँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

ज्ञान–प्रसार

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीᳬसᳬसीदस्व महाँ२॥ऽ असि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्नेऽअरुषं मियेद्ध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥१७॥

१. **इमं दिवम्**=इस प्रकाशमय जीवनवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **महिमा**=महत्त्व **बभूव**=होता है, अर्थात् इसे महत्त्व प्राप्त होता है, जो महत्त्व **विप्रः**=इसका विशेष रूप से पूरण करनेवाला होता है और **स-प्रथाः**=विस्तार से युक्त होता है। पिछले मन्त्रों में प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उस सङ्ग में चलनेवाले व्यक्ति का 'इमम्' इस सर्वनाम से संकेत है। जो भी व्यक्ति ऐसा बनता है उसे महत्त्व प्राप्त होता है, वह महत्त्व जो उसका पूरण करनेवाले होता है, साथ ही उसकी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। २. **उत**=और यह व्यक्ति **श्रवसा**=ज्ञान के द्वारा **पृथिवीम्**=इस पृथिवी पर **संसीदस्व**=उत्तमता से बैठता है, अर्थात् इस पार्थिव निवास में इसका कोई भी कार्य ज्ञान के विपरीत नहीं होता ३. **महान् असि**=यह महान् होता है, अर्थात् इसके हृदय में सभी के लिए स्थान होता है। ४. **रोचस्व**=यह अपने आन्तरिक गुणों के कारण, स्वास्थ्य के कारण तथा उदार हृदयता के कारण चमकता है—शोभावाला होता है। ५. **देववीतमः**=(वी=प्राप्ति) दिव्य गुणों की प्राप्ति में यह सबसे आगे बढ़ा हुआ होता है। ६. प्रभु इससे कहते हैं कि—**अग्ने**=अपने को अग्रस्थान पर प्राप्त करानेवाले और औरों को आगे ले-चलनेवाले **मियेद्ध्य**=पवित्र यज्ञिय जीवनवाले **प्रशस्त**=प्रशंसा के योग्य! तू **दर्शतम्**=ज्ञान को, वस्तुतत्त्व के प्रकाशक ज्ञान को **विसृज**=विशेष रूप से फैला, उस ज्ञान को जो **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है और **अरुषम्**=जो आरोचमान है, सर्वतः दीप्यमान है अथवा तू ज्ञान को फैलाने में किसी भी प्रकार के रुष=क्रोध को न आने दे—ज्ञान को माधुर्य से फैला।

भावार्थ—हम अपने जीवन को उत्तम बनाकर लोकहित के दृष्टिकोण से बड़ी मधुरतापूर्वक ज्ञान के फैलानेवाले बनें।

त्रिलोकी का आप्यायन

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिगाकृतिः। स्वरः—पञ्चमः।

या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याᳬ हविर्धाने। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्म पृथिव्याᳬ शुग्या जगत्याᳬसदस्या। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा॥१८॥

पिछले मन्त्र में महिमा की प्राप्ति का संकेत था। इस महिमा की प्राप्ति के लिए शरीर की त्रिलोकी का ठीक होना बड़ा आवश्यक है। उसके ठीक होने के लिए शरीर में घर्म=सोमरक्षा अत्यन्त अपेक्षित है। 'इसकी रक्षा होने पर क्या होता है,' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—१. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **दिव्या**=मस्तिष्करूप द्युलोक में होनेवाली **शुक्**=दीप्ति है (शुक् दीप्तौ) तथा उसके परिणामस्वरूप क्रियाशीलता है (शुक् गतौ), **या**=जो **गायत्र्याम्**=गायत्रियाँ (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा में परिणत होती है तथा **हविर्धाने**=हवि के आधान में परिणत होती है, **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढे **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से राशिरूप में संचित हो **तस्यै ते**=तेरी उस

दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्दों का उच्चारण करते हैं—उसकी प्रशंसा करते हैं। संक्षेप में, जब शरीर में घर्म=वीर्य सुरक्षित होता है तब (क) यह मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है—हमारे ज्ञान को दीप्त करता है। (ख) इस ज्ञानदीप्ति के दो परिणाम होते हैं—पहला, यह ज्ञानी पुरुष अपने खान-पान आदि में बड़ा संयत बनता है और इस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा कर पाता हैं। यह नौवें व दसवें दशक में पहुँचकर भी प्राणशक्ति-सम्पन्न बना रहता है। (ग) दूसरा परिणाम यह होता है कि केवलादी न बनकर 'हविर्धान' करनेवाला होता है—इसका जीवन यज्ञमय होता है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **शुक्**=दीप्ति-क्रिया है, **या**=जो **त्रिष्टुभ्य**=(त्रि-स्तुभ्) 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों नरकद्वारों को रोकती है तथा जो दीप्ति **आग्नीध्रे**=उस अग्रेणी परमेष्ठी प्रभु को हृदय में धारण करने में परिणत होती है **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्ययताम्**=बढ़े **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। संक्षेप में, शरीर में सोम की सुरक्षा होने पर (क) मन पवित्रता की दीप्तिवाला होता है। (ख) उसमें काम-क्रोध-लोभ का प्रवेश नहीं हो पाता, उनके लिए हृदयद्वार बन्द हो जाता है। (ग) उस पवित्र हृदय में अग्नि नामवाले प्रभु का प्रतिष्ठापन होता है और इस प्रकार हमारा हृदय सचमुच प्रभु का मन्दिर बन जाता है, अतः यह 'शुक्' सचमुच सुन्दर-ही-सुन्दर है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूप शरीर में शुक् दीप्ति है **या**=जो **जगत्याम्**=इस क्रियामय लोक में **सदस्या**=उत्तम निवासवाली होती है, अर्थात् इसके कारण हम इस क्रियामय संसार में क्रियामय जीवनवाले होते हुए उत्तम ढंग से स्थित होते हैं **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढ़े और **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो। **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द उच्चरित होते हैं।

भावार्थ—शरीर में सोमपान के द्वारा १. हमारा मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल हो। हम यथोचित मार्ग पर चलते हुए अपने प्राणों की रक्षा करें तथा यज्ञमय जीवनवाले हों। २. हमारे मन निर्मल हों, उसमें काम-क्रोध और लोभ की समाप्ति होकर परमेश्वर का प्रतिष्ठापन हो। ३. हमारे शरीर स्वस्थ व क्रियामय हों जिससे इस संसार में हमारा निवास उत्तम हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्म+क्षत्र—राजा का कर्त्तव्य

क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि।
विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नव्यसे॥१९॥

गतमन्त्र में सोमरक्षा के द्वारा उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख हुआ है। लोगों के जीवन को उत्तम बनाने में राजशक्ति का भी बड़ा हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—१. हे राजन्! **परस्पाय**=उत्कृष्ट रक्षण के लिए **त्वा**=तू अपनी **क्षत्रस्य**=क्षत से बचानेवाली शक्ति की तथा **ब्रह्मणः**=ज्ञान के **तन्वम्**=शरीर की **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् तुझमें जहाँ शक्ति का निवास हो, वहाँ शक्ति के साथ तू ज्ञान का सम्पादन करनेवाला हो। **'ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति'**=ज्ञान शक्ति को समृद्ध कर देता है। २. राजा कितना भी अच्छा हो, शासन की उत्तमता के लिए प्रजा की अनुकूलता भी आवश्यक है, अतः मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते हैं कि **वयं विशः**=हम प्रजाएँ भी **धर्मणा**=धर्म से, या धारण के दृष्टिकोण से **त्वा अनुक्रामाम**=तेरा अनुगमन करें, अर्थात् राजा के बनाये नियमों का पालन करें। जहाँ राजा ज्ञानी व शक्तिशाली होता हुआ प्रजा के धारण-कार्य की उत्तमता

के लिए सभा-समिति द्वारा नियमों का निर्माण करवाता है, वहाँ प्रजा में भी नियमों के पालन की भावना होनी चाहिए। यही प्रजा का राजा के पीछे चलना है। इस प्रकार राजा और प्रजा की अनुकूलता होने पर ही ३. (क) **सुविताय**=सुवित सम्भव है। इसी स्थिति में राष्ट्र से दुरित दूर होंगे और प्रजाएँ उत्तम आचरणवाली (सुवितवाली) होंगी। उस समय राजा लोग यह गर्व कर सकेंगे कि मेरे राष्ट्र में चोर, कञ्जूस, शराबी यज्ञ न करनेवाले, मूर्ख, व अनियमित जीवनवाले लोगों का वास नहीं है। (ख) **नव्यसे** (नू स्तुतौ) उस समय सब प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होगा। अथवा सब प्रजाजन (नव गतौ) क्रियाशील होंगे। वस्तुतः क्रियाशील जीवन ही स्तुत्य जीवन है।

भावार्थ—राजा ज्ञानी व शक्तिशाली हो। प्रजा धर्म से राजा का अनुगमन करे। परिणामतः राष्ट्र में दुरित नहीं होते और प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञमय जीवन

चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः।

अप द्वेषोऽअप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम॥२०॥

१. **ऋतस्य**=(ऋत=यज्ञ—नि० ८।६) यज्ञ का **नाभिः**=केन्द्र, अर्थात् यज्ञरूप केन्द्र **चतुःस्रक्तिः**=‘धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला है। ‘स्रक्ति’ शब्द का अर्थ दिशाएँ भी होता है। यज्ञ यदि केन्द्र है तो उसकी विविध दिशाएँ धर्म आदि हैं, अर्थात् यज्ञ से ये सब सिद्ध होते हैं। २. **स-प्रथाः** =यह यज्ञ विस्तारवाला है, हमारी सब शक्तियों का विकास यज्ञ से ही होता है। **‘अनेन प्रसविष्यध्वम्’** इन शब्दों में यज्ञ ही फूलने-फलने का मार्ग है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमारे लिए **विश्वायुः**=पूरे जीवन को देनेवाला है। (विश्व+आयु) अर्थात् यज्ञ हमें शतायु बनाता है और सौ-के-सौ वर्षों में **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को विस्तृत रखता है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमें **सर्वायुः**=पूर्ण जीवन देता है, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य के साथ मन की निर्मलता तथा मस्तिष्क की दीप्ति प्राप्त कराके हमारे जीवन को पूर्ण बनाता है। **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को अन्त तक विस्तृत किये रखता है। ४. प्रभो! इस यज्ञ के द्वारा हम **अन्यव्रतस्य**=शास्त्रविरुद्ध कर्मोंवाले (‘अकर्मा दस्युः अभि ने अमन्तुः अन्यव्रतो अमानुषः’) दस्युओं से अपनाये जानेवाले **द्वेषः**=द्वेष को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें। **ह्वरः**=कुटिलता को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें, अर्थात् इस यज्ञशीलता से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि हमारे जीवन में वह द्वेष और वह कुटिलता न आएगी जो शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले लोगों में आ जाया करती है।

भावार्थ—यज्ञ के निम्न लाभ हैं—१. इससे धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। २. यह हमारी शक्तियों का विस्तार करते हुए शतायु बनाता है। ३. इससे हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के स्वास्थ्य को प्राप्त करके पूर्ण जीवनवाले होते हैं ४. हमसे द्वेष व कुटिलता दूर रहती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वर्धन व आप्यायन

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्द्धस्व चा च प्यायस्व।

वर्द्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥२१॥

१. हे **घर्म**=तेज! **एतत्**=यह जो **ते**=तेरा **पुरीषम्**=(पृ पालनपूरणयोः) पालनात्मक व

पूरणात्मक कर्म है **तेन**=उससे **वर्द्धस्व**=हमें बढ़ा **च**=और **प्यायस्व**=सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाले हो। शरीर में सोम (घर्म) सुरक्षित होता है तब वह शरीर में होनेवाली प्रत्येक कमी को दूर करता है। इसी प्रकार यह हमारे वर्धन का कारण बनता है और हमारा एक-एक अङ्ग आप्यायित रहता है।

२. हे **घर्म**=सोम! तेरे इस पालन-पूरणात्मक कर्म से **वयम्**=हम **वर्द्धिषीमहि**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त करें, **च**=और **प्यासिषीमहि**=औरों के भी आप्यायन का कारण बनें। जिस व्यक्ति के जीवन में कमी होती है वह कभी भी औरों की वृद्धि नहीं चाहता। 'वह औरों की वृद्धि का कारण बनेगा' इस बात का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। 'स्वस्थ शरीर, मन व मस्तिष्क' वाला व्यक्ति औरों के भी हित की कामनावाला होता है और उनकी उन्नति में यथाशक्ति सहायक होता है। इस उत्तम मनोवृत्ति को अपने में लाने के लिए हम 'घर्म' की रक्षा करें। सुरक्षित घर्मवाला ही उदारवृत्ति को अपना पाता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। इससे अपना वर्धन व आप्यायन करके हम औरों का वर्धन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**परोष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

लोक-संग्रह

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः। सꣳसूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः॥२२॥

गतमन्त्र में घर्म-रक्षा द्वारा अपना वर्धन करके औरों के हित में प्रवृत्त होने का उल्लेख है। यह औरों के हित में प्रवृत होनेवाला व्यक्ति १. **अचिक्रदत्**=शब्द करता है, औरों को ज्ञान का उपदेश देता है। **महान्**=इस ज्ञान उपदेश के द्वारा २. **वृषाः**=यह औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ३. **हरिः**=उनके दुःखों का हरण करता है। ४. अपने इस महान् हितकार्य में यह विशाल हृदयवाला होता है। इसके हितकार्य में 'जाति, देश व धर्म' का बन्धन नहीं होता। यह सभी का हित करता है, सम्पूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब समझता है। ५. यह **मित्रः न**=सूर्य के समान **दर्शतः**=दर्शनीय होता है। बड़ा तेजस्वी होता है ६. **सूर्येण सं दिद्युतत्**=ज्ञान के सूर्य से निरन्तर चमकता है। ७. **उदधिः**=यह ज्ञान का समुद्र बन जाता है अथवा समुद्र के समान गम्भीर होता है तथा ८. दिव्य गुणों का **निधिः**=कोश बन जाता है।

भावार्थ—घर्म की रक्षा से स्वयं बढ़कर औरों को बढ़ानेवाला 'दीर्घतमा' ज्ञान का उपदेश करता है और इस प्रकार सबके दुःखों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

जल व ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

गतमन्त्र की भावना के अनुसार जब हम द्वेष व कुटिलता से दूर होकर (२०) अपना वर्धन और औरों की वृद्धि करते हुए (२१) लोकसंग्रहमय जीवन विताएँगे (२२) तब **नः**=हमारे लिए **आपः**=जल **ओषधयः**=और ओषधियाँ अवश्य **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (**मिद्**=स्नेह) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) होंगी। मनुष्य का मन प्रसन्न होता है और वह द्वेष-क्रोधादि से रहित मनवाला होता हुआ भोजन करता है तो जल व ओषधियाँ उसके अन्दर शक्ति को जन्म देनेवाली होती हैं। (२) इसीलिए मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते है कि **यः**=जो **अऽस्मान् द्वेष्टि** =हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम

सब **द्विष्मः**=अप्रिय–अवाञ्छनीय समझते हैं **तस्मै**=उसके लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली तथा रोगों से न बचानेवाली हों। जब मन में द्वेष होता है तब ओषधियों में भी कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार ओषधियाँ हितकर नहीं रहतीं। जो व्यक्ति सदा औरों के प्रति द्वेष करता है और अशुभ भावनाओं से भरा रहता है, जो अपने स्वार्थ के लिए सारे समाज का अहित करता है, अन्त में वह समाज के लिए भी अवाञ्छनीय हो जाता है, ऐसे व्यक्ति के लिए जल व ओषधियाँ अहितकर ही होती हैं।

भावार्थ—हम द्वेष की भावना से शून्य होकर सदा सबके हित की भावना से ओत-प्रोत मनवाले बनकर भोजन करें। निर्द्वेष मनसे होनेवाला खान-पान हितकर परिणामवाला होता है, तो द्वेषी मन भोजन को भी अहितकर कर देता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत् + उत्तर + उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥२४॥

गतमन्त्र की निर्द्वेषता के साधन के लिए प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु की ओर चलना ही मुख्य उपाय है, उसका उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—

१. **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट **तमसः**=अन्धकारमयी प्रकृति से **परि अगन्म**=ज़रा परे चलें। 'प्रकृति उत्कृष्ट है' इसमें सन्देह नहीं। इस सृष्टि में प्रभु ने प्रत्येक पदार्थ का निर्माण जीव के हित के लिए बड़ी सुन्दरता से किया है। प्रत्येक पदार्थ उत्तम है, सुन्दर और आकर्षक है। हम अपनी अल्पज्ञता के कारण उस पदार्थ की ओर आकृष्ट होकर उसका अतियोग कर बैठते हैं और हमारे लिए वह पदार्थ असुन्दर परिणामोंवाला हो जाता है। चिन्तन करने पर हम इनमें न फँसने का निश्चय करते हैं कि इस प्रकृति से हम अब ऊपर उठते हैं। इस भौतिक शरीर के लिए इन प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करते हुए हम इसमें उलझते नहीं। इससे ऊपर उठकर २. **उत्तरम्**=चेतनता के कारण इस जड़ तमोमय प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वर् to radiate) उस देदीप्यमान आत्मज्योति को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम इस संसार में चलते हैं। हम प्रतिदिन आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह प्रकृति हमारे लिए है, हम प्रकृति के लिए नहीं हैं। इस प्रकृति में छेदन-भेदन होने से यह 'तमस्' है, यह अन्धकारमयी है। आत्मा में यह छेदन-भेदन नहीं, वह अच्छेद्य-अभेद्य ज्योति है।

३. इस भावना के जागने पर हम **देवत्रा देवम्**=देवों में देव, अर्थात् इन सब ज्योतिओं को भी ज्योतिर्मय करनेवाले **सूर्यम्**=(सुवति कर्मणि) सबको अपने-अपने कर्मों में प्रेरित करनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=उस सर्वाधिक निरतिशय ज्योति परमात्मा को **अगन्म**=प्राप्त हों। जीव चेतन है, इसी कारण जड़ प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट है। परमात्मा 'पूर्ण चैतन्य' है, वे जीव से भी ऊपर हैं। जीव पुरुष है तो प्रभु पुरुषोत्तम हैं। एवं, प्रकृति 'उत्' है, जीव 'उत्तर' है और प्रभु 'उत्तम' हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति के सौन्दर्य को समझते हुए, उसका यथायोग-उचित उपयोग करते हुए, प्रकृति से ऊपर उठें। उससे ऊपर उठकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करें। आत्म-चिन्तन करते हुए हम उस सर्वोत्तम ज्योति देवों के भी देव परमात्मा का दर्शन करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु के तेज का धारण

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥२५॥

गतमन्त्र का द्रष्टा प्रभु का दर्शन करता है और विनय करता है कि—१. **एधः असि**=(एध वृद्धै) आप बढ़े हुए हैं। **'वर्धमानं स्वे दमे'**=आप तो अपने स्वरूप में सदा से वृद्ध हैं। प्रत्येक गुण की चरम सीमा ही तो आप हैं। आप निरतिशय ज्ञान हैं, सर्वाधिक शक्ति हैं और परमैश्वर्यवाले हैं। २. **एधिषीमहि**=आपकी कृपा से हम भी बढ़ें। हम शारीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त करें तो मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को बढ़ानेवाले हों। आप ३. **समित्** (सम्+इन्ध)=उत्तम दीप्तिवाले **असि**=हैं। आप तो **तेजः असि** तेज के पुञ्ज हैं—तेज-ही-तेज हैं, इस **तेजः**=तेज को **मयि**=मुझमें **धेहि**=धारण कीजिए।

प्रभु सदा वर्धमान हैं—ज्ञान की दीप्ति से दीप्त हैं, तेज के पुञ्ज हैं। प्रभुकृपा से हम भी सदा वृद्धि को प्राप्त करें, हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले और हम तेज के पुञ्ज बनें।

भावार्थ—प्रभुभक्त वर्धमान, ज्ञानी व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम्॥२६॥

दीर्घतमा कहता है कि **यावती द्यावापृथिवी**=जबतक ये द्युलोक और पृथिवीलोक हैं **च**=और **यावत्**=जबतक **सप्त सिन्धवः**=सातों समुद्र **वितस्थिरे**=विशेषरूप से अपनी मर्यादा में स्थित हैं **तावन्तम्**=उतने समय तक **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते ग्रहम्**=आपके ग्रहण को **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के हेतु **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **अक्षितम्**=आपका ग्रहण मेरी अक्षीणता का कारण बनता है। आपके ग्रहण के लिए मुझे कहीं दूर थोड़े ही जाना है **मयि**=अपने ही अन्दर **गृह्णामि**=मैं आपको ग्रहण करने के लिए यत्नशील होता हूँ, जिससे **अक्षितम्**=मेरा क्षत—विनाश न हो।

१. जब तक द्युलोक और पृथिवीलोक विद्यमान हैं—जब तक समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित है, तब तक मेरी उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ग्रहण करने की साधना चलती रहे।

२. इस प्रभु-ग्रहण की साधना ने ही मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त करानी है। इसी साधना ने मुझे क्षय से बचाना है। प्रभु से दूर हुआ और मैं निर्बल होकर पिसा।

३. प्रभु का ग्रहण मुझे कहीं बाह्य संसार में नहीं करना, उसका ग्रहण तो मेरे ही अन्दर हो जाएगा। बाह्य वस्तुओं में प्रभु की महिमा का दर्शन अवश्य होता है, परन्तु ऐसा करने पर धीमे-धीमे उन वस्तुओं की ही पूजा आरम्भ हो जाती है। सूर्य में प्रभु महिमा का दर्शन करनेवला सूर्य का ही उपासक बन जाता है। मूर्त्तिपूजा का मूल इसी वृत्ति में है। इसलिए अन्दर ही प्रभु को देखना ठीक है।

भावार्थ—मैं सतत साधना के द्वारा प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करूँ, जिससे मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो और मैं क्षीणता से बच सकूँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः।
घर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह॥२७॥

गतमन्त्र में वर्णित प्रभु का ग्रहण मैं इसलिए करता हूँ कि १. **मयि**=मुझमें **त्यत्**=उस प्रसिद्ध **इन्द्रियम्**=इन्द्र की शक्ति उत्पन्न होती है। उपासना से इन्द्र की शक्ति का विकास होता है। वह विकास **बृहत्**=मेरी वृद्धि का कारण बनता है (बृहि वृद्धौ) २. **मयि दक्षः**= इस उपासना से मुझमें कार्यकुशलता बढ़ती है। उपासक कभी अनाड़ीपन से कार्य नहीं

करता। ३. **मयि क्रतुः**=मुझमें सदा कर्म संकल्प बना रहता है। ब्रह्मनिष्ठ का जीवन क्रियाशील होता है। ४. इस उपासना के परिणामस्वरूप वासनाओं का दूरीकरण होकर **घर्मः**=सोमशक्ति **त्रिशुक्**=मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों में दीप्ति व क्रिया को उत्पन्न करती है। वह सोमशक्ति **विराजति**=दीप्त होती है। उपासक का मस्तिष्क 'उज्ज्वल', मन 'निर्मल' तथा शरीर पूर्ण 'स्वस्थ' होता है। ५. यह उपासक **विराजा**=विशेष रूप से देददीप्यमान **ज्योतिषा**=ज्योति के **सह**=साथ होता है। ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है, उसका उपासक भी विशेष दीप्तिवाला होता है। ६. यह उपासक जहाँ **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ होता है वहाँ **तेजसा सह**=तेज के भी साथ होता है। उसके ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही फूलते-फलते हैं, शरीर शक्ति से दीप्ति होता है। मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होता है। इसप्रकार यह तम व अन्धकार को विदीर्ण करके 'दीर्घतमा' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु-उपासक की आत्मशक्ति 'दक्षता, कर्मसंकल्प, ज्ञान व तेज' से युक्त होती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराड्धृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

समर्पण, गोदुग्ध-सेवन

पयसो रेतऽआभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराꣳ समाम्। त्विषः संवृक्क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्णस्य ते सुषुम्णाग्निहुतः। इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमतऽ उपहूतऽउपहूतस्य भक्षयामि॥ २८॥

यह मन्त्र इस अध्याय का अन्तिम मन्त्र है। इसमें मनुष्य अपने को समर्पण के लिए सन्नद्ध करता है। शुद्ध सात्त्विक भोजन से जीवन को प्रारम्भ करता है, जिससे सात्त्विक मनवाला बनकर '**अग्निहुत**'='प्रभु-अर्पित' हो सके। यह कहता है कि १. **पयसः**=सर्वाङ्ग आप्यायन करनेवाले दूध से **रेतः**=शक्ति का **आभृतम्**=हममें सर्वथा पोषण हुआ है। गौ का ताज़ा दूध वस्तुतः अमृत है, उसी का सेवन करके देव अमर बनते हैं। हम **तस्य**=उस दूध के **दोहम्**=दोहन को **उत्तरां समाम्**=एक के बाद दूसरे आनेवाले वर्षों में **अशीमहि**=प्राप्त करें और उसी का भोजनरूप में सेवन करें। २. इस ताज़े दूध के सेवन से मैं **त्विषः**=कान्ति व दीप्ति का **संवृक्**=अपनी ओर आवर्जन=झुकाव करनेवाला बनूँ। ३. **क्रत्वे**=उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए मैं इस गोदूध का सेवन करूँ। गोदूध के सेवन से सात्त्विक मनोवृति के कारण उत्तम कर्मसंकल्प ही हममें उत्पन्न होंगे। ४. **सुषुम्ण**=उत्तम सुखों के देनेवाले प्रभो! (सुम्न=सुखम्) हे **उपहूत**=सदा पुकारे जानेवाले प्रभो! मैं **अग्निहुतः**=(अग्नौ हुतं यस्य) अग्निहोत्र करनेवाला तथा अग्निरूप आपमें अपना अर्पण करनेवाला **ते**=आपके **दक्षस्य**=शक्ति के बढ़ानेवाले **सुषुम्णस्य**=नीरोगता के कारण उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **ते**=तेरे इस **इन्द्रपीतस्य**=जितेन्द्रिय बनने की कामनावाले से पीये जानेवाले **प्रजापतिभक्षितस्य**=प्रजा के रक्षण की वृत्तिवाले से ग्रहण किये गये **मधुमतः**=अत्यन्त माधुर्यमय **उपहूतस्य**=सदा प्रार्थित दुग्ध का **भक्षयामि**=सेवन करूँ।

भावार्थ—उल्लिखित अर्थ से स्पष्ट है कि गोदूध शक्तिवर्धक है, नीरोगता देनेवाला है, जितेन्द्रिय बनने में सहायक है, रक्षण की वृत्ति को बढ़ानेवाला है, जीवन की प्रत्येक क्रिया में माधुर्य को उपजाता है। इस दूध का सेवन करनेवाले हम उत्तम मनोवृतिवाले बनकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। हम 'अग्निहुत' हों।

इत्यष्टात्रिंशोऽध्यायः॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—प्राणादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

धन्यवाद व विदाई

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहाग्नये स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा। दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा॥१॥

१. गतमन्त्र में अपने को प्रभु के प्रति अर्पण करके व्यक्ति इस संसार से चलने की पूरी तैयारी कर चुका है। इस विदाई के समय वह जिस शरीर व लोक में रहा, जिन-जिनके सम्पर्क में आया, उनसे वह विदा लेता है। उनका धन्यवाद करता है **सु+आह**=उनके लिए उत्तम शब्द बोलता है तथा 'स्व+आह' अपना परिचय देता हुआ विदा लेता है। जिस-जिस वस्तु के साथ उसने **'स्व' पना**=ममता जोड़ा था, उन्हें आज यहाँ छोड़ता है (हा=छोड़ना)।

प्राण=२. सबसे प्रथम **प्राणेभ्यः**=प्राणों के लिए **स्वाहा**=धन्यवाद करता है। शरीर में सोलह कलाओं में सबसे प्रथम इन्हीं का निर्माण हुआ था **'स प्राणमसृजत्**—तै०। इन प्राणों से वह कहता है कि भाई! जब सब सो जाते थे तब भी तुम जागकर पहरा दिया करते थे, तुमने कभी थकने का नाम ही नहीं लिया। **'साधिपतिकेभ्यः'**=तुम्हारा जो अधिपति मन है उस मनसहित तुम्हारे लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। (**मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः**—श० १४।३।२।३)। इस मन के बिना तो कोई कदम कभी रक्खा ही नहीं गया। हे प्राणो! अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ। ३. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस पृथिवी के मुख्य देवता के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। हे पृथिवि! तूने मुझे खाने के लिए अन्न दिया, पहनने के लिए कपड़ा दिया। मातृतुल्य पालन करनेवाली तुझे मैं धन्यवाद न दूँ तो और किसे दूँ। तेरी इस मुख्य देवता अग्नि ने मेरे जीवन में कितना बड़ा भाग लिया! उस कृपा को मैं कभी भूल सकता हूँ? मुझे अब छुट्टी दो, आज मैं आपसे विदाई लेता हूँ। ४. **अन्तरिक्षाय स्वाहा, वायवे स्वाहा**=भाई अन्तरिक्ष ('भ्रातान्तरिक्षम्' अथर्व०)! तेरा भी मैं धन्यवाद करता हूँ और तेरे इस मुख्य देवता वायु के लिए भी मैं शुभ शब्द कहता हूँ। तेरे अन्दर ही मेरी सब क्रियाएँ होती रहीं। 'आना-जाना, भागना-दौड़ना' सब तुझमें ही होता रहा। तेरी वायु यदि एक मिनिट रुकती थी तो मेरा दम ही घुट जाता था,अतः तुम दोनों का भी धन्यवाद करता हुआ मैं आज तुमसे विदाई लेता हूँ। ५. **दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहा**=इस पितृस्थानीय द्युलोक के लिए ('द्यौष्पिता'—अथर्व०) तथा उसके मुख्य देवता सूर्य के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ 'इस द्युलोक ने वृष्टि की व्यवस्था करके किस प्रकार पृथिवी में अन्न उत्पादन की व्यवस्था की' क्या मैं इसे कभी भूल सकता हूँ? सूर्य तो सब प्रजाओं का प्राण ही है, इसने सब प्राणदायी तत्त्वों को अपनी किरणों से उन अन्नों व ओषधियों में स्थापित किया। इस सूर्य के सर्म्पक में ही मैं उत्साहमय जीवन को बिता पाया। आज हे द्युलोक व सूर्य! मैं आपसे विदाई लेता हूँ। फिर भी किसी शरीर में आऊँगा तो मिलना होगा ही, परन्तु आज तो मुझे अब छुट्टी दो।

भावार्थ—हम अपने अन्तिम समय (on death bed) मनसहित प्राणों, अग्निसहित पृथिवी, वायुसहित अन्तरिक्ष तथा सूर्यसहित द्युलोक का धन्यवाद करते हुए इनसे विदा लें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—दिगादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

देवताओं से विदाई

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा। नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा॥२॥

१. **दिग्भ्यः स्वाहा**=इन दिशाओं के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। इस 'प्राची' ने मुझे (प्र+अञ्च) आगे बढ़ने का पाठ पढ़ाया था तो 'दक्षिण' ने दाक्षिण्य का उपदेश दिया, 'प्रतीची' ने प्रत्याहार का पाठ पढ़ाया और 'उदीची' से मैंने ऊपर उठना सीखा। इन सब दिशाओं का धन्यवाद करता हुआ आज मैं इनसे विदा लेता हूँ। २. **चन्द्राय स्वाहा**=चन्द्रमा के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इस चन्द्रमा ने तो मेरे जीवन को आह्लाद से ओत-प्रोत-सा किया हुआ था। इस चन्द्रमा से भी आज मैं विदाई लेता हूँ। ३. **नक्षत्रेभ्यः स्वाहा**=चन्द्रमा की प्रजाभूत इन नक्षत्रों के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। चन्द्रमा 'नक्षत्रेश' हैं, अतः चन्द्र से विदा लेकर अब इन नक्षत्रों से भी विदा लेनी है। इनसे भी आज मैं विदा होता हूँ। (४) **अद्भ्यः स्वाहा**=जलों के लिए भी धन्यवाद है। ये जन्म से लेकर लय तक मेरे लिए महत्त्वपूर्ण बने रहे। 'आप' अर्थात् मेरे जीवन में सदा व्याप्त-से रहे। 'वारि नामवाले होकर इन्होंने मेरे रोगों का निवारण किया। इनसे भी मैं विदा लेता हूँ। ५. **वरुणाय स्वाहा**=जलों के अधिष्ठातृदेव 'अप्पति'=वरुण के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इसी वरुण के प्रशासन में विविध दिशाओं में नदियों का प्रवाह इस संसार में चलता था और मुझे जल की विविध रूपों में प्राप्ति होती थी। यह वरुण ही मुझे विविध कर्मों के बन्धन में बाँधता था। इससे भी आज मैं विदा चाहता हूँ। ६. **नाभ्यै स्वाहा**=इस शरीर की केन्द्रभूत नाभि के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। 'नह् बन्धने' शरीर का सारा नाड़ी-संस्थान इस नाभिरूप केन्द्र में ही बद्ध था, इस नाभि का भी मैं कृतज्ञ हूँ और इससे भी आज विदा चाहता हूँ। ७. **पूताय स्वाहा**=शरीर में शोधनकार्य में लगी हुई इन 'पायु व उपस्थ' इन्द्रियों के लिए, शरीर के अन्य रोमकूपों के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ और इनसे विदाई लेता हूँ। बड़े-बड़े अफ्सरों से जहाँ विदाई ली जाती है वहाँ चपरासी से भी तो विदा लेनी चाहिए। इसी प्रकार मैं जहाँ चक्षु आदि से व पृथिवी आदि देवों से विदा लेता हूँ, उसी प्रकार इन मलशोधक इन्द्रियों से भी विदा लेता हूँ। इन्होंने शोधनकार्य को मेरे स्वास्थ्य के लिए कितनी सुन्दरता से निभाया!

भावार्थ—आज जीवन के इस अन्तिम दिन मैं सब देवों से व शरीर की नाभि व शोधक अंगों से विदाई लेता हूँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वागादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सप्तर्षियों—इन्द्रियों से विदा

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा। चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा॥३॥

१. **वाचे स्वाहा**=मैं इस वाणी के लिए शुभ शब्द कहता हूँ। इसी के द्वारा जीवनभर मेरा सारा कार्य चला। यही मेरे विचारों का वाहन बनी। इसी के द्वारा मैंने अपनी इच्छाओं

को औरों पर व्यक्त किया। इस वाणी से आज मैं विदा लेता हूँ। २. **प्राणाय स्वाहा**=वाणी के ऊपर स्थित इस घ्राणेन्द्रिय के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। इसके द्वारा मैंने जीवन में आत्मीयता का अनुभव किया। कौन मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, इनके पहचानने में इसने मेरा साथ दिया। **घ्राणाय स्वाहा**=इस घ्राणेन्द्रिय के दूसरे छिद्र के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ, परन्तु आज इन दोनों से ही विदा लेने की तैयारी में हूँ। (३) **चक्षुषे स्वाहा**, प्राण से ऊपर स्थित इस चक्षु के लिए भी धन्यवाद है। इसी ने मुझे सारे जीवन में वस्तुओं का दर्शन कराया। इसके बिना मेरा संसार शून्य-सा ही रहता। ये ही मुझे 'अगला मार्ग साफ़ है या नहीं' इसका ज्ञान देती थीं। 'स्थल है या जल है' यह इन्हीं से मैं देख पाता था। आज मुझे इनसे विदाई लेनी है। **चक्षुषे स्वाहा**=इस बाईं आँख के लिए भी धन्यवाद। (४) **श्रोत्राय स्वाहा**, **श्रोत्राय स्वाहा**=मैं इन दोनों श्रोत्रों के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इनसे सुनकर ही मैंने सारा ज्ञान प्राप्त किया। इन्हीं से मेरे विचार औरों ने सुने, उनके विचार मैंने सुने। परस्पर विचार-विनिमय में इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इनके अभाव में मेरा यह संसार कितना विचित्र-सा होता! इनका भी धन्यवाद करता हुआ आज इनसे भी विदा लेता हूँ। सचमुच अब तो हे श्रोत्रो! तुमसे विदा लेकर मुझे ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर ही चले जाना है। आवश्यक हुआ तो फिर मिलेंगे ही, परन्तु आज तो विदाई दो ना?

भावार्थ—आज अन्तिम दिन मैं इन सप्तर्षियों से, जिन्होंने मुझे सदा इस संसार का ज्ञान दिया, विदा लेने लगा हूँ। इनका धन्यवाद तो मैं करता ही हूँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—श्रीः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

यश और श्री

मन॑सः॒ काम॒माकू॑तिं वा॒चः स॒त्यम॑शीय।

प॒शू॒नाᳬ रू॒पमन्न॑स्य॒ रसो॒ यश॒ः श्रीः श्र॑यतां॒ मयि॒ स्वाहा॑॥४॥

जाती हुई आत्मा यह चाहती है कि वह मुक्त हो जाए, अतिदीर्घ काल तक अगला जन्म न लेना पड़े, वह परमेश्वर के साथ विचरनेवाली बने, परन्तु यदि जन्म लेना ही पड़े तो इसकी प्रार्थना निम्न शब्दों में हीती है—

१. मैं **मनसा**=मन से **कामम्**=पर्याप्त **आकूतिम्**=सङ्कल्प को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरा मन उत्तमोत्तम कार्यों के सङ्कल्पवाला हो। यह तो ठीक है कि मैं काममय न हो जाऊँ, परन्तु जड़ वस्तुओं की भाँति अकाम भी न हो जाऊँ। मेरा मन सदा शुभ सङ्कल्पों से भरा रहे।

२. मैं **वाचः**=वाणी की **सत्यम्**=यथार्थता को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरी वाणी यथार्थ हो। इतना ही नहीं कि मैं अर्थ के अनुसार बोलनेवाला होऊँ, अपितु मेरी वाणी के अनुसार अर्थ हो जाए ३. **पशूनाम् रूपम्**=मैं पशुओं के रूप को प्राप्त करूँ। आचार्य एक जगह 'रूप' शब्द पर लिखते हैं कि 'विषयासक्ति, कुपथ्य और अधर्माचरण को छोड़कर अपने स्वरूप को अच्छा रखना। पशुओं का जीवन सादा है। उनके खानपान में जटिलता नहीं। परिणामतः उनका जीवन स्वस्थ बना रहता है। हम भी उनकी भाँति विषयासक्ति आदि से बचकर स्वस्थ बनने का प्रयत्न करें। ''रूपम् रोचतेः' निरुक्त (२.३) के इन शब्दों के अनुसार मैं स्वास्थ्य की दीप्तिवाला बनूँ। 'सादा जीवन' यह मेरा उद्देश्य-वाक्य बने और मैं स्वास्थ्य व दीर्घ-जीवन का लाभ करूँ।

५. **अन्नस्य रसः**=इस स्वास्थ्य के लिए ही मैं अन्न के रस का सेवन करूँ। व्यर्थ के

अभक्ष्य मांस आदि के झगड़े में न पड़ जाऊँ। साथ ही अन्न को खूब चबाकर खाऊँ। उसको रसरूप में अन्दर ले-जाऊँ। इस सात्त्विक भोजन के परिणामस्वरूप मेरी वृत्ति भी सात्त्विक बनी रहे। ६. **मयि**=मुझमें **यशः**=यश और **श्रीः**=शोभा **श्रयताम्**=आश्रय करें। मेरा प्रत्येक कार्य यशस्वी और श्रीसम्पन्न हो। मैं किसी भी कार्य को अनाड़ीपन से न करूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन उत्तम संकल्पोंवाला, सत्यमय, स्वस्थ, सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला तथा यश और श्री से युक्त हो।

सूचना—'श्री' का अर्थ धन भी होता है। मैं अपने जीवन में उचित व आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। धन का अभाव मेरी परेशानी का कारण न बने।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

उत्तम कर्म—श्रेष्ठ जन्म

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः सꣳसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेजऽ-उद्यतऽआश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाणऽआग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः॥५॥

प्रस्तुत मन्त्र में कौन व्यक्ति किस प्रकार का जन्म लेता है यह वर्णन है। सामान्यतः १२ भागों में बाँटकर यह बात यहाँ प्रस्तुत की गई है। १. **सम्भ्रियमाणः**=जिस व्यक्ति में 'माता-पिता अचार्य-अतिथि' आदि देवों ने अच्छाई को भरने को प्रयत्न किया—जो अच्छाइयों से भरा हुआ रहा वह **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक—उत्तम सन्तानोंवाला, अर्थात् एक सद्गृहस्थ बनता है। २. **सम्भृतः**=जिसके अन्दर सब उत्तमताओं को भर दिया गया वह **सम्राट्**=सम्राट् बनता है। राष्ट्र में सबसे अधिक दीप्त होनेवाला व्यक्ति समझा जाता है। ३. **संसन्नः**=जो सभा आदि स्थलों में सम्यक्तया आसीन होता है, अर्थात् जिसका व्यवहार उस-उस स्थान में उत्तम होता है वह **वैश्वदेवः**=सब दिव्य गुणोंवाला होता है। ४. **प्रवृक्तः**=जो वासनाओं का अधिक-से-अधिक वर्जन करनेवाला बनता है वह **घर्मः**=(**घर्म**=सोम) सोम का **पुञ्ज**=वीर्यवान् बनता है। ५. **उद्यतः**=आलस्य से विहीन, सदा कर्मों में उद्यत व्यक्ति **तेजः**=तेजस्वी बनता है। ६. **पयसि आनीयमाने**=घर में सदा दूध के लाये जाने पर **आश्विनः**=पति-पत्नी दोनों ही प्राणापान सम्पन्न होते हैं, अर्थात् इनकी प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। ७. **विष्यन्दमाने**=(वि, स्पन्द) विशेषरूप से सदा क्रियाशील बने रहने पर **पौष्णः**=यह पूषा देवतावाला होता है, अर्थात् सदा पुष्ट शरीरवाला होता है। ८. **क्लथन्**=सब अशुभों की—अशुभ विचारों व भावनाओं की हिंसा करता हुआ **मारुतः**=मितरावी—बड़ा परिमित बोलनेवाला बनता है। अथवा **'मरुतः प्राणः'**=प्राणशक्ति का पुञ्ज बनता है। ९. **शरसि सन्ताय्यमाने**=सतत काम-क्रोध, राग-द्वेष की हिंसा चलने पर (**तायृ=सन्तान=**फैलाना), अर्थात् राग-द्वेष से ऊपर उठने के सतत प्रयत्न होने पर **मैत्रः**=सबके साथ मित्रता की भावनावाला होता है। सबके साथ स्नेह से चलनेवाला होता है। जन्म से ही स्नेह की भावनावाला होता है। १०. **ह्रियमाणः**=जो प्रतिक्षण लोगों से अपने-अपने कार्यों को संवारने के लिए ले-जाया जाता है, अर्थात् कभी कहीं और कभी कहीं भिन्न-भिन्न लोगों के कार्य में सहायता के लिए जाता है, वह **वायव्यः**=वायु तत्त्व की प्रधानतावाला होने से निरन्तर गतिशील और इस गतिशीलता से पवित्रता को पैदा करनेवाला होता है। ११. **हूयमानः**=जो दान आदि के द्वारा निरन्तर अपनी आहुति देता रहता है वह **आग्नेयः**=अग्नितत्त्व प्रधान

होता है। अग्नि के समान तेजस्वी व प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। १२. **हुतः**=जो प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, जो लोगों के हित में अपनी पूर्ण आहुति दे देता है, वह **वाक्**=वेदवाणी का पुञ्ज, सरस्वती—ज्ञान की देवता का ही पुतला-सा बनता है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्म करनेवाले बनें, जिससे हमारा अगला जन्म उत्तम हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सवितादयः। छन्दः—विराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

दैवीसंपत्-युक्त ज्ञान के दृष्टिकोण से उत्तम जन्म

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वेदेवा द्वादशे॥६॥

पिछले मन्त्र में उत्तम कर्मों व गुणों के दृष्टिकोण से जन्म का विचार हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञान के दृष्टिकोण से जन्म का विचार चलता है। जैस ज्योतिश्चक्र को बारह भागों में बाँटकर सूर्य की बारह संक्रान्तियाँ होती हैं उसी प्रकार ज्ञान की भी बारह श्रेणियों की कल्पना करके जीव के भी बारह संक्रमणों—भावी पुनर्जन्मों का यहाँ उल्लेख हुआ है। ये सबके सब जन्म दैवी सम्पत्तिवाले हैं।

यहाँ मन्त्र में 'अहन्' शब्द आकाश (Sky) के लिए प्रयुक्त हुआ है। १. **प्रथमे अहन्**=जो व्यक्ति ज्ञान के आकाश के प्रथम विभाग में है, वह **सविता**=उत्पादक होता है। यह जन्म से ही निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला होता है। तोड़-फोड़ के कार्यों में इसका झुकाव नहीं होता। २. **द्वितीये**=ज्ञान के आकाश के द्वितीय भाग में विचरनेवाला **अग्निः**='अग्रेणी' निरन्तर उन्नतिशील मनोवृत्तिवाला होता है। ३. **तृतीये**=ज्ञान की तृतीय श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वायुः**=अपने अगले जन्म में (वा गतिगन्धनयोः) अपनी गति के द्वारा बुराई का गन्धन=हिंसन करनेवाला होता है ४. **चतुर्थे**=ज्ञान की चतुर्थ कक्षा में वर्त्तमान व्यक्ति **आदित्यः**=(आदानात्) सदा अच्छाइयों का आदान करनेवाला होता है। यह खारे समुद्र में से भी शुद्ध जल को ही लेनेवाले सूर्य की भाँति अच्छाई को ही लेता है, बुराई को नहीं। कीचड़ में से भी जल को ही लेनेवाले सूर्य के समान यह कीचड़ व बुराई को वहीं छोड़ देता है। ५. **पञ्चमे**=ज्ञान की पञ्चम कक्षा में पहुँचने पर यह **चन्द्रमाः**=सदा चन्द्र के समान आह्लादमय मनोवृत्तिवाला होता है ६. **षष्ठे**=ज्ञान की छठी श्रेणी में पहुँच चुके व्यक्ति का अगले जन्म में मुख्य गुण **ऋतुः**=ऋतुओं के अनुसार नियमित गति होता है'। 'ऋ धातु' का अर्थ है गति। इस धातु से बना हुआ 'ऋतु' शब्द नियमित गति का संकेत करता है। ज्ञानी पुरुष सूर्य-चद्रमा की भाँति अथवा ऋतुओं के चक्र की भाँति अपने नैत्यिक कार्यक्रम में व्यवस्थित होता है। ७. **सप्तमे**=ज्ञान की सप्तमी कक्षा में पहुँचे हुए व्यक्ति **मरुतः**=(मरुतः प्राणाः, मितराविणो वा) प्राणशक्ति के पुञ्ज व मितरावी होने से बड़ा मपा-तुला ही बोलते हैं। ८. **अष्टमे**=अष्टम विभाग में पहुँचे हुए व्यक्ति **बृहस्पतिः =ब्रह्मणस्पतिः**=बड़े ऊँचे ज्ञानी बनते हैं—ब्रह्मदर्शन करनेवाले बनते हैं। ९. **नवमे**=अब ज्ञान की नवम श्रेणी में पहुँचा हुआ यह व्यक्ति **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला होता है। प्रभु का उपासक सर्वत्र समरूप से अवस्थित प्रभु को देखता है, अतः सभी के प्रति स्नेहवाला होता है। १०. **दशमे**=ज्ञान की दशम श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वरुणः**=वरुण होता है—द्वेष का निवारण करनेवाला अथवा (**वरुण**=पाशी) अपने-आपको व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाला होता है। ११. **एकादशे**=ज्ञान की ग्यारहवीं श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति अगले जन्म में **इन्द्रः**='इन्द्रियों

का अधिष्ठाता–पूर्ण जितेन्द्रिय' होता है। १२. **द्वादशे**=ज्ञानकी बारहवीं व अन्तिम श्रेणी में पहुँचा हुआ व्यक्ति **विश्वदेवाः**=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बन जाता है और इस प्रकार 'पूर्ण दैवी सम्पत्ति' को प्राप्त करता है। यह दैवी सम्पद् इसके मोक्ष का कारण बनती है। इस प्रकार वह चरम–ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति जन्म–बन्ध–विनिर्मुक्त होकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ–''उत्पादक मनोवृत्ति, उन्नति की भावना, क्रियाशीलता, गुणों का आदान, मनःप्रसाद, नियमित कार्यक्रम, प्राणशक्ति व मितभाषण, ज्ञान, स्नेह, निर्द्वेषता व व्रतबन्धन, जितेन्द्रियत्व और दिव्यता=दान–दीपन–द्योतन'–यह है दैवी सम्पत्ति, जिसको लेकर ज्ञानमार्ग पर आगे बढ़नेवाले व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और अन्त में मोक्ष का लाभ करते हैं।

ऋषिः–दीर्घतमाः। देवता–मरुतः। छन्दः–भुरिग्गायत्री। स्वरः–षड्जः।

'आसुरी संपद्' वाला जन्म

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥७॥

दैवी सम्पत्तिवालों का जन्म गतमन्त्र का विषय था। जो उस दैवी सम्पत्ति को प्राप्त नहीं कर पाये और उसके स्थान में आसुरी संपत्ति को लेकर जिनका जन्म होता है वे १. **उग्रः च**=बड़े उग्र स्वभाववाले होते हैं। ये निर्दयी व कठोर होते हैं। बड़े क्रोधी स्वभाव के होते है। २. **भीमः च**=समाज के लिए ये बड़े भय का कारण होते हैं। इनकी दुर्जनता सज्जनों के निवास को भयपूर्ण बना देती है। इनके कारण सज्जनों के लिए प्रतिक्षण संकट की आशंका बनी रहती है। ३. **ध्वान्तः च**=इनका जीवन अन्धकारमय होता है। अथवा 'ध्वन शब्दे' ये सदा शोर–शराबा मचाये रखते हैं। ये पति–पत्नी भी सदा लड़ाई–झगड़े का जीवन बिताते हैं lead a cat and dog life. ४. **धुनिः च**=ये औरों को अपनी दुष्टता से कम्पित करनेवाले होते हैं। ५. **सासह्वाँन् च**=ये निरन्तर औरों का पराभव करनेवाले–औरों को कुचलनेवाले होते हैं। घात–पात में प्रवृत्त रहते हैं। ६. **अभियुग्वा च**=ये अपने दायें–बायें सभी ओर आक्रमण करनेवाले–चारों ओर आतंक फैलानेवाले होते हैं। ७. **विक्षिपः**=(वि–क्षिप) ये विक्षिप्त–सी मनोवृत्तिवाले होते हैं। इनमें केन्द्रित बुद्धि का प्रश्न ही नहीं होता। सैकड़ों आशाजालों से बद्ध ये पुरुष होते हैं। 'यह मिल गया और यह मिल जाएगा' इसी प्रकार ये विक्षिप्त वृत्तिवाले बने रहते हैं। अन्ततः ये आधे पागल–से हो जाते हैं। **स्वाहा**=यह यथार्थ वर्णन है।

भावार्थ–आसुरी सम्पत्तिवाले 'उग्रस्वभाव के, लोक–भयंकर, अज्ञानी, औरों को कम्पित करनेवाले, दूसरों को कुचलनेवाले, उनपर आक्रमण करनेवाले व विक्षिप्त–से' होते हैं।

ऋषिः–दीर्घतमाः। देवता–अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः–निचृदत्यष्टिः। स्वरः–गान्धारः।

आनन्दमय जीवन का रहस्य (The nine Secret of a Happy life)

अग्निꣳहृदयेनाशनिꣳहृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना।
शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तःपर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना
वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम्॥८॥

'हम अपने जीवन को सुखी कैसे बना सकते हैं। इस विषय का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि–१. **हृदयेन**=हृदय से **अग्निम्**=अग्नि को धारण करो। **अग्नि** का अर्थ है–शक्ति व उत्साह। (Vigour, enthusiasm) आनन्दमय जीवन के लिए पहली आवश्यक

बात हृदय में उत्साह का होना है। हृदय के उत्साहशून्य होने पर आनन्द का प्रश्न ही नहीं उठता। २. **हृदयाग्रेण** हृदय के अग्रभाग से **अशनिम्**=विद्युत् की दीप्ति को धारण करो। तुम्हारा हृदयाग्र विद्युत् की दीप्ति के समान चमके। कोई भी व्यक्ति तुम्हारे सामने आये तो तुम उसे समझ सको, तुम्हारा हृदयाग्र पर उसका प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाए। प्रत्येक व्यक्ति को हम ठीक-ठीक समझेंगे तो यथोचित बर्ताव कर सकने से किसी उलझन में न पड़ेंगे। ३. **पशुपतिम्**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभु को **कृत्स्नहृदयेन**=पूर्ण हृदय से धारण करें। प्रभु का यह ध्यान हृदय में उत्साह व शक्ति का संचार करनेवाला होता है। ४. **यक्ना**=जिगर से **भवम्**=पर्जन्य को धारण करो। पर्जन्य **परां तृप्तिं जनयति**=परातृप्ति को पैदा करता है, चारों ओर जल की वर्षा करता हुआ सभी को आनन्दित करता है। इसी प्रकार ठीक जिगरवाला व्यक्ति सभी को देता हुआ प्रसन्नता उत्पन्न करता है। इस तथ्य को 'इसका जिगर ही नहीं है, यह क्या देगा' यह मुहावरा स्पष्ट कर रहा है। ५. **मतस्नाभ्याम्**=हृदय के दोनों पासों में स्थित अस्थियों से **शर्वम्**='आपः' जलों को धारण करो। इनके कार्य के ठीक होने पर ही शरीर में जल की उचित स्थिति रहती है। ६. **मन्युना**=(मन=चिन्तन) चिन्तन से **ईशानम्**=आदित्य को धारण करो। आदित्य का चिन्तन करो। आदित्य की भाँति निरन्तर गुणों का आदान करनेवाले बनो। ७. **अन्तः पर्शव्येन**=भीतरी पसवाड़ों से **महादेवम्**=चन्द्र को (महादेवश्चन्द्रमाः) धारण करो। आह्लाद व प्रसन्नता के लिए पार्श्वों का मध्य, अर्थात् आमाशय का ठीक होना अवश्यक है। ८. **वनिष्ठुना**=आँतों rectums से **उग्रंदेवम्**=जठराग्नि—वैश्वानराग्नि को धारण करो। यह 'उग्रदेव' आँतों में होनेवाले कृमियों का संहार करके हमें स्वस्थ बनाता है। ९. **कोश्याभ्याम्**=कोश (Scrotum) में होनेवाले अण्डों (testicles) से **वसिष्ठहनुः**=(प्रजापतिर्वै वसिष्ठः, प्रजननं प्रजापतिः, हनुः=गदा=Goad.) प्रजननशक्ति का धारण करे। तथा **शिङ्गीनि=वज्रानि**= रोग-निवारक शक्तियों को धारण करो। वस्तुतः इन कोश्यों से निकलनेवाले रस प्रजननशक्ति के साथ रोग-निवारक शक्ति भी रखते हैं। इनके निकाल देने पर शरीर में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

भावार्थ—जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए उपर्युक्त नौ बातें ध्यान देने योग्य हैं १. हृदय में उत्साह २. हृदयाग्र में दीप्ति ३. पूर्णहृदय में प्रभु-ध्यान ४. जिगर में पर्जन्य की तरह दानवृत्ति ५. गुर्दों में जल ६. मन्यु से आदित्य ७. आमाशय के ठीक होने से प्रसन्नता ८. आँतों में कृमिसंहारक शक्ति तथा ९. कोश्यों (testicles) में प्रजननशक्ति व रोग-निवारक रस होने पर जीवन आनन्दमय बन जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—उग्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

कार्य-कुशलता

उग्रं लोहितेन मित्रᳬसौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यᳬरुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत्॥९॥

संसार में 'जीवन का आनन्द' बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम लोगों से कैसे वर्त्तते हैं। यदि हम कुशलता (Carefully) से चलते हैं तो हमें सफलता-ही-सफलता मिलती है और सफलता आनन्द का मूल है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'भिन्न-भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों से किस-किस प्रकार वर्त्तना' इस बात का उपदेश है। १. **उग्रम्**=उग्रस्वभाव वाले—सीधे लड़ाई पर उतर आनेवाले पुरुष को **लोहितन**=युद्ध से स्वानुकूल करे। (लोहितं

युद्धम्, लोहा लेना—युद्ध करना)। उग्र स्वभाववाला पुरुष युद्ध के अतिरिक्त अन्य भाषा को समझता ही नहीं। २. **मित्रम्**=मित्र को **सौव्रत्येन**=उत्तम व्रत से स्वानुकूल बनाये रक्खे। उत्तम व्रत यही है कि सुख-दु:ख में अभिन्न होना (अद्वैतं सुखद:खयो:)। कष्ट में साथ न छोड़ना ३. **रुद्रम्**=रुलानेवाले को—तंग करनेवाले को **दौर्व्रत्येन**=दुष्कर व्रतों से, आमरण अनशनादि से अनुकूल करे। ४. **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशालियों को **प्रक्रीडेन**=खेलकूद व आमोद-प्रमोद के साधनों से स्वानुकूल करे। ५. **मरुत:**=सैनिकों को—बलप्रधान व्यक्तियों को **बलेन**=बलके द्वारा अनुकूल करे। ये बल-प्रधान छह फुटे सिपाही पतले-दुबले व्यक्ति से शीघ्र प्रभावित नहीं हो सकते। ६. **साध्यान्**=साधनीय पुत्र-शिष्यादि को **प्रमुदा**=प्रसन्नता से अनुकूल करे। इनके जीवन को डाँट-डपट से उत्तम नहीं बना सकते। धर्म का उपदेश भी माधुर्य व अहिंसा से ही दिया जा सकता है। ७. उल्लिखित रूप से व्यवहार कुशल भी वही व्यक्ति बन सकता है, जो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ हो। यह शरीर का स्वास्थ्य शरीर में होनेवाली जिन मौलिक बातों पर निर्भर करता है उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **भवस्य**=दीर्घजीवन (भू=होना, बने रहना) का कारण **कण्ठ्यम्**=कण्ठ में होनेवाली थायराईड ग्रन्थि है। इसके ठीक रहने से जीवन स्वस्थ व दीर्घ बनता है। (ख) **रुद्रस्य**=अग्नि का व उद्रहरिकाम्ल का स्थान **अन्तः पार्श्व्यम्**=पसवाड़ों के अन्दर का भाग है। वहाँ इसके ठीक मात्रा में होने से स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। (ग) **महादेवस्य**=चन्द्र का—आह्लाद की देवता का स्थान **यकृत्**=जिगर है। इसके ठीक कार्य करने पर चित्त की प्रसन्नता बहुत कुछ निर्भर है (महादेवश्चन्द्रमा:)। (घ) **शर्वस्य**=जल का स्थान **वनिष्ठुः**=आँते हैं। स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि इन्हें जल से शुद्ध रक्खा जाए। पावभर पानी से दैनिक ऐनिमा इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है (ङ) और सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि हम इस बात को स्मरण रक्खें कि **पशुपते:**=(पशुपति: ओषधय:) ओषधियों की यह **पुरीतत्**=आँत है, अर्थात् आँतों में ओषधियाँ ही जाएँ, वहाँ मांसादि अवानस्पतिक भोजन न पहुँचे। वस्तुतः जीवन को शान्त-स्वभाव का बनाने के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक है। मांस भोजन से क्रूरता उत्पन्न होती ही है।

भावार्थ—हम कुशलतापूर्वक व्यवहार करते हुए तथा स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन के नियमों का पालन करते हुए अपने जीवन को सुखमय बनाएँ।

ऋषि:—**दीर्घतमा:**। देवता—**अग्नि:**। छन्द:—**आकृति:**। स्वर:—**पञ्चम:**।

स्वास्थ्य के लिए उत्तम अदनीय (भक्ष्य) अन्न का सेवन

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा। माꣳसेभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा॥१०॥

'जीवन का आनन्द स्वास्थ्य पर निर्भर करता है, इस विषय में मतभेद नहीं है। यह स्वास्थ्य भोजन पर निर्भर है। भोजन ऐसा होना चाहिए जो रस से लेकर अन्तिम धातु 'रेतस्' तक सभी के लिए हितकर हो। इस प्रकरण में 'स्वाहा' शब्द का अर्थ है 'सु हवि: जुहोति' (हवि:=अत्तव्यम् अन्नम्—द०)=उत्तम अदनीय अन्न को यज्ञों में विनियुक्त करके यज्ञशेष अमृत को उदर की जाठराग्नि में डालता है। १. **लोमभ्यः स्वाहा, लोमभ्यः**

स्वाहा=एक-एक लोम के हित के लिए यह भोजन खाया जाए। भोजन के विकार के कारण ही गञ्जापन आदि रोग हो जाते हैं। दो बार कहने का अभिप्राय यही है कि 'एक-एक लोम के लिए, अर्थात् प्रत्येक लोम के लिए' भोजन ऐसा हो जो लोम-सम्बधी किसी रोग का कारण न बन जाए। २. **त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा**=त्वचा-त्वचा के लिए, अर्थात् सारी त्वचा के लिए हितकर भोजन किया जाए। त्वचा के भिन्न-भिन्न रोग जो कुष्ठ नाम से कहे जाते हैं हमारा भोजन उनका कारण न बन जाए। ३. **लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा**=सम्पूर्ण रुधिर के हित के लिए हमारा भोजन हो। भोजन ऐसा न हो जिससे कि रुधिर-विकार उत्पन्न हो जाएँ। ४. **मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा**=चरबी (Fat) के उचितरूप में होने के लिए भोजन किया जाए। भोजन में स्नेह का नितान्त अभाव हमारे शरीर को अतिदुर्बल बनाएंगा, तो स्नेह का आधिक्य उसे बहुत भारी-सा बनाएगा, अतः 'मेदस्' के हित के दृष्टिकोण से ही भोजन किया जाए। ५. **मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा**=शरीर के सम्पूर्ण मांस के हित के लिए ही भोजन का सेवन किया जाए। मांस-भोजन से मांस मर्यादा से अधिक बढ़ जाता है, वह कभी हितकर नहीं हो सकता। ६. **स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा**=सारे स्नायु-संस्थान के हित के लिए भोजन हो। यदि इस बात का ध्यान रक्खा जाए तो रक्तचाप के आधिक्य आदि के रोग हों ही नहीं। ७. **अस्थभ्यः स्वाहा अस्थभ्यः स्वाहा**=भोजन ऐसा हो जो एक-एक अस्थि के लिए हितकर हो। भोजन में केल्शियम की मात्रा उचित रूप में हो ताकि अस्थियों का विकास ठीक से हो पाये ८. **मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा**=भोजन मज्जा के लिए भी हितकर हो। ऐसा न होने पर दिमाग की कमी आदि की आशंका रहती है। पागलपन का भी यह कारण हो सकता है। ९. **रेतसे स्वाहा**=अन्तिम धातु **रेतस्**=वीर्य है। इसके लिए हितकर सौम्य भोजन ही हमें खाने चाहिएँ। आग्नेय भोजनों का सेवन रेतस् के लिए हितकर नहीं होता। १०. **पायवे स्वाहा**=सबसे अन्तिम, पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भोजन **पायु**=मलशोधक इन्द्रिय के लिए हितकर हो। हम कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाले भोजनों से सदा बचें।

भावार्थ—भोजन के विषय में यह ध्यान रखा जाए कि वह लोमों से लेकर वीर्य तक शरीर की सब धातुओं के लिए हितकर हो तथा कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाला न हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रयत्न व पवित्रता

आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा। शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा॥११॥

जहाँ भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर हो वहाँ भोजन ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को आलस्यशून्य व पवित्र इच्छाओंवाला बनाने में सहायक हो। ऐसा ही भोजन सात्त्विक भोजन कहलाता है। १. **आयासाय**=सब आवश्यक कार्यों में श्रम (All round excertion) के लिए मैं उत्तम अदनीय अन्न खाता हूँ। २. **प्रायासाय स्वाहा**=प्रकृष्ट उद्योग के लिए मैं अदनीय अन्न का सेवन करता हूँ। मुझमें क्रियाशीलता हो, वह क्रियाशीलता उत्तम कार्यों में टपके। ३. **संयासाय स्वाहा**=मिलकर किये जानेवाले उद्योगों के लिए मैं अदनीय अन्नों का सेवन करता हूँ। मैं ऐसा अन्न खाऊँ जिससे मैं औरों के साथ मिलकर उद्योग कर सकूँ। ४. **वियासाय स्वाहा**=विविध प्रयत्नों या वैयक्तिक प्रयत्नों के लिए मैं हितकर भोजन

करनेवाला बनूँ। ५. **उद्यासाय स्वाहा**=मैं उत्कृष्ट उद्योगों के लिए हितकर भोजन करूँ। मेरा भोजन ऐसा हो जो निरन्तर मुझे ऐसे उद्योगों में लगाये जो मुझे ऊँचा ले-जानेवाले हों। ६. वैशेषिकदर्शन में भी कर्म पाँच भागों में विभक्त हुआ है। यहाँ भी पाँच भाग हैं। नामों व स्वरूप में कुछ अन्तर हो गया है। इस विचार को चार भागों में बाँटते हैं—(क) पवित्रता की इच्छा (ख) पवित्रता के प्रयत्न में लगना (ग) पवित्रता को स्वभाव बना लेना (घ) और अन्त में पवित्र हो जाना। इसको क्रमशः कहते हैं—**शुचे स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए भोजन करता हूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझमें पवित्रता की भावना जगाए। **शोचते स्वाहा**=अपने को पवित्र बनाने के लिए मैं भोजन करूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पवित्रता-सम्पादन की क्रिया में लगाये। **शोचमानाय**=पवित्रता जिसका स्वभाव बन गया है, ऐसा बनने के लिए मैं सात्त्विक भोजन का सेवन करता हूँ। अन्न ऐसा हो जो मेरे स्वभाव में पवित्रता लाये। मेरे लिए पवित्रता स्वाभाविक बन जाए और अन्त में **शोकाय स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए अन्न खाऊँ। अन्न ऐसा हो कि मैं शरीरबद्ध पवित्रता ही हो जाऊँ।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन हमारे जीवन में प्रयत्नशीलता व पवित्रता का संचार करनेवाला हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तप—भोजन—दर्शन

तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा। निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा॥१२॥

१. जिस प्रकार पिछले मन्त्र में पवित्रता के विषय में कहा गया है उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में तप के विषय में कहते हैं। तप का विचार भी उसी प्रकार चार भागों में बाँटकर करते हैं कि (१) तप की रुचि (२) तप में लगना (३) तप को अपना स्वभाव बना लेना और (४) अन्त में तपोमय हो जाना। **तपसे स्वाहा**=तप के लिए मैं (सु हविः जुहोमि) उत्तम हविरूप अन्न ही खाता हूँ। यदि मनुष्य सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता है तो उसकी प्रवृत्ति भोगप्रवण न होकर तपस्या की ओर झुकती है। **तप्यते स्वाहा**=तप करते हुए के लिए हम उत्तम अन्न का प्रयोग करते हैं, अर्थात् मैं ऐसा ही अन्न खाता हूँ जो मुझे तप में लगाये रखता है। **तप्यमानाय स्वाहा**=मैं ऐसे अन्न का सेवन करूँ कि तप मेरा स्वभाव हो जाए। **तप्ताय स्वाहा**=मैं तप ही हो जाऊँ, इसी प्रकार मूर्त्तिमान् तप बन जाने के लिए मैं उत्तम हविरूप अदनीय अन्न खाता हूँ।

२. इस प्रकार तपोमय जीवन का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अन्दर शक्ति का सञ्चार हो, अतः कहते हैं कि **घर्माय स्वाहा**=सोम के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। वस्तुतः सौम्य व आग्नेय भोजनों में से सौम्य भोजन को ही प्रधानता देना ठीक है। आग्नेय भोजन कभी भी सोम-रक्षा के लिए और परिणामतः नीरोगता व दीर्घजीवन के लिए हितकर नहीं होते। हम सोमरक्षा के दृष्टिकोण से भोजन खाते हैं। ३. **निष्कृत्यै स्वाहा**=सब प्रकार के प्रायश्चित्त के लिए, भविष्य में पाप न करने के निश्चय की दृढ़ता के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। **प्रायश्चित्यै स्वाहा**=मुझमें पाप कर बैठने के लिए दुःख की भावना हो, उन्हें भविष्य में न करूँ, ऐसी वृत्ति बनाने के लिए मैं सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता हूँ। 'जिनकी मैं हानिकर बैठा हूँ, उनकी मैं क्षतिपूर्ति कर दूँ' यह है 'निष्क्रय', 'आगे से नहीं करूँगा' यह है 'प्रायश्चित्त'—ये भावनाएँ हमारे अन्दर होनी ही चाहिएँ। ४. **भेषजाय**

स्वाहा=अन्त में मैं औषध के दृष्टिकोण से भोजन करूँ। भूख भी एक रोग है, उसकी निवृत्ति के लिए ही भोजन करना चाहिए। स्वाद के लिए भोजन करना पाप है।

भावार्थ—भोजन ऐसा हो जो मुझे तपस्वी बनाए, शक्तिशाली बनाए, पापों के लिए मैं प्रायश्चित्त की वृत्तिवाला बनूँ और अन्त में भोजन को मैं औषध समझूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अर्पण

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याꣳस्वाहा॥१३॥

१. 'स्वं जुहोति इति स्वाहा', इस व्युत्पत्ति से 'स्वाहा' का अर्थ है समर्पण। मन्त्र में कहते हैं कि **यमाय स्वाहा**=शिष्य के जीवन को नियम में रखनवाले यम=आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य उन विद्यार्थियों के जीवन को बड़ा नियमित (Disciplined) बना देता है। हम **अन्तकाय**=अज्ञानान्धकार का अन्त करनेवाले अथवा अशुभवृत्तियों का अन्त करनेवाले आचार्य के लिए **स्वाहा**=अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य-चरणों में रहकर वह सदाचारी बनेगा ही। आचार्य की व्युपत्ति ही है 'आचारं ग्राहयति', इस प्रकार अशुभ जीवन को समाप्त करनेवाला आचार्य 'मृत्यु' ही है। इस **मृत्यवे**=मृत्यु नामक आचार्य के लिए **स्वाहा**=हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य पिछले जन्म को समाप्त कर नया जन्म देता है। इस प्रकार हम 'द्वि-ज' बन जाते हैं। वस्तुतः यही जन्म उत्कृष्ट जन्म होता है। **ब्रह्मणे स्वाहा**=हम ऐसे आचार्यों के समीप सन्तानों को छोड़ते हैं जो ब्रह्म=ज्ञान के पुञ्ज हैं। इन ज्ञान के समुद्रों में स्नान करके विद्यार्थी 'निष्णात व स्नातक' बनता है। ज्ञान की कमी होने पर अध्यापक के प्रति विद्यार्थी के हृदय में आदर की भावना भी कठिनता से उत्पन्न होती है।

२. एवं 'यम-अन्तक-मृत्यु व ब्रह्म' नामक आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। 'क्यों सौंपते है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है कि (क) **ब्रह्महत्यायै** (**ब्रह्म**=ज्ञान **हन्**=प्राप्ति नकि हिंसा)=ज्ञान की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य से प्राप्त की हुई विद्या 'साधिष्का' होती है। ब्रह्मचारी आचार्य से ही ज्ञान का भोजन प्राप्त करता है। आचार्य का मूलकर्त्तव्य ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि में पृथिवी-अन्तरिक्ष-व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की समिधाओं को डालना है। (ख) **विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा**=सब दिव्य गुणों से विभूषित करने के लिए समर्पित करते हैं। (ग) **द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**=हम मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) के स्वास्थ्य के लिए सन्तान को आचार्य-चरणों में छोड़ते हैं। आचार्य इसके शारीरिक स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए, इसे ज्ञान की समिधा से समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान देता है, सद्गुणों से अलंकृत करता है तथा अव्यसनी बनाकर स्वस्थ शरीरवाला बनाता है।

इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः॥

—:०:—

१. **ऋग्वेद** 'विज्ञानवेद' है। वह प्राकृतिक विद्याओं (Natural sciences) को अपना विषय बनाता है। यजुर्वेद 'कर्मवेद' है, उसमें जीवन के विविध कर्त्तव्यों का प्रतिपादन है। सामवेद 'उपासनावेद' है, उसमें प्रभु की उपासना का प्रतिपादन है और अन्त में अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' है, जो हमें नीरोग व निर्मल होकर, रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर हृदय में प्रभु के दर्शन करने के लिए प्रेरणा देता है।

२. यजुर्वेद में कर्मों (कर्त्तव्यों) का प्रतिपादन है और ये कर्म स्थूल-दृष्ट्या 'यज्ञ' शब्द से प्रतिपादित हुए हैं, **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। देवता इस यज्ञ से ही 'यज्ञ' नामक प्रभु की उपासना करते हैं। ये यज्ञ ही प्रथम धर्म हैं **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'**। यज्ञ के तीन स्थूल विभाग हैं 'देवपूजा, सङ्गतिकरण, दान'। 'देवताओं का आदर करना, परस्पर मेल से चलना और देना' ये तीन ही बातें क्रमशः बड़ों, बराबरवालों तथा छोटों के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं।

३. इस यजुर्वेद के ३८ अध्यायों में मनुष्य के करणीय यज्ञों का विधान है। ३९वाँ अध्याय अन्त्येष्टि संस्कार का है यह मनुष्य को स्मरण कराता है कि उसने गर्व नहीं करना।

४. यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्थूलरूप से 'ऋग्वेद' ब्रह्मचारी का वेद है, उसने सब विज्ञानों का अध्ययन करना है। 'यजुर्वेद' कर्मवेद है, यह गृहस्थ को उसके विविध कर्त्तव्यों का स्मरण कराता है। वनस्थ का 'सामवेद' उसे सदा प्रभु की उपासना में निरत रहने का उपदेश देता है और 'ब्रह्माश्रमी'=संन्यासी का अथर्ववेद उसे नीरोग व निर्मल बनाकर रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर व्याधि व आधियों को दूर करके सब प्रकार की उपाधियों को भी परे फेंककर समाधि द्वारा प्रभुदर्शन की प्रेरणा देता है।

५. यजुर्वेद गृहस्थ का वेद है। उससे करने योग्य यज्ञों का उसके ३८ अध्यायों में वर्णन है।

यजुर्वेद का यह अन्तिम अध्याय 'ब्रह्माध्याय' कहलाता है, क्योंकि इसमें मुख्यरूप से ब्रह्म की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन हुआ है। एक मन्त्र के परिवर्तन के साथ यही 'ईशोपनिषद्' के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रथम शब्द 'ईश' है, अतः इसका ईशोपनिषद् नाम पड़ गया।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

प्रभु की सर्वव्यापकता

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

इदम् सर्वम्=यह सब, **यत् किञ्च**=जो कुछ **जगत्यां जगत्**=जगती में, ब्रह्माण्ड में जगत्=लोक हैं, वे सब-के-सब **ईश+आवास्यम्**=उस ईश (प्रभु) से समन्तात् बसने योग्य हैं। कण-कण में वह प्रभु समा रहे हैं। वे सर्वव्यापक हैं, इसीलिए वे आँखों से दिखते नहीं।

मन्त्र का जगती शब्द ब्रह्माण्ड का वाचक है। इस ब्रह्माण्ड में पिण्ड, अर्थात् छोटे-छोटे

जगत् तो अनन्त हैं। हमारे लिए उनकी संख्या को पूरा-पूरा जानना सम्भव नहीं। एक सौर लोक एक जगत् है, इस जगती में तो ऐसे सौर जगत् कितने ही हैं? यह जगती की विशालता उस प्रभु की महिमा का व्याख्यान कर रही है। **तेन**=क्योंकि वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, कण-कण में विद्यमान हैं, अतः हे जीव! तू **त्यक्तेन**=त्यागभाव से **भुञ्जीथाः**=उपभोग करना, विषयोपभोग में न फँस जाना। प्रभु ने भोजन का निर्माण 'पालन' के लिए ही तो किया है। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः'=पालन के लिए खाना ही भोजन है। आसक्तिपूर्वक मजा तो वही लेने लगता है जो प्रभु से दूर हो जाता है। **मा गृधः**=तूने इन विषयों का लालच न करना। लालच से मनुष्य अधिक खा जाता है। विषयों का सौन्दर्य व स्वाद हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और हम उन विषयों का शरीर धारण के लिए नहीं अपितु स्वाद के लिए उपभोग करने लगते हैं। इन विषयों की प्राप्ति के साधनभूत धन को जुटाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है। यही धन अन्ततः हमारे 'निधन' का कारण हो जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'हम लालच से ऊपर कैसे उठें?' इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहता है कि प्रतिदिन यह सोचो कि **कस्य स्वित् धनम्**=भला, धन किसका है? इसने आजतक किसका साथ दिया? यह तो शरीरधारण के लिए साधनमात्र है। यह हमारे जीवन का साध्य नहीं है? 'कस्य स्विद् धनम्' का विचार हमारी आँखें खोल देगा और हम लोभ से ऊपर उठ सकेंगे, तभी हमारा जीवन त्यागपूर्वक उपभोगवाला हविरूप (हु-दानादनयोः) होगा।

'ईशावास्यम्' का अर्थ परमेश्वर से समान्तात् वसने योग्य तो है ही, उस प्रभु का निवास (वस निवासे) कण-कण में है। साथ ही 'वस आच्छादने' से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होता है कि वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये हुए हैं। हमें भी उस प्रभु का वह अमृतमय आच्छादन प्राप्त है। ऐसी अवस्था में मृत्यु हमारे तक आ ही कैसे सकती है? मेरा तो वह अमृत प्रभु ही उपस्तरण है, वही अपिधान है। उसमें आवृत मैं मृत्युगोचर कैसे हो सकता हूँ। एवं, यह प्रभुभक्त पूर्ण निर्भीकता को अनुभव करता है। उस प्रभु का सर्वत्र निवास उसे पापभीरु बनाता है तो उस प्रभु का सर्वतः आच्छादन उसे मृत्यु से भी न डरनेवाला वीर बनाता है, एवं ईशावास्यमिदं सर्वम्' का अनुभव करनेवाला भीरु भी है, वीर भी। पाप से डरता है तो मृत्यु से निडर भी है।

'ईश' शब्द मन्त्र का प्रथम शब्द है जो स्वामित्व का प्रतिपादन करता हुआ मन्त्र की अन्तिम भावना 'कस्यस्वित् धनम्' का पोषण कर रहा है। **धनम्**=धन **स्वित्**=निश्चय से **कस्य**=उस अनिर्वचनीय प्रभु का है। हे जीव! तू क्यों गर्व कर रहा है! धन का मालिक तू नहीं। ईश तो प्रभु हैं, तेरा क्या स्वामित्व?

प्रभुदर्शन से इसका तम विदीर्ण होकर वह 'दीर्घ (विदीर्ण) तमा' कहलाता है। प्रभु का निरन्तर ध्यान करने से यह 'दध्यङ्' है और बाह्य विषयों में आसक्त न होकर अन्दर ध्यान करने से 'आथर्वण' है (अथ अर्वाङ्)।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का अनुभव करो, त्यागपूर्वक प्रकृति का उपभोग करो, लोलुपता से दूर रहो और सदा विचारो कि भला धन किसका है?

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

क्रियामय दीर्घ जीवन

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु आदेश करते हैं कि—१. **इह**=इस लोक में तथा इस मानव-जीवन में **कर्माणि**=कर्मों को **कुर्वन् एव**=करते हुए ही तूने जीना है। (क) संसार का नियम ही क्रिया है, यह संसार है, 'संसरति' निरन्तर चल रहा है, जगत् है, गति में है। 'What is this universe ? but an infinite conjugation of the verb to do.' यह संसार कृ धातु के विविध रूपों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस गतिमय संसार में अकर्मण्य होने का क्या मतलब? (ख) अर्कमण्यता 'ह्रास' और 'विध्वंस' से सम्बद्ध है, 'जो पानी खड़ा वह सड़ा' यह प्रसिद्ध ही है। (ग) मनुष्य 'आत्मा' है, अत=सातत्यगमनवाला है। क्रियाशीलता के अभाव में तो वह 'स्व' को ही खो देता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश है कि **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त **जिजीविषेत्**=जीने की कामना करे। जितना दीर्घजीवी बन सके उतना ही ठीक। इस दीर्घ जीवन के लिए क्रियाशीलता साधन है। ३. एवं प्रभु ने उपर्युक्त दो आदेश देकर कहा कि **एवं त्वयि**=तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है। **इतः**=इससे **अन्यथा**=और प्रकार का कोई मार्ग **न अस्ति**=तेरे लिए नहीं है। 'कर्म करते हुए सौ वर्ष जीना' ही तेरे जीवन का एकमात्र नियम है। ४. इसपर जीव सोचने लगा कि (क) इतना लम्बा जीकर क्या करूँगा? जीवन जितना लम्बा होगा उतने ही अधिक पाप होंगे। बालक पैदा होते ही चला गया। अहोभाग्य है कि उससे कोई पाप तो नहीं हुआ और (ख) कर्म करना भी तो भय से रहित नहीं है। कर्म का फल भोगना होगा। फल के लिए शरीर लेना पड़ेगा और स-शरीर के सुख-दुःखों का परिहार कहाँ? एवं कर्म तो बाँधेगा ही। ये कर्म करते हुए ही जीना तो एक झंझट है। ५. ऐसे विचारों के उत्पन्न होने से कुछ उदास-से जीव को प्रभु कहते हैं कि अरे दीर्घजीवन होगा तो पाप ही क्यों अधिक होंगे? ऐसा भी सम्भव है कि तू प्रतिवर्ष एक-एक क्रतु (यज्ञ) करे और सौ वर्षों के दीर्घजीवन में तू 'शतक्रतु' ही बन जाए और कर्म के बन्धन से तू क्यों भयभीत होता है, क्योंकि **नरे**=नर में **कर्म**=कर्म **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता। नर मनुष्य कर्म के लेप से ऊपर है। नर वह है जो **न रमते**=इन कर्मों में उलझ नहीं जाता। न रम जाना, न फँस जाना ही नर का धर्म है। विरत होकर कर्त्तव्य को करते जाना ही मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाला लिप्त नहीं होता। विरति=वैराग्य बन्धन से बचाता है। मैं कर्म को न चिपटूँ तो वह भी मुझे क्यों चिपटेगा?

एवं, हमें इस संसार में नर बनकर, अनासक्तिपूर्वक कर्म करते चलना है और अवश्य सौ वर्ष तक जीना है। 'मैं पापी हो जाऊँगा, कर्म मुझे बाँध लेंगे' इस अज्ञान को नष्ट करके व्यक्ति 'दीर्घतमा' बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के इन दो आदेशों का सदा स्मरण करें 'सदा कर्मशील रहो', 'सौ वर्ष जीने की कामना रक्खो'।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

आत्मघात

असुर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

(क) प्रथम व द्वितीय मन्त्र में निम्न बाते कहीं गई हैं—१. प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करना २. त्यागपूर्वक उपभोग करना ३. लालच नहीं करना ४. प्रतिदिन इस प्रश्न का विचार करना कि 'भला, धन किसका है?' ५. जीवन को सदा क्रियामय रखना और आसक्ति से ऊपर उठकर नर बनकर काम करना तथा ६. सौ वर्ष जीने की प्रबल भावना

रखना, तदनुसार ही जीवन को ढालना।

(ख) ये छह बातें ही आत्मोन्नति का मार्ग हैं। इसी पर मनुष्य को चलने का प्रयत्न करना है। जो व्यक्ति इन बातों का ध्यान न करके १. प्रभुको स्मरण नहीं करता। अपने को अकेला समझ व्यसनों के प्रलोभन से नहीं बच पाता ३. भोग ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है, अपने ही प्राणों व जीवन में रमा रहता है, 'असुषु रमन्ते' असुर बनकर अपने ही मुख में आहुति देता है **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**। इसके जीवन में त्याग का कोई स्थान नहीं होता। ३. इसकी लोलुपता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है ४. यह समझता है कि धन का वही स्वामी है, धन को उससे कौन छीन सकता है? ५. धन की वृद्धि करके यह अपने जीवन को आरामपसन्द बना लेता है, इसका जीवन क्रियाशील नहीं रहता और इस प्रकार अनजाने में क्षीणशक्ति होता जाता है। ५. सौ वर्ष जीने की तो कल्पना करके भी यह कई बार व्याकुल हो जाता है, वृद्धावस्था के कष्टों की कल्पना करके ही घबरा उठता है। इसके जीवन का संक्षिप्त ध्येय 'Eat, Drink and be Merry' हो जाता है। यही व्यक्ति 'आत्महन्' है, यह आत्मा का घात कर रहा है। प्रभु की ओर न जाकर अन्ततः प्रकृति के पाँओं तले रौंदा जाता है। (ग) **ये के च आत्महनो जनाः**=जो कोई भी आत्महन् लोग होते हैं **ते**=वे **प्रेत्य**=इस शरीर से प्रयाण करने के अनन्तर **तान्**=उन लोकों की **अपि गच्छन्ति**=ओर जाते हैं जो लोक कि इस प्रकार की आसुरवृत्तिवाले लोगों के लिए हितकर हैं (असुर + य) **ते लोकाः**=वे लोक **असुर्या नाम**='असुर्य' (असुरों के लिए हितकर) इस नामवाले हैं। ये लोक **अन्धेन तमसा**=घने अँधेरे से **आवृताः**=आच्छादित हैं। इन लोकों में प्रकाश नहीं। पशु देखते हैं (पश्यन्ति), समझते नहीं। वृक्ष इत्यादि तो एकदम अन्तःसंज्ञी ही हैं—उनकी चेतना पूर्णतया लुप्त-सी है। ये ही योनियाँ असुर्य हैं। केवल अपने प्राण-पोषण में रत लोगों के लिए ये भोगयोनियाँ ही उपयुक्त हैं। एवं, प्रभु इन आत्महन् असुरों को इन्हीं योनियों में जन्म देते हैं। इनमें रहते हुए वे भोग भोगने में रत रहते हैं। उनका कोई कर्त्तव्य नहीं होता—उन्हें भोग ही भोगने होते हैं। ये लोक अन्धतमस् व अज्ञान से आवृत हैं। इनमें ज्ञान का नितान्त अभाव है। यहाँ कर्त्तव्य ही नहीं है, अतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक का प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्भवतः इन भोगों के भोग से रजकर, या इस प्रसुप्त-सी अवस्था में पिछले संस्कारों को भूलकर ये चिरकाल पश्चात् फिर मानव-जीवन को प्राप्त करेंगे और एक बार फिर इन्हें आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने का अवसर प्राप्त होगा।

भावार्थ—हम आत्मोन्नति के मार्ग पर चलें। आत्महन् बनकर असुर्य लोकों में जन्म के भागी न बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—ब्रह्म। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

निरभिमानता

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

१. पिछले मन्त्र की फलश्रुति के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'सर्वव्यापकता' की भावना का ही प्रकारान्तरेण वर्णन प्रारम्भ होता है—(क) वे प्रभु **अनेजत्**=(न एजत्) बिलकुल हिल नहीं रहे। खाली स्थान हो तो हिला जाए! जब वे सर्वव्यापक हैं, हिलें ही कैसे, परन्तु सर्वव्यापक न होते हुए भी तो किसी और से स्थान भरा होने के कारण 'न हिलना' हो

सकता है, अतः कहते हैं कि **'एकम्'**=वे हैं तो एक। 'एक होते हुए न हिलना' तभी होता है जब वह सर्वव्यापक हो। (ख) **मनसो जवीयः**=वे प्रभु मन से भी अधिक वेगवान् हैं। मन सर्वाधिक वेगवाला है। प्रभु मनसे भी अधिक वेगवान् हैं। वास्तविकता तो यह है कि **एनत्**=इस प्रभु को **देवाः**=देव **न आप्नुवन्**=नहीं पकड़ पाते। देवों की दौड़ के साम्मुख्य में सब देव इससे पीछे रह जाते हैं। प्रभु जीत जाते हैं। जीत का अभिप्राय यही है कि 'विजयस्तम्भ' पर पहले पहुँच जाना। प्रभु तो **पूर्वम्**=पहले ही **अर्शत्**=वहाँ पहुँचे हुए हैं। सर्वव्यापक होने के कारण वे कहाँ नहीं हैं। (ग) **तत्**=वे प्रभु **धावतः अन्यान्**=दौड़ते हुए दूसरों को **अत्येति**=लाँघ जाते हैं, उनसे आगे निकल जाते हैं और खूबी यह कि **तिष्ठत्**=ठहरे-ठहरे ही। बिना गति किये लाँघ जाना इसीलिए तो है कि जहाँ भी पहुँचना है प्रभु वहाँ पहले से ही हैं। २. एवं, वे प्रभु सर्वव्यापक तो हैं ही, परन्तु साथ ही सौन्दर्य की बात यह है कि गतिशून्य होते हुए भी सर्वाधिक गतिमान् हैं। ठहरे भी दौड़ते हुओं से आगे निकल ज़ानेवाले हैं। ठीक-ठीक बात यह है कि गतिशून्य होते हुए सबको गति दे रहे हैं। वे गति के स्रोत हैं। ३. **मातरिश्वा**=मातृगर्भ में बढ़नेवाला यह जीव भी **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही **अपः**=कर्मों को **दधाति**=धारण करता है। इसकी भी सारी गति उस प्रभु की शक्ति से ही हो रही है। जीव को यह भ्रम हो जाता है कि उसकी अपनी शक्ति है।

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें। कण-कण में उसकी शक्ति को काम करता हुआ देखें और अपनी सफलताओं को प्रभुशक्ति से होता हुआ समझें तथा सदा प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वह परावर प्रभु (अन्दर भी, बाहर भी), दूर भी, समीप भी

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र प्रभु की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करता हुआ काव्य की दृष्टि से विरोधाभास अलंकार का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। **तत्**=वह प्रभु **एजति**=गति करता है और **तत् न एजति**=वे प्रभु गति नहीं कर रहे हैं। ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी अर्थवाले प्रतीत होते हैं, परन्तु यह विरोध का आभास नष्ट हो जाता है जब प्रथम वाक्य को प्रेरणार्थक धातु मानकर अर्थ यह कर देते हैं कि प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं (एजति=एजयति)। शरीर चलता प्रतीत होता है, परन्तु यह सब गति अन्तःस्थित आत्मतत्व के ही कारण है, अतः आत्मा ही तो गति दे रहा है। इसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा वे प्रभु हैं, उन्हीं से यह सारी गति दी जा रही है, परन्तु सर्वव्यापक होने के नाते वे स्वयं गतिशून्य हैं। वे कहाँ जाएँ और कहाँ आएँ, वे तो पहले से ही सब स्थानों में विद्यमान हैं। २. **तद् दूरे**=वे प्रभु दूर-से-दूर हैं **तत् अन्तिके**=और वे समीप-से-समीप हैं। दूर भी है, समीप भी। इस प्रकार विरोध का आभास होता है, परन्तु अभिप्राय इतना ही है कि सर्वव्यापक होने के कारण हम कल्पना से जितनी भी दूर पहुँच सकते हैं, प्रभु वहाँ हैं ही और हमारे अन्दर भी होने से समीप-से-समीप भी हैं। पर-से-पर तथा अवर-से-अवर होने से ही प्रभु का नाम 'परावर' है। ३. **तत्**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे ब्रह्माण्ड के **अन्तः**=अन्दर हैं और **तत् उ**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे जगत् के **बाह्यतः**=बाहर भी हैं। अन्दर होते हुए वे प्रभु अन्तर्यामी हैं तथा बाहर होने से सबको आच्छादित करके सुरक्षित कर रहे हैं। अन्दर

व्याप्ति की भावना 'वस निवासे' धातु द्वारा 'ईशावास्यम्' शब्दों में व्यक्त हुई है तथा 'वस् आच्छादने' धातु से गर्भ में सुरक्षित रखने की भावना व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—प्रभु दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं, अन्दर व बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सन्देह व घृणा से दूर

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥६॥

१. 'प्रभु की सर्वव्यापकता, अन्दर व बाहर सर्वत्र उसकी सत्ता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति सब प्रकार के सन्देह व घृणा से ऊपर उठ जाता है, इस बात को प्रस्तुत मन्त्र इन शब्दों में कहता है—**यः तु**=जो तो **सर्वाणि भूतानि**=सब प्राणियों को **आत्मन्**=सर्वव्यापक आत्मतत्त्व में **एव**=ही **अनुपश्यति**=अपने स्वरूप को देखने के साथ देखता है, **च**=और **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियों में **आत्मानम्**=परमात्मा को देखता है **ततः**=फिर **न वचिकित्सति**=किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता है। २. प्रभु का दर्शन हमें सन्देह व घृणा से ऊपर उठा देता है। घृणा तो मनुष्यमात्र में प्रभु को देखने से ही नहीं रहती। सब भूतों में प्रभु को देखनेवाला सब भूतों से प्रेम करता है व उन्हें आदर से देखता है। पण्डित सबमें समरूप से अवस्थित प्रभु को ही देखते हैं। सर्वत्र प्रभुदर्शन ही सच्चा वेदान्त है। यह व्यक्ति निर्भीक व निर्घृण होता है। घृणा से ऊपर उठा हुआ यह प्रेम का पुञ्ज बन जाता है। इसका ज्ञान सब उपाधियों से ऊपर उठा हुआ है, अतः यह सचमुच 'दीर्घतमा'=दूर हो गये अन्धकारवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु को सबमें और सबमें प्रभु को देखें, यही 'तत्त्वज्ञान' है। यही सन्देह व घृणा से ऊपर उठने का साधन है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

एकत्व का दर्शन

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥७॥

१. मनुष्य सुनकर व पढ़कर यह जान जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, यह तो एक वस्त्र है। मृत्यु वस्त्र-परिवर्तनमात्र है, परन्तु व्यवहार में आकर उसे यह बात भूल जाती है और वह यही कहने लगता है कि 'मैं बीमार हो गया, पतला हो गया'। इस प्रकार उसका ज्ञान उथला ही प्रमाणित होता है। यह 'विजानन्' विशिष्ट ज्ञानी नहीं बना। विज्ञानन् पुरुष तो आत्मस्वरूप को समझता है। आत्मस्वरूप को समझने के साथ अपने शाश्वत सखा 'प्रभु' को अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त अनुभव करता है। २. इस **विजानतः**=विशिष्ट ज्ञानी पुरुष के दृष्टिकोण में प्रभु ने सबको व्याप्त किया हुआ है। 'प्रभु सबमें हैं, सब प्रभु में हैं' यह तो यही देखता है। इस प्रकार देखने के कारण यह परमात्मा-ही-परमात्मा को देखता है। हार की मणियों को न देखकर वह ओतप्रोत सूत्र को देखता है, अतः वह समावस्थित परमेश्वर को ही सर्वत्र देखने के कारण सब भूतों में आत्मभाव रखता है। जब ये सब भूत उस प्रभु में हैं तब उससे अलग हो ही कैसे सकते हैं! मन्त्र के शब्दों में **यस्मिन्**=जिस समय इस 'विज्ञानन्' की दृष्टि में **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत (प्राणी) **आत्मा एव**=आत्मा ही **अभूत**=हो जाते हैं, **तत्र**=उस स्थिति में **एकत्वम्**=एकत्व को **अनुपश्यतः**=देखते हुए को

कः मोहः=क्या तो मोह और **कः शोकः**=क्या शोक? यह विजानन् पुरुष शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। एकत्वदर्शन में शोक-मोह का स्थान नहीं है। ४. 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'=भय तो दूसरे से ही होता है, अद्वैत में तो अभय-ही-अभय है। 'विश्व की नागरिकता' व ऐक्य भावना ही मानव कल्याणकारिणी है। पति-पत्नी भी मिलकर एक हो जाते हैं तभी तो शङ्का व भय दूर हो वास्तविक प्रेम उत्पन्न होता है। ५. एवं, अद्वैतानुभव ही कल्याणंकर है। यही वास्तविकता है, इसको जानकर ही विजानन् पुरुष शोक-मोह से अतीत होता है।

भावार्थ—जीवात्मा व परमात्मा दो सत्ताएँ है, परन्तु सब जीव प्रभु में हैं, सो पृथक् न होने से 'आत्मा-ही-आत्मा' हैं, ऐसा अनुभव करके हम 'शोक-मोहातीत विजानन्' बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

व्यापक व शुद्ध

स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्नावि॒रꣳशु॒द्धमपा॑पविद्धम्।

क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्था॒न् व्य॑दधाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः॥८॥

१. **सः**=वे प्रभु **परि अगात्**=चारों ओर (पहले से ही) गये हुए हैं। वह कौन-सा स्थान है जहाँ प्रभु नहीं हैं? सर्वव्यापक होने के कारण ही वे प्रभु **शुक्रम्** (शुच् दीप्तौ)=अत्यन्त दीप्त व उज्ज्वल हैं। २. वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, अतः **अकायम्**=शरीररहित हैं। शरीररहित होने से ही **अव्रणम्**=व्रणादिरहित हैं, **अस्नाविरम्**=नस-नाड़ियों से शून्य हैं। व्रण व नस-नाड़ियों का सम्बन्ध शरीर से ही है। शरीर नहीं, तो ये कहाँ से? ३. **शुद्धम्**=वे प्रभु पूर्ण शुद्ध हैं और **अपापविद्धम्**=पाप से विद्ध नहीं। ४. **कविः**=वे प्रभु क्रान्तदर्शी हैं, प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं। लोक में जो-जो व्यक्ति जितना-जितना बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनता चलता है उतना-उतना ही उसका दृष्टिकोण व्यापक व सत्य होता जाता है। प्रभु पूर्ण व्यापक हैं, उनका दृष्टिकोण पूर्ण सत्य है। वे प्रभु **मनीषी**=विद्वान्=पूर्ण ज्ञानी हैं, क्योंकि **परिभूः**=चारों ओर-सर्वत्र होनेवाले हैं। उनके कवित्व व मनीषित्व का रहस्य इस परिभूपन में ही है। ५. 'इस प्रभु को किसने जन्म दिया?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाले हैं। उनको जन्म देनेवाला कोई नहीं। वे 'खुद् आ' हैं और वास्तविकता यह कि वे शरीर-बन्धन में आते-जाते ही नहीं। यह आना-जाना जीव के लिए ही सम्भव है, जोकि व्यापक सत्तावाला नहीं। ६. ये 'स्वयम्भू' प्रभु **शाश्वतीभ्यः**=सनातन **समाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **याथातथ्यतः**=ठीक-ठीक सब बातों व वस्तुओं का **व्यदधात्**=प्रतिपादन व सम्पादन करते हैं। यह तो जीव ही की कमी है कि उन पदार्थों का वह ठीक प्रयोग नहीं करता व प्रभु की प्रेरणा को नहीं सुनता परिणामतः कष्ट का भागी होता है।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझें कि जो जितना व्यापक है, वह उतना ही शुद्ध है। यह समझकर हमारा ध्येय 'व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना' ही हो जाए।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अँधेरा और घना अँधेरा

अ॒न्धन्तम॒ः प्र वि॑शन्ति॒ येऽस॑म्भूतिमु॒पास॑ते।

ततो॒ भूय॑ऽइव॒ ते तमो॒ यऽउ॒ सम्भू॑त्याꣳ र॒ताः॥९॥

१. **'सम्'** शब्द का अर्थ होता है 'मिलकर' और **भूति**=होना। मिलकर होना, अर्थात्

व्यक्तित्व को अलग न समझकर समाज को ही सब-कुछ समझना 'सम्भूति' है। इसके विपरीत व्यक्ति को ही प्रधानता दे देना 'असम्भूति' है, इसमें व्यक्ति केवल निजहित को देखता है, सामाजिक हित को वह उपेक्षित कर देता है। २. मन्त्र में कहते हैं कि **ये**=जो **असम्भूतिम्**=व्यक्तिवाद की **उपासते**=उपासना करते हैं, वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, ४. परन्तु क्या अकेला समाजवाद कल्याण कर सकता है? उत्तर यह है कि कल्याण का प्रश्न तो दूर रहा **ये**=जो **सम्भूत्याम्**=समाजवाद में **रताः**=फँसे हुए हैं **ते**=वे **ततः**=उस व्यक्तिवादी की अपेक्षा **भूय इव**=कुछ अधिक ही **तमः**=अँधेरे में (प्रविशन्ति) पंहुँचते है। केवल समाजवादियों की गति व्यक्तिवादियों से अधिक हीन होती है। कारण यह कि व्यक्ति को बिलकुल उपेक्षित कर देने के कारण व्यक्ति की उन्नति समाप्त हो जाती है और व्यक्ति ने ही समाज को बनाना है। व्यक्ति की निर्बलता का परिणाम यह होता है कि समाज एकदम निर्बल हो जाता है।

भावार्थ—व्यक्तिवादी अन्धकार में जाता है तो समाजवादी और भी अधिक अन्धकार में।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

व्यक्तिवाद व समाजवाद का चमत्कार

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

सम्भवात्=समाजवाद से, मिलकर चलने से, सम्भूति से **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। **असम्भवात्**=व्यक्तिवाद से भी **अन्यत् आहुः**=विलक्षण ही फल कहा गया है। **ये**=जो विद्वान् **नः**=हमें **तत्**=इस व्यक्तिवाद व समाजवाद को **विचचक्षिरे**=विस्पष्टरूप से बतलाते हैं, उन **धीराणाम्**=ज्ञान के देनेवालों से **इति**=यह बात **शुश्रुम**=हमने सुनी है। मिलकर चींटियाँ हाथी को भी समाप्त कर देती हैं। व्यक्तिवाद के फल की विलक्षणता शारीरिक दृष्टि से पहलवानों में प्रकट हो रही है। बौद्धिक दृष्टि से यह वैज्ञानिकों, योगियों में प्रकट होती है।

भावार्थ—व्यक्तिवाद व समाजवाद दोनों के ही फल विलक्षण हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

व्यक्ति व समाज का समन्वय

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥११॥

ऊपर दो बातें देखी जा चुकी हैं। १. सम्भूति व असम्भूति के फल चमत्कारिक हैं, और २. अलग-अलग ये दोनों ही मनुष्य को अँधेरे में ले-जाते हैं, अतः ऐसी अवस्था में करना क्या चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में देते हैं कि— **सम्भूतिम् च**=सम्भूति वा समाजवाद को **विनाशम् च**=(विनश) भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाना, मिलकर न चलना, अर्थात् व्यक्तिवाद को **यः**=जो **तत् उभयम्**=दोनों को **सह वेद**=साथ-साथ प्राप्त करता है (विद् लाभे), वह व्यक्ति **विनाशेन**=व्यक्तिवाद से **मृत्युम्**=मृत्यु को **तीर्त्वा**=तैरकर **सम्भूत्या**=समाजवाद से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। 'सह वेद' इन शब्दों में व्यक्ति व समाज को मिला देने का संकेत है। प्रत्येक हितकारी नियमों में

व्यक्तिवाद को ही स्थान मिलना चाहिए तो समाज-हितकारी बातों में प्रमुखता समाजवाद की रहनी चाहिए। 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्राणिधान' इन नियमों के पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र है तो 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह' इन नियमों के पालन में वह परतन्त्र है। नियमों का पालन नहीं करेगा तो व्यक्ति ही हानि उठाएगा, परन्तु यमों का पालन न करे तो समाज की हानि है, अतः इनके पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं। इनका पालन उसे करना ही होगा। शौच, सन्तोष आदि का पालन करता हुआ वह असमय की मृत्यु से बचेगा तो अहिंसा आदि के अनुष्ठान से वह अपने समाज को अमर बना पाएगा। आजकल की भाषा में व्यक्ति वैध उपायों से धन कमाने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु कर देना या न देना, यह उसकी इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। 'गृहस्थ बने या न बने' इतने अंश में व्यक्ति स्वतन्त्र है, परन्तु 'ब्रह्मचर्य' पालन करे या न करे, संयमी जीवनवाला हो या न हो यह उसकी इच्छा का विषय नहीं रक्खा जा सकता। असंमय से वह कितने ही घरों को बरबाद करेगा। एवं व्यक्तिवाद व्यक्ति को उन्नत करता है और समाजवाद इस उन्नत व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में व्यक्तिवाद व समाजवाद का समन्वय हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

विद्या और अविद्या

अ॒न्धन्त॑मः॒ प्र वि॑शन्ति॒ ये॑ऽविद्या॑मु॒पास॑ते।

ततो॒ भूय॑ऽइव॒ ते तमो॒ य॑ऽउ॑ वि॒द्याया॑ᳬं र॒ताः॥१२॥

प्रस्तुत मन्त्र में अविद्या और विद्या के अर्थ को समझने के लिए उपनिषद् का यह वाक्य स्मरणीय है कि **'द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च'** परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ जाननी चाहिएँ। परा वह है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान होता है, अर्थात् ब्रह्मविद्या व आत्मविद्या ही 'पराविद्या' है। आत्मतत्त्व से प्रकृतितत्त्व अपर है, अतः उसका ज्ञान ही 'अपराविद्या' नाम से कहा गया। दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है। शरीर के हित के लिए 'प्रकृति का ज्ञान' आवश्यक है, तो अपने स्वरूप को जानने के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है। 'अपरा-विद्या' और 'परा-विद्या' इन दोनों शब्दों में से 'परा' इस सामान्य शब्द को हटा देने पर ये शब्द 'अविद्या' और 'विद्या' हो गये हैं। यहाँ मन्त्र में इन्हीं का प्रयोग है। **ये**=जो **अविद्याम्**=प्रकृतिविद्या की **उपासते**=उपासना करते हैं वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं। (क) वर्तमान संसार में वैज्ञानिक 'आणविक अस्त्रों' से व्याकुल हो उठे हैं। उनको सूझता नहीं कि इनका क्या करें और क्या न करें? (ख) बड़े-बड़े दैत्याकार यन्त्र बनाकर इतनी तीव्रता से वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं कि उनकी बिक्री के लिए मण्डी का मिलना दुष्कर हो रहा है। (ग) पैन्सिलीन आदि आविष्कार से निर्भीक होकर ये युवक अनाचार से घबरा नहीं रहे। (घ) मनुष्यों का स्थान यन्त्रों ने ले-लिया है और इस प्रकार मनुष्य को उसने बेकार (unemployed) कर दिया है। इस प्रकार इस प्रकृतिविद्या ने कितनी ही जटिलताएँ उपस्थित कर दी हैं, परन्तु क्या ब्रह्मविद्या का कोई कृष्णपार्श्व नहीं है? नहीं, इसका कृष्णपार्श्व तो और भी अधिक कृष्ण है। भारतीयों का झुकाव आत्मा की ओर अधिक हो गया। ये प्रतिक्षण आत्मा की उपासना में ही बिताने लगे और जब ये परमात्मा की ही रट लगाने में तन्मय थे, इनका ध्यान प्रभु की ओर था तो विदेशियों ने अवसर पाकर चुपके से इनके पाँव तले से भूमि को खिसका

लिया। भारतीयों का ध्यान गया तो इन्हें परतन्त्रतापाश में जकड़नेवालों ने कहा 'आत्मा ही तो सत्य है' उसे तुम रक्खो, इस मिथ्या संसार को हमें दे डालो, हमने तो तुम्हारी जूठन ही ली है, हम तुम्हारे सत्य में हस्तक्षेप नहीं कर रहे है। बस, इस आत्मरति ने भारतीयों को हज़ार वर्ष तक गुलाम रक्खा और भूखों मारा एवं मन्त्र के शब्दों के अनुसार **ततः**=उस प्रकृतिविद्या के उपासकों से भी **भूय इव**=अधिक ही **तमः**=अन्धकार को वे प्राप्त करते हैं **ये**=जो निश्चय से **विद्यायाम् रताः**=ब्रह्मविद्या में फँसे हुए हैं।

भावार्थ—केवल प्रकृतिविद्या के उपासक अँधेरे में प्रवेश करते हैं तो केवल ब्रह्मविद्या के उपासक उससे भी घने अँधेरे में पहुँचते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

विलक्षण फल

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽअन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥

विद्यायाः=आत्मविद्या का **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। योगदर्शन का विभूतिपाद आत्मविद्या के फलों का विशद वर्णन करता है। आत्मविद्या के चमत्कार निश्चित रूप से विलक्षण हैं, परन्तु **अविद्यायाः**=प्रकृतिविद्या के भी तो **अन्यत्**=विलक्षण फल को **आहुः**=कहते हैं। पानी और अग्नि को वशीभूत करके किस प्रकार यन्त्र चलने लगे, विद्युत् के वशीकरण ने हद ही कर दी। हज़ारों मील दूर बैठे पुरुष से बात भी हो सकती है। आकृति भी देखी जा सकती है। भाषण इस तरह सुने जाते हैं जैसे, दस फीट पर ही कोई व्यक्ति बोल रहा हो। बेतार की तार चमत्कार ही है। सब काम स्वयं करती हुई मशीन मनुष्य को चकित कर देती है। मनुष्य की बनाई गई मशीन मनुष्य की अपेक्षा गुणा–भाग आदि के प्रश्नों को शीघ्रता से हल कर देती है। युद्ध के यन्त्र भयंकर अवश्य हैं, परन्तु विस्मयकारक तो हैं ही। **इति**=इस प्रकार विद्या और अविद्या दोनों के ही फल विलक्षण हैं। यह हमने उन **धीराणाम्**=ज्ञानियों से **शुश्रुम**=सुना है **ये**=जिन्होंने **नः**=हमारे लिए **तत्**=इस बात का **विचचक्षिरे**=प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—भौतिक व आत्मिक दोनों ही ज्ञानों के विलक्षण फल हैं। भौतिक ज्ञान क्लोरोफार्म आदि के द्वारा हमें अचेतन करके पीड़ा का अनुभव नहीं होने देता, तो आत्मज्ञान हमें सदेह होते हुए भी विदेह बनाकर पीड़ा से ऊपर उठा देता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—स्वराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

मृत्यु से तैरना व अमर बनना

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥१४॥

उल्लिखित विलक्षण फलोंवाली **विद्यां च**=आत्मविद्या को और **अविद्यां च**=प्रकृतिविद्या को **यः**=जो **तत् उभयम्**=उन दोनों को **सह वेद**=साथ–साथ जानता है वह **अविद्यया**=सृष्टिविद्या से **मृत्युम् तीर्त्वा**=मृत्यु को तैरकर **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। मनुष्य दो कारणों से मुख्यतया असमय में ही मृत्यु का ग्रास हो जाता था। एक तो अकाल पड़ जाने से भूखे मरकर और दूसरे बीमारियों का शिकार होकर। प्रकृतिविद्या व विज्ञान ने थोड़ी भूमि पर अधिक अन्न उपजाकर भूखे मरने के प्रश्न को समाप्त कर

दिया, साथ ही मक्खी–मच्छरों को समाप्त कर मलेरिया आदि बीमारियों को भी समाप्त कर दिया। साथ ही औषध विज्ञान ने टी.बी. आदि बीमारियों का भी प्रतीकार कर दिया है, अतः इनकी भयंकरता समाप्त हो गई है। एवं, मनुष्य प्रकृतिविद्या से मृत्यु को तैर गया है। शल्य–चिकित्सा के चमत्कारों ने मानवजीवन को दीर्घ कर दिया है। संक्षेप में विज्ञान ने मनुष्य के लिए प्रकृति को बड़ा सुखद व सुन्दर बना दिया है। मनुष्य को प्रकृति निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। कई बार तो मनुष्य किसी वस्तु के लिए इतना लालायित हो उठता है कि 'वह उसके बिना मर ही जाएगा' ऐसा प्रतीत होने लगता है। 'आत्मस्वरूप का चिन्तन ही उसे इस मरने से बचाएगा', अतः मन्त्र में कहते हैं कि **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=पाता है। (क) प्रकृतिविद्या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं की न्यूनता नहीं होने देती और आत्मविद्या उसे उन वस्तुओं के मात्रातीत प्रयोग से बचाती है। (ख) प्रकृतिविद्या जीवन की मोटर में एञ्जिन है तो आत्मविद्या ब्रेक का काम देती है। प्रकृतिविद्या के बिना तो जीवन की गाड़ी चलती ही नहीं पर आत्मविद्या न हो तब भी यह कहीं–न–कहीं टकराकर टूट ही जाएगी। एवं, हमें अपने जीवनों में दोनों का ही समन्वय करके चलना है। प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तानों को विज्ञान की शिक्षा अवश्य दिलवाए और अपने साथ धार्मिक सत्सङ्गों में भी उन्हें अवश्य ले–जाए। वैज्ञानिक युवक भूखा न मरेगा और अध्यात्मिक वृत्तिवाला होने से विषयासक्त न होगा। विज्ञान विषयों को उपस्थित करता है, आत्मविद्या उन विषयों का प्रयोग करते हुए भी उनके बन्धन से बचाती है।

भावार्थ—हम अविद्या से मृत्यु को तरें और विद्या से अमरता का लाभ करें। विद्या से हम विषयों की अपातरमणीयता को जानेंगे और उन विषयों के पीछे मरेंगे नहीं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

शरीर व आत्मा का स्वरूप

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।

ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर॥१५॥

१ 'आत्मा' शब्द 'अत्–गतौ' धातु से बना है, इसका ठीक पर्यायवाची शब्द 'वा–गतौ' से बना हुआ 'वायु' है। ये दोनों ही शब्द जीव को उसके स्वभाव की सूचना दे रहे हैं, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उष्णता के बिना अग्नि कुछ नहीं, इसी प्रकार 'जीव हो और गतिशील न हो' यह नहीं हो सकता। वह तो 'आत्मा' है, वह 'वायु' है। यह आत्मा **'अनिलम्'**=(न+इला) पार्थिव नहीं, भौतिक नहीं। पार्थिव न होने से ही तो यह **अमृतम्**= अविनश्वर है। भौतिक वस्तु नश्वर है, अभौतिक अनश्वर। इस प्रकार संकेत इस बात का भी हो गया है कि यदि हम भौतिकता से ऊपर उठेंगे तो मृत्यु से भी बच पाएँगे। साथ ही यह अनुभव सिद्ध बात है कि अति भोजन हमें लेटने के लिए बाधित करता है, मित भोजन हमारे जीवन में स्फूर्ति का कारण बनता है, एवं 'वायु' और 'अमृतम्' के बीच में पड़ा हुआ 'अनिलम्' शब्द दोनों बातों का संकेत कर रहा है कि (क) अपार्थिवता, अभौतिकता हमें अधिक क्रियाशील बनाती है, और (ख) यही अभौतिकता हमें मृत्यु से भी बचाती है। २. 'हमारी प्रवृत्ति भौतिक न हो' इसके लिए शरीर के स्वरूप का चिन्तन कितना सहायक हो जाता है? अतः मन्त्र में कहते है **अथ**=आत्मा अमर है तो, अब, **इदम् शरीरम्**=यह शरीर **भस्मान्तम्**=भस्मरूप परिणामवाला है। इस मिट्टी में मिल जानेवाले शरीर के भोगों

के लिए ऐसा लालायित क्यों होना? जिसने साथ नहीं देना उसके लिए इतना भी क्या हाथ-पैर मारना? ३. हे **क्रतो**=(क्रतु यज्ञ, क्रतु=Power)=यज्ञादि कर्मों के द्वारा शक्ति का सञ्चय करनेवाले जीव **ओ३म् स्मर**=तू उस रक्षक प्रभु का स्मरण कर। इसका स्मरण ही तुझे भोगों में फँसने से बचने की शक्ति देगा। **क्लिबे स्मर**=तू इसलिए स्मरण कर क्योंकि तुझे शक्ति प्राप्त हो। 'क्लृपू सामर्थ्ये' से बना 'क्लिब्' शब्द सामर्थ्य का वाचक है। प्रभु-स्मरण से शक्ति प्राप्त होती है। आचार्य दयानन्द प्रातः-सायं दोनों समय प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित करके अपने जीवन की बैटरी को फिर से भर लेते थे। इस शक्ति को प्राप्त करके तू अपने **कृतम्**=(नपुंसके भावे क्तः)=कर्त्तव्य-कर्म का **स्मर**=स्मरण कर। 'प्रभु-स्मरण से शक्ति, शक्ति से कर्म' यह है क्रम जो इस कार्यकारणभाव को स्पष्ट कर रहा है। हमने अधिकार चर्चाएँ नहीं करनी, कर्त्तव्य का ही स्मरण करना है। हमारा तो वस्तुतः अधिकार भी कर्त्तव्य-स्मरणमात्र है।

भावार्थ—आत्मा की अपार्थिवता को और शरीर की भस्मान्तता को स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन भोगप्रधान न हो। प्रभु का स्मरण करें, जिससे शक्ति प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य को सुचारुरूपेण निभा सकें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

बिना किसी अपराध के Without Crime, Without sin

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ॥१६॥

१. धन 'संसार' का पर्यायवाची शब्द-सा हो गया है। कोई भी कार्य धन के बिना नहीं हो पाता। यजुर्वेद में प्रतिपादित सब यज्ञ भी धन से ही होने हैं, अतः धन आवश्यक है, परन्तु यही धन हमें अशुचि बनाकर निधन की ओर ले-जाता है। साधनभूत धन प्रायः साध्य का स्थान ले-लेता है। यह हमारे प्रयोजन का साधक व सेवक नहीं रहता, हमीं इसके सेवक हो जाते हैं। हम इसके पति नहीं, यह हमारा पति हो जाता है और हमें पीस डालता है। उस समय हम टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से इसे कमाने लगते हैं। सब कर्त्तव्य कर्मों को भूल-से जाते हैं, सच तो यह कि कुछ अन्धे-से हो जाते हैं, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि—२. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! कभी भी न भटकने देनेवाले प्रभो! **अस्मान्**=हम सबको **राये**=धन के लिए, उस धन के लिए (रा दाने) जो वस्तुतः दान देने के लिए है, यज्ञों में विनियोग के लिए है, **सुपथा नय**=उत्तम मार्ग से ले-चलिए। हम कभी भी धन की चमक के वशीभूत होकर अन्याय-मार्ग से इसके कमाने का विचार न करें। हे **देव**=दिव्य मार्गों को दिखानेवाले प्रभो! **विश्वानि वयुनानि**=आप तो हमारे सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जान रहे हैं, अतः ज्योंही हमारे मस्तिष्क में ग़लत रास्ते से धन कमाने का विचार उठे, आप उसे वहीं समाप्त कर दें। न विचार-बीज रहेगा और न रद्दी कर्मरूप अंकुर उत्पन्न होगा (Nip the evil in the bud) अज्ञान-पुष्प ही न रहेगा तो कर्मफल होगा ही कैसे? ३. **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता (crime) को तथा **एनः**=पाप (sin) को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। हम न तो कुटिलमार्ग से धन कमाएँ और न ही पाप की कमाई जुटाएँ। राष्ट्रीय नियमों को तोड़ना ही कुटिलता है। आय-कर ठीक न देने के लिए हिसाब को ठीक न दिखाना आदि सब बातें 'जुहुराणम्' हैं। प्रभु के प्रति पाप 'एनः' है। प्रभु ने नियम बनाया कि **स्वेदस्य**=पसीने की कमाई ही तुम्हारी कमाई हो। मैं बिना श्रम

के सट्टे के द्वारा, लॉटरी टिकिट्स के द्वारा रुपया कमाना चाहता हूँ, यह 'एनस्' (Sin) है। प्रभु मुझे इन दोनों से दूर करें। ४. इस कार्य के लिए हे प्रभो! हम **ते**=आपकी **भूयिष्ठाम्**=बहुत अधिक **नमः उक्तिम्**=नमन की उक्ति को **विधेम**=करते हैं। हम सदा आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। आपकी उपासना ही हमें 'कुटिलता व पाप' से बचाएगी, अन्यथा इस धन की गुलामी से हम कहाँ बच पाएँगे?

भावार्थ—हे प्रभो! ऐसी कृपा करो कि हम सदा सन्मार्ग से ही धन कमाएँ। आपकी कृपा से कुटिलता व पाप हमसे दूर रहें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आत्मा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

हिरण्मय पात्र

हि॒र॒ण्मये॑न॒ पात्रे॑ण स॒त्यस्यापि॑हितं॒ मुख॑म्।
यो॒ऽसावा॑दि॒त्ये पुरु॑षः॒ सो॒ऽसाव॒हम्। ओ३म् खं ब्रह्म॑ ॥१७॥

'मनुष्य क्यों कुटिलता व पाप से धन कमाने लगता है?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार दिया है कि **हिरणमयेन पात्रेण**=स्वर्ण के बने देदीप्यमान पात्र से **सत्यस्य**=सत्य का **मुखम्**=स्वरूप **अपिहितम्**=ढका हुआ है। यह संसार की सीपी (शुक्ति) चमकती है और हम इसे चाँदी समझ बैठते हैं, विषयों की आपात रमणीयता से उनका पर्यन्तपरितापित्व छिपा रहता है। विष का माधुर्य उसके विषत्व को विस्मृत करा देता है। संसार चमकता है और उस चमक को ही हम सत्य मान लेते हैं। हमें यह जनश्रुति भूल जाती है कि "All that glitters is not gold."

मन्त्र कहता है कि यह चमक उस वस्तु की नहीं। अपने शरीर को ही देखो। यहाँ कब तक चमक है? जब तक अन्दर आत्मा है। आत्मा गई और यह आभाशून्य होकर विश्लिष्ट (Disintigrated) व दुर्गन्धित होने लगा। इसी प्रकार सूर्य आदि में चमक अन्तःस्थित पुरुष (परमात्मा) के ही कारण है। यह सूर्यादि की अपनी चमक नहीं। **यः**=जो **असौ**=वह **आदित्ये**=सूर्यमण्डल में **पुरुषः**=अधिष्ठातृरूपेण स्थित पुरुष है **सः**=वह पुरुष **असौ**=तेरे प्राणों में भी है (असवः प्राणाः), अर्थात् क्या सूर्य की चमक और क्या तेरे इस छोटे से पिण्ड की चमक—ये सब उस अन्तःस्थ पुरुष की चमक है। यह इनकी अपनी चमक नहीं। संसार में सर्वत्र उस पुरुष ही की चमक है। ये प्राकृतिक पदार्थ अपने में निष्प्रभ हैं। प्रभु कहते हैं कि इन पदार्थों को प्रभा देनेवाला वह पुरुष ही **अहम्**=मैं हूँ। **खम् ब्रह्म**=आकाश की तरह मैं बढ़ा हुआ व्यापक हूँ। मेरी व्याप्ति से ही प्रकृति में दीप्ति है। हे जीव! इस दीप्ति को प्रकृति समझकर तू उसमें न उलझ। यदि तू इसमें नहीं उलझेगा तो धन को छल-छिद्र से जुटाने के लिए तू लालायित भी क्यों होगा? तेरा अज्ञानान्धकार दूर हो जाएगा। तू 'दीर्घ-तम' बन जाएगा।

भावार्थ—सांसारिक चमक से हमारी आँखें चुँधियाँ न जाएँ, तभी हम सत्य को देख पाएँगे।

इति चत्वारिंशोऽध्यायः॥
इत्युत्तरविंशतिः समाप्ता॥
यजुर्वेदभाष्यं समाप्तम्॥

पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

श्री विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड

श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी

पं० तुलसीरामजी

श्री रामनाथ वेदालङ्कार

स्वामी वेदानन्द सरस्वती

श्री आर्यमुनि

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

पं० अयोध्याप्रसाद
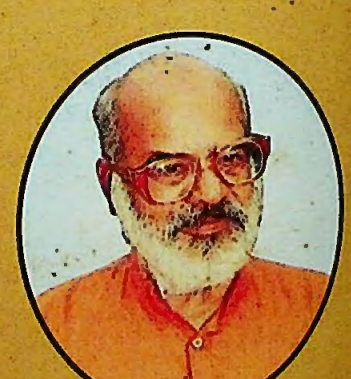
पं० भगवतदत्त

पं० शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ'

म०प० युधिष्ठिर मीमांसक

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

स्नातक बनने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से उन्होंने गुरुकुल में ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। वह सन् 1946 में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ से सेवा निवृत्त हुए और अपनी बहिन श्रीमती वेदकुमारी (धर्मपत्नी स्व० श्री भीमसेन विद्यालंकार) के यहां लाहौर चले गए। भारत स्वतन्त्र होने पर देश-विभाजन के बाद वह पुनः दिल्ली आए और अपने लघु भ्राता श्री हरिमोहन के पास चूनामण्डी पहाड़गंज में रहने लगे। यहीं पर अपने छोटे से अध्ययन कक्ष में न्यूनतम सुविधाओं के बीच सर्दी, गर्मी, बरसात की परवाह न करते हुए कठोर तपस्या से वेदभाष्य के इस बृहत् कार्य को अकेले अपने दम पर पूरा किया।

श्रीयुत हरिशरण अत्यन्त विनम्र विद्वान् थे। अपने विशाल पाण्डित्य का उन्हें रत्ती भर अभिमान न था। जहां कहीं जिस किसी से भी उन्हें कुछ नया ज्ञान प्राप्त होता उसे बड़े उदार हृदय से वह स्वीकार कर लेते। वेद-प्रवचन व स्वाध्याय ही उनका व्यसन था। किशोरावस्था से ही वह नियमित रूप से आसन प्राणायाम तथा दण्ड, बैठक आदि व्यायाम करते थे। इस कारण उनका शरीर अत्यन्त सुडौल और बलशाली था। उन्हें तैरने व भ्रमण करने का भी खूब शौक था। युवावस्था में वह हाकी और बालीबाल के अच्छे खिलाड़ी रहे थे।

जीवन के अन्तिम चरण में वह अपने भतीजे सुधीरकुमार (सुपुत्र डॉ० हरिप्रकाश) के पास कविनगर गाजियाबाद में रहे। निधन से एक दो वर्ष पूर्व वह वार्द्धक्य जनित स्मृति लोप के रोग से आक्रान्त अवश्य हो गए थे परन्तु उन दिनों भी उनका वेद पाठ का क्रम नियमित रूप से चलता रहा। दो सप्ताह में एक बार वह चारों वेदों का पारायण पूरा कर लेते। वेदों का यह विलक्षण भाष्यकार एक दो दिन तक मामूली सा अस्वस्थ रहने के बाद 3 जुलाई 1991 को वेदमाता की गोद में ही चिर निद्रा में लीन हो गया।

—अजय भल्ला

वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभंग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने [illegible] ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं [illegible] और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जा[illegible] प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठी[illegible] ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी 011-55845599, 9313784272